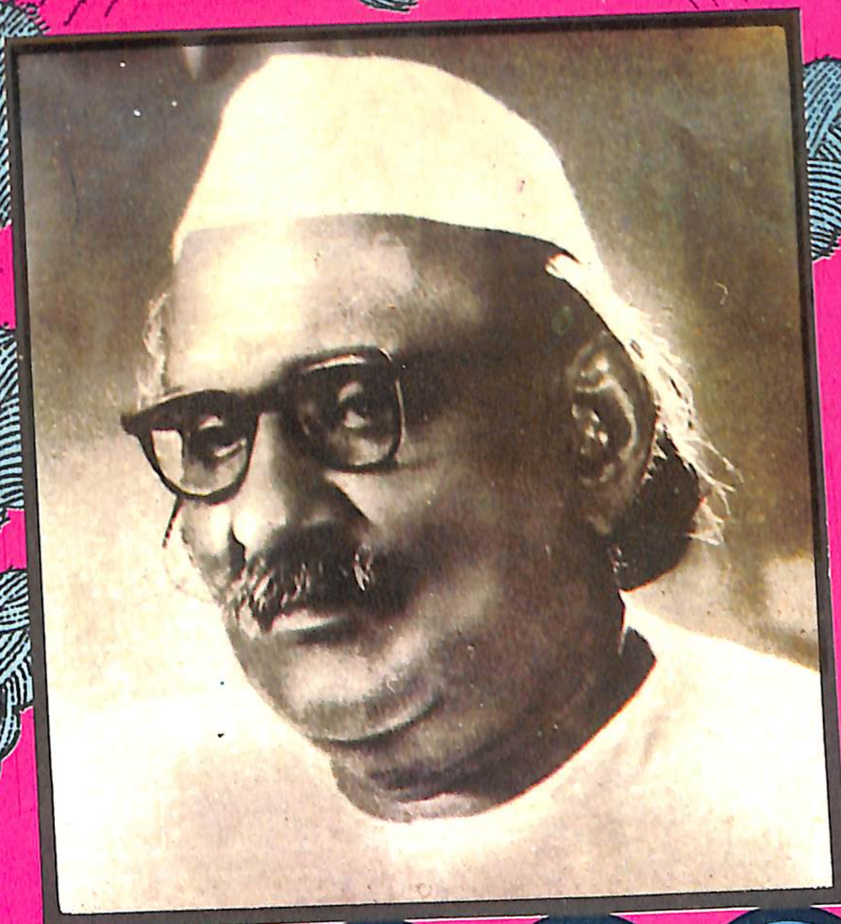
विश्वदृष्टि

डॉ. सम्पूर्णानन्द स्मृति ग्रन्थ



प्रथम भाग



सम्पूर्णानन्द-ग्रन्थमाला
[१६]

विश्व-दृष्टि
डॉ. सम्पूर्णानन्द स्मृति-ग्रन्थ
[प्रथम भाग]

प्रधान सम्पादक
प्रो. वि. वेङ्कटाचलम्
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक
प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, पालि-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



वाराणसी
२०५० वैक्रमाब्द १९१५ शकाब्द १९९३ खैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक–
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।



प्रकाशक–
डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२.



प्राप्ति-स्थान–
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२.



प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ
मूल्य: (प्रथम एवं द्वितीय भाग) ३५०-०० रूपये



मुद्रक–
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी. २१/४२ ए. कमच्छा,
वाराणसी-२२१ ०१०.

SAMPŪRṆĀNANDA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 16]

VIŚVA-DṚṢṬI
DR. SAMPURNANANDA SṀṚTĪ-GRANTHA
[PART ONE]

CHIEF EDITOR
PROF. V. VENKATACHALAM
Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

EDITED BY
PROF. LAKSHMI NARAYAN TIWARI
Ex-Professor and Head in Pali Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi



VARANASI
1993

Research Publication Supervisor–
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.



Published by–
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available At–
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 1000 Copies
Price-(First and Second Part) Rs. 350-00



Printed by–
Ratna Printing Works
B 21/42 A, Kamachha,
Varanasi-221 010.

शिवसंकल्प

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥

—भर्तृहरि, नीतिशतक

इस श्लोक की बात उस जमाने की है, जब भारत में नारीवर्ग ही नहीं पुरुषवर्ग भी अपने केश को फूलों से सजाया करते थे । अतएव उस युग के दृष्टिकोण से फूलों के गुच्छे के सम्बन्ध में यह बात सटीक बैठती है कि वह लोगों के सिर पर रहता है, अथवा यदि जंगली फूल हो, तो वह लोकदृष्टि से ओझल होकर वहीं जंगल में मिट जाता है । भर्तृहरि कहते हैं कि संसार के महापुरुषों की स्थिति भी ठीक वैसी ही होती है । यदि वे मानव समाज में कार्य करते हैं तो समाज के शिखर बिन्दु पर प्रतिष्ठित होते हैं । इसके विपरीत, जो मनस्वी महापुरुष लौकिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर अध्यात्म की ओर उन्मुख होते हैं, वे तो किसी अज्ञात जंगल में काय-क्लेश रूपी तपस्या से उस प्रकार मिट जाते हैं, जैसे जंगली पुष्प-गुच्छे ।

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के जीवन में ये दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं । अपने जीवन के पूर्वार्ध में स्वतन्त्रता संग्राम तथा राज्यशासन में तो वे सर्वोच्च शिखर पर थे ही, साथ ही, भारतीय संस्कृति के प्रतीक पुरुष के रूप में वैदुष्य, तत्त्वचिन्तन, योगसाधना आदि समस्त क्षेत्रों में भी उन्होंने विशिष्ट ऊँचाई प्राप्त की थी । उनके त्याग और तपस्यामय जीवन की सच्ची अनुभूति लोगों को तब हुई होगी जब जीवन के अंतिम चरण में मुख्यमंत्री एवं राज्यपाल का कार्य पूरा कर काशी तीर्थ में एक साधक के रूप में जीवन व्यतीत कर साधनहीन स्थिति में एक आम आदमी की तरह संसार से चल बसे ।

इस स्मृति-ग्रन्थ के 'श्रद्धाञ्जलि एवं संस्मरण' खण्ड में उनसे निकट-सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों के आलेखों में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों पर पाठकों को पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होगा । एक ओर जहाँ स्वतन्त्रता संग्राम, राज्य प्रशासन, समाज-सेवा, सारस्वत साधना, तत्त्वचिन्तन आदि लौकिक जीवन के क्षेत्रों में उनकी ऊँचाई का प्रभावी चित्र प्रस्तुत है, वहीं दूसरी ओर ऐसे भी कतिपय आलेख हैं जिनमें उनकी आध्यात्मिक ऊँचाई की झलक मिलती है । डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष था उनका विद्या-व्यसन एवं स्वतंत्र चिन्तन । संस्कृत भाषा एवं भारतीय विद्याओं—विशेषकर आध्यात्मिक साधना के पक्षों—के प्रति उनके मन में गहरी आस्था एवं निष्ठा थी और यह आस्था केवल ग्रन्थ-ज्ञान तक सीमित नहीं थी । प्राचीन ग्रन्थों में निहित तथ्यों पर गहन चिन्तन-मनन कर एक स्वतन्त्र मार्ग निर्माण करना उनकी विशिष्टता थी । साधना के सोपान-क्रम के संबंध में मनु की उक्ति—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

में उल्लिखित क्रमिक विकास का साक्षात्कार उनके जीवन में देखा जा सकता है। अपने विचारो पर दृढ़ विश्वास और उस विश्वास को व्यक्त करने में निर्भीकता भी उनका एक विशिष्ट गुण था। देश में सर्वप्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय की उत्तर-प्रदेश में स्थापना कर ऐसा उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया जो बाद में अन्य प्रदेशों के लिए अनुकरणीय बन गया। तत्कालीन राजनेताओ के विरोध के बावजूद वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना कर उन्होंने अपनी आस्था एव निर्भीकता का स्पष्ट परिचय दिया है।

भारतीय विद्याओं के विभिन्न क्षेत्रों में उनका उल्लेखनीय योगदान था। वेद, ज्योतिष, धर्म-दर्शन, इतिहास, सामाजिक न्याय आदि विषयों में उनकी विशेष रुचि थी। उनकी स्मृति मे प्रकाशित होने वाले इस स्मृति-ग्रन्थ की विषय-परिकल्पना में इन्हीं क्षेत्रों से केन्द्रित निबन्ध संकलित है। आशा है जिज्ञासु एवं श्रद्धालु पाठकों के लिये इन निबन्धों में पर्याप्त विचार-बीज उपलब्ध होगे।

एक व्यक्तिगत बात। इस शताब्दी महोत्सव के आयोजन का तथा इस स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन का 'श्रीगणेश' मेरे पूर्व कुलपतित्व काल में सन् 1989 में हुआ था। मैं तो अपना सौभाग्य समझता हूँ कि वर्षों के अंतराल के पश्चात् इस महान् कार्य की 'इतिश्री' भी मेरे इस द्वितीय कार्यकाल मे हो रही है।

विश्वविद्यालय के पालि एवं थेरवाद विभाग के पूर्व अध्यक्ष **प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी** ने जिस तत्परता एवं अध्यवसाय से विद्वानों के आलेखों का संग्रह किया है उसका बोध ग्रन्थ के विशालकाय स्वरूप से ही हो सकता है। अत्यन्त श्रमसाध्य लेख-संग्रह कार्य के लिये तथा लेखों के सम्पादन में सहयोग के लिये हम उनके आभारी हैं।

सम्पादन कार्य में साहित्य-विभागाध्यक्ष **डॉ. कैलासपति त्रिपाठी** एवं वेद-विभागाध्यक्ष **डॉ. युगलकिशोर मिश्र** का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा है। जिन विद्वानों ने अपने आलेख भेजकर इस ग्रन्थ का वर्तमान स्वरूप निष्पादित किया है, उन सबके प्रति विश्वविद्यालय ऋणी है।

इतने बड़े ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन का कार्य केवल श्रमसाध्य ही नहीं, समय-साध्य भी है। इस कार्य में विशेष रूप से सिद्धहस्त हमारे अध्यापक पालि-विभाग के डॉ. **ब्रह्मदेवनारायण शर्मा** एवं व्याकरण-विभाग के **डॉ. गिरिजेश कुमार दीक्षित** तथा सहायक कुलसचिव **श्री शालिग्राम यादव** एवं प्रकाशन विभाग के कर्मचारी **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** ने मिलकर इस भार का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

कतिपय अप्रत्याशित विषम परिस्थितियों के कारण ग्रन्थ का मुद्रण कार्य अत्यल्प समय में पूरा करना अनिवार्य हो गया था। एक मास की अवधि में इतने बड़े ग्रन्थ का मुद्रण कार्य सम्पादित कर विश्वविद्यालय के कर्मठ प्रकाशनाधिकारी **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** एवं उनके विभागीय सहयोगियों ने वास्तव में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। साथ ही इस कार्य में हमको रत्ना प्रिंटिंग प्रेस के **श्री विपुलशंकर पण्ड्या** का सहज सहयोग मिला, जिसके विना ऐसा चुनौती भरा कार्य कभी सम्भव नहीं होता। जैकेट के आकर्षक नव्य कलात्मक डिजाइन के लिये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के **प्रो. अर्जुन कुमार पी. गज्जर** का भी आभारी हूँ।

अन्त में महापुरुषों के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन करने वाले भर्तृहरि के ही पद्य से स्व. सम्पूर्णानन्द जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना चाहता हूँ। यह भी एक संयोग ही कहलायेगा कि डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व में इस पद्य में परिगणित समस्त गुणों का अद्भुत समन्वय था—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

वाराणसी
पौष-कृष्ण-तृतीया,
वि. सं. 2050
दिसम्बर 31, 1993

वि. वेङ्कटाचलम्
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

अनुक्रमणी

वेद

धर्म एवं दर्शन

●

श्रद्धाञ्जलि एवं संस्मरण

सम्पूर्णानन्दनामानुगतगुणगणो भाति लोकोत्तरश्रीः

आचार्यः वि. वेङ्कटाचलम्

१

(वेदचतुष्टयम्)

ऋक्सूक्तार्थप्रकाशे स्वमतिविभवतो नव्यमार्गप्रणेता
यज्ञानां संविधाता श्रुतिसुखवचने साममाधुर्ययोक्ता ।
सन्धाताऽथर्वणां च प्रथितफलजुषां लोककल्याणसिद्धौ
वेदाश्चत्वार इत्थं भवति समुदिताः वेदशास्त्रैकनिष्ठे ॥

२

(वर्णचतुष्टयम्)

स्वाध्यायेद्धैः श्रुतीनां प्रवचनरचनैर्विप्रवृत्तिं श्रितोऽपि
म्लेच्छस्वेच्छाधिराज्यप्लवनविलवने कक्षितक्षत्रपक्षः ।
वैश्यश्री राज्यवृद्धौ महितसुरगिरां सेवया शूद्रधर्मा
चातुर्वर्ण्यं स्वरूपे युगपदुपनयंस्तिष्ठसे त्वं जनेभ्यः ॥

३

(आश्रमचतुष्टयम्)

विद्याभ्यासे सदैव व्रतविधृतरुचिब्रह्मचर्याश्रमी त्वं
पुष्णन् लोकानभीष्टैर्ध्रुवमिह तनुषे मुख्यगार्हस्थ्यधर्मम् ।
वानप्रस्थं च मौनं[1] श्रयसि शमदमोपात्तवैराग्यभूम्ना
चत्वारोऽप्याश्रमास्त्वय्युपचितविभवा भेजिरे यौगपद्यम् ॥

४

(साधनचतुष्टयम्)

[2]नित्यानित्यार्थतत्त्वश्रवणपटुतयाजस्रभास्वद्विवेकः
पुत्रे[3] वित्ते च लोकेऽपगतरसतया संभृतोद्यद्विरागः ।
दीप्तः शान्त्यादिषड्भिः प्रथितगुणगणैर्ब्रह्मजिज्ञासुसेव्यैः
सम्पन्नस्त्वं मुमुक्षुः श्रुतिशिखरमतैः साधनैस्तैश्चतुर्भिः ॥

५

(योगचतुष्टयम्)

दैवोपात्तस्वकर्माचरणदृढमनाः कर्मठः कर्मयोगी
शास्त्रेषु श्रद्दधानो भगवति शरणं संश्रितो भक्तियोगी ।
योगे पातञ्जले त्वं निरतिशयरतिः साधको राजयोगी
काश्यामन्ते च कर्णे शिवमुखविगलत्तारको ज्ञानयोगी ॥

*

वेद-वर्णा-ऽऽश्रम-ब्रह्मज्ञानसाधन-योग-गाः ।
चतुः समष्टयो याताः सम्पूर्णानन्द एकताम् ॥

---

1. 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यापस्तंम्बनिर्देशे 'मौन'-पदेन संन्यासाश्रमो निर्दिष्ट इति ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्ये (3.4.47) स्पष्टम् । तदनुसारी अत्र वचनविन्यासः ।
2. ब्रह्मजिज्ञासाया अधिकारनिर्णये साधनचतुष्टयं निर्दिष्टम्–नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, शमादिषट्कसम्पत्तिः, मुमुक्षुत्वं चेति ।
3. वैराग्यप्रसङ्गे बृहदारण्यकोपनिषदि (3.5.1) पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा इत्येषणात्रयाद् व्युत्थानं वर्णित-मिहानुसृतमित्यवधेयम् ।

सम्पूर्णानन्दयोगीन्द्रो वन्दनीयो यशोमयः

पं. बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

१

त्वद्गङ्गातरङ्गाहतपवनमिलत्पुण्यपुञ्जप्रवाहे
क्रीडोद्याने कलानां सकलसुरनुते पत्तने चन्द्रमौलेः ।
सिद्धादेशात्पवित्रे गुणगणमहिते सत्कुले प्रादुरासीत्
सम्पूर्णानन्दनामा विमलनृपनयाम्भोजिनीतिग्मधामा ॥

२

प्राग्जन्मावाप्तविद्याध्ययनरुचिरयं दास्यभावावरुद्धा-
मुद्धर्तुं मातृभूमिं व्यधित चिरतरं सत्यमार्गेण युद्धम् ।
कारावासादिखिन्नोऽप्यविचलचरितो वृत्तपत्रैरनेकै-
र्व्याख्यानैर्भूमिदेव्या व्यतनुत विजयारम्भनान्दीनिनादम् ॥

३

स्वातन्त्र्यांशुच्छटाभिर्गगनपरिसरे भासमानेऽपि चिन्ता
तस्याऽऽसीत् शास्त्रमार्गावनसमुदययोर्नित्यसंरम्भरम्या ।
मुख्यं मन्त्रित्वमेतन्मम ननु विफलं विश्वविद्यालयः स्यात्
प्राचां वाचां न यावद्गिरमिति बहुधा यो बभाषे सभासु ॥

४

यस्यैवाऽसीमयत्नैरिदमखिलजगज्जालकल्याणकारि
प्रत्नं विज्ञानरत्नं बुधगणहृदयोद्भासनायोज्जिहीते ।
प्राचीनं शास्त्रपीठं वहति यदुदितेनाऽध्वना सम्प्रवृत्तं
रक्षायै शास्त्रसिन्धोरमरवरगिरां विश्वविद्यालयत्वम् ॥

५

सत्यान्न प्रच्युतो यः क्षणमपि विविधे राजनीतिप्रसङ्गे
न स्वार्थं लेशतोऽपि प्रगुणयितुमसौ प्रेरयामास वाचम् ।
गेहे देहेऽपि मिथ्याविभवविरहितो ज्ञानचर्चैकतानः
सम्पूर्णानन्दतुल्यः क्वचिदपि न नरो याति दृग्गोचरत्वम् ॥

६

ज्योतिर्विद्यानुरागादभिनवघटिकायन्त्रमानीय बाह्याद्
देशादत्रोपनीतं नवगणितकलाभ्यासहेतोर्बुधानाम् ।
नानाविद्याविभागानपि च रचयता धीधनाग्रेसरेण
प्रोन्नीता भारतीया मतिरतिशयिता संस्पृशन्ती दिगन्तान् ॥

७

विद्यावृद्धेषु नित्यप्रणतिपरतया दर्शितोदारभावो
विज्ञाने प्राक्तने वा नवबुधकलिते तुल्यमूल्यानुगामी ।
वाराणस्यास्तनूजः सुजनपरिषदां माननीयो जनानां
कल्याणैकप्रवीणो विहरति सततं मानसे सज्जनानाम् ॥

८

विश्वानीतेऽपि विश्वोद्भवनिलयपरे प्रोल्लसच्चिद्विलासे
नित्यामर्शानुरागात् प्रविदलितजगज्जालमोहप्ररोहः ।
सम्पूर्णानन्दयोगी शिवचरणसरोजातमाध्वीमिलिन्दो
वाक्पुष्पैरर्चिताङ्घ्रिः प्रथयतु सुधियां श्रेयसां सम्प्रदायम् ॥

९

सम्पूर्णानन्ददानाय विदुषां विहितश्रमः ।
सम्पूर्णानन्दयोगीन्द्रो वन्दनीयो यशोमयः ॥

●

जयति जगति सम्पूर्णानन्दः

श्रीमिश्रोऽभिराज-राजेन्द्रः

१

आर्षधियं श्रुतिशमदमशीलं मनसि वचसि कर्मणि समभावम् ।
प्रेक्षावन्तमुदारविचारं नमति न कः सम्पूर्णानन्दम् ॥

२

निगमागमपरिशीलनदक्षो भारतीयसंस्कृतिवृतशिक्षः ।
प्राक्तनसरणिसमाहितपक्षो जयति जगति कृतसंस्कृतरक्षः ॥

३

वेदमन्त्ररचनासन्धानैर्दूरीकृतगौराङ्गाज्ञानः ।
प्रज्ञावैशारदीमरन्दो जयति विज्ञसम्पूर्णानन्दः ॥

४

धर्माध्यात्मनीतिनयशास्त्रे षड्दर्शनेऽर्थतन्त्रपुराणे ।
अप्रतिहतगतिरसौ मिलिन्दो जयतादिह सम्पूर्णानन्दः ॥

५

हृदये समुच्छलत्करुणाब्धिर्नयने यस्य बन्धुताप्रीतिः ।
वैयासिकी पाण्डिती करयोः स जयति नितरां कीर्त्यवशेषः ॥

६

चिद्विलासकुशलस्सदधीती भरतधराऽक्षतगौरवगीती ।
पृथुचिन्तननिर्झरनिस्यन्दो जयति जगति सम्पूर्णानन्दः ॥

७

योगक्षेमचिन्तने सक्तः परगुणकथने सदानुरक्तः ।
हरिभक्तिस्स्वयमेव च भक्तो जयति विश्वभाग्योदययुक्तः ॥

८

हायनमितजीवनं समेषां किन्त्वमरश्शारदातनूजः ।
कालजयी तादृग्गुणनिष्ठो जयति चिरं सम्पूर्णानन्दः ॥

९

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रो देववाणीसमर्थकः ।
ऋषिकल्पं मुदा स्तौति पूर्णानन्दमहोदयः ॥

●

विद्वत्प्रियो धार्मिकः

श्री उमारमण झा

१

सम्पूर्णानन्दरूपो विविधगुणयुतो विश्ववन्द्यो महात्मा
देशार्थं दत्तचित्तः सततमनुचरो गान्धिवर्यस्य मार्गे ।
आंग्लेयानां विजेता भुवि सफलजनो राजनीतौ च दक्षः
पूज्योऽसौ देवलोके किरति दिशि यशः क्रान्तदर्शी सुपुण्यः ॥

२

दैव्यां वाचि रतः प्रसन्नवदनो यो लोकपूज्यस्सदा
नानाशास्त्रविचारको बुधवरो ज्ञानाग्रगण्यो गुरुः ।
आचारे सुविचारकोऽतिनिपुणो विद्वत्प्रियो धार्मिकः
वन्द्योऽसौ जगतीतलेऽपि सततं स्वर्गेऽधुना राजते ॥

३

राजेन्द्रस्य सखा सदैव मुदितः सोढ्वा च दुःखं चिरं
मान्यश्चापि जवाहरस्य विबुधो दीनानुरक्तः सुधीः ।
कारगारमवाप्य कष्टनिचयं सन्न्यायमार्गे दृढः
धन्योऽसौ भुवि कर्मनिष्ठपुरुषः स्वर्गेऽपि जेगीयते ॥

४

दीनानां हितचिन्तकोऽतिनिपुणो नीतौ गुणज्ञो नरो
विद्यावान् विनयी नितान्तसरलः ख्यातो जगन्मण्डले ।
आसीद्दिव्यचरित्रचित्रितबुधो मान्यः सतां सर्वदा
सम्पूर्णोऽवतु संस्कृतं शुभकरं ब्रह्मस्वरूपे स्थितः ॥

५

सत्ये धर्मसमः सदा क्षितितले मूर्तिर्विवेकस्य यो
गाम्भीर्ये जलधिः क्षमावनिसमो लोकानुरक्तो बुधः ।
नानाग्रन्थनिबन्धलेखनपटुर्वक्ता विपश्चिद्वरो
देशं विघ्नसमाकुलं करुणया पायादपायाच्चिरम् ॥

६

सम्पूर्णानन्दरूपाय विज्ञाय परमात्मने ।
समर्प्यतेऽत्र वाक्पुष्पमुमारमणशर्मणा ॥

●

मधुरं संस्मरणम् : एकः प्रसङ्गः

डॉ. नारायणशास्त्री काङ्करः

भारतीय-संस्कृत-संस्कृत्योः परमोपासकं स्वतन्त्रतासैनिकं राजनीति-निपुणं विद्वद्-वरिष्ठं लेखन-भाषण-प्रवीणं महापुरुषं डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दं महानुभावं राजस्थान-राज्यपालरूपे व्यक्तिशः साक्षात्कर्तुं नैकवारं सुवर्णावसरः प्राप्त इति स्वकीयं परमं सौभाग्यम् एव मन्ये । संस्कृत-संस्कृत्योः प्रचार-प्रसारौ एव साक्षात्कारे विचारणीयौ विषयौ भवतः स्म । राजनीतौ पूर्ण-व्यापृतः अपि स महापुरुषः मादृशैः सामान्यैः अपि जनैः सह ससौहार्दं सम्भाषते स्म—इदम् अद्य स्मारं स्मारम् अनिर्वचनीयाम् आनन्दानुभूतिं विन्दामि ।

वाराणस्यां संस्कृत-विश्वविद्यालय-स्थापनावत् अत्र राजस्थाने अपि स्वतन्त्र-संस्कृत-विश्व-विद्यालय-स्थापना तस्य अतीव अभीष्टा आसीत् । परन्तु इदं राजस्थानस्य दुभार्ग्यम् एव कथनीयं यत् तस्य अयं मनोरथः नैव पूर्णः । असौ केन्द्रीय-प्रशासनेन आहूतः । ततः शरीरस्य व्याधि-मन्दिरत्वाद् एकस्मिन् दिने सर्वैः देशवासिभिः सह राजस्थानीयैः अपि हृदय-विदारकः अयं वृत्तान्तः श्रुतः पठितश्च यत् तेषां प्राणप्रियः विद्वान् नेता दिवङ्गत इति ।

अहम् आत्मानं तस्य महापुरुषस्य नाम्ना वाराणस्यां संस्थापितस्य संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य प्रथम-वारम् आयोजितायाम् आचार्य-परीक्षायाम् उत्तीर्णं छात्रं मत्वा अमन्दं गौरवम् अनुभवामि । 'भवता आचार्य-परीक्षा कुतः उत्तीर्णा ?' एवं प्रारम्भिके साक्षात्कारे पृष्टः यदा अहं पूर्व-चर्चितं तथ्यं तत्-सम्मुखे प्रस्तुतवान्, तदा स डॉ० सम्पूर्णानन्दमहानुभावः मन्द-स्मितेन सह मां बहु बहु अभ्यनन्दत् !

तस्मिन् एव क्षणे मया तत्-सम्बन्धे सोऽपि रोचकः प्रसङ्गः तस्मै महानुभावाय श्रावितः, यः सोलन-राजगुरु-महामहोपाध्याय-पण्डितप्रवर-श्रीमथुराप्रसाद-दीक्षित-महाभागेन १९३७ ख्रिष्टाब्दे वघाट-राज्याधिपतौ प्रशासने विरचिते स्वकीये अत्यद्भुते 'भारत-विजय'-नाटके प्रदत्तः आसीत् ।

इयं श्री-दीक्षित-महानुभावस्य दीर्घ-दर्शिता एव कथनीया यद् राष्ट्रपितुः महात्मनः गान्धिनः नेतृत्वे अहिंसकान्दोलन-द्वारा यत् स्वातन्त्र्यं १९४७ ख्रिष्टाब्दे प्राप्तं, तस्य उल्लेखः तेन १९३७ ख्रिष्टाब्दे एव स्व-प्रणीते उक्त-नाटके कृतः ।

तदनुसारं यदा एकः यूरूपीयः दन्तान् पिंसन् भारत-मातरं तर्जयति यत्—'रे रे कटु-प्रभाषिणि दुष्टे ! तिष्ठ त्वाम् आर्डिनेन्स-नियम-जालेन निबध्नामि' एवम् उक्त्वा आर्डिनेन्स-नियम-जालं

भारत-मातुः उपरि प्रक्षिपति, तदा भारत-माता आर्डिनेन्स-नियम-जालं गृहीत्वा त्रोटयित्वा प्रक्षिपति सक्रोधं च भणति–रे दुष्टाधम !

अपकारस्य कर्त्तारमुपकार-विलोपकम् ।
त्वां चपेटा-प्रहारेण यमालयमहं नये ॥

इति चपेटां दातुम् उद्यच्छति ।

अनेन यूरूपीयः क्रुद्धः सन् असिं निष्कास्य भारत-मातरं यदा जिघांसति, तदा सहसा सुभाषचन्द्रबोस-जवाहरलालनेहरूमहाशयाभ्यां सह अयम् एव अस्माकं प्रियतमः नेता डॉ॰ सम्पूर्णानन्दः महानुभावः प्रविश्य उच्च-स्वरेण तं यूरूपीयं भर्त्सयति–

भीमो यथा जरासन्धं तथा त्वां पाटये क्षणात् ।
द्रुह्यन्तं भारत-भुवे क्षणमप्यद्य न क्षमे ॥

इयम् अन्या वार्त्ता यद् हन्तुं पराक्रममाणं तम् उपसृत्य पं. श्रीगोविन्दवल्लभपन्तः अपकर्षति सन्दिशति च यत्–गान्धि-महात्मना आज्ञप्तम्–अहिंसया विजेतव्यम् इति ।

अनेन तस्य उत्साहः तत्कालं मन्दः भवति । विवशः सः डॉ. सम्पूर्णानन्दः केवलम् इदम् एव कथयित्वा विरमति यत्–आः ! अस्य दौरात्म्यात् विस्मृतम् ।

इमं प्रसङ्गं श्रुत्वा डॉ. महानुभावस्य मुखारविन्दे यानि हर्ष-विषाद-चिह्नानि आविर्भूतानि, तानि तत्र मां विहाय अन्यः कः ज्ञातुं शक्नोति ? कांश्चित् क्षणान् सः नयने निमील्य अतीत-स्मृतौ निमग्नः । पुनः समाधितः उत्थितः योगिराजः इव सस्नेहं माम् अभिपश्यन् मदीयां बहु-पाठितां प्राशंसीत् । अस्मिन् एव अवसरे मया निवेदितः सः स्वातन्त्र्यान्दोलन-सम्बन्धिनः कतिपयान् अनेकान् अन्यान् अपि प्रसङ्गान् अनुभवान् च मां साभिरुचि समश्रावयत् ।

सः स्वयं तु सततं स्वाध्याय-शीलः लेखन-व्यसनी च आसीत् एव, अन्यान् अपि तदर्थं प्रोत्साहयति स्म । जने जने संस्कृत-संस्कृत्योः प्रचार-प्रसाराभिलाषुकः सः संस्कृतस्य सरलं स्वरूपम् अपि द्रष्टुं बहु-समुत्सुकः अवर्त्तत । इयं भावना तस्य भाषणेषु सन्देशेषु च अपि अनुस्यूता दृश्यते ।

यदा अहं व्याकरण-नियमोल्लङ्घनं विना अपि व्याकरण-सम्मतम् एव सरल-संस्कृत-लेखन-प्रकारं तस्य सम्मुखे उपस्थापितवान्, तदा सः महानुभावः तं प्रसन्नमनसा अन्वमोदत, अन्येषाम् अनुकरणाय तथा सततम् एव लेखितुं मां प्रोत्साहयत् अपि ।

इदानीम् अयं प्रकारः मदीय-रचनासु जिज्ञासुभिः द्रष्टुं शक्यते । सर्व-साधारण-जनतां संस्कृतं परिचाययितुं मया जयपुर-कोटा-बीकानेर-फरीदाबाद(हरियाणा)तः प्रकाश्यमाने हिन्दी-भाषायाः दैनिके समाचारपत्रे 'अधिकारे' विगतेभ्यः एकविंशति-वर्षेभ्यः प्रचालिते 'संस्कृत-समाचार'-स्तम्भे प्रतिदिनं यत् किञ्चित् अनवरतं लिख्यते, तद् अपि सरल-संस्कृते एव भवति । स्वयम् इदं संस्मरणं तस्याः एव शैल्याः जीवत् जाग्रत् उदाहरणम् अस्ति इति, किं बहुना ?

●

जीवन-स्मृति

पं. बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

श्रद्धेय डॉ० सम्पूर्णानन्द जी न केवल वाराणसी के किन्तु समस्त भारत के राष्ट्रवादी पुरुषों में अग्रणी थे। उनका जीवन एक निःस्पृह तपस्वी की तरह था। व्यक्तिगत रागद्वेष या पार्टीबाजी से वे बहुत दूर थे। वे शत-प्रतिशत सिद्धान्तवादी पुरुष थे।

अपने या परिवार के लिए कोई अनुचित लाभ उठाने का कोई यत्न उन्होंने कभी नहीं किया। आज भी उनका पैत्रिक आवास उसी जीर्णशीर्ण परिवेश में है। लोग उन्हें रूखे स्वभाव का समझते थे परन्तु वे भीतर से भावुक और दयालु भी थे।

उनके छोटे अनुज भाई परिपूर्णानन्द जी से मेरा चिरकालिक सौहार्द रहने से उन्हें मैंने नजदीक से देखा और समझा है।

परिपूर्णानन्द जी के पुत्र के विवाह की वारात रात में दो बजे आई, तो बाबू जी तुरन्त स्न ानागार में चले गये। वे प्रातः २ बजे से चार बजे तक जप-पूजा और योगाभ्यास करते थे, यह उनका हमेशा नियम रहा। अनेक पदों पर कार्य करते हुए भी उनका यह नियम चलता रहा।

बाबू जी प्रातः ५ बजे सचिवों को फाइलें लेकर बुलाते थे, नौ बजे सोकर उठने वाले अफसरों को यह बड़ा अटपटा लगता था। उनका कहना था कि राजकीय कार्यों का यही समय होता है।

भारतीय शास्त्रों का अपनी शैली से उन्होंने परिशीलन किया था। उनके कुछ विचार स्वतन्त्र थे, भले ही कुछ लोगों को वे पसन्द न आयें।

कांग्रेस पार्टी से चुनाव जीतकर वे आये और मुख्यमन्त्री भी बने, तो उनका प्रथम भाषण काशी में गीतामन्दिर गुदौलिया में हुआ था।

उनकी उस समय की घोषणा थी कि यदि मैं संस्कृत-विश्वविद्यालय न बना सका तो अपने पद से इस्तीफा दे दूँगा। विश्वविद्यालय के विषय में विधानसभा में कुछ विरोध चल रहा था परन्तु अन्ततः इसमें भी वे सफल रहे और इस सरस्वती पीठ की स्थापना हो सकी।

उन्होंने एक पुस्तक 'ब्राह्मण सावधान' लिखी है, उसमें ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों पर जोर देते हुए ढोंग धतूरा और निरर्थक रूढ़िवाद का उन्होंने खण्डन किया है, न कि किसी की निन्दा की है। शास्त्रमर्यादा को वे महत्त्व देते थे।

उनसे मिलने संस्कृत के अनेक पण्डित या छात्रगण प्रायः जाते थे, उस समय किसी को तिलक-विहीन देखकर वे पूछ देते थे–'भाई ! आप मस्तक पर भस्म, चन्दन या कुङ्कुम क्यों नहीं लगाते ? आपकी क्या परम्परा है ?' इस प्रकार मर्यादाओं की मान्यता उनकी दृष्टि में थी।

एक विद्यार्थी की तरह उन्हें यावज्जीवन अध्ययन की लालसा लगी रहती थी। चाहे जेल मे या आफिस में या प्रवास में रहें, उनके पास संस्कृत की दो-चार पुस्तकें अवश्य रहती थीं और वे स्वाध्याय अवश्य ही करते थे। सचिवालय के संस्कृतज्ञ अधिकारियों की गोष्ठी उनके आफिस में कभी-कभी लगती थी। दूसरे के विचारों को वे बड़ी सावधानी से सुनते थे।

मैंने एक बार अपना मुद्रित लघु-निबन्ध, जो 'बाण और कालिदास' की तुलनापरक था, उन्हें भेजा। उस समय वे चकिया के दौरे पर जङ्गल में थे। उन्होंने उसे तत्काल पढ़कर अपनी समीक्षा मुझे भेज दी थी।

संस्कृत के पारम्परिक पण्डितों के प्रति उनकी आस्था और आदर था। स्व. पं. सभापति उपाध्याय, पं. रामाज्ञा पाण्डेय एवं मेरे स्वर्गीय पितृचरण म. म. नारायण शास्त्री खिस्ते उनके निकटवर्ती थे।

संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम दीक्षान्त के अवसर पर उन्होंने भाषण के लिए बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् म. म. विधुशेखर भट्टाचार्य को आमन्त्रित किया था।

वाराणसी और उसके विद्वानों के उत्थान के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहे। उनके मातामह योगी थे, जिनसे उन्होंने योगदीक्षा ग्रहण की थी। उनकी पुण्यतिथि पर वे वैदिक विद्वानों से मन्त्रपाठ करवाते थे।

सम्पूर्णानन्द जी के पूर्वजों पर प्रख्यात महात्मा बाबा कीनाराम जी की कृपा हुई थी, जिसके कारण इस कुल का विकास हुआ।

अन्तिम समय में वे काशी विद्यापीठ के चान्सलर थे तथा वहीं रहते थे। उन्होंने मुझे बुलाया और पूछा 'क्या मैं संन्यास ले सकता हूँ ?' इस पर मैंने कहा 'वासनाओं का परित्याग ही तो संन्यास है। वह आप कभी कर चुके हैं। इस बात से उन्हें सन्तोष हुआ। वे यथार्थ का ग्रहण करते थे, यह उनकी विशेषता थी।

श्रद्धेय बाबू सम्पूर्णानन्द जी का व्यक्तित्व तपे तपाये सोने के समान विशुद्ध था, उनके जीवन की बहुत सी बातें अनुकरणीय हैं। ऐसे भारतीय परम्परा के आदर्श पुरुष के प्रति मेरी सविनय श्रद्धाञ्जलि है।

●

एक अविस्मरणीय गोष्ठी

श्री विश्वनाथ मुखर्जी

'बहरी अलंग' 'गहरेबाजी' काशी की अपनी संस्कृति है। जिसने इन दोनों प्रथाओं का आनन्द नहीं लिया, वह बनारसी नहीं है। खांटी बनारसी खाने का नहीं, बल्कि खिलाने का शौकीन होता है। आनन्द की प्राप्ति के लिए वह सब कुछ करने को तैयार रहता है। फटीचर हालत में रहते हुए भी शान से जीना पसन्द करता है। ये सभी गुण श्रद्धेय बाबू जी में थे।

बनारस में अगर उनसे मिलने कोई आता था, तो उसे अपने सारनाथ स्थित बगीचे में जरूर ले जाते थे। खासकर बनारसी गहरेबाजी का जायका देते थे। भोजन-जलपान का शौक उन्हें प्रारंभ से ही था। एक बार अपने एक रिश्तेदार के यहाँ गये तो वहाँ जलपान में रिकवंछ दिया गया। आपने प्रेम से खाया और कहा–"मुझे लखनवी जलपान दिया गया और अब मैं आप लोगों को बनारसी मिष्ठान्न खिलाता हूँ। ले आओ, मेरा मगदल का डिब्बा।"

काशी की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'प्रसादपरिषद्' से उन्हें लगाव था। एक बार सारनाथ में संस्था की ओर से गोष्ठी का आयोजन किया गया। बगीचे में आते ही आपने पूछा–"कहिये, आप लोगों ने पिसनहरिया का गुलाब-जामुन मँगवाया है या नहीं ?"

बनारस में पिसनहरिया का गुलाबजामुन काफी मशहूर है। किसी को इसका ध्यान नहीं रहा। लोगों को चुप रहते देख बाबू जी ने कहा–"मैं यह जानता था कि आप लोग भूल जायेंगे, इसीलिए मैं अपने साथ लेता आया हूँ।"

अभी जिन लोगों के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, इस समाचार को सुनते ही प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि बाबू जी उनसे भी अधिक शौकीन हैं। बाबू जी में यह प्रवृत्ति आजीवन रही।

इस सिलसिले में मुझे एक अभिनव गोष्ठी की याद आ रही है। मैं 'ठलुआ क्लब' का प्रधान-मंत्री था और बाबू जी इस संस्था के संरक्षक। संस्था के पास पर्याप्त धन नहीं है, इसलिए हम हमेशा ऐसे यजमानों को फाँसते हैं जो गोष्ठी में आये अतिथियों को श्रद्धापूर्वक जलपान करायें। बदले में उन्हें सिवा धन्यवाद के और कुछ नहीं दिया जाता था। यह बात बाबू जी जानते थे।

पता नहीं, एक बार उन्हें क्यों मूड आया और मुझे एक पत्र भेजा–

प्रिय मुखर्जी,

आप लोग दूसरों की रकम का जलपान करके उन्हें कृतार्थ करते हैं । मैं चाहता हूँ कभी मेरे यहाँ आप लोग पधारें और मुझे जलपान कराने का सौभाग्य प्रदान कर कृतार्थ करें ।

भवदीय

सम्पूर्णानन्द

समझते देर नहीं लगी कि ठलुओं को खिलाने का शौक हुआ है । बाबू जी आर्थाराइटिस से पीड़ित थे, इसलिए हमारी गोष्ठी में आ नहीं पाते थे । इधर हम संरक्षक होने के कारण प्रत्येक गोष्ठी का निमंत्रण उनकी सेवा में भेजते रहे । दरअसल उनकी इच्छा थी कि एक गोष्ठी उनके निवास स्थान पर हो जाय । बाबू जी उन दिनों काशी विद्यापीठ के कुलपति थे । वहीं निवास करते थे ।

अब सवाल उठा कि वहाँ की गोष्ठी की रूपरेखा कैसी हो । क्लब के स्थायी अध्यक्ष बेढब जी थे, जिन्हें सारा शहर 'मास्टर साहब' कहता था । उनसे निवेदन किया । डॉ. भानुशंकर मेहता मेरे सहयोगी तथा कल्पनाशील व्यक्ति हैं । तुरत आनन-फानन में उन्होंने एक अभिनव गोष्ठी की रूपरेखा तैयार की ।

पण्डित करुणापति तथा पण्डित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र काशिकेय' के अधिकांश छात्र डाक्टर उपाधि ग्रहण कर चुके हैं, पर इन दोनों विद्वानों की प्रतिभा तथा ज्ञान का मूल्यांकन करते हुए किसी भी विश्वविद्यालय ने इन्हें आनरेरी डाक्टरेक्ट की डिग्री नहीं दी, जिसके ये दोनों विद्वान् अधिकारी हैं । ठलुआ क्लब की कार्यसमिति ने यह निश्चय किया कि प्राचीनकाल की गुरु-परम्परा के अनुसार विद्वज्जनों की सभा बुलायी जाय । उस सभा में उपस्थित विद्वान् इन दोनों महानुभावों से प्रश्न पूछें । ये दोनों विद्वान् उसका उत्तर दें । इसके बाद इन दोनों विद्वानों को विद्यावारिधि उपाधि दी जाय ।

इस निश्चय की सूचना बाबू जी को बेढब जी ने जाकर दी । संभवत: उन्होंने स्वीकार कर लिया । हमने काशी के विद्वानों के अलावा हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ और संस्कृत विश्वविद्यालय के अध्यापकों को निमंत्रण भेजा ।

कार्यक्रम प्रारंभ होने के पहले मौसमी जलपान देखकर तबीयत प्रसन्न हो गयी । उबले हुए सिंघाड़े को मसाले से छौंका गया था और मगदल । चाय ऊपर से । श्रद्धेय पं. सीताराम चतुर्वेदी भी अपने यहाँ आयोजनों में इसी तरह का प्रबंध करते हैं ।

मास्टर साहब ने आज के आयोजन के बारे में प्रकाश डालते हुए कहा–"भारत में प्राचीनकाल में विद्वानों की सार्वजनिक मौखिक परीक्षा लेकर उनको विद्वान् के रूप में मान्यता दी जाती थी । नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला में उनकी विद्वत्ता की परीक्षा लिखित रूप में नहीं होती थी, बल्कि उनसे प्रश्न पूछे जाते थे । चाणक्य को विशारद या पाणिनि को साहित्य-रत्न की उपाधि नहीं दी

गयी, प्लेटो और अरस्तू को डाक्टर आफ साइंस या डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि नहीं दी गयी। परन्तु वे अपने विषय के प्रकाण्ड पंडित रहे। लिखित रूप में परीक्षा लेने की प्रथा अभी हाल में हुई है। अब तो इस बात का भय होने लगा है कि भविष्य में लोग थीसिस खरीदकर डाक्टर न बनने लगें।

आज भी ऐसे अनेक विद्वान् हैं जिन्होंने थीसिस नहीं लिखी है, पर उनके पढ़ाये छात्र डाक्टर बन गये हैं। हमने सोचा कि हम ऐसे विद्वानों को बुलायें और उनका सम्मान करें। यद्यपि हमारी उपाधि सरकारी मान्यता प्राप्त नहीं है; परन्तु यह उनके सम्मान के योग्य है। आप प्रश्न पूछें और दोनों विद्वान् आपको संतुष्ट कर दें तो इन्हें "डाक्टरेक्ट" उपाधि से विभूषित किया जाय"।

सभा की अध्यक्षता डाक्टर संपूर्णानन्द जी स्वयं कर रहे थे। वे न जाने क्यों उखड़ गये। उन्होंने कहा–"आप में से कौन इतना विद्वान् है जो इनसे प्रश्न पूछने की योग्यता रखता है। कम-से-कम मैं तो इतना विद्वान् नहीं हूँ। और फिर बेढब जी ने नालंदा, तक्षशिला की चर्चा की है। वहाँ परीक्षा के नियम थे। परीक्षार्थी के नियम थे। परीक्षार्थी स्नान करके, विशेष वस्त्र धारण करके आता था। यज्ञादि होते थे, इस विषय पर मैं अलग से लिखूँगा, पर इस समय इतना ही कहूँगा कि ये लोग उस रूप में नहीं आये हैं, अतएव अच्छा हो यदि परीक्षा स्थगित रखी जाय"।

यह घटना 28 अक्टूबर, सन् 1967 ई. की है। सभा समाप्ति के बाद बाबू जी अन्तरंग मित्रों से विचार-विमर्श करने लगे। बाद में अपनी प्रतिक्रिया उन्होंने बेढब जी और डाक्टर भानुशंकर मेहता के पास व्यक्त की।

काशी विद्यापीठ, वाराणसी-2

3-11-1967

प्रिय गौड़ जी,

उस दिन ठलुआ क्लब की मीटिंग के बाद मैंने कहा था कि एक पत्र आपके तथा डॉ. मेहता के पास भेजूँगा। वह वादा आज पूरा कर रहा हूँ।

यदि आपके सदस्यों को कँपकँपी हो उठने का अधिकार हो तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उस दिन के कार्यक्रम को पढ़ने के बाद मेरी प्रायः वही दशा हुई। कुछ थोड़ी सी चिन्ता तो अपने सम्बन्ध में भी हुई। इसके सिवाय चिन्ता के और भी कई कारण थे, जिनका जिक्र मैंने बैठक के बाद मौखिक रूप से आप दोनों सज्जनों के सामने किया था। आपने नालन्दा, विक्रमशिला, काशी आदि पुरानी परम्पराओं की चर्चा की, जहाँ न कोई लिखित परीक्षा होती थी, न कोई उपाधि दी जाती थी, केवल दो बातें होती थीं, एक तो यह कि समकक्ष विद्वानों की सम्मति में यह विद्वान् है और दूसरे यह कि इनके गुरु कौन थे। आपको शायद विदित होगा कि अर्वाचीन युग में भी संस्कृत कालेज में यह दस्तूर था कि आचार्य के डिप्लोमा के कोने में सफल स्नातक के गुरु का नाम लिखा रहता था। अस्तु, जो बात क्लब में सोची गयी है उससे यह अभीष्ट सिद्ध होने वाला नहीं है। गुरु का प्रश्न ही जाने दीजिए। समकक्ष विद्वानों का समारोह कैसे होगा ? पुराने विश्वविद्यालयों में आज

के समान कन्वोकेशन नहीं होते थे; परन्तु औपचारिकता का वातावरण पूरा रहता था। ऐसा नहीं होता था कि जिसके जी में आया टहलता चला आया, कविता सुना, जलपान करके चला गया। उस संस्था के सभी प्रमुख विद्वान् उपस्थित होते थे। यह उनका अलिखित कर्त्तव्य और अधिकार होता था। फिर समकक्ष विद्वान् ही प्रश्न पूछने और सम्मति देने के अधिकारी होते थे। उस दिन सायंकाल जो लोग उपस्थित हुए थे, उनमें कितने लोग भाषाविज्ञान के जानकार थे या आगे के भविष्य में भी कितने भाषाशास्त्रियों को आप एकत्रित कर सकते हैं ? मेरा तात्पर्य ऐसे लोगों से है, जिनकी बात टकसाली मानी जाती हो। मैं मानता हूँ कि मेरे जैसे जो लोग सभा की शोभा बढ़ा रहे थे, उनको कदापि उस विषय पर स्यात् एक भी प्रासंगिक प्रश्न पूछने का सहूर नहीं था। फिर मेरे जैसे सौ मूर्खों को एकत्र होकर किसी को विद्यावारिधि कहने का अधिकार है ? जिस तरह अंग्रेजी की यह कहावत सत्य है कि Two wrongs do not make a right वैसे ही यह भी सत्य है कि A Hundred fools do not make a wise man और यह कहने की आवश्यकता न होगी कि जो व्यक्ति किसी विषय का विशेषज्ञ नहीं है, वह दूसरे विषय की सौ बातों को जानता है परन्तु उस विषय की दृष्टि से मूर्ख है।

संस्कृत का बाल शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। किसी एक विषय का उद्भट विद्वान् भी जो प्रसंगगत विषय है, उसको नहीं जानता तो उस विषय की दृष्टि से बाल है। आपको याद होगा कि जब लोकमान्य तिलक ने वेद के सम्बन्ध में अपने मत को प्रकट किया था तो कितने पण्डितों ने कहा था–'बालसिद्धान्तस्तु बालसिद्धान्तेव'। उनकी दृष्टि से बाल शब्द का प्रयोग बिलकुल ठीक था। आज यदि हम कोई उस प्रकार का समारोह करना चाहें तो यह निश्चित है कि बहुत से अधिकारी विद्वान् उपस्थित नहीं होंगे। वह किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में राय देते हुए जी चुरायेंगे। सबको इस बात का डर रहेगा कि आज किसी पत्र-पत्रिका में आलोचना निकल सकती है और मत प्रकट करने वाले को लेने के देने पड़ जायेंगे। बहरहाल, आप इसे कायरता ही समझिये; परन्तु अपनी बात कहता हूँ कि यदि इस प्रकार के समारोह में किसी विद्वान् को कोई उपाधि दी जाय, चाहे मैं उसको उस उपाधि के योग्य भी समझता हूँ, तब भी खुलकर उसके नाम के आगे उस उपाधि को जोड़ने में स्वयं मुझे संकोच होगा। और आप तो इस बात को जानते हैं कि प्राचीनकाल में उपाधि नहीं दी जाती थी। 'जनरल उसेज' से किसी विद्वान् के नाम के आगे भले ही कुछ शब्द जुड़ जाय। आप खुद जानते होंगे कि पण्डितराज प्राचीन सैकड़ों वर्षों में केवल एक व्यक्ति को कहा गया।

एक बात और ध्यान करें, हम किसी को उपाधि देने वाले होते कौन हैं ? हमने अपने को 'ठलुआ क्लब' नाम दिया है। जहाँ A rose by name smells as sweet है, वहाँ यह भी सच है कि phenyl by any name will smell as offensus. शब्द की शक्ति को भुलाया नहीं जा सकता। ऐसा नाम लेकर कोई हमसे इतनी ऊँची उड़ान भरने की आशा नहीं कर सकता। यह उपाधि वाली

बात भी मजाक में उड़ जायगी। इस नाम को लेकर भी हम बहुत काम कर सकते हैं। साहित्य और समाज दोनों की सेवा कर सकते हैं। कुछ क्षेत्रों में यह नाम देना नहीं पावना की सूची में लिखा जायगा। शायद कुछ सेवा हम ही ठीक तरह से कर सकते हैं; परन्तु अपने क्षेत्र के बाहर जाकर नहीं।

मैंने इस प्रकार जो अपनी राय स्पष्ट शब्दों में लिख दी है, आशा है आप, डॉ. मेहता और दूसरे मित्र, जिनके हाथ में यह पत्र पड़ जाय, मुझे क्षमा करेंगे।

सम्पूर्णानन्द

यहाँ इस घटना को विस्तार से लिखने का आशय यह है कि सारी बातें सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं हुई हैं। बाबू जी चिन्तनशील व्यक्ति थे, उन्होंने इस घटना को गंभीर रूप में लिया और अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की।

इस गोष्ठी में एक और घटना हो गयी थी। अपने धन्यवाद भाषण में पण्डित रामबालक शास्त्री ने बड़ी कड़वी बात कह दी। उन्होंने कहा था–"बाबू सम्पूर्णानन्द न केवल काशी के बल्कि सम्पूर्ण भारत के गौरव हैं। काशी के लिए आपने बहुत कुछ किया है। परन्तु आपने अपने जीवन में एक बड़ा पाप-कर्म किया है और वह है–संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना। अध्यापक और साहित्यकार जब तक अभाव में पलता रहता है, तब तक वह साहित्य और समाज का कल्याण करता है। समृद्ध होते ही उसके चरित्र में बदलाव आ जाता है। विश्वविद्यालय में संस्कृत पठन-पाठन के स्थान पर ह्रास हो रहा है। प्रत्येक अध्यापक मुकदमे में लिप्त है। छल-कपट और राजनीति का बोलबाला है। ऐसी स्थिति में क्या वह सपना पूरा होगा जिसके लिए इसका निर्माण हुआ था" ?

इस वक्तव्य को सुनकर सभी श्रोता सन्नाटे में आ गये। बाबू जी के घर में, उनके मुँह पर इस तरह की आलोचना ? लेकिन हमने आश्चर्य के साथ सुना बाबू जी का उत्तर। उन्होंने कहा–"संस्कृत भाषा और साहित्य भारत की आत्मा है, हमारी संस्कृति की धरोहर है और इसकी रक्षा काशी तथा अन्य नगरों के विद्वान् पण्डित करते हैं। मैंने अनुभव किया कि अन्य विश्वविद्यालयों के अध्यापक, जो विदेशी भाषा पढ़ाते हैं, उसकी तुलना में संस्कृत के विद्वानों को अपेक्षित वेतन नहीं मिलता। केवल छोटे-छोटे विद्यालय और चटशालाएँ हैं। संस्कृत भाषा को समुचित स्थान दिलाने के लिए इस विश्वविद्यालय की स्थापना करायी गयी ताकि विश्वविद्यालय स्तर का वेतन यहाँ के अध्यापकों को प्राप्य हो। वे अपने को हीन न समझें। मेरा ख्याल था कि इससे वे अपने को गौरवान्वित समझेंगे और भरसक संस्कृत साहित्य को समृद्ध करेंगे। खेद है कि मेरी कल्पना के अनुसार विश्वविद्यालय कार्य नहीं कर रहा है"।

बाबू जी ने सन् 1956 में प्रकाशित मेरी एक पुस्तक पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा था– "एक बात और कहना चाहता हूँ। हम लोग–उसमें मैं आपको और अपने को भी सम्मिलित करता हूँ–काशी के गौरव पर गर्व करते हैं। अच्छाई के साथ कुछ बुराई भी मिली रहती ही है।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।

काशी के विद्वत्-समाज में कुछ दोष भी थे और आज भी हैं; परन्तु यह मानना होगा कि उसने हमारे धर्म और हमारी उस संस्कृति की रक्षा प्राणपण से की है, जिसके बल पर आज भी भारतीय समाज अपने सर को उठा सकता है"।

दरअसल मैंने अपनी उस पुस्तक में रूढ़िवादी पण्डितों की आलोचना की थी। काशी के पण्डितों के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। आजीवन वे संस्कृत भाषा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे।

●

डाक्टर सम्पूर्णानन्द : न्यूयार्क (अमेरिका) में और अन्यत्र

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

समाजशास्त्र और दर्शन, दोनों विषयों में मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता, अथर्ववेद के भाष्यकार पण्डित सम्पूर्णानन्द का नाम विश्वविद्यालयीय छात्र के रूप में मैंने सुना था। कुछ साहित्य भी उनका देखा था। किन्तु उनसे प्रथम साक्षात्कार का अवसर सन् 1948 में न्यूयार्क महानगरी में हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ महीनों के बाद विश्वश्रमिकसंघ के महाधिवेशन में भागग्रहणार्थ सम्पूर्णानन्द जी अमरीका गये और सावनफ्रांसिस्को के बाद न्यूयार्क आये। हम लोग स्वतंत्रता प्राप्ति के दो मास पूर्व ही न्यूयार्क पहुँच गये थे। हमारे मित्र डाक्टर शंभुनाथ उपाध्याय, जो कोलम्बिया विश्वविद्यालय में हमारे सहपाठी थे, ने मुझसे उत्तर प्रदेश सरकार के तत्कालीन शिक्षामंत्री के न्यूयार्क आने का समाचार दिया। हम दोनों कुछ देर तक मोटर में सम्पूर्णानन्द जी के साथ न्यूयार्क में चल कर "अन्तर्राष्ट्रीय निवास" में पहुँचे। मंत्री जी के व्याख्यान का न्यूयार्क में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के पास बने "इण्टरनेशनल हाउस" के भव्य भवन में आयोजन था। आधुनिकता और यांत्रिकता के विराट् केन्द्र न्यूयार्क में, कोरा खद्दर का कोट पहने, तेजपुंज ललाट पर बड़ा बनारसी ढंग का शुभ्र चन्दन धारण किये हुए सम्पूर्णानन्द, स्वामी विवेकानन्द का सहज ही स्मरण कराते थे। धवल गाँधी टोपी समन्वित मस्तक के पीछे लटकते हुए घने केशपुंज ऋषि व्यास का स्मरण कराते थे।

सम्पूर्णानन्द का न्यूयार्क में व्याख्यान प्रायः अप्रैल-मई, 1948 में, अंग्रेजी में हुआ था। भाषण के क्रम में दुःखपूर्ण शब्दों में उन्होंने कहा–"Your Prime Minister will never be sixty again" इस वाक्य का स्पष्ट आशय था कि पण्डित जवाहरलाल साठ वर्षों के लगभग की आयु उस समय प्राप्त कर रहे थे। तत्कालीन संक्रमण काल में, (सन् 1948-49 में) जवाहरलाल का बढ़ता हुआ आयुक्रम भावुक देशभक्त सम्पूर्णानन्द के हृदय में व्यथा उत्पन्न कर रहा था। व्याख्यान के बाद प्रश्नोत्तर-काल आया। मैंने एक प्रश्न पूछा कि रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन और बोलशेविक लोगों ने जारशाही द्वारा नियुक्त नौकरशाही को सेवामुक्त करा दिया किन्तु आई. सी. एस. (I.C.S.) के प्रति अनेक अवसरों पर आक्रोश व्यक्त करने वाले भारतीय नेता, स्वतंत्रता के बाद उन्हीं आई. सी. एस. अधिकारियों को अपना रहे थे, ऐसा क्यों हो रहा था ? डॉ. सम्पूर्णानन्द का स्पष्ट उत्तर था– 'Because they had no Gandhi to lead them'—क्योंकि रूसियों के यहाँ महात्मा गाँधी जैसा उदाराशय नेता नहीं था, जो अन्त तक माने कि मानव हृदय की अच्छाइयों का प्रकटीकरण कराना

ही होगा, चाहे बाहरी ढंग से कोई कैसा भी दुष्प्रकृति का क्यों न हो। प्रश्नोत्तरकाल में डॉ. राजनारायण, पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, ने या तो स्वयं या अपने किसी मित्र से परिवार नियोजन अर्थात् कृत्रिम गर्भावरोध विषयक प्रश्न किया या कराया। आर्ष हिन्दू परम्परा के मूर्तिमान् प्रतीक श्री सम्पूर्णानन्द इस प्रश्न को सुनकर बिगड़ गये।

न्यूयार्क में इस प्रकार डॉ. सम्पूर्णानन्द का, मुझे प्रथम परिचय और साक्षात्कार हुआ। उसके अनेक वर्ष अनन्तर सन् 1957 में, अखिल भारतवर्षीय संस्कृत महासम्मेलन के पटना विश्वविद्यालय के ह्वीलर सेनेट हाल में आयोजित बृहद् वार्षिक महोत्सव के सभापति पद पर सम्पूर्णानन्द जी समासीन थे। उनकी प्रशस्ति की सूचिका पद्यावली में पंडित ने उनका यशःगान किया और उनके नाम में समाविष्ट 'सम्पूर्णता' शब्द की, वेदान्तनिष्ट 'पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' की शैली में रोचक विवृति उपस्थित की। दो दिनों तक चलने वाले इस महासम्मेलन में अनेक उत्तर भारतीय पंडित उपस्थित थे। श्रौत वाङ्मय के अपौरुषेयत्व का निराकरण करते हुए मैंने भी एक भाषण दिया, जिसका स्वभावतः, कई अन्य पण्डितों ने प्रतिवाद किया।

पटना विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चलने वाले प्रसिद्ध शोधसंस्थान, इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, में मई 26, 1957 को डॉ. सम्पूर्णानन्द का भाषण Integrity in Public Administration (लोक प्रशासन में चरित्रनिष्ठा) विषय पर आयोजित हुआ। भारत की उदीयमान जनतंत्रात्मक शासनप्रक्रिया, प्रशासकीय व्यवस्था, सामाजिक और राजनीतिक न्याय, आर्थिक वैषम्यहीनता आदि को क्रियान्वित करने के लिये कौटिल्य अर्थशास्त्र की भाषा में सर्वोपधाशुद्ध जनसेवकों की महती आवश्यकता है। उस समय **'लोकमान्य तिलक'** पर मेरा ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था और मैं उसे प्रकाशित कराने का यत्न कर रहा था। उस ग्रंथ के विषय में सम्पूर्णानन्द जी से मैंने कहा और उन्होंने इस कार्य में मेरा उत्साहवर्धन किया।

डॉ. सम्पूर्णानन्द का भारत के आधुनिक इतिहास में प्रमुख स्थान है। वे महान् स्वतंत्रता सेनानी, जननेता, वेद, दर्शन, समाजवाद, ज्योतिष आदि अनेक शास्त्रों के प्रख्यात विद्वान् और लेखक, समाजवादी और प्रखर चिन्तक थे। सिद्धान्त का प्रश्न उपस्थित होने पर वे महात्मा गाँधी और पण्डित जवाहरलाल से भी उलझ जाते थे। विद्यार्थी जीवन में विज्ञान (बी. एस. सी.) का विद्यार्थी होने पर भी वे अथर्ववेद पर संस्कृत में भाष्यप्रणेता हुए और वेदान्ताचार्य चित्सुख की भाँति 'चिद्विलास' ग्रंथ के रचयिता हुए। घोर राजनीतिक संघर्ष और कष्टसहिष्णुता के साथ गहन शास्त्रीय पाण्डित्य का जो समन्वय लोकमान्य तिलक के जीवन में था, उसी प्रकार का व्यापक जीवन सम्पूर्णानन्द ने व्यतीत किया। नीचे मेरे ग्रंथ **Modern Indian Political Thought** के विषय में लिखित उनका एक पत्र उद्धृत किया जा रहा है–

SAMPURNANAND.

82, Park Road,
Lucknow.
Dated Sept. 21, 1961.

My dear Dr. Varma,

I have now gone through your book. *It is a very interesting compendium giving a brief but well-documented and fairly complete survey of Indian Political Thought for the last century and a half.* You deserve congratulations for this work. However, there are two observations which I should like to make. The first is a comparatively minor one. You have complained that there is no continuity in Indian Political Thought in the sense that continuity can be traced in Europe, from the age of Plato and Aristotle downwards. It would have been useful if you had given something like a resume of Indian political theory as elaborated in santiparva or Sukraniti. This would have helped students, who do not possess a sufficient knowledge of Sanskrit, to make the necessary comparisons and no doubt the obvious contrasts. Gandhi Ji, as you are no doubt aware made pointed reference to ancient authorities on the subject and Shriman Narayan Agrawal has quoted him in his book containing suggestions for a constitution for India.

The second point to which I should like to refer is that you have not given Communist Theory the importance which it has undoubtedly acquired. Your references to it are purely incidental, I might almost say accidental. Indian communism is no doubt a hand maid of international communism as understood in Russia but some Indian communist leaders have made essays in political theory. To some extent communist theories are present in our minds in the course of our discussions on the pros and cons of Socialism. I wonder if you have seen my book "Indian Socialism" published recently by Asia Publishing House. Apart from the contents proper, there is an appendix containing two articles written respectively by myself and Jawaharlal Ji, a criticism by Academician Yudin of Russia and my reply to the criticism. In my first article, I had attempted a reconciliation between Spiritualism as enunciated in Vedant and Socialism. In his reply Jawaharlal Ji states "In considering these economic aspects of our problems, we have always to remember the basic approach of peaceful means and perhaps we might also keep in

view the old Vedantic ideal of the life force which is the inner base of every thing that exists". This is a distinct shift in Jawaharlal Ji's opinion which, you have correctly observed, had been deeply influenced by Marxist's thought.

Apart from the reconciliation of Socialism with Spiritualism, I think one great contribution which Indian political thinkers had to make to world political theory is the concept of the independent significance of the individual as against the Hegelian and Communist thesis, that whatever meaning the individual possesses, is derived from his membership of the State. In my own humble way, I have tried to bring this out in my book "The individual and the State" (Kitabmahal). Once again let me congratulate you on preparing *a very readable and useful book*.

Yours sincerely,

(Sampurnanand)

Dr. V.P. Varma,
C/o Lakshmi Narain Agarwal,
Booksellers & Publishers of Educational Books,
Hospital Road.
Agra.

संस्मरण : स्व. डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी

श्री नज़ीर बनारसी

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी उस जाने-माने घराने के एक शरीफ बाइज्जत व्यक्ति थे, जिस घराने के बुजुर्ग सदानन्द जी थे, जिनके नाम से बाज़ार सदानन्द मुहल्ला आज भी आबाद है। यह मुहल्ला मदनपुरा महाल से मिला हुआ पड़ता है, जिसमें आज सिर्फ मुसलमान आबाद है, जो सम्पूर्णानन्द जी के बुजुर्ग खानदान की बहती गंगा जैसी दरिया दिली की यादगार है।

स्वर्गीय डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने जिस दिलेरी और बहादुरी के साथ भारत माता के पाँव की बेड़ियाँ काटने में हिस्सा लिया, उसी शान से भारत के आजाद होने के बाद देश को बनाने सँवारने में भी। लीडरी से लेकर चीफ मिनिस्ट्री तक, चीफ मिनिस्ट्री से गवर्नरी तक, किसी को कभी उँगली उठाने का मौका नहीं मिला। जिस संस्था को हाथ में लिया उसे सँवार दिया, जिस पद पर आसीन हुये उसकी आबरू बढ़ा दी। जो गरीब उनके पास आया उसकी सहायता ही नहीं की, बल्कि उसकी ज़िन्दगी बनाने और सँवारने की भी चेष्टा की।

उनको सच्चाई से प्यार, झूठ से नफरत, सूफी और सन्तों से बेपनाह मुहब्बत, आदमियत के शैदाई, इन्सानियत के फिदाई, मन के साफ जैसे–गंगाजलि में गंगाजल, मिज़ाज के खातुल (खरतल), हिमालय की तरह अटल उनका हर इरादा, रहन-सहन सादा, बातों के धनी, हृदय के सखी, समय के पाबन्द, पुश्तैनी काशी निवासी, गंगा के अथाह प्रेमी, काली के उपासक, संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्थापक, राष्ट्रभाषा के सेवक, भावनात्मक एकता के प्रेरक, अपनी बातों पर अटल, निर्बल के बाहुबल, उर्दू के शायर, हिन्दी के कवि, फारसी के प्रेमी, भारतीय संस्कृति के शैदाई, घुट्टी में साफ गोई, पहले समाजवादी बाद में कांग्रेसी, गंगा के घाटों को आकाशगंगा बनाने के उत्सुक। सबसे पहले गंगा के घाट बनवाने के लिये कदम उठाया और बड़े जोर-शोर से काम शुरू कराया। अफसोस कि उनके बाद किसी ने भी गंगा की ओर मुड़कर नहीं देखा। बनारस के आर्टिस्टों, कारीगरों, बुनकरों, हुनरमंदों को आगे बढ़ाने में उनकी कार्यसूची में सबसे आगे जगह थी।

पंडित जवाहरलाल जी का वह पत्र मुझे कभी नहीं भूलेगा, जिसमें डीजल कारखाने के बारे में पंडित जी ने लिखा था कि डीजल स्कीम बनारस से वापस ली जाती है, इसलिये कि इसको वहाँ की आबोहवा मुआफिक नहीं आयेगी। सम्पूर्णानन्द जी ने जवाब में लिखा था कि यह स्कीम बनारस से वापस नहीं ली जा सकती आबोहवा को मुआफिक आना पड़ेगा। देखिये यहाँ इनकी खरतल

मिज़ाजी कितना बड़ा काम कर गई। अगर यह स्कीम बनारस से वापस चली जाती तो बनारस कितने घाटे में रहता।

वह दूर से देखने वालों की निगाह में सम्पूर्ण कष्ट थे और समीप से देखने वालों के लिये सम्पूर्णानन्द। जब वह दो दिनों के लिये बनारस तशरीफ लाये थे, सर्किट हाउस मे कयाम था। रास बिहारी जी ने फोन किया कि आज शाम को दद्दू के साथ आपका भोजन है। वह हर महीने के आरम्भ में अमीर और हर महीने के अन्त में गरीब हो जाया करते थे। उनकी अमीरी और गरीबी उनकी तन्खाह पर निर्भर हुआ करती थी। वह अपने अधिक से अधिक पैसे साहित्यिक गोष्ठियों और बसन्त उत्सवों पर खर्च करते थे। न उनके शासन काल में कोई फसाद हुआ, न किसी बेगुनाह का खून हुआ, न किसी के साथ बे-इन्साफी हुई।

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी को मैं हमेशा आदर की दृष्टि से देखा करता था। उनका पूरा जीवन संघर्षपूर्ण रहा है, वह चाहे आजादी के पहले का रहा हो या आजादी के बाद का। मैं कद में छोटा होते हुये भी उनका सबसे बड़ा प्रशंसक हूँ। परन्तु उसके बावजूद भी जब वह मुख्यमंत्री पद पर आसीन हुये तो उनके एक गरमागरम बयान को पढ़कर मैं भी अपने जज़्बात पर काबू न रख सका और मैंने उनके विरुद्ध एक नज़्म लिखी और बेनियापार्क के मैदान में 75-80 हज़ार मुसलमानों की भीड़ में जहाँ हर तरफ सियाह झंडे लहरा रहे थे। मैंने बड़ी बेबाकी के साथ पढ़ी, जिसका एक शेर आज भी याद है। आप भी सुनें और अन्दाजा लगायें कि मैं किस कदर जज़्बाती हो गया था–

खेलेंगे आप क्यों मेरे आका के नाम से।
हाज़िर है मेरी जान मेरी जाँ से खेलिये॥

जब यह नज़्म पढ़कर वापस आया तो उसके दूसरे दिन म्यूनिसिपल बोर्ड बनारस के सेक्रेटरी मौलाना अबुल खैर साहब के साहबजादे अबुलकासिम भाई मदनपूरे से गुजर रहे थे। मैं दरवाजे की ड्योढ़ी पर बैठा हुआ था। उन्होंने मेरे करीब आकर कहा, "नजीर भाई आप बेनियापार्क में कैसी जज़्बाती नज़्म पढ़कर चले आये हैं कि पूरे बनारस में तहलका मचा हुआ है और आपकी गिरफ्तारी का वारण्ट भी निकल चुका है। मैंने जवाब दिया, "मैं नज़्म पढ़ने से पहले ही अपने को जेल के सुपुर्द कर चुका हूँ"। वह मुस्कराते हुये आगे बढ़ गये। उसके कुछ ही दिनों बाद भाई परिपूर्णानन्द जी के यहाँ से उनके बेटे के मुण्डन का निमंत्रण आया। जब मैं इस शुभ अवसर पर परिपूर्णानन्द जी के यहाँ पहुँचा तो वहाँ एक कमरे में सम्पूर्णानन्द जी अपने चन्द साथियों के साथ विराजमान थे, जिसमें हमारे मित्र मुन्नन साव भी थे और भाई कुंजबिहारी गुप्त जी भी। मैंने जाते ही सम्पूर्णानन्द जी को नमस्कार किया। उन्होंने कहा "नजीर साहब यहाँ आ जाइये। मैं उनकी आज्ञा का पालन करते हुये उनके पास जाकर बैठ गया। वह जिस प्रेम भाव और मुहब्बत से मिला करते थे उसी तरह मिले। उनके स्वभाव में कोई अन्तर या बदलाव नहीं दिखाई पड़ा। यह था सम्पूर्णानन्द जी का बड़प्पन। उसके कुछ ही दिनों बाद उर्दू का एक प्रतिनिधिमंडल सात आदमियों के जत्थे के साथ गया, जिसमें मेरे अलावा मौलवी शिवनाथ प्रसाद, मसऊद अख्तर जमाल, इश्तियाक

हुसैन एडवोकेट, नेशनल हाई स्कूल, पीली कोठी के मास्टर अब्दुल बारी और शायद हबीबुल्ला भाई एडवोकेट भी शामिल थे। यह जत्था मिर्जा असग़र हुसैन साहब अतातुर्क होटल वाले के नेतृत्व में गया था। मिर्जा असग़र हुसैन साहब स्वतंत्रता आन्दोलन में सम्पूर्णानन्द जी के साथ जेल में रह चुके थे। वह कांग्रेस से जमाते इस्लामी में आ चुके थे। और डॉ. सम्पूर्णानन्द जी समाजवादी से कांग्रेसी होते हुये भी हृदय समाजवादी रखते थे। दोनों के राजनीतिक दृष्टिकोण में जमीन-आसमान का अन्तर था। परन्तु मिर्जा साहब ने सम्पूर्णानन्द जी के पुराने साथी होने के नाते मुख्यमंत्री जी से जिस गरम लहजे में बात की वह मिर्जा साहब के शायानेशान नहीं था। जब उर्दू का वफद लेकर गये थे तो उर्दू की बात करते। मिर्जा साहब ने जाते ही गरम और पुरजोर लहजे में कहा कि गाँधी जी तो कहा करते थे कि हुकूमत शेखैन के नक्श कदम पर चलेगी यानी हज़रत मोहम्मद साहब के वजीरों के पथचिह्नों पर चलेगी; लेकिन आप बिल्कुल उसके बर अक्स यानी उल्टे चल रहे हैं। ऐसा क्यों ? फौरन मुख्यमंत्री जी ने जवाब दिया, "आप हर वक्त अरब ईरान की तरफ न देखा कीजिये, यहाँ के पूर्वजों का भी आदर करना सीखिये। मुख्यमंत्री जी क्रोध में तो थे ही मौलवी शिवनाथ प्रसाद जी से उसी गुस्साभरे लहजे में पूछा–कहिये आप कैसे चले ? शिवनाथ प्रसाद जी ने कहा–हम लोग मिर्जा साहब की कवादत में उर्दू मेमोरण्डम लेकर हाज़िर हुये हैं। मिर्जा साहब के हाथ से मेमोरण्डम लेते हुये मुख्यमंत्री जी ने उसी क्रोधभरे लहजे में कहा–जाइये मैं नहीं जानता कि उर्दू किस गली में बोली जाती है। यह कहकर मुख्यमंत्री जी अन्दर तशरीफ ले गये और हम लोग नाकाम वापस आ गये। उसके कई दिन बाद जो भी रेडियो स्टेशन खोलिये, हर रेडियो स्टेशन से यही सूचना मिल रही है कि सम्पूर्णानन्द जी हिन्दुस्तान के मुसलमानों से कह रहे हैं कि अरब ईरान को देखना छोड़ दीजिये। जो उर्दू का अखबार उठाकर देखिये उसमें यही खबर, जो अंग्रेजी अखबार देखिये उसमें यही न्यूज। पूरी दुनिया में तहलका मच गया कि उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुसलमानों से कह रहे हैं कि अरब ईरान की तरफ देखना छोड़ दीजिये। बाद में मेरी समझ में आया कि मिर्जा साहब ने जाते ही मुख्यमंत्री जी से छेड़छाड़ करके गुस्सा दिलाके अपना मकसद पूरा कर लिया। उसके बाद सम्पूर्णानन्द जी ने हमको और शिवमूरत लाल कैस को उस मुशायरे में बुलवाया जो मुख्यमंत्री निवास पर पहला मुशायरा हुआ था। जिसमें नवाब ज़ाफर अली खाँ, "असर" लखनवी के अलावा कानपुर के दो शायर एक हिन्दू और एक मुसलमान भी बुलाये गये थे और लखनऊ के छ-सात शायरों ने शिर्कत की थी, जिसमें सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी वह गजल पढ़ी थी, जिसके मक़ता का शेर यह था–

मये "आनन्द" अब तो पीते हैं।
आक़बत की खबर खुदा जाने ॥

मक़ता का शेर उसे कहते हैं जिसमें शायर का उपनाम होता है, सम्पूर्णानन्द जी का उपनाम आनन्द था। मुशायरा बहुत सफल और कामयाब रहा। श्रोताओं में सैयद अली जहीर के अलावा और भी कई मंत्री थे। उस मुशायरे के खास कर्ताधर्ता अमीन सलोनवी साहब थे। इसमें मेरी

गज़ल सबसे ज्यादा कामयाब रही। मेरे जिस शेर पर नवाब जाफर अली खाँ 'असर' साहब लखनवी खड़े हो गये थे और तीन बार पढ़वाया था, वह शेर यह है–

यह कारवाँ ही की सूरत का दूसरा रुख है।
जो उठ रही हैं इसे गर्दे कारवाँ न कहो॥

मुशायरा के बिहान दूसरे दिन जब हम लोग चाय पर बैठे तो सम्पूर्णानन्द जी ने कहा–नजीर साहब आपने उस रोज मिर्जा असगर हुसैन की हरकत देखी, किस मुनज्जम साजिश के साथ मुझको बदनाम करने की कोशिश की गई और मेरे बयान को किस तरह तोड़-मरोड़ कर शाया कराया गया है। मैंने कहा कि मुझे इस बात की खुशी है कि मिर्जा साहब के बदमिजाजी की बदौलत मैं आपके मिजाज से परिचित हो गया। अब मैं जिन्दगी भर इन्सानियत के रास्ते से भटक नहीं सकता। आखिरी साँस तक भावात्मक एकता और कौमी इत्तेहाद और आपसी मेल-मिलाप का प्रचार करता रहूँगा।

उस दिन से आज तक मैं इन्सानियत की शाहराह पर गामजन हूँ। अल्लामा खैर बहोरवी मेरे पुराने यार, जो सम्पूर्णानन्द जी के बड़े भक्त थे, वह भी वहाँ मौजूद थे। सम्पूर्णानन्द जी ने फरमाया कि जिस तरह ईरान वाले आज भी रुस्तम और सोहराब पर फख़ करते हैं क्या उसी तरह हम लोग अपने पूर्वजों पर गौरव नहीं कर सकते। बात सच्ची थी। इसलिये मेरे दिल में उतर गई और खैर भाई ने भी उनकी बातों को सराहा। उसके बाद सम्पूर्णानन्द जी ने फरमाया–नजीर साहब मैंने गजलें भी लिखी हैं, मुक्तक भी लिखे हैं और रूबाइयाँ भी। कुछ जेल में, कुछ सफर में, कुछ घर पर और कुछ साँय-साँय करती हुई रातों की तन्हाई में। इतना सुनना था कि खैर भाई ने बात पकड़ ली, कहा कि आप बोल दें मैं लिख लूँ। लिहाजा जितने मुक्तक उनको याद थे सब खैर भाई ने नोट कर लिये और जब सम्पूर्णानन्द जी दस दिनों के बाद बनारस तशरीफ लाये तो मैंने तीस-पैंतीस पन्ने की एक कापी पर खैर साहब से लिखवाकर सम्पूर्णानन्द जी के सामने रख दिया और कहा कि आप इसको पढ़कर इस पर उर्दू में दस्तखत कर दें। चुनान्चा वह कापी उनके हस्ताक्षर के साथ आज भी मेरे पास सुरक्षित है। उसमें से कुछ मुक्तक मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। आप भी पढ़कर लुफ्त लें। पहला मुक्तक जिसमें उनकी पूरी संघर्षपूर्ण जिन्दगी की झलकियाँ हैं, मुलाहज़ा हो लिखते हैं कि–

जिन्दा हूँ मुश्किलात की योरिश के बावजूद,
मैं अपनी जिन्दगी का मुजस्सम सबूत हूँ।
मोड़ा नहीं है मुँह तेरी खिदमत से आज तक।
ऐ मादरे वतन तेरा सच्चा सपूत हूँ॥

इसमें उनके संघर्षपूर्ण जीवन की झाँकी के साथ-साथ उनके बेजोड़ शायर होने का सबूत भी मिलता है। या फिर जवाहरलाल जी की तारीफ में यह मुक्तक है। कुछ लोग समझते हैं कि पंडित जी

और सम्पूर्णानन्द जी में मतभेद जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। अगर वाकई मतभेद होता तो सम्पूर्णानन्द जी अपने मुक्तक में उनकी प्रशंसा कैसे और क्यों करते हैं–

ताअल्लुक उसकी हस्ती को मुसलसल।
वतन के इज्जतो इकबाल से है॥
कसम "आनन्द" भारत के चमन की
ताअल्लुक यूँ जवाहर लाल से है॥

राष्ट्रभाषा हिन्दी पर एक मुक्तक मुलाहजा हो–

है मेरा ज़ौक हिन्दी का परस्तार,
कहूँगा बात दिल की नापी तोली।
वतन की है बहर उसलूब महबूब,
वतन वालों मुझे हर एक बोली॥

इसी तरह पंत जी पर, काशी पर, तुलसीदास जी पर, भावात्मक एकता पर, कबीर पर, गाँधी जी पर, पाँच साला प्लान पर, भारत देश के आपसी मेल-मिलाप और प्यार-मुहब्बत पर और अपनी निजी जिन्दगी पर, सब पर उनके अपने लिखे हुये मुक्तक उनके दस्तखत के साथ मेरे पास मौजूद हैं। उनकी गजलें आज तक मेरे हत्थे नहीं चढ़ीं। बहरहाल उस साल के आखरी मुशायरे और दूसरे साल के बसन्त उत्सव का बुलावा आया। बड़ी धूमधाम का बसन्तोत्सव था। बुलाने के लिये रास बिहारी जी आये थे। उनके आने के तीसरे दिन हमारे घनिष्ठ मित्र कैस साहब और हम एक साथ पंजाब मेल से लखनऊ के लिये रवाना हुये। जाने से पहले चेतगंज की एक दुकान पर रिक्शा रोककर कैस साहब चाय पीने चले गये और एक साथ दो प्याली चाय पीकर दालमोट खाते हुये रिक्शे पर आकर बैठ गये। मैंने पूछा मेरे यार यह कैसी चाय जिसके बाद दालमोट खाई जा रही है। बोले यह चाय वाला चाय भी बेचता है और चाय की प्याली में वह भी। मैंने पूछा "यह वह क्या बला है ? कहने लगे, "शराब"। उसके बाद रिक्शा जोरों से चला, हवायें भी चलने लगीं। कैस साहब के मुँह से उसकी गमक भी आने लगी। उनके पूरे बदन में भूडोल आ गया। दालमोट समेत दोना फेंक दिया। जेब में से पान का एक चौकड़ा निकाला। खुद खाया, मुझे भी खिलाया। मैंने पूछा, प्यारे आपको सरकार से डेढ़ सौ रूपये माहवार पेंशन मिलती है, कुछ बचाते हैं कि सब शराब पर खर्च कर देते हैं क्या ? बोले "मैं सरकार का एक पैसा भी बरबाद नहीं करता, महीने में जितने सरकार से मिलते हैं सब शराब पी-पीकर सरकार को वापस कर देता हूँ" अभी उनकी मस्तीभरी बातें खतम भी नहीं हो पाई थीं कि स्टेशन आ गया। वह एक घंटे के बाद सो गये। मैं उनकी निगरानी करता रहा। कोई चार बजे सहपहर को गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर पहुँच गई। मैंने जब अच्छी तरह उनको झिंझोड़ा तब उनकी आँखें खुलीं। उनकी आँख, नाक से पानी जारी था, जमाही चली आ रही थी, बदन टूट रहा था। मैंने हाथ थामकर उन्हें गाड़ी से प्लेटफार्म पर उतारा। कैस साहब ने एक रिक्शे वाले को पुकारा, उस पर स्वयं बैठे और मुझको बिठाया। उस जमाने में

मेरा लखनऊ जाना मुश्किल से महीने में दो तीन बार होता था और कैस साहब का जाना महीने में छः सात बार होता था। इसलिए वह लखनऊ के हर गली-कूचे से वाकिफ थे। रिक्शे वाले से कहा, बेटे दो मिनट के लिये फलाँ गली के पास रोक देना। मैं उनकी इस रिन्दाना चालाकी के तह तक नहीं पहुँचा था। जब कुछ दूर चलकर वह गली दिखाई दी तो रिक्शे वाले से कहा, बेटा रिक्शा रोक दो। रिक्शा रुका, कैस साहब ने कहा, 'नज़ीर भाई, मैं दो मिनट में पेशाब करके आया। दो मिनट के जब पन्द्रह मिनट हो गये तो मैं मुड़-मुड़कर गली की तरफ देखने लगा, वह पेशाब के बहाने महुए की बेटी से मिलने चले गये। कई कुल्हड़ चढ़ाकर हाथ में पकौड़ी का दोना लिये खाते, गमकते, झूमते, बहकते गली से निकले। मुझसे कहने लगे, प्यारे आपको तकलीफ तो नहीं हुई। मैंने हँसकर कहा, आपकी मस्ती पर ऐसी-ऐसी हज़ार तकलीफें निसार। उसके बाद मुझे उनसे यह भी कहना पड़ा कि कैस साहब धोती जरा फिर से बाँध लीजिये। मुख्तसर यह कि रिक्शा मुख्यमंत्री निवास पहुँचा, सबसे पहले सर्वदानन्द जी का सामना हुआ, कहा--नज़ीर साहब आपने अगर अपने आने की सूचना तार से दे दी होती तो गाड़ी भेज देता। आप कैस साहब के साथ रिक्शे पर तशरीफ लाये। उनके साथ आपको जितना आराम मिला होगा आप ही जानते होंगे। उनके इस जुमले पर कैस साहब और हमने जोरदार ठहाका लगाया और कहा अब प्रोग्राम शुरू होने में चार ही घंटे रह गये हैं सोचता हूँ कि आपको गेस्ट हाउस भेजने के बजाय बगल वाले कमरे में ठहरा दिया जाये तो कैसा होगा। यहाँ नहा-धोकर कपड़े बदल कर जल्द से जल्द तैयार हो जायेंगे। चाय पीकर यहाँ आप दो-ढाई घंटे आराम भी फरमा लेंगे। मुख्तसर यह कि हम दोनों एक ही कमरे में ठहराये गये। मैं एक प्याली चाय लेकर बाथरूम में चला गया। वापस आकर देखा तो शरारतभरी शराफत सो रही थी लेकिन हल्की गुलाबी आँखों की खिड़कियों से झाँक रही थी। कैस साहब के अन्दर का शायर सो रहा था और कैस साहब कुछ सोये, कुछ जागे से मालूम हो रहे थे। रात के आठ बजने वाले थे कैस साहब के सर से सवारी उतर चुकी थी। उठकर जमाही पर जमाही, अँगड़ाई पर अँगड़ाई लेते, बदन पूरी तरह टूट रहा था। मेरे बार-बार कहने पर हाथ मुँह धोया, चाय का प्याली कुछ छलकाई, कुछ गिराई, कुछ पी और फिर लेट गये। इतने में भाई सर्वदानन्द जी का मुलाजिम एक झोला लेकर कैस साहब को पूछता हुआ आ गया। कैस साहब ने एक हाथ से झोला पकड़ा और दूसरा हाथ झोले में डाला। इसमें से अद्धा बोतल निकाला जिसमें लाल परी बन्द थी। कैस साहब ने काग खोली और बगैर पैमाने के कई घूँट एक साथ ले लिये। इस जादूगरनी ने ऐसा जादू किया कि कैस साहब पीते ही कहने लगे प्यारे मेरी जिन्दगी आ गई, अब तुम चाहे जितनी बातें करो मुझसे आगे नहीं जा सकते। वाकई मेरी तो बोलती बन्द हो गई। ऐसा मालूम होता था कि कैस साहब का लड़कपन और चिलबिलापन और जवानी की उमंगे सब एक साथ वापस आ गयी हैं। हम दोनों एक साथ महफिल में गये। मैं सैयद अली जहीर के बगल में बैठ गया और कैस साहब जाकर सम्पूर्णानन्द जी के बगल में बैठ गये। सम्पूर्णानन्द जी ने शायद उनके मुँह की गंध से परेशान होकर कहा, 'नजीर साहब आप यहाँ तशरीफ लायें', कैस साहब आप

नजीर साहब की जगह ले लें। जाने के बीस ही मिनट बाद फरमाइश हुई, कैस साहब लोग आपसे गज़ल सुनना चाहते हैं। पहली गज़ल तो कैस साहब ने इतनी अच्छी अदा, इतने अच्छे अन्दाज और तेवर से सुनाई कि पूरी महफिल पर छा गये। वाह वाह के शोर से पूरा वातावरण गूँज उठा। उसके बाद मुझसे गज़ल की फरमाइश हुई। मैंने वह गज़ल पढ़ी जिसके मकता का शेर यह है–

मुहब्बत ऐ "नजीर" इस दहर से नापैद हो जाती।
मुहब्बत की यह किस्मत थी कि पैदा हो गये हम तुम॥

फिर एक घंटे के भाषण के बाद दद्दू ने मुझसे झाँसी की रानी, जो एक लम्बी नज़्म है, पढ़ने की फरमाइश की। उसके बाद गंगा, जो एक बड़ी कविता है, उसकी फरमाइश की और मेरे पढ़ने से पहले श्रोताओं को मुखातिब करके कहा, यह कविता भी आप लोग ध्यान से सुनें, पूरी कविता गंगा-जल से धुले शब्दों में लिखी गई है, ऐसी कविता अब तक न हिन्दी में मेरी नजर से गुजरी है, न उर्दू में। श्रोताओं ने इस कविता को भी बहुत पसन्द किया। परन्तु मैं पढ़ते-पढ़ते थक गया था। आखिर में एक गजल जिसका पहला शेर यह था, पढ़कर रुक गया। गजल का मतला मुलाहजा हो–

मिल के एक दीवाने को आये हैं समझाने कई।
पहले मैं दिवाना था अब हैं दीवाने कई॥

उसके बाद कैस साहब से गजल की फरमाइश हुई। उस वक्त उनका बल्ब की तरह रौशन चेहरा फ्यूज हो चुका था। गजल अच्छी थी लेकिन अच्छी तरह पढ़ नहीं पाये। श्रोताओं के सामने भोजन परोसा जाने लगा। जब सौ आदमी के करीब खा चुके तब मैंने, सर्वदानन्द और शिवमूरत लाल कैस ने दद्दू के साथ रसोई घर में भोजन किया। उस वक्त भगवतीशरण सिंह लखनऊ में सूचना अधिकारी थे। दद्दू ने एक आदमी साथ कर दिया और कहा कि उनसे मिलवाकर अपने साथ लेते आइये। वह आदमी हम दोनों को भगवतीशरण सिंह के पास ले गया। उन्होंने एक लिफाफा कैस साहब को दिया, दूसरा जब मुझे देने लगे तो मैंने लेने में हिचकिचाहट महसूस की और कहा कि दद्दू से पूछ कर यह लिफाफा लूँगा। इतनी देर में मेरा लिफाफा लेकर कैस साहब ने अपनी जेब में रख लिया। जब मैं दद्दू के पास जाने लगा तो कैस साहब भी साथ हो गये। मैंने दद्दू से कहा, "यह लिफाफा कैसा, आपको मैं बाप की जगह मानता हूँ फिर यह पैसे कैसे ? मेरा लिफाफा कैस साहब ने लेकर रख तो लिया है, लेकिन मैं इसे वापस करना चाहता हूँ। दद्दू ने जब यह कहा कि सर्वदानन्द को भी तो खर्च के पैसे मैंने ही दिये हैं जैसे वह वैसे आप। दद्दू ने कैस साहब से लिफाफा लेकर उसमें कुछ पैसे अपने पास से बढ़ाकर अपने हाथ से मेरी जेब में रख दिया। इस तरह मेरी बात बनी रही और कैस साहब की रिन्दाना चालाकी पर भी पानी फिर गया। फिर तो वापसी में कैस साहब पीकर रास्ते भर मुझे कोसते हुये आये। दद्दू ने मेरी पुस्तक, जो मेरी गजलों और नज़्मों का संग्रह हिन्दी में प्रकाशित हुआ है, पर आशीर्वचन लिखे हैं। मैंने उसका समर्पण भी उन्हीं के नाम से उनकी तस्वीर के साथ किया है। हिन्दी में खैर साहब ने

गालिब चित्रावली के नाम से एक पुस्तिका भी निकाली है उसका समर्पण भी उन्हीं के नाम से उनकी तस्वीर के साथ है। उनके पन्द्रह मुक्तक जिसका नाम दद्दू ने मन की पुकार रखा है, वह उनकी निशानी के तौर पर उनके हस्ताक्षर के साथ मेरे पास हैं और उनकी याद तो मेरी हृदय शिला पर अंकित है ही।

एक दिन सर्किट हाउस से रास बिहारी जी का फोन आया कि आपको दद्दू जी ने याद किया है, तैयार रहियेगा शामं को गाड़ी जायेगी। मैंने मंजूरी दे दी। उसके तीन घंटे बाद ताजा वारिस के यहाँ से शाम की दावत आ गई। वहाँ भी जाना जरूरी था। इसलिये वहीं की गाड़ी से सर्किट हाउस साढ़े बारह बजे दिन में पहुँच गया। सोचा कि दिन में मिलकर शाम की फुर्सत कर लूँगा। वहाँ देखा कि लोग अपनी-अपनी फाइलें लिये दाँये-बाँये कतार से कुर्सियों पर बैठे हैं। मुझे सम्पूर्णानन्द जी ने देखते ही फरमाया "नजीर साहब आप इधर आकर तशरीफ रखें। मैं आधा घंटे में इन लोगों से फुर्सत करके आपसे बातें करूँगा। आप कैसे आये हैं ? मैंने कहा, ताजा वारिस के यहाँ की गाड़ी से। फरमाया गाड़ी छुड़वा दीजिये। मैंने गाड़ी वापस कर दी और उनके हुक्म के मुताबिक बैठ गया, और सोचने लगा कि इतने लोग फाइलें लिये बैठे हैं। इतने काम आधे घंटे में कैसे होंगे ? उस दिन मैंने उनके काम देखे और उस दिन मेरी समझ में यह बात अच्छी तरह आ गई कि उनको लोग बदमिज़ाज क्यों कहते हैं। मैं जब पहुँचा तो एक साहब की फाइल देख रहे थे। फाइल देखकर एक साहब को फाइल थमाते हुये फरमाया कि आपका काम हो जायेगा, इसलिये कि कानून इजाजत देता है। उसने मारे खुशी के कुछ देर बैठकर शुक्रिया अदा करना चाहा। डाक्टर साहब ने फौरन कहा "सुन लिया न कि आपका काम हो जायेगा तो आप क्यों बैठे हैं ? उठिये दूसरों को मौका दीजिये। अब जिसका काम हो गया वह भी बाहर मन ही मन में बड़बड़ाता जा रहा है कि इतने बड़े आदमी और बात में जरा भी लस नहीं वाह रे मिजाज। दूसरे की फाइल देखी, कहा "आपका काम इसलिये नहीं हो सकता कि आपके यहाँ कानूनी कमजोरी है"। उसने सोचा दो मिनट बैठ जाऊँ शायद सरकार को रहम आ जाये। सरकार ने उसी लहजे में उससे भी कहा, आपने सुन लिया न कि आपका काम नहीं हो सकता तो फिर आप क्यों बैठे हैं ? उठिये, दूसरों को मौका दीजिये"। अब वह भी मन ही मन में बड़बड़ाता चला जा रहा है। वाह रे एखलाक, इतने बड़े आदमी और बातें इतनी उखड़ी-उखड़ी। जिसका काम हो गया वह भी नाखुश, जिसका काम नहीं हुआ वह भी नाखुश। परन्तु देखने की बात यह है कि उनके कड़वे लहजे के पीछे कितनी सच्चाई, साफगोई, काम करने की लगन है। देखिये, बात कहाँ से कहाँ पहुँच गई।

वह राजभाषा जो काशी के विद्वानों के बल पर खड़ी हुई है, उस राष्ट्रभाषा हिन्दी को आगे बढ़ाने में जिस धुन और लगन से डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी ने सेवायें कीं, वह किसी से ढँकी-छिपी नहीं हैं। वह उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानकर चलते थे। उनको इसके भारतीय भाषा होने में जरा भी सन्देह नहीं था। वह मुझसे और मेरी गंगा-जमनी भारतीय भाषा से अथाह प्रेम करते थे। वह कहा करते थे कि आपकी गंगा-जमनी उर्दू में हिन्दी के शब्दों का रख-रखाव जिस सुन्दर ढंग से

मिलता है वह मुझे और कहीं नहीं दिखाई देता है, यह बड़े खासे की चीज है। आपकी भाषा ऐसी है कि अगर उर्दू में लिखी जाये तो खालिस उर्दू है और अगर हिन्दी लिपि में लिखी जाये तो हिन्दी। भाषा के बारे में एक घंटा मेरी उनकी बातचीत हुई। बातचीत के दौरान फरमाया कि नज़ीर साहब भाषा के सिलसिले में एक खिदमत ऐसी है जिसे आप ही अन्जाम दे सकते हैं। अगर खालिस उर्दू में लिखें इसमें फारसी के शब्द तो आयें लेकिन फारसी की तरकीब न आये। जैसे साहिल, मंजिल, कातिल, बिस्मिल, इन सारे शब्दों का प्रयोग अगर अलग हो तो हम इसे हिन्दी मानेंगे। अगर लबे-साहिल होगा तो हम इसे हिन्दी नहीं मानेंगे और इसी तरह दस्ते कातिल, रक्से बिस्मिल आदि को भी हम हिन्दी नहीं मानेंगे। न यह तरकीबे खालिस उर्दू में चल सकेंगी न हिन्दी में। अगले महीने में बनारस में बसन्तोत्सव मनाने जा रहा हूँ। इसमें आपको दो गजलें ऐसी सुनानी हैं। मैं कुछ समझकर आपसे गुजारिश कर रहा हूँ। मैंने कहा, आपका हुकम सर आँखों पर। इसके बाद बात आई गई हो गई। कोई एक हफ्ता बाद ख्याल आया। रात 9 बजे जमकर बैठा और दोनों गजलें रात तीन बजे पूरी करके सो गया। सुबह नहा-धोकर नाश्ता चाय करके दोनों पर एक नजर फिर डाली, मुझे खुद भी बहुत पसन्द आईं। गजलें सुरक्षित कर लीं। तिथि की प्रतीक्षा में पाँच दिन निकल गये। उसके दूसरे दिन निमंत्रण मिला। उसी के तीसरे दिन एक साहब लेने आये। उन्हीं के साथ समारोह में पहुँचा। वहाँ हजारीप्रसाद द्विवेदी, जबलपुर युनिवर्सिटी के उपकुलपति डॉ. राजबलि पाण्डे, हमारे मित्र डॉ. शम्भूनाथ सिंह एवं भाई मोहनलाल गुप्त "भैया जी" बनारसी इत्यादि विराजमान थे। सबसे पहले डॉ. शम्भूनाथ सिंह जी को माइक पर याद किया गया। डाक्टर साहब ने "फ्री वर्स" में एक भरपूर कविता सुनाई। कविता अच्छी थी जैसे ही वह माइक छोड़कर हटे, डॉ. सम्पूर्णानन्द माइक पर आ गये और कहा कि डाक्टर साहब की कविता सुनने के बाद ऐसा मालूम होता है कि गद्य में तो हिन्दी बहुत आगे बढ़ी है लेकिन पद्य में अभी पीछे है। इसके बाद आदरणीय सम्पूर्णानन्द जी ने मुझसे पूछा, "नजीर साहब आपसे कुछ कहा था। उस ओर ध्यान देने का मौका मिला। मैंने कहा आपका हुकम और न मानूँ। यह कहता हुआ मैं माइक पर आ गया। जैसे ही मैंने गजल का मतला पढ़ा सबकी निगाहें मेरी तरफ उठ गईं। सम्पूर्णानन्द जी गद्गद हो गये। गजल के तीन ही शेर अभी पढ़े थे कि सम्पूर्णानन्द जी ने कहा, नजीर साहब जरा रुक जाइये मुझे कुछ कह लेने दीजिये तब पढ़िये और खड़े होकर शेर का मतलब इस ऊँचाई से समझाया कि मैं भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाया था। वह तीन शेर आप भी सुन लें–

आसमाँ से उतारा गया–जिन्दगी देके मारा गया।
हमको साहिल का देके फ़रेब–मौत के घाट उतारा गया।
छीनकर लोग पीते रहे–मैं शराफत में मारा गया॥

सम्पूर्णानन्द जी ने फरमाया कि शेर की सादगी और बोलचाल के शब्द में तो आदम से लेकर यहाँ तक की फिलासफी आ गई और क्या चाहिये। लोग कहते हैं कि आसान शब्दों में ऊँचे

खयालात नहीं पेश किये जा सकते और फिर तीसरे शेर में जमाने की छीना-झपटी और दूसरे का हक मार लेने की बात कही गई है, इसका भी जवाब नहीं–

छीनकर लोग पीते रहे–मैं शराफत में मारा गया।
मुड़ के कैसे न हम देखते–नाम लेकर पुकारा गया।
हम तो पहुँचे वहाँ बाद को–होश पहले हमारा गया॥

इसी तरह दूसरी गजल बहुत सराही गई। हजारी प्रसाद जी ने भी बहुत दिल बढ़ाया। मैं सम्पूर्णानन्द जी के सामने सिगरेट नहीं पीता था और उस जमाने में पनामा के बीस-बीस सिगरेट वाले चार पैकेट पीने वाला चेन स्मोकर जैसे ही गोष्ठी खत्म हुई, लोग नाश्ता पर पहुँचे। मौका पाकर जेब से सिगरेट निकालकर मैं भी अपने काम में लग गया। इतने जोरदार कश लगाये कि खाँसी आने लगी। अभी आधे ही सिगरेट तक पहुँचा था कि एक साहब बुलाने आ गये। नजीर साहब जल्दी आइये। आपके इन्तजार में सब लोग खड़े हैं। मैंने सदरी की जेब से एक इलाइची सिगरेट की बदबू दबाने के लिये मुँह में रखी। सिगरेट फेंका और दौड़ पड़ा। पहुँचा तो वाकई सब लोग खड़े थे। मुझे देखकर बड़ी शर्मिन्दगी हुई। हमारे दोस्त मोहनलाल जी मुख्यमंत्री जी के बगल में खड़े थे। वह मेरी जगह पर आ गये और मुझे उनकी जगह पर बुला लिया गया। नाश्ते में चूड़ामटर और मुगदल थे। सम्पूर्णानन्द जी ने अपने हाथ से दो मुगदल यह कहकर खिलाये कि आपकी दो कामयाब गजल की खुशी में अपने हाथ से खिला रहा हूँ और फरमाया कि मैं तो मरके चला जाऊँगा, आप दस बरस बाद देखेंगे कि आपकी भाषा क्या करती है। वाकई उनके बताये हुये रास्ते पर चलकर ख्याति प्राप्त की और जितनी गजलें, गीत, नज़्में मैंने आसान भाषा में लिखी है, उसे बड़े से बड़े आर्टिस्टों ने गाया है, रिकार्डिंग कम्पनी वालों ने अपनाया है, कितने कलाम कैसेटों में आ चुके हैं। कमीशन की सालाना रकम भी आ रही है और माँगें भी बराबर बढ़ती जा रही हैं। वह ऐसे साहित्यपारखी एवं भाषा के ज्ञानी थे कि मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा और बहुत कुछ हासिल किया। समय की पाबन्दी, किसी को जबान देना तो उसको पूरा करना, सादा लिवास में जिन्दगी गुजारना, किसी से वादा करना तो उसको पूरा करना आदि सब उन्हीं की देन हैं। मेरी पूरी जिन्दगी उनकी एहसानमन्द है। वह जिसको मान देते थे उसकी हर बात भी मानने को आमादा रहते थे। मैंने उनके एहसानात के पेश नजर उनको दद्दू कहने लगा। मेरे बड़े बेटे जहीर ने मुझसे कहा अब्बा सम्पूर्णानन्द जी मुख्यमंत्री हैं, हम लोग गरीब आदमी, क्या यहाँ भी आ सकते हैं। मैंने दद्दू से जाकर यह बात कही तो पूछा कि कब चलूँ। मैंने कहा जब आपका मिजाज चाहे। तीसरे दिन बगैर सूचना दिये आ गये। केवल बाडीगार्ड उनके साथ थे। चुनार के बिस्कुट और चने की ताजा दालमोट घर में मौजूद थी। बच्चों ने पेश किया। अभी मुश्किल से एक बिस्कुट दद्दू ने खाया होगा कि सड़क पर हजारों की भीड़ इकट्ठी हो गई। दस मिनट के अन्दर सिटी मजिस्ट्रेट भी आ गये। कोतवाल, दरोगा और दर्जनों पुलिस लोगों को हटाने बचाने, रास्ता साफ करने में लग गई। दद्दू बीस मिनट तक दवाखाने में कुर्सी पर बैठे रहे। सबकी

खैरियत पूछते रहे। बच्चों के सर पर हाथ फेरा और दुआयें दी और कहा नजीर साहब क्या राय है चला जाये। मुझे उस रोज जितनी खुशी हुई उतनी ही शर्मिन्दगी भी। पहले से मालूम होता तो कुछ मुहल्ले के प्रतिष्ठित लोगों को बुला लेता, कुछ ठिकाने की कुर्सियाँ मँगा लेता, जलपान का प्रबन्ध कर लिया होता। मौलवी अब्दुल मजीद साहब उनके पुराने दोस्त थे। जब वह बीमार हुये तो मुख्यमंत्री पद पर होते हुये दो बार उनको देखने आये। मौलवी साहब के छोटे भाई लल्ला जिसने रणभेरी बाँटने में कई लाठियाँ पीठ पर खाई थीं, उनको बुलाकर उनकी खैरियत पूछी और मौलवी अब्दुल मतीन साहब ताजा वारिस वाले की भी खैरियत पूछी।

आदरणीय डॉ. सम्पूर्णानन्द जी, जिन्हें मैं दद्दू कहा करता था, जब राजस्थान के राज्यपाल के पद पर नियुक्त किये गये तो उसके कुछ ही दिनों बाद मुझे पाँच दिनों के लिये जयपुर बुलाया। मेरे अंतरंग मित्र शिवमूरत लाल "कैस" भगवान् को प्यारे हो चुके थे। इसलिये यह यात्रा मुझे अकेले ही करनी पड़ी। जयपुर रवाना होने से तीन दिन पहले मैंने तार द्वारा पहुँचने की सूचना दे दी थी। शायद इसीलिये जयपुर स्टेशन पहुँचने के दो तीन मिनट बाद ही माइक से आवाज आने लगी– "नजीर बनारसी साहब जहाँ हों बुक स्टाल के पास चले आयें"। मैं पहुँचा तो एक साहब ने बढ़कर हाथ मिलाया। हाथ मिलाने वाले साहब शेरवानी पाजामा में थे। पाँव में जयपुरी उल्टी नोक वाला खुशनुमा जूता, सर पर जयपुरी साफा। शकल सूरत से जयपुर के शरीफजादा और दूसरे साहब कोई अधिकारी मालूम पड़ते थे। उनके साथ गेस्ट हाउस की गाड़ी पर बैठकर गेस्ट हाउस पहुँचा। गेस्ट हाउस में नहा-धोकर कपड़े बदले। इतने में मुलाजिम आया कि सरकार चाय पर इन्तजार कर रहे हैं। मैं मुलाजिम के साथ जब अपने सरकार के पास पहुँचा तो दिन का सूरज डूब रहा था और सन्ध्या अपने काले बाल बिखेर रही थी। हल्का नाश्ता मैंने किया और दद्दू के साथ चाय पी। दद्दू ने बनारस की खैरियत पूछी। मैंने कहा "मैं तो खैरियत के साथ छोड़ आया हूँ"। उसके बाद दो चार इधर-उधर की बातें हुईं। फिर पूछा कि खाना गेस्ट हाउस में रहेगा या मेरे साथ। मैंने कहा "जब आपने याद फरमाया है तो नाश्ता हो या खाना आप ही के साथ पसन्द करूँगा"। उसके बाद मुलाजिम के साथ गेस्ट हाउस वापस आया। साढ़े सात बजे को लेटा-लेटा कोई दस बजे के करीब उठा। हाथ मुँह धो ही रहा था कि वही मुलाजिम फिर आया और कहा कि सरकार खाने पर इन्तजार कर रहे हैं। गेस्ट हाउस से निकलते ही एक व्यक्ति जयपुरी साफा बाँधे अपने ही जैसी खूबसूरत गाड़ी लेकर आ गया। मैंने कहा "मैं तो खाना खाने जा रहा हूँ। मुलाजिम के साथ इस वक्त गाड़ी की क्या जरूरत"? उसने कहा "सरकार का हुकम है कि जब तक आपका जयपुर में कयाम रहेगा यह गाड़ी भी आपकी कस्टडी में रहेगी"। ड्राइवर गेस्ट हाउस के बगल वाले होटल में खाना खाने चला गया और मैं मुलाजिम के साथ रात का खाना खाने के लिये अपने सरकार के पास आ गया। खाना खाने के बाद ग्यारह बजे वापस आने लगा तो दद्दू ने फिर पूछा "सुबह का नाश्ता तो साथ ही रहेगा न"। मेरी शामत की मैंने हाँ कर दी। जब गेस्ट हाउस वापस आया तो ड्राइवर भी खाना खाकर वापस आ चुका था। उसने कहा "हुजूर यहाँ की रात बड़ी हसीन होती

है" । मेरी आँखों में नींद तैर रही थी । मैंने कहा कि आप ठीक साढ़े पाँच बजे सुबह आ जायें । सबसे पहले मैं यहाँ की सुबह देखना चाहूँगा । वह "जी हुजूर हाजिर हो जाऊँगा" कहकर वापस चला गया । मैं विना कपड़ें बदले ही सो गया ।

बनारस में बचपने से ही पिता जी के साथ चार बजे भोर गंगास्नान किया करता था । उस समय से आज तक मैं रात को जब और जिस समय भी सोता हूँ चार बजे भोर में आँखें खुल जाती हैं । इसलिये गेस्ट हाउस में भी चार बजे बिस्तर छोड़ दिया । नहा धोके कपड़े बदल कर मैं पाँच बजे तैयार हो गया । सवा पाँच बजे घंटी बजाई, बैरा आया चाय मँगाई । चाय पी ही रहा था कि ड्राइवर आ गया । समय ऐसा था कि कोई ठिकाने का समा दिखाई नहीं दिया । सड़कों पर सरकारी बसें और टैक्सियाँ तो चल रही थीं, नमाजी मुसलमान और पूजा-पाठ करने वाले हिन्दू भाई चलते-फिरते दिखाई दे रहे थे । कुछ चाय के स्टाल खुले हुये थे । जितनी छोटी-बड़ी दुकानें थीं सब बन्द पड़ी थीं । अलबत्ता इमारतें एक से एक मगर एक ही तरह की बनी हुई जयपुर की भावनात्मक एकता का परिचय दे रही थीं ।

जब मैं टहल फिर के घूमघाम के वापस आया तो सात बज रहे थे । मैं बनारस में बचपन से ही सुबह का नाश्ता छः बजे कर लेता हूँ । यहाँ सात बज चुके थे । भूख की ज्वाला धधक रही थी । बैरे से भी कुछ कहने से रहा क्योंकि सरकार के साथ नाश्ता की बात तय हो चुकी थी । मुलाजिम से मालूम हुआ कि सरकार पूजा पर बैठे हैं, आठ बजे के बाद उठेंगे । मैं भूख के मारे खुदा-खुदा कर ही रहा था कि वही मुलाजिम फिर आया और कहा कि सरकार पूजा से उठ चुके हैं और नाश्ता पर आपका इन्तजार कर रहे हैं । सुनते ही मैं मुलाजिम के पहुँचने से पहले ही नाश्ता की मेज पर पहुँच गया । दद्दू के अतिरिक्त दो आदमी और मौजूद थे । नाश्ता में आठ नौ तरह की चीजें थीं । मैं छेने की गरम-गरम सब्जी और भाफ देती हुई कचौड़ियों पर टूट पड़ा । भरपूर नाश्ता के बाद चाय की एक प्याली ली । चन्द मिनट बैठा, अपने दद्दू से कहा कि आज तो मेरी सजा हो गई, मैं सुबह छः बजे नाश्ते का आदी और पहले ही दिन यहाँ 6 के साढ़े आठ बज गये । उन्होंने फरमाया कि मैंने आपसे पहले ही पूछा कि नाश्ता और खाना मेरे साथ रहेगा या गेस्ट हाउस में । आपने दोनों बार फरमाया कि आप ही के साथ, अब से बेहतर है कि नाश्ता, खाना वहाँ रखें और चाय मेरे साथ । उसके बाद के नाश्ता, खाना, शरबत, लस्सी और कोल्ड ड्रिंक्स इत्यादि सब गेस्ट हाउस में और केवल सायंकाल चार बजे की चाय दद्दू के साथ । वहाँ और यहाँ में जमीन आसमान का अन्तर । वहाँ सब शाकाहारी और यहाँ सब सरकारी । मेरे कमरे की एक आलमारी में शायद टूरिस्टों के लिये नई-नई तरह की मुहरबन्द बोतलें । बोलतों में अलग-अलग ब्राण्ड की सुर्ख और सफेद परियाँ जलवे दिखाती हुई नजर आईं । ऐसे में मेरे दोस्त शिवमूरत लाल "कैस" जैसे धाकड़ पियक्कड़ की कई बार याद आई । मैं तो इन दिनों बनारस के मुनक्के वाली गोली पर चल रहा था । कभी केले की लस्सी के साथ, कभी जयपुरी ठंडई के साथ, कभी आम की लस्सी के साथ, वह भी निर्धारित मात्रा से अधिक कभी नहीं । जब तक वहाँ रहा रोजाना नौ बजे से दस बजे तक

दद्दू से बातें होतीं। कभी शेरो शायरी पर, कभी कवि और कविताओं पर कभी फारसी शायरी पर, कभी संस्कृत पर और कभी-कभी भारतीय संस्कृति पर।

रात को कविगोष्ठी जमती, जिसके श्रोताओं में जयपुर के कुछ रईस घराने से सम्बन्धित, कुछ अधिकारीगण और वहाँ के कुछ स्थानीय कवि एवं शायर। कभी-कभी नवाब अमीनुद्दौला, जो बाद में राज्यपाल नियुक्त किये गये थे, आ जाते थे। कविगोष्ठी में श्रोताओं के आग्रह पर दद्दू कभी-कभी अपने शेर भी सुनाते। कभी दस से साढ़े ग्यारह तक कभी बारह बजे तक, एक दिन तो एक भी बज गया था। वहाँ गोष्ठी तो छोटी होती थी, परन्तु उसका बड़ा महत्त्व होता था। हमारे बुजुर्गवार ने बुलाया तो पाँच दिनों के लिये था, पर आने की अनुमति नवें दिन मिली। बनारस का टिकट मय सफर खर्च के देकर नवें दिन जयपुर से रुखसत किया।

वहाँ हर रोज नाश्ता चाय के उपरान्त जयपुर शहर देखने निकल जाता था और वहाँ खण्डहर, वहाँ के किले और वहाँ का हवामहल आदि की सैर के बाद आठ बजे रात तक गेस्ट हाउस वापस आ जाता था। क्या कहना उस जमाने के जयपुर का, जब वहाँ के एक तरह की खूबसूरत इमारतों की तरह वहाँ के बसने वालों के दिल भी एक थे। जब वहाँ के जौहरियों के भाग्य हीरे, पन्ने और पुखराज की तरह चमक रहे थे और वहाँ की हर वस्तु हसीन पगड़ी और लिहाफ की तरह रंगीन नजर आती थी। जब वहाँ के खण्डहर और वहाँ के पूर्वराजाओं के महल देखने गया तो आँख से आँसू निकल पड़े। वहाँ के हवामहल के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं और एक ऐसी भी इमारत थी जो नेस्तनाबूद होकर कह रही थी कि–

बनी तो ऐसी कि लाखों में इक इमारत थी।
मिटी तो ऐसी कि मिटने का भी निशां न रहा॥

वहाँ के खण्डहरों के नीचे दबकर शताब्दियाँ चीख रही थीं और बुलन्द किले की इमारत अपने बुलन्द इकबाल राजाओं का इतिहास दुहरा रही थी और उसके गिरते हुये हिस्से और टूटे हुये अंग अपने आकाओं की याद में मर्सिये पढ़-पढ़कर कह रहे थे–

ले लो इक तस्वीर इस मिटती हुई तस्वीर की।
फिर न हाथ आऊँगी मैं मिटती हुई तस्वीर हूँ॥

वहाँ के मिटते हुये आसार अपनी बीती हुई रामकहानी दोहरा रहे थे। वहाँ के कण-कण हमारे स्वतंत्र भारत की सरकार से विनती कर रहे थे कि हमें बचा लो हम इतिहास की अमानत हैं, हम तुम्हें गौरव प्रदान करेंगे। तुम अगर हमको बना सँवार दोगे तो हम तुम्हें अधिक-अधिक विदेशी मुद्रायें भी देंगे।

जिस समय दद्दू से मिलकर रुखसत हुआ उस समय मेरी आँखों में आँसू लहरा रहे थे। अब राजबलि जी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी और कृष्णदेव प्रसाद गौड़, "बेढब" बनारसी जी सब भगवान् को प्यारे हो चुके हैं। मैं तन्हा सबका मर्सिया पढ़ने को रह गया हूँ। जयपुर में जो कुछ देखा उसे केवल डॉ. सम्पूर्णानन्द जी की बदौलत देखा।

अब देखना यह है कि मैं जितना कद में छोटा, संस्मरण उतना ही लम्बा, यादें हैं कि आती जा रही हैं, कलम है कि रुकने का नाम नहीं लेना चाहती। अभी उनकी जितनी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं उनमें से एक का भी हवाला नहीं दे पाया हूँ। मुझे भी आप बनारस का मुसलमान बरहमन समझिये इसलिये यहीं से सावधान हो जाता हूँ।

अब कहने सोचने समझने की बात यह है कि स्वर्गीय भारतरत्न गुप्तदानी शिवप्रसाद गुप्त और स्वर्गीय डॉ. भगवान दास के बाद बनारस का सबसे बड़ा इन्सान स्वर्गीय डॉ. सम्पूर्णानन्द जी जैसा महान् व्यक्ति जिसका मुख्यमंत्री पद भी आभारी रहा है और राज्यपाल का पद भी। जिसके दम से सूफी, सन्तों और विद्वानों को इज्जत मिली हो, जिसके दम से राष्ट्रभाषा को सम्मान मिला हो, जिसने संस्कृत की दिलोजान से सेवा की हो, जिसने भारतीय संस्कृति की रक्षा की हो, जिसने उर्दू को हिन्दी की एक शैली कहते हुये भी उर्दू को भारतीय भाषा तसलीम किया हो, जिसके शासन काल में कोई दंगा या फसाद न हुआ हो और किसी बेगुनाह का खून न बहा हो, जिसने अपनी बीमारी और मुसीबत में सरकार की चालीस हजार-हजार की सहायता लेना गवारा न किया हो, जो आखरी दम तक फकीर का फकीर रहा हो, जिसके घर का टूटा हुआ छज्जा तक न बन सका हो, जिसके मरने के बाद उसका बैंक-बैलेंस निल रहा हो, जिसने अपने रहने का मकान तक अपने लिये न छोड़ा हो, जिसके दुनिया से उठ जाने के बाद उसके बेटे पप्पू को जिन्दगी गुजारना कठिन हो गया हो, जिसका बेटा चार सौ रूपये माहवार पर जिन्दगी गुजारने के लिये नागरी प्रचारिणी सभा में उस वक्त मुलाजिम हो, जब पं. सुधाकर पांडे मुलाजमत की पेशकश करें और रहने के लिये मकान उस वक्त मिला हो जब मेरे बड़े भाई पंडित कमलापति त्रिपाठी जी ने सरकार से सिफारिश की हो।

डाक्टर सम्पूर्णानन्द जैसे काशी के फकीर और दिल के सबसे बड़े अमीर और भावनात्मक एकता और आपसी मेल-मिलाप की जिन्दा नजीर, प्रेम, प्यार, मुहब्बत के मूर्तिमान प्रतीक, बनारस की शान और हिन्दी-हिन्दुस्तान के प्रेरक, भारत माँ के महान् सेवक, आदमियत के तरफदार, राजनीतिक नेताओं के नेता, इन्सानियत के देवता को आँसुओं के श्रद्धासुमन अर्पित करते हुये उसको, नजीर बनारसी का बनारस के सारे बसने वाले इन्सानों को सलाम और महान् आत्मा को शत-शत प्रणाम।

एक अनूठा व्यक्तित्व : सम्पूर्णानन्द

श्री दिलीप नारायण सिंह

सम्पूर्णानन्द जी के सुपुत्र सर्वदानन्द वर्मा (शंकर जी) मेरे सहपाठी तथा सुहृद् थे। उनके कारण सम्पूर्णानन्द जी को जानने का सौभाग्य मुझे वर्ष 1930 से बहुत पहले मिल चुका था। किन्तु उस समय भी मैं उन्हें प्रत्यक्ष रूप से जान चुका था इसका दावा मैं नहीं कर सकता। इस समय मेरा अल्पवय और इसके साथ अपने आत्मीय के पिता से एक पिता के रूप में परिचित होने में जो असुविधा हो सकती है वही मेरे साथ भी थी।

गुरुजन होने के नाते बड़ों के प्रति संस्कारतः जो सम्भ्रम का भाव होता है वही सबसे अड़ंगा था। बड़ा यदि खुली प्रकृति का अधिक मिलनसार हुआ, अपनी संतान के मित्रों से मिलने की रुचि या वात्सल्य के भाव का अतिरेक हुआ तो बात दूसरी है। उधर से यदि ऐसी बात नहीं हुई किन्तु बच्चा या लड़का ही आगे बढ़कर पिता जी, चाचा जी, ताऊ जी (आज डैड, पापा या अंकल) जैसी मीठी बातें बना परिचय करने अथवा बढ़ाने में स्वयं पटु हुआ तो भी अपरिचय की बाधा नहीं रहती। यहाँ दोनों ही ओर से ऐसी बात नहीं थी। सम्पूर्णानन्द जी स्वभावतः गुरु गम्भीर थे। उस पर से गुरु कर्म का गम्भीर व्यवसाय भी ओढ़ लिया था। स्वाध्याय उनका व्यसन था। अपनी ओर से बोलने की प्रवृत्ति कम थी। आवश्यकता से अधिक स्पष्ट वक्ता थे। ये सब बातें स्वभाव में रुक्षता लाने के लिये पर्याप्त थीं। सबसे ऊपर लम्बी चौड़ी विशाल काया, श्यामवर्ण, बड़ा रोबीला मुखमंडल, यह सब सामने वाले के साहस की बड़ी कठोर परीक्षा लेने के लिये एक जुट थीं। दूसरी ओर मैं था अति संकोची स्वभाव का। मन में सदैव यह भाव बना रहता कि कहीं मुख से ऐसी बात न निकल जाय जिसका लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े।

यह सब बातें अपने स्थान पर तो थी हीं; किन्तु सच तो यह है कि जैसा उस समय सम्पूर्णानन्द जी का जीवन, जीवन की दशायें और परिस्थितियाँ थीं, समय का चक्र था, स्वयं शंकर जी की उनसे कितनी भेंट हो पाती रही होगी, विचारने की बात यह है कि जालपादेवी से विद्यापीठ आना-जाना, नियमित रूप से विद्यार्थियों को पढ़ाना, उनकी जिज्ञासाओं को शांत करने के लिये अतिरिक्त समय देना, स्वयं में समय खपाने वाली बातें थीं। वे किसी ऐसे वैसे विषय के नहीं दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे। इस विषय के लिये तो स्वाध्याय, चिन्तन और मनन तीनों ही आवश्यक थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने को ऐसी राजनीति के प्रति निवेदित कर दिया था जिसका प्रधान

लक्ष्य ब्रितानी शासन, सत्ता और उसकी साम्राज्यवादी व्यवस्था को, भारत से समूल उखाड़ फेंकना था। जिसके लिये बीकानेर के राजकीय विद्यालय के सम्मानजनक तथा लाभप्रद प्राचार्य पद को भी ठुकरा कर उसमें कूद पड़े थे। देश की सेवा का व्रत लिया था। उसके लिये भी पर्याप्त समय देना पड़ता था। इन सबसे कितना समय बच पाता रहा होगा कि अपने कुटुम्ब के लिये अवकाश का समय निकाल पाते।

यही नहीं मेरे मित्र में, अपनी जननी से वंचित होकर अपनी विमाता सम्पूर्णानन्द जी की तृतीय पत्नी की छाया में पलने की ग्रंथि थी। इसके कारण उनका भी अधिकांश समय घर के बाहर बीतता। मेरे यहाँ, गुरुवर बेढ़ब जी के यहाँ, विद्यालय में या बाहर घूमने फिरने में ही बीत जाता। इसलिये, उनके घर जाने का तथा इसके व्याज सम्पूर्णानन्द जी को विशेष रूप से जानने का अवसर उस समय न मिल सका। सच पूछा जाय तो अभी तक वह समय भी नहीं आया था, जब देश-सेवा का व्रत लेने वालों की पहचान विशिष्ट लोगों में होती, जिसके कारण लोगों में उनके प्रति आकर्षण का भाव होता। यदि ऐसी बात होती तो मुझमें भी उन्हें अधिक जानने की उत्कंठा होती।

सब कुछ होते हुए भी उनके उस कुटुम्ब में एक विशेषता थी, जिससे उसकी अपनी अलग पहचान बन चुकी थी। स्वाधीनता संग्राम से तो केवल सम्पूर्णानन्द जी जुड़े हुए थे; किन्तु हिन्दी सेवा में उनके सहित पूरा कुटुम्ब संलग्न था। सर्वदानन्द की नगर में अच्छे कवि के रूप में मान्यता थी। कवितापाठ का उनका ढंग अच्छा था और हिन्दी मंच के वे अच्छे अभिनेता भी थे। सम्पूर्णानन्द जी के सबसे छोटे भाई परिपूर्णानन्द जी हिन्दी में हास्य रस के लेखन पर हाथ माँज रहे थे। उन्होंने प्रमोद क्लब के नाम से एक साहित्यिक संस्था की स्थापना की थी। गुरुवर बेढ़ब जी के साथ मुझे भी उसमें सम्मिलित होने का अवसर मिला था। उसमें सम्पूर्णानन्द जी ने भी भाग लिया। उनकी बातें तथा उनकी कुछ रचनाओं का पाठ सुनकर पता लगा कि व्रजभाषा पर भी उनका अधिकार था तथा वे संस्कृतनिष्ठ प्रांजल हिन्दी का प्रयोग करते। फिर भी उनकी भाषा का प्रयोग ऐसा होता था कि वे गूढ़ से गूढ़ बातों को भी सर्वजन सुलभ बनाकर रख सकते थे। सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ सुरुचिपूर्ण हास्य-व्यंग्य का पुट देने की भी उनमें नैसर्गिक क्षमता थी। उनसे छोटे, मझले भाई अन्नपूर्णानन्द जी तो हिन्दी में हास्य रस के महारथी ही थे।

अपने में यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी। क्योंकि ये लोग श्रीवास्तव कायस्थ थे। उस समय अधिकांश कायस्थ उर्दू से जुड़े हुए थे। किसी न किसी रूप में अदालतों से संलग्न थे। अदालतों की तथा सरकारी काम-काज की भाषा का रूप उर्दू ही था, जो फारसी लिपि में लिखी जाती। इनके पिता विजयानन्द जी भी अदालत की ही सेवा में थे। किन्तु उसके होते हुए भी वे अपनी सत्यनिष्ठा, धार्मिक प्रवृत्ति और खरेपन के लिये विख्यात थे। विजयानन्द जी के श्वसुर, सम्पूर्णानन्द जी के अनुसार योगाभ्यासी थे और इस क्षेत्र में अपने नाती (सम्पूर्णानन्द जी) के गुरु भी थे। विजयानन्द जी के प्रपितामह बख्शी सदानन्द जी बनारस रियासत के दीवान रह चुके थे, प्रसिद्ध अघोरी संत बाबा क़ीनाराम का जिन्हें आशीर्वाद प्राप्त हो चुका था। सम्भवतः ये सब

सम्बन्ध थे, जिनके कारण विजयानन्द जी की सन्तानों में जातीय संस्कार नहीं पनप सके और उन्हें संस्कृत परतः हिन्दी की ओर उन्मुख किया।

हिन्दी को महत्त्व देने का एक दूसरा कारण भी था। गाँधी जी ने राष्ट्रीयता के प्रश्न को हिन्दी के साथ जोड़ दिया था। फलतः उनका अनुगमन करते हुए राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने वालों के लिये हिन्दी एक प्रमुख सूत्र बन गयी थी। इस सन्दर्भ में काशी के देशसेवा का व्रत लेने वाले महापुरुषों में शिवप्रसाद जी गुप्त का भी अपना स्मरणीय स्थान था। एक ओर जहाँ वे इस संग्राम से सम्बन्धित आन्दोलनों में भाग ले रहे थे और जेल जा रहे थे वहीं उसी लगन से हिन्दी के उन्नयन में जुट गये थे। इस दिशा में कार्य करते हुए उन्होंने काशी विद्यापीठ की स्थापना की। इस विद्यापीठ में उच्च शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी जाती थी। विद्यापीठ की स्थापना के अतिरिक्त उन्होंने वाराणसी से हिन्दी का दैनिक समाचारपत्र 'आज' प्रकाशित किया। उसके मुद्रण और हिन्दी में पुस्तकों के प्रकाशन के लिये ज्ञानमंडल मुद्रणालय तथा प्रकाशन की व्यवस्था की। सम्पूर्णानन्द जी ने पहले ज्ञानमण्डल प्रकाशन परतः उनके विद्यापीठ में दर्शनशास्त्र का विभाग सम्हाला और किसी न किसी रूप में 'आज' और ज्ञानमंडल प्रकाशन से भी जुड़े रहे। वर्ष 1930 के आन्दोलन के समय ज्ञानमंडल की ओर से अंग्रेजी का 'टुडे' दैनिक निकाला गया, जिसके सम्पादन का सम्पूर्णानन्द जी तथा उनके सहयोगी का भार श्री त्रिभुवन नारायण सिंह को दिया गया।

ये सम्बन्ध सम्पूर्णानन्द जी के जीवन के लिये निर्णायक सिद्ध हुए। विद्यापीठ में अपनी रुचि के अनुकूल अध्यापन कार्य से जुड़े। वहाँ उन्हें राजनीति में भाग लेने की छूट थी। यद्यपि बीकानेर और इन्दौर का अध्यापन कार्य उस समय की दृष्टि से विशेष प्रतिष्ठा का और लाभप्रद था। यहाँ अन्य सुविधाएँ भी वैसी नहीं थीं, फिर भी अल्पवैतनिक और उन सुविधाओं के न होते हुए भी विद्यापीठ की सेवा सम्पूर्णानन्द जी के हृदय के अधिक समीप थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव सदृश सहयोगी और लालबहादुर शास्त्री, त्रिभुवन नारायण सिंह, राजाराम शास्त्री, बालकृष्ण केसकर जैसे विशिष्ट छात्र मिले। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विद्यापीठ आरम्भ से ही महत्त्वपूर्ण राजनैतिक गतिविधियों और बौद्धिक क्रियाकलापों का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। डॉ. भगवानदास उसके पहले आचार्य और उनके उपरान्त नरेन्द्रदेव जी दूसरे आचार्य बने, जिनका बौद्धिक जगत् में अपना स्थान था। आगे चलकर आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द जी इत्यादि लोगों ने कांग्रेस दल के भीतर ही एक समाजवादी मंच की स्थापना की, जिसमें बाद में अमेरिका से लौटकर जयप्रकाश जी भी सम्मिलित हुए।

इन रूपों में सम्पूर्णानन्द जी के विचारजगत्, कार्य-क्षेत्र और स्वभावगत रुचि की जो विविधता दिखायी पड़ती है वह आश्चर्यजनक है। मूलतः वे विज्ञान के छात्र थे और स्नातक उसी के हुए। इसके अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया और इन सबके अधिकारी बने। विद्यापीठ में दर्शनशास्त्र के अध्यापक रहे। उसके सम्बन्ध में अपने दो श्रेष्ठ मौलिक ग्रंथों 'दर्शन और जीवन' और "चिद्विलास" की रचना की। संस्कृत के वैदिक तथा काव्य

साहित्यों का मंथन किया । अर्जित ज्ञान को ग्रंथों के रूप में संसार के सामने रखा । राजनीति में भाग ही नहीं लिया उसके सिद्धांत विशेष रूप से समाजवाद का अध्ययन किया । व्यस्त जीवन रहते हुए स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं किया । ग्रंथों की रचना भी करते रहे । इनमें से कुछ तो बहुत ही उच्चकोटि के हैं ।

उनमें विलक्षण मेधा थी । गूढ़ से गूढ़ विचारों वाली पुस्तकों को वे एक बार पढ़कर या सुनकर भलीभाँति समझ लेते थे । आगे चलकर हवाई जहाज, रेल या मोटर से यात्रा करते समय, समय का उपयोग किसी न किसी नयी पुस्तक के पढ़ने में करते । हल्की सस्ती जासूसी या आपराधिक साहित्य की बात दूसरी है; किन्तु गम्भीर विषयों का ऐसी स्थितियों में अध्ययन करना, एकाग्रता बनाये रखना और समझना कितना कठिन व्यापार होता है, यह वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने ऐसी स्थितियों में अध्ययन करने की चेष्टा की है । सम्पूर्णानन्द जी हल्के-फुल्के उपन्यास नहीं पढ़ते थे । हाँ, वैज्ञानिक आख्यायिकाओं या अन्तरिक्ष कथाओं में रुचि निश्चय ही बहुत अधिक थी ।

इस प्रकार की विविधता या मेधा को ध्यान में रखते हुए किसी के लिये यह निर्णय करना कठिन होगा कि उनकी प्रकृति अन्तर्वर्त्ती थी या बहिर्वर्त्ती । लगती तो अन्तर्वर्त्ती है, किन्तु अनेक आधारों पर बहिर्वर्त्ती ही कही जा सकती है । अपनी समताओं, शक्तियों, प्रतिभा की विशिष्टता और अपनी महत्ता के बोध की उनमें प्रबल अभिज्ञा थी, जो समय-समय पर उनके व्यवहार या भाव-भंगिमा से प्रकट होती रहती थी । दूसरे को कभी-कभी यह श्रेष्ठता ग्रंथि लग सकती थी । किन्तु वस्तुतः यह उनके प्रभूत आत्मविश्वास की झलक होती । आत्मविश्वास की तो वे मूर्त्ति थे । अपने विचारों के ठीक होने तथा उठाये हुए काम की सफलता के विषय में बराबर आश्वस्त रहते । उनमें उच्च आकाक्षाएँ भी थीं, विशेष रूप से राजनीति के क्षेत्र में । फिर भी वे आकाशचारी नहीं थे । इसीलिये वे कार्यों के सम्बन्ध में चिन्तन और मनन करके विचार स्थिर करते । वे बातों के ऊपरी स्तर, इन्द्रियजन्य तथ्यों तक ही नहीं टिकते । उसके मूल तक पहुँचने की उनमें सहज प्रवृत्ति थी । हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उनमें अन्तर्दृष्टि की प्रमुखता थी । इस विषय में वे प्रसाद जी से मिलते जुलते थे । फिर भी दोनों का विचरण क्षेत्र पृथक् था । प्रसाद जी ने भावजगत् की यात्रा की किन्तु बौद्धिक संतुलन को बनाये रखा । सम्पूर्णानन्द जी ने बौद्धिक जगत् में संचरण किया, फिर भी उनका हृदय उनके साथ था । यही कारण है कि दोनों एक ही स्थान पर पहुँचे ।

सम्पूर्णानन्द जी ने भी अद्वैत दर्शन अपनाया । किन्तु उनके लिये यह संसार, यह जीवन माया के रूप में त्याज्य नहीं था । सुन्दर और शिव का आकर था । यही कारण है कि उन्होंने मनुष्य मात्र की समानता पर विश्वास किया, समाजवाद को अपनाया और उसे वेदान्त का आधार दिया । अतः उनका दर्शन जीवन का नवनीत था, उसे वे उससे पृथक् नहीं रख सकते थे । यही कारण है कि समाजवाद के व्यावहारिक पक्ष पर भी उनकी दृष्टि थी ।

इस प्रकार उनके स्वभाव में सहज गंभीरता और एकांतप्रियता का भी भाव था, जो मनुष्य को अन्तर्वर्त्ती बनाती हैं । किन्तु संकोचशीलता नहीं थी । सामाजिकता, वाक्पटुता और सबके ऊपर

बातों में उच्च तथा परिमार्जित हास्य का पुट देने की क्षमता और विनोदप्रियता भी थी। उनके स्वभाव में विरोधी प्रकृतियों का एक विलक्षण सम्मिश्रण था।

अनेक बड़े नेताओं की भाँति सम्पूर्णानन्द जी के ऊपर ऐसे वरदहस्तों की छाया नहीं थी जो उन्हें आगे बढ़ाने में सहायता करती। जो कुछ भी थी वह क्षमताओं, शक्तियों और विशेषताओं के रूप में और सबके ऊपर थी। एक प्रबल संकल्पशक्ति और उसके साथ दृढ़ आत्मविश्वास। अनुकूल परिस्थितियों में उनका प्रयोग करते हुए आगे बढ़े। वर्ष 1921 के असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होकर अपनी अलग पहचान बनायी। वर्ष 1920 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः अनुकूल परिस्थितियाँ लेकर आया। हमें स्मरण है कि वाराणसी में नमक कानून तोड़ने के लिये नगर के विभिन्न भागों से बादशाहबाग की ओर उत्साहीजनों के जत्थे जा रहे थे। उनमें से हमारे दयानन्द स्कूल (डी. ए. वी.) से भी छात्रों का एक समूह उधर ही चला, जिसके नेताओं में शंकर जी भी थे उनके कारण मैं, एक प्रमुख सरकारी अधिकारी का पौत्र भी, सम्मिलित था। मैंने उत्साह के साथ देखा कि नमक सम्पूर्णानन्द जी ने बनाया और कानून तोड़ा। उसके लिये उन्हें जेल भी जाना पड़ा।

इस प्रकार नगर के कुछ प्रमुख नेताओं में न केवल उनका एक उच्च स्थान हो गया, वरन् एक देशसेवक के रूप में ख्याति भी मिली। यह इसके पहले के और इसके बाद के कुछ वर्ष राजनैतिक दृष्टि से देश के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन और ब्रिटिश सरकार द्वारा उसके दमन के कार्य ने देश की जनता में एक अपूर्व राजनैतिक चेतना का संचार किया। उनके हृदय में देश के सेवकों और नेताओं के प्रति अभूतपूर्व श्रद्धा का भाव घर कर गया। आश्चर्य की बात है कि क्रान्तिकारियों में से फांसी पर चढ़ने वाले भगतसिंह, राजगुरु और बटुकेश्वरदत्त के साथ महान् बलिदानी चन्द्रशेखर आजाद की तस्वीरें घर-घर में टँग गयीं और वे जनता के हृदय के हार बन गये। इस समय अंग्रेजी शासन के विरोध का भाव चरमोत्कर्ष पर था।

इसके चार वर्ष के उपरान्त वर्ष 1934 में कांग्रेस के भीतर ही एक समाजवादी मंच की स्थापना हुई, जिसकी स्थापना में ये भी सम्मिलित थे। पटना में होने वाले पहले अधिवेशन के अध्यक्ष इनके साथी आचार्य नरेन्द्रदेव हुए। बम्बई में होने वाले दूसरे अधिवेशन के लिये अध्यक्ष ये चुने गये। समाजवाद के इस भारतीय संस्करण के आरम्भ में प्रवक्ता का काम इन्होंने किया। वर्ष 1937 में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत 1935 के नये संविधान के आधार पर जो चुनाव हुए, उसमें कांग्रेस को भारी सफलता मिली। समाजवादी युवजनों ने सरकार से बाहर रहने का निर्णय लिया। कुछ समय कांग्रेसी शासन चलने के उपरान्त संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) की सरकार में सम्मिलित होने के लिये आचार्य नरेन्द्रदेव और सम्पूर्णानन्द जी को आमंत्रित किया गया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने उसे अस्वीकार कर दिया और सम्पूर्णानन्द जी ने उसमें सम्मिलित होने के लिये हामी भर दी।

उस समय मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एम. ए. के छात्र के रूप में हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहता था। शंकर जी से सम्पूर्णानन्द जी के मंत्री होने की सूचना मिल चुकी थी। मैं वाराणसी आया और उनसे मिलने उनके घर गया। नीचे के अपने बैठका में सम्पूर्णानन्द जी बैठे हुए थे। मैं भी वहीं बैठ गया। लक्ष्य किया कि वे कुछ खीझे हुए थे। एक छोटा सा झबरा कुत्ता भीतर से आया और उछलने कूदने लगा उन्होंने उसे सहलाया। वह उनका हाथ चाटने लगा। उन्होंने खीझकर उसका कान पकड़ कर जोर से नीचे रख दिया। वह कैं कैं करता भागा।

बाद में पता चला कि यह खीझ नरेन्द्रदेव जी के मंत्रीपद अस्वीकार करने के कारण थी। सच तो यह है कि मुझे उस समय यह सब कुछ रुचा नहीं। किन्तु बाद में जब मैं उनके स्वभाव और उनकी विशेषताओं से भली-भाँति परिचित हुआ तो यह विचार बदल गया। वस्तुतः वे बहुत ही रचनात्मक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनके लिये देश की सेवा केवल आन्दोलन करने या विरोध करने में ही नहीं थी। आन्दोलन या विरोध से यदि स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे तो रचनात्मक कार्य करने के लिये इस मिले हुए अवसर का लाभ उठाकर देशहित की दृष्टि से कुछ करना चाहते थे। इसलिये उनकी दृष्टि में यही मार्ग श्रेयस्कर था, जिसे अपनाने में वे हिचके नहीं।

इस समय हिन्दी के स्वरूप को लेकर एक खींच-तान चल पड़ी थी। मुस्लिम सम्प्रदायवाद भी काफी विकसित हो चुका था। मुस्लिमलीग उसका प्रतिनिधित्व कर रही थी। उसके नेता श्री जिन्ना के अनुसार मुसलमान एक अलग राष्ट्र के रूप में थे। जहाँ मुसलमानों की बहुसंख्या थी, वहाँ वे एक अलग राज्य पाकिस्तान का निर्माण चाहते थे। उर्दू को उन्होंने मुस्लिम राष्ट्र की भाषा के रूप में स्वीकारा और घोषित किया। कांग्रेस के भीतर कुछ मुस्लिम नेताओं, विशेष रूप से मौलाना आजाद के प्रभाव में पड़कर महात्मा गाँधी अपनी हिन्दुस्तानी को उर्दू बहुलता की ओर मोड़ दे रहे थे। एक सज्जन ने तो यह प्रस्ताव रखा कि हिन्दुस्तानी में से तत्सम शब्द निकाल दिया जाय जिसे स्वयं महात्मा जी ने स्वीकार नहीं किया। इस सम्बन्ध में राजर्षि टण्डन जो हिन्दी-हिन्दुस्तानी के उनके विचार में पहले महात्मा गाँधी के साथ थे, अब विरोध में उठ खड़े हुए। इन्हीं सब बातों का प्रभाव था कि बिहार के शिक्षामंत्री एफ. सैयद महमूद ने हिन्दुस्तानी की कुछ रीडरें तैयार करायीं। वस्तुतः ये हिन्दी लिपि में शुद्ध उर्दू ही पुस्तकें थीं। इसमें राम की कथा में राम को बादशाह राम और सीता को बेगम सीता कहा गया था।

सम्पूर्णानन्द जी इस सम्बन्ध में चुप नहीं रह सके। उन्होंने खुले रूप में तो विरोध नहीं किया, किन्तु गुरुवर. बेढ़ब जी को बुलाया। कहा–मैं हिन्दी के लिये यदि विशेष कुछ नहीं कर सका तो उसका अहित भी नहीं होने दूँगा। किन्तु बिहार की ये पाठ्यपुस्तकें यदि चल जायेंगी तो हिन्दी हिन्दी नहीं रह जायेगी। हम लोगों ने यहाँ अन्य साहित्यकारों का सहयोग लेकर, विशेष रूप से ठाकुर शिवकुमार सिंह के माध्यम से साहित्य सम्मेलन के वाराणसी जिला सम्मेलन का एक आपात अधिवेशन चन्दौसी में आहूत कराया। वहाँ इन पाठ्यपुस्तकों की भर्त्सना की गयी और एक आन्दोलन का श्रीगणेश किया गया। इसके फैलते देरी न लगी। स्वयं बिहार में ऐसी स्थिति आ

गयी कि महमूद साहब को विदायी दे दी गयी और इन पाठ्यपुस्तकों की पढ़ायी बन्द कर दी गयी।

सम्पूर्णानन्द जी ने शासन पर अपनी छाप तो छोड़ी, किन्तु इस अवधि में विशेष काम करने का अवसर नहीं मिल सका। क्योंकि शीघ्र ही यूरोप में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया था। कांग्रेसी सरकार भारतीय जनस्वीकृति के विना उसे युद्ध में घसीटे जाने के विरोध में सत्ता से हट गयी। उसने ब्रिटिश सरकार से युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा के लिये कहा और भविष्य में भारत को स्वशासन प्रदान करने के सम्बन्ध में आश्वासन माँगा। 1942 में चलने वाले भारत छोड़ो आन्दोलन ने अंग्रेजों के सामने यह स्पष्ट कर दिया कि अब भारत में अधिक समय तक अंग्रेजी शासन का चलना सम्भव नहीं। नवगठित अंग्रेजी श्रमिक दल की सरकार ने भारत में संक्रमणकालीन केन्द्रीय शासन का गठन किया। एक संविधान सभा का निर्वाचन कराया, जिसमें कांग्रेस की बहुसंख्या थी; किन्तु अधिकांश मुस्लिम सदस्य लीग के थे। अंग्रेजी सरकार ने 15 अगस्त, 1947 को यहाँ से जाने का दिन निश्चित कर दिया। यह भी स्पष्ट कर दिया कि न चाहने वाले हिस्सों पर संविधान सभा का निर्णय नहीं लादा जायेगा। फलस्वरूप भारत का विभाजन हो गया।

इधर संयुक्त प्रदेश में कांग्रेस सरकार के सत्ता से पृथक् हो जाने के उपरान्त सम्पूर्णानन्द जी वाराणसी आ गये थे। उस कुछ समय को छोड़कर जब उन्हें जेल जाना पड़ा था, वे वाराणसी में ही रहे और नगर की साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेते रहे। संयोगवश 1940 में इलाहाबाद से शिक्षा समाप्त कर वाराणसी लौटे, कुछ युवा साहित्यकारों ने बेढब जी के नेतृत्व में प्रसाद परिषद् की स्थापना की। सम्पूर्णानन्द जी आरम्भ से ही इससे सम्बद्ध रहे और समय-समय पर इसके कार्यक्रमों में भाग लेते रहे। एक बार प्रसाद जी के घर के समीप, कवि के एक साथी श्रीगयाप्रसाद के निवास स्थान पर उनके बृहत् हाल में परिषद् की ओर से एक आयोजन हुआ, जिसमें निराला जी का अभिनन्दन किया गया था। इस समय परिषद् के अध्यक्ष हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं. केशव प्रसाद मिश्र थे। सम्पूर्णानन्द जी भी इसमें सम्मिलित हुए थे। काशी के हिन्दी रंगमंच के एक प्रमुख हास्य अभिनेता श्री वीरेन्द्रनाथ दास भी इसमें सम्मिलित हुए थे, जिन्हें लोग बीरे बाबू कहकर पुकारते।

कुछ विनोद का माहौल बन गया था। कायस्थों के काँइयापन की बात आ गयी थी। बीरे बाबू ने उनकी चुतराई का प्रदर्शन करने वाली यमराज और कायस्थ की कहानी सुनायी, जिसमें कायस्थ ने यमराज से भी तिकड़म किया। सम्पूर्णानन्द जी कब पीछे रहते। उन्होंने 'कौआ और कायस्थ' की कहानी सुनायी, जिसमें कायस्थ ने काँइयापन में कौआ का भी कान काट दिया। हँसते-हँसते लोगों के पेट में बल पड़ गये। यह हँसी अपनी सीमा तोड़ गयी, जब इस पर बीरे बाबू उठ खड़े हुए, हाथ जोड़कर बोले—मैं भी कायस्थ हूँ।

इस प्रकार साहित्यिक कार्यों के प्रसंग में सम्पूर्णानन्द जी से भेंट होती रही। इसी बीच एक घटना घटी, जिसका सम्बन्ध मुझसे था; किन्तु सम्पूर्णानन्द जी भी उससे संलग्न हो गये थे।

इलाहाबाद से पी. सी. एस. की परीक्षा में असफलता लेकर लौटने पर मैं अब जीविका की टोह में लग गया था। सम्पूर्णानन्द जी ने अपने शिक्षामंत्रित्व काल में बुनियादी शिक्षा प्रारम्भ करायी थी। उसके लिये प्राविधिक प्रशिक्षण दिया जा रहा था। एक टोली निकलकर काम में लग चुकी थी। दूसरी टोली के प्रशिक्षक के रूप में चयन के लिये मैंने भी आवेदन दिया था। यों तो अंग्रेज शिक्षा निदेशक के हाथ में चयन कार्य था; किन्तु इसके वास्तविक कर्त्ता-धर्त्ता एक इबादुर रहमान खाँ थे, जिन पर सम्पूर्णानन्द जी की भी कृपा रह चुकी थी। मैंने सम्पूर्णानन्द जी से कहा और उन्होंने एक पत्र खाँ साहब के नाम लिख दिया था। इसका साक्षात्कार इलाहाबाद में होने वाला था। उस समय शंकर जी भी वहीं रह रहे थे, सम्पूर्णानन्द जी का पत्र लेकर खाँ साहब के पास शंकर जी गये। पत्र पाकर खाँ साहब ने कहा–अरे हुजूर, आप को तकलीफ करने की क्या जरूरत थी। किसी के भी हाथ भेजवा दिया होता काम हो जाता। इसी प्रकार आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने भी किसी की संस्तुति की थी।

साक्षात्कार में कोई विशेष बात नहीं हुई। ठीक ही था। जब सूची निकली तो उसमें मेरा या नरेन्द्रदेव जी के प्रत्याशी में से किसी का नाम नहीं था। मुझे ठेस लगी कि सम्पूर्णानन्द जी से उनके अधीन जो काम कर चुका था ऐसे अधिकारी के पास पत्र लिखवा कर मैंने ठीक नहीं किया था। भेंट होने पर सम्पूर्णानन्द जी ने भी यही बात प्रकट की। उन्हें भी इसका कष्ट था।

किन्तु सम्पूर्णानन्द जी ने उस अधिकारी के विरुद्ध यह बात अपने मन में नहीं रखी। आगे दुबारा शिक्षामंत्री बनने पर उसे शिक्षा निदेशक बनाया। बहुत आगे चलकर केन्द्रीय सरकार में दक्षिण की एक महिला उपशिक्षा सचिव से सम्पूर्णानन्द जी को पता चला कि वह मौलाना आजाद के पास यहाँ के शिक्षा विभाग की गोपनीय बातों की सूचना दिया करता था। सेवानिवृत्त होने के उपरान्त वह पाकिस्तान चला गया।

वाराणसी में रहते समय प्रसाद परिषद् के साथ सम्पूर्णानन्द जी की संलग्नता बढ़ती ही गयी। वे वर्ष 1943 में प्रसाद परिषद् के तीसरे अध्यक्ष बने और वर्ष 1946 तक रहे। प्रथम अध्यक्ष पं. रामचन्द्र शुक्ल थे और दूसरे जैसा कि बताया जा चुका है, पंडित केशव प्रसाद मिश्र। ये दोनों ही अपने-अपने समय में हिन्दी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। दूर रहने के कारण परिषद् की महत्त्वपूर्ण बैठकों में ही आ पाते थे। इनका नाता औपचारिक ही अधिक था। इनकी अध्यक्षता परिषद् के लिये सम्मानप्रद थी। किन्तु सम्पूर्णानन्द जी के साथ बात दूसरी ही थी।

परिषद् का केन्द्र सराय गोवर्द्धन और बड़ी पियरी में था। सम्पूर्णानन्द जी का घर समीप ही जालपादेवी में था। इसलिये जब भी हमें आवश्यकता पड़ती उनके यहाँ पहुँच जाते अथवा उन्हें कुछ कहना होता तो हमारे यहाँ खबर भेज देते।

तीन-चार वर्षों का यह कालखण्ड, जब सम्पूर्णानन्द जी प्रसाद परिषद् के साथ सक्रिय अध्यक्ष के रूप में संलग्न थे, बड़ा सुखद था। ऐसा लगता है, जिस प्रकार महात्मा गाँधी ने स्वतंत्रता के उपरान्त आने वाले स्वरांज काल का एक मानसिक चित्र बना रखा था, उसी प्रकार आगे क्या

करना है इस विषय की, राजनीति के सम्बन्ध में ही नहीं, हिन्दी के सम्बन्ध में भी, इन्होंने भी मन में रूपरेखा बना रखी थी। उस समय हमारे सामने क्या समस्याएँ होंगी और हमें क्या करना होगा, ये प्रश्न अपनी अंग्रेजी की पुस्तक "ह्वेन वी आर इन पावर" में उठा रखी थी। हिन्दी के लिये भी यह संघर्ष काल था। सम्पूर्णानन्द जी संघर्ष के साथ रचनात्मक रूप से हिन्दी के बहुक्षेत्रीय उन्नयन के द्वारा उसे पुष्ट करना चाहते थे। नागरी प्रचारिणी सभा के भी अध्यक्ष हो चुके थे। वहाँ जो हो रहा था उसके अतिरिक्त प्रसाद परिषद् के माध्यम से भी कुछ करना चाहते थे। परिषद् के युवा सदस्यों की कार्यक्षमता में उनका बड़ा विश्वास था।

हिन्दी की विद्यमान स्थिति का आकलन करते हुए वे इसकी चिन्ता में थे कि उसकी प्रवृत्तियों में किस प्रकार का मोड़ दिया जाये जो उसे ठीक रास्ते पर ले चल सके और उसके लिये शुभ हो। इसी दृष्टि से वे उठते-बैठते प्रकृति और उसके निरीक्षण पर बल देते। आश्चर्य की बात है कि शुक्ल जी ने भी काव्य में प्रकृति के महत्त्व पर जोर दिया था। दोनों के सामने संस्कृत काव्य और उसके वाल्मीकि और कालिदास का काव्य था। सम्पूर्णानन्द जी के लिये प्रकृति एक बिन्दु थी, जो हमें सौन्दर्यानुभूति और उसके माध्यम से सुन्दर काव्यमय अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख कर सकती थी। अभिव्यक्ति के लिये भाषा और उसकी शक्ति की यथार्थ पहचान और समझ आवश्यक थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने लेख भी लिखे थे। इसी प्रकार प्रकृति का निरीक्षण उनकी दृष्टि में वैज्ञानिक साहित्य के लिये भी आवश्यक था। स्वयं उनकी ग्रह-नक्षत्रों के निरीक्षण में रुचि थी। आगे चलकर ज्योतिर्विज्ञान और ज्यौतिष शास्त्र के अध्ययन में उन्होंने बहुत रुचि ली। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक बार ज्यौतिष शास्त्र की निन्दा की थी, जिसका उन्होंने उनसे जमकर विरोध किया था।

प्रकृति के सम्बन्ध में वे इतने संवेदनशील थे कि उसकी तनिक सी भी उपेक्षा उन्हें सह्य नहीं थी। एक बार गुरुवर बेढ़ब जी के घर पर मैं 'पिंजड़े का पंछी' शीर्षक एक कविता सुना रहा था। जहाँ वे भी उपस्थित थे। उसमें मैंने गाने वाले पक्षी के लिये स्त्रीलिंग प्रयोग किया था। आरम्भ में मैं भी विज्ञान का विद्यार्थी रह चुका था और इससे परिचित था कि गानेवाला पक्षी नर होता है; किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा कर गया था। वे अपने को रोक नहीं सके और उसके समाप्त होते ही इसे लेकर उसकी आलोचना की। हम लोगों के बीच उनकी गुरुता जाग्रत रहती और यदि कोई बताने योग्य विषय होता तो निस्संकोच बताते।

वाराणसी में इस समय उनकी सुलभता और परिषद् में उनकी अत्यधिक रुचि और हम लोगों के प्रति उनके स्नेह के कारण परिषद् ने एक ऐसे साहित्यिक परिवार का रूप धारण कर लिया था जिसके वे कुलगुरु थे। उस समय यदि कोई परामर्श या सहायता की आवश्यकता पड़ती तो हम निस्संकोच उनके यहाँ जाते और वे यथोचित कार्य करते। उस समय मैं नगरपालिका के जे. पी. मेहता विद्यालय में अस्थायी शिक्षक था। एक स्थायी पद घोषित हुआ। सम्पूर्णानन्द जी से मैंने एक प्रमाणपत्र लिया। उन्होंने स्वतः अपने एक मित्र श्री रामेश्वर सहाय सिन्हा से, जो उस समय नगर-पालिका के शिक्षा अधीक्षक थे और आगे जिन्हें उन्होंने विधायक बनने में सहायता की, मेरे लिये

कुछ करने के लिये कहा। इस सम्बन्ध में नियुक्ति के लिये चेष्टा करते समय एक घटना घटी, जिसके विषय में मैंने सम्पूर्णानन्द जी को बताया। इस घटना का सम्बन्ध शिक्षा समिति के अध्यक्ष पहलवान शकूर से था, जो जैतपुरा मुहल्ले में रहते थे और वाराणसी के मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। मेरे एक सहपाठी मित्र ने, जो नगरपालिका के कर्म्मचारी थे, पड़ोसी होने के नाते जिनकी पहलवान से पटती थी, मुझे उनसे मिलाया। मैंने उनके सामने अपना पक्ष रखा। उनसे मेरी संस्तुति मेरे एक साथी, प्रसिद्ध नाटककार आगा हश्र के भाञ्जे, श्री इश्तियक हुसैन ने भी की थी, जो वाराणसी मुस्लिम लीग के मंत्री थे। मैंने पहलवान साहब को बताया कि मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पालिटिक्स विषय में एम. ए. और बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से बी. टी. हूँ। इसके अलावा बी. ए. में अंग्रेजी भी ली थी, जो यहाँ पढ़ाना है। यह भी बताया कि अन्य उम्मीदवारों ने बी. ए. में अंग्रेजी नहीं पढ़ी है। अन्तिम योग्यता से वे प्रभावित हुए।

उन्होंने कहा–इश्तियाक भी तुमरी सिफारिश किये रहे। लेकिन उनकी बात हमारी समझ में नहीं आयी। ई उसूल की बात है। तू अंगरेजी पढ़ाये की बात जो कह रहे हो ऊ हमरे समझ में आ रही है। जैसे हम पहलवान बराबर का जोड़ नहीं लड़ाय सकते वैसे ही ऊ लोग भी अंगरेजी नहीं पढ़ाय सकते। हाँ ई बताओ तूं ऊ पास है कि नाहीं जो लड़कन के पढ़ाये के बदे पास किया जाता है। मैंने बताया कि बी. टी. उसी की सनद है।

सम्पूर्णानन्द जी हँसे। मैंने उनसे आगे कहा कि वे शिक्षामंत्री रह चुके हैं। भविष्य में भी होंगे। क्या हम शिक्षितों के भाग्यविधाता ऐसे ही लोग रहेंगे। सम्पूर्णानन्द जी का कहना था कि पहलवान तो केवल शिक्षा समिति के अध्यक्ष थे; किन्तु जब स्वयं वे डेली राजकुमार कालेज, इन्दौर के प्राध्यापक थे, तो वहाँ का अंग्रेज प्रिंसिपल पहलवान का ही जोड़ीदार था। उसके बहुत से किस्से उन्होंने सुनाये। जिन्हें सुनकर हँसी रोके नहीं रुकी। हमें दुःख है कि उन्हें हम टेप नहीं कर सके और न याद रख सके।

उनमें एक विलक्षण शक्ति थी कभी किसी एकदम से अनूठी और नयी बात सूझ जाने की। एक बार उन्होंने परिषद् की ओर से एक रूपक प्रस्तुत करने का सुझाव दिया, जिसमें वाराणसी में आये या यहाँ रहने वाले संतों या कवियों के जीवन की विशेष घटना की प्रस्तुति हो। उन्होंने स्वयं रूपरेखा बनायी, संवाद लिखे। आदिशंकराचार्य के आगमन के समय चांडाल से उनकी वार्त्ता से लेकर प्रसाद जी तक का रूपक प्रस्तुत किया गया। इसमें परिषद् के प्रथम प्रधानमंत्री बेधड़क जी का शंकर के तांडव नृत्य का छायाचित्र, शंकराचार्य-चांडाल का संवाद, काष्ठजिह्वा स्वामी का प्रसंग, भारतेन्दु तथा प्रसाद जी की प्रस्तुति विशेष रूप से सराही गयी। इसके मंचन की सफलता में डॉ. भानुशंकर मेहता का बहुत बड़ा योगदान था।

सम्पूर्णानन्द जी के अध्यक्षता काल में बी. टी. कालेज, कोल्हुआ के मंच पर प्रसाद जी के चन्द्र-गुप्त नाटक के कुछ अंश तथा कुछ एकांकियाँ परिषद् की ओर से प्रस्तुत की गयी थीं। उसकी विशेषता यह थी कि उसमें काशी के बहुत से साहित्यकार और पत्रकार भूमिकाओं में उतरे थे,

जिनमें से पं. सीताराम चतुर्वेदी, गुरुवर बेढ़ब बनारसी, बेधड़क बनारसी, अशोक जी इत्यादि के अतिरिक्त, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पंडित करुणापति त्रिपाठी, भगवतीशरण सिंह, अर्जुन चौबे कश्यप इत्यादि भी अवतरित हुए थे और यह अपने ढंग का अनोखा प्रयोग था।

लगता है अध्यक्ष रूप में बितायी गयी ये घड़ियाँ सम्पूर्णानन्द जी को भी विशेष प्रिय थीं और जीवन भर इसके साथ उनका लगाव बना रहा। देश में घटनाचक्र इतनी तीव्र गति से बदलाव की ओर चल रहा था कि आज उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उसमें सम्पूर्णानन्द जी को भी एक प्रमुख भूमिका निभानी पड़ी, जिसके लिये उन्हें लखनऊ को अपना मुख्यालय बनाना पड़ा।

आज यह लोगों के अनुभव के बाहर की बात है कि उस समय अप्रत्याशित रूप से अर्जित स्वराज का कैसा सुख मिला और विभाजन की कैसी कटुता झेलनी पड़ी। कोई मौलाना आजाद की देशभक्ति पर शंका नहीं कर सकता। किन्तु देश के विभाजन के उपरान्त उनका एक दूसरा ही स्वरूप सामने आया। उन्हें पतनकालीन मुगल संस्कृति और उर्दू का बहुत अधिक आग्रह था। अब उसके साथ एक और चिन्ता जुट गयी विभाजन के बाद देश में मुसलमानों की स्थिति की। इस सम्बन्ध में उनका दबाव महात्मा गाँधी और पं. जवाहरलाल नेहरू पर था। उन्होंने एक चतुराई-भरा वक्तव्य दिया कि पाकिस्तान बनने के बाद अब यहाँ उर्दू का कोई स्थान नहीं। किन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में अब हिन्दुस्तानी को स्वीकार करना चाहिए। यह हिन्दुस्तानी और कुछ नहीं उर्दू का ही दूसरा रूप था। महात्मा जी हिन्दुस्तानी का खुले रूप से समर्थन कर रहे थे। टण्डन जी ने इसके विरुद्ध विद्रोह का भण्डा उठा लिया था। मौलाना के दबाव में महात्मा जी ने कई प्रश्नों को लेकर आमरण अनशन किया, हिन्दुस्तानी भी उनमें से एक था। हिन्दी के भी कई प्रतिनिधियों ने महात्मा जी को आश्वस्त किया। किन्तु अन्य लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

यह तनाव इस कारण था कि संविधान सभा राजभाषा के सम्बन्ध में निर्णय करने जा रही थी। इस विषय में उत्तर प्रदेश की सरकार ने पहल की और हिन्दी को प्रदेश की राजभाषा घोषित कर दिया। इसके पीछे सम्पूर्णानन्द जी, नवीन जी इत्यादि का प्रमुख हाथ था। यद्यपि सम्बन्धित प्रस्ताव श्री किदवई ने रखा।

राजभाषा के विषय में सरदार पटेल का रुख स्पष्ट था। हिन्दी वालों ने उनसे इस विषय में रुचि लेने के लिये कहा और उन्होंने आश्वस्त कर दिया था। जब यह प्रश्न संविधान सभा के कांग्रेसी सदस्यों के समक्ष निर्णयार्थ आया तब महात्मा गाँधी और पं. नेहरू का आग्रह होते हुए भी सदस्यों ने विशाल बहुमत से हिन्दी के पक्ष का समर्थन किया। दक्षिण भारत के कांग्रेसी सदस्यों ने तो यह स्पष्टतः कह दिया था कि नागरी लिपि में हिन्दी के अतिरिक्त राजभाषा का अन्य कोई रूप उन्हें स्वीकार नहीं होगा। दक्षिण भारतीयों का नेतृत्व सर्वश्री अनन्त शयनम् और गोपाल स्वामी आयंगार ने किया। श्री आयंगार ने ही राजभाषा सम्बन्धी प्रस्ताव तैयार किया।

निर्णय के पहले जब यह सब तनातनी चल रही थी, लखनऊ में पं. कमलापति त्रिपाठी के सभापतित्व में प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक अधिवेशन हुआ। उसमें प्रसाद परिषद् के

सदस्यों ने भी पर्याप्त संख्या में भाग लिया था। सम्पूर्णानन्द जी शिक्षामंत्री थे और ए. पी. सेन रोड पर रहते थे। उन्होंने साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन सम्पन्न होने के उपरान्त अपने बँगले पर प्रसाद परिषद् की एक बैठक आहूत की और उसके सम्मान में एक शानदार पार्टी दी।

इसी समय के आस-पास की एक वैयक्तिक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

अंग्रेजों के शासनकाल में शिक्षकों को एक विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती थी, जो सरकार की ओर से ली जाती थी। इसमें हिन्दी लेने वालों को उर्दू तथा उर्दू वालों को हिन्दी में पास होना पड़ता था। मेरे प्रिंसिपल साहब का मुझसे विरोध था। उन्होंने मुझे नोटिस दी कि मैं उर्दू की विभागीय परीक्षा पास कर लूँ, अन्यथा सेवा में मेरी संपुष्टि नहीं होगी। उसी समय संयोगवश सम्पूर्णानन्द जी यहाँ आये हुए थे। मैंने उक्त नोटिस उन्हें दिखायी और कहा कि हिन्दी के राजभाषा होने के उपरान्त हिन्दी लेने वालों के लिये यह बाध्यता तो नहीं रहनी चाहिए। कुछ ही दिनों में इससे सम्बन्धित शासनादेश आ गया। जिसमें हिन्दी वालों के लिये परीक्षा की यह अनिवार्यता समाप्त कर दी गयी।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी के संघर्षकाल में टण्डन जी ने आन्दोलन का मार्ग अपनाया था और सम्पूर्णानन्द जी रचनात्मक रूप से और अपने ढंग से संघर्ष कर रहे थे। निर्णय हो जाने के उपरान्त यह संघर्ष तो समाप्त हो गया; किन्तु मौलाना आजाद केन्द्रीय शिक्षामंत्री होने के नाते, एक न एक अडंगा लगाते रहे, जिससे कि हिन्दी को उसका प्राप्य स्थान न मिल सके। अंग्रेजी का पक्ष समर्थन करने वालों की ओर से एक नया झगड़ा भी खड़ा करा दिया। वे सबसे अधिक प्रयत्नशील इसके लिये रहे कि किसी न किसी प्रकार उत्तर प्रदेश में उर्दू को पुनः स्थान मिले। बताया जा चुका है कि यहाँ के शिक्षा निदेशक श्री इबादुर रहमान यहाँ की सूचनायें मौलाना को देते रहे, जिसके विषय में सम्पूर्णानन्द जी को आरम्भ में जानकारी नहीं थी। भीतर ही भीतर मौलाना और सम्पूर्णानन्द जी का संघर्ष चल रहा था।

इस समय तक मौलाना की यह स्थिति थी कि उनके समक्ष कोई उनका विरोध नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि प्रधानमंत्री भी नहीं। एक केवल सरदार पटेल ही थे जिनके सामने इनकी नहीं चलती थी। सम्पूर्णानन्द जी उसकी परवाह नहीं करते थे। सम्पूर्णानन्द जी का मत था कि उर्दू कोई पृथक् भाषा नहीं। वह हिन्दी का ही एक रूप है, शैली है। इसके अतिरिक्त संस्कृत, भारतीय संस्कृति और हिन्दी के लिये सम्पूर्णानन्द जी का आग्रह था, इसलिये मौलाना अवसर मिलने पर उनकी उपेक्षा करने से नहीं चूकते।

एक बार ऐसा ही अवसर आया जब हिन्दी की उपेक्षा करने पर मौलाना की खिंचाई संसद में हुई। उनके विभाग की ओर से विश्वकोष लिखवाने और प्रकाशित कराने की योजना बनी। नागरी प्रचारिणी सभा के पास प्रस्ताव आया कि वह यह कार्य कराये। किन्तु उसके साथ जो शर्तें रखी गयीं उन पर सभा के अध्यक्ष डॉ. अमरनाथ झा भड़क उठे। उन्होंने सभा की प्रबन्ध समिति में कहा कि इसे अस्वीकार कर दिया जाय। उनके सामने किसी को बोलने का साहस नहीं हो पा रहा था।

मैं उनका शिष्य रह चुका था। मैंने बड़ी विनम्रता से कहा कि यदि अनुमति हो तो मैं कुछ निवेदन करूँ। उसके सुनने के उपरान्त आप जो भी निर्देश देंगे उसी का पालन होगा। डॉ. साहब की अनुमति मिलने पर मैंने कहा कि मौलाना यही चाहते हैं कि हम अस्वीकार कर दें और इस पर वे यह प्रचार कर सकें कि हिन्दी वाले स्वयं कुछ करना नहीं चाहते। डॉ. साहब को बात जँच गयी। अन्त में तो यह हुआ कि इसे स्वीकार कर लिया जाय और सभा के प्रतिनिधि के रूप में सम्पूर्णानन्द जी का नाम भेजा जाय। उनकी अनुमति प्राप्त करने का भार मेरे ऊपर सौंपा गया।

सौभाग्य से वे वाराणसी आये हुए थे। मैं दूसरे ही दिन उनके यहाँ गया। सारी स्थिति की जानकारी दी। उन्होंने निर्णय का समर्थन किया। उन्होंने समझाया कि इसके अध्यक्ष के रूप में, एक सरकारी अधिकारी, केन्द्रीय शिक्षा सचिव का नाम न होकर, सार्वजनिक जीवन के या साहित्यिक जीवन के किसी भी व्यक्ति का नाम होता, तो वे प्रतिनिधि बनना स्वीकार कर लेते। किन्तु शिक्षा-मंत्री होते हुए शिक्षा सचिव के अधीन काम करना उचित न होगा। सभा के प्रतिनिधि के रूप में मैंने उनसे नाम का सुझाव माँगा। उन्होंने डॉ. बाबूराम सक्सेना के नाम का सुझाव दिया, जिसे सभा ने स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार एक ऐसा भी अवसर आया जब मौलाना और सम्पूर्णानन्द जी का आमना-सामना भी हुआ। इस घटना के सम्बन्ध में मुझे जानकारी भगवती बाबू से हुई, जो इसके प्रत्यक्षदर्शी थे। उनके अनुसार मौलाना आजाद ने शिक्षामंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। उत्तर प्रदेश से उसमें सम्मिलित होने के लिये शिक्षा सचिव को भेज दिया गया था। दूसरी बार उन्होंने सम्पूर्णानन्द जी से फोन पर अनुरोध किया कि वे उन्हीं के कारण बैठक कर रहे हैं और वे आयें। सम्पूर्णानन्द जी ने हामी भर दी और वे गये भी। मौलाना ने अपने भाषण में उर्दू की स्थिति के विषय में चर्चा की। उत्तर प्रदेश में उसे स्थान देने के लिये कहा। सम्पूर्णानन्द जी ने बड़ी दृढ़ता के साथ अपना मत रखा और कहा कि जब तक वे रहेंगे उत्तर प्रदेश में यही नीति चलेगी। बात वहीं समाप्त हो गयी और दूसरे प्रदेशों के शिक्षामंत्रियों ने इस स्पष्टता और दृढ़ता के लिये सम्पूर्णानन्द जी को बधाई दी।

उनकी इन विशेषताओं के कारण आगे आने वाले निर्वाचन के समय उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनके हिन्दी समर्थन से उर्दू की पत्र-पत्रिकाएँ जम कर उनका विरोध कर रही थीं। एक वर्ग में इनके प्रति विशेष विरोध था। इनके विरुद्ध एक कम्यूनवादी सदस्य खड़े हुए थे। भारत के कम्यूनवादियों ने पाकिस्तान का समर्थन किया था। इससे एक वर्ग का समर्थन उन्हें सहज रूप से प्राप्त होता रहा। इस निर्वाचन में लीग के एक अवशेष डॉ. फरीदी ने पहुँच कर अपने वर्ग वालों को साम्प्रदायिक आधार पर कम्यूनवादी प्रत्याशी के पक्ष में संगठित किया। श्री चन्द्रभानु गुप्त अपना निर्वाचन हार चुके थे। वे वाराणसी पहुँचे और अपने ढंग से यहाँ की कमान उन्होंने संभाली। निर्वाचन के पहले कम्यूनवादी प्रत्याशी के पक्ष में एक विशाल जुलूस निकला। उसमें अधिकांश लोग एक ही वर्ग के थे। लगता था जैसे मुस्लिम लीग के प्रत्याशी का जुलूस हो। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया दूसरे वर्ग के लोगों में हुई।

इस निर्वाचन में एक विशेष क्षेत्र के लोगों ने सम्पूर्णानन्द जी से उर्दू के सम्बन्ध में आश्वासन माँगा। ये इसके लिये तैयार नहीं हुए। हम लोग निर्वाचन के प्रसंग में महाराज कुमार विजयनगरम् के यहाँ गये थे। उन्होंने सुझाव दिया कि सम्पूर्णानन्द जी काशी के कुछ प्रमुख नागरिकों से वोट के लिये मिलें। वे इसके लिये भी तैयार नहीं हुए। वे अपने लिये वोट माँगने कहीं भी नहीं जाते थे।

यह स्पर्द्धा इतनी कड़ी लग रही थी कि जब तक गणना नहीं हो गयी लोग आश्वस्त नहीं हो पाये थे। विजय पर्याप्त मतों से हुई थी।

निर्वाचन या ऐसे अवसरों पर सम्पूर्णानन्द जी की यह विशेषता देखने में आती थी कि वे आवेश में कभी नहीं आते। गणना में भी नहीं जाते। निर्विकार भाव से काम करते और सब कुछ होते देखते रहते। स्वभावतः वे झूठा आश्वासन नहीं देते थे और जो उचित होता था, उसे स्पष्ट रूप से कह देते थे। इससे उनके लिये काम करने वालों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

यह सब देख सुनकर कोई कह सकता है कि उनमें वह व्यवहारकुशलता नहीं थी जो एक राजनीतिज्ञ में होनी चाहिए था। वस्तुतः व्यवहारकुशलता के अभाव की बात उतनी नहीं थी, जितनी सिद्धान्तवादिता और चारित्रिक दृढ़ता की थी। जीवन में कुछ सिद्धान्त थे जिनका त्याग या जिनके सम्बन्ध में वे समझौता नहीं कर सकते थे। बड़े-बड़े नेता थे जो हिन्दू होते हुए भी इस बात को प्रकट करने से हिचकते थे कि वे हिन्दू हैं, सम्पूर्णानन्द जी इससे कभी हिचके नहीं। वाराणसी आने पर गंगास्नान करते और बाबा विश्वनाथ का दर्शन करते। यह सब दिखावा नहीं था। उनके लिये विश्वास और अभिमान की बात थी। यह बात उनके इन शब्दों में दृढ़तापूर्वक अभिव्यक्त होती है–"मैं अपने को हिन्दू कहने से लज्जित नहीं होता। मेरे लिये हिन्दू होना गर्व की बात है। ....मैं हिन्दू हूँ इसलिये सभी मतावलम्बियों को समभाव से देख सकता हूँ। मुझको तो यह शिक्षा मिली है–**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**। ....तो फिर किससे द्वेष करूँ। किस उपासना को झूठी बताऊँ।" यह धर्मनिरपेक्षता की सच्ची व्याख्या है। उन्हें भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से उसका आध्यात्मिक आधार प्रिय थे। वे उनकी रक्षा चाहते थे। उसमें निरन्तरता के दर्शन करते थे–"परन्तु यह भी जानता हूँ कि राख के नीचे आज भी आध्यात्मिकता की यह सनातन चिनगारी छिपी हुई है जो काल से अविच्छिन्न नहीं है। आज भी आवरणों के नीचे वह धारा प्रवाहित है जो सिन्धु और सरस्वती के तट पर सामगान करने वाले ऋषियों के आश्रमों से उद्गत हुई थी। उसकी रक्षा करनी है।"

इसी प्रकार संस्कृत भाषा के प्रति उनका कितना लगाव था, कितनी श्रद्धा थी, इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। फिर भी एक घटना से इस सम्बन्ध में उनमें कितनी दृढ़ता थी, यह दिखायी पड़ता है। यह उस समय की बात थी जब राजभाषा का प्रश्न छिड़ा हुआ था। पंत-मंत्रिमण्डल में सम्पूर्णानन्द जी के सहयोगी और महान् अधिवक्ता डॉ. काटजू ने संस्कृत को राजभाषा बनाने की

वकालत की। भेंट होने पर मेरे मुँह से अनायास निकल गया "यह अच्छा है। संस्कृत को राजभाषा बनाने की बात कही जायेगी तो विरोधी घबड़ा कर हिन्दी को अपने से स्वीकार कर लेंगे"।

यह सुनते ही उन्होंने अप्रत्याशित रूप से (मेरे लिये) तेज स्वरों में कहा–"क्यों संस्कृत क्यों नहीं राजभाषा हो सकती ? उसे उसके सरलीकृत रूप में चलाया जा सकता है।"

इससे मुझे लगा कि डॉ. काटजू के वक्तव्य के पीछे उन्हीं की प्रेरणा थी। उस समय की स्थितियाँ ऐसी थीं कि इस पर बल देने के फलस्वरूप हिन्दुस्तानी का समर्थन बढ़ता अथवा अंग्रेजी के पक्ष में आवाज लगायी जाती, जो बाद में हुए। सम्पूर्णानन्द जी ने इसी कारण इस पर बल नहीं दिया; क्योंकि हिन्दी का पक्ष दुर्बल होता और लोग इस आधार पर अंग्रेजी के पक्ष को उभाड़ कर सामने लाते।

वे संस्कृत के समर्थक मात्र नहीं थे। वे संस्कृत का विकास इस प्रकार चाहते थे कि वह केवल ज्ञानकाव्य या कर्मकाण्ड की भाषा न बनी रह जाय। वह आधुनिक भाषा हो सके, जिसमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समावेश किया जा सके। इसी को देखते हुए जब संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो संस्कृत में निष्णात किन्तु अत्याधुनिक श्री आदित्यनाथ झा को उसका प्रथम कुलपति बनाकर भेजा। उन्होंने पंडितों की, यहाँ के वरिष्ठ शिक्षकों की एक सभा बुलायी और प्रस्ताव किया कि यहाँ विषयों का संयोजन इस प्रकार हो कि वह अर्थकरी हो। पंडितों ने डँट कर विरोध किया। इस पर उन्होंने कुछ लोगों से पूछा कि वे अपने बच्चों को कहाँ पढ़ाते हैं। निरपवाद रूप से सभी अंग्रेजी स्कूलों में उन्हें शिक्षित करा रहे थे। इस पर उन्होंने पूछा कि क्या वे अपने बच्चों को यहाँ की शिक्षा इसीलिये नहीं दिला रहे हैं कि उससे उनका भविष्य नहीं बन सकता, जीविका नहीं मिल सकती। यह दुहरा मानदंड क्यों ? जो दूसरों के बच्चे हैं, इस शिक्षा में उनके भविष्य का ध्यान रखते हुए परिवर्त्तन क्यों न लाया जाय।

इसी का परिणाम है विश्वविद्यालय का यह स्वरूप। अन्य प्रदेशों ने भी उनसे ही प्रभावित होकर अपने यहाँ संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना की।

तीसरी प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी से उन्होंने संस्कृत के महत्त्व पर बातचीत की और उन्हें प्रभावित किया। उसी का परिणाम था कि आकाशवाणी पर संस्कृत में समाचारों का प्रसारण होने लगा और प्रधानमंत्री ने भी संस्कृत पर जोर दिया। इसी संस्कृत के अतीत प्रेम से प्रेरित होकर उन्होंने बनारस नाम बदल कर वाराणसी कर दिया। नेहरू जी उस पर नाराज हो गये। हम लोगों की भी धारणा थी कि उच्चारण की कठिनाई के कारण यह नाम नहीं चल पायेगा और नाम कोष में धरा रह जायेगा। किन्तु आज बनारस नाम ही इतिहास की बात होकर रह गया है।

इसी प्रकार गो के प्रति श्रद्धा हमारे सांस्कृतिक उत्तराधिकार का एक महत्त्वपूर्ण और जीवन्त धरोहर रहा है। उन्होंने प्रधानमंत्री पंडित नेहरू के घोषित विरोध के होते हुए भी उसके वध का विरोधक अधिनियम बनाया। इस सम्बन्ध में 'आज' के सम्पादक स्व. सत्येन्द्र कुमार गुप्त ने एक

घटना का वर्णन किया, जिसके वे प्रत्यक्षदर्शी थे। इससे सम्पूर्णानन्द जी की दृढ़ता और तेजस्विता का परिचय मिलता है।

घटना काशी विद्यापीठ की कार्य्यकारी परिषद् की एक बैठक में घटित हुई थी, जिसमें प्रधानमंत्री पं. नेहरू तथा अन्य कुछ प्रमुख नेता भी सम्मिलित थे। नेहरू जी खड़े होकर बोल रहे थे। गुप्त जी के अनुसार कुछ विनोद की मुद्रा में उन्होंने कहा–तो आपने गो–वध निरोधक बिल पास ही कर दिया। सम्पूर्णानन्द जी की आदत थी कि किसी बात पर यदि जोर देना होता तो वे तेजी के साथ सिर झटकते। नेहरू जी की बात सुनने पर उनकी ओर देखे विना, सिर को झटका देते हुए उन्होंने कहा-हाँ, हमने ठीक समझा पास कर दिया।

गुप्त जी का कहना था कि उनकी दृष्टि जवाहरलाल जी के चेहरे पर थी। वह तमतमा कर लाल हो गये। उन्होंने जोर से मेज को दबाया।

उनकी सिद्धान्तवादी दृढ़ता का एक दूसरा दृष्टान्त है उनका हिन्दी प्रेम, केवल सिद्धान्त में ही नहीं व्यवहार में भी था। वे नागरी प्रचारिणी सभा में जब अध्यक्ष थे, तो एक नियम बनाया गया कि जो बोलते समय जितने अंग्रेजी शब्दों का जितना प्रयोग करे उसमें गिनती के आधार पर उस पर अर्थदण्ड लगाया जाय जिसके फलस्वरूप लोग हिन्दी का ही प्रयोग करते थे। उनका अंग्रेजी पर भी समान रूप से अधिकार था। वे सान फ्रांसिस्को (अमेरिका) में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधिं बन कर 1948 में गये थे, भाषणों में अंग्रेजी का ही प्रयोग किया। फिर भी पुस्तकें अपनी उन्होंने हिन्दी में ही लिखीं। आर्य्यों का आदि देश, जीवन और दर्शन, चिद्विलास, ब्राह्मण सावधान, गणेश इत्यादि पुस्तकें यदि अंग्रेजी में होतीं तो इन पर कहीं अधिक चर्चा होती। इसी चर्चा और अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता के लिये न जाने कितने इतिहासकारों ने अंग्रेजों द्वारा प्रवर्त्तित घिसे पिटे सिद्धान्त छाती से चिपटा रखे हैं और अंग्रेजी में ही लिखते हैं। सम्पूर्णानन्द जी ने कभी इसकी परवाह नहीं की।

संस्कृत, भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक विचारों का समर्थन करने वाला व्यक्ति आधुनिकों की दृष्टि में पुरातनपंथी होता है। किन्तु लोगों ने आश्चर्य प्रकट किया है कि सम्पूर्णानन्द जी इनमें आस्था रखने के साथ जीवन की धारा के साथ बराबर चलते रहने के भी हिमायती थे। वे समाजवादी विचार में आस्था रखते थे। उन्होंने समाजवादी सिद्धान्तों तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। श्रम-मंत्री बनते ही श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये कानून बनाये। आगे चलकर केन्द्रीय सरकार ने भी उसी को आधार बनाकर इस दिशा में काम किया। उन्होंने उन लोगों के लिये श्रम-न्यायालयों का गठन किया।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उन्होंने विज्ञान के अध्ययन पर जोर दिया। उनके अनुसार आधुनिकता का आधार विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। वे जब मुख्यमंत्री बने तब अपने निवास स्थान पर अपने विचारों के आधार पर वैज्ञानिक प्रयोग कराये। उनकी सबसे अधिक रुचि ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन में थी। उन्होंने जर्मनी से ठीक समय देने वाली घड़ी का एक यंत्र मँगाया था

और संस्कृत विश्वविद्यालय के मुख्य भवन के ऊपरी कक्ष में स्थापित कराया था। वे संस्कृत विश्वविद्यालय को इस प्रकार के अध्ययन का एक केन्द्र बनाना चाहते थे। प्राविधिक कारणवश इसे नैनीताल में स्थानांतरित करना पड़ा।

उन्होंने वन्दियों को मुक्त छोड़कर काम कराने का एक प्रयोग भी वाराणसी जिले में कराया था। इसी के आधार पर महान् फिल्म निदेशक शांताराम ने अपने अमर चित्र 'दो आँखें बारह हाथ' का निर्माण किया था।

आधुनिकता उनकी दृष्टि में आचार-विचार तथा वेषभूषा सम्बन्धी पश्चिम के अन्धानुकरण में कथमपि नहीं थी। पश्चिम की कोई बात यदि जीवन के साथ मेल नहीं खाती तो उसे आधुनिक नहीं माना जा सकता। जिनकी सम्पूर्णानन्द जी से भेंट हुई होगी उन्होंने देखा होगा कि वे नख से शिख तक सभी ब़ातों में भारतीय थे। फिर भी लेशमात्र कोई भी पुरातनपंथिता उनमें नहीं थी। उनके जीवन्त भारतीयता से प्रभावित नवीन जी मिलने पर भावविभोर होकर उन्हें आर्य सम्पूर्णानन्द कहकर सम्बोधित किया करते थे। नरेन्द्रदेव जी की दृष्टि में वे प्राचीन से प्राचीन नवीन से नवीन थे।

हमने उनकी सिद्धान्तवादिता और स्पष्टवादिता की चर्चा की है, यह भी बताया कि लोगों को वे रूखे लगते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे शुष्क और मानव भावनाओं से रहित थे। ऐसी बात नहीं थी। वे लोगों की सहायता करना चाहते थे। किन्तु उनकी बनावट ऐसी थी कि लोगों से सिफारिश करना उन्हें पसन्द नहीं था। जिन कामों को गलत समझते थे, उसके लिये वे मना कर दिया करते थे। आज के अधिकांश राजनीतिज्ञ दूसरों का गलत-सही सभी तरह का काम करके अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करते हैं। सम्पूर्णानन्द जी का भी वाराणसी अपना राजनैतिक क्षेत्र था। साहित्यिकों से वे विशेष रूप से अपने को जुड़ा महसूस करते थे। इनके कामों का ध्यान रखने की उन्होंने एक दूसरी व्यवस्था की।

लखनऊ जाने के उपरान्त वाराणसी से वे दो व्यक्तियों को ले गये और उन्हें अपना निजी सचिव बनाया। इनमें से एक श्री भगवतीशरण सिंह ने प्रसाद परिषद् में उनके अध्यक्षता काल में उनके साथ प्रधानमंत्री के रूप में काम किया था। परिषद् के काम में दोनों आदमी का बड़ा तालमेल बैठ गया था। भगवती बाबू सम्पूर्णानन्द जी के विचारों और उनके मन-मस्तिष्क तथा कार्यप्रणाली से भली-भाँति अवगत हो गये थे। उनके माध्यम से वाराणसी के बुद्धिजीवियों और साधारण रूप से साहित्यिकों की देखभाल होती थी।

राजनीति के क्षेत्र का काम देखने के लिये इस क्षेत्र में उनके साथ काम करने वाले श्री राजविहारी सिंह थे। वे थे तो प्रारंभिक पाठशालाओं के अध्यापक; किन्तु दल का काम करने के कारण वाराणसी के इस क्षेत्र के लोगों से अच्छी तरह परिचित हो गये थे। लखनऊ में सम्पूर्णानन्द जी के साथ रहते-रहते इस क्षेत्र के अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों को भी जानने का उन्हें अवसर मिला। राजनीतिक क्षेत्र के लोगों के कामों का ये ध्यान रखते।

सम्पूर्णानन्द जी का मस्तिष्क कैसे काम करता है और किस प्रकार उसका ध्यान रखते हुए इन्हें काम करना पड़ता, इसे जानने का मुझे अवसर मिला जब लखनऊ में खिलौनों की एक प्रदर्शनी (ट्वॉयज एक्जिविशन) शिक्षा विभाग की ओर से आयोजित की गयी। इस सम्बन्ध में क्या किया जायेगा, क्या होगा, यह सब अधिकारियों की समझ में नहीं आ पा रहा था। इससे सम्बन्ध रखने वाली संचिका मुझे देखने को मिली जिसमें अंग्रेजी में सम्पूर्णानन्द जी की तीखी टिप्पणी थी, जिसका भाव था–इसे भी लोग बहुधा उठने वाले सम्पूर्णानन्द के मस्तिष्क-तरंगों (ब्रेनवेव्स) में से एक समझ रहे हैं। फाइल भगवतीशरण सिंह को सौंपी जाय। इसके उपरान्त देश-विदेश से खिलौने मँगवाये गये। भगवती बाबू शिक्षा विभाग में अवर सचिव के रूप में काम कर रहे थे। इस सम्बन्ध में वाराणसी भी आये। मैं भी साथ था, इसलिये समझ सका कि खिलौनों का भी समय के साथ विकास होता रहा है। कुछ परम्परागत खिलौने होते हैं, जिनमें कुछ तो रूढ़ागत हैं, तो वहीं कुछ सामयिक विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं। अनेक दृष्टियों से उनका भी अच्छा अध्ययन किया जा सकता है।

इस प्रदर्शनी के लिये महाराज बनारस के राजकीय संग्रहालय से हाथी दाँत की बनी हुई अनूठी कलाकृतियाँ मँगायी गयी थीं। लाने का भार कानपुर के शिक्षा उपनिदेशक श्री बलवंत सिंह स्याल पर सौंपा गया और उन्हें इस सम्बन्ध में मुझसे भी सहायता लेने के लिये कहा गया था। मैं उनके साथ संग्रहालय से खिलौने प्राप्त कर उनके साथ ही लखनऊ गया था। इस प्रकार मुझे भी यह अद्भुत प्रदर्शनी देखने को मिली। उसे देखकर मन में यही बात उठी कि इस प्रकार की स्थायी प्रदर्शनी होनी चाहिए।

सम्पूर्णानन्द जी की, हिन्दी के उन्नयन के लिये काम करने की योजनाएँ थीं। इस प्रदर्शनी से आश्वस्त हो गये कि उनके क्रियान्वयन में कोई कठिनाई नहीं होगी। इसके पहले बदली हुई परिस्थितियों में उनके अनुकूल शिक्षाप्रणाली को ढालने का काम किया गया। बुनियादी शिक्षा आरम्भ कर ही दी गयी थी। शिक्षा के ढाँचे और स्वरूप में परिवर्त्तन किया गया। हिन्दी को उसका प्रमुख आधार बनाया गया। इण्टर की परीक्षा तक धीरे-धीरे हिन्दी माध्यम हुई और उच्च शिक्षा में भी ऐसा हो सके इसकी भूमिका स्वीकार की गयी। शिक्षकों की सेवा की स्थिति में सुधार किये गये। उनके द्वारा किये गये ये कार्य अपने क्षेत्र में किये गये आदिम और आधारभूत कार्य्यों के रूप में सदैव स्मरणीय रहेंगे।

इसी प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य, पत्रकारिता, संगीत तथा कला को विशेष शासकीय संरक्षण प्रदान करने का इनकी ओर से काम हुआ। इसके लिये पहले तो सूचना और जनसम्पर्क विभाग को विशेष रूप से संगठित किया गया और इन कार्यों को ध्यान में रखते हुए भगवतीशरण सिंह को सूचना विभाग का निदेशक बनाया गया। सम्पूर्णानन्द जी लेखक के अतिरिक्त पत्रकार भी रह चुके हैं। अंग्रेजी के टुडे और हिन्दी के अस्थायी रूप से आज, स्थायी रूप से जागरण तथा मर्यादा का सम्पादन वे कर चुके थे। इसलिये वे साहित्यिकों और पत्रकारों का महत्त्व समझते थे।

शास्त्रीय संगीत और नृत्य में उनकी अभिरुचि थी। यही कारण था लखनऊ के मैरिस कालेज आव म्यूजिक को उसी से एक समय सम्बन्धित महान् संगीतविद भातखंडे जी के नाम पर भातंखंडे संगीत विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया गया। इसी का परिणाम था कि शास्त्रीय संगीत, वाद्य तथा कत्थक नृत्य का इस प्रदेश में विशेष रूप से प्रसार हुआ। काशी का इस क्षेत्र में विशेष संरक्षण हुआ। इनकी प्रेरणा से इनके मुख्यमंत्रित्व काल में श्री काशीनाथ उपाध्याय बेधड़क बनारसी के सम्पादन में सूचना विभाग से 'त्रिपथगा' नाम से एक अपने ढंग की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई। इसके विशेषांक संग्रहणीय थे।

जिन लोगों ने कलाओं और संगीत के क्षेत्र में, इनके शासनकाल में जो छटा देखी होगी, वे उसे स्मरण करके आज हताश होते होंगे। सच्ची बात तो यह है कि शासकों की जब कला और संगीत में रुचि होती है, जब यह रुचि राजनीति से मुक्त एक सहृदय के रूप में होती है, तब इसमें निखार आता है। सम्पूर्णानन्द जी में इनके प्रति प्रेम और इनकी जानकारी थी। वे पारखी और सहृदय थे। इसीलिये इनका जीवन्त भास्वर और निखरा रूप जो उस समय दिखायी पड़ा वह बाद में स्वप्न हो गया।

सम्पूर्णानन्द जी ने अनुभव किया था कि हिन्दी के नाटक क्षेत्रों में पिछड़ने का कारण उसमें मंच का अभाव है। महादेवी जी द्वारा ताकुला (नैनीताल) में संस्थापित 'उत्तरायण' में साहित्यिकों की एक सभा में भाषण देते हुए उन्होंने इसकी आवश्यकता पर बल दिया। अपनी बात कहकर वे चुप नहीं रह गये। वाराणसी के प्रसिद्ध अभिनेता केशवराम टण्डन से, जो प्रसाद जी के जीवनकाल में मंचित उनके चन्द्रगुप्त में चाणक्य का भव्य अभिनय करके प्रख्यात हो गये थे, सम्पर्क स्थापित कर इसके लिये प्रोत्साहित किया। टंडन जी ने 'नटराज' नाम से एक नाट्य-संस्था की स्थापना की, जिसके मंत्री श्री सर्वदानन्द वर्मा हुए और कार्यवाहक मंत्री इन पंक्तियों का लेखक बना। पंजीकृत न होते हुए भी संस्था को मुख्यमंत्री कोष से रूपये चार हजार का, जो उसके लिये बहुत अधिक थे, सहायता दी। उसके उपरान्त तो नगर में अनेक नाट्यसंस्थाओं की स्थापना हुई और नाट्य प्रयोग में निरन्तर विकास होता गया।

जैसा कि बताया जा चुका है अन्तरिक्ष सम्बन्धी आख्यायिकाओं में उनकी विशेष रुचि थी। हम लोगों के बीच उनकी चर्चा करते और चाहते कि इस साहित्य की अवतारणा हिन्दी में भी हो। इस सम्बन्ध में उनका उतावलापन इतना अधिक हो गया कि उन्होंने 'पृथ्वी से सप्तर्षिमंडल' नाम की एक अन्तरिक्ष कथा स्वयं लिखी, जिसे प्रसाद परिषद् ने प्रकाशित किया।

हिन्दी को अभी तक समुचित अवसर और सम्यक् संरक्षण नहीं प्राप्त हो सका था। अंग्रेजी में सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें सुलभ थीं। उस प्रकार के मौलिक ग्रंथों की रचना में समय लगता। इसलिये हिन्दी वालों के समक्ष दृष्टान्त रखने के लिये उन्होंने यह उचित समझा कि अंग्रेजी की कुछ पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में कराया जाय। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये उन्होंने एक **हिन्दी समिति** गठित की और सूचना विभाग के निदेशक भगवतीशरण सिंह को इसका

सचिव नियुक्त किया। कहना नहीं होगा कि इसके द्वारा कुछ बहुत ही अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद हुआ जो विज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र इत्यादि से सम्बन्धित थे। इसके अतिरिक्त अभावग्रस्त साहित्यकारों की सहायता की गयी। इसकी देखादेखी केन्द्रीय सरकार की ओर से भी आगे चलकर अनुवाद कार्य कराये गये। आज का उत्तर प्रदेश का हिन्दी संस्थान इसी का विकसित रूप है।

इस योजना के क्रियान्वयन में मुझे दो सबसे बड़े दोष दिखायी पड़े। एक तो प्रशासनिक योजना होने के कारण विक्रय की विशेष व्यवस्था नहीं हो सकी। इसी कारण संस्थान का निर्माण करना पड़ा। दूसरे उस समय लेखकों के लिये उस समय की दृष्टि से इसके द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले पुस्तकों के लेखन में विशेष अर्थलाभ था। इसलिये लेखन कार्य किये जाने के लिये समिति पर अनुचित दबाव भी इस प्रकार के पड़े, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसका प्रभाव गुणवत्ता पर पड़ा। फिर भी आदिम योजना होने के कारण इससे विकास के लिये एक नूतन आयाम का द्वार खुला।

सत्ता में आने के पहले एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में सम्पूर्णानन्द जी का जो योगदान था और उसके उपरान्त पंत-मंत्रिमण्डल में एक प्रमुख मंत्री के रूप में तथा अन्त में मुख्यमंत्री की हैसियत से उनकी जो उपलब्धियाँ या शासकीय सफलताएँ थीं, वे इस प्रदेश की राजनीति में उन्हें एक अन्यतम स्थान प्रदान करने के लिये यथेष्ट थीं। इसमें सन्देह नहीं कि संसदीय व्यवहार-विचक्षणता, राजनेतृत्व, राजनयिक कौशल, राजनैतिक सूझबूझ तथा सहज नेतृत्वक्षमता की दृष्टि से पं. गोविन्दवल्लभ पन्त के साथ किसी की तुलना नहीं की जा सकती। फिर भी यह पन्त जी का सौभाग्य था कि उनके मंत्रिमण्डल में सम्पूर्णानन्द जी, रफी अहमद किदवई, लाल बहादुर शास्त्री इत्यादि जैसे उच्चकोटि के लोग सहयोगी थे। सम्पूर्णानन्द जी के साथ ऐसी बात नहीं थी। फिर भी इसी क्षेत्र में शासन सुधार की जो नींव रखी, साहित्य संगीत कला का जिस सहृदयता के साथ संरक्षण किया और उन्हें आगे बढ़ने का अवसर दिया, हिन्दी की मान्यता तथा विकास के लिये जिस निर्भीक और साहसपूर्ण ढंग से काम किया। इन कार्यों की दृष्टि में किसी की तुलना इनके साथ नहीं की जा सकती। राजनीतिक अवसरवादिता में एक दूसरे को पीछे छोड़ने वाले लोगों के उस मरु में सम्पूर्णानन्द जी का व्यक्तित्व एक शीतल जल से भरे कुण्ड के रूप में है, जो उनके व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा देता है। अपने पांडित्य की प्रखर दीप्ति में वे अकेले थे।

पंत जी जब केन्द्र में बुला लिये गये तब मुख्यमंत्री बनने के लिये इन्हें कोई गुटबाजी या जोड़-तोड़ नहीं करनी पड़ी। उनका वरण निर्विवाद रूप से हुआ। पद ने अपने को गौरवान्वित अनुभव किया। वे इस देश के सबसे बड़े, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रदेश के मुख्यमंत्री बने। इसलिये राष्ट्रीय राजनीति में उनकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी। वे जहाँ जाते जिन बैठकों में सम्मिलित होते, उनके व्यक्तित्व की छाप के साथ पांडित्य की भी धाक जमती। यह दुर्भाग्य की बात है कि इतने समय तक नहीं रह सके कि राष्ट्र की राजनीति में अपना स्थान निश्चित कर जाते।

यह भी दुर्भाग्य की बात है कि वे इतने स्वाधीन-चेता थे और प्रकृति प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इतने अनम्य थे कि इसके कारण और हिन्दी के सम्बन्ध में इनके विख्यात रुख और उत्साह के कारण प्रधानमंत्री नेहरू इन्हें पसन्द नहीं करते थे। उर्दू प्रेस वालों ने राष्ट्रभाषा के प्रश्न के निर्णयकाल में जमकर इनका विरोध किया था और साम्प्रदायिक रंग में इन्हें प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी। इसका भी उन पर प्रभाव था। फिर भी मुख्यमंत्री बनने से इन्हें रोक नहीं सके। राष्ट्रीय नीति पर इनका क्या प्रभाव पड़ रहा था, वह अत्याधुनिकता से ग्रस्त जवाहरलाल नेहरू के प्रति अन्धभक्ति प्रदर्शित करने वाले निजी सचिव ए. ओ. मथाई की पुस्तक "माई डेज विद नेहरू" के इन उल्लेखों से ध्वनित होता है—"डॉ. सम्पूर्णानन्द राजनीति में प्लातोन के पंडित की धारणा के एक ठोस दृष्टान्त थे। नेहरू ने मुझे एक बार बताया था कि सम्पूर्णानन्द ऐसे व्यक्ति हैं, जिनकी बुद्धि उस्तूरे की भाँति इतनी पैनी धार वाली है कि उसमें थोड़ी सी नति (असंतुलन) भी उन्हें विक्षिप्त बना सकती है। मैंने उनके बहुत से सहयोगियों जैसे लाल बहादुर और बी. जी. केसकर को सम्पूर्णानन्द के विषय में अत्यधिक श्रद्धाभाव से बोलते सुना है।" मथाई को वे कैसे लगे थे, इस सम्बन्ध में उनके ये शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं—"अपने बढ़े बालों और ब्राह्मणत्व के सभी बाह्य लक्षणों से युक्त एक प्रचण्ड ब्राह्मण दिखायी पड़ते थे। वे **पुरातनपंथी (आब्सक्योरेन्टिस्ट)** नहीं थे। वे मुझे कभी नोपोलियन बोनापार्ट का स्मरण दिलाते थे, जिसने एक बार अपना वर्णन किया था, जन्मतः कार्सिकन, अंगीकृति के द्वारा फ्रांसीसी तथा उपार्जन से सम्राट्।" पहले ही उसने इन शब्दों में उनके पांडित्य की प्रशस्ति भी की थी—"वे भारतीय इतिहास और हमारी प्राचीन संस्कृति के सभी पहलुओं के विषय में निष्णात थे।" फिर भी धोती कुर्त्ता पहनने वाला गाँधी का एक अनुयायी स्वतंत्रताकाल में नेहरू के समीप के एक भारतीय की जो. भले ही ईसाई रहा हो, दृष्टि में सम्पूर्णानन्द क्या थे, यह उसके इन शब्दों से प्रकट होता है—"सम्पूर्णानन्द की आकृति में उस व्यक्ति की झाँकी थी जो हमारे शास्त्रों के पृष्ठों से निकल कर आया हो।" इस काल में अपने आस-पास के लोगों को नेहरू जी धोती में देखना पसन्द नहीं करते थे, यह ख्यात है।

यही कारण है कि उनके इस प्रकार के विचार सम्पूर्णानन्द जी को पसन्द नहीं थे। यही कारण है कि अवसर पड़ने पर नेहरू जी की भावना की परवाह किये विना सम्पूर्णानन्द जी अपनी बात कह दिया करते थे। इसका एक दृष्टान्त पहले ही दिया जा चुका है। एक ऐसी ही घटना और घटित हुई थी जिसे गुरुवर बेढ़ब जी के यहाँ इन लोगों के किसी समीपी व्यक्ति ने सुनाया था।

यह घटना, अंग्रेजों के आर्थिक चंगुल से सद्यः छूटे ईरान के नवागत राजदूत के सम्मान में हुए भोज से सम्बन्धित थी। इस प्रकार के पश्चिमी ढंग से चलने वाले भोजों के अन्त में सुरापान करके उस व्यक्ति की स्वास्थ्यकामना की जाती है, जिसके सम्मान में भोज होता है। इसे हेल्थ (स्वास्थ्य) ड्रिंक (पान) कहा जाता है। जब उस राजदूत के सम्मान में हेल्थ ड्रिंक किया गया तब उसने टोका, हमारे यहाँ इसे हेल्थ ड्रिंक के स्थान पर जामे सेहत (स्वास्थ्य का जाम) कहा जाता है। प्रधानमंत्री को यह बात पसन्द आयी। वे इसका भारतीय संस्करण चाहते थे। मिलने पर उन्होंने

सम्पूर्णानन्द जी से यह कथा सुनायी और कहा—चषक पान या इसी प्रकार का कोई नाम हम भी क्यों न इसके लिये चलायें, सुनते ही सिर झटकते हुए सम्पूर्णानन्द जी ने कहा—हेल्थ ड्रिंक करना हमारी संस्कृति में नहीं है। हम क्यों इसके लिये शब्द बनायें।

सम्पूर्णानन्द जी मदिरा-मांस से दूर रहने वाले व्यक्ति थे। यद्यपि अच्छी सुस्वादु वस्तुओं के बड़े शौकीन थे। स्वयं खाते दूसरों को भी खिलाते। प्रसाद परिषद् की बैठकों में उनकी रुचि का अनुभव हमें हो चुका था। इससे हमें अनुभव लग सकता है कि अपने सबसे प्रिय भोज्य पदार्थ आम का, स्वतंत्रता न मिलने तक, परित्याग कर कितना कष्ट उठाया होगा। वे स्वयं मांस-मदिरा से परहेज करते किन्तु इनका प्रयोग करने वालों के प्रति असहिष्णु नहीं थे। वे एक बार मांसाहार सम्बन्धी संस्कृत की एक पुस्तक का पारायण कर रहे थे। उसमें आयी कुछ बातों को हमें भी बताये। वे यह जानते थे कि हम मांसाहार करते हैं।

जहाँ तक नेहरू जी के साथ सम्बन्ध का प्रश्न था ऐसा लगता है कि मुख्यमंत्रित्व काल में उनसे कुछ सामंजस्य बैठ रहा था। भगवती बाबू ने एक बार की एक विचित्र घटना बतायी जब नेहरू जी लखनऊ आये थे। सम्पूर्णानन्द जी की स्वादिष्ट वस्तुओं की रुचि के सम्बन्ध में नेहरू जी अच्छी तरह जानते थे, इसलिये लखनऊ आने पर उन्होंने मलैये खाने की इच्छा प्रकट की। दूध से निकाले इस मीठे केसरिया झाग को हमारे यहाँ बनारस में मलैये कहते हैं और फारसी में नमरा। इसे लोग इसी कारण निमिष भी कहते हैं। बहुत चक्कर काटने पर बाहर की ओर इसके बनाने में प्रसिद्धि प्राप्त एक सरदार (यादव) मिला। जिसने यह शर्त रखी कि वह अपने हाथ से इसे प्रधानमंत्री को परोसेगा।

इसी प्रकार और कुछ बातों से पता चलता है कि वे एक दूसरे के समीप आ रहे थे। किन्तु ऐसा होना बदा नहीं था। अपने हठ, दूसरों की गुटबाजी और नये ढंग से विकसित होते हुए दरबारी पक्ष से उत्पन्न की हुई स्थितियों के कारण अवधि पूरी करने के पूर्व ही वर्ष 1961 में उन्हें मुख्यमंत्रित्व के पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

यह प्रसंग बड़ा दुःखद था। किन्तु सम्पूर्णानन्द जी को समझने के लिये इसकी कुछ विवृति आवश्यक है।

सम्पूर्णानन्द जी के मुख्यमंत्रित्व काल में पराजित हो जाने के कारण श्री चन्द्रभानुगुप्त मंत्रिमंडल और सत्ता से बाहर थे। किन्तु दल की सत्ता तथा उससे इतर पक्ष पर उनकी अच्छी पकड़ थी। दोनों की दृष्टि में सम्पूर्णानन्द जी पन्त जी से भी अधिक निर्विवाद व्यक्ति थे। किन्तु अब आगे ऐसी बात सम्भव नहीं थी। इसलिये लोगों ने अपनी-अपनी गोटी बैठानी प्रारम्भ कर दी। दुर्भाग्यवश दलीय दरबारपन के कारण ऐसे लोग सम्पूर्णानन्द जी पर हावी होते गये, जो श्री गुप्त के विरोधी थे। वे सम्पूर्णानन्द जी का कान उनके विरुद्ध भरते रहे। उन्होंने इसके साथ उन्हें पूर्ण रूप से सत्ताविहीन करने के लिये महत्त्वपूर्ण अराजनैतिक पदों से भी अपदस्थ करना आरम्भ कर दिया। यह भीतरी संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर था, जब दल के प्रादेशिक अध्यक्ष के निर्वाचन की बात

आयी। यह पता लग गया था कि श्री गुप्त इसके लिये प्रतियोगिता में भाग लेंगे। कुछ लोगों ने सम्पूर्णानन्द जी को यह समझा दिया कि यदि सम्पूर्णानन्द जी इसे अपनी जीत या हार का प्रश्न बना देंगे तो श्री गुप्त हार जायेंगे। उनके विरुद्ध इन्होंने एक कमजोर प्रत्याशी को खड़ा किया जिसका प्रदेश की राजनीति में अपना कोई व्यक्तित्व नहीं था। उसके पक्ष में सम्पूर्णानन्द जी ने एक अपील निकाली जिसमें उसकी जीत उनकी जीत और उसकी हार उनकी हार कही गयी।

संयोगवश जिस दिन वह निर्वाचन होने वाला था उसी दिन अपने कुछ काम से मैं लखनऊ गया। ट्रेन से जाने वाले सदस्यों की बातों की भनक कानों में पड़ती रही। लखनऊ स्टेशन पर भी यही बात रही। वहाँ पहुँचने पर चाय पर भगवती बाबू ने वह अपील पढ़ने को दी जो जारी की गयी थी। अच्छी थी। किन्तु मैंने छूटते ही प्रश्न किया कि आप लोगों ने इस पर भी विचार किया है कि यदि सम्पूर्णानन्द जी हार जायेंगे तो तत्काल त्यागपत्र देकर हट जाने से उन्हें कोई रोक भी नहीं सकेगा जैसा कि उनका स्वभाव है। मैंने उन्हें यह भी बताया कि जैसी भनक पड़ी है उससे लगता है गुप्त जी जीत जायेंगे।

भगवती बाबू अवाक् रह गये। सच है उनके अत्यधिक निकट के व्यक्तियों ने, अत्यधिक आश्वस्तावस्था के सम्मोहन में इसकी कल्पना भी नहीं की थी। हुआ वही। सम्पूर्णानन्द जी त्यागपत्र देकर हट जाने के अपने संकल्प की बात कह दी। फलतः सब लोगों ने यहाँ तक कांग्रेस दल के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष ने भी समझाया कि इसके कारण त्यागपत्र देने का उनका नैतिक दायित्व नहीं हैं। वे माने नहीं। अन्त में श्री नेहरू ने उनसे कहा कि वे तब तक रुके रहें, जब तक वे स्वयं इस पर विचार करके उनसे न कहें। श्री नेहरू की यह बात उन्होंने मानी और तत्काल त्यागपत्र नहीं दिया। उसके उपरान्त बाहर ही बाहर घूमते नेहरू ने उन्हें एक पत्र लिखा, जिसे समाचारपत्रों में उसी समय छपने के लिये दे दिया। उसमें उन्हें पदत्याग करने का परामर्श दिया गया था।

इस सम्बन्ध में श्री मथाई की टिप्पणी (उसी पुस्तक में) इस प्रकार थी–"डॉ. सम्पूर्णानन्द का मुख्यमंत्रित्व बहुत अधिक दिनों तक नहीं रहा। वे चुपके से उत्तर प्रदेश से खिसका कर राजस्थान के राज्यपाल बना दिये गये जहाँ उन्हें उसके वृत्तों और पुराकथाओं के अनुसन्धान का समय और अवकाश था।" इसकी ध्वनि को समझा जा सकता है।

इस प्रकार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, उपयोगी, रचनात्मक, गौरवपूर्ण तथा सत्यनिष्ठ सक्रिय राजनैतिक जीवन पर अकाल पटाक्षेप हुआ।

आज हमारा जैसा जीवन दिखायी पड़ता है उसमें सत्ता में रहे हुए व्यक्तियों की जिस प्रकार की स्थिति है, उसके परिप्रेक्ष्य में यदि यह कहा जाय कि जो व्यक्ति उत्तर प्रदेश में लगभग 14 वर्षों तक मंत्री, 5 वर्षों तक मुख्यमंत्री, 5 वर्षों तक बाहर राज्यपाल रहा, इन सबसे अवकाश लेने के उपरान्त वह वित्तीय अभाव से ग्रस्त हो, सहसा इस पर कोई विश्वास नहीं करेगा। सम्पूर्णानन्द जी इन सब पदभारों से मुक्त होकर जब स्थायी रूप से वाराणसी वापस आये तब उनकी यही दशा थी। व्यय के मामले में उनका हाथ खुला हुआ था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कुछ लोगों की

वह वित्तीय सहायता करते रहे। अब अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये तथा सबके ऊपर जिन्हें सहायता देते थे, उस कार्य के लिये आय का साधन का न होना उनके लिये बहुत ही कष्टप्रद था। सबसे बड़ी बात तो यह थी जिस पैत्रिक भवन में वे रहते थे वह उनके लिये अब बहुत छोटा था। यही नहीं तीन भाइयों के बीच जिस छोटे से हिस्से में ये रहते थे, लखनऊ से वापस आने के उपरान्त उस भाग में श्री राजबिहारी सिंह के रहने की व्यवस्था की गयी थी।

यह तो काशी विद्यापीठ था, जिसने इस कठिन परिस्थिति में इनके लिये व्यवस्था की। कुलाधिपति के रूप में इनके रहने के लिये एक नया निर्माण कराकर निवास का प्रबन्ध किया गया। विशेष भत्ता दिया गया। इस प्रकार इस दुश्चिन्ता से मुक्ति मिली।

गठिया की व्याधि से पहले से ही ग्रस्त थे। किन्तु एक स्वाभिमानी तथा सत्यनिष्ठ जीवन बिताने वाले व्यक्ति को तोड़ने के लिये ये सब बातें पर्याप्त थीं। उनकी व्याधि ने गम्भीर रूप धारण किया।

चिकित्सा के लिये कुछ समय के लिये शिवप्रसाद गुप्त अस्पताल के एक निजी वार्ड में भी कुछ समय रहे। मैं जिस समय उन्हें देखने वहाँ पहुँचा उस समय वहाँ कोई नहीं था। उदय प्रताप महाविद्यालय की, अपने द्वारा सम्पादित पत्रिका उदयश्री के कुछ अंक ले गया था। उन्होंने रख लिया।

वे लेटे हुए थे। देखते ही उनके मुख से निकला "आप आये नहीं।"

सच्ची बात थी। वर्षों पहले कुछ घटना ऐसी हो गयी थी जिसके कारण मैं पहले प्रसाद परिषद् से अलग हो गया। नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति की सदस्यता से त्यागपत्र देकर बैठ गया। साहित्यिक आयोजनों और समारोहों से अपने को दूर कर लिया। किन्तु साहित्यिक कार्यों से इस वैराग्य का यह अर्थ नहीं था कि सम्पूर्णानन्द जी के प्रति मेरे मन में जो श्रद्धा-भावना थी, उसमें कभी किसी प्रकार की कमी आयी हो। मुख्यमंत्रित्व से उन्होंने जो त्यागपत्र दिया था उससे व्यक्तिगत रूप से दुःख अवश्य हुआ था। क्योंकि वे हमारे कुछ आदर्शों के प्रतीक बन गये थे। फिर भी उन्होंने जिस नैतिकता, गरिमा और मर्यादा का प्रदर्शन किया था वह हमारे लिये गौरव की बात थी। इसलिये उनके मुख से वह वाक्य सुनकर ठेस लगी। सिर नीचा किये चुप लगाये रहा इसके अतिरिक्त कहने के लिये कोई बात नहीं थी।

वहाँ का वह अकेलापन कुछ समय के उपरान्त मुझे खलने लगा। एक केवल सुमेर, उनके निजी सेवक के अतिरिक्त कोई और न दिखायी पड़े, यह अच्छा न लगने की ही बात थी। जब उन्हें विशेष परिचर्या या सेवा-सुश्रूषा की आवश्यकता नहीं थी तब तो वे लोगों से घिरे दिखायी पड़ते थे। आज जब वे व्याधिग्रस्त यहाँ पड़े हुए थे तब लोग दिखायी नहीं पड़ रहे थे।

स्वभाव से वे भीड़ बटोरने वाले व्यक्ति नहीं थे। भीड़ बटोर कर आगे बढ़े भी नहीं। कर्म पर उनका विश्वास था। उसी के बल वे ऊँचे उठे और आगे बढ़े भी। फिर भी वे सामाजिक व्यक्ति थे। नहीं भी होते तो राजनीति उन्हें बना देती। अपने अत्यंत व्यस्त कार्यक्रम में से रात्रि में आठ बजे से बारह बजे तक का समय निकाल कर आपस के लोगों से मिलते। बातचीत करते। विशेष

रस उन्हें बुद्धिजीवियों और साहित्यिकों से वार्त्तालाप करने में मिलता। वे प्रातः चार बजे उठ भी जाते।

इसी व्यस्त जीवन में से न जाने कैसे समय निकाल कर वे बराबर पुस्तकें पढ़ते रहते। पढ़े विना वे रह नहीं सकते थे। आरंभिक जीवन में 14-15 के वय में, जब वे ठठेरी बाजार में स्थित हरिश्चन्द्र स्कूल में अध्ययन कर रहे थे, कारमाइकेल लाइब्रेरी की पठनीय पुस्तकें पढ़ डाली थीं। इसी व्यस्तता के काल में लगभग बत्तीस पुस्तकें लिख डालीं। शेष सत्रह पुस्तकें पहले लिखी गयी थीं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें जेल के बाहर लिखी गयी थीं। ऐसा व्यस्त व्यक्ति जिसके क्षण-क्षण का लेखा-जोखा था, आज चुपचाप पड़ा था। पढ़-लिख नहीं सकता था। हम समझ सकते हैं किस आन्तरिक पीड़ा में वह तड़पता रहा होगा। यही समय था जब उसी कमरे में नहीं तो आस-पास ही कुछ लोगों को रहना चाहिए था।

इसके उपरान्त वे जब पुनः विद्यापीठ गये, तब उन्हें इस प्रकार का अकेलापन नहीं झेलना पड़ा। वे अधिक दिन इस संसार में रह भी नहीं सके। उनकी शवयात्रा जिस दिन हुई, यह मैं स्वीकार करूँगा कि जिस बनारस को उन्होंने वाराणसी बनाया, जिसके लिये उन्होंने इतना किया जितना दूसरा व्यक्ति नहीं कर सका था, उस नगर के कृतज्ञ वासियों का समूह, उस यात्रा के समय मार्ग भर कोने-कोने से उमड़ कर, उस विदाई के शोक में विह्वल होकर श्रद्धा के सुमन बिखेरता रहा।

इस अन्तिम यात्रा से सम्पूर्णानन्द के रूप में जो कुछ था, वह सब कुछ समाप्त नहीं हो गया। 1 दिसम्बर, 1890 (पौष शुक्ल 11 बुधवार, सं. 1846 वि.) को उन्होंने जालपादेवी के पैत्रिक निवास में अपनी आँखें खोलीं और 10 जनवरी, 1968 को काशी विद्यापीठ के उस स्थान पर जिसे आज हम कुलपति निवास के रूप में जानते हैं। अपनी आँखें मूँद लीं। उनका जीवन इन्हीं दोनों छोरों के बीच सिमट कर नहीं रह गया। यद्यपि इन दोनों छोरों के बीच में भी जो कुछ हुआ उनमें अपने अध्यवसाय और अपनी साधना से अर्जित सफलताएँ और उपलब्धियाँ असाधारण तथा विलक्षण हैं, जिन्होंने उनके यशःशरीर का रूप धारण कर काल की सीमाएँ तोड़ दी हैं। फिर भी वही सब कुछ नहीं है। उसके तल में एक अन्तःसलिला प्रवाहित हुई जो आज भी विद्यमान है। वह वाणी की धारा के रूप में है।

वह अपना अवगाहन करने के लिये आमंत्रित करती है, कहती है, मेरे पास आओ देखो स्वयं अनुभव करो इस विचारधारा के तल में जो थली है उसका आधार कितना चट्टानी है–"धर्मनिरपेक्ष राज्य के सम्बन्ध में मैंने जो लिखा है, उससे मेरे धर्म और मजहब सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म की ओर से मुँह फेर लेने से व्यक्ति और समाज की स्थायी क्षति होगी। किसी मत-मतान्तर का समर्थन नहीं कर रहा हूँ परन्तु **उस तत्त्व के प्रति श्रद्धा का भाव होना चाहिए जो विश्व में ओतप्रोत है, जिसमें विश्व स्थित है और जो विश्व के बाहर भी है। ऋग्वेद में एक सूत्र है, जिसमें बार-बार प्रश्न पूछा गया है, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'-हम**

किस देव के निमित्त हवि अर्पित करें ? हम उसे जानें या न जानें, परन्तु कुछ है जो हमको और सारे चराचर जगत् को प्रतिक्षण अनुप्राणित कर रहा है।"

स्वाभाविक रूप से सभी मनुष्य उसके अंश हैं, उसकी गरिमा से मंडित हैं। विना किसी भेद-भाव के सबका उन्नयन सबका सुख अभीष्ट है। यही उनके समाजवाद का दृढ़ आधार है। किन्तु वे इस परिप्रेक्ष्य में यह नहीं मानते कि संसार मिथ्या है, त्याज्य है। जिसमें वह व्याप्त है वह त्याज्य या मिथ्या कैसे हो सकता है ? वह कर्मभूमि है। ज्ञान और आनन्द का विषय है। उसका अनुसन्धान और अनुभूति करना हमारा लक्ष्य है, जिससे हम अपने कर्म का निर्धारण कर सकें। सम्यक् दर्शन की प्रतिष्ठा कर सकें।

उनके लिये दर्शन का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। जैसा दर्शन होगा उसी प्रकार का जीवन होगा। दर्शन को थोड़े से लोगों में सीमित कर हमने उसे बुद्धिविलास या मानसिक व्यायाम बना दिया। इसके साथ ही जीवन में जिस संतोषवाद को प्रश्रय मिला उसने संघर्षशीलता को कुंठित कर, अकर्मण्यता को प्रश्रय दिया, ऐसी स्थिति प्रगति के लिये बाधक होती है। यही कारण था जो देश को पतन के गर्त्त में गिरना पड़ा। उसे उठाने के लिये, अच्छा बनने के लिये, सम्यक् दर्शन नहीं दृढ़ आधारशिला चाहिए। उनके शब्दों में "जीवन को सुदृढ़ दार्शनिक आधारों पर न खड़ा करने का भीषण परिणाम आज पाश्चात्त्य जगत् में दिखाई पड़ा रहा है।"

यह सम्यक् दर्शन सम्यक् कर्म के आधार पर प्रतिष्ठित हो सकता है जो उनकी दृष्टि में धर्म है। धर्म की उनकी परिभाषा बड़ी सरल है–"जो कर्म निष्काम होकर यज्ञभावना से किया जाय, जिस कर्म से जीव-जीव में अभेद की वृद्धि हो, वह धर्म है।" इसके साथ ही उन्होंने इस रूप में धर्म के अंग की भी व्याख्या की है, "पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीड़न का निरंतर विरोध करना और सौहार्द्र, सहयोग, विश्वसंस्कृति तथा ऐक्यमूलक सदिच्छा के लिये उद्योग करना धर्म का अंग है।"

वे अपनी शिक्षा में उस सौंदर्य की उपासना को स्थान देने के पक्ष में हैं, जो परमतत्त्व की विभूति के रूप में है। "मेरी यह दृढ़ धारणा है कि जब तक हम अपनी शिक्षा में सौंदर्योपासना को स्थान न देंगे तब तक शिक्षा अधूरी रहेगी। शिक्षित अकृत्स्न रहेगा। हमारे चारों ओर सौंदर्य का सरोवर छलक रहा है। आकाश के तारों में, चटकती हुई कलियों में, भ्रमर के गुञ्जारों में, पक्षियों के कलरव में, बच्चों के हँसने में सौंदर्य ही सौंदर्य है। आँख खोलने की, उस रस के प्रवाह में निश्चेष्ट होकर अपने को डाल देने की आवश्यकता है। बचपन से ही और सब बातों के साथ-साथ सौन्दर्यानुभूति और कला, विशेषतः कलाओं के सम्राट् संगीत की शिक्षा मिलनी चाहिए। श्रुति कहती है–'रसो वै सः' परमात्मा रस स्वरूप है, प्रकृति उसका आभूषण है। सौंदर्यानुभूति शिवशक्ति की अभिन्न युगल मूर्त्ति का दर्शन है।"

उनके अनुसार जीवन में सत्य के अनुसन्धान का कार्य निरन्तर चलता रहता है। किसी समय का हमारा जो ज्ञान होता है, उससे उस समय का कर्म निर्धारित होता है और उसके आधार पर परिस्थितियों का निर्माण होता है। इसी प्रकार अनुसन्धान के द्वारा ज्ञान का उसके आधार पर कर्म

का और फिर परिस्थितियों के संस्कार की प्रक्रिया चलती रहती है। इस रूप में प्रगति का क्रम अविच्छिन्न रूप से पूर्ण सत्य की ओर अग्रसारित होता रहता है।

उनकी ये मान्यताएँ उनके 'जीवन और दर्शन' और 'चिद्विलास' ग्रंथों में मिलती हैं। चिद्विलास में उन्होंने योगमार्ग का समर्थन किया है, जिसमें इस पर बल दिया गया है कि साधना के द्वारा ही चित्तवृत्तियों के निरोध के साथ आत्मसाक्षात्कार संभव हो सकता है।

इन विचारों में उस समय के राष्ट्रीयतावाद, गाँधीवाद तथा समाजवाद का वेदांत के आधार पर एक अपूर्व सामंजस्य मिलता है। इनकी हमारे जीवन में कितनी उपयोगिता और कितनी सार्थकता है यह तब हम और अच्छी तरह समझ सकते हैं जब आज के अपने जीवन और उसकी दशा पर विचार करते हैं। नैतिक आधारों से विरहित हमारा यह समाज किस ओर जा रहा है इस पर ध्यान देने के साथ ही सम्पूर्णानन्द जी के इन शब्दों की प्रासंगिकता भी प्रत्यक्ष हो जाती है–"जीवन को सुदृढ़ दार्शनिक आधारों पर न खड़ा करने का परिणाम ....।"

परिशिष्ट 1: रचनाएँ

खोज करने पर हिन्दी और अंग्रेजी की इन 49 पुस्तकों की सूची मिलती है, जो उनके द्वारा रची गयी हैं। सम्भव है कुछ और भी पुस्तकें हों जो इस सूची में न आ पायी हों–

हिन्दी

(1) धर्मवीर, (2) महाराजा छत्रसाल, (3) भौतिक विज्ञान, (4) ज्योतिर्विनोद, (5) भारतीय सृष्टिक्रम विचार, (6) भारत के देशी राज्य, (9) चेत सिंह और काशी का विद्रोह, (8) सम्राट् हर्षवर्द्धन, (9) महादाजी सिन्धिया, (10) चीन की राज्यक्रान्ति, (11) मिश्र की स्वाधीनता, (12) सम्राट् अशोक, (13) अन्ताराष्ट्रिय विधान, (14) समाजवाद, (15) साम्यवाद का बिगुल, (16) व्यक्ति और राज, (17) आर्यों का आदि देश, (18) जीवन और दर्शन, (19) ब्राह्मण सावधान, (20) चिद्विलास, (21) गणेश, (22) भाषा की शक्ति, (23) ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त, (24) वेदमंत्रों के प्रकाश में, (25) हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान, (26) समाजवाद, प्रशासन और हम, (27) वेदार्थ-प्रवेशिका, (28) अलकनन्दा, (29) व्रात्यकाण्डम्, (30) समिधा, (31) ग्रहनक्षत्र, (32) गगनगुफा, (33) भारतीय बुद्धिजीवी, (34) हिन्दू देव परिवारों का विकास, (35) पृथ्वी से सप्तर्षिमण्डल, (36) कुछ स्मृतियाँ और कुछ विचार, (37) खयाले फकीर, (38) भारतीय समाजवाद, आर्थिक संयोजन और विकेन्द्रीकरण, (39) अधूरी क्रान्ति, (40) स्फुट विचार, (41) अन्तरिक्ष शास्त्र।

अंग्रेजी

(42) When we are in power, (43) Cosmology in Indian Thought, (44) Individual and State, (45) The Trial of our Demoracy, (46) Space Travels; (47) Evolution of The Hindu Pantheon, (48) The Crisis in Perspective (49) Memoirs and Reflections.

परिशिष्ट 2: शिक्षा एवं उपाधि

(1) हाई स्कूल–हरिश्चन्द्र स्कूल वाराणसी,. (2) बी. एस. सी.–क्वीन्स कॉलेज वाराणसी (इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध), (3) एल. टी.–टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, (4) डाक्टर ऑफ लिटरेचर–लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, (5) मंगला प्रसाद पारितोषिक, 1945, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, (6) मुदारका पुरस्कार ।

परिशिष्ट 3: सेवायें

(1) हरिश्चन्द्र स्कूल, वाराणसी, अध्यापक, (2) प्रेम विद्यालय, वृन्दावन, अध्यापक, (3) डेली कालेज, इन्दौर, अध्यापक, (4) राजकीय स्कूल, बीकानेर, प्राचार्य, (5) काशी विद्यापीठ, वाराणसी प्राध्यापक (दर्शन अन्ताराष्ट्रिय विधान)।

परिशिष्ट 4: सम्पूर्णानन्द जी के जीवन के महत्त्वपूर्ण समय

(1) 1921–बीकानेर विद्यालय के प्राचार्य पद से त्यागपत्र देकर असहयोग आन्दोलन में भागीदारी,

(2) 1921–स्वराज पार्टी में सम्मिलित,

(3) 1924–गया हिन्दू महासभा सम्मेलन में सम्मिलित,

(4) 1925–अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्य निर्वाचित, वाराणसी म्यू. बोर्ड के सदस्य निर्वाचित। शिक्षा, चुंगी, स्वास्थ्य समिति के अध्यक्ष,

(5) 1926–बनारस शहर संयुक्त प्रांत कौंसिल के सदस्य निर्वाचित,

(6) 1927–संयुक्त प्रान्त कांग्रेस समिति के प्रधान सचिव के रूप में नियुक्ति,

(7) 1928–इंडिपेंडेस आव इण्डिया लीग के सदस्य मनोनीत–साइमनकमीशन के बहिष्कार का नेतृत्व,

(8) 1930–नमक सत्याग्रह में भागीदारी के लिये प्रान्तीय काउंसिल से इस्तीफा वर्ष भर का कारावास दण्ड,

(9) 1932–सविनय अवज्ञा आन्दोलन में गिरफ्तारी,

(10) 1934–कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में सहयोग, बम्बई में दूसरे अधिवेशन का सभापतित्व,

(11) 1935–लखनऊ कांग्रेस में स्वयंसेवकों के सेनापति,

(12) 1937–चुनाव में प्रान्तीय विधानमंडल के लिये निर्वाचित गोविन्दवल्लभ पन्त मंत्रिमंडल में शिक्षामंत्री,

(13) 1939–अंग्रेजी सरकार से मतभेद के कारण कांग्रेस सरकार के साथ इस्तीफा,

(14) 1940–व्यक्तिगत सत्याग्रह में डेढ़ वर्ष की सजा,

(15) 1942–अगस्त के भारत छोड़ो आन्दोलन में सम्मिलित, गिरफ्तार, कारावास दण्ड,

(16) 1943–ना. प्र. सभा तथा प्रसाद परिषद् के अध्यक्ष,

(17) 1946–चुनाव में प्रान्तीय विधानसभा के लिये पुनः निर्वाचित, शिक्षा, श्रम तथा सूचना मंत्री के रूप में नियुक्ति,

(18) बेसिक शिक्षा का आरम्भ–छात्र सैनिक शिक्षा तथा स्त्रीशिक्षा का प्रसार,

(19) 1948–सान फ्रांसिस्को (अमेरिका) के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित,

(20) 1949–संस्कृत शिक्षा में सुधार, समानता के आधार पर संस्कृत अध्यापकों को नया वेतनमान, संविधान सभा में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के उद्योग का नेतृत्व,

(21)1954–उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री,

(22) 1955–संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की स्थापना, हिन्दी समिति के माध्यम से पुस्तक प्रकाशन तथा साहित्यिकों को पुरस्कृत करने की योजना की स्वीकृति-साहूपुरी, मुगलसराय, मडुआडीह उद्योग-केन्द्र, डीजल कारखाना आदि उद्योगों का आरम्भ–सारनाथ का विकास, श्रम-न्यायालयों की स्थापना तथा श्रमिकों के रक्षण की योजनाएँ,

(23) 1958 (से 1969 तक) नागरी प्रचारिणी सभा के पुनः अध्यक्ष,

(24) 1961–मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र तथा राजस्थान के राज्यपाल,

(25) 1966–राजस्थान से वापसी,

(26) 1966-69–काशी विद्यापीठ के कुलाधिपति के रूप में कार्य–रुग्णावस्था-निधन।

उपर्युक्त परिशिष्टों में सं. 2,3 तथा 4 की सामग्री सम्पूर्णानन्द जी के सम्बन्ध में प्रकाशित नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की स्मारिका से ली गयी है और एतदर्थ लेखक सभा का आभारी है।

●

डॉ. सम्पूर्णानन्द अनुपमेय मनीषी

डॉ. कमलापति मिश्र



श्रद्धेय बाबूजी,

[illegible]

आपका स्नेहांकित
कमलापति

काशी
११।४।५५

प्रिय कमलापति जी,

[illegible]

आपका,
सम्पूर्णानन्द
१२.४.५५

जगद्भर्ताऽपि यो भिक्षुः,
लोकावासोऽनिकेतनः ।
विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासाः ।
तस्मै कस्मै नमो नमः ॥

सम्पूर्णानन्द
१०.८.४८

पुण्यश्लोक डॉ. सम्पूर्णानन्द द्वारा निर्मित इस प्रार्थना का आशय यह है कि जो विश्व का भरण-पोषण करता है, पर स्वयं भिक्षुक है; जिसमें सम्पूर्ण जगत् का निवास है, पर स्वयं गृह-विहीन है; जो विश्व भर का आवरण है, पर स्वयं दिगम्बर है–ऐसे उस परमात्मा शिव को वारंवार नमस्कार है । डॉ. सम्पूर्णानन्द ऐसे ही शिव के शब्दान्तर थे। लौकिक और आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न डॉ. सम्पूर्णानन्द का जीवन ऐसे ही शिव का-सा था, जिसका नमस्कार उन्होंने अपनी प्रार्थना में किया है।

वैक्रम संवत् की पौष शुक्ल एकादशी, बुधवार, तदनुसार १८९० ई. की पहली जनवरी को काशी में डॉ. सम्पूर्णानन्द का अवतरण हुआ । पिता श्री विजयानन्द और महिमामयी माता श्रीमती आनन्दी देवी के जीवन की सादगी तथा सच्चरित्रता का डॉ. सम्पूर्णानन्द पर स्थायी प्रभाव पड़ा । दस-बारह वर्ष की अवस्था में ही उन्हें बाहरी पुस्तकों के पढ़ने का शौक हुआ, जो अंत तक जारी रहा ।

डॉ. सम्पूर्णानन्द १९२१ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य हुए । १९२४ में काशी विद्यापीठ में अध्यापन प्रारंभ किया । १९२६ में प्रान्तीय धारा-सभा के सदस्य हुए । १९३० से १९३२ तक जेल में रहे । १९३५ में उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मंत्री और कौंसिल के सदस्य हुए । १९३८ में उत्तर प्रदेश के प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल में शिक्षा-मंत्री हुए । १९३९ में शिक्षामंत्रित्व से त्याग-पत्र दिया । १९४२ में नज़रबंद हुए । १९४६ के कांग्रेसी मंत्रिमंडल में पुनः शिक्षामंत्री हुए । १९५२ में उत्तर प्रदेश के गृहमंत्री हुए । १९५४ में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री निर्वाचित हुए । १९५७ में पुनः मुख्यमंत्री हुए । १९५९ में मुख्यमंत्री-पद से त्यागपत्र दिया । १९६२ से १९६७ तक राजस्थान के राज्यपाल नियुक्त हुए । १० जनवरी, १९६९ को काशी में स्वर्गवास हुआ । यह थी–उनकी संक्षिप्त जीवन-यात्रा ।

हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसी, अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी भाषाओं पर डॉ. सम्पूर्णानन्द का असामान्य अधिकार था । लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर उनको डॉक्टरेट की उपाधि

से सम्मानित करते हुए उत्तर प्रदेश की तत्कालीन राज्यपाल श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कहा था– 'सम्पूर्णानन्द जी विद्वानों में विद्वान् हैं। मुझे उन पर गर्व है।'

डॉ. सम्पूर्णानन्द के ज्ञान की सीमा असाधारण थी। काव्य, चित्र, संगीत, साहित्य, विज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व आदि नाना विषयों पर उनका अधिकार बहुत ही मौलिक था। वे अपनी आस्था और विश्वास के प्रति सर्वथा समर्पित थे। स्वर्गीय डॉ. किशोरीदास वाजपेयी ने उन्हें 'सिद्धान्तसर्वस्व' कहा था। सचमुच उन्होंने आजीवन अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध कभी कोई समझौता नहीं किया।

मैं अपने से संबद्ध एक पुरानी बात का यहाँ स्मरण करूँगा। काशी से प्रकाशित होने वाली 'हंस' पत्रिका में मैं उन दिनों कार्य कर रहा था। 'हंस' में प्रकाशनार्थ डॉ. सम्पूर्णानन्द का एक लेख आया। लेख में प्रयुक्त कतिपय शब्दों के प्रसंगोपात्त अर्थ पर मुझे संदेह हुआ। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने बड़े ध्यान से मेरी बात सुनी और तत्काल उन शब्दों के उन-उन अर्थों के प्रयोग के अनेक पुराने उल्लेख बताये।

डॉ. सम्पूर्णानन्द की प्रत्येक पुस्तक के प्रकाशित होते ही मैं बड़े ध्यान से उसे पढ़ जाता था। 'गणेश' पुस्तक पढ़ते समय एक स्थल पर मुझे संदेह हुआ और बिना दूर तक सोचे ही एक छोटी-सी चिट लिखकर भेज दी–

"श्रद्धेय बाबू साहब,

प्रणाम। 'गणेश' पुस्तक के ३० वें पृष्ठ के दूसरे पैरे में एक शब्द 'विद्वदोचित' छपा है। अगर प्रेस की भूल नहीं है, तो शब्द की शुद्धि पर मुझे संदेह है। आशा है, आप इस पर प्रकाश डालेंगे।

हंस,
काशी
11. 4. 45,

आपका स्नेहांकित
कमलापति"

तत्काल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने उसी चिट पर निम्नांकित पंक्तियाँ लिख भेजीं-

"प्रिय कमलापति जी,

यह अवश्य ही प्रेस की भूल होगी। ऐसा मैं इसलिए नहीं कहता हूँ कि मुझे यह गर्व है कि मुझसे भूल नहीं हो सकती। भूलें बराबर करता हूँ। पर वहाँ 'उचित' शब्द का प्रसंग नहीं है। संभवतः विद्वद्रचित रहा होगा। इस समय मेरे पास मैनुस्क्रिप्ट नहीं है। आपका कहना ठीक है : विद्वदोचित व्याकरण से अशुद्ध है। यह हो सकता है कि मैं ही जल्दी में विद्वद्रचित के स्थान में विद्वदोचित लिख गया हूँ। उस दशा में मुझसे दुहरी गलती हुई होगी, अर्थ की और भाषा की।

आपका
सम्पूर्णानन्द
12. 4. 45.

डॉ. सम्पूर्णानन्द शब्दों की मूल उत्पत्ति, विभिन्न समयों और सम्प्रदायों में उनके प्रयोग और तदर्थ-बोधक अन्य शब्दों की समानता तथा उनके वर्तमान प्रयोग के औचित्य पर विस्तार से चर्चा करते थे।

बहुत दिनों पहले आकाशवाणी में कालिदास-जयन्ती नहीं मनायी जाती थी। निदेशालय से जब पहली बार कालिदास-जयन्ती मनाने का आदेश आया, तो मैं डॉ. सम्पूर्णानन्द की वार्ता से उसका शुभारंभ करने का निश्चय लेकर उनकी सेवा में पहुँचा। डॉ. सम्पूर्णानन्द मेरी बात सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले: 'कालिदास-जयन्ती के दिन संस्कृत में ही उन पर कुछ कहना उचित होगा।' उन दिनों आकाशवाणी में कोई कार्यक्रम संस्कृत भाषा में नहीं होता था। मैंने दूसरे दिन केन्द्र-निदेशक से परामर्श करके डॉ. सम्पूर्णानन्द से प्रार्थना की : 'आप संस्कृत भाषा में अपने विचार व्यक्त करने की कृपा करें।' डॉ. सम्पूर्णानन्द ने मेरी प्रार्थना को हर्षपूर्वक स्वीकार करके कालिदास पर अत्यन्त सारगर्भित वार्ता प्रसारित की। वार्ता को सुनकर अनेक विद्वानों ने उनकी साहित्यिक सूक्ष्म पकड़ और अपूर्व वैदुष्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

संस्कृत के प्रति डॉ. सम्पूर्णानन्द का अनुराग प्रसिद्ध है। वे आजीवन प्रयत्न करते रहे कि संस्कृत भाषा का अपने देश में व्यापक प्रचार हो। उनके अध्ययन-अध्यापन का समुचित प्रबन्ध हो। उन्होंने इस दिशा में अनेक स्तुत्य प्रयत्न किये थे। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। बाद में उनके प्रति श्रद्धा-स्वरूप इस विश्वविद्यालय का नाम सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय हो गया। अपने मुख्यमंत्रित्व-काल में डॉ. सम्पूर्णानन्द ने सूचना विभाग द्वारा पंचवर्षीय योजना का प्रारूप भी संस्कृत भाषा में प्रकाशित कराया था। संस्कृत-प्रचारिणी संस्थाओं के अधिकारी जब किसी अन्य भाषा में कोई प्रार्थना-पत्र लेकर उनकी सेवा में पहुँचते और प्रार्थना-पत्र देते थे, तो संस्कृत में प्रार्थना-पत्र न देखकर उन्हें बड़ा क्षोभ होता था और प्रार्थी से कहते : 'आप लोग ही अपने कर्तव्य का पालन न करेंगे, तो औरों को संस्कृत लिखने का उत्साह कैसे होगा !' डॉ. सम्पूर्णानन्द के स्वाभाविक माधुर्य के सम्बन्ध में एक स्थान पर श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा है :

"राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वालों को बीसियों समझौते करने पड़ते हैं और जिन्हें शासक बनने का दुर्भाग्य प्राप्त होता है, उनके विषय में तो बीसियों ग़लतफ़हमियाँ होती रहती हैं। सम्पूर्णानन्द जी भी इस नियम के अपवाद नहीं। एक दिन रात के बारह-साढ़े बारह बजे आप रेडियो सुन रहे थे। दिन भर के हारे-थके थे। लखनऊ में आपके बँगले के आस-पास चक्कर काटने वाले कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने समझा कि सम्पूर्णानन्द जी की कोठी पर नाच-गाना हो रहा है। वे महाशय अपने हाई स्कूल के लिए डेपूटेशन लेकर गये थे और इसके लिए रात का ही वक्त उन्होंने मुनासिब समझा था। जब सम्पूर्णानन्द जी से वे मिले, तो उन्होंने अपनी आशंकाएँ प्रकट कीं कि हम तो आधे घंटे से चक्कर लगा रहे थे। पर यह समझकर कि आपकें यहाँ गाना हो रहा है, नहीं आये।

'और लोकापवादों का क्या कहना ! जिस देश में महात्मा जी के विषय में भी यह अफ़वाह फैलाने वाले मौजूद रहे हों कि उन्होंने अहमदाबाद में अपने लड़कों के लिए मिल खुलवा दी थी, उस देश में सम्पूर्णानन्द जी जैसे व्यक्तियों को कौन बख्श सकता है ? उन फ़ालतू आक्षेपों की चर्चा न करके हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि सम्पूर्णानन्द जी की ईमानदारी तथा निस्स्वार्थ-भावना पर शंका करने वाले व्यक्ति घोर भ्रम में हैं। हमें आश्चर्य इस बात का है कि इन ग़लतफ़हमियों के बावजूद वे अपने स्वभाव के माधुर्य की रक्षा कैसे कर सके हैं। एक बार मैंने उन्हें लिखा कि शासकों को मद हो जाता है। उसका जवाब सुन लीजिए–

'मद शासन में भले ही हो, पर क़लम चलाने में भी है। मद का अर्थ क़लम भी हो सकता है। सो कैसे ? देखिए–

मनीम् ददातीति मदः। मनीति धनम्। को धनं ददाति इति चेत्–न तत्र शंका–स्थलं विद्यते। कलमो धनं ददातीति सुनिश्चितम्–

कलम गोयद कि मन शाहे जहानम्।
कलम क शरा बदौलत भी रसानम् ॥

इति श्रवणात्। तस्माद लेखनी एव मदः। आत्मा वै जायते पुत्रः इति न्यायात् लेखनमपि मदः। पारसीक–वाक्यस्यायमर्थः कलमो ब्रूतेऽहम् जगतो राजा यतो लेखकं धनसमीपमानयामि।

सस्नेह
सम्पूर्णानन्द'

समाजवाद के महान् व्याख्याता और नेता होने के साथ-साथ डॉ. सम्पूर्णानन्द मूर्धन्य साहित्यकार थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनकी गणना प्रथम पंक्ति में होती थी। उन्होंने कई मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों का सम्पादन किया था। ज्ञानमंडल से प्रकाशित अंग्रेजी पत्र 'टुडे' का भी संपादन उन्होंने किया था। उनकी अंग्रेजी के सम्बन्ध में एक अंग्रेज़ आई. सी. एस. सेक्रेटरी ने अपने साथियों से एक बार कहा था : 'सम्पूर्णानन्द जैसी अंग्रेजी बोलते हैं, वैसी अंग्रेज़ी हममें से बहुत लोग लिख भी नहीं सकते।'

डॉ. सम्पूर्णानन्द के लेखन, सम्पादन, चिन्तन आदि के सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव ने ठीक ही लिखा है :

'श्री सम्पूर्णानन्द विद्याव्यसनी हैं। कई शास्त्र के विद्वान् हैं। लिखते भी तेज़ हैं। बोलते भी तेज़ हैं। कमेटियों में बैठे हुए भी कभी-कभी लेख लिख डालते हैं। मेरे लिए तो यह काम सर्वथा असंभव है। फिर उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और आज भी यह काम बन्द नहीं हुआ है। मंत्रियों में सबसे अधिक विभाग उन्हीं के सुपुर्द हैं। पर उनका काम कभी पिछड़ा नहीं और साथ-साथ वे अपना पढ़ना-लिखना भी जारी रखते हैं। हिन्दी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार है। 'चिद्विलास' इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। आर्यों के आदिम-स्थान पर उनका जो ग्रंथ निकला है, वह उनके चिंतन और विद्वत्ता का परिचायक है। हमारी पीढ़ी के जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में हैं, उनमें

वे सबसे अधिक विद्वान् हैं। इतिहास, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, समाजशास्त्र और साहित्य का उनका अच्छा अध्ययन है। लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनकी चित्रकला में भी अभिरुचि है। चित्रों का संग्रह करने का उन्हें बड़ा शौक़ है। वे पत्रकार भी रह चुके हैं। ज्ञानमण्डल से कुछ दिनों तक अंग्रेज़ी का एक पत्र निकला था। उसका सम्पूर्णानन्द जी सम्पादन करते थे। कुछ दिनों तक काशी से समाजवादी दल की ओर से हिन्दी का एक साप्ताहिक सन् १९३५ में निकला था। उसका भी सम्पादन वही करते थे।'

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अगाध निष्ठा और उसके विविध विषयों की कृतियों के अभाववश डॉ. सम्पूर्णानन्द ने अपनी रचनाएँ हिन्दी में ही प्रस्तुत कीं। उन्होंने ग्रह-नक्षत्रों के सम्बन्ध में लखनऊ के आकाशवाणी केन्द्र से हिन्दी में कई वार्ताएँ प्रसारित की थीं। संस्कृतज्ञों के ज्ञानार्थ उन वार्ताओं का संस्कृत में अनुवाद करके मैंने उन्हें दिखाया। मेरे हर्ष की सीमा न रही कि डॉ. सम्पूर्णानन्द को मेरा प्रयत्न प्रिय लगा और उन्होंने सम्बद्ध पाण्डुलिपि की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मेरे द्वारा अनूदित यह पुस्तक 'ग्रह-नक्षत्राणि' नाम से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। उनके 'समाजवाद' और 'गणेश' नाम के ग्रंथों के कई भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। उनके प्रसिद्ध दर्शन-ग्रंथ 'चिद्विलास' का संस्कृत में अनुवाद हुआ है। उनके लिखे छोटे-छोटे ग्रन्थ लगभग पचास हैं। वैसे तो डॉ. सम्पूर्णानन्द की प्रत्येक कृति का असाधारण महत्त्व है। पर उनमें 'समाजवाद', 'ज्योतिर्विनोद', 'गणेश', 'ऋग्वेदीय पुरुष–सूक्त की श्रुति–प्रभा टीका', 'भौतिक विज्ञान', 'व्यक्ति और राज्य', 'गगनगुफा' आदि की विद्वानों में बड़ी चर्चा हुई है। हिन्दी में वैज्ञानिक कहानियों का अभाव देखकर उन्होंने 'पृथ्वी से सप्तर्षि–मंडल' नाम का अपनी कहानियों का एक संग्रह भी प्रकाशित कराया था। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और ब्रजभाषा में उच्च कोटि की फुटकर कविताएँ भी लिखी थीं। डॉ. सम्पूर्णानन्द के 'समाजवाद' पुस्तक के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का प्रस्तुत पत्र द्रष्टव्य है:–

"सेगाँव, वर्धा

27. 7. 37

भाई सम्पूर्णानन्द,

आपकी पुस्तक मैं तीथल ले गया था, वहीं पढ़ने का आरम्भ कर दिया था। गत शनिवार ता. 24.7.37 को यह ख़त्म की। थोड़ी भी मिनिट मिल जाते थे, तो पढ़ लेता था। ध्यान से 'अथ' से इति तक पढ़ गया हूँ। मुझको पुस्तक अच्छी लगी। भाषा भी मधुर है। जो संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते हैं, उनके लिए कठिन भी मानी जाय। अंत में हिन्दी-अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्द-कोष दिया है। वह अभ्यासी के लिए उपयोगी है। बग़ैर किसी की निन्दा किये समाजवाद के पक्ष में जो कुछ लिखा गया है, वो स्तुत्य है।

समाजवाद के जो सिद्धान्तों का निरूपण पुस्तक में किया गया है, करीब-करीब उन सबको स्वीकार करने में मुझको कोई आपत्ति नहीं है। जयप्रकाश की पुस्तक भी मैं ध्यान से पढ़ गया हूँ।

आपके और उनके निरूपण में कुछ भेद हो सकता है क्या ? हिन्दोस्तान में अन्त में क्रान्ति कैसे होगी, उसका स्पष्टिकरण मैंने न आपकी पुस्तक में पाया है–न जयप्रकाश की में। बहुतों से भी बात करने से मुझे पता नहीं चला। परसों मेरे हाथ में मेहरअली ने मद्रास में जो एक भाषण दिया है, आज उसे मैंने पढ़ लिया। उसमें समाजवादी क्या कर रहे हैं, वह ठीक तौर से बताया गया है। उसका मतलब यह है कि हर जगह में बलवा पैदा कर देना। ऐसे तो बगैर अहिंसा के हो ही नहीं सकता। आपकी पुस्तक में ऐसा कुछ नहीं पाया है। शांति अर्थात् शांत कानून भंग से, शांत असहयोग से–जैसा कि हम सन् १९२० से करते आये हैं। उससे हम शक्ति पैदा कर सकते हैं कि नहीं ?

आपने लिखा है कि समाजवाद के सिद्धान्तों का पूर्णतया अमल जब तक राज्याधिकार प्राप्त नहीं हुआ, तब तक नहीं हो सकता है। माना कि कोई बड़ा जमीनदार पूर्णतया समाजवादी हो जाता है, तो वह अपने सिद्धान्तों का पूर्णतया अमल कर सकता है ? कहा जाय कि उसके हाथ में दण्ड नहीं है, तो कोई हिन्दी राजा समाजवादी बन जाय तो पूरा अमल हो सकेगा ? मुझे ऐसा स्मरण है कि आपने लिखा है कि जब तक सारा जगत् समाजवादी न बने, तब तक समाजवाद का सम्पूर्ण अमल नहीं हो सकता है। इसका यह मतलब है कि यदि हमें पूर्ण स्वाधीनता हासिल हो, तब भी समाजवाद का पूर्ण या करीब-करीब अमल नहीं हो सकेगा। शायद मेरा मतलब आप समझ गये हैं। इस प्रश्न पूछने का हेतु इतना ही है कि समाजवादी सिद्धान्त और उसके अमल के जो साधन हैं, उनको मैं कहाँ तक स्वीकार कर सकता हूँ, सो जाँनु।

इस पत्र का उत्तर यथावकाश भेजिएगा, मुझे कोई जल्दी नहीं।'

आपका

मो. क. गाँधी"

डॉ. सम्पूर्णानन्द अपने समकालीनों में बुद्धि, मति और प्रतिभा के अनुपमेय मनीषी थे। वे बहुविध व्यक्तित्व के धनी थे। उनका राजनीतिक जीवन आदर्श था। देश और प्रदेश उनकी न्याय-निष्ठा, साहस और प्रशासन-कौशल का सदा ऋणी रहेगा। वे परम मेधावी, नेता, प्रशासक, पंडित, गृहस्थ, संन्यासी, कवि, लेखक और ललित-कलाओं के परम व्रती के रूप में सदा समाज को प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे।

●

स्वतन्त्रचेता डॉ. सम्पूर्णानन्द

श्री हृदयनारायण सिंह

श्री सम्पूर्णानंद जी के स्वर्गवास के पश्चात् हम उनके पुत्र श्री सर्वदानंद जी के पास सम्वेदना प्रगट करने गये। उन्होंने बतलाया कि पिता जी एक काठ की छोटी सन्दूक बड़ी हिफाजत से रखते थे। उसकी कुञ्जी उन्हीं के पास रहती थी। हम समझते थे कि उसमें कोई अच्छी धनराशि या बहुमूल्य वस्तु होगी। हमने कुतूहलवश उसे खोला तो उसमें मात्र ६ रूपयों के सिक्के मिले। यही उनकी हमारे लिए धरोहर थी।

उन्होंने न बैंक-बैलेंस छोड़ा न भूमि या भवन अर्जित किया, न विरासत में छोड़ा। न अपने पुत्र तथा भ्राताओं में से किसी को मुख्यमंत्री, शिक्षामंत्री या राज्यपाल के पद पर आसीन कराने का प्रयास किया जैसी कि हमारे देश में कुत्सित परम्परा बनती जा रही है। वे उच्च सांस्कृतिक धरातल पर रहने वाले व्यक्ति थे। एमर्सन के अनुसार कोई सुसंस्कृत व्यक्ति धन संग्रह नहीं कर सकता। "अन्धं तत्र प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते।" धन वैभव के समक्ष पराभूत होने वाले वे व्यक्ति नहीं थे। स्वतन्त्रता संग्राम के प्रथम खेवे के कैवर्त्तक तो गरीबी को वरणं करने वाले, लक्ष्मी को दुलत्ती मारने वाले पुरुष-श्रेष्ठ तिलक ,गोखले, गांधी, पटेल आदि थे पर द्वितीय खेवे के भी राजनेता गोविन्द-बल्लभ पंत, राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचारी, आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्दजी, आचार्य कृपलानी, पुरुषोत्तमदास टंडन इत्यादि व्यक्तिगत धन-संग्रह को हेय समझने वाले, उज्ज्वल चरित्र के, त्याग-वृत्ति-सम्पन्न व्यक्ति थे। सम्पूर्णानन्द जी मनोराज्य में विचरण करने वाले मनीषी थे और महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल के अनुगामी होते हुए भी उनका अपना विचार स्वतन्त्र था। आचार्य नरेन्द्र-देव, पुरुषोत्तमदास टंडन, आचार्य कृपलानी की तरह वे सैद्धान्तिक मतभेद के कारण कांग्रेस की सत्तारूढ़ टुकड़ी से अलग या उसके कार्यकलाप से उदासीन तथा तटस्थ नहीं हुए पर वे किसी के अंधे अनुगामी कभी नहीं रहे और कांग्रेस में किसी विशेष गुट को उन्होंने बढ़ावा या समर्थन। कभी नहीं दिया। वे प्लेटो की कल्पना के शाही राजनीतिज्ञ थे। सम्पूर्णानन्दजी कांग्रेस नेतृ-वर्ग के उन लोगों में थे जो स्वाध्यायी थे, जो विद्वान् थे, विषयों के ज्ञाता थे, जो सोचते-विचारते थे। इतिहास, पुरातत्व, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, काव्य साहित्य, शिक्षाशास्त्र के वे मर्मज्ञ थे और उनके अपने मौलिक सिद्धान्त थे। 'आर्यों का आदि देश' नामक उनकी पुस्तक उनके इतिहास के अध्ययन तथा चिन्तन का फल है और उनका 'गणेश' नामक ग्रन्थ उनके पुरातत्व सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है।

उनकी पुस्तक 'अधूरी क्रांति', लोकनायक जयप्रकाश द्वारा प्रेरित, संचालित सम्पूर्ण क्रान्ति के पहले की चिन्तनधारा है। वे समाजवाद के पोषक थे, केवल वचनों से ही नहीं, कर्म से, व्यवहार से भी।

उन्होंने अध्यापन कार्य के लिए अपने को तैयार किया। वे बी. एस. सी., एल. टी. थे और वृंदावन, बीकानेर में अध्यापन कार्य कर उन्होंने ज्ञानमंडल काशी में शिवप्रसाद गुप्त के आग्रह से आकर काम संभाला और काशीविद्यापीठ के खुलने पर उसमें अध्यापक हो गये। पं. कमलापति त्रिपाठी उनके शिष्यों में थे। त्रिपाठी जी उन्हें अपना गुरु मानते हैं और वे सदा उनके प्रति श्रद्धावनत रहे। सम्पूर्णानन्द जी की मृत्यु के पश्चात् विरोध के बावजूद पं. कमलापति त्रिपाठी ने वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय का नाम सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय कर दिया।

सम्पूर्णानन्दजी अपनी विद्वत्ता, अपनी समाज सेवा, अपने नेतृत्व शक्ति के आधार पर विभिन्न कालों में शिक्षा मंत्री, मुख्यमंत्री तथा राज्यपाल रहे। किन्तु अपने विभिन्न उच्च प्रशासनिक कार्यकलापों में वे विशेष रूपसे शिक्षामंत्री के रूप में प्रसिद्ध रहे और स्मरणीय हैं। उत्तर प्रदेश में 1937 में जब कांग्रेस ने शासन सूत्र अपने हाथ में लिया तब सम्पूर्णानन्दजी को शिक्षा विभाग का उत्तरदायित्व सौंपा गया। 1938 में ही प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा की तत्कालीन व्यवस्था की जांच के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता और डा. आई. आर. खान के सचिवत्व में एक समिति का गठन हुआ जिसने अपनी विस्तृत आख्या प्रस्तुत की। शीघ्र ही कांग्रेस शासन समाप्त हो जाने के बाद उसकी सिफारिशों को लागू करने का मौका नहीं मिला।

कई वर्षों के अन्तराल के बाद 1946 में पुनः कांग्रेस उत्तरप्रदेश में शासनारूढ़ हुई और सम्पूर्णानन्दजी के हाथों में शिक्षा मंत्रालय का संचालन-सूत्र आया। 1948 में उन्होंने प्रदेश में पुनर्गठन योजना लागू की जिसके अन्तर्गत हाई स्कूल तथा इण्टर परीक्षाओं के लिए 4 विषय समूह–साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक एवं कलात्मक-निर्धारित किये गये। प्रत्येक विद्यार्थी तथा परीक्षार्थी को किसी एक विषय समूह में वर्गीकृत विषयों को लेकर अध्ययन करना तथा परीक्षा में बैठना होता था। उसके पहले इस प्रकार का विषय समूह विभाजन अध्ययन अध्यापन के लिए नहीं था।

4 वर्षों के पश्चात् पुनः उन्होंने शिक्षा मंत्री की हैसियत से आचार नरेन्द्रदेव की ही अध्यक्षता में पुनर्गठन योजना पर पुनर्विचार के लिए, उसकी समीक्षा के लिए, फिर एक समिति का गठन किया जिसके सचिव श्री भगवती शरण सिंह थे।

सम्पूर्णानन्द जी ने मनोविज्ञान सलाहकारों के पदों का भी सृजन किया ताकि वे विद्यार्थियों की क्षमता को देखकर राय दे सकें कि कौन विद्यार्थी किस विषय समूह के लिए सबसे योग्य हैं।

शिक्षा पुनर्गठन योजना के परिणाम स्वरूप हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनी पर गणित को वैकल्पिक बना दिया गया तथा हिन्दी मिडिल स्कूलों तथा हाईस्कूलों की मिडिल कक्षाओं को एक स्तर पर ला दिया गया। पहले मिडिल स्कूलों की कक्षा 4 उत्तीर्ण विद्यार्थी अंग्रेजी विद्यालयों की कक्षा 3 में प्रवेश पाते थे और मिडिल स्कूल की सर्वोच्च परीक्षा उत्तीर्ण बालक कक्षा ६ में दाखिल

होते थे क्योंकि उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान नहीं होता था। पुनर्गठन योजना को लागू करने के लिए कुछ गणितीय प्रक्रिया अपनाई गयी अर्थात् कक्षा 4 के विद्यार्थी को कक्षा 6 में प्रोन्नत कर दिया गया तथा 6 के विद्यार्थी को 8 में।

पुनर्गठन योजना के कार्यान्वयन का परिणाम यह हुआ कि उत्तर प्रदेश जो अपने हाई स्कूल तथा इन्टर कक्षाओं के स्तर के लिए सारे देश में सर्वोच्च स्थान रखता था नीचे खिसक गया और तबसे अब तक संभला नहीं। मनोविज्ञान सलाहकार भी प्रत्येक विद्यालय को उपलब्ध नहीं हो सके, और वास्तव में सामूहिक रूप से यह निर्णय करना कि कौन विद्यार्थी किस विषय समूह के लिए सबसे योग्य है, कठिन है; एक दो मनोविज्ञान सलाहकारों के बूते की बात तो नहीं ही है। यह तो विद्यार्थी तथा उसके अभिभावक पर ही छोड़ना पड़ेगा कि वह कौन विषय समूह ले। विषय–समूह या वर्ग के अन्तर्गत भी कोई कठोर सीमारेखा नहीं खींची जा सकती। शिक्षा शास्त्री पुनर्गठन योजना पर चाहे जो मत व्यक्त करें यह तो कहना ही पड़ेगा कि श्री सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी शिक्षा पद्धति के स्थान पर राष्ट्रीय, अपने देश की, शिक्षा पद्धति लागू करना चाहते थे, शिक्षा व्यवस्था में सुधार चाहते थे और उसके लिए विद्वानों, विशेषज्ञों की राय भी लेते रहते थे। केन्द्र के शिक्षा मंत्रालय ने माध्यमिक शिक्षा को 11 वर्षों की अवधि के लिए निर्धारित किया और हाई स्कूलों तथा इंटर मीडिएट कालेजों को हायर सेकेन्डरी स्कूल में परिवर्तित करने को कहा पर सम्पूर्णानंद जी ने तथा उत्तर प्रदेश ने इस नीति को स्वीकार नहीं किया और अपने यहां 10 वर्षीय हाईस्कूल तथा 12 वर्षीय इण्टर कालेज ही चलाते रहे। कालान्तर में केन्द्र ने भी यही नीति स्वीकार की और हायर सेकेण्डरी विद्यालयों में भी 12 वर्षीय पाठ्यक्रम लागू किया गया।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व बनारस का राजकीय संस्कृत कालेज ही संस्कृत शिक्षा का सर्वोच्च केन्द्र था। उसी के द्वारा सारे देश में संस्कृत परीक्षाएँ भी संचालित होती थीं। उसके प्रिंसिपल पं. गोपीनाथ कविराज ऐसे उद्‌भट विद्वान् हुआ करते थे। सम्पूर्णानन्द जी ने उसे संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप दिया किन्तु जो प्रतिष्ठा राजकीय संस्कृत कालेज की थी उसे अभी विश्वविद्यालय नहीं प्राप्त कर सका है। सम्पूर्णानन्द जी ने पं. आदित्य नाथ झा आई. सी. एस. को प्रथम कुलपति के रूप में भेज कर वहाँ की भौतिक व्यवस्था, भौतिक स्वरूप को अवश्य गरिमा प्रदान की किन्तु देववाणी संस्कृत के विशाल क्षेत्र में शोध, अध्ययन-अध्यापन, मौलिक रचना, व्याख्या, ग्रंथ सृजन, अनुप्राणित न कर सके। उसके द्वारा विभिन्न केन्द्रों पर परीक्षा संचालन का स्तर भी काफी सुधार की अपेक्षा रखता है। सम्बद्ध महाविद्यालयों की देख-रेख, संचालन के विषय में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। संभव है आगे चलकर संस्कृत विश्वविद्यालय संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में, शोध-कार्य में, विश्व की अगुआई कर सके अभी तो अपनी आन्तरिक समस्याओं में वह बुरी तरह ग्रस्त है।

बहुधा लोग कहते थे कि सम्पूर्णानन्द जी को ब्रेन वेव (दिमागी दौरा) आता है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त भी ब्रेन वेव का ही परिणाम था और आईन्सटीन का सापेक्ष्यवाद का

सिद्धान्त भी। पहले यू. पी. यूनाइटेड प्राविसेंज का संक्षिप्त रूप था। सम्पूर्णानन्द जी ने ही सम्भवतः उसे उत्तर प्रदेश का संक्षिप्त रूप कर दिया। पहले बनारस के दो नाम थे—बनारस, काशी। सम्पूर्णानन्द जी ने बनारस को वाराणसी करके बतलाया कि नगर का नाम तो वाराणसी ही है, काशी तो राज्य का नाम था।

वे अत्यन्त परिमार्जित रुचि के व्यक्ति थे। हारमोनियम उन्हें बहुत नापसन्द था। वह भारतीय वाद्य नहीं है। वे वीणा के, सरोद के समर्थक थे। सरोद के साथ हारमोनियम बजाकर आप देखें तो हारमोनियम का स्वर अत्यन्त कर्कश लगेगा। किसी दीक्षांत समारोह या गोष्ठी में यदि कोई अनुचित, परम्परा-विरुद्ध, अशुद्ध व्यवहार होता था तो वे उस पर टिप्पणी अवश्य करते थे। उपाधि प्रदान या पुरस्कार वितरण के समय प्राप्तकर्त्ता अध्यक्ष से हाथ मिलाने का आग्रह करता है। इस पर उन्होंने बतलाया कि छोटे को बड़े से हाथ मिलाने के लिए पहल नहीं करनी चाहिए। हाथ मिलाने की इच्छा तो पहले बड़े की तरफ से प्रगट होनी चाहिए।

वे निर्भीक विचारक थे। अपने विचारों को प्रगट करने का उनमें साहस था। उनके बनारस के साप्ताहिक में प्रकाशित लेख ब्राह्मण सावधान से तहलका मच गया था। ब्राह्मण उपदेष्टाओं द्वारा यह कहना कि 'पापोहं पापकर्माहं पापजं' इत्यादि उन्हें असह्य लगा। व्यक्ति अपने को हीन क्यों समझे। उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' गीता का कथन है। अपने को पापजन्म तक कहना कितना अशोभनीय है। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत अन्धविश्वास, भाग्यवाद, कदर्थ भावना पर उन्होंने तीखा प्रहार किया और चेतावनी दी कि इन हीन भावनाओं के प्रचार प्रसार में ब्राह्मण वर्ग संलग्न न हो।

अपने जीवन के अन्तिम चरण में जब वे काशी विद्यापीठ के अध्यक्ष के रूप में कुलपति निवास में रह रहे थे तो एक लेख Let the Intellectuals Speek लिखा था जिसमें बुद्धिजीवियों की वैसे तो संख्या कम है दूसरे वे संगठित नहीं हैं और वे भी "कोउ नृप होइ हमें का हानी" में विश्वास करने वाले हैं। आज भी देश में हो रही राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उथल-पुथल पर बुद्धिजीवियों की कोई समवेत वाणी नहीं मुखर होती, वैसे उनकी कोई जमात नहीं होती। विभिन्न वर्गों, समूहों में एक दो ही बुद्धिजीवी हो सकते हैं पर वे बोलते क्यों नहीं ?

सम्पूर्णानन्द जी का काशी से स्नेह था। वाराणसी के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया भी। एक बार भदोही के एक कालीन व्यापारी ने मुझसे कहा कि सम्पूर्णानन्द जी तथा कमलापति जी ने वाराणसी के लिए इतना किया है कि वहां के निवासी कभी उसे भूल नहीं सकते। उन्होंने अपने मित्र भगवती शरण सिंह को केन्द्र तथा केन्द्रीय पब्लिक सर्विस कमीशन के अड़ंगों के बावजूद आई. ए. एस. में चुनवा ही दिया और श्री राज बिहारी सिंह को जो एक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे राजमंत्री के पद तक पहुँचा दिया। जिस बात पर वे अड़ जाते थे करके रहते थे।

उनसे मेरी यदाकदा भेंट हुआ करती थी। एक बार माध्यमिक शिक्षकों का एक प्रतिनिधि मंडल उनसे उनके निवास पर मिला, सन् 1952-53 में। प्रतिनिधि मंडल में बलभद्र प्रसाद वाजपेयी, हरिहर पाण्डे आदि थे। सम्पूर्णानन्द जी मगही-पान के बड़े शौकीन थे। उनके लिए मगही पान आया पर उन्होंने हम लोगों को नहीं पूछा। यह बात हमें अच्छी नहीं लगी।

सन् 1945-46 में पं. सीताराम चतुर्वेदी ने एक साहित्यिक गोष्ठी का डी. ए. वी. कालेज में आयोजन किया जिसमें मैंने अपना लेख 'तुलसी दास जी की तथाकथित दोषपूर्ण पंक्तियाँ" पढ़ा जिसकी अध्यक्ष पद से उन्होंने प्रशंसा की।

तिलकधारी डिग्री कालेज की स्थापना 1948 में हुई। उसके बाद ही कुछ विद्यालय डिग्री कालेज में विकसित होने के लिए होड़ करने लगे। इस पर सम्पूर्णानन्द जी को जो शिक्षा मंत्री थे, मैंने एक पत्र लिखा और उनसे मिलने नैनीताल गया। वे स्थानीय सेक्रटेरियट के ऊपर एक बंगले में रहते थे। काफी ऊँचाई चढ़कर जब उनसे मिला तो मैंने कहा एक पत्र आपको भेजा है। उन्होंने उत्तर दिया हाँ, मिला है। देखूंगा। बस इतनी ही बात हुई और मैं वहाँ से चला आया। वे तो अल्प भाषी थे ही मैं भी सोचता आया कि मैं वाक् कला में प्रवीण नहीं हूँ। पर मेरा अभीष्ट पूरा हो गया।

जब वे राजस्थान के राज्यपाल थे तो मैंने उन्हें तिलकधारी महाविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और बहुत विद्वत्तापूर्ण दीक्षान्त भाषण दिया।

सम्पूर्णानन्द जी तीन भ्राता थे। तीनों प्रतिभाशाली। अन्नपूर्णानन्द जी बहुत अच्छे हास्य व्यंग्य के लेखक थे पर अकाल में ही उनकी मृत्यु हो गयी। परिपूर्णानन्द जी 85 वर्ष की अवस्था में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष या उपाध्यक्ष हैं और कानपुर से बस से यात्रा कर लखनऊ आते हैं और बस से ही जाते हैं। वे प्रभावशाली वक्ता हैं और उनकी लेखनी ऐसा कौन विषय है जिस पर नहीं चलती। राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, साहित्य कौन सा ऐसा विषय है जिस पर वे अधिकारपूर्वक न लिख सकें।

परिपूर्णानन्द जी ने अपने पिताजी के विषय में एक संस्मरण सुनाया था। वे किसी समय जौनपुर में किसी पद पर काम कर रहे थे। जिस मकान में वे रहने लगे वह भुतहा कहा जाता था। उनसे लोगों ने मकान छोड़ देने को कहा, पर छोड़ा नहीं। एक दिन रात में एक छाया उनके सामने प्रगट हुई पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया दूसरे दिन फिर प्रगट हुई और कुछ देर में लुप्त हो गयी। तीसरी बार जब सामने आयी तो उसके पीछे गये। एक छोटी कोठरी में जो बन्द रहती थी और जिसमें मिट्टी भरी थी जाकर वह लुप्त हो गयी। सबेरे उन्होंने कोठरी खुलवायी और उसकी

खुदाई कराई । उसमें एक मनुष्य की ठठरी मिली । यह पता न चलने से कि वह हिन्दू की हैं या मुसलमान की उन्होंने आधी जलवा दी और आधी दफन करा दी । इसके बाद छाया कभी प्रगट नहीं हुई ।

सम्पूर्णानन्द जी का ज्योतिष में विश्वास था । उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में फलित ज्योतिष के ज्ञाता श्री भुवनेश्वरी प्रसाद सिंह को पैरा साइकालोजी में कार्य करने के लिए दो चार वर्षों तक नियुक्त किया था । उनका कहना था कि 10 संख्या का उनके जीवन में बड़ा महत्त्व है । वे देवी-भक्त थे और देवी की पूजा करते थे ।

उनकी जन्मशती के अवसर पर उनके लेखों, पुस्तकों के संग्रह का एकीकृत शृंखलाबद्ध प्रकाशन होना चाहिए और उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्त भी छपना चाहिए ।



श्रद्धेय डॉ. सम्पूर्णानन्द जी

श्री अक्षयकुमार जैन

काशी के दो मनीषियों की याद आ रही है जो अब दिवंगत हो गए। एक हैं स्वनामधन्य डॉ. सम्पूर्णानन्द, जिन्होंने उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री, मुख्यमंत्री का दायित्व निभाया और फिर राजस्थान के राज्यपाल पद पर आसीन हुए और सिद्धान्त के एक प्रश्न को लेकर काशी लौटे और फिर रुग्ण रहकर स्वर्गवासी हुए। दूसरे हैं स्वर्गीय कविराज गोपीनाथजी।

सबसे पहले बाबू सम्पूर्णानन्द को 1935 में इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर देखने का सुअवसर मिला था, जब कि वे सम्मेलन के किसी अंग की अध्यक्षता करने के लिए आये थे। स्टेशन पर जब हम कुछ स्वयंसेवक उन्हें लेने के लिए ऊँचे दर्जे के रेल-डिब्बों को देख रहे थे तब वे तीसरे दर्जे से निकलकर बाहर पहुँच गए थे। ठीक प्रेमचन्द्रजी की तरह जिन्हें हम प्लेटफार्म पर ही देखते रहे थे और वे पण्डाल पहुँच गये थे। शायद बाबू सम्पूर्णानन्दजी भी अधिवेशन पण्डाल ही पहुँच जाते, लेकिन हुआ यह कि तीसरे दर्जे के मुसाफिरखाने से निकलकर तांगे वाले से बातचीत कर रहे थे, तभी हम सब वहाँ पहुँच गए।

बाबू सम्पूर्णानन्द की पोशाक विचित्र थी। वस्त्र खद्दर के थे लेकिन लम्बी यात्रा के बाद, जैसा कि होना स्वाभाविक ही था, मलिन हो गए थे। कुरता और छोटी मोहरी का पाजामा पहन रखा था और ऊपर चादर ओढ़ी हुई थी, सिर पर खाकी धूपवाला टोप था वह भी खद्दर का ही। हजामत उनकी बढ़ी हुई थी और शायद रात को सो न सके थे। आँखों में लाली और भारीपन था। ज्यों ही हम दो-तीन स्वयंसेवक उनके पास पहुँचे और प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देखा तो वे तपाक् से बोले, "मेरा नाम सम्पूर्णानन्द है और मुझे आश्चर्य इस बात का है कि मैं इन्दौर से भलीभांति परिचित हूँ (इन्दौर स्थित डेली कालेज में उन्होंने अध्यापन कार्य किया था) फिर भी आपलोगों में से किसी की सहायता की आवश्यकता पड़ ही गई"।

हम सब स्वयंसेवक उन्हें पहचान न पाने के कारण स्वयं ही लज्जित थे, किन्तु उन्होंने उक्त वाक्य कहकर हमें और भी बोझिल बना दिया, पर प्रसन्नता केवल यह थी कि जिस महानुभाव को लेने के लिए हम लोग स्टेशन पहुँचे थे वे मिल गए और हमें निराश नहीं होना पड़ा। लेकिन हुआ यह कि मांगी हुई कारें अन्य नेताओं को लेकर जा चुकी थीं और हम लोगों के सामने इसके सिवा और कोई चारा नहीं रह गया था कि इन्दौर के विशेष तांगे में ही उन्हें ले जाया जाए, विशेष

इसलिए कि उसमें बैठकर मुसाफिरों के घुटने एक-दूसरे से टकराते हैं और यदि कहीं मुसाफिर लम्बे-चौड़े हों तो कष्ट का कहना ही क्या ? और बाबूजी को भी यह कष्ट उठाना ही पड़ा। उनके ठहरने के स्थान पर जब हमने उन्हें पहुँचाया तब तक उनका मुँह संभल चुका था और वे डेली कालेज के अपने कुछ विनोदपूर्ण अनुभव और संस्मरण सुनाने लगे थे।

सम्पूर्णानन्द जी को, जिन्होंने उत्तर प्रदेश की सक्रिय राजनीति में देखा है वे जानते हैं कि कीचड़ में रहकर भी वे कमल की तरह निर्लेप रहे। कांग्रेस के बड़े नेताओं की इच्छानुसार जब पं. गोबिन्दबल्लभ पंत भारत सरकार के स्वराष्ट्र मंत्री पद पर आसीन होकर दिल्ली चले गए तब बाबूजी को ही कांग्रेस विधानमंडलीय दल का नेता चुना गया और वे मुख्यमंत्री बने। यह भी कैसी विडम्बना है कि अपने कुछ निकट के सहयोगियों के कारण ही उन्होंने मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दिया जबकि उसकी कोई आवश्यकता न थी। यह भी किसी से छिपा न रहा कि दिल्ली के नेताओं के इशारे पर ही उन्हें सिद्धान्त और नैतिक कारणों से पद त्याग करना पड़ा।

यद्यपि उन पर पक्षपात के आरोप भी लगाए गये, पर सच तो यह है कि जिन व्यक्तियों की योग्यता में उन्हें विश्वास था या उन्हें अवसर देने के कारण ही उन पर पक्षपात का आरोप लगा। इस प्रकार के आरोप से बहुत कम नेता बच पायेंगे।

उनका समाजवाद आज के जाने-माने समाजवाद से भिन्न था। उन्होंने एक बार कहा भी था कि देश विदेश की परिस्थितियां भिन्न होती हैं, इसलिए समाजवाद का आना और छाना अलग-अलग ही होता और होना भी चाहिए।

जब वे राजस्थान के राज्यपाल बने तब मुझे दो-तीन बार उनसे मिलने और बातचीत करने का अवसर मिला। एक बार तो उनके विशेष अनुरोध पर मैं राजभवन में ही उनके सानिध्य में ठहरा और घण्टों तक विविध विषयों पर उनसे चर्चा हुई। तब मैंने निकट से देखा कि किस प्रकार भारतीय संस्कार और सांस्कृतिक परम्परा उनमें एक साथ पुंजीभूत हो गई थी। तब मैंने निकट से निकट देखा कि वे कितने बड़े महापण्डित हैं।

मैंने कहीं सुन रखा था कि बाबूजी देवी के उपासक हैं और सक्रिय रूप से तांत्रिक हैं। संयोग से जब हम नाश्ते पर साथ-साथ बैठे और इधर-उधर की बातें होने लगीं तो मैंने कहा, "बाबूजी", मैं नहीं जानता कि यह प्रश्न पूछने का अधिकारी भी हूँ या नहीं और आप इसका उत्तर देना पसन्द करेंगे अथवा नहीं; किन्तु बहुत दिनों से यह प्रश्न मन में बना हुआ है, इसीलिए यदि आज्ञा हो तो मैं आपके सामने प्रस्तुत करूँ" ? थोड़ी देर वे चुप-से रहे, फिर सहज मुस्कान के साथ बोले, "क्या बात है, कह डालो"। इस पर उत्साहित होकर मैंने अपनी बात यों रखी, "बाबूजी, क्या कभी आपको देवी के दर्शन हुए हैं" ? इसे सुनते ही उनके चेहरे पर गम्भीरता के भाव स्पष्ट दिखाई दिए। कुछ देर तक वें मौन रहे और मुझे लगा कि इस प्रकार का प्रश्न नहीं पूछना चाहिए था; पर प्रश्न पूछने की स्वीकृति उन्होंने स्वयं दी थी, इसलिए धीरे-धीरे बोलते हुए कहा, "यदि अन्तर शुद्ध है तो देवी का दर्शन हर क्षण आपको होता रहता है। मेरे मस्तक पर लाल चन्दन का टीका देखकर अक्सर

लोगों की यह धारणा बन जाती है कि मैं कोई पहुँचा हुआ तांत्रिक हूँ। पर आप निश्चय मानिए कि उस प्रकार की सिद्धि के लिए जितनी कठिन साधना और समय चाहिए वह मेरे जैसे लोगों को कहाँ प्राप्त है ? फिर भी यह तो सत्य है ही कि मैं शक्ति का उपासक हूं।" पर, यह कहते-कहते शायद उन्हें लगा कि बात कुछ ज्यादा कह दी है, तो उन्होंने अपने आरक्त नेत्रों से मुझे देखते हुए उत्तर देने के बजाय प्रश्न कर दिया कि संसार में कोई ऐसा व्यक्ति है क्या जो शक्ति का उपासक न हो, पर कितने लोग हैं जिन पर शक्ति की कृपा होती है ?

प्रसंग वहीं टूट गया, पर मुझ पर प्रभाव पड़ा कि उनके सम्बन्ध में कही जाने वाली बात ऐसे ही नहीं थी। उनके कुछ निकट के लोगों से भी पता लगा कि वे साधक और पंडित दोनों ही थे और उनके इन दोनों गुणों में सदा ही कशमकश चलती रही। उनके एक सहकारी ने, जिनका नाम प्रकट करना मेरे लिए ठीक न होगा, यहाँ तक कह दिया था कि एक भ्रष्ट योगी थे। तन्त्र-साधना में कोई त्रुटि रह जाने पर पूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं होती, ऐसे ही व्यक्तियों को भ्रष्ट योगी कहा जाता है।

कुछ भी हो, बाबू सम्पूर्णानन्द ने अपने व्यवहार से भारतीय जनता को जो कुछ दिया वह तो सदा याद किया जाता ही रहेगा, किन्तु साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने जो सक्रिय योगदान दिया वह भी जनता का पथ-प्रदर्शक बना रहेगा।

बाबूजी के अन्तिम दर्शनों का सौभाग्य मुझे तब मिला था जब वे भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रवर परिषद् की अध्यक्षता करने के लिए दिल्ली पधारे थे। स्वास्थ्य उनका जर्जर हो रहा था और ऐसा लगता था कि अधिक दिन जीने की इच्छा भी उनमें नहीं रह गई है। हुआ भी यही। दिल्ली से काशी गए और लम्बी बीमारी के बाद 80 वर्ष की अवस्था में उनका पार्थिव शरीर 10 जनवरी 69 को प्रातःकाल सदा-सदा के लिए विलीन हो गया।



भारतीय आत्मा के प्रतिनिधि

श्री यशपाल जैन

श्री सम्पूर्णानन्द जी से जब पहली बार भेंट हुई तो ऐसा नहीं लगा कि मैं किसी अपरिचित से मिल रहा हूँ। परोक्षरूप से तो मैं उन्हें वर्षों से जानता था। मेरा लेखन सन् 1930 से चल रहा था, जब मैं विद्यार्थी था। हिन्दी का कोई भी लेखक या विद्वान् नहीं था, जिसका नाम मैंने न सुना हो, फिर उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद गया तो काशी के प्रायः सभी विद्वानों के प्रति मेरे मन में आदर-भाव उत्पन्न हो गया। संयोग से सन् 1940 से 1946 तक मुझे हिन्दी के विख्यात पत्रकार और लेखक पं. बनारसी दास चतुर्वेदी के साथ टीकमगढ़ में रहने का अवसर मिला। चतुर्वेदी जी और सम्पूर्णानन्द जी इन्दौर के डेली कालेज में सह-अध्यापक थे। दोनों के सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ रहे थे। चतुर्वेदी जी उनके जीवन की घटनाएं बराबर सुनाते रहते थे। इससे सम्पूर्णानन्द जी के प्रति मैं सहज ही आकर्षित हो गया था। एक बार जब मैं काशी जा रहा था, चतुर्वेदी जी ने आग्रह किया कि मैं सम्पूर्णानन्द जी से अवश्य मिलता आऊँ। मैं उनके निवास पर गया। पहले से सूचना नहीं दी थी, इसलिये सोचता था कि वे शायद ही मिलें। पर मेरी खुशी का ठिकाना न रहा, जब मुझे पता चला कि वे घर पर ही हैं। बड़े नेता से एक युवक के मिलने पर जो संकोच होता है, मैं उससे मुक्त नहीं था, किन्तु उस संकोच को उन्होंने टिकने नहीं दिया। बड़ी आत्मीयता से मिले। चतुर्वेदी जी की कुशलक्षेम पूछी, मेरी प्रवृत्तियों की जानकारी ली और बुन्देलखण्ड में हिन्दी, लोक-साहित्य, संस्कृति आदि के लिये जो कार्य हो रहा था, उसके विषय में प्रश्न किये। अन्त में मैंने उनसे निवेदन किया कि एक बार टीकमगढ़ आयें। स्थान बड़ा रमणीक है और चतुर्वेदी जी वहां हैं। उन्होंने मुस्करा कर कहा, कभी समय मिला तो आने में मुझे प्रसन्नता होगी।

उनसे विदा लेकर बाहर आया तो मन बहुत ही आह्लादित हो रहा था। वे इतने बड़े नेता थे, संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, हिन्दी के विख्यात लेखक थे, अंग्रेजी के ज्ञाता थे, किन्तु अभिमान उन्हें छू नहीं गया था। आडम्बर और वैभव से वे कोसों दूर थे। उनकी सादगी और खादी के वस्त्रों में अपने ढंग की शालीनता थी।

इसके कई वर्षों बाद राजस्थान में भेंट हुई, जहाँ वे अखिल भारतीय अणुव्रत सम्मेलन के किसी अधिवेशन में भाग लेने गये थे। मुझे भी विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। उनसे चर्चाएं हुईं। वे भारतीय संस्कृति के परम उपासक थे और मानव की शुचिता में गहरा विश्वास रखते थे। अणुव्रत की ओर वे इसीलिये आकृष्ट हुए, क्योंकि वह अणुव्रतों के द्वारा मानव-जीवन के परिष्कार पर बल देता था।

लेकिन दुर्भाग्य कि वे अचानक अस्वस्थ हो गये और अधिवेशन में भाग न लेकर तत्काल लौट गये। स्टेशन पर मैं उनसे मिला तो वे कुछ बेचैनी अनुभव कर रहे थे। उन्हें दुःख था कि वहाँ पहुँच कर भी सम्मेलन में शरीक नहीं हो सके।

अन्तिम भेंट हुई जयपुर में। वे वहाँ राज्यपाल थे। राजभवन में रहते थे। उनके चारों ओर वैभव था। उस सबके बीच वे ऐसे दिखाई दिये, जैसे जल के बीच कमल दिखाई देता है। राजस्थान के राजनेता स्व. हरिभाऊ उपाध्याय के लिए एक अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार करने की बात थी और वे उस काम को मुझे सौंपना चाहते थे। प्रारम्भिक बातें हुईं, मोटी रूपरेखा भी बनी, अनन्तर उन्होंने कहा कि मैं एक बार फिर आपको यहाँ बुलाऊँगा। एक सप्ताह मेरे साथ ठहरें और तब हम सारी योजना को अन्तिम रूप दे देंगे।

उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। उन्हें श्वास की एलर्जी थी और वे मधुमेह से पीड़ित थे। फिर भी उनमें भरपूर उत्साह था और काम करने की पूरी लगन थी।

कुछ समय बाद उनका पत्र आया कि मैं अपनी अनुकूलता देखकर वहाँ आ जाऊँ, किन्तु मेरे सामने कुछ ऐसी व्यस्तताएं रहीं कि मैं वहाँ जाने का समय नहीं निकाल पाया।

उसके थोड़े दिनों बाद उनका निधन हो गया।

सम्पूर्णानन्द जी का व्यक्तित्व बड़ा तेजस्वी था। उनके चेहरे और मस्तक पर एक चिन्तक की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी। उनमें संकल्पशक्ति थी, किन्तु कठोरता नहीं थी। उत्तर प्रदेश के वे मुख्यमंत्री रहे, बड़ी कुशलता से उन्होंने राजकाज का संचालन किया, लेकिन मेरी मान्यता है कि वे मूलतः साहित्य और संस्कृति के व्यक्ति थे और उन क्षेत्रों में उनकी विशेष अभिरुचि थी। उन्होंने कई वर्ष शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यतीत किये थे और अपना विशेष योगदान दिया था। उन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग राजनीति में बिताया, लेकिन वे राजनीति में डूबे नहीं। सत्ता की कुर्सी पर बैठे, पर उससे चिपके नहीं।

गांधी जी के प्रति उनका झुकाव था, पर उनकी आस्था समाजवाद में थी। वे समाज को क्या रूप देना चाहते थे, अर्थ-व्यवस्था की उनकी क्या कल्पना थी, इस विषय में उन्होंने समय-समय पर अपने विचार ही व्यक्त नहीं किये, साहित्य भी दिया।

सम्पूर्णानन्दजी की प्रतिभा बहुमुखी थी, वे राजनेता थे, शिक्षक थे, लेखक थे, संस्कृत के विद्वान और निष्ठावान पक्षधर थे, किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे भारतीय आत्मा का प्रतिनिधित्व करते थे। वे भारत के सच्चे सपूत थे। अपने जीवन में उन्होंने जो भी किया, उसके पीछे देश की भूमि और संस्कृति की निष्ठा थी।

वे निरन्तर साधना-रत रहे। जब तक शरीर में शक्ति का लेशमात्र भी शेष रहा, अपने आलोक की किरणों को बिखेरते रहे।

आज सम्पूर्णानन्द जी की भौतिक काया हमारे बीच नहीं है, फिर भी वे हमें बार-बार याद आते हैं। उन जैसी विभूतियों का आज अत्यन्त अभाव है।

मैं उनकी स्मृति को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रभु से कामना करता हूँ कि उनकी प्रेरणाएं समाज और राष्ट्र को निरन्तर मार्गदर्शन प्रदान करती रहें।

●

डॉ. सम्पूर्णानन्द : एक प्रतीक पुरुष

डॉ. ठाकुरप्रसाद सिंह

डॉ. सम्पूर्णानन्द के बहुत निकट कभी नहीं रहा, इसलिये ऐसा दावा करके उनके सम्बन्ध में कुछ लिखूँ या कहूँ तो वह उचित नहीं होगा, लेकिन बचपन से ही वे मेरे आसपास चर्चा के विषय रहे हैं। इसलिए जब कहता हूँ कि मेरे ऊपर बनारस का गहरा असर है तो मैं प्रकारान्तर से यह स्वीकार करता हूँ कि उस असर में सम्पूर्णानन्द जी का प्रभाव भी सम्मिलित है। बचपन में होश सम्भालने पर मैंने अनुभव किया कि मेरे जन्म के पूर्व मेरे परिवार की अच्छी हैसियत रही होगी, लेकिन किन्हीं कारणों से मुझे उत्तराधिकार में एक बहुत ही विपन्न परिवार ही मिला। इस विपन्नता के कई कारण थे, लेकिन मेरे घर वालों की राय में इसके मुख्य कारण डॉ. सम्पूर्णानन्द थे। जिन दिनों वे म्युनिसपल बोर्ड के चेयरमैन थे बनारस शहर की विश्वेश्वरगंज स्थित एक बड़ी सम्पत्ति से परिवार को वंचित होना पड़ा था। घर तो पहले ही टूट चुका था लेकिन उस चोट ने उसे बिलकुल खण्डहर बनाकर रख दिया। घर वालों की नाराजगी इतनी तीव्र थी कि आगे चल कर १९३६ के चुनाव में जब सम्पूर्णानन्द जी बनारस नगर से असेम्बली के लिए खड़े हुए तो मेरे चाचा ने चुपचाप जाकर उनके विरोधी हिन्दू महासभा के उम्मीद्वार को अपना मत दे डाला। हमलोग छोटे बच्चे थे और सड़कों पर जुलूस बनाकर मुहल्ले के कांग्रेस नेता श्री ईश्वरचन्द्र सिन्हा के पीछे तिरंगा लिये घूमते थे और चाचा थे कि हिन्दू महासभा के उम्मीद्वार को वोट दे आये। रात को खाना खाते समय दादी और मां की उपस्थिति में मैं चाचा से उलझ गया। उन्होंने मुझे निरुत्तर करने के लिए विश्वेश्वरगंज के बाड़े की चर्चा की, लेकिन मैं उनका तर्क मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। मैंने कहा घर की इतनी सम्पत्ति आपसी झगड़े में नष्ट हो गयी और उसके लिए आत्महत्या और हत्या तक की नौबत आयी। लेकिन उस पर कोई नाराजगी नहीं, और इस सबका दण्ड एक ऐसे आदमी को दिया जाय जो दुर्भाग्यवश तब म्युनिसपल बोर्ड का चेयरमैन भर था। हो सकता है यह मुकदमा उसके पास गया हो तो लोगों ने ठीक से पैरवी ही न की हो। उस समय चाचा खाना खाकर उठ गये और बात खत्म हो गयी, लेकिन मेरे भीतर डॉ. सम्पूर्णानन्द को लेकर ऊहापोह का जो भाव उस दिन आया वह निरन्तर बना रहा।

1945 में जब वे भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद जेल से छूट कर आये तो मैंने सड़क पर उन्हें कई बार मैदागिन स्थित कांग्रेस कार्यालय से पैदल जालपा देवी की ओर जाते देखा। जो खद्दर

का कुर्ता वे पहने हुए होते वह बहुत साफ नहीं होता था। लेकिन सबसे अधिक दिक्कत मुझे उनके पायजामे से होती जो पैर के पास एक या दो जगह जरूर फटा होता। चाचा से उस रात मैं उलझ जरूर गया था लेकिन जब भी सम्पूर्णानन्द जी को देखता था मुझे अपने परिवार के हारे हुए उस मामले की याद आती थी। कुछ ही दिनों बाद हरिश्चन्द्र कालेज में मुशायरे और कवि सम्मेलन को लेकर झगड़ा हुआ और उसमें हड़ताल तक की नौबत आ गई। हड़ताल के दूसरे दिन पत्रकारों का पदार्पण कालेज में हो गया। उसके बाद पहले पराड़कर जी फिर सम्पूर्णानन्द जी के सम्पर्क में आने का अवसर मुझे एकाएक प्राप्त हो गया। हरिश्चन्द्र कालेज भारतेन्दु जी का स्थापित किया हुआ था इसलिये उसके प्रांगण में हिन्दी का अपमान हो तो भला वे लोग कैसे चुप रह सकते थे। कुछ दिनों बाद उसी प्रांगण में एक विराट् काव्य समारोह हुआ जिसमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने पधारने की कृपा की। उस समारोह के लिए हमने श्री सम्पूर्णानन्द जी से आशीर्वाद माँगा और वह हमें मिला भी।

आगे चलकर वे प्रदेश मंत्रिमंडल के सदस्य बने। फिर श्री गोविन्द वल्लभ पन्त के दिल्ली जाने पर प्रदेश के मुख्यमंत्री भी बने। लेकिन मैं तब बनारस में ही था जहाँ बड़ागाँव इण्टर कालेज में पहले प्राध्यापक फिर प्रधानाचार्य बनने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। बड़ागांव के श्री बलदेव वैद्य सम्पूर्णानन्द के अत्यन्त निकट के व्यक्ति थे और उनके जेल जीवन के साथी थे। इसलिये वे जब भी सम्पूर्णानन्द जी को बुलाते थे वे अविलम्ब बड़ागाँव पहुँच जाते थे। किन्तु जिले की कुछ घटनाओं को लेकर और कोलअसला क्षेत्र के विधान सभा के उम्मीद्वार के प्रश्न पर श्री बलदेव वैद्य का कांग्रेस से मतभेद हे गया और 1952 के आम चुनाव में कांग्रेस प्रत्याशी के विरुद्ध श्री निहाला सिंह श्री बलदेव वैद्य के उम्मीद्वार के रूप में खड़े हुए। डॉ. सम्पूर्णानन्द उस चुनाव के दौरान बड़ागाँव गये लेकिन वे बिना भाषण किये लौट आये। कांग्रेस उनकी मातृ संस्था थी लेकिन वे सम्बन्धों का बड़ा ध्यान रखते थे। वाराणसी में उनके मुकाबले श्री रुस्तम सैटीन कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीद्वार थे और 1957 के आम चुनाव में डॉ. सम्पूर्णानन्द की स्थिति अच्छी नहीं थी लेकिन एक दिन जब वे टाउनहाल में भाषण कर रहे थे श्री सैटीन को भीड़ में खड़े हुए उन्होंने देखा। भाषण रोक कर उन्होंने उन्हें बुलवाया और मंच पर बैठाया। अपने भाषणों में वे कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों की चर्चा विस्तार से करते लेकिन अपने विरोधियों पर व्यक्तिगत आक्षेप वे कभी नहीं करते थे।

उनके विषय में वाराणसी में कितनी ही किंवदन्तियां प्रचलित थीं जिनसे उनका एक अलग व्यक्तित्व बनता था। हिन्दी के सम्बन्ध में उनके दृढ़ विचार थे। उत्तर प्रदेश शासन में रहते हुए उन्होंने हिन्दी और संस्कृत के लिए जो कुछ किया उसका महत्व आज भी उत्तर प्रदेश के लोग स्वीकार करते हैं। लेकिन 1957 के आम चुनाव के समय जब उनसे कहा गया कि वे अपना रुख कुछ नरम करें और मदनपुरा के लोगों में चलकर आश्वासन दें तो वे इसके लिये तैयार नहीं हुए। चुनाव सभा को सम्बोधित करने वे गये लेकिन अपने भाषण में उन्होंने हिन्दी का कोई उल्लेख नहीं

किया। चेतसिंह स्मारक को लेकर बनारस में बड़ा विरोध उठ खड़ा हुआ। उस समय जो पुस्तिका शासन की ओर से वितरित की गयी थी उसकी कुछ बातों को लेकर वाराणसी के एक दैनिक पत्र ने तीखा लेख लिखा और प्रदेश के मुख्यमंत्री डॉ. सम्पूर्णानन्द से आग्रह किया तो वे इस पुस्तिका के लेखक को दण्डित करें या स्वयं वे अपने पद से त्यागपत्र दें। दुर्भाग्यवश तब मैं सूचना विभाग में पहुँच चुका था और सूचना निदेशक श्री भगवतीशरण सिंह के आदेश से वह पुस्तिका मैंने ही लिखी थी। वाराणसी के कमिश्नर श्री शिवेश्वरकर ने घबरा कर उस पुस्तिका का वितरण रोक दिया और फोन पर उन्होंने यह बात सूचना निदेशक को बतायी। विभाग में तहलका मच गया और मेरी तलाश होने लगी। महीने का दूसरा शनिवार था और उन दिनों वह आधा ही होता था। एक बजे के बाद उठ कर हमलोग काफी हाउस चले आते थे और वहीं शाम तक जमे रहते थे। श्री भगवती शरण सिंह ने वहीं से मुझे पकड़ मंगवाया और मुझे लिये दिये वे मुख्यमंत्री निवास पर पहुँच गये। वैसे तो श्री सम्पूर्णानन्द जी से मेरा कई बार का आमना-सामना हो चुका था। लेकिन असली परिचय उस दिन दोपहर को ही हुआ। मध्याह्न भोजन के बाद वे लेटे हुए थे और कमरे में अच्छे तम्बाकू की सुगन्ध फैली हुई थी। हमारे पहुँचने पर वे सावधान तो हुए लेकिन उनकी आँखे तब भी अधखुली ही रही। सारा किस्सा सुनने के बाद उन्होंने मुझसे कहा कि मैं उन्हें पूरी पुस्तिका पढ़कर सुनाऊँ। मैंने उसे लिखने में काफी मेहनत की थी और वाराणसी में श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' और अभिमन्यु पुस्तकालय के श्री बनारसी दास आर्य की कृपा से कुछ अच्छी सामग्री भी प्राप्त हो गयी थी। इसलिए मुझे विश्वास था कि श्री सम्पूर्णान्द जी मेरी पुस्तिका को अवश्य ही पसन्द करेंगे। उन्होंने मेरे पूरी पुस्तक तम्बाकू पीते हुए लगभग आँखें बन्द करते हुए सुनी। श्री भगवतीशरण सिंह को लगा कि कहीं वे बीच में सो तो नहीं गये हैं। लेकिन ज्यों ही मेरी पुस्तिका पूरी हुई वे उठकर बैठ गये। उदारतापूर्वक उन्होंने मेरी पुस्तिका की प्रशंसा की और कहा कि इसी शैली में मैं बनारस के स्वतंत्रता संग्राम का पूरा इतिहास लिख डालूँ। 'यस सर' कह कर मैं कमरे से तेजी से निकलं भागा, लेकिन श्री भगवतीशरण सिंह ने मुझे बाहर निकलने का मौका नहीं दिया। वे वहाँ पुस्तक लिखवाने की योजना लेकर आये नहीं थे। उन्हें तो तीसरे दिन वाराणसी में होने वाले चेतसिंह की मूर्ति के अनावरण समारोह की व्यवस्था करनी थी। उन्होंने श्री सम्पूर्णान्द जी से निवेदन किया कि वे वाराणसी के पत्र की प्रतिक्रिया समझ लें फिर जैसा कहें वैसा किया जाय। सम्पूर्णानन्द जी उस समय तक वरदान देने की मुद्रा में आ चुके थे। उन्होंने पत्र सम्पादक के व्यंग्य और एतराजों को बड़े हल्के मन से लिया और चलते-चलते मुझे आदेश दिया कि मैं भी वाराणसी वाले समारोह में रहूँ। यह घटना केवल इसलिये उद्धृत कर रहा हूँ कि इससे सम्पूर्णानन्द जी कैसे सोचते थे इस पर प्रकाश पड़ सके।

चीन के आक्रमण के समय उत्तर प्रदेश विधान सभा में उन्होंने ऐतिहासिक भाषण दिया था। लेकिन अपने उस भाषण के बीच भी दुर्गा सप्तशती का वह श्लोक उद्धृत करना नहीं भूले जिसमें देवी को चित्त में कृपाशालिनी पर समर में निष्ठुर कहा गया है। सम्पूर्णानन्द जी केवल अध्येता ही

नहीं थे वे शक्ति भर अपने आचरण में उन मूल्यों को उतारते भी थे जो उन्हें बहुत प्रिय थे। मुख्य मंत्री का पद उन्होंने जिन स्थितियों में छोड़ा वह सभी को पता है। इस देश की राजनीति आज चल कर जहां पहुँची है वहां से देखने पर सम्पूर्णानन्द जी ऐसे राजनेताओं के कद का अन्दाज लग सकता है। कांग्रेस दल का सदस्य होना और किन्हीं परिस्थितियों के चलते ऊँचे पदों पर पहुँच जाना कोई बड़ी बात नहीं है। पिछले २५-३० वर्षों में हम लोगों ने कितने ही जर्रों को आफताब बनते देखा है और हम लोगों के देखते-देखते कितने ही आफताब जर्र बनकर रह गये हैं। लखनऊ की सड़कों पर अक्सर जेब्रा क्रासिंग से सड़क पार करते हुए भूतपूर्व मंत्रियों से मुलाकात हो जाया करती है, लेकिन लाल बत्ती जल जाने के डर से हम रुक कर किसी से बात नहीं कर पाते। ऐसे नश्वर इतिहास के बीच कोई बराबर याद आता रहे, यही क्या कम है ?

अपने व्यस्त जीवन की भाग दौड़ में भी वे सम्भवतः अकेले राजनीतिज्ञ थे जो (मन के एकान्त में ही सही) इस भाग दौड़ से अलग खड़े रह सकते थे। उस समय उनसे बातें करने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त होता था। उदाहरण के लिए वे देख रहे थे कि निकट भविष्य में मिर्जापुर का दक्षिणाञ्चल एक बड़े ऊर्जा केन्द्र के रूप में विकसित होकर रहेगा। वे इससे प्रसन्न भी होते थे। रिहण्ड बिजलीघर की बिजली को सस्ती दरों पर हिण्डालको को दे देने के उनके निर्णय की आज भी आलोचना होती है, लेकिन जो लोग उनके नजदीक रहे हैं वे जानते हैं कि विकास के वे कितने उतावले थे। मैं एक अत्यन्त सामान्य राज्य कर्मचारी था और उनके मेरे बीच में कितनी ही कुर्सियां थीं। लेकिन यह मेरा सौभाग्य था कि अक्सर व्यस्ततम राजकाज के बीच में जब वे खास तौर से अपने मन के नितान्त एकान्त में होते थे तो मैं भी कभी कभी वहाँ होता था। मिर्जापुर के दक्षिणांचल के विषय में सोचते-सोचते ऐसे ही एक बार वे कुछ लोगों को अलग से बुला बैठे। बातचीत में पता लगा कि वे राबर्टस्गंज के भविष्य को लेकर बहुत बेचैन हैं। उनकी आकांक्षा थी कि दक्षिणांचल के प्रवेश द्वार पर पड़ने वाले उस छोटे से गरीब बाजार को एक नियोजित नगर के रूप में विकसित किया जाय। यह नगर कैसा हो, इसी पर विचार करने के लिए बैठक बुलायी गयी थी। कितने ही पदाधिकारी वहां उपस्थित थे। लेकिन पहला सवाल उन्होंने मुझसे ही पूछा, "क्या मैंने प्राचीन नगरों के सम्बन्ध मे कुछ किताबें देखी हैं ?" मैंने कुछ पुस्तकों के नाम बताये और थोड़ा बहुत जो कुछ जानता था उसकी चर्चा की तब कहीं जाकर यह पता लगा कि वे गिरिद्वार के नाम से एक ऐसा नगर वहां बसाना चाहते हैं जो आने वाले वर्षों में दक्षिणाञ्चल में विकसित होने वाले छोटे-बड़े नगरों के लिए दिशा निर्देश का कार्य कर सके। बैठक के बाद महीनों तक मैं गिरिद्वार के सपने में उलझा रहा, लेकिन बात बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। ऐसे ही वाराणसी के उपान्त में सन्त कबीर के प्राकट्यस्थल लहरतारा ताल के किनारे एक विशाल योग केन्द्र और बुनकर प्रशिक्षण संस्थान की योजना लेकर मैं वहां के जमींदार राय सत्यव्रत से महीनों जूझता रहा। चित्रकूट को सर्वथा स्वतंत्र ढंग से विकसित करने का उनका सपना था, जिसमें ऐसे छोटे-छोटे आश्रमों की परिकल्पना सम्मिलित थी जहाँ बिजली सहित हर आवश्यक सुविधा होगी, लेकिन वहाँ पेट्रोल और

डीजल से चलने वाली गाड़ियाँ नहीं रहेंगी। वनों का कटना रोका जायेगा और ऐसा कुछ किया जायेगा कि मंदाकिनी का जल न केवल शुद्ध रहे बल्कि बारहों मास उपलब्ध रहे। ऐसे ही झांसी के किले में वे फ्रांस के बारसाई किले की तरह प्रकाश-ध्वनि की स्थायी व्यवस्था करना चाहते थे जिससे वहाँ आने वाले लोग झांसी के किले को देखने के साथ-साथ उसके इतिहास से पूरी तरह परिचित हो जायें। इस तरह उनकी योजनाओं का अन्त नहीं था। लेकिन यहां इन योजनाओं का उल्लेख करने का उद्देश्य इतना ही है कि मैं उनके मस्तिष्क के पिछले हिस्से में चलने वाले चिन्तन का हल्का चित्र उपस्थित कर सकूं। ये सारी की सारी योजनायें चिन्तक के स्वप्न में ही रह गयीं, लेकिन इनमें से हर एक के लिए अलग-अलग मैंने अपने कार्यकाल के कितने ही महीने न्योछावर किये हैं। यदि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बात का विश्वास किया जाये तो मैं कह सकता हूँ कि इन योजनाओं के लिए दिया गया समय व्यर्थ नहीं चला गया। जो गीत अधूरे रह जाते हैं रवि बाबू के शब्दों में वे खो नहीं जाते। अविनाशी उन्हें भी स्वीकार करते हैं और सृष्टि के विशाल रचना संभार के प्रवाह में सम्मिलित कर लेते हैं। इसी के चलते कोटि वर्ष की आयु वाली धरती निरन्तर नवीन बनी रहती है। न आकाश की नीलिमा कम होती है न दूर्वा की हरीतिमा। इसी विश्वास के चलते मैं इस प्रदेश के विकास में उस अंश का रोमांच अनुभव करता हूँ जो कभी डॉ. सम्पूर्णानन्द के हाथों दिया गया था। माना कि मंत्र पूरे नहीं पढ़े गये थे फिर भी समर्पण में अपने को रंच मात्र भी बचा रखने की बात वे सोच ही नहीं सकते थे।

वाराणसी उन्हें प्राणों से भी प्रिय थी। वे उसके गौरवपूर्ण इतिहास से अभिभूत रहा करते थे। इसी मोह के चलते उन्होंने उसका नाम बनारस से वाराणसी किया। उनके इस निश्चय की आलोचना हुई। और तो और श्री जवाहर लाल जी उनके इस निर्णय के आलोचक थे। लेकिन लोग जो सम्पूर्णानन्द जी को निकट से जानते थे, उनके इस निर्णय से बिल्कुल चकित नहीं थे। चेतसिंह स्मारक की स्थापना विरोधों के बीच उन्होंने की; वह भी उन्हीं उदात्त क्षणों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए जिन्होंने कभी उनके प्रिय नगर वाराणसी के नागरिकों को इस हद तक उद्वेलित किया था कि वे उठकर उस विदेशी सत्ता का मुकाबला करें जिसके सामने इस विशाल देश के कितने ही अधिपति घुटने टेकने के लिए मजबूर हुए थे। काशी के जर्जर घाटों की मरम्मत के लिये भी उन्होंने अपनी राज्य सरकार के सीमित साधनों के बल पर बहुत कुछ किया और संस्कृत कालेज को अपने सपनों की संस्था बनाने के लिए उसे विश्वविद्यालय का रूप दिया। वह स्वप्न चरितार्थ करने के लिए उन्होंने राज्य के मुख्य सचिव श्री आदित्यनाथ झा को प्रदेश शासन के सबसे महत्वपूर्ण पद से हटाकर वाराणसी भेजा। उनके इस निर्णय से उनकी उस बेचैनी का अन्दाज लगाया जा सकता है जो उनके भीतर बराबर बड़वानल की तरह जलती रहती थी। इस नियुक्ति में भी उन्हें यह बात याद रही होगी कि श्री आदित्यनाथ झा संस्कृत कालेज के पहले भारतीय प्रिंसिपल, महान् विद्वान् श्री गंगानाथ झा के पुत्र भी थे। वाराणसी नगर पालिका का नया भवन सिगरा में बनाये जाने का उनका निर्णय भी उनकी इसी विचार परम्परा का अंग है। बनारस

वालों ने तब नगर से इतनी दूर नगरपालिका भवन बनवाये जाने का बड़ा विरोध किया था, लेकिन डॉ. सम्पूर्णानन्द जो निश्चय कर लेते थे उससे डिगते कम ही थे। उनका विश्वास था कि दस वर्ष के भीतर ही सिगरा का नगरपालिका भवन नगर के मध्य में आ जायेगा। आज सिगरा के आस-पास जैसा विकास हुआ है उसे देखते हुए क्या नहीं लगता कि डॉ. सम्पूर्णानन्द बनारस के उस समय के लोगों से कितना आगे बढ़कर सोचते थे। वे तो गंगा के किनारे-किनारे सुन्दर पथ की कल्पना भी करते थे, किन्तु समय और साधन की कमी से वे उसे पूरा नहीं कर सके।

लिखते समय कितनी ही यादें रास्ता घेर लेती हैं पर उनके घेरे से निकलना तो पड़ेगा ही। वे मूर्तिमान वाराणसी थे। इसलिये उनके अभिनन्दन में मैंने कभी जो कविता पढ़ी थी, वह उनके बहाने काशी की ही वन्दना थी। उसकी ये चार पंक्तियां उन्होंने कई गोष्ठियों में मुझसे सुनीं :–

जब होती आधी रात नगर शिव सा बैठा
डूबता ध्यान में, पद पर सो जाती गंगा।
तब जब न पास कोई होता सब स्वर थमते;
तब एक दीप निश्तंद्र चेतना का जगता।

अधिकारी नियुक्त होने पर उन्हें नमस्कार करने गया तो उन्होंने आवारापन छोड़कर गम्भीरता से काम करने का निर्देश दिया। उनके बंगले पर होने वाली अपनी गोष्ठी में मैंने यह कविता पढ़ी–

है हाथ छुड़ा ले रहा आज
मुझसे मेरा आवारापन
मुझसे मेरा बनजारापन
पर्वतों बियाबानों के रस्ते-अनरस्ते
मेरे महँगे दिन चले गये कितने सस्ते
अब ये प्रकाश के बिम्ब सुहाने चौरस्ते
मैले तो लगते यहां
किन्तु लगता है नहीं अभागा मन
मुझसे मेरा बनजारापन

कविता सुन कर वे गहरी निगाहों से मेरी ओर देखने लगे। मैं बराबर एक आवारा अधिकारी बना रहूँ। मेरे लिये उनकी ओर से इतनी छूट तो मिल ही गयी।

उनकी मृत्यु काशी में हुई। 'हर-हर महादेव' के साथ नगर के लोगों ने उन्हें काशी विद्यापीठ से जालपा देवी होते हुए मणिकर्णिका घाट पर पहुँचाया। कितने सारे लोग गली-गली, घर-घर से निकल कर चुपचाप उनकी शवयात्रा में सम्मिलित हो गये। वह दृश्य वर्णनातीत था। मेरे लिए वह एक ऐसी पुस्तक के अंतिम पृष्ठ के पढ़ने जैसा था जिसे बचपन में घर के बड़े-बूढ़ों से छिपा कर उनके विरोध के बावजूद पढ़ना शुरू किया था। फिर उसमें मन लग गया था। मैंने सोचा भी नहीं था कि वह पुस्तक एक दिन एकाएक समाप्त हो जायेगी।

संसार परिवर्तनशील है, यह सभी लोग जानते हैं। सामान्य जीवन-क्रम में व्यस्त रहने वाले लोग अक्सर काल की गति को विस्मृत कर दिया करते हैं लेकिन जब कभी बड़ी घटनायें घटित होती हैं या महान् व्यक्तित्व अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति से हमें झकझोरते हैं तो जैसे भूले हुए पाठ की तरह काल की शक्ति की याद हो आती है। डॉक्टर सम्पूर्णानन्द जी का निधन एक ऐसी ही घटना है। जब तक वे हमारे बीच थे, हमे समय के परिवर्तन का आभास उतनी तीव्रता से नहीं हो रहा था, उनके जाने के साथ ही समय के बदल जाने का अनुभव हमें बड़ी ही तीव्रता से हुआ। यह अनुभव ऐसा नहीं है कि इसे आये-दिन लगने वाली चोटों की तरह भुला कर आगे बढ़ जाया जाय।

काफी लम्बे अरसे तक उनकी छत्रछाया में, उनके साथ काम करने का, चलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे प्राचीन और नवीन के अद्भुत समन्वय थे, इसलिये देश की राजनीति में उनका एक महत्वपूर्ण स्थान था। वे एक ओर जहाँ पुराण और अन्य शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे, वहीं दूसरी ओर उनका चिन्तन समाजवाद जैसी नवीनतम दर्शन-पद्धति से भी जुटा हुआ था। यह बड़ा दुर्लभ संयोग था। इसीलिये जब उन्होंने कांग्रेस के अन्तर में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की तो उनकी ओर विश्वास और आस्था से देखने वाले इस देश और प्रदेश के बहुत से लोग आकर्षित हुए। उनके 'समाजवाद' पुस्तक पर महात्मा गांधी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था, "उनका समाजवाद जहाँ समाजवाद के लगभग सभी प्रचलित सिद्धान्तों को स्वीकार करता है वहीं इसमें कुछ विशिष्टता भी है। "उन्होंने सम्पूर्णानन्द जी को लिखा था "वे इस अन्तर का अनुभव तो कर सकते हैं लेकिन वह अन्तर क्या है, यह ठीक-ठीक वे कह नहीं सकते।" सम्पूर्णानन्द जी ने अपने उत्तर में कहा था "यह अन्तर उनके दार्शनिक दृष्टिकोण का है।" डॉ. सम्पूर्णानन्द के सम्पूर्ण कार्यकलापों, विश्वासों और उनकी जीवन-पद्धति पर उनकी यह विशिष्टता बराबर प्रभाव डालती रही। जहाँ सामान्य लोग अपने आसपास के जीवन में घटने वाली घटनाओं से ही प्रभावित होकर निर्णय लिया करते थे, वहीं वे दूर तक देखने का प्रयत्न करते थे। उनके निर्णयों पर उनके विशाल अध्ययन और उनकी काल-भेदिनी दृष्टि का प्रभाव बराबर पड़ता था।

श्रीमती सरोजिनी नायडू ने एक बार कहा था "संम्पूर्णानन्द जी विद्वानों में विद्वान् हैं।" इसमें दो मत नहीं कि सम्पूर्णानन्द जी कितने ही विद्वानों के, चिन्तकों के तथा राजनीतिज्ञों के निर्माता थे और कितनों ही के वे निरन्तर प्रेरणा-स्रोत रहे। काशी विद्यापीठ की स्थापना के पहले से ही उन्होंने काशी के युवकों को प्रेरित करना प्रारम्भ कर दिया था और बाद में विद्यापीठ की स्थापना होने के बाद तो जैसे उन्हें एक प्रयोगशाला ही मिल गयी। उनके प्रारम्भिक जीवन में बड़े-बड़े क्रान्तिकारी तथा आस्थाशील व्यक्ति एक साथ उनके प्रभाव में आये। चन्द्रशेखर आजाद जैसे महान् क्रांतिकारी जहाँ उनके नेतृत्व में 'आजाद' बने, वहीं श्री लालबहादुर शास्त्री ऐसे महान् शांतिवादी, कर्मठ, व्यवहारवादी जन-नेता भी उनके प्रभाव क्षेत्र में आये।

अत्यन्त सामान्य हैसियत के परिवार के एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न युवक के लिए देश की पराधीनता एक चुनौती जैसी थी, सम्पूर्णानन्द जी ने पारिवारिक दिक्कतों को नजरअन्दाज करके उस चुनौती को स्वीकार किया। हमें यह कहने में हिचक नहीं होनी चाहिये कि स्वाधीनता संग्राम के प्रारम्भिक वर्षों में इस देश की जो प्रथम कोटि की प्रतिभायें अपने सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक बन्धनों को तोड़कर आगे आयीं, सम्पूर्णानन्दजी उनके प्रतीक थे। उनका पूरा जीवन इन्हीं दो छोरों को मिलाने का एक लम्बा और कष्टकर सिलसिला है जिसमें हम देखते हैं कि उन्हें अन्त तक सफलता नहीं मिली। परिवार टूट-फूट गया, गृहणियां असमय साथ छोड़कर चली गयीं, बच्चे अव्यवस्थित रह गये, लेकिन जो लोग उन्हें नजदीक से जानते हैं वे बिना हिचक के स्वीकार करेंगे कि जब जब उनका नाम पुकारा गया, वे सदैव सबसे पहले पहुँचे। उनके विषय में प्रसिद्ध था कि वे सारा काम समय से करते थे पर उनका समय से काम करने का यह गुण उनके लिये फैशन जैसा नहीं था; वह उनकी जीवन-पद्धति का अंग बन गया था। आन्दोलन के समय, विपत्ति के समय, जहाँ भी आवश्यक हुआ, जहाँ उनकी आवश्यकता थी, वे उपस्थित देखे गये। जब वे जेल के भीतर होते थे, तब घर के लोगों पर क्या बीत रही है, इसकी चिन्ता वे पीछे ही छोड़ आते थे। वे जानते थे कि उनके साथ जो सैकड़ों-हजारों लोग चल रहे थे, उनके भी अपने-अपने दुःख हैं, इसीलिये वे अपना दुःख कभी बड़ा करके नहीं देखते थे।

वे अद्भुत विद्वान् थे लेकिन उनका ज्ञान उन्हें समाज से अलग रह कर केवल चिन्तन करने वाला दार्शनिक नहीं बना सका। महर्षि तिलक के समान ही उन्होंने शास्त्रों की व्याख्या कर्मयोग के महान् सिद्धान्त के आधार पर की, इसीलिये मुझे यह कहने में हिचक नहीं होती कि उनके प्रसिद्ध ग्रंथ "आर्यो का आदि देश" और "चिद्विलास" सभी माने में महात्मा तिलक की "गीता रहस्य" की परम्परा को ही विकसित करते हैं। यद्यपि उन्होंने माना है कि आर्य इसी देश के रहने वाले थे और कहीं से आये नहीं थे और इस प्रकार उन्होंने श्री तिलक की स्थापना का खण्डन ही किया है, लेकिन हम क्यों नहीं स्वीकार करें कि दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक हैं और आर्यों के सम्बन्ध में कोई जानकारी तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक ये दोनों पक्ष देख न लिये जायं। 'चिद्विलास' उन्होंने दूसरे महायुद्ध के दौरान लिखा था। उस समय इस राष्ट्र की चेतना भी मुक्ति के लिए छटपटा रही थी और स्वयं डॉ. सम्पूर्णानन्द जी भी न जाने कितने ही मानसिक घात-प्रतिघातों के बीच थपेड़े खा रहे थे। इन सारे मन्थनों का परिणाम है उनका 'चिद्विलास' नामक दर्शन-ग्रंथ। उसमें उनकी वाणी चिन्तन में पड़े उस भारतीय दार्शनिक की वाणी है जिसके सामने बार बार निर्णायक क्षण उपस्थित हुए हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उसी विश्वासपूर्ण और कर्मशील व्यक्तित्व का परिचय दिया है और प्रयत्न किया है कि दर्शन एक बार पुनः विज्ञान का नेतृत्व करे। उनका विश्वास था कि सिद्धान्तविहीन होकर कोई भी जाति या संगठन अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। हमारे इस देश के इतने लम्बे अर्से तक जीवित और जागृत बने रहने का मुख्य कारण यही है कि हमारी अपनी एक आस्था थी और हमारा अपना एक दर्शन था। इस देश के विचारकों ने

बराबर सनातन सत्यों को नयी वेष-भूषा में उपस्थित किया है और हमें नष्ट होने से बचा लिया। यदि वे ऐसा नहीं करते तो ज्ञान का स्रोत ही सूख जाता। दर्शन को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता, यह वे मानते थे। यह सच है कि बिना दर्शन के जीवन व्यर्थ है और बिना जीवन के दर्शन एक निष्प्राण बहस मात्र रह जाता है। दर्शन से इसीलिये वे एक ऐसा सेतु बनाना चाहते थे जिसके सहारे लोग नये-नये विश्वासों और जीवन-सत्यों तक पहुँच सकें। नये-नये महात्माओं, साधुओं और समाज के ठीकेदारों पर व्यंग करते हुए उन्होंने कहा था–"आज वही महात्मा साधु है, जो समाज के धक-धक जलते हुए विशाल भवन पर पानी का छींटा डालने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहता।" सम्पूर्णानन्द जी की यह उक्ति आज भी उतनी ही सच है जितनी 'चिद्विलास' लिखते समय थी। उनकी विचारधारा में ऊँची जाति, कुल या सम्प्रदाय को भी स्थान नहीं था। वे यह मानते थे कि यदि मोक्ष मिलना है तो उसे प्राप्त करने का अधिकार हर व्यक्ति को है बशर्ते कि वह उपयुक्त साधना करे और उसके लिए वह अपने को योग्य साबित करे। राजनीति भी उनके लिए इसीलिये एक साधना थी और उन्होंने बराबर उसको इसी ऊँचाई से देखा।

दर्शन के अतिरिक्त वे अन्य भी कितने ही गुणों से विभूषित थे। निष्पक्ष, तथ्यवादी, स्पष्टवक्ता, अटल तथा उद्यमी डॉ. सम्पूर्णानन्द एक साथ ही कवि, निबन्धकार, आलोचक, कथाकार, सम्पादक तथा पत्रकार सब कुछ थे। यों मूलतः वे अपने को अध्यापक कहते थे और उत्तर प्रदेश के शासन की बागडोर संभालते समय भी वे बराबर कहा करते थे "वे अध्यापक ही हैं, एक ऐसा अध्यापक जिसने राज-काज करने के लिए अपनी शिक्षण संस्था से लम्बी छुट्टी ले रखी हो।" इसीलिये लम्बा राजनीतिक प्रवास पूरा करने के बाद वे पुनः उसी पाठशाला में लौट गये जहाँ से भारतमाता की पुकार उन्हें भरी जवानी में खींच लायी थी। शरीर से जर्जर, काल से लड़ते हुए वे अपनी पाठशाला में लौटे तो जरूर लेकिन उनका जो कुछ अपना था, उसे वे देश को सौंप आये थे। बहुत जल्दी ही वे पूरे परिवार को सन्तप्त छोड़कर उस लोक में चले गये जिसकी परिकल्पना उनके मन में बहुत दिनों से थी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के रूप में उनका व्यक्तित्व आज भी लोगों को याद आता है। हिन्दी के संवर्द्धन और उसको सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिए जिन कुछ लोगों ने अनवरत परिश्रम किया, उनमें डॉ. सम्पूर्णानन्द अन्यतम थे। महात्मा गांधी और श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन के बाद यदि तीसरा नाम इस सम्बन्ध में लिया जा सकता है तो वह नाम डॉ. सम्पूर्णानन्द का ही है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी कि वे जो कुछ भी कहते थे या करते थे, उस पर शत-प्रतिशत विश्वास करते थे। इसीलिये उनके लिए हर प्रश्न आस्था का प्रश्न होता था। हिन्दी भी इसीलिये उनके व्यक्तित्व का एक अंश था। वे उसके बिना किसी अन्य प्रकार के जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे मानते थे कि भारतीय प्रतिभा का विकास भारतीय भाषाओं के द्वारा ही हो सकता है। इसीलिये उन्होंने अपनी सभी महत्वपूर्ण पुस्तकें विश्वास के साथ हिन्दी में ही लिखीं। अंग्रेजी पर उनका अद्‌भुत अधिकार था और यदि उन्होंने अपने सिद्धान्त अंग्रेजी में प्रतिपादित किये होते

तो उन्हें और विस्तृत क्षेत्र मिलता। लेकिन स्वधर्म में विश्वास रखने वाले डॉ. सम्पूर्णानन्द ने अपना सिद्धान्त कभी नहीं छोड़ा। जानने वाले जानते हैं कि स्वभाषा के इसी स्नेह के चलते उन्हें काफी विरोधों का सामना करना पड़ा लेकिन वे इस प्रश्न पर समझौता करने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। भाषा की समस्या पर, उनकी प्रसिद्ध पुस्तक आज ही नहीं भविष्य में भी एक महत्वपूर्ण पुस्तक बनी रहेगी।

वे पूरे देश के थे, फिर इस उत्तर प्रदेश के थे लेकिन वे मूलतः काशी के थे। उनके रूप में काशी ने एक ऐसा नेता पाया था जिसमें प्राचीन और नवीन एक साथ प्रतिध्वनित होते थे। वे काशी को एक अद्‌भुत समन्वयकारी और विशिष्ट नगर के रूप में बराबर देखते रहे क्योंकि काशी केवल उनके पार्थिव शरीर का निवास स्थान ही नहीं थी बल्कि उनकी सारी आस्था, उनके सारे विश्वासों और उनकी सारी मर्यादाओं की भी जन्म और विकास-स्थली थी। उनके निधन के साथ देश ने जहाँ एक राजनेता खोया, प्रदेश ने जहाँ एक प्रशासक और विद्वान् खोया वहीं काशी ने अपना एक प्रतीक भी खो दिया।



मानवता की कसौटी डॉ. सम्पूर्णानन्द

श्री कृष्णचन्द्र बेरी

1936 के आस-पास बंगाल से प्रारंभ अपने छात्र जीवन में मेरा झुकाव समाजवादी आन्दोलन की ओर था। कांग्रेस समाजवादी दल का गठन हो चुका था। हमारे चहेते नेता थे अच्युत पटवर्धन, जयप्रकाश नारायण, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, सज्जाद जहीर, यूसुफ मेहर अली, डॉ. राममनोहर लोहिया, डॉ. अशरफ आदि। इन लोगों से ऊपरी तबके में आचार्य नरेन्द्रदेव जी और संपूर्णानन्द जी का नाम लिया जाता था। भ्रमवश बंगाली संपूर्णानन्द जी के नाम से भ्रमित हो उन्हें संन्यासी, साधु समझते थे। उनकी पुस्तक 'समाजवाद' प्रत्येक युवा समाजवादी के लिए बाइबिल बन चुकी थी।

बाबू सम्पूर्णानन्द जी गणेश शंकर विद्यार्थी के अन्यतम सहयोगियों में थे। विद्यार्थी जी की तरह ही वे भारतीय स्वतत्रंता संग्राम के स्वतंत्रता सेनानी रहे और बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'आज' को उन्होंने बहुमूल्य सहयोग दिया।

गणेश शंकर विद्यार्थी के प्रताप प्रेस से बाबू संपूर्णानन्द जी की प्रारंभिक कृतियां प्रकाशित हुई थीं। सम्राट् अशोक, छत्रसाल, चेतिसिंह, सम्राट् हर्षबर्द्धन आदि उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ थीं। विद्यार्थी जी के दैनिक प्रताप' में भी उन्होंने लेख लिखे।

बाद में उन्होंने ज्ञानमण्डल को 'ब्राह्मण सावधान' पुस्तक लिखकर दी, जिसकी चर्चा बहुत ही व्यापक रूप में हुई। 'गणेश' पर लिखी उनकी शोधपरक कृति और 'समाजवाद' ज्ञानमण्डल के ही प्रकाशन थे।

राजनीति में बाबू सम्पूर्णानन्द गोविन्द बल्लभ पंत के मंत्रिमण्डल में शिक्षा मंत्री रहे। बाद में उ.प्र. के मुख्य मंत्री बने और अन्त में सन् 1964 में राजस्थान के राज्यपाल बनाये गये। उनके समय में जयपुर का राजभवन काशीवासियों के लिए अतिथिशाला बना हुआ था।

सार्वजनिक जीवन में अपनी ईमानदारी के कारण उन्हें बहुत संम्मानित दृष्टि से देखा जाता था। बाबूजी के नाम से लोग उन्हें संबोधित करते थे। बाबूजी स्वतंत्र विचार के थे। उन्हें व्यक्तित्व की अपेक्षा कर्तृत्व प्रभावित करता था। अनेक बार जवाहरलाल जी जैसे महान् नेता से उनके सैद्धान्तिक मतभेद उभर आते थे।

राजनीति के महत्ता से उनका साहित्यकार और पत्रकार मन किसी भी हालत में कम नहीं था। हिन्दी की सेवा करने में भी वे सक्षम हुए। भाषा को सरल बनाने और परिष्कृत करने का बहुत

श्रेय उनका भी है। उन्हीं के मुख्यमंत्रित्व काल में उत्तरप्रदेश हिन्दी समिति बनी। वह अपनी आकर्षक लेखन शैली के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। लेखन में अपना हृदय निकाल कर रख देते थे।

बाबू सम्पूर्णानन्द के अन्तरंग सहयोगियों में श्री रामेश्वर सहाय सिन्हा, डॉ. गिरीश सहाय, कृष्ण देव प्रसाद गौड़, बेढब बनारसी अन्यतम थे। स्थानीय राजनीति में श्री राजबिहारी सिंह, डॉ. रघुनाथ सिंह, सज्जन देवी महनोत, कृष्णचन्द्र शर्मा, डॉ. तुंगम्मा आदि उनके नजदीकी थे। श्री भगवती शरण सिंह उनके सचिव थे जिन्होंने अपने जीवनपर्यन्त बाबू संपूर्णानन्द जी की लीक पर साहित्यिक लेखन की मर्यादा को अक्षुण्ण रखा।

उ. प्र. में बेसिक शिक्षा का आविर्भाव डॉ. संपूर्णानन्द जी के कार्यकाल में हुआ। गांधी ज़ी के आदर्शों पर प्रदेश के सभी प्राइमरी स्कूल बेसिक शिक्षा से जुड़ गये। कताई-बुनाई और कृषि तथा बागवानी रोजगारपरक शिक्षा का माध्यम बने। बाबूजी के निर्देश पर इन विषयों पर अलग-अलग पाठ्य पुस्तकें डॉ. इबदुर रहमान खान, तत्कालीन शिक्षा निदेशक ने लिखायी।

ईमानदारी की प्रतिमूर्ति डॉ. संपूर्णानन्द आज देश के लिए मिसाल हैं। इतने बड़े-बड़े पदों पर रहने के बाद भी वे अपने परिवार के लिए कुछ भी नहीं छोड़ गये। उनके पुत्र सर्वदानन्द जी अपने अन्तिम जीवन काल में अर्थाभाव से समुचित चिकित्सा का लाभ भी नहीं पा सके।

देश की स्वतंत्रता के लिए त्याग करने वाले इने-गिने नेताओं में संपूर्णानन्द जी का नाम आता है। उनकी रगों में राष्ट्रप्रेम की धारा प्रवाहमान थी। बापू द्वारा संचालित कोई भी ऐसा आन्दोलन नहीं था जिसमें उन्होंने सक्रिय रूप से भाग न लिया हो। 1942 के आन्दोलन में उनकी भूमिका चिरस्मरणीय रहेगी।

वे जब भी विधान सभा के लिए चुनाव लड़े तो कभी भी पराजित नहीं हुए। एक बार साम्प्रदायिकता ने उन्हें झकझोरना चाहा, परन्तु उस बार भी वे सत्य की कसौटी पर खरे उतरे और उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी रुस्तम सैटिन साहब के विरुद्ध अद्भुत और आश्चर्यजनक विजय प्राप्त की। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे काशी विद्यापीठ के कुलाधिपति थे। उनका स्वाभिमान, उनका चिन्तन और उनकी पवित्र भावनाएं सामाजिक मानदण्डों की आदर्श बनी रहीं। काशी को गर्व है कि उसने डॉ. संपूर्णानन्द के रूप में मानवतावादी उच्च आदर्श का एक नेता पाया।



डॉ. सम्पूर्णानन्द का साहित्य, शिक्षा और समाजवाद में योगदान

डॉ. रत्नाकर पाण्डेय

श्री संपूर्णानन्द जी सरस्वती के उन प्रतिभासंपन्न पुत्रों में थे जिन्होंने हिंदी को गौरव प्रदान किया। दशकों पहले से, जब विदेशी भाषा अंग्रेजी में ही लिखना-पढ़ना ज्ञान तथा विद्वता का प्रतीक समझा जाता था और हिन्दी असंस्कृत जनसमुदाय की भाषा समझी जाती थी, वह हिन्दी में लिखते रहे और उसका भंडार अपनी रचनाओं से परिपूर्ण करते रहे।

इतिहास, विज्ञान और दर्शन उनके अध्ययन के तीन केन्द्र-बिन्दु थे। उन्होंने जो कुछ किया उसमें अनुसंधान तथा परीक्षण का आलोक था। इस बात से सभी सहमत हैं कि विचारों के पथ में उनसे प्रगति हुई, विद्वन्मंडली उनसे प्रभावित हुई। दर्शन और विज्ञान का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न उन्होंने किया और एक दूसरे के सहारे जीवन के तत्वों के भाष्य का प्रयास किया। पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की सहायता लेकर प्राच्य दर्शन की सूक्ष्म गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया। उनकी रचनाओं से विचारों को उत्तेजना मिलती है और हम विचार की निश्रयणी पर चढ़ते हैं।

जहाँ विचारों के संसार में दार्शनिकों को शांति से जीवन के तत्वों की खोज करने के लिए मानव-समाज की साधारण वृत्तियों से ऊपर उठ जाना होता है वहां राजनीतिक जगत में राग-द्वेष, आक्षेप-विक्षेप, प्रहार-संहार में ही अपनी शक्ति का विनाश करना पड़ता है। किंतु देश की जो अवस्था रही है उसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा मस्तिष्क राजनीति की ओर लगा। बौद्धिक पहलवानों को राजनीतिक अखाड़ों में उतरना पड़ा। पराधीन देश में दासता के बंधन से मुक्ति दिलाने की चेष्टा से बढ़कर और कौन सुकर्म हो सकता है। और ठीक ही, उसी ओर सभी सजीव प्राणी लगे। श्री संपूर्णानंद ने भी अपने को उसी ओर लगाया। समय-समय पर जब उन्हें अवकाश मिला भारती की आराधना में ही उन्होंने लगाया। और उसके परिणामस्वरूप जो कुछ हमें मिला है, वह विचारों के जगत को अनुपम देन है।

श्री संपूर्णानन्द जी शुष्क राजनीतिक कार्यकर्ता ही नहीं थे–अपितु साहित्यकार की सहृदयता से उनका हृदय ओत-प्रोत था। रसानुभूति के लिए सहृदय को जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह सब उनमें मौजूद थे। यद्यपि वह कहा करते थे कि मुझमें काव्य समझने की क्षमता नहीं है तथापि

वह कविता के मर्मज्ञ थे और उसकी तहों में पहुंचते थे। हिंदी में कविता सुनते थे, पढ़ते थे और उनकी टीका कभी-कभी विचक्षणता से पूर्ण होती थी।

साहित्य के निर्माण के क्षेत्र में सफलता मिलने का कारण साधना तो है ही, और भी बड़ा कारण उनका चरित्र था। इस निर्णय में लेशमात्र संदेह नहीं है कि महान चरित्र ही महान साहित्य का सर्जन कर सकता है। विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। हीन तथा चरित्र से स्खलित लोग शब्दाडंबरों से परिवेष्टित तथा भाषा का चमत्कार लिए हुए क्षणिक ज्योति दिखाकर विलीन हो जानेवाली रचनाओं का निर्माण कर सकते हैं। किंतु काल के प्रवाह में उनका लय हो जाता है। चरित्र की उर्वर भूमि में ही साहित्य के पौधें का विकास हो सकता है। संपूर्णानन्द के कृष्णवर्ण के अंदर उज्ज्वल चरित्र तथा व्यक्तित्व निहित था। साधारण परिस्थितियों में अपने चरित्रबल से उन्होंने अपना विकास किया।

डॉ. संपूर्णानन्द जी लोकमंगल के विधायक ऐसे मंत्रद्रष्टा थे, जिन्होंने जनजीवन, संस्कृति, समाज शिक्षा और साहित्य सबको एक दूसरे का अनिवार्य अंग समझते हुए सभी क्षेत्रों में विधायक कार्य किया है। संपूर्णानन्द जी का विचार था कि "जीवन के मधुर पक्ष को बरबस दबाने से मानसिक ग्रंथियाँ अत्यंत उलझ जाती है, ज्ञानार्जन और स्वाध्याय में भी रस नहीं रह जाता।

अपने गुरुदेव से संपूर्णानंद जी ने आश्विन के शुक्लपक्ष के प्रथम दिन संवत् उन्नीस सौ सरसठ में प्रातःकाल 6 बजे वाराणसीस्थ तत्कालीन बेनियाबाग, इक्कीस-बाईस वर्षों की वय में योगदीक्षा ली थी। इस अगाध रत्नाकर में वह गहरे से गहरे उतरते चले गए। सद्गुरु से ही इन्हें शिक्षा मिली कि योग की पहली सीढ़ी पर पाँव रखनेवाले का भी स्थान दूसरी सब उपासना, यज्ञ, योग करनेवालों के लोक से ऊँचा है। कभी-कभी कलाकार को भी एक झलक मिल जाती है, कलाकार उस अमूर्त्त झलक को राग, पद्य, मूर्ति और चित्र में साकार बनाने का प्रयास करता है और कला का इतिहास असंभव को संभव बनाने के ऐसे प्रयत्नों का इतिहास है।

यह आश्चर्य से कहा जायगा कि मूलतः योग और अध्यात्म-जगत् का एक जिज्ञासु और साधक साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, ज्योतिष, दर्शन, शिक्षा और शासन के क्षेत्र में भी समान गति रखता हो और उनमें भी जनजीवन पर एक अमिट छाप छोड़ जाय। संपूर्णानन्द जी भगवती भारती के वरद पुत्र थे। सन् 1910 के बाद "धर्मवीर गांधी" नामक पुस्तक के साथ वह साहित्यक्षेत्र में आये और मृत्युपर्यंत मां शरदा के भंडार को विविध विषयों की रचनाओं से भरते रहे। शरीरांत के कुल 10 दिनों पूर्व अंतिम पुस्तक निकाली—"वेदार्थ प्रवेशिका।" भारतीय समाजवाद पर उनकी पुस्तक "समाजवाद" पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका था। नागरीप्रचारिणी सभा की मनोरंजन पुस्तकमाला के अंतर्गत उनकी विज्ञान और ज्योतिष पर दो पुस्तकें बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी हैं—'भौतिक विज्ञान' और "ज्योतिर्विनोद।" हिंदी में सर्वप्रथम वैज्ञानिक उपन्यास "पृथिवी से सप्तर्षिमंडल" उन्होंने लिखा। कवि और काव्य के प्रेमी थे, बराबर घर पर गोष्ठियों का आयोजन करते रहते थे। नई कविता पर भी विचार व्यक्त करते रहते थे। कला और कलाकार का

सम्मान करना जानते थे। स्वयं संगीत और नृत्य की गोष्ठियां कराते। रंगमंच को बहुत ऊँचा आसन देते थे, स्वयं दो-तीन बार अभिनय कर चुके थे।

नागरीप्रचारिणी सभा से उनका जीवन पर्यत संबंध बना रहा और सचेत सक्रिय इसके उन्नायकों में उनकी सेवा मौलिक महत्त्व की अधिकारी है। हिंदी विश्वकोश, शब्दसागर, बृहत इतिहास आदि हिंदी की गौरवशाली योजनाओं की सफलता उनके ही आशीर्वाद एवं सक्रियता का परिणाम है।

राजनीति, शिक्षा और शासन के क्षेत्र में संपूर्णानन्द जी की सेवाएं भूली नहीं जा सकतीं। टूट सकते थे किंतु झुक नहीं सकते थे। सिद्धान्तों से समझौता स्वभाव में नहीं था तभी देश के सर्वोच्च पद पर आसीन नहीं हो सके। आदर्श के लिए ही प्रदेश का मुख्यमंत्रित्व त्याग दिया। इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी उनकी देन सदा याद रहेगी। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि 'जब तक हम अपनी शिक्षा में सौंदर्योपासना को स्थान ने देंगे तब तक शिक्षा अधूरी रहेगी शिक्षित अकृत्स्न रहेगा। हमारे चारों और सौंदर्य का सरोवर छलक रहा है। आँख खोलने की, उस रस के प्रवाह में निश्चेष्ट होकर अपने को डाल देने की, आवश्यकता है। बचपन से ही और बातों के साथ-साथ सौंदर्यानुभूति और कला, विशेषतः कलाओं के सम्राट, संगीत की शिक्षा मिलनी चाहिए। श्रुति कहती है "रसो वै सः"-परमात्मा रसस्वरूप है, प्रकृति उसका आभूषण है। सौंदर्यानुभूति शिवशक्ति की अभिन्न युगलमूर्ति का दर्शन है।

शासन जगत् तो सदैव उनका ऋणी रहेगा। अपने मुख्यमंत्रित्व काल में उन्होंने वाराणसी के घाटों का जो जीर्णोद्धार कराया, वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय और नैनीताल में वेधशाला खोली, भारत में, संभवतः विश्व में, प्रथम बार मुक्त कारागारों का जो प्रयोग किया, साहित्यिक कृतियों पर पुरस्कार तथा साहित्यिकों और कलाकारों को मासिक पेंशन देने तथा वृद्धावस्था में पेंशन देने की जो योजनायें चलाईं, बनारस को 'वाराणसी' नाम दिलवाया, हिंदी समिति द्वारा पुस्तकों का प्रकाशन, शासकीय स्तर पर नाट्य समारोहों का आयोजन तथा शासकीय नाट्यदल की स्थापना, गोवधनिषेध आदि जो कार्य किए वह उन्हें शासक के रूप में स्मरणीय रखने को पर्याप्त हैं।

●

भारतीय मनीषा के प्रतीक डॉ. सम्पूर्णानन्द

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

भारतीय मनीषा की पहचान उसकी उन्मुक्त विश्वजनीनता है। एक ऐसी विश्वजनीनता जो नाना रंग, रूप, आकार, प्रकार आचार-विचार और विविधता-विभिन्नता के बीच भी एकसूत्रता स्थापित करती है और यह विज्ञान-सम्भव भी है। इसने एक ओर जहां दया, प्रेम और करुणा प्रेरित 'मेत्ता' का सन्देश देकर निर्वैर धर्म का प्रचार किया उस पर आधारित विश्व-बन्धुत्व जैसी उदात्त भावना की प्रेरणा प्रदान की वहां दूसरी ओर आत्मनिष्ठ अहंकार को भी जन्म दिया। फलस्वरूप हम उसे अपने जीवन में ज्यों-का-त्यों उतार न सके और हमारी उर्ध्वमुखी चेतना पतनोन्मुख हो चली। हमारी इस अधोमुखी अवस्था की ओर हमारे मनीषियों का ध्यान गया और समय-समय पर उन्होंने हमारी तंद्रा भंग करने की भरपूर चेष्टा भी की, किन्तु फिसलते पैरों का हम संतुलन खो चुके थे वह नीचे की ओर रपटता ही चला गया। आज सचेत होकर भी हम संभल नहीं पाये हैं और उसका समाधान भाग्य तथा भगवान के हाथों सौंपकर उसके दायित्व से मुक्त हो जाना चाहते हैं यह विषम स्थिति चिन्त्य ही नहीं, चिन्तन का भी विषय है।

सम्पूर्णानन्द जी का स्मरण आते ही उनका बहु आयामी व्यक्तित्व उभर आता है। वे एक साथ ही राजनेता ही नहीं, समाज सुधारक भी थे। प्राध्यापक ही नहीं, संपादक भी थे। विज्ञानवेत्ता ही नहीं, दार्शनिक भी थे, सांप्रदायिक नहीं, धार्मिक थे। साधक ही नहीं, सिद्ध भी थे। दर्शक ही नहीं, द्रष्टा भी थे। स्रष्टा ही नहीं, शुभ चिन्तक भी थे। इन सबसे बढ़कर वे एक महामानव थे जो नितान्त अभाव में भी सर्वस्व लुटाने को तैयार ही नहीं, तत्पर भी रहते थे। वे अगेह तो नहीं थे, किन्तु विदेह अवश्य थे। स्मरण आती है उनकी जालपा देवी वाली कुटिया जिसमें वे सपरिवार निवास किया करते थे। उनका वह अध्यापकीय तेवर जिसके साथ ही वे अपना विश्वकोशीय ज्ञान बोधगम्य बना दिया करते थे। उनका वह संपादकीय लेखन जो दिशा-निर्देश करने में सर्वथा सक्षम एवं समर्थ रहा करता था। उनकी वह विचार-सरणि जो तर्क-संगत रहा करती थी। उनका वह स्वतंत्रता-संग्राम संचालन जो संकल्प-शक्ति का परिचायक था। उनकी वह कर्तव्य-निष्ठा जो उनके चरित्र को उजागर करती थी। उनकी वह सिद्धान्त-प्रियता जो उन्हें समझौते से विरत कर देती थी। उनका वह मानवोचित व्यवहार जो अपनी ओर आकर्षित कर उनसे जोड़ देता था। फिर सर्वोपरि उनकी वह मस्ती जो उन्हें अवधूत बना देती थी।

सम्पूर्णानन्द जी से मेरा सम्पर्क सन् 1930 के राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रम में हो गया था। उन दिनों वे काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक पद पर प्रतिष्ठित थे और विद्यापीठ आन्दोलन का केन्द्र बन चुका था। एक अन्य केन्द्र बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा संचालित 'आज' कार्यालय भी था जिसका संपादन निर्भीक पराड़कर जी कर रहे थे। उससे सम्पूर्णानन्द जी भी किसी न किसी रूप में जुड़े थे। एक सक्रिय कार्यकर्ता को इन दोनों केन्द्रों के सम्पर्क में आना पड़ता था। मेरे क्रान्तिकारी मित्र विद्यारण्य जी जैसे कार्यकर्ता सम्पर्क-सूत्र का कार्य किया करते थे। यदा-कदा मैं भी अपने दायित्व-वहन में रत रहा करता था। इसी क्रम में धीरे-धीरे मैं सम्पूर्णानन्द जी का विश्वास-पात्र बन गया था। आगे चलकर उनका स्नेह-भाजन बनते देर न लगी जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया। फिर लिखने पढ़ने का भी क्रम चल पड़ा और मैंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

स्वतंत्रता-संग्राम से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक की अवधि उथल-पुथल की रही। जल-प्रवाह के तिनके की भाँति कभी उनके निकट चले आते तो कभी दूर चले जाते परन्तु दिक्-काल के अन्तराल ने हमारे संबंधों में व्यवधान उपस्थित नहीं किया। मुझे स्मरण हो आता है समेश्वर सहाय और खेदन लाल जी का जो उनके सहचर बने रहते थे। भाई-विद्या-भाष्कर जी, भगवती शरण सिंह जी, राजबिहारी सिंह जी जैसे मित्रों की स्मृतियां भी ताजी बनी हुई हैं जो प्रायः उनके आस-पास दिख जाया करते थे। फिर न्यायमूर्ति श्री गोपालचन्द्र सिंह की सौम्य आकृति भी कौंध जाती है जो साये की भांति उनसे लगे रहते थे। सभी के अपने-अपने क्षेत्र थे। किन्तु बाबू जी के व्यक्तित्व के कारण सब में एकसूत्रता थी। वे सबके विश्वसनीय आधार थे। वे एक साथ ही सबसे अपना संबंध निभा लेने में सक्षम थे। उनका वह रूप भी स्मरण है जब कि पंत मंत्रिमंडल में शित्रा-मंत्री थे। फिर स्वतंत्र रूप से मुख्यमंत्री बने। फिर राजस्थान के राज्यपाल के पद पर सुशोभित हुए। नागरी प्रचारिणी सभा जैसे साहित्यिक संस्था के तो वे संरक्षक रहे ही, वाराणसेय संसस्कृत विश्वविद्यालय के भी संस्थापक बने। यह उनकी संस्कृत एवं संस्कृति-निष्ठा का ज्वलंत उदाहरण है।

उन्होंने कई संस्थाओं को जन्म दिया और अनेक को अहेतुक प्रश्रय प्रदान किया। समाजवादी आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं में उनका नाम प्रथम पंक्ति में आता है और युवा-आन्दोलन को उनका वरदहस्त सदैव सुलभ रहा। इतने व्यस्त जीवन में भी वे लिखने-पढ़ने का अवकाश तथा अवसर निकाल लेते थे। ऐसे लोगों में लोकमान्य तिलक, जवाहर लाल नेहरू और आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे नाम सगर्व लिये जा सकते है। योग-साधना और ज्योतिष विद्या में उनकी गहरी रुचि एवं आस्था थी।

पंडित रामाज्ञा जी को सम्पूर्णानन्दजी अपना गुरू मानते थे जो संयोगवश बलिया जनपद के निवासी थे। भाई सुरेन्द्र बालूपुरी से पारिवारिक संबंध होने के कारण हम उनके और भी अधिक समीप आ गये थे। तारकेश्वर पाण्डेय, रामलक्षण तिवारी को लेकर हमें "त्रिमूर्ति" कहा जाने लगा था। विद्यापीठ में गंगासिंह और जगन्नाथ सिंह भी आ गये थे। काशी विद्यापीठ के ही श्री गोकुल दास शास्त्री हमारे नेता बने।

हिन्दी और संस्कृत के क्षेत्र में बलिया के योगदान के प्रति बाबूजी के मन में बड़ा आदर-भाव था। संस्कृत के क्षेत्र में पंडित काशीनाथ से लेकर पंडित बलदेव उपाध्याय और हिन्दी के क्षेत्र में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. उदय नारायण तिवारी से लेकर डॉ. भगवत शरण उपाध्याय का नाम गिनाना वे कभी भूलते न थे। उन्हें गुरुवत् मानकर जब कभी मैं उनका चरण स्पर्श करता था तो वे बराबर कहा करते थे कि ब्राह्मण बालक द्वारा चरण-स्पर्श किये जाने पर यही कहा जायेगा कि मैंने स्वयं उसे प्रेरणा प्रदान कर प्रोत्साहित किया है। परन्तु बात वैसी नहीं थी। वह उनकी विन्रम्रता का संकोच था।

सन् बयालीस के निर्णायक आन्दोलन में हम जिला जेल वाराणसी में बहुत दिनों तक आसपास रहे। गोविन्द मालवीय और राजाराम शास्त्री जैसे नेता भी साथ-साथ रहे। वहां बाबूजी को नियमित व्यायाम करते और विधिवत अध्ययन करते मैंने पाया था। कभी-कभी उनके सान्निध्य में जाकर हम उनसे कुछ न कुछ सीखा-समझा भी करते थे। एक दिन जब मैंने उन्हें चादर ओढ़कर जेल के फाटक की ओर जाते देखा तो कारण जानने का कुतूहल हुआ। उनका पीछा करने पर मैंने पाया कि जेल का ठीकेदार जिस गाड़ी से सामान लाया करता था उससे सामान के साथ-साथ अखबार भी आ जाया करता था जिसे बड़े कौशल से बाबूजी चुपचाप ले लिया करते थे और यह क्रम प्रतिदिन चलता रहा। अमोलक चन्द्र जी भी कभी-कभी उनके सहायक बन जाते थे। फिर तो ठाकुर दास जी वकील ने भी अपना जोगाड़ बैठा लिया था। उनका यह कृत्य बड़ा ही रोमांचकारी था।

जेल के बाहर भी जाने कितनी बार सम्पूर्णानन्द जी से कई प्रसंगों में मिलता रहा। एक ऐसा ही रोचक प्रसंग स्मरण हो आया है। जिन दिनों बाबूजी राजस्थान के राज्यपाल रहे उन दिनों मैं भारतीय ज्ञानपीठ में अधिकारी पद पर कार्यरत रहा। एक दिन जब पता जला कि बाबूजी राष्ट्रपति भवन के अतिथि निवास में ठहरे हैं तो श्री गोपाल चन्द्र सिंह के साथ मैं सपरिवार उनसे मिलने गया। वहां आतिथ्य-सत्कार में जो कुछ आया उसे लेने में मेरी पत्नी सुश्री इन्दुप्रभा ने अरुचि दिखालायी। इसे बाबूजी ने लक्ष्य किया और यह कहते हुए कि ये ब्राह्मण-परिवार की काशी की कन्या है। गिलास मंगाकर अपने हाथों से उसमें दूध उड़ेल दिया और फल काट-छील कर देने लगे और मैं संकोच के मारे गड़ गया। यह थी उनकी सहज प्रकृति जिसे कम ही रेखांकित किया जा सका है। सचमुच उन्हें काशी पर गर्व था जिसकी संतान होने का गौरव मिला था। वास्तव में भारतीय मनीषा के वे मूर्त रूप थे।

हिन्दी सम्पूर्णानन्दजी के लिए सम्पर्क भाषा या राजभाषा से बढ़कर राष्ट्रभाषा थी। राष्ट्र की भाँति ही उनकी राष्ट्रभाषा के प्रति भी दृढ़ निष्ठा थी। इसके लिए वे बड़ा से बड़ा त्याग तक करने को तैयार एंव तत्पर रहते थे। यही कारण है कि उन्होंने इस बिन्दु पर प्रधानमंत्री जवाहर लाल जी से भी टकराव लेने में संकोच नहीं किया। इस कोटि का एक अन्य उदाहरण राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का मिलता है जिन्होंने श्रद्धालु होने के बावजूद राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रश्न पर महात्मा गांधी से भी टकराने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाई।

महामनीषी साधक-प्रशासक डॉ. सम्पूर्णानन्द

प्रो. खुशालचन्द गोरावाला

तीन लोक से न्यारी काशी

उत्तर मुख वाहिनी अर्थात् उद्गम या मूल स्रोतोन्मुख गंगा के तीर पर बसी काशी प्राग्वैदिक शिश्नदेव महादेव की नगरी है। 'दीनानाथ दिगम्बर बाबा' की इस पुरी का निशल्यता (मस्ती) इस परमं भौतिक युग में भी स्थिर है। अग्नि, वरुण, सोम और इन्द्र देवों के ही आराधक वैदिक पूर्वजों ने उपनिषद् काल तक कोशल में ब्राह्मण धर्म का प्रसार कर लिया था। किन्तु काशी से वैवाहिक सम्बन्ध करके भी वे पशुपति के त्रिशूल पर स्थित काशीवासियों को गुप्त युग तक पशुयाग के लिए सहमत नहीं कर सके थे। इसका ही यह परिणाम था कि उन्होंने गंगापार जा कर कर्मनाशा' को ही अपनी साधना की पूर्णा की सीमा घोषित किया था; क्योंकि इसके आगे का पूर्वाञ्चल वैदेहसाधना की स्थली था।

न्यूनतम 3500 विक्रमपूर्व वर्ष से प्रारब्ध प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृतियों का आदान-प्रदान ऐसी गुत्थी है, जिसे भारतीय परिवेश में जन्मे-बढ़े और प्राकृत-संस्कृत वाङ्मय विशेषज्ञों ने उतना नहीं सुलझाया है, जितना भारतीयता से अछूते पाश्चात्त्य मनीषियों ने किया है। इनकी साधना अभिनन्दनीय है। क्योंकि इन्होंने जन्मसिद्ध सुविधाओं (जन, संस्कृति, भाषादि के ज्ञान, के न होने पर भी जीवन लगा कर "अस्मद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं धर्मं प्रशिक्षेयुः पृथिव्यां सर्वमानवाः" को विश्व के सामने उद्घाटित किया था। परम जिज्ञासु रूप से वे मानते थे कि उनकी शोध, आरम्भ ही है। "कालोऽयं निरवधिः, विपुला च पृथ्वी" का अनुसरण करके, समारम्भ भारतीय मनीषियों को ही करना है। जैसा कि लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'उत्तरी ध्रुव वैदिक मूल स्थान' आदि ग्रन्थों को लिख कर किया था।

इस मनीषिमाला में दूसरे वैज्ञानिक काशी के आचार्य सम्पूर्णानन्द जी थे, जिन्होंने 'आर्यों का आदिदेश', 'गणेश' आदि मौलिक कृतियां लिखी हैं। और अंग्रेजी एवं अंग्रेजियत में रंगे शोधकों को प्रेरित किया है कि प्राकृत-पालि और उभयसंस्कृत के बचे-खुचे मूल ग्रन्थों के भाषान्तर पर निर्भर न रह कर, मूल को देखें तथा पाश्चात्त्य शोधकों से कतिपय शतकों या अधिकतम एक सहस्र वर्ष पूर्व हुए मूल ग्रन्थों के टीकाकारों की व्याख्याओं को भाषा विज्ञान एवं विज्ञान के अनुसार रूढ़ अर्थों से निकालकर यौगिक रूप तक ले जावें, ताकि शिश्नदेव, वातरशन, हिरण्यगर्भ, अर्द्धनारीश्वरादि

प्राग्वैदिक तथा, भारत ही नहीं विश्व के इतिहास और संस्कृति को यथार्थरूप में प्रकट करें। और अथर्ववेद के मण्डल संख्या 13 (कस्मै देवाय हविषा विधेम...... आदि)) में प्रारब्ध 'अथातो देव-जिज्ञासा' रूपी प्राग्वैदिक (महादेव, ऋषभ) देवों के वैदिकीकरण (वही, मण्डलसंख्या-15) को विश्व भी जाने। क्योंकि 'वैदिक धारा' (डॉ. मंगलदेव शास्त्री) आदि काशिकेय चिन्तनों ने स्पष्ट कर दिया है कि ऋक्, यजुस् एवं साम वैदिक कर्मकाण्डमय धर्म के यज्ञ-मंत्र, यज्ञ-विधि और मंत्रगान हैं। तथा प्राग्वैदिक जन, धर्म एवं संस्कृति के मुनियों के सम्पर्क में आये वैदिक ऋषियों द्वारा गृहीत ऋद्धि-सिद्धि विधिमय साधनाओं का संग्रह चतुर्थ अथर्ववेद है। क्योंकि विविध तंत्रों की साधना, कर्मकाण्डमय यज्ञों से कठिन (कुटिल नहीं) थी। फलतः चतुर्थ वेद सरल (धर्म) नहीं रहा। क्योंकि वैदिकों का संन्यास, मोक्ष, संयम, परलोक एवं दर्शनादि ही नहीं, ग्राम-नगर निवास, कृषि, वाणिज्यादि प्राग्वैदिकों के सम्पर्क से ही प्राप्त हुए हैं। और ये आव्रजन, वानप्रस्थ याग तथा लौकिक पुत्र, राजप्राप्ति एवं स्वर्गप्राप्ति पशुपालनादि से कठिन हैं। ये चर्चाएं राष्ट्रीय काशी विद्यापीठ के युगनिर्माता प्राध्यापकों (स्व. रुद्रदेव शास्त्री, वि. व. केशकर, डॉ. भगवानदास, रामदास गौड़, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्दादि) में हुआ करती थीं। तथा विरासत में प्राप्त योग साधना रसिक डॉ. सम्पूर्णानन्द जी इसमें अग्रणी होते थे। क्योंकि उनके पिता श्री विजयानन्दजी ने अपने ससुर और गुरुवर विश्वेश्वर प्रसाद (गृहस्थ योगी) के अभिभावकत्व में साधना की थी और सिद्धि पायी थी। तथा जन्मना कायस्थ होने पर भी इन ससुर-दामाद ने कर्मणा ब्राह्मणत्व को साध कर 'चातुर्वर्ण्यं मया' की गुणकर्मरूपता को सिद्ध किया था। तथा अपने पुत्रों को भी शिक्षा के साथ ऐसी दीक्षा दी थी, जिससे वे प्राप्त में संतुष्ट रहते हुए आजीवन शारदाराधन और परम ब्रह्मनिष्ठा में अग्रसर रहें।

स्वतन्त्र शास्त्रसम्मत चिन्तक

डॉ. सम्पूर्णानन्द की लौकिक शिक्षा विज्ञान की थी। परिणाम यह हुआ कि वे धार्मिक विषयों में भी परीक्षाप्रधान बन गये थे। वे मानते थे कि यजन-याजन एंव पठन-पाठन प्रधान होने से ब्राह्मण अन्य वर्गों की अपेक्षा बुद्धिजीवी है। और उसने 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' न्याय से 'सबल' होने के कारण अपने वर्ग को उसी प्रकार लौकिक वरीयता दी है, जिस प्रकार पुरुष ने शारीरिक और आर्थिक सबलता के कारण नारी के जगज्जननीरूप को गौण करके समाज को पुरुष-प्रधान बना रखा है। वे कहा करते थे कि 'शाक्त' ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि पठन-पाठन एवं यजन-याजन, जीव-उद्धार या परब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है और जिसका चारों वर्णों को समानाधिकार है। जैसा कि मनु महाराज ने "गुणसाम्यात्तु शूद्रता" कहकर स्पष्ट किया है। क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यवर्ण सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता के आधार पर हैं। इस प्रक्रम में रात्रि भोजनोत्तर-घरू-गोष्ठी में उनके युवक स्नेहभाजनों द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड के मंत्रद्रष्टा, उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा आदि प्रमुखों की चर्चा करके उनके क्रान्तिकारी चिन्तन "ब्राह्मण सावधान" प्रतिबोध के प्रक्रम से, ब्रह्मा (याग-विधि का संयोजक) की व्याख्या एक प्रकार से पुरोहित रूप से करके, इसका समन्वय प्रधानरूप से 'ब्राह्मण' ग्रन्थों के रचयिता रूप से करते हुए 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" को वैदिक

वाङ्मय के विस्तार क्रम का यथार्थ प्रमाण कहा, तो उन्होंने कहा था कि 'ब्रह्मणोऽयं' (रचितः ग्रन्थः) ब्राह्मण इति असंभ्‌व तो नहीं है। उनका सिद्धान्त था–

'युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः'

काशी विद्यापीठ स्वराजपूर्व-युग में स्वातन्त्र्य संग्राम का स्कन्धावार (छावनी) था तथा यह सौभाग्य विद्यापीठ को ही प्राप्त हुआ था कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक पं. नेहरू के बाद दूसरा प्रधान मंत्री काशी विद्यापीठ का ही स्नातक (लोकबन्धु लाल बहादुर शास्त्री) ही था। एक बार रात्रि भोजनोत्तर घरू गोष्ठी में अपने-अपने प्रदेशों और मंडलों के नेता कतिपय स्नातक (स्व. अलगूराय शास्त्री, रामसुभग सिंह, तारकेश्वर पाण्डे, आदि) प्राध्यापक और युवक भी बैठे थे। चर्चा थी–क्षेत्र, काल, व्यक्ति एवं विचार में प्रथम स्थान या सर्वोपरिता किसे दी जाये ? बुजुर्ग स्नातकों ने व्यक्ति एवं विचार पर जोर दिया। युवक प्राध्यापक ने कहा कि क्षेत्र आधार है। व्यक्ति एवं विचार भी 'अमरवेल' हो कर नहीं रह सकते। धर्म या संस्कृति व्यक्ति एवं विचार के परिष्कारक हो सकते हैं; किन्तु इन्हें भी आधार चाहिये। और 'समय एव करोति बलाऽबलम्' युगनिर्माताओं को भी अपनी परिधि में लिए हैं। मुस्लिमलीगी। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की शह पर अपने इस्लाम धर्म के कारण अपने को 'हिन्दू' नहीं मानते। गोकि भारतीय, हिन्दू या इंडियन पर्यायवाची हैं। और दूसरे मुस्लिम राज्य भी इस्लाम धर्मी हो कर भी 'क्षेत्र' देश के प्रति परम आस्तिक (लोयल) हैं। एक धर्म होने पर भी वे अरबी, इरानी, मिस्री, आदि ही हैं। हज को जाने पर हिन्दू-मुसलमान को 'हिन्दू' या 'हिन्दी' ही कहा जाता है। इसीलिए इकबाल साहब ने कहा था "हिन्दू हैं, हम वतन है, हिन्दोस्तां हमारा।" धर्म व्यक्तिगत होता है। क्षेत्र-काल समष्टिगत और विश्वगत है। इसलिए परम-आस्तिकता देश-क्षेत्र के प्रति होनी चाहिये, जो कि मुस्लिम-लीगियों में नहीं है। वे जाति-नस्ल को भी धर्म के कारण बदलता सिद्ध करते हैं। जबकि धर्म एक रहने पर भी मुगल, पठानादि की तरह ईरानी, मिस्री, आदि अनेक हैं। और मुस्लिमलीगियों। द्वारा 'हिन्दू' नस्ल के अपलाप के समान अपनी-अपनी नस्ल (मिस्री, आदि) का अपलाप नहीं करते हैं।

महामनीषी डॉ. सम्पूर्णानन्द ने युवक सहयोगी की दृष्टि को दृष्ट एवं इष्ट के अनुकूल माना था और कहा था कि वानप्रस्थ तक व्यक्ति को देश (क्षेत्र) के प्रति प्रथमास्तिक होना चाहिए। तभी वह अपने आपको देशभक्त बना सकता है। यही कारण है कि कांग्रेसी हिन्दू महासभा, आदि को देशभक्त नहीं मानते और साम्प्रदायिक-संगठन मानते हैं। व्यक्तिशः मेरी परम-आस्था ब्रह्म पर है; क्योंकि मानव जीवन का चरम लक्ष्य वैकुण्ठ या परमात्मा होना है।

ब्रह्मनिष्ठ साधक

काशी विद्यापीठ के संस्थापक राष्ट्ररत्न शिवप्रसाद गुप्त को विरासत में ही वैष्णव-साधना मिली थी और वे शस्त्र प्रयोग में भी विश्वास करते थे। क्रान्तिकारी शिरोमणि चन्द्रशेखर आजाद को ही रिवाल्वर नहीं, अपितु अनेक छुटभैये क्रान्तिकारियों को भी शस्त्र इन्हीं से प्राप्त होते थे। शस्त्र के साथ-साथ शास्त्र पर भी उनकी अटूट श्रद्धा थी। इसलिए ही महामना मालवीय जी, डा. भगवान्

दास जी आदि उनके अंतरंग चक्र में थे। जन्मना साधक श्री सम्पूर्णानन्द जी भी उनके परम स्नेह-भाजन थे; क्योंकि वे शास्त्र की रूढ़-व्याख्या के कायल नहीं थे। और उनकी दृष्टि निर्भीक, वैज्ञानिक एवं अप्रिय-सत्यमय भी थी। विद्यापीठ के युगनिर्माता आचार्य डॉ. भगवान् दास और प्रध्यापक डॉ. सम्पूर्णानन्द एवं आचार्य नरेन्द्रदेव लोकोत्तर प्रतिभा के धनी भारत, भारती (राष्ट्रभाषा) एवं भारतीयता के प्रतीक देशभक्त थे। किन्तु डॉ. भगवान् दास जी भी यह स्पष्ट कहते थे कि जहाँ तक प्राणायाम, ध्यान और यजन-याजन का सम्बन्ध है, इनमें सम्पूर्णानन्द जी सर्वोपरि हैं।

यह एक आश्चर्य ही था कि रात्रि भोजनोत्तर घरू बौद्धिक गोष्ठी से सोने के लिए ११ बजे के पहिले शायद ही कभी वे उठते हों; किन्तु प्रातः सूर्योदय के बाद प्रणाम करने जाने पर मेज के नीचे निस्तारित पत्रावलियों का अम्बार होता था। और ये साधक-शासक समाचार पत्र पलटते हुए हम सबकी जलपान के लिए प्रतीक्षा करते मिलते थे। उ. प्र. सचिवालय में मान्यता थी कि 'बहुत अभागी पत्रावली ही शिक्षा, गृह-मुख्यमंत्री सम्पूर्णानन्द जी की मेज पर एक दिन रहती है'। स्व. पन्त जी विद्यापीठ के लोगों से मिलने पर उदात्त विनोद में कहा करते थे 'तुम्हारा कुलपति अब भी पढ़ता है' क्योंकि अप्रासंगिकता आते ही वे दर्शकों के सामने ही पुस्तक खोल लेते थे। और महत्त्वपूर्ण बैठकों में भी अन्तर्मुख हो कर किसी लुप्त धार्मिक-सांस्कृतिक कड़ी को जोड़ लेते थे। उनके मौलिक चिन्तनों के राष्ट्रपिता गांधी जी भी कायल थे। इसीलिए अहिंसा-मर्यादा को लेकर गांधी जी ने सम्पूर्णानन्द जी से मतभेद को महत्त्व दिया था। पं. नेहरू ने भी उनके गोवध (गोकशी) निषेध को माना था; क्योंकि इस्लाम के जन्म देश और प्रभाव क्षेत्र में गाय और कृषि ही नहीं थी, वहां तो सबसे बड़ी कुरबानी ऊँट की थी। इसी प्रकार डॉ. सम्पूर्णानन्द के राष्ट्रभाषा (हिन्दी) राजभाषा सिद्धान्त से नेहरू जी को सहमत होना पड़ा था।

एकादश-देश सेवाव्रती

विद्यापीठ-परिवार में एक गोष्ठी हुई, जिसका विषय था 'देश सेवा के एकादश व्रतपालन'। गोष्ठी की पूर्णता पर तथागत आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था कि 'गांधी जी के सिवा एक व्यक्ति को तो मैं निकट से जानता हूँ और वे हैं डॉ. सम्पूर्णानन्द जी। धार्मिक मान्यता में ये शाक्त हैं; किन्तु पशु-बलि विरोधी सत्याग्रही होने के पहिले से ही हैं। क्रान्तिकारियों के प्रति श्रद्धावनत हैं; किन्तु शस्त्र-बल से ऊपर आत्मबल को ही मानते हैं। शिष्टाचार या मुरउअत में भी लगी-लपटी या एक शब्द भी अधिक नहीं बोलते। अदत्तादान तो बहुत बड़ी भूल है। ये सत्याग्रह के सिवा किसी भी राष्ट्रीय-विधि का उल्लंघन नहीं करते। एकपत्नीव्रत इनकी प्रकृति है और श्रेणी (कायस्थ) गत स्वभाव के कारण कल के लिए बचाना भी इनका स्वभाव नहीं है। श्रोत्रिय ब्राह्मण या गृहत्यागी ही इनका आदर्श है, संचय या परिग्रह के आचरण में। नित्य-कृत्यों का निर्दोष और जागरूक पालन तथा शारीरिक-शक्ति का चतुर्गुण (क्योंकि कायिक श्रम से बौद्धिक-श्रम चौगुना थकाता है शरीर को) व्यय करने के कारण ही वे महामनीषी हैं। अस्वाद की पराकाष्ठा भी इनमें स्पष्ट है; क्योंकि उत्तम

भोजन प्रिय हो कर भी उसे अल्पतम मात्रा में लेकर जिह्वा-विजयी हैं। भय इनके पास से भी नहीं निकला है। परिणाम यह है कि जिन्हें अपना आदर्श एवं श्रद्धेय मानते हैं, उनकी भी मध्यस्थ आलोचना इनकी शैली है। भारतीय प्राग्वैदिक धर्मों का इनका ज्ञान वैदिक धर्म से बढ़ कर है और क्रिश्चियनिरी, इस्लांम, आदि भी इनकी जिह्वा पर हैं। स्वदेशी प्रेम और अस्पृश्यता निवारण के पक्ष में श्रमण-ब्राह्मण धर्म के आगम वाक्यों के ये स्रोत हैं। फलतः मैं सम्पूर्णानन्द जी की जीवनचर्या में गांधी जी के एकादश-सेवाव्रतों का आचरण देखता हूँ।" 'अतिपरिचयादवज्ञा स्यात्' मानव-प्रकृति है; किन्तु परम घनिष्ठ साथियों के मूर्द्धन्य आचार्य नरेन्द्रदेव का यह कथन इसका उत्कृष्ट अपवाद है।

मंत्री, मुख्यमंत्री और राज्यपाल हो कर भी उनका एक मकान नहीं बना। परिवार या सम्बन्धियों को उनकी साधना, विद्वत्ता तथा त्यागमय सेवा के कारण केवल मान्यता ही मिली। किन्तु लौकिक लाभ कभी नहीं मिला। ये सब उनके आदर्शों को जानते और मानते थे। फलतः अपनी योग्यता और क्षमता का भी उचित लाभ उठाते हुए संकोच करते थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में वे अपने पुराने वात-रोग गठिया के कारण कुछ महीने शय्यागत थे; किन्तु नित्यकृत्य पठन-लेखन यथा-सुविधा चलता रहा। उनके परिवार एवं सन्निकट व्यक्तियों ने भी उस शारीरिक वेदना में उनकी कराह नहीं सुनी थी। कभी-कभी गंभीर श्रवण करते समय करवट लेने में होती वेदना और उनकी कष्ट-सहिष्णुता को देख कर द्रष्टा के मुख से अनायास ही "बाबूजी बड़ा कष्ट हैं ?" निकलने पर कहते थे—'पूर्वसंचित से मुक्ति हो रही है। और शासक का ऐसा कार्य है, जिसमें अनजाने ही उचित नहीं हो पाता; क्योंकि सर्वथा सावधान रहने पर भी, अल्पज्ञता के कारण यह सुसंभव है। यही क्या कम है कि उसका इसी जन्म में फल-भोग हो रहा हूँ।' वे काल (कलि) व्यक्तित्व और भावों के कारण "काहे रे वन खोजन जाई" को चरितार्थ करते हुए घर में योगी थे। तिलक-गांधी की प्रथम पीढ़ी के नेताओं में वे सर्वोपरि थे, अपनी साधना, ज्ञान एवं कर्मठता के कारण। अपनी निस्पृहता और गौरव के कारण उन्होंने अन्य नेताओं को अपना गुरु या धर्मपिता नहीं बनाया था। फलतः देश, समाज और मानवता को उनकी दृष्टि, चर्या एवं आदर्श का पूरा लाभ नहीं मिल सका। अन्यथा भारत, भारती (राष्ट्रभाषा अब संपर्क भाषा) और भारतीयता के उस ज्ञान-आचरण और दृष्टि का प्रकाश विश्व में भी होता, जो प्राग्वैदिक एवं वैदिक-संस्कृति के समन्वय रूप भारतीय वाङ्मय में अब भी सुलभ है। आवश्यकता है केवल आचार्य सम्पूर्णानन्द ऐसे महामनीषी साधक जनसेवकों की, जो जन्मजात मान्यता, आचरण तथा परम्परा के बन्दी नहीं हैं।

●

बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न डॉ. सम्पूर्णानन्द

श्री रमापति शुक्ल

बात सन् 1923 की है, जब मैं कक्षा 7 में पढ़ता था और गोला दीनानाथ की गली में रहता था। सम्पूर्णानन्द जी के पुत्र सर्वदानन्द मेरे पास पढ़ने आया करते थे। एक दिन मैं उनके साथ उनके जालपादेवी वाले घर गया था। वहाँ सम्पूर्णानन्द जी के प्रथम दर्शन हुए। वे बैठकर कुछ पुस्तकें पढ़ रहे थे और बीच-बीच में लिखते भी जाते थे। संभवतः काशी विद्यापीठ में पढ़ाने के लिए कोई व्याख्यान तैयार कर रहे थे। वहाँ एक मानपत्र हाथ से लिखा हुआ दीवार पर टँगा था, जो उन्हें उदयपुर में प्रधानाध्यापक पद से बिदा लेने के समय दिया गया था। उसमें एक दोहा लिखा था जिसके दो चरण मुझे आज भी याद हैं। "चाही ते सब कहत है संपूरण आनन्द" उसी मानपत्र से मुझे ज्ञात हुआ कि सम्पूर्णानन्द जी बी. एस. सी., एल. टी. थे।

उसके बाद संपूर्णानन्द जी के दर्शन 1930 के स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रायः नित्य ही हो जाते थे। सन् 1938 में मैं थियोसोफिकल नेशनल इंटर कालेज में अध्यापक हो गया था। उस समय उत्तर प्रदेश में पहला कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना था, जिसमें बाबू संपूर्णानन्द शिक्षामंत्री हुए थे। काशी नरेश हाल, कमच्छा में उनका व्याख्यान था। मैं सुनने के लिए गया था। उस समय उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी बहुत सी ऐसी रिपोर्टों का उल्लेख किया, जिनका नाम मैंने शिक्षा के इतिहास में नहीं सुना था। उससे ज्ञात होता था कि शिक्षामंत्री होने पर उन्होंने विधान सभा का पुस्तकालय छान डाला था। उनकी अध्ययनशीलता का परिचय मुझे उस समय मिला।

बी. एस. सी., एल. टी. उत्तीर्ण विज्ञान के अध्यापक को विद्यापीठ में शास्त्री को पढ़ाने के लिए राजनीति विषय दिया गया था। बहुमुखी प्रतिभा वाले संपूर्णानन्द जी ने राजनीति का गंभीर अध्ययन किया था, विशेषतः समाजवाद में उनकी विशेष रुचि थी।

संपूर्णानन्द के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने स्वध्याय द्वारा संस्कृत, ज्योतिष पुराण, दर्शन तथा हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया था। उनकी एक पुस्तक का नाम है "अन्ताराष्ट्रिय विधान"। यह नाम व्यक्त करता है कि लेखक संस्कृत का अच्छा विद्वान् है। गणेश तथा ब्राह्मण सावधान आदि पुस्तकों से पता चलता है कि डाक्टर साहब कितने विविध विषयों पर लिखते थे। उनकी विवेचिका बुद्धि बड़ी पैनी थी और वे निष्पक्ष होकर विचार करते थे।

संपूर्णानन्द जी ने पत्रकारिता में भी काफी समय बिताया था। हिन्दी के साथ ही अंग्रेजी में भी वे लिखते और व्याख्यान देते थे। काशी नरेश हाल वाला उनका व्याख्यान अंग्रेजी में ही हुआ था।

ज्ञानमंडल से अंग्रेजी में एक पत्र "टुडे" नाम से प्रकाशित होता था। संपूर्णानन्द जी उसमें सम्पादक थे। उनके संपादकीय बड़े ही प्रभावी होते थे। प्रयाग के 'लीडर' व 'टुडे' की स्पर्द्धा थी। लीडर के पास रोटरी प्रेस था और समाचार संग्रह की इतनी सुविधाएँ थीं कि काशी का 'टुडे' उसकी प्रतियोगिता में उतर न सका और अन्त में बंद कर दिया गया। संपूर्णानन्द जी सक्रिय राजनीति में उतर चुके थे। इसलिए उन्हें समय भी नहीं मिलता था कि 'टुडे' का सम्पादन करते।

काशी की "मर्यादा" पत्रिका में भी बाबू संपूर्णानन्द के लेख प्रकाशित होते थे। उनके फुटकर लेखों की संख्या बहुत अधिक है। खेद है कि उनके लेखों और व्याख्यानों का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ।

संपूर्णानन्द जी प्रतिभाशाली होते हुए भी उदार विचार वाले थे। वे बड़े ही गंभीर थे, फिर भी हास्य व्यंग्य से उन्हें प्रेम था। जब हँसते थे, तब अट्टहास करके हँसते थे। विनम्रता की मूर्ति डॉ. संपूर्णानन्द अपने मित्रों और स्नेहपात्रों से बड़े प्रेम से मिलते थे। मेरे चचेरे जेठ भाई पं. रामदास शुक्ल झाँसी जेल में संपूर्णानन्द जी के साथ थे और उनका भोजन बनाते थे। जेल से निकलने के अनेक वर्षों बाद वे संपूर्णानन्द जी से मिलने गए थे, तो उन्होंने बड़े स्नेह से कुशल क्षेम पूछा और उन्हें नैनीताल में 15 एकड़ भूमि खेती करने के लिए सरकार से दिलाई।

संपूर्णानन्द जी का व्याख्यान लिखना त्वारालेखकों (शार्ट हैण्ड) के लिए भी बड़ा कठिन कर्म था; क्योंकि वे बड़े तीव्रगति से सोचते थे और उसी गति से बोलते थे। भाषा पर उनका अधिकार था। एक बार नागरी प्रचारिणी सभा में यह निश्चय हुआ कि अपने व्याख्यान में जो अंग्रेजी शब्द का प्रयोग करेगा, उसे प्रतिशब्द एक आना दंड देना होगा। अनेक वक्ताओं ने एक रूपये तक दंड दिए; परन्तु संपूर्णानन्द जी ने केवल एक आना दंड दिया।

संपूर्णानन्द बड़े स्वतंत्र विचार के थे। वे किसी से दबते नहीं थे। इसलिए कभी-कभी जवाहरलाल जी से भी उनका मतभेद हो जाता था। जवाहरलाल जी जानते थे कि सम्पूर्णानन्द जी विचारों के संबंध में किसी से समझौता करने वाले नहीं थे। अतः सम्पूर्णानन्द जी की बातें मान लिया करते थे।

व्यक्तिगत जीवन में सादगी और ईमानदारी उनकी अप्रतिम विशेषता थी। स्वाधीन भारत में अनेक नेताओं के महल और बँगले बन गए; परन्तु संपूर्णानन्द जी का वही जालपादेवी वाला मकान रह गया।

काशी विद्यापीठ के कुलपति होने के नाते वे वहाँ एक भवन में रहते थे जो आजीवन उनका आवास रहा।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय संपूर्णानन्द जी की अमर कीर्ति है। इसी से आज वह संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय कहा जाता है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना में उन्होंने बहुत विरोध का सामना किया था। काशी का वाराणसी नाम संपूर्णानन्द जी की देन है।

1955 में जब बुद्ध भगवान् की पच्चीस सौवीं जयंती मनाई जा रही थी, उस समय चीन, जापान तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों के बौद्धों को प्रणाम करने के लिए बौद्ध साहित्य में विख्यात 'वाराणसी' नाम का पुनरुद्धार करके उन्होंने एक नया इतिहास बनाया। डॉ. सम्पूर्णानन्द जी की प्रतिभा जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रगट होती है। ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति कभी-कभी ही जन्म लेते हैं।



समाजवादी समाज के कल्पक डॉ. सम्पूर्णानन्द

श्री कैलाशचन्द्र मिश्र

देश के स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में जब उत्तर प्रदेश के योगदान की कोई भी चर्चा कभी भी होगी तो अन्य महान् नेताओं के साथ डॉ. सम्पूर्णानन्द के नाम को भी अवश्य आदर के साथ लिया जायेगा। डॉ. सम्पूर्णानन्द के जीवन-काल में कई बार उनसे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था और उनके महान् चरित्र की चर्चा सभी उत्तर प्रदेशवासी ही नहीं; बल्कि देशवासी भी करते थे। दुर्बल और निम्न वर्ग के प्रति प्रेम और सहानुभूति को सक्रिय रूप देने में उनका पूर्ण विश्वास था। मुझे वह दिन भी याद है जब पहली बार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के रूप में श्री रामायण राय के साथ सर्किट हाउस बनारस में उनसे मिला था। बनारस के सर्किट हाउस के ड्राइंगरूम में डॉ. सम्पूर्णानन्द बैठे थे। उसी समय एक व्यक्ति लुंगी और बनियाइन पहने उनके शयन कक्ष में घुसने लगा। मेरी जिज्ञासा को देखकर उन्होंने मुझे बताया कि ये बहुत बड़ा काम कर रहे हैं। यह काम कोई समर्पित व्यक्ति ही कर सकता है। उन्होंने हमारा परिचय श्री शालिग्राम जी से कराया और यह सूचित किया कि ये मणिकर्णिका घाट पर लावारिस लाशों को जलाते हैं। बंगाल, बिहार, मद्रास, उड़ीसा, आसाम और केरल आदि सुदूर प्रान्तों से. मृत्यु की प्रतीक्षा और अपेक्षा में जो लोग काशी में पड़े रहते हैं उनके मर जाने पर ये अपने कन्धों पर उठाकर घाट तक लाते हैं। उनका अंतिम संस्कार करते हैं। यह कार्य वही कर सकता है, जो सच्चे अर्थों में समाजसेवी हो। मुझे स्मरण है उन्होंने अपनी लकड़ी की सन्दूक से कुछ निकालकर आर्थिक सहायता भी उपलब्ध की थी। मैं जब भी इस घटना को यांद करता हूँ, तो लगता है इससे कष्टकर दुनियां में कोई और नहीं है, यह कार्य और भी कष्टकर हो जाता है जब मृतकों से पूर्व परिचय न हो। हम लोग किसी की शवयात्रा में जाते हैं, तो घर पहुंचकर स्नान करते हैं। शालिग्राम कितने महान् थे कि अपरिचितों का दाहकर्म करते थे। यह सोचकर मन भर उठता है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने स्वयं अभाव की जिन्दगी जी थी, इसलिये उसके दुःख-दर्द को खूब समझते थे।

डॉ. सम्पूर्णानन्द में ऐसी अनेक विशेषतायें थीं, जो उनकी अलग पहचान बनाती थीं। वह आत्मसंयमी, बात के धनी और समय के बहुत पाबन्द थे। समय का मूल्य समझते थे और जीवन के लक्ष्यों तथा आदर्शों के प्रति बहुत ही जागरूक थे। भीड़ के आदमी न होकर भी उन्होंने अपने बुद्धिबल पर राजनीति की ओर सफलता के शिखरों पर पहुँचे।

सम्पूर्णानन्द जी का जन्म 1 जनवरी, 1889 को हुआ था। उनके पिता विजयानन्द जी सरकारी कर्मचारी थे, जो अपनी ईमानदारी तथा सच्चरित्रता के लिये विख्यात थे। माता आनन्दी देवी बहुत अध्ययनशील स्वभाव की महिला थीं। पिता से सच्चरित्रता और ईमानदारी, माता से अध्ययनशीलता और सात्विकता तथा नाना से आध्यात्मिकता के गुण एवं स्वभाव सम्पूर्णानन्द जी को संस्कार के रूप में प्राप्त हुये थे। काशी की घनी बस्ती जालपादेवी मुहल्ले में अपने पैतृक निवास में जन्मे सम्पूर्णानन्द जी ने घर पर प्रारम्भिक शिक्षा फारसी में मौलवी मुइनउद्दीन से प्राप्त की। बाद में हरिश्चन्द्र स्कूल वाराणसी में उनका नाम लिखाया गया। उच्च शिक्षा के लिये वह क्वीन्स कालेज में भर्ती हुये और वहीं से उन्होंने 1911 में बी. एस. सी. की परीक्षा पास की। स्नातक होने के बाद उन्होंने एक स्थानीय लंदन मिशन स्कूल में अध्यापक के रूप में कार्य प्रारम्भ कर दिया। प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन, हैली कालेज इन्दौर और डूंगर कालेज बीकानेर में लगभग दस वर्षों तक अध्यापन कार्य करते रहे। 1921 में असहयोग आन्दोलन के समय उन्होंने "मर्यादा" नामक पत्रिका का संपादन शुरू किया। इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन पं. मदन मोहन मालवीय के आशीर्वाद से हुआ था। साहित्य और संस्कृति पर शीर्षस्थ विद्वानों के लेख इसमें प्रकाशित होते थे। प्रख्यात उपन्यासकार प्रेमचन्द्र, बेचन शर्मा उग्र, श्री अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, लाला भगवानदीन, मैथिली शरण गुप्त, हरिऔध जैसे प्रसिद्ध रचनाकारों की कृतियां प्रकाशित होती थीं। 1931 में बाबू शिवप्रसाद गुप्त की प्रेरणा से ज्ञान मण्डल द्वारा "टुडे" नामक अंग्रेजी दैनिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तो सम्पूर्णानन्द जी को उसका सम्पादक बनाया गया। इसका उद्देश्य स्वाधीनता संग्राम के आदर्शों के प्रचार तथा उसके आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को स्पष्ट करना था।

गांधी जी द्वारा चलाये गयें असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में डॉ. सम्पूर्णानन्द की पहली गिरफ्तारी और जेल-यात्रा 24 दिसम्बर, 1921 को आरम्भ हुई। असहयोग आन्दोलन के दौरान कांग्रेस स्वयंसेवकों की भर्ती के सिलसिले में सम्पूर्णानन्द जी को संस्कृत छात्र समिति का बहुमूल्य सहयोग मिला, जिसके नेता प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद हुआ करते थे। बाबू सम्पूर्णानन्द जी की गिरफ्तारी के कुछ दिनों बाद वह भी गिरफ्तार कर लिये गये। आजाद को बुरी तरह बेंतों से पीटा गया और प्रत्येक बेंत की मार पर वह "वन्दे मातरम्" का उद्घोष करते थे। बेंतों से लगी चोट तो भर गयी, लेकिन बेंतों की चोट खाते-खाते आजाद के दिल में जो चोट पहुँची थी, वह कभी नहीं भरी और उस दिन से अंग्रेज सरकार के दुर्दम्य शत्रु हो गये।

1923 के प्रारम्भ में काशी विद्यापीठ में दर्शन शास्त्र के जीवन में एक नया मोड़ आया। संसदीय जीवन में उनके प्रवेश, राजनीतिक नेतृत्व की प्रगति, श्रमिक आन्दोलन की भूमिका, समाजवादी आन्दोलन में योगदान और वैयक्तिक उत्कर्ष का मानो द्वार ही खुल गया। स्वतंत्रता संग्राम के उन दिनों में काशी विद्यापीठ कोई सामान्य शिक्षा संस्थान नहीं थी। देश में समाजवादी आन्दोलन को जन्म देने वाले और पार्टी के भीतर कांग्रेस समाजवादी दल बनाने वालों का यह विद्यापीठ केन्द्र स्थल और अड्डा बन गया था। जयप्रकाश जी, डॉ. राम मनोहर लोहिया, अच्युत

पटवर्धन, अरुणा आसफ अली और श्रीप्रकाश जी आदि के सामूहिक समाजवादी नेतृत्व को हम बहुत अंश में इस शिक्षा संस्थान की ही देन कह सकते हैं। शीर्ष समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्र देव तो यहां के आचार्य या प्रधान ही थे, बाबू सम्पूर्णानन्द जी जैसे मौलिक प्रगतिशील चिन्तक ने भी भारत में समाजवादी आन्दोलन को विकसित करने में समकक्ष भूमिका निभायी। पं. मोतीलाल नेहरू और सी. वाई. चिन्तामणि की तरह डॉ. सम्पूर्णानन्द भी मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत विधान मण्डलों में प्रवेश के समर्थक थे। विधान परिषद् में सम्पूर्णानन्द जी का पहला भाषण हिन्दी में हुआ।

डॉ. सम्पूर्णानन्द ने कांग्रेस के भीतर रहकर ही एक विधिवत् संगठित समाजवादी पार्टी की स्थापना का निर्णय लिया। 21 अक्टूबर, 1934 को बम्बई के वरली स्थित "रेडीमनी टेरेस" में समस्त भारत से लगभग 150 समाजवादी इकट्ठे हुये और डॉ. सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। यह भारतीय राजनैतिक इतिहास में बड़े महत्त्व की घटना थी। वैचारिक स्तर पर कांग्रेस के भीतर समाजवादी क्रान्ति लाने वालों में डॉ. सम्पूर्णानन्द के अतिरिक्त आचार्य नरेन्द्रदेव, यूसुफ़ मेहर अली, कमला देवी चट्टोपाध्याय, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, जयप्रकाश नारायण, सेठ दामोदर स्वरूप, मुंशी अहमद्दीन, शिवनाथ बनर्जी, पूर्णिमा बनर्जी और डॉ. राममनोहर लोहिया प्रमुख थे।

बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने समाजवादी कार्यक्रम को कांग्रेस संगठन द्वारा स्वीकार किये जाने की वकालत करते हुये एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था–"ह्वेन वी. आर. इन पावर"। इस पुस्तक में उन्होंने बताया था कि यदि कांग्रेस सत्ता में आयी, तो वह क्या-क्या कार्य करेगी। प्रस्तावित कार्यक्रम में उन्होंने बिना मुआवज़े के जमींदारी उन्मूलन, चकबन्दी, मौलिक उद्योगों और यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण, न्यूनतम वेतनों और अधिकतम कार्यों के घण्टों का निर्धारण, सभी हाथों को काम और बूढ़ों को पेंशन, अनाथ बच्चों की निःशुल्क शिक्षा, पूरी तरह शराब बन्दी और निःशुल्क नमक का वितरण आदि प्रमुख कार्य थे।

सम्पूर्णानन्द जी ने समाजवादी चिन्तन को "समाजवाद" नामक पुस्तक लिखकर मौलिकता और विद्वत्ता का परिचय सारे देश को दिया। उनका चिन्तन वेदान्त पर आधारित था। गांधी जी के आग्रह पर उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति करते हुये "चिद्‌विलास" नामक ग्रन्थ लिखा। गांधी जी की शिक्षा-नीति की योजना को जिसे बुनियादी शिक्षा कहा जाता था , बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने अपने शिक्षा मंत्री के काल में कार्यान्वित की। आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में देवनागरी लिपि सुधार समिति का गठन किया। देवनागरी लिपि को सरल और वैज्ञानिक बनाते हुये उन्होंने हिन्दी के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1948 में सम्पूर्णानन्द जी भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के नेता बनकर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में सम्मिलित होने अमेरिका के सानफ्रांसिस्को नगर में पहुँचे। वह पहले भारतीय थे, जिन्होंने भारतीय वेश-भूषा वहाँ भी धारण किया। गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन में डॉ. सम्पूर्णानन्द को यह जिम्मेदारी दी

गयी कि वह जनता को समझायें कि कांग्रेस दूसरे विश्वयुद्ध में अंग्रेज सरकार का साथ क्यों नहीं दे रही है। उन्हें 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह के दौरान एक वर्ष की सजा हुई। वह फतेहपुर केन्द्रीय कारागार में रखे गये, जहां पुरुषोत्तम दास टण्डन, डॉ. कैलाश नाथ काटजू तथा हाफिज़ मोहम्मद इब्राहीम भी उनके साथ थे। बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने केन्द्रीय जेल में "आर्यों का आदि देश" नामक अपनी पुस्तक लिखी थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय नवनिर्माण का युग शुरू हुआ। इस काल में सम्पूर्णानन्द जी का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। मंत्री, मुख्य मंत्री और राज्यपाल के रूप में उन्होंने न केवल कुशल प्रशासन और निष्पक्ष बुद्धि विवेक का परिचय दिया, वरन् निर्भयता तथा निष्ठा के कुछ कीर्तिमान् भी स्थापित किये। अपने हिन्दी प्रेम और संस्कृत अनुराग का परिचय प्रदेश में डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी की अध्यक्षता में हिन्दी समिति और पं. रामनरेश मिश्र को संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये विशेष कार्याधिकारी बनाकर किया।

राष्ट्रपति ने अप्रैल, 1962 में सम्पूर्णानन्द जी को राज्यपाल के रूप में राजस्थान में नियुक्त किया और इस पद पर वह 1963 तक बने रहे। राज्यपाल के रूप में अपने कार्यकाल में उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की। अपनी आत्मकथा भी उन्होंने 1964 में लिखी। अपनी आत्मकथा में उन्होंने भारतीय संविधान पर संविधान सम्बन्धी गांधी जी की कल्पनाओं पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां दी हैं।

धर्म के संबंध में उनका मत था कि बिना धर्म के नैतिकता नहीं आयेगी और बिना नैतिकता के कोई राज्य नहीं चलाया जा सकता।

राज्यपाल के रूप में चीन के आक्रमण के समय उन्होंने मितव्ययता की घोषणा की। स्वयं बोझ उठाते और उद्यान में पुष्पों की क्यारियों में जल डालते। दिसम्बर में जब मैं उनसे जयपुर में मिला, तो मैंने देखा कि उन्होंने सार्वजनिक भोजों और समारोहों में भाग लेना बन्द कर दिया था। हिन्दी-प्रेम को देखकर मैं अवाक् रह गया। अंग्रेजी में एक सज्जन ने उन्हें अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर आमन्त्रित किया। उन्होंने निमन्त्रण अस्वीकार करते हुये कहा कि अंग्रेजी में छपे निमन्त्रण-पत्रों पर ऐसे समारोहों का बहिष्कार करते हैं।

वे आदमी की महानता उसकी संचित पूंजी से नहीं; बल्कि दूसरों के लिए किये गये उसके कार्यों के आधार पर आंके जाने के पक्षधर थे। ऐसे समाज में चरित्र संबंधी ऐसे किसी दर्शन को मान्यता न प्राप्त होगी, जो "अस्तित्व के लिए संघर्ष" या "उपयुक्त ही जीवित रह सकता है" के मुहावरों में बात करता है। अति प्राचीनकालीन सागरों की गोद से लेकर ब्रह्माण्ड की सुदूर नीहारिकाओं तक पहुंचने की आशा से गौरवान्वित मानवीय विकास के लम्बे दौर में ज़िन्दगी को इन सिद्धान्तों से भले ही सहायता पहुँचाई गयी हो; लेकिन आज वह वक्त आ गया है, जब उसे इन शैशवकालीन तंग वस्त्रों को फेंक देना पड़ेगा। आदमी जब जंगली जीवन की आचार-संहिताओं के आधार पर अपना गठन नहीं करता है, प्रतिद्वन्द्विता की बजाय सहयोग को अब जीवन का निदेशक सिद्धान्त मानना

होगा। "विराट् पुरुष" की भारतीय भावना में इसे बड़े सुन्दर ढंग से संजोया गया है। 'विराट् स्वरूप में प्रत्येक चेतन-अचेतन वस्तु स्थान पाती है' । प्रत्येक कण जीवन-शक्ति की उन धाराओं से सिक्त है, जो "पूर्ण" में से होकर स्पन्दित होती हैं और निम्नतम अणु के विषाद और सुख तत्काल दूरस्थ कोनों तक भी पहुँच जाते हैं। इस पूर्ण कल्याण में ही प्रत्येक का कल्याण है। दूसरों का ख्याल किये बगैर केवल अपने ही सुख और समृद्धि के लिए क्रियाशील होने का अर्थ है, उतने श्रम की बरबादी। साथ ही ऐसा करना उन लोगों के प्रति जिन्होंने अपने श्रम द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में योग दिया है, अपराध और कृतघ्नता है। बौद्धिक और शारीरिक शक्ति द्वारा प्रतिस्पर्धियों को पराजित करने और स्वार्थ के लिए दूसरों का शोषण करने की इच्छा, स्वयं अपने हितों को दूसरे के हितों से पृथक् और श्रेष्ठतर समझने की प्रवृत्ति का उन्मूलन होना चाहिये और उसके स्थान पर सहयोग की भावना प्रतिस्थापित होनी चाहिये। सहयोग की ऐसी अन्धी भावना नहीं जो मधुमक्खियों और चीटियों में पायी जाती है, बल्कि चेतनापूर्ण और सोद्देश्यपूर्ण भावना जिसके लिए एकमात्र मानव ही समर्थ है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के बाद जिन नेताओं ने महात्मा गांधी के आदर्शों को अपने जीवन का अंग बनाया और एक नयी सभ्यता का सपना देखा, उनमें डॉ. सम्पूर्णानन्द का नाम कीर्तिमान् है।

उनके बाह्य आवरण तथा रूपरंग को देखकर किसी अजनबी आदमी के लिए उन्हें पुराणपंथी समझ लेना बहुत आसान था; किन्तु उनके इस पुराणपंथी रूप ने कभी उन्हें नवीन संस्कृति, शिक्षा-दीक्षा तथा प्रगतिशील परम्पराओं के पालन से विमुख नहीं होने दिया। वे एक दृढ़ विश्वासी नेता के रूप में सामने आते हैं। कितनी ही बाधायें उनके मार्ग में आयीं लेकिन वे साहस और धैर्य के साथ देश की प्रगति के लिये हर आन्दोलन में अग्रसर रहे। वे समाजवादी समाज का निर्माण करना चाहते थे। वृद्धावस्था पेंशन की योजना सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में उनकी प्रेरणा से शुरू की गयी थी। कारागारों के प्रशासन में अनेक सुधार किये गये। खुली हवा में कारागार की योजना का आरम्भ उत्तर प्रदेश में हुआ और विदेशों में भी इसका अनुकरण किया गया। कैदियों को परिश्रम का मुख्यांश दिया गया। नये शोधकर्ताओं को नयी विद्या अपनाने और मूल स्रोतों के अध्ययन के लिए उत्प्रेरित करते थे। वाराणसी में शंकरपीठ की खोज के सिलसिले में अनेक स्थानों का मैंने अवलोकन किया, पर जब निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई हुई तो मैंने बाबू सम्पूर्णानन्द जी को पत्र लिखा। उन्होंने तत्काल मार्गदर्शन हेतु पत्र लिखा।

"राजभवन
जयपुर
दिनांक 3 मार्च, 1963

प्रिय मिश्रा,

पत्र मिला। मैंने शंकरपीठ का अब तक नाम नहीं सुना था। हो सकता है यह वह स्थान हो, जहाँ काशी आने पर शंकराचार्य जी ठहरे थे। श्री आदि शंकराचार्य का वह मठ अब भी है और तुमको आसानी से पता लग सकता है। कहा जाता है कि उन्होंने यहीं वेदान्त-दर्शन का भाष्य लिखा था। यदि वह कोई दूसरा स्थान हो, तो सम्भवतः इसका परिचय काशीखण्ड में मिलेगा। यह ग्रन्थ स्कन्दपुराण का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पंडित नारायणपति त्रिपाठी का लिखा हुआ इसका हिन्दी अनुवाद भी मिलता है। इंस ग्रन्थ को प्राचीन काशी की विस्तृत डिक्शनरी कहना चाहिये। पता लगने पर मुझे भी सूचित करना।

हितू
सम्पूर्णानन्द"

मेरी जिज्ञासा शान्त करने के लिए उन्होंने मेरा मार्गदर्शन किया और उस प्राचीन स्थान की खोज में मेरा पथप्रदर्शन किया। ऐसा था बाबू सम्पूर्णानन्द जी का स्नेहपूर्ण व्यवहार। इन्हीं गुणों के कारण सारा देश उनका आदर करता था।



डॉ. सम्पूर्णानन्द और साहित्य

डॉ. सरोज बिसारिया

जीवन और साहित्य परस्पर अन्तरावलम्बित हैं। जीवन का द्रष्टा ही युग का स्रष्टा होता है और उसकी युग सृष्टि का माध्यम बनता है साहित्य। मनुष्य जिस परिवेश में जन्म लेता है उस परिवेश की व्यापक प्रवृत्तियों का प्रभाव चेतन, अचेतन, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व में संगुम्फित हो जाता है। यह प्रभाव व्यक्तित्व को ही नहीं ढालता, एक विशिष्ट प्रकार की मानसिकता की भी रचना करता है। युगीन परिवेश एवं परिस्थितियाँ ही संवेदना के धरातल पर अनुभूतियों का रूप ले नवीन नाम ग्रहण करती हैं, जिसे हम साहित्य कहते हैं, साहित्य जिसमें सब समाहित है। अतिरिक्त संवेदना से अभिषिक्त डॉ. सम्पूर्णानन्द एक ऐसे ही विचारक, चिन्तक मनीषी, राजनीतिज्ञ, साहित्यकार थे, जिन्होंने मनुष्य और समाज के हर स्पन्दन को अपनी लेखनी का स्पर्श दिया।

महान् विभूति श्री सम्पूर्णानन्द का जन्म 1 जनवरी, 1890 ई. में वाराणसी में हुआ था। विज्ञान के विद्यार्थी होने पर भी साहित्य के प्रति अतिरिक्त अनुराग था। साहित्यिक अभिरुचि होने के कारण जो पुस्तक हाथ में आती उसे ही आद्यन्त पढ़ लेने की उत्सुकता थी। इस उत्सुकता ने ही उन्हें बहुभाषाविद् बनाया। संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, बंगला, आदि भाषाओं को ही नहीं पढ़ा; प्रत्युत इन भाषाओं के साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। अध्ययन ज्यों-ज्यों गहन होता गया, भावनात्मक उद्वेलन बढ़ता गया। भावनाओं का ज्वार साहित्य में बह निकला। मात्र 15 वर्ष की आयु में उन्होंने साहित्य संसार में प्रवेश किया। प्रवेश द्वार बनी कविता।

श्री सम्पूर्णानन्द के हृदय में देशानुराग अपार था। देशप्रेम के नाते हर देशभक्त के चरणों में उनकी श्रद्धा अर्पित थी। उनकी काव्य प्रतिभा भी देशभक्ति से ही अभिप्रेरित हो मुखरित हुई। श्री गोपाल कृष्ण गोखले की मृत्यु का उनके किशोर मन पर ऐसा आघात लगा कि आँसुओं के साथ छन्द भी फूट पड़े। दिवंगत गोखले पर लिखी हुई उनकी शोकानुभूति कविता के रूप में 1915 ई. को फरवरी के नवनीत में प्रकाशित हुई, जिसकी शब्द-रचना थी "देशभक्त देहावसान"।

स्वार्थ त्याग अनन्य कीन्हों जाति के हित काज,
ईश के संग सम्पूर्ण आनन्द परि करहि स्वराज।

साहित्य जगत् में श्री सम्पूर्णानन्द का अवतरण तो पद्य के क्षेत्र में हुआ; किन्तु विस्तार हुआ गद्य विधा में। उनकी गद्य विधा का क्षेत्र बड़ा विस्तृत रहा है। धर्म, दर्शन, इतिहास, विज्ञान सभी का समाहार उनके साहित्य में उपलब्ध होता है। डॉ. सम्पूर्णानन्द जी देश को समर्पित व्यक्ति थे। देश का अभ्युत्थान तभी सम्भव है, जब समाज के एक-एक व्यक्ति का पूर्ण उत्थान हो। सर्वोदय का स्वप्न तभी पूर्ण हो सकता है, जब अन्त्योदय हो अर्थात् समाज के आखिरी व्यक्ति का उदय। स्वतंत्रता संग्राम आरम्भ हो चुका था। प्रत्येक जागरूक देशभक्त नागरिक स्वतंत्रता यज्ञ में तन-मन-धन की आहुति देने को तत्पर था। बाल्यावस्था से ही देशभक्त सम्पूर्णानन्द तन मन से ही नहीं, अपनी लेखनी से भी निष्ठापूर्वक आहुतियाँ दे रहे थे। सोये हुए को जगाना था। जागे हुए को कर्मक्षेत्र में उतारना था, और कर्मक्षेत्र में उतरे हुए को भारतमाता के नाम पर फाँसी के फन्दे पर झूल जाना सिखाना था और यह दायित्व था बुद्धजीवियों पर, उनकी लेखनियों पर। सम्पूर्णानन्द जी ने इस दायित्व का तत्परता, सजगता और समग्रता से निर्वाह किया।

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी की लेखकीय सृष्टि को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

1. धार्मिक साहित्य	-	हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान।
2. देवाधारित साहित्य	-	व्रात्य काण्ड एवं अलकर्नन्दा मन्दाकिनी दो तीर्थ, गणेश, पुरुष-सूक्त।
3. दार्शनिक साहित्य	-	भारतीय सृष्टि क्रम विचार, दर्शन और जीवन।
4. ऐतिहासिक साहित्य	-	चेतसिंह और काशी का विद्रोह, आर्यों का आदि देश।
5. व्यक्तिनिष्ठ साहित्य	-	कर्मवीर गांधी, महाराज छत्रसाल, सम्राट् हर्षवर्धन, महादाजी सिंधिया, सम्राट् अशोक, चेतसिंह, देशबन्धु चित्तरंजन दास।
6. राजनैतिक साहित्य	-	भारत के देशी राष्ट्र, चीन की राज्यक्रान्ति, मिस्र की स्वाधीनता, अंतर्राष्ट्रीय विधान, व्यक्ति और राज।
7. समाजवादी साहित्य	-	समाजवाद (मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त), ब्राह्मण सावधान, भारतीय बुद्धिजीवी।
8. संस्मरणात्मक साहित्य	-	जेल संस्मरण।
9. वैज्ञानिक साहित्य	-	पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल, अन्तरिक्ष यात्रा।

वर्गीकृत करने पर सम्पूर्णानन्द जी का साहित्य नवधा रूप में मिलता है। जग-जीवन के यथार्थ को उन्होंने वस्तुतः अनुभूति के धरातल पर आत्मसात् किया था। चिन्तन के साथ अनुभूति ने एक नया रूप लिया, जिसे योग कहते हैं। कारावास में पतंजलि के योगसूत्र का 150 बार पारायण कर वह इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि अन्तश्चेतना को सच्ची सौन्दर्यानुभूति योग द्वारा ही होती है। कला के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है–"इसीलिए सौन्दर्य का सच्चा अनुभव योगी को ही हो सकता है"। सत्य तो यह है कि योगी के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी उदात्त एवं श्रद्धामय थी। उनके ही शब्दों में "अविद्या के क्षय होने पर भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है और एक अद्वैत

अखण्ड चित्-सत्ता अपनी लीला का संवरण करके अपने आप का साक्षात्कार करती है। इसका स्वरूप परमानन्द है। योगी पर निरन्तर सोम की वर्षा होती है। यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्णानन्द जी ने अखण्ड चित्-सत्ता का स्वयं साक्षात्कार किया था, तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने आत्मवत् सर्वभूतेषु के दर्शन को अंगीकार ही नहीं किया, जिया भी था। उनकी यह अनुभूति साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है। सम्पूर्णानन्द जी के साहित्यिक सौष्ठव की ही गुरुता थी कि 1918 ई. में इन्दौर में आयोजित हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अधिवेशन में उन्हें साहित्य अनुभाग का सभापति मनोनीत किया गया।

सच्चा साहित्यकार समष्टि व्यापी भावनाओं को अपने साहित्य में तो पिरोता ही है; किन्तु कल्याणकारी सम्भावनाओं को समाज के मंगल हेतु पत्रकारिता के माध्यम से जन मन तक पहुँचा भी देता है। सम्पूर्णानन्द जी श्रेष्ठ साहित्यकार होने के साथ-साथ उच्चकोटि के पत्रकार भी थे। काशी के ज्ञानमण्डल प्रकाशन के तो वह स्थायी सहयोगी थे, साथ ही उन्होंने 1935 में काशी से ही प्रकाशित होने वाले एक साप्ताहिक का सम्पादन भी किया। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने "आज", "जागरण", "मर्यादा" का भी सम्पादन किया। अनुभूति भी थी, वैचारिक अभिचेतना भी थी और सशक्त अभिव्यक्ति की क्षमता भी। एक कुशल पत्रकार को अपने भाव विचार सम्प्रेषण के लिए इससे अधिक चाहिए भी क्या। उनकी भाषा सदा उनके भावों की अनुगामिनी रही है। गहन गंभीर गवेषणापरक रचनाओं में उनकी पांडित्य-पूर्ण शैली के दर्शन होते हैं, तो भावानुवर्तन के साथ उनकी हास्य, व्यंग्ययुक्त सहज शैली का भी परिचय मिलता है। सारांशतः भाव विचार सम्प्रेषण में उनकी भाषा कभी आड़े नहीं आई। शैली वही सराहनीय होती है, जो वस्तु सम्प्रेषण में सक्षम हो। इस दृष्टि से श्री सम्पूर्णानन्द की भाषा-शैली अप्रतिम है।

मानवता की धुरी है संवेदना। विराट् संवेदना जो व्यक्ति को समष्टि से जोड़ती है। पिंड और ब्रह्माण्ड की एकरूपता स्थापित करती है, सुख-दुःख की लहरों में एक साथ बह सकने की उदात्तता देती है। जो मेरा है वह सबका है और जो सबका है, वह मेरा है, ऐसी अनुभूति जगाती है। सत्य तो यह है कि संवेदना ही मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सम्पूर्णानन्द में अपार संवेदना थी। संवेदना ने ही उनके प्राणों में देशभक्ति जगाई, संवेदना ने ही उन्हें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझने की मनीषा दी। संवेदना ने ही स्वतंत्रता के लिए होम हो जाने को अभिप्रेरित किया, कारावास की कठोर यंत्रणाएँ सहने की शक्ति दी। ऐसा संवेदनशील व्यक्ति जब संघर्ष के लिए कृतसंकल्प होता है, तो उसका अस्त्र होता है साहित्य। निःसन्देह इस महान् साहित्य-सेवी की लेखनी ने हिन्दी साहित्य को बहुमुखी सम्पन्नता दी है। श्री संपूर्णानन्द के जन्मशती वर्ष में संस्मरण अनन्त श्रद्धा सुमन उनके चरणों में अर्पित हैं। लेखनी के इस सेनानी को साहित्यानुरागियों का शताधिक नमन।

●

डॉ. सम्पूर्णानन्द का अर्थ-काम निरपेक्ष व्यक्तित्व

श्री सुधाकर दीक्षित

(१)

यह प्रसन्नता का विषय है कि मनीषी श्री सम्पूर्णानन्द जी के जन्म शताब्दी समारोह के प्रसङ्ग से एक विशिष्ट ग्रन्थ उनकी स्मृति में प्रकाशित हो रहा है। श्री सम्पूर्णानन्द का व्यक्तित्व भारतीयता के प्रति पूर्ण समर्पित था। वे स्पष्टरूप से स्वीकार करते थे कि भारतीयता की रक्षा संस्कृत एवं उसमें निबद्ध वेदादि शास्त्रों की रक्षा से ही सम्भव है। इसीलिए वे संस्कृत तथा संस्कृत-शास्त्रों के सर्वाङ्गीण उन्नयन के लिए सदा कटिबद्ध रहे। इसी का सुपरिणाम संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना भी है।

श्री सम्पूर्णानन्द जी के कुछ आदर्श थे। उनके प्रति वे अत्यन्त प्रतिबद्ध थे। सामाजिक तथा प्रशासनिक क्षेत्र में उन्होंने अपने आदर्शों की स्थापना ही अपना लक्ष्य माना था। इसीलिए वे अपनी एक अमिट छाप उन सभी क्षेत्रों में छोड़ गये हैं, जहाँ उन्होंने कार्य किया। श्री सम्पूर्णानन्द ने साहित्यिक सेवा भी पर्याप्त मात्रा में की है और यह साहित्यिक सेवा उनके आदर्शों की स्थापना में ही पर्यवसित है। इसीलिए वह मौलिक एवं प्रेरणाप्रदरूप में सतत स्मरणीय हैं।

तत्त्वचिन्तक श्री सम्पूर्णानन्द ईमानदार व्यक्तित्व के धनी एक निःस्पृह आदर्श राजनेता के रूप में सदा आदरणीय रहेंगे। इनकी सादगी तथा अर्थ-कामनिरपेक्षता का स्मरण कर मन में यह टीस उठती है कि यदि आज भी हमारे सभी शासक वैसे ही अर्थकाम-निरपेक्ष होते, तो देश का कितना कल्याण होता तथा वर्तमान समस्याएँ खड़ी ही न होतीं। अस्तु।

सम्प्रति हम श्री सम्पूर्णानन्द की स्मृति में प्रकाशित होने वाले इस विशिष्ट ग्रन्थ में अर्थ-काम निरपेक्षता पर ही एक दृष्टि डालना चाहते हैं, पर अर्थ-कामनिरपेक्षता पर विचार तब तक अधूरा ही रहेगा, जब तक बहुचर्चित धर्मनिरपेक्षता की समीक्षा न कर ली जाए। अतः आइये धर्मनिरपेक्षता की सर्वप्रथम समीक्षा की जाय।

(२)

मेरी समझ में तो धर्मनिरपेक्षता बहुत ही भ्रामक शब्द है। 'सेक्युलर' के स्थान पर इसका प्रयोग स्वीकृत हो चुका है, इसलिए इसे स्वीकार करने की बाध्यता है और इसी कारण यद्यपि यह शब्द

कहता है कुछ और ही, पर जिस किसी प्रकार तोड़ मरोड़ कर इसका हम शासकीय मनोभाव के अनुसार सर्वधर्मसमभाव आदि के अर्थ में संयोजन करने का प्रयास करते हैं।

यह वास्तविकता है कि मानव धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। धर्म शब्द का सही अर्थ है–कर्त्तव्य और यह कर्त्तव्य स्वभावतः कल्याणात्मक है। अतः कर्त्तव्यनिरपेक्षता मानव के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती। कर्त्तव्यसापेक्षता से अतिरिक्त मानवता और कुछ नहीं है। कर्त्तव्य ही तो मानव का जीवन होता है। कर्त्तव्यनिरपेक्ष होना जीवन निरपेक्ष होने के समान है।

(३)

'निरपेक्ष' के मूल में ईक्षा शब्द है। 'ईक्षा' दर्शन अर्थ में प्रयुक्त 'ईक्ष' धातु से निष्पन्न है। प्रयोग की दृष्टि से दर्शन एवम् ईक्षा में थोड़ा भेद है। उस दर्शन को ईक्षा कहते हैं, जिसका लक्ष्य हेयोपादेयविवेक होता है। इसी ईक्षा में 'अप' उपसर्ग जोड़ने से अपेक्षा शब्द तथा 'उप' उपसर्ग जोड़ने से उपेक्षा शब्द बनता है। यदि हम किसी वस्तु के प्रति सत्कार अथवा तिरस्कार का भाव न अपना कर उदासीनता मात्र अपनाते हैं तो हमारी यह उदासीनता ही उपेक्षा शब्द से समझी जाती है। अपेक्षा शब्द तो सत्कार का भाव व्यक्त करता है। जब हम कहते हैं–हमें ज्ञान की अपेक्षा है, तो प्रयोजन के अनुसार ज्ञान की आवश्यकता स्पष्ट कर हम ज्ञान के प्रति सत्कार का ही भाव व्यक्त करते हैं। इसी अपेक्षा शब्द के साथ 'निर्' उपसर्ग जोड़कर–निर्गतः अपेक्षायाः इति निरपेक्षः–(अपेक्षा रहित) इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपेक्षारहित व्यक्ति को निरपेक्ष कहा जाता है। मानव सामान्यतः अपेक्षारहित नहीं हो सकता। अतः उसे किसी विशेश्र वस्तु की अपेक्षा से रहित बताने के लिए ही निरपेक्ष शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए केवल 'निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग कभी भी उपलब्ध नहीं होता; प्रत्युत किसी उपपद के साथ ही इसका प्रयोग उपलब्ध होता है–जैसे सुखनिरपेक्ष, दुःखनिरपेक्ष, द्वेषनिरपेक्ष आदि। इनका अर्थ है–मैं सुख की अपेक्षा से रहित हूँ, दुःख की अपेक्षा से रहित हूँ आदि। ऐसे ही प्रकृत में धर्मनिरपेक्ष शब्द है। इसका अर्थ है–धर्म की अपेक्षा से रहित। अपेक्षा शब्द अभी किये गये स्पष्टीकरण के अनुसार उस आवश्यकता को स्पष्ट कर रहा है, जो सत्कार की दृष्टि में पर्यवसित है। ऐसी स्थिति में धर्मनिरपेक्ष शब्द यही भाव दे रहा है कि धर्म की आवश्यकता हमें नहीं है–धर्म के प्रति हम में सत्कार की दृष्टि नहीं है। यह भाव किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना जा सकता। कर्त्तव्य ही धर्म है। क्या कर्त्तव्य के प्रति सत्कार की दृष्टि का अभाव उचित माना जा सकता है ? कर्त्तव्य हमारा हो या किसी दूसरे का, सत्कार के योग्य तो है ही; पालनीय भले ही किसी के लिए हो, किसी के लिए न हो।

(५)

शासन स्वयं को धर्मनिरपेक्ष कह कर यह बताना चाहता है कि हम धर्म के प्रति निष्पक्ष (आग्रहशून्य) हैं। देश में अनेक धर्म हैं। उनमें से किसी धर्मविशेष में हमारा पक्षपात नहीं है। हम सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखते हैं। पर उपर्युक्त वस्तुस्थिति के अनुसार धर्मनिरपेक्ष शब्द इस

पवित्र आशय को कथमपि स्पष्ट नहीं करता। इस पवित्र आशय के लिए निष्पक्ष शासन, पक्षपात-शून्य शासन, आग्रहरहित शासन आदि शब्द ही उपयुक्त हैं। पक्षनिरपेक्ष, मतनिरपेक्ष शासन हो सकता है, धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता।

(६)

धर्मनिरपेक्षता के समर्थन में एक बात कही जाती है–धर्म शब्द से यहाँ वे कर्मकाण्ड विवक्षित हैं, जिनकी उपयुक्तता में कोई ठोस तर्क उपलब्ध नहीं है, पर विभिन्न समुदाय में वे रूढ़ हैं तथा उनकी प्रतिष्ठा के केन्द्र-बिन्दु बन चुके हैं और निश्चित ही विभिन्न वर्गों में विद्वेषाग्नि उद्दीप्त करते रहते हैं। वर्तमान परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए उन कर्मकाण्डों से विभिन्न समुदायों को विमुख करना अत्यन्त दुष्कर है और यदि किसी एक समुदाय के कर्मकाण्ड को शासन अपना कर्मकाण्ड मान ले, तो देश के अन्य समुदायों का वह विश्वासपात्र नहीं हो सकेगा, फलतः पूरे देश में विप्लव अपरिहार्य है, अतः शासन स्वयं को उन कर्मकाण्डात्मक धर्मों से निरपेक्ष मान रहा है।

इसमें इतने से हम अवश्य सहमत हैं कि विभिन्न कर्मकाण्ड विभिन्न समुदायों में धर्म के रूप में मान्य हैं और ये वर्तमान सन्दर्भ में परस्पर अमिट विरोध के कारण ही बन रहे हैं, अतः इनके प्रति पक्षपातरहित होना ही उचित है पर निरपेक्ष होना उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि निरपेक्षता में निश्चित ही सत्कार-दृष्टि का अभाव ही स्पष्ट होता है और यह तब तक उचित नहीं माना जा सकता, जब तक ये कर्मकाण्ड किसी भी समुदाय के द्वारा पालनीय हैं।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि कुछ कर्मकाण्ड विभिन्न समुदायों में जिस रूप में प्रचलित हैं, वे वर्तमान सन्दर्भ में उसी रूप में उपादेय हैं या नहीं और मेरी दृष्टि में अद्यतन स्थिति के अनुसार यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विचारशील लोगों को इस पर गम्भीरतापूर्वक अवश्य विचार करना चाहिए। देश के उत्थान के प्रति अपना जीवन समर्पित कर कुछ लोग अवश्य आगे आयें तथा इन कर्मकाण्डों की तालिका बनायें और इनसे सम्बद्ध विज्ञ लोगों से सम्पर्क कर इनके मूल में निहित उद्देश्य तथा इनके सही स्वरूप से अवगत हों, अनन्तर कहाँ किस रूप में कितने अंश के परिष्कार एवं परित्याग से कर्मकाण्ड के मूल उद्देश्य तथा स्वरूप की रक्षा के साथ पारस्परिक विरोध तथा विद्वेष का उन्मूलन सम्भव है, इसकी समीक्षा करें और पुनः योग्य अधिकारियों की समिति में इसे रखकर एक ऐसा सर्वसम्मत या बहुसम्मंत स्वरूप कर्मकाण्डों का निश्चित करें, जो सम्बद्ध या समस्त समुदायों में स्वीकार्य रूप से प्रचारित किया जाय। ऐसा करने से कतिपय कर्मकाण्डों के कारण उभरने वाली विनाशोन्मुख प्रवृत्तियाँ अवश्य समाप्त होंगी या रुकेंगी। यदि यह अति उत्तम कार्य हमलोग सम्पन्न कर सकें, तो अवश्य ही प्रचलित कर्मकाण्डों के वे अंश या स्वरूप स्पष्ट हो जायेंगे, जो वस्तुतः त्याज्य हैं और उन त्याज्य अंशों या स्वरूपों के प्रति शासन को, साथ ही समस्त देश को अवश्य निरपेक्ष होना चाहिए।

मैं इस तथ्य में अपना विचार केन्द्रित कर चुका हूँ कि आज समस्याओं के बढ़ते हुए अम्बार में प्रमुख कारण दो ही हैं–निरङ्कुश बुद्धिवाद तथा सत्प्रेरणादायक व्यक्तित्व का अभाव। मेरा

विचारशीलों से विनम्र निवेदन एवं साग्रह अनुरोध है कि ऐसी कोई सुविचारित योजना यथासम्भव शीघ्र अपनायी जाय जिससे प्रेरक व्यक्तित्व निखरे। प्रेरक व्यक्तित्व के अभाव में ही निरङ्कुश बुद्धिवाद को प्रश्रय मिलता है। वर्तमान में अर्थ-काम की अपेक्षा से हम इतने ग्रस्त हैं कि प्रेरक व्यक्तित्व के उभार की दिशा में निराशा हो रही है। जिन लोगों ने श्री सम्पूर्णानन्द को देखा है, वे जानते हैं कि उनका व्यक्तित्व प्रेरक था। वे जैसा कहते थे, वैसा हीं आचरण करते थे। अपनी सूझ-बूझ से वे जिस मान्यता को उपादेय समझ लेते थे, उसके कार्यान्वयन के लिए तत्पर हो जाते थे। अर्थ-काम की आसक्ति से तो वे कोसों दूर थे। उन्होंने कभी भी अर्थ-लोभ, सांसारिक सुख-सुविधा या प्रतिष्ठा के लोभ से शासनसत्ता नहीं संभाली। एक अनासक्त कर्मयोगी के रूप में श्री सम्पूर्णानन्द जी सदा देशहित के लिए अपने आदर्शों के अनुसार संघर्षरत रहे। उन्हें देखने से स्पष्ट होता था कि देश के लिए समर्पित व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए। ऐसे राजनेता के निर्देशन में यथासम्भव प्रशासन का एक स्तर देखने को मिलता था, प्रशासनिक व्यवस्था का एक निश्चित रूप अनुभव में आता था। जनता प्रायः आश्वस्त थी कि हमें ईमानदार शासक उपलब्ध हैं, जान-बूझकर ये हमारा अहित न सोचेंगे, न करेंगे।

आज हमें सम्प्रति ऐसा कोई व्यक्तित्व सुलभ नहीं है, जिसमें हृदय से हम आस्थावान् हों और इसी कारण सर्वत्र अव्यवस्था का साम्राज्य है। समाज में सर्वत्र अर्थकामसापेक्षता का प्रभुत्व स्थापित हो गया है, और लोग इसकी ही ओर प्रायः अग्रसर हो रहे हैं। अब यह भावना घर कर गयी है। अर्थ ही सर्वस्व है। इसी के कारण देश में काले धन की वृद्धि हो रही है।

समाज में आज आवश्यकता है ऐसे प्रेरणादायक व्यक्तित्व की जो त्याग, तपस्या (कठिन श्रम) तथा अर्थकामनिरपेक्षता द्वारा जनमानस को आकृष्ट कर इस रोग से मुक्ति दिलायें। अब आवश्यकता है व्यवस्था के प्रति प्रत्येक नागरिक को आस्थावान् करने की और सद्‌गुणों को प्रश्रय देने की। इसी के द्वारा सही अर्थ में हम सब स्वस्थ चित्त होकर सात्विक प्रवृत्ति से देश के निर्माण एवं उन्नयन में अग्रसर हो सकते हैं। अतः हम सब मिलकर अवश्य उन उपायों पर विचार करें, जो प्रेरक व्यक्तित्व के निर्माण में सहयोग कर सकें। आज ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं, जो समाज की दिशाहीनता से अतिव्यग्र हैं। इन्हें एक मंच पर एकत्र किया जाय तथा परस्पर प्रतिज्ञापूर्वक यह विश्वास स्थापित किया जाय कि व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सिद्धान्त की हत्या नहीं होने दी जायगी और हर सम्भव सहयोग के माध्यम से किन्हीं सुनिश्चित सुपरीक्षित सिद्धान्तों के अनुकूल अपने सहयोगियों में एक ऐसा वातावरण बनाया जायगा, जो सिद्धान्त निष्ठा के लिए प्रेरणाप्रद हो। ऐसा करने से देश का कल्याण अवश्य होगा।

(७)

यही सब सोचकर मैं इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि आज की समस्या का समाधान प्रेरक व्यक्तित्व के उभार में ही है तथा प्रेरक व्यक्तित्व का मेरुदण्ड अर्थकामनिरपेक्षता ही है। इस सन्दर्भ में बार-बार यह प्रश्न मन में उठता है कि अधुना सर्वत्र धर्मनिरपेक्षता की तो चर्चा होती है, किन्तु

अर्थनिरपेक्ष, कामनिरपेक्ष होने की बात क्यों नहीं चलायी जाती। आज धर्म के कारण जितनी समस्याएँ उठ रही हैं, कहीं उससे अधिक ही समस्याएँ अर्थ, काम के कारण उठ रही हैं। जो लोग धर्म के नाम पर एक हैं, वे भी अर्थ, काम के लिए विघटित हैं और परस्पर भीषण संघर्ष के लिए उतावले हैं। पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी अर्थ, काम के कारण विद्वेषाग्नि की लपट से घिर गये हैं। ऐसी वस्तुस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए सर्वप्रथम हमें अर्थ-कामनिरपेक्षता का अवलम्ब लेना चाहिए। परन्तु यह कार्य आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता के रङ्ग में हम इतने रंग गये हैं कि अर्थ, काम को ही हम अपना जीवन समझ कर ऐसा सोच रहे हैं कि धर्म को तिलाञ्जलि देने से ही समाज की उन्नति होगी। वस्तुगत्या छोड़ना तो किसी को भी नहीं है, परमकल्याणरूप धर्म से अर्थ-काम को नियन्त्रित मात्र करने की दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि अर्थ, काम की उपेक्षा करके भी धर्म का पालन करना चाहिए। पर इस आप्त मान्यता को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करने के लिए विद्यावृद्धों की उपासना अपेक्षित है। इसी से समाज का कल्याण हो सकता है।

प्रकृत में हमें यही कहना है कि धर्म के प्रति आस्थाहीन होने के कारण ही यदि सौभाग्य से अर्थ, काम की तरह धर्म भी जीवन के अनिवार्य तत्त्व के रूप में समाज को मान्य होता, तो निश्चित ही आज जिस प्रकार से अर्थनिरपेक्षता कामनिरपेक्षता के स्थान पर आर्थिक सन्तुलन, आवश्यकताओं के पुनरीक्षण, परिसीमन आदि बातों की चर्चा होती है, उसी प्रकार धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर धार्मिक सन्तुलन, धार्मिक समन्वय आदि की भी चर्चा होती।

(८)

अब हम अपना विचार मूल विषय पर केन्द्रित करें। सिद्धान्तनिष्ठ अतएव प्रेरणादायक लोगों के निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण की बात अभी ऊपर की गयी है। तदनुसार निश्चित ही सजग होना चाहिए; क्योंकि यह योजना दूरगामी ठोस परिणाम लाने में अवश्य उपयोगी है।

आज हम बुद्धिजीवी एक दुर्बलता से ग्रस्त हैं। वास्तविकता यह है कि हम बुद्धिजीवी ही समाज या देश का भविष्य स्वर्णिम बना सकते हैं; पर हम अपने समय के स्वयम्प्रभु नहीं बन पाते। हम शासकमुखापेक्षी हो गये हैं। समस्त उत्तरदायित्वों को हमने शासन में निहित कर दिया है और शासन हमें जो करने का आदेश दे, उसे ही महत्त्वपूर्ण मानकर तदनुसार अग्रसर होने में ही हम अपनी उन्नति मान रहे हैं। इसमें मुख्य कारण हमारी सिद्धान्तनिष्ठा का अभाव ही है। इस प्रसङ्ग से श्री सम्पूर्णानन्द जी का स्मरण किये बिना हम रह नहीं सकते। इनका सभी साहित्य मौलिक, विचारोत्तेजक है और अपनी अहमियत रखने वाला है। ऐसा क्यों ? इसीलिए कि श्री सम्पूर्णानन्द में सिद्धान्तनिष्ठा कूट-कूटकर भरी थी। जो इन्होंने सही समझा वही कहा, वही लिखा और अन्तिम दम तक अपनी मान्यताओं के लिए जूझते रहे। इसीलिए इतिहास में इनका प्रशस्त स्थान है तथा विचारशील लोग सदा इनका पुण्य स्मरण करते रहेंगे। आज हम बुद्धिजीवी लोगों को श्री सम्पूर्णानन्द से प्रेरणा लेनी चाहिए। पर यह बहुत ही कष्टप्रद स्थिति है कि वर्तमान में

हमारी धारणा विपरीत हो गयी है। यदि हमारी सिद्धान्तनिष्ठा शासन से पुरस्कृत नहीं होती है तो हम अपनी सिद्धान्तनिष्ठा को भी कोसने लगते हैं तथा पुरस्कार एवं लोकैषणा (यश) के प्रति हममें इतनी अन्ध उत्सुकता पनप गयी है कि सिद्धान्तहीन होकर भी शासकीय पुरस्कार तथा तन्मूलक लोकैषणा को सोत्साह गले लगाने के लिए हम उतावले हो रहे हैं। यह दुर्बलता ही अपना स्वरूप पहचानने या उजागर करने में हमारे लिए बाधक हो रही है। इसे मिटाना आवश्यक है। एतदर्थ कुछ लोग आगे आयें। सिद्धान्तनिष्ठा के आधार पर अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व उजागर करें तथा समाज में यह विश्वास उत्पन्न करें कि शासन समाज का निर्माण नहीं करता, आदर्शनिष्ठ, ईमानदार, अतएव प्रभावशाली व्यक्तियों का सङ्गठन ही समाज का निर्माण करता है। यदि ऐसा हो जाय, तो अवश्य ही निकट भविष्य में वह दिन आ सकता है, जब कि हम परमुखापेक्षी न होकर स्वयं अपनी उचित दिशा का निर्धारण करेंगे और तदनुसार समाज को लेकर आगे बढ़ेंगे। हमारा इतिहास भी यही बता रहा है। सप्तर्षि लोग थे। वे समाज के हित की दिशा निर्धारित करना ही अपना उत्तरदायित्व समझते थे और इसी के लिए सर्वात्मना समर्पित थे। उनके द्वारा निर्धारित दिशा का अनुसरण करना शासन के लिए अनिवार्य होता था। समाज सप्तर्षियों की ओर देखता था। शासन की तो केवल इतनी ही भूमिका रहती थी, जितनी एक भवन की रक्षा के लिए नियुक्त दीनदार ईमानदार द्वारपाल की होती है।

(९)

यह वास्तविकता है कि आज हम जिसे धर्म का रहस्यात्मक स्वरूप समझ रहे हैं तथा यह मान रहे हैं कि वह समाज के लिए समस्या नहीं बनता, वही यथार्थतः धर्म है। विभिन्न कर्मकाण्ड तो उस यथार्थ धर्म को आत्मसात् करने के लिए केवल साधन रूप में स्वीकृत हैं। ये मुख्य धर्म नहीं हैं। इन साधनों को ही सर्वस्व मानकर इनके प्रति अमर्यादित रूप में अभिनिविष्ट होना न कभी उचित माना गया है और न उचित माना जा सकता है। अतः धर्म के सम्बन्ध में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं के निराकरण के लिए हम लोगों को हर सम्भव प्रयास तत्काल आरम्भ करना चाहिए।

(१०)

यह भी स्पष्ट ही है कि कोई माँ ही किसी माँ की प्रसव-वेदना में अपेक्षित सहानुभूति अपना सकती है। वैसे ही स्वधर्म के प्रति यथार्थ रूप में दृढ़ आस्थावान् ही अन्य के धर्म के प्रति आदरपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि अपना सकता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को हृदयङ्गम कर लेने पर यह भ्रम निश्चित रूप से निर्मूल हो सकता है कि धर्म संघर्ष का कारण बन सकता है।

मेरा यह निश्चित मत है कि जब से धर्म का सम्बन्ध लाभ या सुविधा के साथ जोड़ा जाने लगा है, तभी से धर्म के नाम पर अनर्थों के बादल मँड़राने लगे हैं। धर्म तो केवल कर्त्तव्यबुद्धि से पालनीय होते हैं। धर्मपालन के कारण यदि लाभ सुविधा आदि अनुषङ्गतः मिल जाते हैं, तो सच्चा

धार्मिक या तो उनकी उपेक्षा करता है अथवा अनासक्तभाव से उन्हें स्वीकार करता है। यह सुभाषित प्रसिद्ध है–

"गुणाः खलु गुणा एव न गुणा भूतिहेतवः।
धनसञ्चयकर्तृणि भाग्यानि पृथगेव हि" ॥

गुण गुण हैं। वे ऐश्वर्य के कारण हैं इसलिए गुण नहीं हैं। धन आदि ऐश्वर्य का सञ्चय तो भाग्य से होता है। ये भाग्य गुण से भिन्न हैं। धर्म भी गुण विशेष ही है। इसके सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए–धर्म धर्म है, वह लाभ आदि का हेतु होने से धर्म नहीं है। भगवान् मनु के द्वारा धर्म का जो स्वरूप बताया गया है, उसे हमें हृदयङ्गम करना चाहिए। वे कहते हैं–

"विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत" ॥

इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि राग-द्वेषशून्य सज्जन विद्वानों के द्वारा जो सदा सेवित हो तथा हृदय से समर्थित हो, वही धर्म है। राग-द्वेष से रहित-सात्विक विद्वान् क्या लाभ सुविधा आदि के लोभ से धर्माचरण कर सकते हैं ? लाभ आदि के लिए धर्माचरण की धारणा निश्चित ही एक कुत्सित व्यावसायिक धारणा है। यह परिणाम में कितना अनर्थ उत्पन्न करती है, इसे आज का धार्मिक उन्माद स्पष्ट कर रहा है। धर्म के नाम पर विभिन्न सुविधाओं के लोभ ने आज समस्त विश्व को आग में झोंक रखा है। आज का आतंकवाद तथा उग्रवाद इसी धारणा का घिनौना कुपरिणाम है। यदि तत्काल आदर्श शिक्षा के द्वारा नागरिकों में हम यह भाव भर दें कि धर्म धर्म के लिए है, लाभ के लिए नहीं तथा इस भाव के आधार पर स्वार्थों से धर्म का सम्बन्ध तोड़ दें तो धर्म का वास्तविक रूप सामने आ जाएगा और उसका मुख्य लक्ष्य सुख एवं शान्ति हमें स्वतः प्राप्त होंगे, साथ ही ऐसे धर्म के प्रति पूर्ण सापेक्ष रह कर ही हम यथार्थतः भारत को जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं, यह विश्वास प्रतिष्ठित होगा।

एक तथ्य मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य है। अधुना व्यक्ति धर्म से दूर होता जा रहा है। इसमें मूल कारण धर्म के प्रति तिरस्कार का भाव ही है। तिरस्कार के मूल में घृणा होती है। धर्म के प्रति घृणा का एक प्रमुख कारण है पाखण्ड। आज अवश्य ही धर्म को अधिकतर हम पाखण्ड से आवृत ही पाते हैं। इसीलिए धर्म उपेक्षणीय स्थिति में पहुँच गया है। सम्पूर्णानन्द जी धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड के कट्टर विरोधी थे। उनका यह मन्तव्य तो सदा हमें स्वीकार करना चाहिए कि मन, वाणी तथा कर्म में एकरूपता आवश्यक है और वे स्वयं सदा ही मन, वाणी एवं कर्म में एक रूप रहे। यदि धर्म के नाम पर जीवन-यापन करने वाले लोग मन, वाणी, कर्म से एकरूप हों, तो धर्म के प्रति अन्यथाभाव होने का अवसर ही नहीं आ सकता। मन वाणी और कर्म से एकरूप न होना ही पाखण्ड है। दूसरे को ठगने के लिए जो उच्छृङ्खल प्रवृत्ति होती है, उसे ही शास्त्रकारों ने पाखण्ड माना है–"परवञ्चनार्थमुच्छृङ्खलप्रवृत्तिः पाखण्डः"। इस तरह की प्रवृत्ति जिसमें होती है, वह कभी भी मन, वाणी, कर्म से एक नहीं होता, निश्चित ही वह सोचता कुछ और है, कहता कुछ और

है तथा करता कुछ और है। ऐसा ही व्यक्ति धर्म का अभिनय मात्र करता है। देखने में वह तपस्वी लगता है, व्रत, जप आदि का अनुष्ठान करने वाला प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह कुछ नहीं करता है, जो कुछ करता है वह अभिनय मात्र होता है परवञ्चन के लिए। इसीलिए "तपोजपाद्यभिनयः पाखण्डः"—यह भी पाखण्ड की परिभाषा उपलब्ध है।

सम्पूर्णानन्द जी से जिनका सम्पर्क रहा है, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि वे सही अर्थ में परदुःख में दुःखी होने वाले उदारहृदय सज्जन थे। धर्म का प्रदर्शन नहीं करते थे, परन्तु अपनी धारणा के अनुसार हृदय से धार्मिक थे। इसीलिए उनकी बातों का मूल्य था। हृदय से उनके प्रति लोग आस्थावान् थे तथा आज भी उनका स्मरण कर हम अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर रहे हैं।

श्री सम्पूर्णानन्द जी के प्रति हमारी सही अर्थ में कृतज्ञता तभी व्यक्त होगी जब कि हम आज हृदय से देश के प्रति निष्ठावान् बनें। सिद्धान्तनिष्ठ हों। सादगी, उदारता आदि को अपनाकर देश के लिए कुछ करें। अर्थ, काम के प्रति बढ़ते हुए उद्दाम लोभ का संवरण कर हम समाज को भी त्यागमय तथा अर्थकामनिरपेक्ष जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करें और बिना किसी पक्षपात के समस्त देशवासियों के हित-चिन्तन कार्य में रत रहें।

(११)

हम अध्यापकों को भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्री सम्पूर्णानन्द जी अध्यापक रूप में ही सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र में उतरे। राजस्थान में इन्होंने अध्यापन आरम्भ किया और वहीं अन्त में राज्यपाल होकर अपने सामाजिक कार्य का अवसान किया। इससे विशेषकर हम अध्यापकों को प्रेरणा लेनी चाहिए। अध्यापक होने का अर्थ है समाज-हित के लिए स्वयं को सर्वात्मना समर्पित करना। हम जिस शास्त्र या विषय के अध्यापक हैं, उस शास्त्र या विषय को हमें आत्मसात् करना चाहिए तथा अहर्निश यह प्रयास करना चाहिए कि हम अपनी सारस्वत आराधना का फल-निष्कर्ष समाज को देकर देश का हित करें तथा योग्य नागरिकों का निर्माण करें। प्रबुद्ध वर्गों में अध्यापक वर्ग सर्वप्रमुख वर्ग है। इसे कभी भी परिस्थितियों का दास नहीं बनना चाहिए। अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। सदा आदर्शोन्मुख होना चाहिए। तभी राष्ट्र को प्रेरणादायक सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति सुलभ हो सकते हैं।

श्री सम्पूर्णानन्द जी यदि हम लोगों की तरह अध्यापन को जीविका-साधन मात्र समझे होते, तो एक विशिष्ट पुरुष की श्रेणी में न आये होते। इनके कार्यों का आकलन करने से यह स्पष्ट है कि ये सही अर्थ में अध्यापक थे। किसी अध्यापक को कितना परिश्रमी, अध्यवसायी, उदार तथा व्यापक दृष्टिकोण का होना चाहिए, साथ ही देशहित के लिए कितना त्याग करना चाहिए, यह हमें सम्पूर्णानन्द जी के चरित्र से सीखना चाहिए।

सम्पूर्णानन्द जी की जन्मशती एक कर्मठ देशभक्त, अर्थकाम निरपेक्ष अध्यापक की जन्मशती है। हम अध्यापकों के लिए विशेष रूप से यह गौरव का विषय है। यह जन्मशती समारोह यथार्थ रूप में अध्यापकों को प्रेरणा दे सके, तो राष्ट्र का कल्याण सुनिश्चित है। देश की समस्याओं का समाधान

अन्ततः अध्यापकों को ही ढूँढ़ना होगा और उसका क्रियान्वयन भी सर्वप्रथम अध्यापकों को ही करना होगा। किसी परिवार में माता-पिता का जो स्थान है वही राष्ट्र में अध्यापक का स्थान है। परिवार को योग्य, संयत एवं विवेकी बनाने के लिए सर्वप्रथम माता-पिता को ही त्याग तपोमय जीवन अपनाना होता है। परिस्थितियों की उपेक्षा कर साहसपूर्ण कदम आगे बढ़ाना पड़ता है। यही हम अध्यापकों को आज नहीं तो कल करना ही होगा, अपने विवेक से नहीं तो बाध्य होकर करना होगा।

अतः हम अध्यापक अपना धर्म समझें, अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग हों और समाज के उन्नयन का कार्य अपने ऊपर लें तथा समाजसेवक के रूप में कार्य करते हुए देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाने का व्रत लेकर विश्व में इसकी प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि करने में संलग्न हो जाँय। यही सम्पूर्णानन्द जी के प्रति वास्तविक श्रद्धाञ्जलि होगी।

●

वेद

यागविधिषु तन्त्रस्वरूपानुशीलनम्

प्रो. युगलकिशोरमिश्रः

अनेकोद्देशेनाङ्गानां सकृदनुष्ठानं तन्त्रम् । क्वचिदनेकप्रधानेषु युगपदनुष्ठीयमानेषु तदुद्देशेनाङ्गानां सकृदेवानुष्ठानं प्रयोगे क्रियते तदेव तन्त्रमित्युच्यते । तच्च प्रकृतिविकृति-साधारणम् । प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोराग्नेयादित्रितयोद्देशेन प्रयाजानुयाज्यभागादीनां सकृदनुष्ठानात् । विकृतौ चातुर्मास्येषु वैश्वदेवादिषु चतुर्ष्वपि पर्वस्वाग्नेयानुद्देशेन प्रकृतितोऽतिदिष्टानां प्रयाजानुयाजादीनां सकृदनुष्ठानात् ।

यत्राङ्गानामैक्यं प्रधानमात्रभेदस्तत् तन्त्रम् । तेन मघा-त्रयोदशीमहालय-युगादिश्राद्धानां तन्त्रेण प्रयोगः (नि. सि. 119 पृ.) इत्यत्र विश्वेदेव-पाकाद्यङ्गानामैक्यं विप्रार्घ्यपिण्डादेस्तु भेद एव । प्रसङ्ग-सिद्धिस्थले तु प्रधानमपि न भिद्यते ।

यतो हि–सकृदनुष्ठितमप्यङ्गं बहूनां प्रधानानामेकदेशकालकर्तृकानां शक्नोत्युपकर्त्तुमित्येतत् तन्त्र-लक्षणम् । (शा. दी. 12/1/1) इति शास्त्रदीपिकायाम् ।

क्वचित् तन्त्रशब्दः एककालतावाची । यथा ऐतरेयारण्यकीये (1/1/1) "एवं स त्वस्मिन् सूक्ते गायत्र्यनुष्टुभो मेलने सति तन्त्रेण सूक्त-पाठेन ब्रह्मणैव वाचं संयोजयति ।" इति सायणभाष्ये तदर्थतयोल्लेखात् । एवं कदाचित् तन्त्रशब्दः मीमांसाविचारेऽपि प्रयुज्यते, यथा–

"काम्येन नित्यसिद्धिरिति तान्त्रिकाणां डिण्डिमः ।" (ऐ. आ. 1/1/1 सा. भा.) क्वचित्-तन्त्र-शब्दोऽङ्गवाची यथा–प्रकृतिस्तन्त्रिणी (जै. न्या. वि. 12/2/13) क्वचित्तन्त्रशास्त्रे ।

अत्र तु मीमांसाशास्त्रप्रसिद्धस्य पारिभाषिकस्य पूर्वोक्तलक्षणवतस्तन्त्रस्य विचारः प्रस्तुतः । रामकृष्णभट्टाचार्यस्तु (ल. कौ. 10) समानाङ्के उद्दिश्य कृते तन्त्रं न्यायः । अधिकाङ्केन न्यूनाङ्गसिद्धौ प्रसङ्गन्यायः । अत्र प्रसङ्गे कुत्रचिदुद्देश्यस्य सिद्धिः क्वचिदनुद्देश्यस्यापि इति । तदेतत् जैमिनीय-न्यायासम्मतत्वादविचारणीयम् । यतो हि स तन्त्रन्यायमेवमुदाजहार ।

"असंस्कर्ता पिता बालहा भवति यथासमयम्, तदकरणे क्षामवत्या यजेत, ततश्च संस्करोति" इति श्रुतेः मुख्यकाले जातेष्ट्यादेरकरणे तज्जन्यप्रत्यवायनाशाय क्षामवतीमिष्टिं कृत्वा गौणकालेऽपि संस्कारान् जातेष्ट्यादीन् कुर्यादिति सिद्धम् । तत्र यदि बहुसंस्काराकरणं तदा बहुप्रत्यवायोत्पत्तेः प्रत्येकदोषनाशाय पृथक् क्षामवतीं कुर्यात् । एकया क्षामवत्यानेकप्रत्यवायनाशासम्भवात् । प्रत्येक-विघ्न-नाशाय, भिन्नमङ्गलवत्, इत्यत्र सिद्धान्तसूत्रम्-"तन्त्रवत्" इति । यथा तन्त्रस्य दीर्घसूत्रसमुदायमध्ये सर्वसूत्रमुद्दिश्य कृतेन एकेन विस्तारसूत्रप्रक्षेपेण सर्वसूत्रसम्बन्धः, न तु यावन्ति दीर्घसूत्राणि तन्मध्ये

प्रत्येकं प्रस्तारसूत्रप्रक्षेपः कुविन्देन क्रियते, तथा एकया क्षामवत्या सर्वमुदिश्य कृतया सर्वदोषसम्बन्धात् सर्वेषामेव नाशः । नाशक-नाश्यसम्बन्धे सति नाशेऽन्यानपेक्षणादिति । (अधिकरणकौमुदी, पृ. 9) तदेतदशास्त्रीयत्वादुपेक्षणीयम् ।

प्राथम्यविचारः—

तन्त्रे प्रथमोपस्थितस्य पूर्वं कार्यम् (जै. सू. 11/1/43) इति न्यायात् तन्त्रप्रयोगे क्रियमाणे प्रथमोपदिष्टस्य प्रधानस्य पूर्वं कर्म ततो यथाक्रमम् ।

अत एव (312 पृ.) निर्णयसिन्धौ—

देवविप्रानेकत्वे तत्रैव—

"वैश्वदेवे यदैकस्मिन् भवेयुर्ब्रह्मादयो द्विजाः ।
तदैकपाणौ होतव्यं स्याद्विधिर्विहितस्तदा ॥"

सोऽप्याद्यः, 'प्रथमं वा नियम्येत' इति न्यायात् ।

तन्त्रोदाहरणानि—

(1) संस्काराङ्गनान्दीश्राद्धे तन्त्रविषये त्रिकाण्डमण्डने—

कालातीतेषु कार्येषु प्राप्तवत्स्वपरेषु च ।
कालातीतानि कृत्वैव विदध्यादुत्तराणि तु ॥

इति तत्र सर्वेषां तन्त्रेण नान्दीश्राद्धं कुर्यात् । देशकालकर्मैक्यात् (का. श्रौ. 1/7/3) ।

गणशः क्रियमाणानां मातॄणां पूजनं सकृत् ।
सकृदेव भवेच्छ्राद्धमादौ न पृथगादिषु ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टात् । एतद्बहूनामपत्यानां युगपत्संस्कारकरणविषयमिति बोपदेवः । अतीत-संस्काराणां युगपत्करण इत्यन्ये । तत्रापि चौलस्योपनीत्या सहेति पक्षे उपनीतिदिन एवानुष्ठानं न पूर्वदिने, सहत्वस्य दिवसैक्ये सन्निकृष्टतरत्वात् । वृद्धाचारोऽप्येवम् (नि. सि. 196 पृ.) ।

(2) षोडशमासिकतन्त्रताविचारो निर्णयसिन्धौ (424 पृ.)-क्रियानिबन्धे गारुडे—

'त्रिपक्षात्पूर्वतः साग्नेर्भवेत्संस्कारवासरे ।
ऊर्ध्वं मृतदिनेऽनग्नेः सर्वाण्येव मृताहतः ।'

एतानि च यदा सपिण्डनात्पूर्वं युगपत्कुर्यात्तदा देशकालकर्मैक्ये (का. श्रौ. 1/7/3) तन्त्रत्वादेकः पाक इति केचित् । पाकभेद इति भट्टचरणाः । अत्र केचिदाहुः—देशकालकर्तृदेवतैक्ये तन्त्रत्वात् श्राद्धकालातिक्रमापत्तेः,

'द्वादशाहेऽथ सर्वाणि संक्षेपेण समापयेत् ।
तान्येव तु पुनः कुर्यात्प्रेतशब्दं न कारयेत् ॥'

इति कात्यायनोक्तेः, 'नैकः श्राद्धद्वयं कुर्यात् समानेऽहनि कुत्रचित्' 'इत्यस्य दैवतैक्यपरत्वेऽप्यत्र तत्सत्त्वात्–

'श्राद्धं कृत्वा तु तस्यैव पुनः श्राद्धं न कारयेत्' । इति जाबाल्युक्तेः । षोडशसंस्थायाश्च वाजपेय-प्राजापत्ययागसप्तदशत्ववत्सान्नाय्ययागद्वित्ववच्च दर्शपातसंक्रान्तिश्राद्धवद्युगपदनुष्ठानेनाप्युपपत्तेः–'आय-मासिकाद्यूनाब्दिकान्तेषु षोडशश्राद्धेषु क्षणः क्रियताम्' इत्येवं प्रयोगेणैको विप्रः पिण्डोऽर्घ्यश्चेति । विरुद्धविधिविध्वंसेऽप्येवम्, तन्मन्दम् । 'द्वादशाहेन वा भोज्या एकाहे द्वादशापि वा ।' इति हेमाद्रौ हारीतवचो विरोधात् । तेन विप्रभेदात् पिण्डार्घ्याद्यपि भिन्नमिति सिद्धम् । (नि. सि. 424 पृ.)

(3) आग्रायणस्य प्रकरणेऽपि यदा त्वेतदाश्विनपौर्णमास्यां क्रियते तदैककालत्वादाश्वयुजी कर्मणोऽस्य च समानतन्त्रता भवति तदेतद्वृत्तिकृता 'एकबर्हिरिध्माज्य' इति सूत्रं स्पष्टमुक्तम् । (नि. सि. 143 पृ.)

(4) अत्र (नवरात्रव्रते) तिथियौगपद्ये तन्त्रेणोपवासः । तिथिद्वयनिमित्तं पूजादिकं तु भेदेन । (नि. सि. 129) अत्र तिथेः प्राधान्यात्तस्यैवैकाहोरात्रान्तर्गतत्वे उपवासद्वयं तु प्रधानं न संभवति, पूजादिकं प्रधानं तु तिथ्युद्देशेन संभवतीत्येवेति पूजादिकं भेदेनेति स्पष्टमुक्तम् ।

(5) सर्वप्रायश्चित्तप्रयोगस्य पूर्वाङ्गोत्तराङ्गयोरनुष्ठाननिर्णयः तन्त्रेण । प्रायश्चित्तप्रयोगे यदि कश्चित्पृथक्-प्रयोगेण पूर्वाङ्गोत्तराङ्गयोरनुष्ठानमिच्छति, तर्हि तथैव कुर्यात् । सर्वासु पद्धतिसु तथैव दर्शनात् । प्रायश्चित्तेन्दुशेखरेऽपि 'मम तु पृथगग्निकरणादि युक्तं भाति' इत्यादिलेखनेन पृथक् कृत्वैवानुष्ठानं सिद्धान्तितम् । गृह्याग्निसागरे परं 'तस्मिन्नेव दिने उत्तराङ्गहोमश्चेत्तस्मिन्नेवाग्नौ कार्यः ।' इति लेखनेन यस्मिन्नग्नौ पूर्वाङ्गहोमोऽनुष्ठितस्तस्मिन्नग्नौ उत्तराङ्गहोमविधानं पुनः कुशकण्डिका-करणेनापि उपपद्यत एवेति पुनः कुशकण्डिकामनुष्ठाय उत्तराङ्गहोमोऽनुष्ठेय इति एकः पक्षः ।

समानतन्त्रेणैवानुष्ठानमिति द्वितीयः पक्षः । अङ्गानां तन्त्रेणानुष्ठानस्य जैमिनि- (जै. न्या. 11/1/2) कात्यायनादिभिः सिद्धान्तितत्वात् । 'समानतन्त्रमेकेषामामनन्ति' इत्यापस्तम्बेनापि समानतन्त्रताया विहितत्वात् 'पशुः समानतन्त्रः स्यादिति बौधायनोऽब्रवीत्' इति बौधायनेनापि अग्नीषोमीयपशुना सह प्रायश्चित्तपश्वनुष्ठानं विदधता अङ्गानां समानतन्त्रता स्वीकृता । अतोऽत्रापि एकतन्त्रेणानुष्ठानं कर्तुं सुकरम् ।

अस्मिन् पक्षे स्विष्टकृद्धोमानन्तरं उत्तराङ्गानुष्ठानं तदनन्तरं च संस्रवप्राशनादिकम् । स्विष्टकृद्धोमस्य प्रधानहोमसमनन्तरमेव विधानात् प्रधानहोमानन्तरं तस्य अवश्यमनुष्ठातव्यत्वात् । उत्तराङ्गानुष्ठानं तु दर्शेष्टौ अनुयाजादिवत् स्विष्टकृदनन्तरमेवेति याज्ञिकपीयूषे ।

आवृत्तिभेदः–

तन्त्रे यत्र अनेकप्रधानस्थले अंगेषु काचन आवृत्तिर्बोध्यते सा द्विविधा–दण्डकलितवदावृत्तिः, स्वस्थानविवृद्धिश्चेति (जै. 5/3/2) । अनुष्ठेयान्यङ्गानि तावन्त्यपि सकृदनुष्ठाय पुनस्तथैव तेषा-मनुष्ठानमिति दण्डकलितवदावृत्तिः । एकैकमङ्गं यावद्वारमनुष्ठाय पुनर्द्वितीयस्य तावद्वारमनुष्ठानमिति

स्वस्थानविवृद्धिः । यथा क्षेत्रमाने क्वचित्कृत्स्नमेव मानदण्डं निवेश्य तदनन्तरदेशेऽपि तद्वदेव कृत्स्नं निवेश्य क्षेत्रं मीयते सा दण्डकलितवदावृत्तिः । स्वस्यैव स्थाने यावद्वारं विवृद्धिः स्वस्थानविवृद्धिः । अत्र सर्वत्र स्वस्थानविवृद्धिरौत्सर्गिकी। स्वपूर्वपदार्थेऽनुष्ठिते स्वस्योपस्थितेः, तेन यावद्वारं स्वानुष्ठानसंभवात् । दण्डकलितवदावृत्तौ तु समुदायान्तिमपदार्थेऽनुष्ठिते पुनस्तेन प्रथमपदार्थोपस्थितिः कष्टसाध्येति सा गौरवग्रस्ता । यत्र तु तद्बाधकं प्रमाणं तत्र दण्डकलितवदावृत्तिरिति ज्ञेयम् । अत एव गायत्रीजपादौ स्वस्थानविवृद्धिः, महारुद्रादौ तु रुद्रस्यावृत्तिविधानाद् रुद्रमन्त्राणां दण्डकलितवदेवावृत्तिरिति ।

काम्ययोस्तन्त्रत्वाभावः—

फल-देश-काल-कर्त्रैक्येऽपि काम्यप्रगोगयोस्तन्त्रता न भवति, एकैकस्य साङ्गानुष्ठानस्यैव फलजनकत्वात् । काम्ये यथाशक्ति न्यायाप्रवृत्तेश्च (जै. 6/3/2) । काम्योर्न तन्त्रतेति । काम्यानां तन्त्रत्वे यजमानद्वयस्य शिवलिङ्गसहस्रद्वयसङ्कल्पे एकसहस्रपूजनेनैव निर्वाहः स्यादिति (ल. कौ. पृ. 10) वदन् रामकृष्णभट्टोऽप्यनुकूल एव ।

तदेवं निरूपितं तन्त्रप्रकरणम् ।



वेद में देवता

डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी

वेद का मन्त्रभाग सभी दर्शन एवं देवस्वरूप का मूल आधार है । पुराण और वेद के संस्कृत साहित्यिकों ने देवता की पिता, माता, सखा, बन्धु, पति आदि के रूप में उपासना को बड़े सरस और सरल ढंग में निरूपण ही नहीं किया है, वरन् अनन्य रूप में उनकी भक्तिपूर्वक उपासना कर उनका साक्षात्कार भी किया है । उपासना के द्वारा उनको प्राप्त कर कण-कण में उसी श्यामल कोमल कान्ति की प्रतिछवि देखकर लोककल्याण को ही कल्याण की कसौटी माना है । उनका निष्काम जीवन देव की उपासना में आसक्त हो जाने से वासुदेव की झलमल दीप्ति से आशक्त अनाशक्त जीवन भी भगवान् की आसक्ति से द्रवित होकर जन-जन की पीड़ा को अपने घट-घट व्यापी की पीड़ा समझकर उसको दूर करने के लिये प्रयत्नशील हो जाता है । इसीलिये भक्ति, ज्ञान और कर्म से आलोकसम्पन्न महर्षि, भक्त और आचार्यगण ने अपनी एकान्त और सीमाबद्ध आत्मा से मुक्त, पुत्र, धन और कामिनी आदि को ही अपनी आत्मा न मानकर विश्व के साथ आत्मसात हो निष्काम जीवन्मुक्त भगवत्परायण हो लोक की सेवा में जीवन को समर्पित किया है । यह लोकसेवा ही ज्ञानी और भक्तों का अपने आराध्यदेव की चरम-परम उपासना है । इस एक देवत्व की प्रेरणा ही वेद के मन्त्रों की मननात्मक मध्याह्न सूर्य का आलोक है ।

देव की पिता के रूप में उपासना के सूचकमन्त्र–

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

(ऋ. 10/82/3. अथर्व–2/1/3, वाजसनेयिसंहिता 17/27, तै. सं. 4/6/2/1, तै. आ. 10/1/4)

जो जगत् का स्रष्टा है वह हम लोगों का पिता–पालन करनेवाला है, वही उत्पन्न करनेवाला है, वही सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक है, वही सभी भूतवर्गों का, भुवन का परिज्ञान रखनेवाला है, इन्द्र आदि देवों का स्वयं निर्माण कर इन्द्र, अग्नि, आदि नामकरण कर अपने-अपने कार्यों को करने के लिये उनकी स्थापना करता है–इन सभी कार्यों को करनेवाला वह एक और दुर्विज्ञेय है ।

न्यायदर्शन के भाष्यकर्ता वात्स्यायन ने भी इस मन्त्र को दृष्टि में रखकर कहा है, जैसे पुत्रों का पिता है वैसे ही सभी प्राणियों का वह पिता है । "यथा अयं पिता अपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्" ।

इसीलिये दार्शनिकों और आचार्यों ने उन सभी प्राणियों के रक्षक की शरण में जाने का निर्देश करते हैं। क्योंकि जैसे पिता को अपने पुत्र के प्रति अपनी आत्मा समझकर 'आत्मा वै जायते पुत्रः' उसकी सभी प्रकार के कल्याण की कामना से प्रयत्न चलता रहता है, आवश्यकता है, उसको पिता के रूप में मानकर उसके द्वारा अपने कल्याण की कामना करना। लोक में आज उत्पन्न करनेवाले के प्रति श्रद्धा की एवं हितचिन्तक की भावना न होने पर एकाकी अशरण होकर पाश्चात्य देशीय पुत्रों के रूप में अपने जीवन को व्यतीत करना पड़ता है और उसको अपनी साधना के द्वारा अर्जित तेजस्विता से रहित होना पड़ता है। अतः, इस एकत्व और पितृत्व के द्वारा लोककल्याण की कामना करनेवालों को प्रत्यक्ष देवता माता-पिता के प्रति अनुगत होकर आज्ञा के अनुसार जीवनयापन करने की प्रेरणा लेनी चाहिये।

यदि पिता किसी परिस्थितिवश कर्तव्यपरायण हो जीवनयापन करने में असमर्थ भी होता है फिर भी अपने पुत्र को कर्त्तव्य की शिक्षा और दीक्षा देने में किसी प्रकार की कमी नहीं करता है, सनातन सत्य के अनुरूप करने की इच्छा में कमी नहीं आती। व्यभिचारी भी अपने आश्रित पुत्र या पत्नी आदि को व्यभिचारी नहीं चाहता है। कभी-कभी पुत्र और पत्नी का आचरण ही पिता को सुमार्ग पर ले आता है–जैसे ध्रुवचरित्र, प्रह्लादचरित्र, अजामिल आदि का चरित्र है। वह अपने पिता को परिशुद्ध करने के लिये सभी के जन्मदाता की शरण में जाकर अपने उत्पादयिता की भी रक्षा करता है।

इन कथाओं से यह भी प्रेरणा मिलती है कि पिता अपने उत्पादयिता के प्रति श्रद्धासम्पन्न न हो तो पुत्र का कर्तव्य हो जाता है उस एक परम पिता देवदेवेश के अनन्य रूप से शरणागत हो पिता-पुत्र के सनातन सम्बन्ध को सन्तुलित रखे। परमपिता के रूप में उपासना से पुराण की गाथाएँ परिपूर्ण हैं, जब सभी ओर से निराश होता है तो मनुष्य उसकी शरण में चला जाता है।

ईश्वर बन्धु के रूप में–

स नो बन्धुजनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्तु ॥ (शुक्लयजु.)

यह परमात्मा हमलोगों का बन्धु है, बन्धु के समान मान्य है, वह केवल बन्धु ही नहीं है वरन् वह हमलोगों को उत्पन्न करनेवाला भी है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वही धारण करनेवाला है, वह सभी प्राणियों को और उनके स्थान को भी जानता है, अग्नि आदि देवगण तृतीय स्थान स्वर्ग में अपनी इच्छा के अनुसार निवास करते हैं ये अग्नि आदि ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करानेवाले तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर द्युलोक में निवास करते हैं।

पौराणिक कथाओं को देखने पर द्रौपदी, कुन्ती, पाण्डव एवं शिशुपाल की माता आदि सभी अपने बन्धु-बान्धव के रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं और भगवान् भी यथासमय इनकी पूर्ण सहायता करता है।

ईश्वर की सखा भाव में उपासना

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋक्. सं.)

इस मन्त्र में दो पक्षियों के दृष्टान्त से एक वृक्ष में निवास करनेवाले सुन्दर पक्षों से युक्त दो पक्षियों का समान स्वभाव का होने से दोनों मित्र हैं। परस्पर मित्रता के साथ रहते हुए इन दोनों पक्षियों में एक वृक्ष के स्वादिष्ट फल का भक्षण करता है और दूसरा पक्षी वृक्ष पर रहते हुए भी उसके स्वादिष्ट फल को नहीं खाता, वह केवल उसका दर्शन करता है। इस मित्रताभावापन्न दो पक्षियों के समान जीवात्मा और परमात्मा समान स्वभाव एवं परस्पर मित्रताभावापन्न वृक्षस्वरूप एक शरीर में निवास करता है। शरीर ही जीवात्मा और परमात्मा की उपलब्धि का स्थान होने से जीवात्मा और परमात्मा को एक वृक्ष में आरूढ़ कहा गया है।

दोनों पक्षियों के समान जीवात्मा और परमात्मा में जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है और लिङ्गशरीररूप उपाधि से युक्त होकर स्वादुफल अर्थात् अपने कर्म से अर्जित सुख और दुःखरूप फलों का उपभोग करता है, परमात्मा दूसरे पक्षी के समान ही स्वादु फल को नहीं खाता है, केवल साक्षी के रूप में रहकर भोक्ता जीव और भोग्य विषयों का दर्शनमात्र करता है।

यह मन्त्र उपनिषद् में भी कहा गया है। मनुष्य जीव ईश्वर को सखा के रूप में समझता है और उनके साथ समान रूप से रहता है, जैसे गोपबालक सुदामा, निषादराज, उद्धव आदि। ये लोग मित्र के रूप में भगवान् को मानकर उनके साथ निवास करते मैत्रीभाव से जीवन-यापन करते हैं। किन्तु उस प्रकार ऐश्वर्य न रहने के कारण अपने सुख के साधन के रूप में उनको अर्पित रहते हैं, वे भी प्राकृतरूप धारण कर उनकी सभी सुख-सुविधाओं का निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार के अनेक मन्त्र वेद में उपलब्ध हैं जहाँ ईश्वर को पिता-माता, बड़े भाई और पुत्र के रूप में मानकर उनकी उपासना करते हैं। उदाहरणार्थ–

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि सविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥

(अथर्व सं. 10/8/28)

परमेश्वर एक होते हुए भी सभी जीवों के मन में प्रविष्ट होकर स्थित है। यह परमेश्वर ही सभी जीवों का पिता है, यही सभी प्राणियों के पुत्र के रूप में स्थित है, यही सभी का बड़ा भाई और छोटा भाई है। यह परमेश्वर ही सभी जीवों के आरम्भ में था और सभी माताओं के गर्भस्थ जीव रूप में भी यही रहता है।

भारतीय साधना में दशरथ, कौशल्या, वसुदेव, देवकी, नन्द, यशोदा, अत्रि, अनसूया, आदि के द्वारा पुत्र के रूप में देव की उपासना का यह मन्त्र ही मूलाधार है। इस मन्त्र का एक वैशिष्ट्य है कि इसके द्वारा सभी प्राणियों की ईश्वर स्वरूपता और ईश्वर की सर्वात्मस्वरूपता कही गयी है।

यह वैदिक देववाद कितना अपूर्व है कि पारमार्थिक दृष्टि में देववाद के आधार पर भेद में अभेद का निर्देश कर रहा है। इस अभेदवाद के आधार पर मतभेद या किसी प्रकार के भेद की गुंजाइस ही परमार्थ रूप में नहीं रह जाती है–"पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतादपि मनोहरम्" पारमार्थिक अद्वैत द्वैत से भी परम मनोहर है। विश्व के किसी भी भाग में भारतीय को इस प्रकार के देववाद की अवतारणा नहीं है।

इसको भलीभाँति समझने पर देव पर आस्था रखनेवाला कभी भी किसी की हानि या उच्च-नीच का भाव ईर्ष्या-द्वेष आदि को स्थान नहीं दे सकता है। सम्प्रदायभेद की तो चर्चा ही क्या है? इतना ही नहीं वेद में देवों के नामरूपात्मक एवं कार्यात्मक भेद में भी अभेद की कितनी मनोहर अवतारणा मिलती है। जैसेः–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋक् सं. 1/22/154/46)

भिन्न-भिन्न देवताओं का नाम देकर, एक ही स्तुति की जाती है। नाम और अवस्था के भेद से वस्तु में भेद नहीं होता है। विष्णु से अतिरिक्त राम-कृष्ण आदि अवतार नहीं हैं। सर्वात्मक देव की अनन्तशक्तियों से अनन्त क्रियायें सम्पन्न होती हैं, क्रियाओं पर हमलोगों की दृष्टि केन्द्रित होने से कभी गोवर्धनधारी, रासविहारी, मुरारी आदि नामों से एक को ही निर्दिष्ट करते हैं। इसी प्रकार इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुड, यम, मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से एक देव की ही स्तुति है।

देव की एक स्वरूपता के समर्थन में वेदों में अनेक मन्त्र लिखे गये हैं। देवी और देव के आधार पर भी भेद नगण्य है–

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(अथर्व सं. 10/8/17-27), (श्वे. उ. 5/4/3)

देव के सर्वात्मक होने से जीव के धर्मों से भी उपास्यरूप में उनका निर्देश मिलता है। सर्वात्मक होने से जीव के धर्म परमात्मा के धर्म हो जाते हैं–तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो, तुम दण्डधारी विचरणशील वृद्ध एवं विभिन्न स्वरूप में जन्मग्रहण करनेवाले तुम ही हो। इस मन्त्र को ईशावास्योपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद्, मन्त्रोपनिषद् एवं शाङ्करभाष्य में भी उद्धृत किया है।

इस प्रकार अनेक वैदिक मन्त्रों में एक देववाद की स्थापना है, किन्तु क्रिया और कर्तव्य मार्ग के आचार की दीक्षा के लिये जिससे एकत्व प्रतिष्ठित हो सके और मन की निर्मलता से मन में देवत्व की प्रतिबिम्बस्वरूप धारण सामर्थ्य की प्राप्ति हो सके। अतः पुराणों में बहुदेववाद की स्थापना है। किन्तु भारतीय संस्कृति–'एको देवः सर्वभूतेषु' का डिण्डिम घोष है।

देववाद की वैदिक पृष्ठभूमि और देवता का स्वरूप वैदिक साहित्य एक सनातन आर्यभावना का ध्रुवपद है, इसमें गङ्गोत्री से प्रवाहित प्रवाह के समान दीर्घ युग से आती हुई सुनियन्त्रित भावना और साधना का परिनिष्ठित स्वरूप मिलता है । इसका आविष्कारक आज भी अलक्ष्य है, किन्तु अपरिवर्तनीय सङ्केत का वाहन है, जो वस्तुतः सनातन है । आध्यात्मिक प्रगति की उपयोगिता का निर्देश आज भी निःशेष है । मनीषियों ने समय–समय पर कतिपय अंशों की व्याख्या की है, किन्तु अनेक शाखाएँ तो ईसा की प्रथम शताब्दी में ही नाममात्र में उपलब्ध थी । रूप उसका तिरोहित था । यह तो श्रुति है, स्मृति नहीं, विविध पाठों के द्वारा ही इसके पाठों को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया थी ।

वैदिक साहित्य का प्रधान उपजीव्य 'देववाद' है । इसका दो अङ्ग है–भजन और उपासना । भजन में क्रिया की प्रधानता है और उपासना में भाव की । क्रिया की चेतना बाह्य है और भाव की आभ्यन्तरिक स्वरूपता है । वस्तुतः क्रिया का भी धारण और पोषण भाव के द्वारा ही होता है । भाव को दूसरे शब्दों में भी ध्यान और चिंत्तता के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है । ध्यान को देवंता का प्राण कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है क्योंकि इसी के द्वारा देवता का प्रत्यक्ष होता है । निघण्टु में 'धी' का कर्म और प्रज्ञा दो अर्थ होता है । अतः वेद की दृष्टि से कर्म और प्रज्ञा दोनों साथ-साथ रहते हैं ।

'तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतम्,' 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिस्यन्, साक्षाद् एव तद् देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद् देवतां यजति" (ऋ. 10.115.9) अग्नि में आहुति के समय वषट्कार या वौषट् इस मन्त्र का उच्चारण करने पर अग्नि प्रज्वलित होती है । यह कर्म का अङ्ग है जो ध्यान या मनन के साथ युक्त होता है । कहीं-कहीं तैंतीस देवताओं में वषट्कार को अन्तिम देवता माना गया है । (ऐ. ब्रा. 1/10, ता. ब्रा. 6. 2. 5.), 1/2/1, निघ./2/3/9, ऋ. 72/4/3) ।

प्रज्ञा, ज्ञान और ऐश्वर्य के रूप में देवता साध्य है, साधक और साध्य के मध्य ध्यान सेतु है । निदिध्यासन या ध्यान के द्वारा देव की तन्मयता से देववाद ही ब्रह्मवाद या आत्मवाद में फलित होता है, परमात्मा या ब्रह्म की आत्मस्तुति में परिचय मिलता है ।

वैदिक दृष्टि से देवता का स्वरूप

"देव" शब्द यौगिक एवं पारिभाषिक है । "दिव्" शब्द से देव का निर्वचन किया गया है । वेद में दिव् का प्रातिपदिक रूप में व्यवहार है दिव् धातु के रूप में नहीं, देव के मूल में धातु "दी" है, इस धातु का अर्थ दीप्ति या झलमल करना है । "देवो दानाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा" (नि. 7/15) अर्थात् दान से आलोक से प्रकाशन से द्युलोक अर्थात् आलोक से परिव्याप्त आकाश में स्थान होने से आकाश में जितनी देर तक प्रकाश रहता है तब तक वह दिवा है । दिव्, दिवा और देव ये तीनों एक ही आलोकस्वरूप भावना के प्रकाशक हैं । अतः देवता का स्वरूप आलोक = दीप्ति कहा जा सकता है । बाह्य स्वरूप से आलोक बोध और जागरण, चित्ति या विवेक का प्रतीक है–

इसका फल प्रज्ञात, संज्ञान और संवित् रहे अर्थात् पूर्ण प्रज्ञा इन्हीं रूपों में देवता साधक का आत्मभूत होता है। ऋक्संहिता में बुध का प्रयोग है जिसका अर्थ जागरण होता है। बोध का प्रयोग न होने पर भी "बुध्न" का प्रयोग है, इसका अर्थ चेतना है।

देवता की एक साधारण संज्ञा "वसु" है, इसका अर्थ दीपक या ज्योतिर्मय है। इसी से व्युत्पन्न शब्द उषस्, उस्र, वासर और विवस्वत् है। इन्द्र, अग्नि, सोम, रुद्र, मरुद्गण, उषा, सूर्य, पूषा, आदित्यगण सभी वसु हैं, जो देवता की प्रधान विभूति हैं। वसु और उषा एक ही धातु से निष्पन्न रूप हैं। विश्वेदेवगण भी वसु ही हैं, इसी को निरुक्त में कहा है–

"वसवो यद् विवसते सर्वम्, अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मात् पृथिवीस्थानाः, इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या यस्मात् मध्यस्थानाः, वसवो आदित्यरश्मयः विवासनात्, तस्मात् द्युस्थानाः"। (नि. 12/49)

ऋ. तै. ग्यारह वसु माना है, किन्तु ब्राह्मण में आठ वसु माना है (ऐ. 1/10) देव और ज्योतिः का समान अर्थ में प्रयोग किया गया है। बाहर की ज्योति में सर्वोत्तम प्रकाश सूर्य में है। इसीलिये कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में कहा है–एक महान् देवता आत्मा है, वह सूर्य है, वह सभी प्राणियों का आत्मा है, इसीलिये कहा है जो स्थिर है, जो चलायमान है–सभी की आत्मा सूर्य है, उसी की विभूति अन्य देवता है (ऋक्. 1/115/1) पक्षवान् दिव्य सुपर्ण को ही वे सब इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि, यम मातरिश्वा एक ही को विप्रगण अनेक रूप में प्रकाशित करते हैं। अतः आर्यों के हृदय में जो देवों के प्रति श्रद्धा है, वह ज्योति के प्रति ही "तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः" (ऋ. 7/33/7) ज्योति को ही आर्यों ने अग्रणी माना है। अन्धकार या अज्ञान को दूर करने के लिये उनकी सतत प्रार्थना रहती है। प्राची दिशा से उषा की अरुण छवि की आभा आते ही ऋषि कण्ठ से उद्बोधिनी का उल्लास होता है, उठो अपने को उद्यत करो, मेरा जीवन मेरा प्राण आ गया है, अन्धकार दूर चला गया है।

उद् ऊर्ध्वं जीव असुर्न आगाद् अप् प्रागात् तम आज्योतिरेति"

(ऋ. 9/113/16)

देवता सुज्योति हैं। उन्होंने आकाश में सूर्य उदित कराया है, बाहर में भूताकाश है हृदय में चिदाकाश है, वहाँ सूर्योदय ही देवोपासक के लिये एकमात्र अभिलषित है। वृत्ररूपी अन्धकार चेतना को आवृत करता है, देवता उपासक के वृत्ररूपी अज्ञान को स्वयं ज्योति से नाश करते हैं।

पृथिवी में अग्नि ज्योति है, जिसको मनु ने विश्व के लोगों के लिये समर्पित किया है–"त्वाम् अग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते" (ऋ. 1/36/19) देवताओं ने मनुष्यों के लिये चित्ति या विवेक के रूप में उसका जन्म प्रदान किया है।

द्युलोक में इन्द्र आदित्य के रूप में प्रकाश पुंजीभूत है–

"शृणोतु मित्रा अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः"

(2/27/1)

इस सूक्त का देवता आदित्य है और तुविजात शब्द से इन्द्र के विशेषण का निर्देश है । अन्य देवताओं के लिये भी आदित्य शब्द का प्रयोग है, किन्तु सबसे अधिक इन्द्र के लिये प्रयोग मिलता है–

उर्व् अश्याम् अभयं ज्योतिरिन्द्र मानो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ।

(ऋ. 2/27/14)

द्युलोक में अश्विद्वय की ज्योति है, वह विश्व के लोगों के लिये आर्यों के लिये प्रवक्ता विप्रों के लिये ज्योति के रूप में आता है । सबसे अधिक उषा की ज्योति की प्रशंसा है । सुन्दरी दिवा की दुहिता ज्योति का ही वस्त्र धारण कर विश्व में प्राण संचार कर जीवनी शक्ति का संचार करती है, यह कल्याणी दिवा को बहन के आगमन के साथ मानव यदि नहीं उठता है और अपने कार्य में सचेष्ट नहीं होता है तो ऋतम्भरा के दर्शन से शून्य रहकर झलमल नयन का आनन्द न प्राप्त कर विश्वजित् धनजित् नहीं होता है साथ ही विश्वेदेव की महिमा से रहित पुरुषार्थ से रहित होता है, यहाँ माध्यन्दिन द्युति का वैपुल्य और सर्वव्यापक वसुदेव विष्णु का परम पद ही पुरुषार्थ है, शक्ति चैतन्य और आनन्द का समाहार है । इस प्रकार वैदिक दृष्टि से ज्योति ही देवता का स्वरूप है और इनका वैभव का परिचय अज्ञान और अन्धकार से दूर करना है ।

इस ज्योति का अवस्थान हंस रूप से हृदय और आकाश में, वेदि में, अतिथि में, मनुष्य में, वरेण्य में रहता है ।

इस ज्योति की प्राप्ति का साधन बाहर में याग और अन्दर में योग है । इस प्रसङ्ग में यह व्यक्त करना प्रासङ्गिक होगा कि देववाद और आत्मवाद एवं कर्मवाद में मूल आधार क्या है ?

मनुष्य की भाषा, आचार-व्यवहार में परिवर्तन अपरिहार्य है, किन्तु भाव में अन्तर्निहित सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति पर विचार करने पर यह मानना ही पड़ेगा कि अन्तःप्रकृति में अधिक परिवर्तन नहीं होता है । आत्म चेतना को लोकोत्तर चिन्मयभूमि में उत्तीर्ण करना ही ज्ञान, कर्म और भक्ति का चरम परम लक्ष्य है, यह चिन्मयभूमि स्वर्ग है–इसकी प्राचीन संज्ञा "स्वः" अर्थात् एक ज्योतिर्मय अनुभव है । स्वर्ग और मोक्ष परस्पर विरुद्ध भावना नहीं है, द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ की साधना में वैदिक युग के बाद की सीमा=प्राचीर के द्वारा यह भेद प्रतीत होता है । क्योंकि गीता में द्रव्ययज्ञ की परिसमाप्ति ज्ञानयज्ञ में ही होती है । इसीलिये कर्मकाण्ड के मूलाधार शुक्ल यजुर्वेदसंहिता के अन्त में ईशोपनिषद् दीप्ति संहिता भाग में ही अन्तर्भुक्त है । इसमें उदार दृष्टि विराट् समन्वय की चेष्टा की गयी है । किन्तु इतना तो सत्य है कि वैदिक साहित्य की अध्यात्म साधना के मूल में देववाद है । देववाद की मूल भित्ति "श्रद्धा" है । श्रद्धा मानव हृदय की अतीन्द्रिय मौलिक वृत्ति है । इस श्रद्धा के भी मूल में "आवेश" है । इसी के पास में मानवचित्त की एक और वृत्ति है, जिसका प्राचीन नाम "ऊह" जो बाद में "तर्क" के नाम से जाना जाता है । तर्क के मूल में जिज्ञासा है । यह तर्कवाद मूलधरा अवस्थित आत्मवाद है । आत्मा और देवता दोनों ही अतीन्द्रिय हैं और दोनों का मार्ग अतिप्राकृत है । स्वभाव के अनुसार मनुष्य देववादी या आत्मवादी होता है । संशय के आधार पर आत्मा को व्यापक रूप देकर अहं (मैं) और मम (मेरा) का समन्वय है । आत्मचेतना का परम

प्रसारण ब्रह्म या सत्य में विश्रान्त होता है, जिसके मूल में अन्य का अभाव है और एक अद्वितीय ब्रह्म की या परमात्मा की स्थिति है।

देववादी भी इसी परम प्रसारण=बृहत् को प्राप्त करते हैं, किन्तु इसको प्राप्त करते हैं हृदय के आवेगमूलक श्रद्धा के द्वारा। वेद की दृष्टि में इसके फलस्वरूप बोधिग्राह्य वस्तु के रूप में श्रद्धा और बोधि के द्वारा आवेगकम्पित विप्र और दूसरा पौरुषदृप्त नर तर्क और बुद्धि के द्वारा आत्म चेतना को प्राप्त करता है।

इन दो धाराओं को एक ऋषिधारा और दूसरी को मुनिधारा कह सकते हैं। अतएव ऋषियों ने अनेक स्थलों में "अदेव" और "देवनित्" पर कटाक्ष किया है। ये चार्वाक बने रूप में वेदनिन्दक या नास्तिक नहीं थे, वरन् ये तर्क प्रस्थान थे। दूसरे शब्दों में बौद्ध और दूसरा ब्राह्मण्य धारा है। तार्किक आघात-प्रतिघात क्रम में विरोधमूलक दर्शन की धारा मनन की धरा पर हजारों धारा उपधारा के रूप में वेदमीमांसा सुलभ हुई। ये ही पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा है। वेद की रक्षा का भार अब कर्मकाण्डी के कन्धे पर स्थित था।

आकाश के समान अनिर्बाध वैपुल्य रहने पर वह सर्वत्र परिव्याप्त रहता है। इसको बताने के लिये देवता की एक संज्ञा "विश्वभिन्व" है, मरुद्गण, इन्द्र, उषा, सविता, पूषा ज्योति के द्वारा द्यावा पृथिवी, विश्वदेव सभी विश्वभिन्व हैं। इन्व धातु का अर्थ व्याप्ति होता है, अतः विश्वगत, विश्वव्याप्त अर्थ होता है, अतः वह सब का अन्तर्यामी और प्रेरक है। इसी की सूचना गीता आदि में देवता को अन्तर्यामी और प्रेरक कहा गया है। इसके वर्णन में विज्ञान की दीप्ति के विकास से पूर्व प्रातिभसंवित् के उन्मेष का सुन्दर वर्णन मिलता है। (ऋ. 5/80/2) सर्वनियन्ता, सर्वव्याप्त, सर्वगत होने से देव विश्वरूप है। अपनी विचित्र माया से बहुरूप होकर स्वयंप्रभ चलते हैं "विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ" (ऋ. 6।9।4;10।16।4) इस अमृत की प्राप्ति ही दिव्य नियति है।

इस प्रकार ज्योतिर्मय बृहत्त्व ही देवस्वरूप है। यह सर्वत्र है, क्योंकि सब रूप में हुआ है, जैसे बाहर वैसे अभ्यन्तर। इन्द्रिय प्रत्यक्ष अधिभूत चिन्मय प्रत्यक्ष अध्यात्म और अधिदैवत है। प्रत्यक्ष सूर्य ही स्थावर जंगम की आत्मा है।

वैदिक दृष्टि से देवता का रूप

आपात दृष्टि से वेद में अनेक देवता दीखते हैं, इनमें विषमता की अपेक्षा साम्य अधिक है। रूप की दृष्टि से अनेक में भेद है और भाव की दृष्टि से अभेद है। जैसे सब मनुष्य मनुष्य ही हैं भाव की दृष्टि से, किन्तु रूप पर दृष्टि देने से दो मनुष्य एक नहीं हैं। देव में भी "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", सत्स्वरूप से एक और अनेक की घोषणा करते हैं, सद्रूप में वह अद्वैत अरूप है। इस प्रकार वेद का बहुदेववाद अद्वैतवाद की उपसृष्टि है। देव जिस रूप में दर्शन दें ऋषि उस स्वरूप को भुला नहीं सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा अपनी चेतना के उत्तरण से सायुज्य का लाभ होता है। विशेष कथन की आवश्यकता नहीं है। आदित्यरूप में आकाशरूप में नित्य प्रत्यक्ष है। किसी भी रूप में

विभूति को अपना इष्ट करें, सभी देवता आदित्य हैं, क्योंकि देव अदिति के पुत्र हैं। अदिति एक अखण्ड असीम शक्ति है। इसीलिये–

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

(ऋ. 1/89/10)

इस इष्ट का लाभ परम ज्योति की प्राप्ति है।

देव की उपासना और ज्योति की उपासना एक हो गयी है, किन्तु वैदिक साधना में मूर्ति की विशेष प्रधानता नहीं थी, क्योंकि संहिता में स्पष्ट शब्दों में देवता को अमूर या अमूर्त या चिन्मय कहा गया है–"ये स्था निचेतारो अमूराः" अर्थात् अमूर्त होकर अन्तश्चेतन के रूप में वर्तमान थे (10/61/27)। अग्नि देवदूत है, वह देवता को यज्ञ में लाता है और उनके समीप हव्य का हवन करता है, उनको देखा जाता है, किन्तु भौतिक अग्नि देवता नहीं है, वह देव का प्रतीक मात्र है, देवता अग्नि अमूर्त है। जैसे गङ्गा मात्र प्रवाह नहीं, वह मकरवाहिनी है, चन्द्र वह नहीं जो विज्ञान के द्वारा दृष्ट है, उसका अधिष्ठात्री आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप भिन्न है। किन्तु अमूर्त हुए भी देव अरूप नहीं हैं। इसका विवरण सर्वजनविदित निरुक्त की भूमि पर देखें–

निरुक्त के सप्तम अध्याय में आकार के विषय में विचार है। मान लें कि देवता का आकार है। अब प्रश्न होगा कि वह मनुष्य के समान है या नहीं। एक पक्ष का कहना है उसे बुलाया जाता है, स्तुति की जाती है, ठीक सचेतन प्राणी के समान मनुष्य के समान ही उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का वर्णन है।

दूसरे पक्ष का कहना है कि नहीं, अग्नि, वायु, आदित्य ये देवता हैं, किन्तु इनका आकार देवता के समान नहीं है। यद्यपि उनका वर्णन मनुष्य या चेतन प्राणी के समान किया गया है।

इन दोनों मतों का समन्वयात्मक उपसंहार करते हुए लिखा गया है। मनुष्य के समान आकार न माननेवाले अपुरुषवादी के मत में पृथिवी, जल आदि मनुष्य के समान नहीं हैं, किन्तु उनका अधिष्ठातृ स्वरूप मनुष्यविग्रह का है, इसलिये सचेतन या अचेतन जिस रूप में प्रत्यक्ष हों ठीक है, विग्रहवान् का आरोप न करें, क्योंकि अधिष्ठातृरूप से वह सिद्ध है। और मनुष्य विग्रह माननेवाले का सिद्धान्त अधिष्ठातृचैतन्य देव पुरुष विग्रह हैं, अतः कोई मतभेद ही नहीं है –"अपि वा अपुरुषविधानाम् एव सत्यं कर्मात्मान एते स्युः" (7/7)। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है–

"अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः, परे तु अधिष्ठातारः पुरुषविग्रहाः।
एवम् उभयोः प्रत्यक्षागमयोरप्यनुग्रहः कृतो भविष्यति॥"

(7/7)

फलतः वैदिक उपासना के समय देवता के मूर्त स्वरूप का प्रयोजन नहीं है, विशुद्ध चैतन्य और पुरुषविग्रह के अनुसार शब्दमयी या भावनात्मक मूर्ति की भावना करते हैं। अधिभूत मूर्ति की

स्थापना नहीं करनी है, अध्यात्मचेतना के अनुसार वह अमूर्त है। शब्द के द्वारा उद्बुद्ध और उद्दीप्त चेतना अरूप से पार होकर रूप की भावना से उत्तीर्ण होकर भाव की स्फूर्ति में देवदर्शन करता है। जो भी हो द्रष्टा पुरुष नारायण और देवता आदित्य के या ऋषि नारायण और पुरुष देवतात्मक पुरुष "सूक्त" में यजमान आजानदेवता को प्राप्त कर सूर्य हो जाता है।

आशय यह है कि कर्मदेव और आजानदेव के भेद से देव दो प्रकार के हैं, उत्कृष्ट कर्मों से देवत्व की प्राप्ति होने पर वह कर्मदेव, सृष्टि के आदि में उत्पन्न देवता आजान देवता है, यह कर्मदेवता से श्रेष्ठ है–

ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानाम् आनन्दः"

(बृ. 4/3/33)

सूर्य आदि आजानदेव हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी देवता के मूर्त और अमूर्त का सत् और त्यत् रूप में विवरण देते हुए अपूरुषविध का अर्थात् अरूप की ओर ही संकेत है (वृ. 2/3)। छान्दोग्य उपनिषद् में शाण्डिल्य ने "सर्व खल्विदं ब्रह्म" (छा. 3/14) के द्वारा विश्वात्मक सर्वमय पुरुष की ओर संकेत किया है। परिणामवाद, भक्तिवाद, भागवत का पुरुषोत्तमवाद का विश्लेषण शाण्डिल्य की ही देन है।

इन विश्लेषणों के साक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि आर्य देव की उपासना करते थे, किन्तु मूर्ति की उपासना नहीं करते थे। अतः देवता की मूर्ति न होने से उपासना के लिये स्थायी देवालय नहीं था, श्रौतयज्ञ के अनुसार अस्थायी यज्ञशाला का निर्माण होता था। मूर्ति न होने पर भी ध्यान तो चलता ही था। किन्तु देवता को न माननेवाले के प्रति ये लोग घृणा की भावना रखते थे, उनको अदेव, देवनिद्, अयज्ञ, शब्द से निन्दा करते थे, अर्थात् देवता को न माननेवाला, यज्ञविरोधी में इनका तात्पर्य था। देवद्रोही का प्रेरक वृत्र था, वह लोकोपकारी वस्तु को संचित कर पर्वत की कन्दरा में छिपा देता था। यही शम्बर पर्वतवासी था। वरुण और वृत्र दोनों ही आवृत्त करनेवाले थे। मित्रावरुण द्युलोक में रहते थे और इनकी देवी ज्योतिर्मयी माया थी और वृत्र की अदेवी माया थी। देवमाया प्रज्ञाज्योति थी, वह सूर्य ज्योति के साथ विचरण कर लोक में वृष्टि आदि से कल्याणकारिणी थी, किन्तु ये रोकनेवाले थे। छान्दोग्य देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन, सप्तशती का शुम्भ-निशुम्भ अर्थात् शुभ्रवृत्र अर्थात् अन्तरिक्ष या प्राणलोक में चाँदीमय रूप और द्युलोक में हिरण्यमयरूप (ऐ. ब्रा. 1/23)।

आध्यात्मिक दृष्टि से अदेव हमलोगों के चित्त की क्लिष्टता, कार्पण्य, बाधा, द्रोह, स्पर्धा, ये सब बहुल छिद्रों से भीतर जाकर अदिव्यशक्ति को आधार बनाकर आबद्ध रखते हैं, इनके साथ सतत चल रहा संग्राम ही पुरुषार्थ है। वेद और पुराण देवासुर संग्राम की कथा से ही परिपूर्ण हैं। "देवासुरमभूद्युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा" (सप्तशती 2/2)। मनुष्य का सौ वर्ष का जीवन प्रकाश और अन्धकार का संग्राम ही है, किन्तु विजय सदा देवशक्ति की ही होती है।

वैदिकों के मूर्ति विरोधी होने की पुष्टि होने पर भी उस समय देवमूर्ति का प्रचलन होना असम्भव नहीं है। क्योंकि एक मन्त्र में उल्लेख मिलता है कि कौन दश धेनु देकर मेरे इस इन्द्र को खरीदेगा ? वृत्र का वध होने पर उसे मुझे लौटाना पड़ेगा–

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत्।

(4/24/10)

दूसरे मन्त्र में यह कहा गया है–हे वज्रधर ! सौ, सहस्र अयुत देने पर भी मैं तुमको छोड़ूँगा नहीं–

"मर्ह चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्,
न सहस्राय नायुतायर्वाजिवा न शताय शतामध।

(8/1/5)

किन्तु इन मन्त्रों में बेचने और खरीदने की ही बात है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि दश धेनु में अनुकूल प्रयोग करूँगा। दूसरे में तो यही कहा जा सकता है कि कुछ भी हो देवता मेरे ही रहेंगे।

याज्ञिकों की भावना में देवता की पुरुष-विधता होने से जनसाधारण विग्रह का आकार ग्रहण समीचीन ही है। षड्विंशब्राह्मण में "देवतायतन" और "दैवतप्रतिमा" का उल्लेख मिलता है "देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति (ष. ब्रा. 5/10)। धर्मसूत्र और विभिन्न गृह्यसूत्रों में तो विशेष उल्लेख है। पाणिनि के व्याकरणसूत्र में भी "जीविकार्थे चाण्ये" इस सूत्र में मूर्ति विक्रय की स्पष्ट चर्चा है। अतः प्रतिमा देवायतन सूत्रकाल में विकसित रूप धारण करता है।

देवविग्रह की चर्चा दर्शन युग में आती है, किन्तु आश्चर्य है कि कर्म के समर्थक पूर्वमीमांसकों के देववादी होने पर भी विग्रह पंचक का निषेध किया है। विग्रह पंचक निम्नलिखित हैं–

विग्रहो हविषां त्याग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतत्पंचकं विग्रहादिकम्॥

दूसरी ओर उत्तरमीमांसा जो अद्वैत ब्रह्म का प्रतिष्ठापक है, वह देवता के विग्रहवान् होने के सिद्धान्त में आग्रहशील है।

पूर्व विवरण से यह स्पष्ट है कि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में देवता का रूप है, किन्तु सुस्पष्ट विग्रह नहीं है, स्त्री-पु. के भेद को त्याग देने पर सभी समान हैं, किसी समय साकपूणि ने सभी देवों को जानने का संकल्प लिया। उभयलिङ्ग में देवगण उपस्थित हुए, उनको पहचानने में असमर्थ हो जिज्ञासा की कि तुम कौन हो ? सभी बिजली के आलोक के समान थे। अतः दीप्तिस्वरूपता ही सिद्ध होती है।

जहाँ गुण और कर्म का प्रश्न है, सभी में अतिशय सादृश्य है। सामान्य वैचित्र्य छोड़कर सभी साधारण गुणकर्म वाले हैं। दान देना, उपासक को समृद्ध अर्थात् दीप्त करना और स्वप्रकाशरूप में आविर्भाव ही सामान्य है। अजर, अमर सत्स्वरूप यही प्रधान लक्षण है। शिव श्रीमान् आनन्दनिलय, दीप्ति में विपुलता, शक्ति में महान् हैं। उपासक के साथ उनका स्वच्छन्द और सुमङ्गल सम्बन्ध है। वे राजा, पिता, माता, सखा, पुत्र हैं, वे प्रिय, सुमति और समीचीन दाता हैं। नाम और रूप में भेद से एक ही विभूति हैं। सूर्य से अनेक किरणों के समान अनेकता है और दोनों ही सत्य है।

देवताओं की संख्या

अनेक देवों का उल्लेख तो हमलोगों को सहज में ही ज्ञात है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का प्रश्नोत्तर इस विषय में मार्मिक है–शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से जिज्ञासा की कि देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा–तीन सौ, तीन हजार तीन। इसके बाद कर्म करते हुए कहा देवता एक ही है, वह प्राण है, उसी को तत्त्वज्ञानी ब्रह्म या त्यत् कहते हैं। प्राण ब्रह्म ही मनोज्योति में आलोकित चेतना की विभिन्न भूमि में अभिव्यक्त शारीर पुरुष से आदित्यपुरुष या छायापुरुष के रूप में होता है, वे ही अधिष्ठात्री देवता के रूप में हैं, अन्त में असङ्ग आत्मा "विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म" के रूप में एक देवता है।

याज्ञवल्क्य के विवरण से एक देववाद की प्रतिष्ठा होती है, जिसका अद्वैतवाद से समन्वय है। पराक् दृष्टि से देववाद है, इस दृष्टि से इष्टदेवता ज्ञेय है। ज्ञान इष्ट होने पर प्रत्यक् अनुभव होने से अद्वैतवाद होता है। एक देववाद उसके अन्तर्गत रहता है। प्रत्यक् अनुभव के चरम में एक कुछ है–जिसको "त्यत्" कहा जाता है। उसे "नेति नेति" से कहा जाता है।

देवता हैं अन्य देवता नहीं हैं–यह भारत में नहीं कहा जा सकता, अनेक को छोड़कर एक नहीं है अनेक को लेकर ही एक है। देवत्व के समीप आने पर एक की ही अनेक विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं। "सर्व खल्विदं ब्रह्म" एक की ही महिमा सिद्ध होती है। विभूतियोग (10) गीता में इसी की महिमा गायी गयी है।

इसके मूलाधार की भावनात्मक क्रिया को देखने पर यह कहना पड़ता है कि मैं, मेरा और जगत् और तीनों को एक रूप में करनेवाला परम तत्त्व एक है, वही तीन है। अर्थात् आत्मा, जगत् और ब्रह्म एक है। प्रथम पराक् दृष्टि से देखता है उस समय देवता विश्व का निर्माता और रक्षक है। विश्व और देवता में भेद की प्रधानता है। दर्शन का साधन मन है, भेद का संस्कार स्वाभाविक है। अन्तःस्थित् एकाग्रता की प्रेरणा में ध्यान चेतनता की एकतानता, आवेश और सर्वत्र व्याप्ति ये तीनों लक्षण उस आलोक में स्फुटित होता है। मन उत्तीर्ण हो मनीषा के द्वारा हृदय के अतल भाग में चला जाता है। यही देवता के साथ सायुज्य है, हृदय में ही उसके आविर्भाव की भावना सुदृढ़ होती है, अनुभव की दृढ़ता से मेरा सब कुछ वही है मैं उसका प्रतिरूप मात्र हूँ। अनन्तर आत्मस्वरूप विलय और देव ही सब कुछ रहता है, उस समय वह जगत् का निर्माता न रहकर विसृष्टि अर्थात्

जगत् उसकी आत्मा की विभूति रहती है। उस समय जगत् को देखकर सहस्रशीर्षा: पुरुष:, सहस्राक्ष:, सहस्रपात्–अर्थात् हजार शिर, हजार आँख, हजार पैर लेकर वही विचरण कर रहा है, दश अङ्गुल में सम्पूर्ण विश्व को वासुदेवात्मक रूप में व्याप्त कर स्थित है। उस समय त्यत् अर्थात् वह से हटकर देवता "एकं सत्" हो जाता है। इसके बाद वह नहीं, यह नहीं, इसके बाद ही वही सब कुछ है–यह भावना होती है। "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा, पश्यैताः दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतय:" । अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदा स्थिता। (दुर्गा. 10)

प्रथम की उपमा रात्रि है उसका देवता वरुण है, द्वितीय की उपमा दिन है, देवता मित्र है, किन्तु सत्य का महासूर्य उसके उस पार देदीप्यमान है। वहाँ न दिन है और न रात है। सत् भी नहीं असत् भी नहीं। "सत्, असत्, न सत् और न असत्" यही प्राण, ब्रह्म और त्यत् है।

श्रद्धा के आवेश में बाह्य प्रत्यक्ष जब चिन्मय हो जाता है तब ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। उस समय देवता का आँखों से प्रत्यक्ष हो जाता है। रामकृष्णदेव के अनुसार दो रीति से देव का प्रत्यक्ष हुआ था। इसकी समाधि से उठने पर वे कह उठते हैं–यह आँख में क्या हो गया है, सब कुछ वही दीखता है।

अन्य दिन वह पूजा के लिये प्रातः पुष्प संग्रह के लिये जाते हैं, वे देखते हैं कि सभी वृक्षों में फूल विकसित हो रहा है अरे यह तो उस विराट् की पूजा हो रही है–सब कुछ वही है। वह उन्मत्त के समान तोड़ने लगते हैं। इनमें प्रथम है–भीतर के आलोक में बाहर आलोकमय देखना–यह उपनिषद् की धारा है। दूसरी है बाहर के अलक्ष्य आलोक में ही बाहर आलोकमय देखना। यह संहिता की धारा है–जो पुराणों में अतिशय विकसित हुई है।

देववाद की प्रथम अवस्था देवता पर आश्रित है, इस समय पुरुष रूप में देवता को देखता है, देवता इष्ट या उपास्य रहता है–अन्य देवगण उसकी विभूति रहते हैं। पुराण और लौकिक दृष्टि से भी इसे "एको देव:" कहा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप गृत्समद ऋषि अग्नि को सम्बोधन के समय इन्द्र, विष्णु, अर्यमा, वरुण आदि सभी रूप में उसी का सम्बोधन करते हैं। वसुसुत आत्रेय ने पञ्चम मण्डल में अग्नि की स्तुति के समय इसी प्रकार कहा है।

गौतम राहुगण ने अदिति की स्तुति में इसी प्रकार सर्वदेवमयी स्तुति करते हैं। लोक में भी अपने इष्टदेव की स्तुति इसी प्रकार करते हैं। यह एक देववाद का साधारण विवरण है। आधिभौतिक अनेक की लीला और उनका विभिन्न रूप में दर्शन करते हैं और आध्यात्मिक आधिदैविक एकत्व का सूत्र प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार स्वरूप से एक देवता है और विभूति के आधार पर अनेक हैं। ऋग्वेद में बहुधा तैंतीस देवताओं का वर्णन है। इनमें तैंतीस को तीन भाग करने पर देवता का स्थान पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक है, इनका एक नेता है, जिसकी ये विभूतियाँ हैं और ये इनकी उपलब्धि की साधन हैं। एक मन्त्र में कहा गया है–तीन हजार तीन सौ तीस और नौ देवगण अग्नि की अर्थात् पृथिवी की दीप्ति की सेवा करते हैं अर्थात् तीन हजार तीन सौ उनचालीस देवता विभूतियाँ हैं। नौ

का तीन भाग करने पर संख्या का विन्यास तीन हजार तीन, तीन सौ तीन एवं तीन दश तीन होता है। इनमें प्रधान देवता तीन हैं, तीन लोकों के अनुरोध से तीन (ऋ. 10/50/1)। सायण ने भी अग्नि को विश्वमय माना है (1/72/4)। तीन देवों को तीन बार दशगुणा यथाक्रम प्राण, मन और विज्ञान भूमि पर ऐश्वर्य के क्रमोचित वैचित्र्य के आधारपर होता है, वस्तुतः देवता एक है। मन्त्र ही देवता का शरीर है। "वाग् वै विराट्" (श. 3/5/1/34) "वाग् एव देवाः" (14/4/3/13) मन्त्र छन्दोमय है। छन्द के अक्षरों की संख्या के साथ देवसंख्या एक है। वेद में तीन छन्द प्रधान हैं–गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती। इनमें प्रत्येक पाद में अक्षरों की संख्या 8, 11-12 है। इनके आधार पर 8 वसुगण, 11 रुद्र, 12 आदित्य। जोड़ 31 हुआ और 2 को अनुवृत्तिक द्यावा पृथिवी को लेकर 33 देवगण हैं। अनुवृत्ति कहीं द्यावा-पृथिवी, कहीं इन्द्र-प्रजापति, कहीं वषट्कार-प्रजापति। अस्तु उपसंहार में "एको देवः" अन्य उनकी विभूतियाँ हैं। इसका समर्थन गीता, दुर्गासप्तशती आदि से होता है। वहाँ तेजोमय विराट् एक देव का आद्यन्त वर्णन है। तेज के रूप में सभी एक हैं।

देवों के स्थान का प्रश्न तो पूर्व विश्लेषण से उपलब्ध है। पृथिवी अधम, अन्तरिक्ष मध्यम लोक, द्यौः सर्वोच्च लोक ये लोक चेतना की भूमि हैं। अतः चेतनामय हैं। प्रत्येक लोकों का तीन भाग करने पर 6 लोक तीन पृथ्वी तीन द्यौ का सेतु अन्तरिक्ष है। इस प्रकार सात धाम या पद (1/22/16)। इसी से सात व्याहृति प्रतिपादित सात लोक। इन तीन लोकों के ऊपर "स्वः" लोक है (9/96/99) स्वः का अर्थ ज्योति है। यह स्वज्योति ही चिन्मयभूमि है, जो यज्ञादि से प्राप्त करते हैं। "स्वः" से "नाक" लोक है। स्वः के समान नाक आदित्य और द्युलोक का नाम है। इसको ज्योति का नायक कहा है। इसमें दो वैशिष्ट्य है–एक आलोक और दूसरा आनन्द। इसको सहज भाषा में चिदानन्दधाम कहा जाता है। दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से गोलोक, विष्णुपद आदि है। निघण्टु में नाम और स्वः अपर पर्याय है, किन्तु संहिता में भेद है। स्वः ज्योतिर्मय लोक है और नाक ज्योति और अन्धकार दोनों का आधार है। उपनिषद् की भाषा में इसको विरस्ततमा, शिवभूमि या दिन-रात के उस पार को कहते हैं। कठोपनिषद् में पाँच ज्योतिर्भूमि का वर्णन है। अग्निगर्भा पृथ्वी, विद्युद्गर्भ अन्तरिक्ष, सूर्यदीप्त द्युलोक, सौम्य स्वर्लोक, तारकाखचित महाशून्य लोक। ये चेतना का क्रमिक विकसित स्वरूप हैं। महाशून्य से तात्पर्य अनन्तता और आलोकमय में है। इस प्रकार द्युलोक का विस्तार ही इनको कह सकते हैं, वस्तुतः पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः ये तीन लोक ही हैं। क्रमशः इन स्थानों के देवों का वर्णन अग्नि आदि के वर्णन में देखें।



वैदिक संस्कृति में सामाजिक व्यवस्था

डॉ. कृष्ण लाल

वेद का परिवेश सीमित नहीं है—वह देश-काल की संकुचित सीमाओं से कहीं अधिक विस्तृत है। इसीलिए वेद में प्रतिपादित संस्कृति किसी एक स्थान अथवा काल की परिधि में बंधी हुई नहीं है। वह शाश्वत है और सार्वभौम है। युगों तक मानव मात्र का मार्गदर्शन करने की उसमें क्षमता है। यह सुनिश्चित तथ्य है कि यदि मनुष्य आज वैदिक संस्कृति एवं समाज के उदार एवं सर्वजन-कल्याणकारी नियमों का पालन करता है तो वह सभी संकटों और असंगतियों से मुक्त होकर पृथ्वी को स्वर्ग बना सकता है।

समाज शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अज् (चलना) धातु से बना है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रहकर, मिलकर एक दूसरे से सहयोग करके जीवनयापन का नाम ही समाज है। जहाँ यह सहयोग जितना अधिक होगा, सामञ्जस्य जितना सुदृढ़ होगा, उतना ही वह उन्नत समाज होगा, अथवा उतना ही वह अधिक 'समाज' होगा।

वेद की अनेक उक्तियों में यह सामञ्जस्य और तदनुरूप सामाजिक-भाव स्पष्ट झलकता है। वेद का निर्देश है—उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः—ऋ. 10/101/1 (समान मन वाले सखा होकर जागो)। अपने आप में सब प्राणियों को देखना और अपने आपको सब प्राणियों में देखना ही वेद का समभाव है। यह समत्व जब मन में आता है तो दूसरों के प्रति घृणा का भाव समाप्त हो जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(वा. सं. 40.4)

यह भावना वस्तुतः पारिवारिक सौमनस्य में पनपती है इसीलिए अथर्ववेद के एक सूक्त (3/30) में माता-पिता तथा पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहिन, पति-पत्नी में पूर्ण सौमनस्य की कामना व्यक्त की गई है।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् मा स्वसारमुत स्वसा
जायापत्ये मधुमती वाचं वदतु शत्तिवाम्।

(3/30/5)

परिवार से आगे चलकर ही इस सौमनस्य भावना की परिणति पूर्ण समाज में होती है।

वेद में पूर्ण विश्व को एक समाज मान कर साथ चलने, एक साथ समान विचार करने की प्रेरणा दी गई है जिससे कि सब साथ मिल कर सुखपूर्वक रह सकें–

सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

........समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋ. 10/191)

वेद में समाज की स्वाभाविक विषमता स्वीकार की गई है क्योंकि न तो दोनों हाथ एक समान कार्य करते हैं और न ही जुड़वां भाइयों के कार्य एक समान होते हैं–

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः–मयोश्चिन्न समा वीर्याणि।

(10/117/9)

यह स्वाभाविक इसलिए है कि प्रकृति का नियम है कि तीनों गुण समावस्था में होते हैं तो सृष्टि नहीं होती। परन्तु फिर भी आदर्श यह है कि पृथ्वी सब मनुष्यों की रक्षा करती है–अ. 12.1.42 (धर्म=कर्तव्य)।

परन्तु इस सामञ्जस्य के लिए आत्मसमर्पण आवश्यक है। आत्मसमर्पण समाज के अस्तित्व को बल और जीवन प्रदान करता है। यज्ञभावना, दानभावना इसका प्राण है। अकेला भोग करने वाला केवल पाप का भोग करता है=(केवलाघो भवति केवलादी–(ऋ. 10/117/6)। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी अनेक प्रकार से दान की प्रेरणा दी गई है–मनुष्य को श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अपने सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिए, समाज की लज्जा से देना चाहिए, भविष्य के भय से देना चाहिए, मित्रता के लिए देना चाहिए (श्रद्धया देयं, श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयम्)। त्यागभाव से भोग की भावना (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः–शुक्ल यजुः 40/1) सब मनुष्यों के लिए सहायता की उत्सर्ग की प्रेरणा देती है। यदि मेरा बन्धु भूखा है और मैं गुलछर्रे उड़ा रहा हूँ, तो क्या सुन्दर समाज की कल्पना की जा सकती हैं ? यही इष्ट और पूर्त है जिसके लिये अग्नि के समान तेजस्वी गृहस्थ और समाज के नेता की प्रेरणा दी गई है। यही जागृति है, यही उद्बोधन हैः–

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथाम त्रयं च (शुक्ल-यजु., 15/54)

सब प्रकार के यज्ञों से वायु-शुद्धि द्वारा सभी छोटे-बड़े प्राणियों का उपकार होता है, ये इष्ट हैं। प्याऊ खुलवाना, धर्मशाला बनवाना, कुएँ बनवाना, अन्नदान, उद्यान आदि सुख-सुविधायें प्रदान करना–ये सब पूर्त हैं। यह उदार भावना उन्नत समाज का निर्माण करती है। यज्ञ शब्द के मूल में यज् धातु है जिसके तीन अर्थ हैं–यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।

वेद में यज्ञमय जीवन की प्रार्थना है–यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञ अध्वर है हिंसा रहित है, अहिंसा यज्ञका एक रूप है। देना, सहायता करना, दुःख दूर करना-यह यज्ञ है। सत्पुरुषों की संगति द्वारा सबके कल्याणकार्य, सत् ज्ञान प्राप्त करना, सद् व्यवहार सीखना यज्ञ है। उन्नत शिल्प, उन्नत उद्योग, उन्नत विज्ञान। सूर्य और चन्द्र के समान। यज्ञ इतनी पवित्र भावना का नाम है कि उससे

पूर्व अनुष्ठाता सत्याचरण की प्रतिज्ञा करता है-इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। (मनु. 1/15) यज्ञ सत्य है-सबका कल्याण करता है। किसी भी समाज को त्याग-भावना उन्नत बनाती है, समाज के अस्तित्व के लिए आत्मसमर्पण सबसे ऊँची भावना है। यह आत्मसमर्पण आरोहण है, प्रगति है–प्रत्येक प्राणी का यह लक्ष्य है–

आरोहरणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् (अथर्व 5/30/7)।

समस्त समाज में बन्धुत्व, मित्रता की भावना वैदिक समाजव्यवस्था का आदर्श है। इसीलिए यह निश्चय व्यक्त किया गया है कि हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखते हैं–मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (यजु. 16/18)। तभी यह सदिच्छा प्रकट होती है कि सब दिशाएँ हमारी मित्र हो जायें–सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु (अर्थव. 19/15/6) मा नो द्विक्षत कश्चन (अ. 12/1/24)। इस भावना के आधार पर ही वेद का आदेश है कि मनुष्य सब ओर से मनुष्य की रक्षा करे–पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः (ऋ. 6/75/14)। यह है व्यापक विश्व-परिवार की वैदिक भावना। इसमें ऊँच-नीच का कहीं लेशमात्र भी अवकाश नहीं। वैदिक परिवार-रचना की कल्पना न तो जातिभेद के आधार पर है और न वंश-परंपरा की सीमित परिधि के भीतर। वेद के अनुसार दस्यु उसी प्रकार कोई जाति नहीं है जिस प्रकार आर्य जाति नहीं है। ऋ. (10/22/8) के अनुसार कर्महीन, आलसी, अविश्वासी और मानवीय गुणों से रहित व्यक्ति ही दस्यु है। जो श्रद्धाहीन तथा केवल धन के पीछे लगे हुए हैं वे राक्षस (कच्चा मांस खाने वाले हैं) अथर्व. 12/2/51।

समाज की कल्पना एक सुगठित शरीरधारी पुरुष के रूप में की गई है। वह अलग-अलग बिखरा हुआ नहीं था। वह एक भेदरहित संगठन था। समाज में चार वर्ण परस्पर सहयोग करने वाले पूर्ण शरीर के अपरिहार्य अंगों के समान बताए गए हैं:–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋ. 10/90/12)

वैदिक मन्त्र के अनुसार पूर्ण शरीर के अंगों के समान इन वर्णों में न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा। शरीर के किसी अंग को निकृष्ट नहीं कहा जा सकता। हाँ, भिन्न-भिन्न अंगों के अपने-अपने कार्य हैं और उनके द्वारा वे सब मिल कर शरीर (समाज) का रक्षण-पोषण करते हैं। जिस प्रकार मुख मण्डल में मस्तिष्क है और सभी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वे शरीर को मार्ग दिखाने का तथा विभिन्न पदार्थों और परिस्थितियों के प्रति सचेत करने का कार्य करती है उसी प्रकार ब्राह्मण-वर्ण समस्त समाज की उन्नति के लिए, कल्याण के लिये सोचता है तथा समस्त समाज को शिक्षित करता है। भुजाएँ जिस प्रकार आपत्ति आते ही, आक्रमण होते ही प्रतिकार के लिए उठ जाती हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय का धर्म समाज की विपत्तियों तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना है। शरीर में जाँघें मनुष्य को आवश्यक पदार्थ जुटाने, कृषि आदि करने में तथा उसके द्वारा उदरपोषण में सहायता करती हैं उसी प्रकार वैश्य का कार्य इधर-उधर देश-विदेश में घूम कर समाज के लिए सभी प्रकार की

आवश्यक सामग्री जुटाना, कृषि-व्यवस्था करना, पशुपालन करना आदि है। इसी क्रम में पाँव के आधार पर सारा शरीर खड़ा होता है, इधर-उधर चलने में समर्थ होता है। उसी प्रकार शूद्र वर्ण सम्पूर्ण समाज का आधार है। वह अपने शिल्प द्वारा, श्रम के द्वारा आवश्यक साधनों, उपकरणों को समाज के सभी वर्गों के लिए उपलब्ध कराता है। वही शुद्धि के द्वारा रोगरहित स्वस्थ जीवन को सम्भव बनाता है, जिससे समाज के सभी वर्ग गति करने में, प्रगति करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार वैदिक वर्णव्यवस्था का अर्थ गुण-कर्म है, जाति नहीं। उसके अनुसार सबकी समान आवश्यकता है, सबका समान महत्त्व है, ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं, कोई अस्पृश्य नहीं। वेद स्पष्ट उद्घोष करता है कि न तो कोई बड़ा है, न कोई छोटा है–ये सभी भ्राता सौभाग्य के लिए साथ-साथ बढ़ते हैं :–

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋ. 5/60/5)

यजुर्वेद (16/27) के एक मन्त्र में सब कर्मकारों के महत्त्व को देखते हुए ही बढ़ई, रथ-निर्माता, कुम्हार, लोहार, निषाद् (मछुआरे), पुञ्जिष्ठ (पक्षिपुंजछातराः) खगकण्ठबद्धरज्जुधारणः, शिकारी-सब को नमस्कार किया गया है।

इसी आधार पर सब मनुष्यों के प्रति वेद का निर्देश है कि शूद्र और आर्य सबका प्रिय (कल्याण) देखें (प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये–अथर्व. 19/26/1)। परमेश्वर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-सब में समान रूप से शोभा या दीप्ति का आधान करने की प्रार्थना की गई है, जिससे सबका समान कल्याण हो और कोई भी अपमानित न हो–

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु. 18/48)।

सबकी समान समृद्धि से ही समाज की समृद्धि सम्भव है। समाज के सभी अंगों के स्वस्थ रहने पर समाज उचित दिशा में प्रगति कर सकता है।

वेद सबके साथ मधुर वाणी का उपदेश देता है–मैं ऐसी कल्याणमयी वाणी बोलूं और मैं ऐसा रहूँ कि जिससे मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-सारी जनता के लिए कल्याणकर ज्ञान का प्रचार और प्रसार करूं।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥ (वा. सं. 26.2)

वास्तव में सारी शिक्षा का लक्ष्य है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को समझे और उसकी रक्षा करे–**पुमान् पुमांसं परिपातुं विश्वतः।**

इस सामूहिक समन्वय के साथ-साथ व्यक्तिगत जीवन में पूर्णता के लिए भी वैदिक समाज व्यवस्था में समन्वय पर बल दिया गया है। ब्रह्मचर्य अथवा शिक्षा का महत्त्व अथर्व. के एक सम्पूर्ण सूक्त (11/5) में प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मचारी का समाज में अक्षुण्ण तथा अत्यन्त सम्मानजनक स्थान है। ब्रह्मचारी में ही देवता समान रूप से शुभेच्छु होते हैं, ब्रह्मचारी का ही

अनुसरण छोटे-बड़े सब करते हैं। ब्रह्मचारी ही आचार्य है, वही प्रजापति है। राजा भी ब्रह्मचर्य के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है (**ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति-अथर्व** 11/5)। वस्तुत. ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्मचर्याश्रम या शिक्षा का महत्त्व बताया गया है। जीवन को पूर्ण, संयत और सभ्य बनाने के लिए शिक्षा के महत्त्व पर बल देना एक स्वस्थ, उन्नत सामाजिक व्यवस्था का लक्षण है क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य में पशु से भिन्न मनुष्यता के गुणों को उभारती तथा सींचती हैं। विद्या के अभाव में मनुष्य पशु ही रह जाता है, जैसा.प्रायः अनपढ़ गंवार लोगों में देखा जाता है। वास्तव में ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों का मूल है। यदि इसकी व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी तो सब आश्रम और समाज बिगड़ जायेगा। यही हम आज देख रहे हैं। शिक्षा में विसंगतियाँ और अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत का स्वतंत्र भारत में अनावश्यक प्रचार सारे वातावरण को दूषित किये हुए है। अपनी भाषा का प्रयोग तथा सम्मान न होने से हम वास्तविक समाजवाद से दूर हो गए हैं। ब्रह्मचर्याश्रम तपस्या का ही दूसरा नाम है। (ब्रह्मचारी............लोकांस्तपसा पिपर्ति-अथर्व. 11/5/4)। ब्रह्मचारी का जीवन तपोमय संयमित तथा कठोर नियमों में बँधा हुआ है। वैदिक व्यवस्था के अनुसार समाज में केवल ज्ञान और बुद्धि की ही आवश्यकता नहीं, अपितु शारीरिक शक्ति भी आवश्यक है। इसीलिए शरीर को पाषाण सदृश सुदृढ़ बनाने की प्रार्थना की गई है—अश्मा भवतु नस्तनूः (वा. सं. 29/49)। वैदिक समाजव्यवस्था में परिश्रम करने वाले, तपस्या करने वाले विद्या के इच्छुक सभी शिक्षा के अधिकारी हैं, सभी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर सकते हैं—अपितु सभ्य सामाजिक बनने के लिए यह आश्रम सबके लिए अनिवार्य है। इसी आधार पर आगे चलकर अनपढ़ व्यक्तियों को 'पतितसावित्रीक' तथा समाज से बहिष्कृत माना गया।

ब्रह्मचर्य में प्रवेशार्थ वेद में न शूद्र न स्त्री-किसी का निषेध नहीं है। कन्या भी ब्रह्मचर्य द्वारा युवक पति को प्राप्त करती हैं-ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (अथर्व 11.5.18)। वेद में वाक्सूक्त (ऋ. 10.125) में स्त्री को पराशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। वह सारे लोकों और प्राणियों को धारण करने वाली है। वह वायु के समान सर्वत्र निर्बाध गति से पहुँच जाती है-इस पृथिवी और द्युलोक से भी दूर (उसकी गति है)। इससे उसकी महिमा का अनुमान लगाया जा सकता है—

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ 8 ॥

वेद विधवा को स्पष्ट रूप से पुनर्विवाह के लिए प्रेरित करता है। पति के शव के पास बैठी (या लेटी) शोकविह्वल स्त्री को सम्बोधित करके कहा गया है कि तू उठ और जीवित जनों के लोक में आ। तेरा धारण-पोषण करने तथा पाणिग्रहण के इच्छुक व्यक्ति के साथ तू पति के ही साथ का अनुभव कर—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्रामस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनिलमभि सं बभूथा ॥ (ऋ. 10/18.8)

वैदिक समाजव्यवस्था समन्वयात्मक है। ब्रह्मचर्य और तपस्या के पश्चात् जीवन की पूर्णता और समाज की आवश्यकता तथा उसके पोषण के लिए ब्रह्मचार्याश्रम की समाप्ति पर मनुष्य के लिए विवाह कर के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक है। मनु का कथन है कि जिस प्रकार सब नदी और नद समुद्र में ही स्थिर होते हैं–आश्रित होते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर सब आश्रम आश्रित होते हैं :–

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ (मनु. 6/90)

वेद में आदेश दिया गया है कि विवाह करके पति-पत्नी को यहाँ, इस घर में रहना चाहिए, अलग नहीं होना चाहिये। पुत्रों और नाती-पोतों से खेलते हुए तथा अपने घर में आनन्दित होते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करनी चाहिए, अर्थात् पूर्ण रूप से गृहस्थ का पालन करना चाहिए।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं पूर्णमायुर्व्यसुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे दमे॥ (ऋ. 10/85/48)

ऋग्वेद के इस आदेश के अनुसार पति-पत्नी का अलग न होना, मिलकर रहना गृहस्थ का प्राथमिक आदर्श है। गृहस्थ की अन्य सुविधायें, आमोद-प्रमोद इस पर ही आधारित है। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी निर्देश है कि पत्नी पति के प्रति शान्त, मधुर वाणी बोले–

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् (अथर्व. 3/30/2)
स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु (अ. 1/31/4)

यह मधुर वाणी न केवल घर के वातावरण को मधुर बनाती है, अपितु घर से बाहर कार्य करने वाले पति को और उसके सम्पर्क में आने वालों को भी प्रभावित करके कार्यक्षमता बढ़ाती है। मनुष्य के बाह्य जीवन में परिवार का प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहता।

दूसरी ओर वैदिक व्यवस्था ने घर में नवविवाहिता को पूर्ण अधिकार देकर अद्भुत संतुलन स्थापित किया है।

नववधू को कहा गया है कि 'तू अपने श्वसुर, सास, देवर, ननद की सम्राज्ञी हो जा।' वह परिवार में सर्वोच्च शासक के पद पर पहुँचाई गई है–

सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ (अथर्व. 14/1/22)

परन्तु इस पद की प्रतिष्ठा वह कटुता से नहीं, मधुरता से ही बना सकती है। इसी कारण पत्नी को ही घर बताया गया है (जायेदस्तम् ऋ. 3/53/4) गृहस्थी का केन्द्र सन्तान होती है। पति-पत्नी के अधिकांश प्रयत्न सन्तान की सुख-सुविधा के लिए होते हैं। सम्भवतया इसीलिए पत्नी को जाया कहा गया है। वह सन्तान को जन्म देती है, उसका निर्माण करती है। वह पति की पूर्णता है। पति

उसके बिना अधूरा है–तस्मात् पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते । (ऐतरेय ब्रा. 1/2/5) पति और पत्नी का संयोग केवल शारीरिक संयोग नहीं, हार्दिक संयोग है–

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ (ऋ. 10/85/47)

यह हार्दिक संयोग ही वैदिक विवाह का आदर्श है। पति-पत्नी के प्रेमाधारित इस संयोग की तुलना चकवा-चकवी से की गई है–इहेमाविन्द्र सन्नुद चक्रवाकेव दम्पती (अथर्व. 14/2.64)। हार्दिक संयोग की यह भावना ही पति-पत्नी और परिवार में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करती है। इसीलिए वेद सामर्थ्य से अधिक सन्तान की अनुमति नहीं देता। ऋग्वेद में (1.164.31) कहा गया है कि बहुत सन्तान वालों को बहुत कष्ट होता है–बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश। वेद की भावना है कि जितनी भी सन्तान हो वह बलिष्ठ हो और महान् हो–

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् (ऋ. 10.159.3)

वैदिक सामाजिक व्यवस्था में घर को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसीलिए यजुर्वेद (1/11) में प्रार्थना है–

दृहन्तां दुर्याः पृथिव्याम् (पृथिवी पर घर दृढ़ रहें)। घरों में पूर्ण समृद्धि हो, वैभव हो। अथर्ववेद में अभिलाषा व्यक्त की गई है कि हमारे घर मधुरवाणी से युक्त हों, वे भाग्यशाली हों, अन्न से युक्त हों, हास्य-प्रमोद-पूर्ण हों, तृषारहित और क्षुधारहित हों–

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ (7/60/6)

वस्तुतः ऐसे घर उन्नत, प्रगतिशील समाज का आदर्श है। यह आदर्श शुद्ध कर्मों द्वारा व्यसनों से दूर रहकर प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए वेद आदेश देता है कि 'हे मनुष्य, जुआ मत खेल, कृषिकर्म (जैसा शुद्ध कर्म) कर, और जो धन उपलब्ध हो, उसमें प्रसन्न रह'।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः (ऋ. 10/34/13)

वैदिक समाजव्यवस्था की विशेषता उसकी पूर्णता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति मन की कामनाओं की पूर्ति, मन की उत्तम योग्यता-चिन्तन, विचार, वाणी के सत्य, पशु-समृद्धि, अन्न के रस, यश और शोभा की प्रार्थना करता है–

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा (वा. सं. 39/4)।

इस प्रकार वेद सबको पूर्णता द्वारा उन्नत जीवन के मार्ग पर ले जाना चाहता है–कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे (ऋ. 1.37.24) इसके लिए वा. सं. 34.6 के प्रसिद्ध शिवसङ्कल्प मन्त्रों में से प्रत्येक में मन के कल्याणमय संकल्पों वाला होने की प्रार्थना की गई है–तन्मे मनः शिवसङ्कल्प-मस्तु। मैं दुष्कार्य न करूँ, मेरे मन में किसी के प्रति दुर्भावना न उठे क्योंकि कुमार्ग पर चलने वाला या दुष्कार्य करने वाला कभी भी ऋत, सत्य, शाश्वतनियम के मार्ग को पार नहीं कर सकता–

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः (ऋ. 9.73.6)।

यह मार्ग अकर्मण्यता और आलस्य का नहीं, यह कर्म, परिश्रम और जागरण का मार्ग है। मेरे दायें हाथ में मेरा कार्य होगा तो बायें में स्वतः ही विजय होगी–कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (अथर्व. 7.52.8)। ईश्वर भी उसी का मित्र या सहायक है जो गतिशील अथवा कर्मशील है। (इन्द्र इच्चरतः सखा-ऐ. ब्रा. 7.15) जो कार्य करते-करते थक नहीं जाता, देवता उसके मित्र नहीं होते–न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋ. ४.33.11)। इसलिए मनुष्य को कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए–कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (वा. सं. 40.2)। इसके लिए स्वप्न त्याग कर जागते रहना और कार्य करना आवश्यक है। जागना समृद्धि और ऐश्वर्य के लिए होता है, सोना असमृद्धि और अनैश्वर्य के लिए होता है–भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वप्नम् (वा. सं. 30.17)। यह जागरण केवल आँखें खोलने का जागरण नहीं, अपितु मानसिक जागरण है। हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, उसके प्रति हमें जागरूक रहना है। हम अग्रणी पुरोहित हैं, हमें राष्ट्र में जागते रहना है–वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (वा. सं. 9.13)।

व्यक्तियों से ही समाज की उन्नति होती है। एक-एक व्यक्ति बल और बुद्धि में इतना उन्नत हो कि चारों दिशाएँ उसके आगे झुक जायें–मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋ. 10.128.1)।

दूसरी ओर आदर्श समाज के निर्माण के लिए उल्लू जैसे अज्ञानी, भेड़िये जैसे हिंसक प्रवृत्ति वाले, कुत्ते जैसे ईर्ष्या से युक्त और चाटुकार, चकवे जैसे अतीव कामासक्त, बाज़ जैसे मदयुक्त और गिद्ध जैसे लोभी जनों से समाज का मुक्त होना आवश्यक है। इसलिये इन्द्र (राजा अथवा परमेश्वर) से ऐसे व्यक्तियों के नाश की प्रार्थना की गई है–

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋ. 7.104.22)

वेद की पूर्ण सामाजिक उन्नति की भावना निम्नलिखित मन्त्र (वा. सं. 22.22) में स्पष्ट रूप से प्रकट होती है–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्........ पुरन्धिर्योषाजिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ॥

(हे परमेश्वर राष्ट्र में ब्रह्मतेज से युक्त ज्ञानी विद्वान् हों, और शूरवीर लक्ष्यवेधी, धनुर्धारी, महारथी योद्धा हों, समृद्ध स्त्रियाँ हों, विजयी सैनिक और वीर युवक सभा में बैठ कर विचार-विमर्श करने में समर्थ हों।)



वैदिक संस्कृति के मिथ (पुराक्लृप्त)

डॉ. जनार्दन उपाध्याय

वैदिक मिथ संकल्पना और मानस कल्प का रूपायन :

भारतीय संस्कृति की मिथकीय अवधारणा अत्यन्त जटिल है, क्योंकि इसमें आर्य, द्रविड एवं अन्य अनेक संस्कृतियों के सामूहिक विश्वासों एवं कल्पनाओं का मिश्रण है। वैदिक मिथों की संरचनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में यह विचारणीय है कि इनका सम्बन्ध मनीषी की काव्य रचना से है। उसमें आदिम लोकमानस ही नहीं मनीषी की आस्था भी रूपायित है। वैदिक मिथों में काव्यदृष्टि और धर्मदृष्टि का योग है। अतः वे एक प्रकार से धर्ममय काव्य रूप हैं। वैदिक मिथों की कथाएँ ऋषि प्रणीत हैं। ऋषिमंत्र द्रष्टा हैं। वे रहस्यदर्शी हैं। ऐसी स्थिति में इन मिथों को प्रागैतिहासिक मिथों की संरचनात्मक प्रक्रिया से जोड़ना ठीक नहीं है।

वैदिक मिथों में "दृष्टि" की अपेक्षा "प्रज्ञा" का विनियोग है। "दृष्टि" मानवीकरण द्वारा बिम्ब, प्रतीकों का सर्जन कर रचनात्मक सम्बोधन को मार्मिक और उदात्त बनाती है। रचना प्रक्रिया का यह व्यापार सायास है। वैदिक ऋषियों की "प्रज्ञा-प्रक्रिया" की सार्थकता बिम्ब, प्रतीक निर्माण करने की अपेक्षा समस्त सम्भूत जड़ चेतन को ही रचनात्मकता प्रदान करने में है। जड़ चेतन, जीवन के सभी कार्य व्यापार, या कार्य कारण सम्बन्ध उदात्त रचनात्मकता के स्तर पर बिम्बहीन, प्रतीकहीन हो जाते हैं। वैदिक ऋषि सर्जन की प्रज्ञात्मक स्थिति में समस्त जीवन व्यापार को ही रचनात्मक पवित्रता देता है। इसी से वह जड़ चेतन में किसी सायास मानवीकरण का आरोपण न कर उसको उसकी वास्तविक गुणात्माओं, सही-सही नामों और विशाल संज्ञाओं में प्रस्तुत करता है। यही वह स्तर है जहाँ भाषा एवं मिथ में अन्तर नहीं है। जो शब्द है, वह पदार्थ है। शब्द और पदार्थ में तदाकारिता है।

वैदिक ऋषि रचनात्मक अनासक्ति का कवि है। उसके समस्त मिथ इसी रचनात्मक अनासक्ति से सर्जित हैं। वैदिक "प्रज्ञा" साधनात्मक दृष्टि है। उसमें किसी पक्ष के 'स्व' का आग्रह नहीं है। वह अपने 'स्व' का प्रक्षेपण मानवीकरण के किये गये "स्व" के प्रक्षेपण से भिन्न रूप में करता है। वह प्रज्ञात्मकता के एक बिन्दु पर पहुँचकर स्वयं ही सृष्टि पूर्ण हो जाता है। इसी से उसकी प्रज्ञात्मक सृष्टि में समस्त प्राकृतिक व्यापार, उषस् का आगमन, मेघों का वर्षण, विद्युत का बादलों पर कशाघात बनकर टूटना, पर्जन्यों की आकाश में परिक्रमा जीवन सत्ता रूप में वर्णित हैं। इन्द्र आर्य

नरेश भी हैं, और मेघों के देवता भी । यह समूचा व्यापार किसी बिम्ब प्रतीक सर्जन से नहीं है, अपितु प्रज्ञात्मकता का ही प्रतिफलन है । उषस् वैदिक ऋचाओं में मात्र प्रातःकाल ही नहीं है, अपितु सृष्टि के मूलाधार आदित्य की सम्पूर्ण वर्चस्विता को भी व्यंजित करती है । इसका मूल हेतु मिथकीय अनुचेतना में काव्यात्मकता के साथ ही धर्मदृष्टि की तदाकारिता । क्योंकि धर्मदृष्टि ही समस्त जड़ चेतन के प्रति "आत्मवत् सर्वभूतेषु" बनाये रखती है । मिथकाव्य नहीं होता, पर उसमें कथात्मक चरित्र काव्यात्मक दृष्टि ही उभारती है । यम, यमी, इन्द्र अहल्या के यथार्थ प्रसंग इसी काव्य दृष्टि के कारण उदात्त हैं । यदि ये मिथकीय प्रसंग काव्य दृष्टि असम्पृक्त होते तो निश्चय ही उदात्त भाव नहीं जगा पाते ।

धर्मदृष्टि मिथ सर्जन में सहयोग करती है । किसी भी संस्कृति के मिथ धर्म प्रदत्त हैं । धर्म द्वारा दृष्ट जीवनानुभव तथा सत्य अपने निराकरण रूप में मिथ बनता है । समाज के सांस्कृतिक संघर्ष की शाश्वत प्रक्रिया का साक्षात्कार धर्मदृष्टि करती है । मिथ और धर्म का इतना गहरा सम्बन्ध है कि विद्वानों का एक वर्ग उसे धार्मिक प्रतीक विद्या का[1] विशेष अंग मानता है । मिथ धार्मिक कर्मकाण्ड का कलात्मक प्रारूप है । धार्मिक कार्यों (रिचुअल) का कथात्मक रूप ही मिथ है और 'रिचुअल' का व्यावहारिक पक्ष है कर्मकाण्डीय प्रक्रिया । यही कारण है कि प्रसिद्ध जर्मन शास्त्रविद् एडोल्फ ओटो मिथ को धार्मिक संदर्भ में ही स्वीकार करने पर बल देता है । मेलिनोस्की ने धार्मिक मिथों को ही आदिम जातियों में मिथ का वास्तविक रूप माना है । इनमें एक प्रकार की धार्मिक कथा का प्रचार है जिन्हें कर्मकाण्ड, नैतिक आचार और समाज व्यवस्था से सम्बन्धित माना जाता है । ये मात्र मनोरंजन हेतु ही नहीं हैं, ये अधिक सार्थक सत्य रूप में ग्रहीत हैं । क्योंकि इनसे उन्हें कर्मकाण्ड और नैतिक कार्यों के लिए प्रेरणा मिलती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि मिथ "धार्मिक विश्वास का अंग है । इसमें अतर्क्य विश्वास की भूमिका और तथ्य तथा कल्पना के समन्वय की चेष्टा रहती है" ।[2] भारत में धर्म एवं इतिहास में एक नैरन्तर्य है । अतः यहाँ के मिथ में भी नैरन्तर्य है । राम के मिथकीय व्यक्तित्व में जो भारतीय गत्यात्मक दृष्टि है, वही उसे धर्म के जड़ रूप रूढ़ि से बचाती हैं, और इसी से राम की मिथकता राम कथा में नहीं है । इस मिथ के द्वारा धर्म के जिस सत्य का साक्षात्कार होता है, वह देश-काल की सीमा से ऊपर है और राम जातीय प्रज्ञा-प्रतीक बनकर उभरते हैं । नित्शे ने स्पष्ट कहा था "मिथ असीम की ओर उठती हुई सार्वभौम भावना एवं सत्यका विलक्षण रूप है ।[3]" फ्रेजर ने तो इसे 'सत्यका प्रज्वलित रूप' कहा है । यह कोई वाष्परूप अमूर्त्त अवास्तविक कल्पना नहीं है । अनुभव के जिस बिन्दु पर धर्मदृष्टि समग्र होती है, वहीं एक मिथ जन्म लेता है । मिथों का मूल स्रोत धर्म है ।

वैदिक मिथों की सर्जनात्मकता के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि वे पूर्णतः आदिम लोक मानस के प्रतिफल नहीं हैं । निश्चित ही इसमें भाषा के विवित्तीकरण की शक्ति की विकासोन्मुखता का रूपायन है । आदिम मानस के विकास की अनेक अवस्थाएँ हैं । इन्हें पारकर ही मिथ का सर्जन होता है । आदिम मानस का विकास क्रम कुछ इस प्रकार हैं । प्रथम स्थिति में मन को आदिशक्ति

का मूल या तद् रूप स्वीकारा गया है। इस धारणा के अनुसार आत्मवत् वाद (एनिमेटिज्म) को आदिम मानस का मूल माना गया है। इसके बाद पराप्रकृतिवाद की स्थापना होती है। प्राकृतिक पदार्थों के श्रद्धा भयोद्रेकी व्यापारों में किसी शक्ति की उद्भावना कर ली गयी है। तृतीय स्थिति में आत्मवत् वाद सक्रिय होता है। इसमें आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना से अपनी जैसी बुद्धि, शक्ति पशु-पक्षियों में मान ली गयी है। पुनः पदार्थात्मवाद (एनिमिज्म) आता है जहाँ समस्त पदार्थ में आत्मा की चेतना स्वीकृत है। विकास के एक बिन्दु पर देवताओं की कल्पना कर ली गयी। वैदिक मिथ के प्रायः देवीदेव रूप हैं। अतः निश्चित है कि आदिम मानस की इस विकसित अवस्था में ही मिथ का सर्जन हुआ। इसी प्रकार भाषा के संदर्भ में उसके 'माइथालाजिकल' रूप पर मिथ सर्जन को आधार मिला। मैक्समूलर ने (1) "द मेटिक पीरियड (धातु निर्माण) (2) डायलेक्टिक (भाषाओं की मूल जातियों का उद्भव)(3) माइथालाजिकल (4) और लौकिक आदि सोपानों को मानते हुए मिथ को भाषा का रोग (करप्शन या डिजीज) माना है। नार्थप फ्राइ इससे असहमत होकर उसे 'विस्थापन' (डिसप्लेसमेन्ट) कहता है। सामान्य प्राकृतिक घटना है" : "उषा के बाद सूर्य का अभ्युदय", वैदिक मिथ में इसके अभिधार्थ का काल्पनिक सदर्भों के सहयोग से "विस्थापन" (डिसप्लेसमेन्ट) हो जाता है और ऋषि कह उठता है "सूर्य उषा का पीछा करता है"। वैदिक वाङ्मय का "उषासूक्त", "पुरुषसूक्त" को विस्थापन की इस प्रक्रिया के लिए उद्धृत किया जा सकता है।

वैदिक वाङ्मय में प्राप्त आद्य-बिम्ब (आर्किटाइप रूप मिथ)'मौलिक मिथ' (प्राइमरी मिथ) है। मौलिक मिथ सामूहिक अचेतन मानस का सर्जन है। सर्जन प्रक्रिया के आधार पर जिस "आनुषंगिक" (सेकेन्डरी मिथ) मिथ की चर्चा की जाती है, वे वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध हैं, क्योंकि 'आनुषंगिकमिथ वैयक्तिक अचेतन या अवचेतन की सृष्टि है। प्राचीन यूनानी भारतीय वाङ्मय, सामी जाति के प्राचीन वाङ्मय में "मौलिक मिथ" प्राप्त है। कामदहन का मिथ बृहद् देशकाल में व्याप्त सामूहिक संस्कारों की सहज व्यंजना है। यह मिथ की मौलिक स्थिति है। पर यही कालिदास द्वारा वर्णित होने पर "आनुषंगिक मिथ" का रूप धारण कर लेता है। वैदिक मिथ "मौलिक" हैं सामूहिक अचेतन से सर्जित वैदिक "मौलिक मिथ" का उद्धरण द्रष्टव्य है :

(क) एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभिमानुषान्[4] ॥

(ख) विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।
अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिधः[5] ॥

इसमें रूपायित मिथ के रूप में प्रकृति का आलंकारिक, चित्रण नहीं है। यहाँ उषा नामक अचेतन पदार्थ पर चेतन 'सूनरी' का आरोपण भी नहीं है। यहां दोनों की पूर्ण तदाकारिता को यथावत् स्वीकृति दी गयी है। प्राक्तन संस्कारों से निर्मित उसका अचेतन मन उषा की "भावना" ज्योतिर्मयी नारी रूप में ही करता है। वह तेजस्वी नारी के सारूप्य का साक्षात्कार कर अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर आरोपण नहीं करता है। वैदिक ऋषि की यह अभेद भावना कल्पनाजन्य न होकर विश्वास मूलक है।

वैदिक मिथ विन्यास के विविध आयाम :

सामान्यतया वैदिक मिथ तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकता है :–

(क) सृष्टि विषयक वैदिक मिथ।

(ख) प्रलय-सम्बन्धी वैदिक मिथ।

(ग) देवताओं के प्रणय व्यापार सम्बन्धी वैदिक मिथ।

सृष्टि विषयक वैदिक मिथ दो सिद्धान्तों को लेकर चलता है[6]। प्रथम विश्व की उत्पत्ति यांत्रिक प्रक्रिया का परिणाम है। दूसरा जगत् प्राकृतिक उद्भव का प्रतिफल है। विश्व सृष्टि का मिथकीय विवरण 'पुरुषसूक्त' (10/90) में उपलब्ध हैं। इसमें एक विराट् पुरुष से जगतोत्पत्ति वर्णित है। उस विराट् पुरुष के साथ देवों ने यज्ञ किया। उसके सिर नाभि, पैर से क्रमशः आकाश, वायु, पृथ्वी बने। मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र, अग्नि से श्वास वायु की उत्पत्ति हुई। चारों वर्ण भी उसी से पैदा हुए। मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य, जाँघ से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमि ग्वं सर्व्वतः स्पृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेद ग्वं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदेन्नेनातिरोहति॥
एतावानस्य महिमा तो ज्यायाँ श्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथोपुरः॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऽमृचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाग्वंसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥[7]

ऋग्वेद[8] के एक सूत्र के अनुसार (10/129) आरम्भ में सर्वत्र शून्य था। किसी का अस्तित्व नहीं था। अन्धकार और महाशून्य ने अविभेद्य जल को ढ़ँक लिया था। उसी समय तप से आदि तत्त्व (एकम्) की उत्पत्ति हुई। इसके बाद मनस का प्रथम बीज 'काम' आता है : 'कामदस्तग्रे' ॥ यही सत् असत् के बीच श्रृंखला बनता है। इसके परिणाम स्वरूप देवगण की उत्पत्ति होती है[9]। एक अन्य सूक्त (ऋ. 10/190) में तपस से 'ऋत्' और 'तदुपरान्त रात्रि, सागर, वर्ष और फिर क्रमानुसार सूर्य, चन्द्रामा, आकाश, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष आदि की उत्पत्ति होती है[10]।

मध्य एशिया की पुरानी सामी जातियों के मिथों (पुराक्लृप्तों) में सृष्टि विकास की कथा का क्रम भी कुछ इसी प्रकार चलता है। सृष्टि विकास के विशिष्ट मिथ का स्वरूप कुछ इस प्रकार है। यह सृष्टि एक विशाल अण्डाकार पदार्थ से निकली है। एक समय इस अण्डाकार पदार्थ के सहसा फट जाने से यह दो भागों में बँट गया। इसमें से एक देव, अति प्राकृति प्राणी जन्म लेता है और उसी ने अण्डे के आधे भाग से आकाश और आधे से पृथ्वी का निर्माण किया। लगता है, एक पूरा मिथकीय वेल्ट रहा है जिसकी मूल चेतना किसी न किसी रूप में भारोपीय वाङ्मय में प्रवाहित होती रही है।

प्रलय सम्बन्धी वैदिक मिथ में प्रलय तदुपरान्त पुनःसृष्टि का उपक्रम है। मनु का सम्बन्ध जलप्लावन से है। चतुर्दिक जल ही जल था। मनु नौका में बैठकर मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसी बीच वे एक मत्स्य के सहारे जल प्लावन का संतरण करते हैं। "तस्या (मनोः) अवरेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपादे। स सास्यै वाचमुवाच। विभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघः इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति"[11]।

प्रलय, उससे बचे मनु और उनकी आदिम नौका की आदिम कथा मध्य एशिया की हिब्रू आदि प्राचीन संस्कृतियों के पुराक्लृप्त (मिथ) भी उपलब्ध है। वहाँ भी जब प्रलय में समूची पृथ्वी डूब जाती है तो नूह या नोह अपनी नाव से प्रलय समुद्र का संतरण करते हैं और अपने को बचाकर पुनः सृष्टि करते हैं। प्रलय के मिथ का केन्द्रीय अभिप्राय (सेन्ट्रल मोटिफ) नाश के बाद पुनः सृष्टि या प्रतिसर्ग, प्रायः प्राचीन संस्कृति के लोगों में प्रकारान्तर से वर्णित है। एक बात और प्रायः भ्रान्तिवश लोग सेमेटिक धर्मदृष्टियों की 'डे आफ डेलिवरेन्स" और 'कयामत का दिन", की सुनियोजित धारणा को "प्रलय मिथ" के साथ जोड़ देते हैं। परन्तु ये दोनों कल्पनाएँ असंगत और अनैसर्गिक हैं। यह मानना कि पापी और पुण्यात्मा कयामत के दिन तक प्रतीक्षारत रहेंगे कि प्रभु का आगमन उन्हें निर्णय के दिन कर्मानुसार दण्ड या उपहार देगा, नाटकीय होते हुए भी अविश्वसनीय है। स्मरण रहे मिथ कल्पना नहीं है। वह तर्कातीत सत्य रूप है।" यह सम्पूर्ण मानव के समग्र अनुभवों की अभिव्यक्ति है[12]। यह सत्य का विलक्षण रूप है[13]। उसमें मानवीय ज्ञान-कोष के प्रतीकात्मक आलेख है[14]। इसीलिए पुराक्लृत (मिथ) अपने में से नयी कल्पनाओं, नयी उद्भावनाओं को जन्म देता है। प्रलय मिथ है। यह पूर्ववर्ती मानव अनुभवों का अभिलेख है[15]। अतः प्रलय की कल्पना अयथार्थिक हो ही नहीं सकती है।

प्रणय-व्यापार मूलक वैदिक पुराक्लृप्त (मिथ) का सम्बन्ध प्रकृति के मूल तत्त्व 'प्रणय-व्यापार' से है। वैदिक मिथों में आकाश पृथ्वी की प्रणय कल्पना अनेक रूप में है। वहाँ आकाश पुरुष है और पृथ्वी नारी। इन्हीं के मृदुल परिष्वंग से नाना रूपमयी सृष्टि का सर्जन है। वैदिक वाङ्मय में माता पिता की युग्म कल्पना 'द्यौष्पितर' तथा 'पृथिवी' रूप में है :

(क) "द्यौर्मे पिता जनिता[16]।

(ख) द्यौर्नः पिता जनिता[17]।

(ग) द्यौर्मे पिता पृथिवी मे माता[18]।

(घ) यं मे नाभिरिह मे सधस्थम्[19]।

उपर्युक्त तीन प्रमुख वैदिक मिथों के अलावा प्राकृतिक मिथ और धार्मिक मिथ भी उपलब्ध होते हैं। धार्मिक मिथों के भी दो उपभेद हैं :

(क) उपास्य देवों के स्वरूप से सम्बद्ध मिथ।

(ख) कर्मकाण्ड सम्बन्धी मिथ।

प्राकृतिक मिथों में प्रकृति के तत्त्व : नदी, पर्वत, वृक्ष, चन्द्र, सूर्य आदि हैं। आदिम विश्वास में प्रचलित है कि पर्वत को पँख होते हैं। अव्यवस्था उत्पन्न न हो, इसलिए इन्द्र ने उन्हें काटकर अलग कर दिया। यह तर्क से नहीं समझा जा सकता। इसमें सार्वभौम विश्वास महत्वपूर्ण है। पर्वतों को ऋग्वेद में दिव्यरूप से चेतन माना गया है। देवों के रूपों में अकेले नहीं, अपितु अन्य प्राकृतिक पदार्थों : जल, पौधे, वृक्ष, आकाश, पृथ्वी (7/34[23]) अथवा सवितृ तथा इन्द्र आदि अन्य देवों के साथ ही आते हैं। पर्वत का तीन बार इन्द्र के साथ युगलशब्द 'इन्द्र पर्वताः' के रूप में आवाहन है। ये युग्म रथारूढ़ हैं तथा यज्ञ में आने के लिए आवाहित हैं[20]। इसी प्रकार पार्थिव देवता रूप में नदियों से सम्बन्धित मिथ भी हैं। आर्यों की दृष्टि में नदियाँ केवल जलमयी वस्तुएँ न होकर कल्याणकारी सजीव देवता थी। इसी से इन्हें प्रार्थना सुनने एवं कामना पूरी करने का पूरा आग्रह है[21]।

धार्मिक मिथों के उपास्य देव स्वरूप विवेचन के प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि "मिथ शब्द देवी देवताओं अथवा अतिप्राकृतिक पात्रों और मानव जीवन के अनुभव से परे, किसी सुदूर काल की असाधारण घटनाओं एवं परिस्थितियों से सम्बन्धित आख्यानों के लिए प्रयुक्त है[22]।" शेंलिग ने तो मिथ की प्रक्रिया को देवोत्पत्ति की प्रक्रिया ही कहा है जहाँ निर्गुण ब्रह्म मानव चेतना से व्यक्त होता है। वैदिक देवों का समूह इस दृष्टि से विचारणीय है। धार्मिक मिथों के उपास्यदेव स्वरूप में दिव्य देवता : द्यौस, वरुण, मित्र, आदि अन्तरिक्ष देवता : इन्द्र, रुद्र, मरुद्गण, पार्थिव देवता : नदियाँ, पृथ्वी, अमूर्त देवता : काम, कर्त्तृ-देव, देवियाँ और युगल देव समूह हैं।

वैदिक कर्मकाण्डीय मिथ में अनेक ऐसे "रिचुअल" हैं जिनमें पुराकथा का विनियोग है। "महाव्रत" नामक एक अनुष्ठान है। इसमें एक वृताकार श्वेत चर्मदण्ड को लेकर एक वैश्य शूद्र के संघर्ष का वर्णन है। कीथ ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है। उसका स्पष्ट मत है कि यह

उत्पादन-पर्व से सम्बन्धित मिथ का जीवन्त उदाहरण है। गौर वर्ण आर्य (वैश्य) और कृष्ण वर्ण अनार्य (शूद्र) क्रमशः ग्रीष्म और शीत ऋतु और श्वेत चर्मदण्ड सस्य उत्पादन के कारणभूत सूर्यातप का प्रतीक है। शीत ऋतु उत्पादन में बाधक और ग्रीष्म ऋतु साधक है। वैदिक युग में ग्रीष्म ऋतु की प्रतीकात्मक विजय का यह उत्सव उत्पादन पर्व रूप में मनाया जाता रहा है। स्पष्ट है कि इस मिथ का सम्बन्ध उत्पादन विषयक धार्मिक अनुष्ठानों से है। इसीसे स्टैनले एडगर हाइमन मिथ को धार्मिक अनुष्ठान का निरूपण करने वाला कहा है[23]।

वैदिक मिथ अर्थबोध का प्रश्न और व्याख्या प्रक्रिया

डेविड[24] विडने ने मिथ व्याख्यान की दो प्रचलित पद्धतियों का संकेत किया है :

(क) मिथ का वाच्यार्थ ग्रहण।

(ख) मिथ का प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण।

भारतीय निरुक्तकार की वैदिक मिथ अर्थ व्याख्या प्रायः प्रतीकात्मक पद्धति पर है। मिथों की अन्योक्तिपरक (एलेगारिकल) व्याख्या का आधार पश्चिम में प्लेटो एवं सोफी दार्शनिकों के समय से चली आ रही है। कुछ भारतीय विचारक राधाकुमुद मुखर्जी, रमेश चन्द्र मजूमदार तथा जयशंकर प्रसाद ने वैदिक आख्यानों का ऐतिहासिक आख्यान किया है। मैक्समूलर सौर सिद्धान्तों पर वैदिक मिथ की व्याख्या करता है। उर्वशी पुरुरवा का प्रसंग हैं। "उर्वशी पुरुरवा के प्रति आकृष्ट होती है" अर्थ है "सूर्योदय होता है"। उर्वशी पुरुरवा को नग्न देखती है" अर्थ है "सबेरा हो गया, दिन निकल आया।" उर्वशी का पुरुरवा से मिलन होता है। अर्थ है "सूर्य असत्य हो रहा है।" वस्तुतः मैक्समूलर की समानार्थकता सम्पुष्ट व्याख्या तर्कातीत है। इसी से कीथ ने बेबर और मैक्समूलर के सूर्योदयोपाख्यान को अनावश्यक माना है। उसने कहा है कि समूची कहानी कोई गम्भीर अभिप्राय नहीं रखती। उक्त स्तोत्र में अप्सराओं एवं मनुष्यों के सहसम्बन्धों का निर्देश है जो समस्त साहित्य में प्राप्त है। प्रायः यह उसी प्रकार है जिस प्रकार थिटिस और जर्मन हँस कुमारियों जिन्हें सात वर्ष के लिए मर्त्य मानवों के साथ रहने दिया गया है। नायक को नग्न देखने का निषेध मनोरंजक तथा आदिम तथ्य है। ऐसा कोई कभी हुआ नहीं। परन्तु अगर यह आख्यान सुविदित और आदिम है तो निश्चय ही इसका गहरा अर्थ होगा, क्योंकि यह कहानी आगे कई रूपों में चलती रही[25]।

वैदिक मिथ का केन्द्रीय मिथ देवासुर संग्राम है। यह एक स्तर पर भौतिक प्रकृति की सर्जन संहार शक्तियों का रूपायन है तो दूसरे स्तर पर मानव प्रकृति के अन्तः में विद्यमान सात्विक, तामसिक राग, द्वेष के द्वन्द्व का प्रतिबिम्बन है। यही केन्द्रीय मिथ-अभिप्राय (मिथ मोटिफ) वैदिक वाङ्मय में अनेक रूपों में है। सर्जन, विनाश, जन्म, मृत्यु जीवन का आदि प्रश्न है। प्राकृतिक स्तर पर उसमें व्याप्त उद्भव, विकास, विनाश, पुनः सृष्टि की प्रक्रिया से संकेत कर वैदिक मानव ने जन्म-मृत्यु, पुनर्जन्म की मिथ शृंखला की कल्पना करता है। पुनर्जन्म की कल्पना से मृत्युभय दूर हुआ, पर पुनर्जन्म भी तो अन्ततः मृत्यु में ही विराम लेगा। इसीसे चैतन्यात्मा के भीतर विद्यमान चैतन्य ने एक ऐसे विराट् की कल्पना की जो सबसे ऊपर है। जहाँ पहुँचने पर आवागमन का चक्र

समाप्त है और अमृत जीवन की प्राप्ति होती है। पाश्चात्य मिथ की प्रक्रिया भी कुछ इसी प्रकार समानान्तर चलती है, पर वह अन्तिम विन्दु तक नहीं जा पाती यहाँ पर मिथों की एक श्रेणी जीवन की चक्राकार गति को लेकर चलती है और दूसरी श्रेणी रैखिक गति का है। पहला जीवन से प्रभावित है जिसमें उद्भव, विकास, पुनः सृष्टि की शृंखला है। प्राकृतिक जगत् की इस घटना से प्रेरणा लेकर चक्राकार गति की कल्पना की गयी। इस चक्रिक मिथ में आसिरस का मिथ आता है। रैखिक गति का आधार मसीही धर्म है। इसमें जीवन की गति रेखाकार है। इसमें तीन विन्दु हैः जन्म, बलिदान, पुनर्जन्म जो एक बार ही होता है। भारतीय दृष्टि न चक्रिक है, न रैखिक। यहाँ जीवन सर्पिल गति से ऊर्ध्व विकास करता हुआ अन्तिम स्थिति में परमसत्ता से तदाकार करता है। वैदिक पुराक्लृप्त (मिथ) की मूल स्थिति इसी प्रकार है। देवासुर संग्राम में असुरों की अपार शक्ति का वर्णन है, पर विजय अन्त में देवों की होती है, क्योंकि परम सत्ता विष्णु या शिव के अनुग्रह के भोक्ता वे ही बनते हैं।

वैदिक मिथों की प्रस्तुति :

वैदिक मानस निश्चय ही प्राग्मानस से उन्नत मानस है। क्योंकि उसने मिथकीय रचना में साधनात्मक प्रज्ञा का प्रयोग किया है। इनके मिथ रचनात्मक तदाकारिता की उदात्त प्रस्तुती है। उनके लिए चन्द्र, अग्नि, जल आदि की प्रश्नशीलता का केन्द्रीय मिथ से वेदना पुराक्लृप्त या पुरा-कथा मात्र ही न होकर उसकी संस्कृति की भाषात्मक सहज अभिव्यक्ति बन गयी। धार्मिकता, भाषा, मिथ तीनों का वैदिक संस्कृति में एक संश्लिष्टरूप उभरता है। इसमें भाषा एवं मिथ की यथार्थवादी संश्लिष्टता अपने प्रतीकात्मक और रूपात्मक ढाँचे में सम्पूर्ण मानवीय जीवन की अभिव्यक्ति करती है। अतः वैदिक मिथों की सार्थकता और प्रासंगिकता "सो सियो कल्चुरल" और "इन्फ्रास्ट्रक्चरल" विचारणा में है।

वैदिक मिथों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) पूर्व वेदकालीन मिथ (पुराक्लृप्त)
(ख) उत्तरवेदकालीन मिथ (पुराक्लृप्त)।

पूर्ववेदकालीन मिथ (पुराक्लृप्त):

वैदिककाल में मिथ, भाषा एवं धर्म में भेद नहीं था। वेदकालीन मिथों को वैदिक भाषा में ही खोजा जा सकता है। वैदिक मिथों में प्राकृतिक शक्तियाँ किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। इस समय की मिथकीय अनुभूति पदार्थों से सीधे सम्बन्ध की अनुभूति पर आधृत हैं। प्रायः सभी वैदिक मिथ अमूर्त्त थे। पर इतना अवश्य है कि उन अंशों में जितना बाद में रचा गया मिथ अमूर्त्तता से मूर्त्तता की ओर अग्रसर होते गये। आनन्द कुमार स्वामी का यह मत द्रष्टव्य है कि मानव के आन्तरिक विकास के आरम्भिक युग में पुरुष, पूर्व पुरुष, पर्वत, पेड़, अजगर तथा दीर्घ सर्प मिलते हैं दीर्घ अजगरों से लड़ाई की कथा मिलती है। अजगर को मार देने के बाद पुरुष सत्ता में आ जाता था।[26]

वैदिक संस्कृति का केन्द्रीय मिथ इन्द्र है। इनकी परिकल्पना में एक लम्बा मिथकीय इतिहास है। कृषि युग तक आते-आते विद्युत, उर्वरता, अन्नशक्ति आदि के प्रतीक रूप में प्राकृतिक शक्तियों का विकास हो चुका था। इसी क्रम में पूरा विश्व एक शिल्परूप में प्रतिभासित है। इसलिए एक अपूर्व शिल्पी की कल्पना भी साकार होती है। यह शिल्पी ही वैदिक युग में लोगों का साथी है। इस युग की अनुचेतना में देवता और मनुष्य में एकदम दूरी नहीं है। यह 'सहचर' अजगर, शत्रुओं, भंयकर पशुओं का बध करता था। यह युद्ध का देवता है। आनन्द कुमार[27] स्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि यही युद्धदेवता था। यही स्वरूप विकसित होता हुआ वैदिक संस्कृति में देवताओं का राजा इन्द्र रूप में विकसित हुआ। यूरेसिया की प्राचीन संस्कृतियों में जाति के प्रधान देवता, शिकार देवता, प्राकृतिक शक्तियों के प्रधान, अथवा किसी न किसी रूप में देवताओं के राजारूप में कल्पित है। प्राचीन चीन में 'पा-कू' (P'ANKU) इजिप्ट में "ताह" (PTAH), दक्षिण में यूरोप में ज्यूपीटर (JUPITER) आदि विभिन्न नामों से विद्युत, उर्वरता शक्ति के मिथ रूप में विकास हुआ है। एशिया माइनर के 'बोघाज कोइ' के "इन्-द-र' (In-da-ra) नाम के देवता का उल्लेख है। बेबीलोन में विद्युत देवता एल्म पर्वत के पास रहने वालों में मिलते हैं। डोनाल्ड मे कन्जी ने बेबीलोन संस्कृति की विचारणा में कहा है कि इन्द्र बेबीलोनी देव है। ये बाद में भारत में आये हैं।[28] यह हास्यास्पद विचार है। क्योंकि इन के मिथकीय विकास के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि वे मूलतः भारतीय देव हैं। क्योंकि ये पहले तो वैदिक संस्कृति के केन्द्रीय मिथक देव हैं। जिनसे सम्बन्धित अनेकानेक कथाऐं, उपकाथाऐं प्रचलित हैं। इन्हें मूल शक्तियों की चेतना प्रक्रिया में समझा जा सकता है। इनकी सवारी ऐरावत एवं घोड़ा जुता रथ है। ये मेरुपर्वत पर स्थित स्वर्ग के राजा हैं। इन्द्र को मिथकीय चरित्र स्पष्ट करता है कि उनमें वैदिक कालीन राजपद्धति की छाप है। इन्द्र द्वारा वृत्रासुर मारा जाता है। यह सूखा का राक्षस है। वृत्र बादलों का शत्रु है। यह पृथ्वी पर पानी नहीं होने देता। सर्वत्र हाहाकार मचा था। इन्द्र ने इसका वध किया। इन्होंने देवता का अमृत 'सोम' का पान किया। 'सोम' अवचेतन का एक मिथ है जो चेतना प्रक्रिया को ऊर्जा से पूर्ण करता है। "सोम" या "अमृत" ऊर्जा का पुराक्लृप्त (मिथ) है। नर्मदा तट पर दधीचि की हड्डी से निर्मित वज्र प्रहार से वृत्र का वध होता है। उसके मरते ही जलधारा फूट पड़ती है। दधीचि की हड्डी साधना, शुभ का प्रतीक है। पृथ्वी पर जल वृष्टि और उर्वरता का प्रस्फुटन स्पष्ट करता है कि यह मिथ उर्वरता से सम्बद्ध है। ऐसी स्थिति में इन्द्र का मिथ समग्र उर्वरता का वैदिक मिथ है।

रुद्र के पुत्र मारुत, आँधी तथा विद्युत शक्तियाँ हैं। इन्द्र की सहायता से वृत्र से लड़ते हैं। इन्द्र ने अन्य प्राकृतिक शक्तियों के देवताओं का भी नेतृत्व किया है। इन्हीं देवताओं-दानवों के युद्ध का विस्तृत वर्णन भारतीय संस्कृति के इतिहास में है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि इन्द्र बेबीलोनी देव हैं।

इन्द्र के बाद दूसरे देव **अग्नि** हैं। यह अन्धकार को दूर करने वाली ज्योति और शक्तिरूप में प्रतिष्ठित है। तेजस्विता के संदर्भ में अग्नि अमूर्त्तरूप में वैदिक मिथों में प्राप्त है। सामान्य

जनजीवन में अग्नि का मिथ तेजस्विता और युद्धशक्ति के प्रतीक रूप में वर्णित है। पौराणिक चेतना में इनकी पत्नी स्वाहा है। इनके तीन पुत्र–पवमान, पावक, शुचि हैं।[29] यहाँ अग्नि की पत्नी और पुत्रों के नाम से ज्ञात है कि किस प्रकार भाषा एवं मिथ अभिन्न थे।

रुद्र प्रलयंकारी आँधी के देवरूप में प्रस्तुत हैं। ये इन्द्र की शक्ति हैं। प्रजापति के अपनी पुत्री से सम्भोगरत होने पर देवताओं ने रुद्र को क्रोधित होकर भेजा। रुद्र क्रोध के प्रतीक हैं।[30] प्रजापति का पुत्री के प्रति रतिभाव इडीप्स काम्प्लेक्स रूप में देखा जा सकता है। भारतीय मानस में कभी भी ऐसी अनैतिक रति-क्रीड़ा को मान्यता नहीं मिली। मध्ययुग में रुद्र और प्रजापति का स्थान शिव और ब्रह्मा ने ले लिया। शिव मिथ में रुद्र की संहारकशक्ति के साथ ही सर्जन भी जुड़ गया। प्रजापति का विकसित मिथ ब्रह्मा में भी इडिप्स काम्प्लेक्स कम हुआ। ब्रह्मा का गायत्री के प्रति आकर्षण का उल्लेख मत्स्यपुराण[31] में मिलता है। पुत्री गायत्री के सौन्दर्य को देखने के लिये ब्रह्मा ने चार मुख बनाया। जब वे स्वर्ग में गयीं तो ऊपर देखने के लिए एक सिर बना लिया।

मातरिश्वन् वैदिक संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण मिथ है, जिसने स्वर्ग से अग्नि लेकर पृथ्वी पर मानवों को दिया। इस कार्य के लिए उसे अत्यन्त पीड़ा सहनी पड़ी। ग्रीक मिथ का प्रमथ्यू भी एक ऐसा ही चरित्र है जो देवताओं के यहाँ से अग्नि चुराकर मनुष्यों को देता है। उसे दण्डस्वरूप शाप मिलता है। वह एक बड़े चट्टान से बाँध दिया जाता है और गिद्ध, चील उसके वक्षस्थल का मांस नोच-नोचकर खाते हैं। पुनः उसका वक्षस्थल भरता है और खाने की क्रिया पुनः चलती है। यह अनवरत चल रहा है; क्योंकि उसका वक्षस्थल बार-बार भर जाता है। प्रथम्यू को असह्य पीड़ा सहनी पड़ती है। पृथ्वी पर अग्नि लाने के लिए वह निरन्तर पीड़ा सहता है। अंग्रेजी साहित्य में यह शेली से लेकर मार्क्स तक कर्म प्रेरणा रूप में गृहीत होता रहा है। भारतीय साहित्य संस्कृति में **मातरिश्वन** का पुराक्लृप्त विकास न पा सका क्योंकि विद्रोही तथा प्रतिरोधी चरित्र भारतीय चेतना में स्वीकृत नहीं हैं। यहाँ आत्मलुब्धता और आत्मप्रेम से (नार्सिया) पुष्ट चरित्रों की स्वीकृति है। भारतीय मिथ चेतना आत्मकेन्द्रित है। इनमें मानवीय चेतना का विकास है। अतः बाह्य सत्ता और बहिर्मुखी दृष्टि नहीं है। यहाँ मिथों के सभी प्रसंग आत्म चेतना (Psyche) के ही अलग-अलग संदर्भों के बिम्ब, प्रतीक हैं। मिथ का भौतिक ढाँचा इसी "नार्सिस्टिक"[32] प्रवृत्ति में माध्यम से निर्मित है। प्रतिभा, प्रज्ञा, जीवनमुक्ति आत्मसत्ता के प्रति झुकाव से व्यक्त होती है। आत्मसाधना से ही योगी ब्रह्माण्ड की अनुभूति करता है। भारतीय संस्कृति के मिथों में आक्रामकता गुणसम्पन्न व्यक्तित्वों का अभाव है। पश्चिम में ऐसे व्यक्तित्वों की प्रचुरता है। यहाँ आत्मलुब्धतायुक्त व्यक्तित्व हैं। इसका कारण है भारतीय दृष्टि आत्मसौन्दर्यात्मक है, जबकि पाश्चात्त्य दृष्टि वस्तुसौन्दर्य से अनुप्राणित है। यही कारण है कि यहाँ आदर्श व्यक्ति त्याग, मोहरहित संकल्प, औदार्य और सत्त्वगुणसम्पन्न है। स्प्रेट ने कहा है कि भारतीय मिथों में नार्सिस्टिक पुत्र सापेक्षतया आक्रामक या प्रतिरोधी नहीं होता। ऐसा पश्चिमी संस्कृति में है, यहाँ वह अप्रतिरोधी, आत्मदयावान्, सहनशील, धैर्यवान्, समलिंगी प्रवृत्तियों का होता है।[33] यह अवश्य है कि यहाँ के मिथों में राम जैसे व्यक्ति हैं

जो अप्रतिरोधी हैं, पर वहीं लव-कुश पिता का प्रतिरोध भी करते हैं। शिव-गणेश मिथ में गणेश शिव से युद्ध करते हैं। पर लगता है कि यह सामाजिक विकास के फलस्वरूप प्रतिरोधी शक्तियों के उदय के मध्य जुड़ गया है।

वरुण का मिथ इन्द्र के मिथ के समानान्तर है। ये पृथ्वी एवं आकाश के अधिपति हैं। कालान्तर में इन्हें आदित्यों में प्रधानता दी गयी। आगे चलकर ये ही जल के स्वामी हो गये। वरुण नैतिकता के देवता हैं। कीथ ने "वरुण" का सम्बन्ध इरानी देवता "अहुर" से माना[34] है। वरुण और मित्र की स्थिति वैदिक संस्कृति में थी या नहीं, विवादास्पद है। पर इतना सत्य है कि धीरे-धीरे इनका महत्त्व कम हो गया। इन्द्र और सूर्य ने अपने प्रभाव के कारण दूसरे देवताओं को फीका कर दिया। मित्र का स्वरूप सूर्यरूप में बदल गया। यूरोप में भी **"मिथ्र"** नाम के सूर्य देवता मिलते हैं। फ्रेजर ने अविजित सूर्यरूप में **मिथ्र** को आराध्य देव बतलाया है।[35] सीरियाई क्षेत्र में **"मेत्रु"** वर्षा को कहते हैं[36]। एशिया माइनर में यह देवता "मि.........इत..........र" रूप में है। वरुण वहाँ "उ.....रु.....ण" है।

ऋग्वैदिक मिथ में यम-यमी भाई-बहन हैं। यम विवस्वत, जो सूर्य के ही एक रूप हैं। यम मंत्र-कर्त्ता ऋषि हैं। ऋग्वेद (10/1/10) के अनुसार ऐसा संकेत है कि यमी ने यम से सम्भोग की कामना व्यक्त की जिसे यम ने ठुकरा दिया[37]। इस समय तक यम मृत्युदेवता रूप में प्रतिष्ठित नहीं थे। अवेस्तासाहित्य में **'यिम'** और **"यिमे"** जुड़वा हैं। बेबीलोन और इरान के मिथों की धाराएँ अलग-अलग हैं। भारत में इन तीनों धाराओं का संकेत है। लगता है कि इन तीनों ही सांस्कृतिक केन्द्रों की मूल चेतना-धारा एक ही थी। वैदिक युग से पहले ही ये धाराएँ विभिन्न केन्द्रों की ओर मुड़ गयीं। पर इन सभी देशों का एक मिथकीय वेल्ट अवश्य रहा होगा। **यिम** स्वर्ग के इरानी शासक हैं। **यम** का स्वरूप भी शासक का है, पर ये मृत्युदेवता हैं।

वैदिक संस्कृति में बहुसंख्यक **"गन्धर्वों"** एवं **"किन्नरों"** का उल्लेख है। गन्धर्व देवता पद से गिरे हुए तथा मनुष्य से ऊपर थे। ये पर्वतीय क्षेत्रों में फैली जातियाँ हैं, जिनका जीवनादर्श देवों जैसा था; पर मनुष्य के जातीय गुण भी इनमें थे। ये इन दोनों के बीच की जटिलताओं में जीवित थे।

"अप्सराएँ" अत्यन्त रूपवती सुन्दरियाँ थीं, इनसे मिथकीय कामलोक का प्रसंग उभरता है। ये उदात्त वेश्याएँ थीं। ये कभी-कभी अपने नवजात शिशुओं को ऋषि-कुटियों के पास छोड़ जाया करती थीं। वैदिककालीन कामसम्बन्धों को गन्धर्व-अप्सरा मिथ द्वारा समझा जा सकता है। ऋग्वेद में उर्वशी-पुरूरवा का मिथ है। उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा थी। शापवश उसे पृथ्वी पर आना पड़ा। वह किसी मनुष्य से विवाह नहीं कर सकती थी। स्पष्ट है कि उस समय गन्धर्वों और मनुष्यों के बीच जातिपद्धति अत्यन्त कठोर थी। उर्वशी पुरूरवा को नग्न देखती है और मुग्ध होती है। पुरूरवा भी उस पर मोहित है। ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (10/95/1–2) के अनुसार उर्वशी उसे लौट जाने को कहती है–

किमेता वाचा कृण वा तवाहं प्राक्रमिशषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना बात इवाहमिस्मि॥

वह वायु की तरह है। उसे कोई बाँध नहीं सकता। ऋग्वेद में यह कथा दुःखान्त है। मैक्समूलर इसे सूर्य-उषा की मिथकीय पद्धति पर स्पष्ट करता है। उर्वशी पुरूरवा को प्रेम करती है अर्थात् सूर्य उगता है। उर्वशी पुरूरवा को नग्न देखती है अर्थात् उषा व्यतीत हो जाती है। अप्सराओं के सौन्दर्य में उषा की परिकल्पना की धारा समाहित है। ऋग्वेद (4/2/18) में उषा की वन्दना के साथ उर्वशी का भी प्रंसग है–

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात् ।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं शनथिता वैतसेन ॥

डी.डी. कौसाम्बी अनेक उषाओं को उर्वशी रूप में स्वीकार करते हैं[38]। उर्वशी-पुरूरवा का पुराक्लृप्त ऐसा मिथ है जिसमें दो जातियों के सामाजिक सम्ब-- की जटिलता को खोजा जा सकता है। पुरूरवा नायक है। राजा की परम्परा इससे प्रारम्भ मानी जाती है। यह स्वच्छन्द प्रेम का प्रतीक है। शापग्रस्त उर्वशी कुलीन सम्भ्रान्त वैभवपूर्ण समाज की भटकी नारी है जिसके साथ बाधा है कि वह किसी विशेष श्रेणी के लोगों के साथ ही सम्बन्ध बना सकती है। शतपथ-ब्राह्मण में पुरूरवा स्वयं त्याग, बलिदान से गन्धर्व बन जाता है। अतः इस समय तक मनुष्य धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कर गन्धर्व बन सकता था। यह अतिमानव होता था तथा अप्सराओं से मुक्त-सम्बन्ध रख सकता था। इससे दो तथ्य सामने आते हैं। इस समय तक श्रेणीसंघर्ष श्रेणी-समझौता में बदल गया था। दूसरा गन्धर्वलोक मुक्त यौनसम्बन्धों का प्राकृतिक लोक था, जिसकी अपनी "वर्जनाएँ" और कुछ "करणीय" थे। गन्धर्वलोक उस समय की सामाजिक दुनिया का दिवा-स्वप्नलोक था।

शकुन्तला और दुष्यन्त का मिथ भी सामाजिक चेतना के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। शकुन्तला का जन्म सामाजिक जीवन एवं दशा तथा वन्य जीवन की जटिलता (विश्वामित्र) का चित्र उभारता है। शकुन्तला को दुष्यन्त द्वारा भुला दिया जाना राजतंत्र की निरंकुशता, भोग-विलासी जीवन एवं नारी की द्वितीय श्रेणी की नागरिकता को संकेतित करता है। ऐसा लगता है कि नर्तकियों, अप्सराओं पर सामाजिक काम-बन्धन (TABOOS) टैबू रूप में कठोर थे। उनमें विजातीय काम-सम्बन्ध की जटिलताएँ प्रबल थीं जिससे जन्मे अवैध शिशुओं को जीवित रखने के प्रति मोह था। इसलिए वे उन्हें ऋषि-आश्रमों में छोड़ दिया करती थीं। शकुन्तला की दुष्यन्त द्वारा अस्वीकृति राजकीय मर्यादा का द्योतक है।

उत्तरवेदकालीन मिथ (पुराक्लृप्त)–

यह युग मिथकीय कथाओं का आगार है। इसमें भारतीय संस्कृति के अतीत के खोये हुए संगीत का पता चलता है। इसके साथ ही कथा विकास के मध्य जातीय जीवन का विकासपद्धति, भावनाओं एवं विचारों की प्रतीक पद्धति का भी ज्ञान होता है। इस समय के मिथ में भावानात्मक विचार अनुस्यूत मिलते हैं। इससे पता चलता है कि उस समय का चिन्तन गहन तथा आत्म-परक है।

शतपथ ब्राह्मण मिथ कथाओं का कोष है। राम, कद्रू-सुपर्ण की युद्धकथा, पुरूरवा-उर्वशी की प्रेमकथा, अश्विनीकुमारों की कथा इसमें वर्णित है। महाप्रलय की भी कथा इसमें वर्णित है। इसमें एक मछली ने मनु की रक्षा की। प्रलय के बाद मनु ने यज्ञ किया। एक वर्ष बाद शतरूपा जन्मी जो उनकी पुत्री कही गयी। प्रजापति, विश्वकर्मा, ब्रह्मा सर्जन मिथ से सम्बन्धित हैं। ये पुरूरवा के अन्तर्गत आते हैं तथा वस्तुगत प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, प्रजापति वर्ष एवं समय का प्रतीक भी है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु की अवतारणा पुरुष नारायण रूप में है। रुद्र-चेतना उत्तरवेदकालीन मिथों में सर्जनशील आयामों में ढलकर शिव में समाहित हो गयी। ब्राह्मण युग में शिव सबसे बड़े देव हैं। शिव का संहारक रूप ही नहीं है। वे सर्जन का पथ भी खोलते हैं। आगे चलकर शिव की 'आनन्द' की स्थिति हो गयी। यह एक व्यापक चिति में ब्रह्मानन्द आनन्द हैं। सर्जनकर्त्ता के रूप में शिवलिंग. की पूजा होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण में परीक्षित एवं जनमेजय का उल्लेख है। कठोपनिषद् में नचिकेता का प्रसंग है। यह समूचा प्रसंग वैदिककालीन वस्तुवादी दृष्टि पर अध्यात्मवादी चेतना का उन्मेष है। देहवादी अनुचेतना से ऊपर आत्मवादी चेतना का स्वर मुखरित होता है। ब्राह्मण-ग्रंथों में ऐतिहासिक तथा परम्पराप्राप्त कथाएँ प्राप्त हैं, जिनका पुराणेतिहास रूप में विकास होता है।

निष्कर्ष–

सम्पूर्ण वैदिक पुराक्लृप्त के पर्यवेक्षण से वैदिक मिथों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य उद्घाटित होते हैं–

(1) इनमें परम्परया प्राप्त आदिमयुगीन मान्यताओं, संस्कारों एवं धार्मिक अनुष्ठानों की व्याख्या मिलती है।

(2) इनमें अनन्त रहस्यमयी प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या है।

(3) ये मिथ धार्मिक अनुष्ठानों के संकल्पात्मक रूप हैं। अतः इससे भावनाओं का विरेचन होता है। इसी से भारतीय संस्कृति में कर्मकाण्ड एवं पुराणपाठ, कथाश्रवण की परम्परा प्रारम्भ से ही प्राप्त है।

(4) ये सम्पूर्ण मानवता की अखण्डता के द्योतक हैं। साथ ही मानव एवं प्रकृति की मूलभूत एकता के भी व्यंजक हैं। ये मिथ इस सत्य की रागमयी व्यञ्जना करते हैं कि मानव और प्रकृति अविभाज्य समष्टि के अभिन्न अवयव हैं। यह अभेदकल्पना मानव संस्कृति का मूल तत्त्व है। आज आधुनिक मानवसभ्यता अनंत भेदों में खण्डित हो चुकी है। अतिशय बौद्धिकता ने उसमें अनास्था, भय, संत्रास, व्यर्थता आदि का भाव उत्पन्न कर दिया है। वह सब कुछ छोड़कर निषंग बना खड़ा है। ऐसी स्थिति में वैदिक मिथों का अध्ययन एवं उनकी प्रतीति उसकी चेतना के शाश्वत एवं अखण्ड प्रवाह में आस्था उत्पन्न कर अन्धकार से प्रकाश, असत् से सत् और मृत्यु से अमृतत्व की ओर उन्मुख करने में सहायक होगी–

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग 12, पृ. 793 ।
2. मिथक और साहित्य : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 24 ।
3. द बर्थ आप ट्रेजडी : नित्शे ।
4. ऋग्वेद, 1/2/48/7 ।
5. वही, 1/2/48/8 ।
6. वैदिक माइथालजी : मैकडानल, पृ. 22 ।
7. ऋग्वेद, पुरुषसूक्त ।
8. वही, 10/129 ।
9. वैदिक माइथालजी, मैकडानल, पृ. 23 ।
10. वही, पृ. 23 ।
11. शतपथ ब्राह्मण, 1/8/11-2 ।
12. पोयट्री मिथ एन्ड रियालरी, फिलीप ह्वीलराइट ।
13. द बर्थ आफ ट्रेजडी, नित्शे ।
14. बिटविन मिथ एन्ड फिलासफी, ब्लैकमर ।
15. एसे आन मैन, कैसिरर ।
16. ऋग्वेद, 1/164/33 ।
17. अथर्ववेद, 90/10/12 ।
18. काठक-संहिता, 37/15/16 ।
19. ऋग्वेद, 10/61/19 ।
20. वैदिक माइथालजी, मैकडानल, पृ. 293 ।
21. वही, पृ. 293 ।
22. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग 12, पृ. 793 ।
23. द रिचुअल व्यू आफ द गिथ एन्ड द मिथिक (मिथ एन्ड लिटरेचर), स्टैनले एडगर-हाइमन ।
24. मिथ, सिम्वालिज्म एन्ड ट्रुथ : डेविड विडने ।
25. मिथ एन्ड रियालटी, डी.डी. कौसाम्बी, पृ. 52 ।
26. हिन्दूज्म एन्ड बौद्धिज्म : आनन्द कुमार स्वामी, पृ. 23 ।
27. वहीं, पृ. 23 ।
28. इन्डियन मिथ एन्ड लिजेन्ड, डोनाल्ड मेकन्जी, पृ. 3 ।
29. श्रीमद्भागवत, 4/1/6 ।
30. ऋग्वेद, 10/61/6-7 ।
31. मत्स्यपुराण, 111/30-41 ।
32. फ्रायड ने नार्सिस्टिक के प्रयोग में ग्रीक मिथ का उद्धरण दिया है। एक युवक आत्मरति में अतिशय लिप्त होकर मर जाता है। उसने दो तरह की चेतना शक्तियों की कल्पना की है–लिविडो, आक्रामकता। हिन्दू चेतना में पहली और यूरोपीय चेतना में दूसरी की प्रधानता है।
33. हिन्दू कल्चर एन्ड पर्सनालिटी, पी. स्प्रैट, पृ. 1 ।
34. वहीं, पृ. 113 ।
35. गोल्डेन बाउ, तृतीय संस्करण, पृ. 255 ।
36. इन्डियन मिथ एन्ड लिजेन्ड, डोनाल्ड मेकन्जी ।
37. ऋग्वेद, 10/1/10 ।
38. मिथ एन्ड रियलटी, डी.डी. कौसाम्बी, पृ. 65 ।

वैदिक वाङ्मय में नारी का पत्नी रूप

डॉ. चन्द्रकिशोर गोस्वामी

वैदिक वाङ्मय मानव के ज्ञान, मान व कर्म की प्रथम व पूर्ण अभिव्यक्ति है । अतः न केवल भारतीय संस्कृति की प्रत्युत मानव संस्कृति की वह शाश्वत निधि है । मानव-जीवन के सनातन मूल्यों के बीज तथा आदर्शों के उत्स वैदिक वाङ्मय में निहित हैं । मानव अपने विकास की दिशा तथा ह्रास से बचने के उपाय वैदिक वाङ्मय से प्राप्त कर सकता है । विकासवाद आदि लौकिक सिद्धान्त इस अमर वाङ्मय के सामने अप्रभावी हैं । यही इस वाङ्मय की अलौकिकता है, अपौरुषेयता है । यही वेद अर्थात् ज्ञान की सत्यरूपता, श्रेष्ठता और सर्वजैत्रता है ।

वैदिक वाङ्मय में प्रकृति और मानव के विविध रूपों की तथा उनके अनेक सम्बन्धों की सहज, नित्य व उदात्त छवि व्यक्त हुई है । स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध एवं समाज में उनके कार्य व स्थान की विवेचना करने में वैदिक वाङ्मय की सुस्पष्ट व सुसंयत दृष्टि है । यद्यपि वेदयुगीन संस्कृति के पितृसत्तात्मक होने से प्रायः उस पर पुरुषों को अधिक महत्त्व दिये जाने का आरोप लगाया जाता है; किन्तु नारी के माता, कन्या व पत्नी–तीनों प्रमुख रूपों को उसमें समुचित गौरव दिया गया है । पिता की अपेक्षा माता की हजारगुनी अधिक गरिमा मानी गई हैं–

पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते[1] ॥

वैदिक गुरु स्वयं से व पिता से पहले माता के प्रति भक्तिमान् होने का शिष्य को उपदेश देता है–

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव[2] ।

'माता' शब्द की व्युत्पत्ति–मान् पूजायाम् धातु से करते हुए, मान्यते पूज्यते जनैरिति माता[3] अर्थात् मनुष्यों द्वारा मान्य व पूज्य होने से माता कहलाती है–यह की गई है । इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति समान भाव एवं तुल्यकाम्यत्व गोचर होता है । पिता अपने परिवार में कमनीय कन्या के होने की आकांक्षा करता है । वह पूषा से प्रार्थना करता है–

अविता नो अजाश्वः पूषा यामनियामनि ।
आ भक्षत् कन्यासु नः ॥
अयं सोमः कपर्दिने घृतं न पवते मधु ।
आ भक्षत् कन्यासु नः ॥[4]

दीर्घायु और विदुषी कन्या सन्तति की प्राप्ति के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् में तिलमिश्रित भात को घृत के साथ मिलाकर पति-पत्नी द्वारा खाये जाने का विधान बताया गया है[5], जो तत्कालीन समाज में पुत्र के समान ही पुत्री की अभीष्टता का प्रमाण है। 'कन्या' शब्द की व्युत्पत्ति कान्त्यर्थक कन् धातु के अतिरिक्त कमु इच्छायाम् धातु से 'काम्यते या सा कन्या' की जा सकती है, जिसका तात्पर्य है कि चाही जाने से वह कन्या होती है। वैदिककाल में पुत्र के समान ही पुत्री को भी अध्ययन का अधिकार था। कन्या-जीवन की परिणति दो रूपों में होती थी। या तो वह विवाह के पश्चात् पतिगृह चली जाती शी अथवा पुरुषों की भाँति ही नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी रहकर ब्रह्मवादिनी बनती थी। ब्रह्मवादिनी नियमित रूप से वेदों का अध्ययन करती थी, नियमतः यज्ञोपवीत धारण करती थी तथा भिक्षाचरण भी करती थी[6]। शौनक ने 'बृहद्देवता' ग्रन्थ में ऐसी अनेक ब्रह्मवादिनी महिलाओं के नामों की विशद सूची प्रस्तुत की है[7]। कन्या को पितृगृह में रहने पर पितृधन में से अंश पाने का अधिकार था[8]। दौहित्र को भी मातामह की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना जाता था[9]।

नारी का तीसरा सर्वप्रमुख रूप है–'पत्नी', जो वैदिक वाङ्मय में सर्वाधिक माननीय एवं महनीय है। वह सर्वत्र सहधर्मचारिणी के रूप में पुरुष के साथ तुल्यप्रतिष्ठा को प्राप्त करने वाली है। वैदिक संस्कृति धर्मप्रधान है। अर्थ व काम की सामान्य अभीप्सा भी वहाँ धर्मनियन्त्रित है[10]। स्त्री व पुरुष के परिणय-सूत्र में बँधने के दो ही प्रयोजन माने गये हैं–धर्माचरण तथा सन्तानप्राप्ति[11]। 'धर्म' शब्द का एक अर्थ होता है–यज्ञादि की सम्पन्नता। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर इसी अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। यथा–

(i) **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**[12] ॥

(ii) **त्वे धर्माण आसते जुहुभिः सिञ्चतीरिव**[13] ॥

(iii) **अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्**[14] ॥

किन्तु उसके अन्य अर्थ हैं– 1. स्वरूप, 2. व्यवस्था और 3. कर्त्तव्य-कर्म[15]। धर्म के इन सभी अर्थों में पुरुष के साथ नारी की सहचारिता होने से ही उसके सहधर्मचरी होने की सार्थकता है। यहाँ सहचारिता का आशय भी स्त्री-पुरुष के कार्यों में तुल्यरूपता का होना ध्वनित होता है। इस प्रकार सहधर्मचरी का अर्थ पति के साथ-साथ धर्म का आचरण करने वाली तथा पति के समकक्ष महत्त्व वाली होने में है। यद्यपि वेद-संहिताओं में सहधर्मचरी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु परवर्ती वैदिक साहित्य में यह बहुलता से प्राप्त होता है[16]। नारी की सहधर्मचारिता का अनेकशः उल्लेख भी हुआ है तथा सहधर्मचरी के स्थान पर प्रयुक्त अन्य पर्याय शब्दों से भी यही अर्थ व्यक्त होता है। पति के साथ यज्ञकार्यों में सम्मिलित होने तथा उन्हें सम्पादित करने के कारण ही स्त्री की 'पत्नी' संज्ञा कही गई है–

पत्नी यद् दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव।
होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव[17] ॥

बाद में 'पत्नी' शब्द की रचना के लिए पाणिनि द्वारा बनाये गये व्याकरण-सूत्र में भी यज्ञ-संयोग के महत्त्व को स्वीकार कर लिखा गया–"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"[18] अर्थात् यज्ञ में सम्मिलित होने के कारण ही 'पति' शब्द से 'पत्नी' शब्द का निर्माण किया जाता है। योषिताएँ यज्ञ करने वाली कही गई हैं[19]। पाणिग्रहणसंस्कार के पश्चात् स्त्री यज्ञकार्यों में पति की सहचारिता को प्राप्त कर लेती है। इस संस्कार में सहयज्ञ द्वारा वह नये जीवन की दीक्षा लेती है–

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः।
अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा[20] ॥

सुमंगली वधू से पति की सहचारिणी होकर गार्हपत्याग्नि की उपासना करने की आशंसा की जाती है–

सुमंगल्युप सीदेममग्निं संपत्नीं प्रति भूषेह देवान्[21] ॥

'नारी' शब्द के प्रयोग का आधार भी उपचार से यज्ञकर्म का सहसम्पादन ही माना गया है[22]। तैत्तिरीयब्राह्मण में पत्नीरहित पुरुष को यज्ञ करने का अधिकारी ही नहीं माना गया है। पत्नी पुरुष का आधा भाग है जिसके विना वह अपूर्ण ही रहता है[23]। यही मान्यता भङ्ग्यन्तर से शतपथ-ब्राह्मण में भी व्यक्त हुई है। पत्नी पुरुष का आधा भाग है जिसके विना वह अपूर्ण ही रहता है। पत्नी को प्राप्त कर ही वह पूर्ण होता है[24]। न केवल यज्ञ करने के समय ही प्रत्युत यज्ञारम्भ से पूर्व भी नारी को यज्ञवेदी की रचना में सहायक कहा गया है[25]। यज्ञ के लिए हविष्कृत बनाने का कार्य भी उसका ही माना गया है–**"तद्ध स्मैतत्पुरा। जायैव हविष्कृदोपतिष्ठति"**[26]। यज्ञ के चतुर्विध ऋत्विजों–होता, अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा में से पत्नी को उद्गाता का कार्य करने वाली कहा गया है–**"अथ यैषा पत्न्यै व्रतदुघा तामुद्गातृभ्यो ददाति। पत्नी कर्मैव वा एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारस्तस्मादुद्गातृभ्यो ददाति"**[27]। मन्त्रों के अध्ययन के विना सहधर्मचारिणी में उनके उच्चारण की कुशलता कैसे हो सकती थी, अतः उनकी मंत्र-शिक्षा भी इससे सिद्ध होती है[28]। यहाँ तक कि पत्नी के साथ ही पति को स्वर्गारोहण के योग्य माना जाता था। इसीलिए यज्ञ में पत्नी को आमन्त्रित करना अपरिहार्य था–

"स रोक्ष्यज्जायामामन्त्रयते। जाये एहि स्वो रोहावेति।
रोहावेत्याह जाया। तद्यज्जायामामन्त्रयते"[29]।

अथर्ववेद में इसी अपने धर्मसम्बन्ध को बताते हुए पति कहता है–

"पत्नी त्वमसि धर्मणा गृहपतिस्तव"[30] ॥

वैदिक संस्कृति में प्रसिद्ध अष्टविध विवाहों में से 'प्राजापत्य' विवाह का तो अनुबन्ध ही यह था कि पति-पत्नी सम्मिलित रूप से ही समस्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करेंगे[31]।

वैदिक युग में युवती को पति के स्वयंवरण की स्वतन्त्रता थी। वह पति को मित्र के रूप में वरण करती थी–

(i) **भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वृणुते जने चित्[32] ॥**

(ii) **आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषा वृणीत[33] ॥**

ऐतरेय ब्राह्मण में भी जाया को पति का मित्र ही कहा गया है–"**सखा ह जाया**"[34] । गार्हस्थ्य के जुए में साथ-साथ जुड़ने वाले स्त्री व पुरुष का समान ही महत्त्व था–"**समानयोक्त्रे सह वो युनज्मि**"[35] । विवाह के अवसर पर सात पद चलता हुआ वर आज भी जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है उनके द्वारा वधू को यही कहता है–"हे सखे ! मेरे साथ सात पग चलने वाली बनो"–**सखे ! सप्तपदा भव**[36] । यह सात पग चलना ही मैत्री का सूचक है–"**संगतं साप्तपदीनमुच्यते**"[37] । पति और पत्नी के एक होने के कारण ही परिवार की सम्पत्ति में उनका पृथक्-पृथक् विभाग नहीं होता था[38] ।

यज्ञ केवल एक धार्मिक कृत्य नहीं था प्रत्युत मनुष्य को दोषों से बचाकर गुणों का आधान करने का साधन था । मानव को उसके स्वरूप 'मानवता' की प्राप्ति कराने का उपाय था । यज्ञ-धर्म में पति-पत्नी की सहचारिता दोनों को एक दूसरे के अनुकूल व हितकामी बनाये रखती थी, जिससे दोनों को सुख, सौभाग्य व मनःप्रसाद की प्राप्ति होती थी[39] । यही था गृहस्थ का स्वरूप में अवस्थान या स्वरूप की प्राप्ति तथा सहधर्मचरता की सार्थकता ।

धर्म का एक अन्य अर्थ–व्यवस्था का विराट् सृष्टि में व्याप्त रूप ही 'ऋत' कहा गया है[40] । यही सृष्टि के संचालन का शाश्वत नियम है । इसी से क्रमशः दिन-रात होते हैं, ऋतु-चक्र प्रवर्तित होता है, सभी पदार्थों का उदय व लय होता है । इसी ऋत के सादृश्य पर सामाजिक व्यवस्था को भी सहज गति देने के लिए वैदिक युग में गुण, कर्म व आयु आदि के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था तथा नैतिक नियमों की संरचना की गई है । परिवार समाज की लघु इकाई है और उसके मुख्य घटक हैं–स्त्री व पुरुष अर्थात् पति-पत्नी । समाज व परिवार की सुव्यवस्था बनाये रखना ही उनका धर्म है । इस धर्मनिर्वाह में भी पत्नी का पति के साथ समभाव तथा सहचार अपेक्षित है । पत्नी का कार्यक्षेत्र सामान्यतः घर को माना गया था तथा पति का कर्मस्थल घर के बाहर समाज को । ऋग्वेद में गृहिणी को घर का सर्वाधिकार प्राप्त होने के कारण ही गृह का पर्याय कहा गया था–"**जायेदस्तं मघवन्**"[41] ! । वह परिवार की अचेतन वस्तुओं की तो स्वामिनी थी ही, समस्त चेतन प्राणियों–पशु-पक्षी, परिजन, ननद, देवर, श्वश्रू, श्वशुर आदि सभी की सम्राज्ञी मानी जाती थी–

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः[42] **॥**

पाणिग्रहण करते समय पति गृहधर्म (गार्हपत्य) के संचालन व निर्वाह के लिए प्राप्त पत्नी को अपना सौभाग्योदय मानता है एवं देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है–

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥[43]

इसीलिए उस सहचारिणी को ही गृह-लक्ष्मी कहा गया है[44] ।

अपने गृहकर्त्तव्य के प्रति भी सहधर्मचारिणी पूर्णतया सजग थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में वह स्वयं को अपने घर की विजयपताका, गृहकर्म रूप शरीर का मस्तक, शत्रुओं के प्रति प्रचण्ड व विवाद में निपुण बताती है तथा आशा करती है कि उसका पति भी घर में उसकी योजना के अनुसार ही कार्य करे–

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः संहानाया उपाचरेत्[45] ॥

वह घर को अपने बोलने का स्थान मानती है तथा पति के वाग्वर्चस्व का स्थान जनसभाओं को बताती है–

अहं वदामि नेत् त्वं सभायां महत्त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तमाश्चन[46] ॥

इस प्रकार पति व पत्नी का कार्यक्षेत्र व कार्य का स्वामित्व विकसित होने एवं परस्पर कार्यों में हस्तक्षेप न करने से, वस्तुतः दोनों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता था और दोनों की तेजोवृद्धि भी होती थी।

चेतन प्राणी की प्राणवत्ता एक ओर स्वयं को नियन्त्रित-मर्यादित करने में है तो दूसरी ओर अपनी क्षमता के अनुसार निर्धारित सीमा से बाहर निकलकर अपनी शक्ति और प्रभाव के प्रदर्शन में भी है। यदि यह सीमा का अतिक्रमण किसी प्रकार की सामाजिक हानि या दुर्व्यवस्था को उत्पन्न नहीं करता हो तो उसे उत्तम माना जाता है। वैदिक वाङ्मय में ऐसे भी अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं कि घर के बाहर अनेक कार्यों में अपने पतियों को सहयोग कर पत्नियों ने सहधर्मचारिता का सम्पादन किया है। पुरोहित अगस्त्य के यजमान राजा खेल की पत्नी विश्पला का उत्साह व शूरता उसे गृहकार्यों में ही संलग्न न बनाये रख सकी। वह युद्ध में अपने पति की सहायता के लिए गई, जहाँ उसकी एक जाँघ टूट गई, जिसे बाद में देववैद्य अश्विनीकुमारों द्वारा जोड़ा गया था[47]। शत्रुओं को विजय करने वाले मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी ने शत्रुओं से युद्ध कर तथा उन्हें परास्त[48] कर एक हजार गायों को जीता था[49]। उल्लेख है कि दास नमुचि ने तो महिलाओं की एक सेना ही बनाई थी[50]। वृत्रमाता ने अपने पुत्र दनु की रक्षा करते हुए इन्द्र के हाथों वीरगति प्राप्त की थी[51]। ज्ञान के क्षेत्र में मैत्रेयी ने अपने पति से आत्म-तत्त्व के विषय में अनेक प्रश्न -प्रतिप्रश्न किये थे, जिनसे उसकी गहन जिज्ञासा व आध्यात्मिक चिन्तन प्रकट होता है[52]। ऋषियों की तरह अनेक ऋषिकाओं में भी वेद-मन्त्रों के दर्शन की पात्रता थी। रोमशा,[53] लोपामुद्रा,[54] अपाला,[55] घोषा,[56] इन्द्राणी,[57] उर्वशी[58] आदि अनेक ऋषिकाओं के ज्ञानदीप्त मन्त्र वेदसंहिताओं में नामतः उपलब्ध होते हैं। यहाँ केवल उन्हीं महिलाओं के नाम ही प्रस्तुत किये गये हैं, जो सहधर्मचारिणी हैं तथा 'धर्म' शब्द के विशेष अर्थ–'कर्त्तव्य कर्म' की दृष्टि से जिन्होंने व्यापक रूप से परिवार व समाज में पुरुषों के तुल्य ही कार्य करते हुए पतियों के साथ सहधर्मचारिता का पूर्ण निर्वाह किया है।

वैदिक युग में पति-पत्नी की दो अर्धताओं के मेल से ही उस प्रकार की पूर्णता मानी गई है जैसे दो समान दलों से दाल का दाना बनता है–

तस्यादिदमर्धं वृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः[59] ।

आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वगत ब्रह्म ने सर्वप्रथम स्वयं को जिन दो रूपों में परिणत किया था, वे थे–पति व पत्नी–

स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्[60] ॥

सृष्टि के विकास व विस्तार के लिए वह एकाकी ब्रह्म समर्थ नहीं था । अतः उसने दूसरे रूप की इच्छा की, जिससे स्त्री और पुरुष का संयोग हुआ–

स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् ।

स हैतावानास यथा स्त्री पुमानसौ सम्परिष्वक्तौ[61] ॥

ऋग्वेद के 5/61/8 मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने पति-पत्नी को एक ही वस्तु के दो अर्ध भाग बताते हुए दोनों को समान कहा है । साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि समस्त धार्मिक व लौकिक कार्यों में उनका समान भाग व महत्त्व है[62] । कात्यायन-श्रौतसूत्र में कहा गया है कि पति-पत्नी–दोनों में अन्यान्य की अपेक्षा से कोई वैशिष्ट्य नहीं है, इसलिए भी वे दोनों समान ही हैं–

स्त्री चाविशेषात्[63] ॥

भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि स्त्री अग्निहोत्रादि कर्मों में अधिकार रखती है क्योंकि उसमें भी स्वर्गकामता होती है और यज्ञ-सम्पादन के लिए वह धन-परिग्रह कर सकती है–"स्त्री च अग्निहोत्रादिकर्मस्वधिकारिणी भवति । कुतः अविशेषात् ।......अतो न पुरुषस्यैवाधिकारः किन्तु स्त्रिया अपि । अथवा अविशेषात् इति स्वर्गकामत्वाविशेषादित्यर्थः, तदुक्तं जैमिनिना–फलोत्साहाविशेषादिति[64] । पति-पत्नी के द्वैत में भी अद्वैत होने से भाषा में भी उनके लिए एक ही वाचक शब्द का प्रयोग–दम्पती, जम्पती, जायापती व भार्यापती आदि होने लगा[65] । यहाँ तक कि माता-पिता के लिए 'पितरौ'[66] तथा सास-ससुर के लिए 'श्वशुरौ'[67] पद का प्रयोग होने लगा । पति-पत्नी की यह एकता बाद में तो नर-नारी की तुल्यता व एकता के रूप में इतनी व्यापक हो गई कि भाषा में भाई-बहिन के लिए 'भ्रातरौ'[68] तथा पुत्र-पुत्री के लिए 'पुत्रौ'[69] पद का प्रचलन हो गया । वेदकालीन नारी के सम्बन्ध में भगवत शरण उपाध्याय ने श्री ए. महादेव शास्त्री का यह सारभूत वाक्य उद्धृत किया है, जो सर्वथा समीचीन है–

Woman is to be man's Comsade in life, his Sakhi with the same range of knowledge and interests, mature in body, mind and understanding, able to enter into a purposeful union on equal terms with a man of equal status as life partner, of her own free choice, both dedicating their life, work in service to the Divine Lord of the univerce, both ready to fulfil the purpose of married life from the very day of marriage onwards.[70]

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में साक्षात्कृत धर्म वाले ऋषियों द्वारा स्त्री व पुरुष के सम्बन्ध में जिस सत्य का दर्शन व प्रतिपादन किया गया वह नित्य है। परवर्ती ऐतिहासिक परिस्थितियों में यद्यपि इस मान्यता से हमारे व्यवहार में कुछ विचलन उत्पन्न हुआ था किन्तु वे सब सत्यानुभव व सत्याचरण में प्रतिबन्धक कारण ही कही जा सकती हैं। परिस्थितियों की धूलि सत्य की मणि को कुछ समय तक धूमिल कर सकती है किन्तु उसकी दीप्ति को विनष्ट नहीं कर सकती, उसे स्वरूप से च्युत नहीं कर सकती। अतः मोह की झंझा के समाप्त हो जाने पर आज विश्व-नारी पुनः अपनी पुरातन प्रतिष्ठा और गरिमा को प्राप्त कर रही है एवं कालान्तर में उसका यही सहधर्मचारिणी रूप समादृत होकर निश्चय ही लोकमंगल को करेगा तथा मानव-समाज को अभ्युदय (अर्थ व काम) एवं निःश्रेयस की प्राप्ति करायेगा।

●

---

1. वसिष्ठधर्मसूत्र, 13/17।
2. तैत्तिरीयोपनिषद्–शिक्षावल्ली, 1/11।
3. शब्दकल्पद्रुम, तृतीय भाग, पृ. 691।
4. ऋग्वेद, 10/67/10-11।
5. अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत, सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्। –बृहदारण्यकोपनिषद्, 6/4/17।
6. द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनां अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्षचर्येति। –वीरमित्रोदयः।
7. घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषत् निषत्।
   ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः॥
   इन्द्राणी वेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
   लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती॥
   श्रीर्लक्ष्मीः सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
   रात्रिः सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरते॥ (बृहद्देवता, 24/84-86)
8. ऋग्वेद, 2/17/7।
9. वही, 3/31/1-7।
10. भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्॥
    एवमुभौ लोकावभिजयति॥–आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2/8/20/22-23।
11. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत॥–वही, 2/5/11/12।
12. ऋग्वेद, 10/90/16।
13. वही, 10/21/3।
14. वही, 10/92/2।

15. धर्मस्यानेकेऽर्थाः । स्वरूपमित्यत्रैकोऽर्थः, यथा अग्नेर्धर्म उष्णत्वम् । एतदेव चाग्नेः स्वरूपम् ।.....कर्त्तव्यमिति धर्मस्यान्योऽर्थः । .....व्यवस्थेति धर्मस्यान्योऽर्थः ।–काव्यसत्यालोकः, डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, पृ. 77-78 द्रष्टव्य-धर्मशास्त्र का इतिहास (पी. वी. काणे) प्रथम भाग, पृ. 3-4 ।
16. (i) स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पंचानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतग्रहाणामेतेषां च ॥
–गौतमधर्मसूत्र, 8/15 ।

(ii) वैखानस-गृह्यसूत्र, 2/2/6 ।.
17. अथर्ववेद, 20/135/5 ।
18. अष्टाध्यायी, 4/1/33 ।
19. शुद्धाः पूताः योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् वः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥
शुद्धाः पूताः योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादनामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान् स ददादिदं मे ॥
–अथर्ववेद, 11/1/17, 27 ।
20. अथर्ववेद, 14/2/52 ।
21. (i) वही, 14/2/25 (ii) वही, 14/2/18 ।
22. अभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीति । समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति ।
–शतपथब्राह्मण, 3/5/4/1 ।
23. पत्नी अर्धांगिनी । अथोऽर्द्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी ।
–तैत्तिरीयब्राह्मण, 3/3/5 ।
24. अर्धो ह वैष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते, असर्वो हि तावद्भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति सर्व एतां गतिं गच्छानीति ।
–शतपथब्राह्मण, 5/1/6/10 ।
25. या वा इयं वेदिः सप्तविधस्य । एषा वेदे मात्रा स देवजनमध्यवसायपूर्वया द्वारा पत्नी शालं प्रपद्य गार्हपत्या-योद्धत्यावोक्षति । –शतपथब्राह्मण, 10/2/3/1 ।
26. वही, 1/1/4/13 ।
27. वही, 14/3/1/35 ।
28. आपस्तम्बश्रौतसूत्र, 12/5 ।
29. शतपथब्राह्मण, 5/1/6/10 ।
30. अथर्ववेद, 14/1/51 ।
31. संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति ॥ –गौतमधर्मसूत्र, 4/7 ।
32. ऋग्वेद, 10/27/12 ।
33. वही, 1/119/5 ।
34. ऐतरेयब्राह्मण, 8/3/13 ।
35. अथर्ववेद, 3/30/6 ।
36. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/8/13 ।
37. कुमारसम्भव, 5/39 ।

38. जायापत्योर्न विभागो दृश्यते ।—अथर्ववेद, 3/30/16,
--आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2/6/14/16 ।
39. (i) आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वो संनह्यास्वामृताय कम् ॥ –अथर्ववेद, 14/1/42 ।
(ii) पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
–अथर्ववेद, 14/1/90 ।
40. (i) ऋतस्य पथा प्रेत. ॥–यजुर्वेद, 7/45 ।
(ii) ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥–ऋग्वेद, 9/73/6 ।
41. ऋग्वेद, 3/53/4 ।
42. अथर्ववेद, 14/1/43-44, द्रष्टव्य–ऋग्वेद, 10/85/46 ।
43. वही, 14/1/50 ।
44. (i) श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः ।–तैत्तिरीयब्राह्मण, 2/9/4/7 ।
(ii) अन्तःकोशमिव जामयोऽपि ।–अथर्ववेद, 1/14/4 ।
45. ऋग्वेद, 10/159/2 ।
46. अथर्ववेद, 7/38/4 ।
47. (i) याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीळह आजावजिन्वतम् ।
याभिर्वशमश्व्यं प्रेणिमावतं ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम् ॥
(ii) युवं धेनुं शयने नाधितायापिन्वतमश्विना पूर्वाय ।
अमुञ्चतम् वर्तिकामंहसो निः प्रति जंघां विश्पलाया अधत्तम् ॥
–ऋग्वेद, 1/112/10, 1/118/8 ।
48. तेन सूभर्वं शतवत् सहस्रं गवां मुद्‌गलः प्रधने जिगाय ।
–ऋग्वेद, 10/102/5 ।
49. उत स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत् सहस्रम् रथीरभून्मुद्‌गलानी गविष्टौ करे कृतं व्यचेदिन्द्रे सेना ॥ –वही, 10/102/2 ।
50. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेना अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद् युधये दस्युमिन्द्रः ॥ –वही, 5/30/9 ।
51. नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥–वही, 1/32/9 ।
52. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4 ।
53. ऋग्वेद, 1/26/7 ।
54. वही, 1/179/1-2; यजुर्वेद, 17/11-15, 36/20 ।
55. वही, 8/91 ।
56. वही, 10/39-40 ।
57. वही, 10/86/2-6, 9-10, 15, 18; 10/145; अथर्ववेद, 20/126 ।
58. वही, 10/95/2, 4, 5, 7, 11, 13, 15, 16, 18 ।
59. शतपथब्राह्मण, 14/4/2/5 ।
60. वही, 14/4/2/5 ।
61. वही, 14/4/2/4 ।

62. जायापत्योर्मिलित्वैककार्यकर्तृत्वादेक एव पदार्थः। अर्धं शरीरस्य भार्या इत्यादि स्मृतेः।

–ऋग्वेद (द्वितीयभाग), पृ. 929

(वैदिक संशोधन मण्डल प्रकाशन)

63. कात्यायनश्रौतसूत्र, 1/1/7।

64. भाष्य–कात्यायनश्रौतसूत्र–अल्बर्ट वेवर सम्पादित, पृ. सं. 9-10।

65. अमरकोश, 16/38।

66. वही, 16/37।

67. वही, 16/37।

68. वही, 16/36।

69. वही, 16/37।

70. Women in Rigveda, page. 128।

"सममातर्" : ऋग्वेद की एक लुप्त सामाजिक एवं विधिशास्त्रीय संस्था

डॉ. सत्यपाल नारंग

यद्यपि ऋग्वेद जैसे अतिप्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध कुछ सामाजिक तत्त्वों का पुनर्निर्माण समीचीन प्रतीत नहीं होता तथापि कुछ प्रथाएँ एवं संस्थाएँ जिनका निस्सन्देह प्रचलन था और जो कालक्रम से लुप्त हो गईं, आज भी किसी न किसी रूप में भारतवर्ष में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ नाम्ना धर्मशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र में सुरक्षित नहीं हैं। मध्यवर्ती साहित्य, कथाओं के प्रतीक तुलनात्मक भाषा में उपलब्ध शब्द तथा लोक में प्रचलन उनकी पुष्टि कर सकता है। प्रस्तुत लेख में "सममातर्" नामक एक संस्था का उल्लेख है, जिस पर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया।

ऋग्वेद 10.117.9–

(अ) समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः

(आ) सम्मातरा चिन्न समं दुहाते

(इ) यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि

(ई) ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः।

उपर्युक्त मन्त्र की चारों पंक्तियों में सम् अथवा सम विभिन्न अर्थों की प्रतीति सन्दर्भ के अनुसार करते प्रतीत होते हैं। इनके अर्थ इस प्रकार से हो सकते हैं–

(अ) हाथ एक जैसे होते हुए भी समान स्थान पर नहीं होते,

(आ) सममातर् (अथवा सौतेले भाई जिनकी माताएँ भिन्न हैं परन्तु पिता एक है) एक ही स्तन से पान नहीं करते,

(इ) जुड़वाँ भाईयों की शक्तियाँ एक जैसी नहीं होती,

(ई) ज्ञाति होते हुए भी एक जैसे धन को प्राप्त नहीं करते।

सन्दर्भ समाज में विषमता को अभिव्यक्त करता है।

इस लेख का मुख्य उद्‌देश्य द्वितीय पंक्ति (आ) की व्याख्या है जो चतुर्थ (ई) पंक्ति के साथ न केवल सामाजिक विषमता के अर्थ को अभिव्यक्त करता है परन्तु ज्ञातियों के विषम भाग को भी। यद्यपि समाजशास्त्रियों, विधिशास्त्रियों तथा ऋग्वेद के व्याख्याकारों ने पैतृक संस्था का प्रतिपादन किया है तथापि प्रतीत होता है कि वास्तविक कानून में तथा सम्पत्ति विभाजन के विषयों में

मातृप्रधान कानून भी प्रचलित था। मन्त्र प्रत्यक्षतः प्रतिपादित करता है कि यद्यपि हाथ, जुड़वाँ भाई तथा ज्ञाति रूप रचना में तथा संयुक्त परिवार में एक जैसे होते हैं तथापि समाज में उन्हें समानता प्राप्त नहीं है। इसीलिए उपर्युक्त सूक्त में धन तथा अन्न के विभाजन का विधान है और सूक्त के ऋषि हैं भिक्षु, जो सम्भवतः समाज में समान विभाजन (√भज् < भिक्षुः) पर बल देते हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भ की द्वितीय एवं चतुर्थ पंक्ति के इकट्ठे पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि विषय सम्पत्ति के विषम विभाजन की समस्या से सम्बद्ध है जहाँ संयुक्त परिवार में समजाति (= ज्ञाति < √जन्) के धनभागी अथवा ज्ञातियों को समान सम्पत्ति नहीं मिलती, अतएव वे विभाजन पर असन्तुष्ट रहते हैं (न + √पृ)। इसका कारण द्वितीय पंक्ति में सन्निहित है जहाँ सौतेले भाई, जिनके पिता एक हैं परन्तु माताएँ अलग-अलग हैं (सममातर् का अनुवाद आङ्ग्ल भाषा में Parallel mother के अधिक निकट पड़ता है)। समान माता अर्थ ग्रहण करने से अर्थ ठीक नहीं बैठता क्योंकि सौतेले भाई ही समान स्थान से स्तनपान नहीं करते[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में सममातर् शब्द एक कानूनी व्यवस्था को अभिव्यक्त करता है जहाँ सम्पत्ति के विभाजन में माताएँ भी अपने पुत्रों को अधिकार दिलाने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करती थीं। यह व्यवस्था केवल ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है। अथर्ववेद में इसका अर्थ भिन्न हो गया। सम्भवतः यह प्रथा कुछ काल तक ऋग्वेद में सम्पत्ति विभाजन के अर्थ में परिचलित थी तदनन्तर लुप्त हो गई। इस मत की पुष्टि केवल कल्पना पर आधारित नहीं है। आज भी इसी अथ में पंजाब में (पंजाबी भाषा = हमातड़) यह व्यवस्था सुरक्षित है जिसे मूलतः ईरान से, जहाँ ऋग्वेद का किसी न किसी रूप में प्रचलन बहुत काल तक रहा, लिया गया है। रामायण एवं महाभारत तथा अनेक पुराणों की कथाओं के साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि जिसकी माता संयुक्त परिवार में सशक्त होती थी, वह सम्पत्ति का अधिक भाग जैसे राज्य पाता था और पैतृक सम्पत्ति परम्परा के अनुसार वैध उत्तराधिकारी (जैसे राम, ध्रुव इत्यादि) को न केवल सम्पत्ति के अधिकार से युक्त रखने का प्राविधान है परन्तु उन्हें वन इत्यादि भी भेजा जा सकता है ताकि उत्तराधिकार निष्कण्टक रहे। इस संस्था पर नैतिक मूल्यों का आवरण लगाकर इसे 'वरदान' इत्यादि नाम दे दिए गए।

ऋग्वेद में

ऋग्वेद 10.17.9 में भिक्षु ऋषि हैं तथा धनान्नदान प्रशंसा देवता है। सूक्त के ऋषि से प्रतीत होता है कि ऋषि सम्भवतः इस संस्था से प्रताड़ित होकर भिक्षु की स्थिति में पहुँच गया जो धन के विभाजन की प्रशंसा करता है तथा अकेले खाने वाले को पापी घोषित करता है। इसका नैतिक अभिप्राय यही है कि इस प्रकार की स्थिति में रहने वाले लोग और निर्धन न हो जाँय।

सायणाचार्य ने इसका अर्थ "बछड़ों की माता" किया है, जो सम्भवतः √दुह् धातु के स्थूल अर्थ को लेकर प्रवृत्त हुआ है। उनके अनुसार–"**यथा सममातरा वत्सस्य मातरौ धेनू समेऽपि समं समानं पयो न दुहाते**" अर्थात् जिस प्रकार से वत्स की दो माताएँ धेनु (सममातरा) एक जैसा दूध नहीं देतीं–किसी

अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता क्योंकि बछड़े की दो माताएँ कहाँ हैं ? परन्तु दो माताएँ एवं समान दूध न देना सम्बद्ध तत्त्व हैं जिनका सम्बन्ध प्रस्तुत वैधानिक संस्था से जुड़ा हुआ है। सायणाचार्य के काल तक इसका वैधानिक अर्थ लुप्त हो चुका था। यह अर्थ न तो कोशों में तथा न ही धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में सुरक्षित रहा। इसीलिए सायणाचार्य को बछड़ों की उपमा को लाना पड़ा जो मूल अर्थ से अलग था। निस्सन्देह सब सन्दर्भों को एकत्रित करने से 'असमानता' के अर्थ की प्रतीति होती है। दुह् धातु के लक्ष्यार्थ से भी इसी अर्थ की प्रतीति होती है और अर्थ होगा जहाँ समान माताओं वाले बालक (जिनके पिता एक हैं) समान दूध प्राप्त नहीं करते। अथवा इसका एक अर्थ अन्य हो सकता है जिनकी समान माता होने पर भी समान दूध प्राप्त नहीं करते। यह प्रस्तुत की विषमता के अर्थ में अप्रासङ्गिक है। यह तभी सम्भव है जब माताएँ भी अलग-अलग हों तथा स्तन्य भी अलग-अलग हों। धर्मशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ में विभाजन के सन्दर्भ में इसे उद्धृत नहीं किया गया। अथर्ववेद 8.7.27 में "सम्मातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये", जिसे विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट की अनुक्रमणी में सम्मातृ-तरः में प्रविष्टि दी गई है। यहाँ ऋषि अथर्व हैं तथा देवता भैषज्य, आयुष्य तथा ओषधयः हैं। पूरा सन्दर्भ औषधि तथा उसके गुणों को अभिव्यक्त करता है और ऋग्वेद के अर्थ के साथ इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यहाँ अर्थ है "जैसे अच्छी माताएँ शुभ के लिए दूध देती हैं"। कालिदास ने भी कुमारसम्भव 1.2 में भी दुह् धातु का लाक्षणिक प्रयोग महौषधियों के सन्दर्भ में किया है जो इस बात की पुष्टि करता है कि दुह् धातु का 'दोहना' अर्थ आवश्यक नहीं था। भारतीय परम्परा में इस उपमा का प्रयोग ठीक प्रकाश में किया जाना चाहिए। अथर्ववेद 13.1.10 (4) "सममाता वत्सो अभ्येतु रोहितः" जो तैत्तिरीयब्राह्मण 2.5.2.2 में पुनरुक्त है, पर सायणाचार्य ने अर्थ किया है;सब प्राणियों का निर्माता (सम्माता ग्ग सम्यङ्निर्माता)। परन्तु ह्विटने का अनुवाद "अपनी माताओं के साथ वत्स" मूल अर्थ के अधिक निकट है। उनकी टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है–सम्मातर का अर्थ है–"समान माता वाला"; परन्तु यह अर्थ प्रासङ्गिक एवं अज्ञात होने के कारण हम इसका अर्थ कर सकते हैं "अपनी माताओं के साथ वत्स"।

अथर्ववेद 13.2.13–

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संम्मातराविव
नन्वे तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विंदुः॥

यहाँ ऋषि ब्रह्मा हैं तथा देवता अध्यात्मम् रोहितः तथा आदित्यः। श्रॉडर ने इसका अर्थ काल के सन्दर्भ में किया है[2]। उनके अनुसार "तुम काल का विभाजन करते हो जैसे पुत्र के झगड़े पर माताएँ विभाजित हो जाती हैं"। मैत्रायणी-संहिता 2.5.4 में इसका प्रतीकात्मक अर्थ उपलब्ध होता है। द्यावापृथिवीयें धेनूं सम्मातरा आलभेतान्नकामः। यहाँ भी दो माताओं का प्रतीकात्मक अर्थ अर्थात् द्यावापृथिवी उपलब्ध होता है। सम्मातरा पर स्वराङ्कन ऋग्वेद के 10.117.9 के समान ही है। इससे भी ऋग्वेद के अर्थनिर्धारण में सहायता मिलती है कि वहाँ इसका अर्थ दो माताओं से होना चाहिए जैसा मैत्रायणी संहिता में है।

काठक 13.7 में न केवल प्रतीकात्मक अर्थ की प्रतीति होती है अपितु यह व्याख्या भी मिलती है कि उन्हें दो माताएँ क्यों कहा जाता है ? इसमें उनके कल्याण-पक्ष को ग्रहण किया गया है क्योंकि वे हमें अन्न इत्यादि देती हैं[3] । वाजसनेयी संहिता पाठान्तर के साथ सवातरौ पाठ देती है, जो तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में भी उपलब्ध होता है। सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या एक बछड़े[5] वाली की है। लूमफील्ड एवं एडजर्टन ने कई शब्दों का संकलन किया है जिनमें व् एवं म् अन्तःपरिवर्तित होते हैं[6] । इस नियम के अनुसार भी सवातरौ सम्मातरौ ही होना चाहिए।

निष्कर्ष–प्रथम

उपर्युक्त वैदिक मन्त्रों के विश्लेषण से प्रथम निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद में यह शब्द सामाजिक संस्था के अर्थ में सुरक्षित है जहाँ बहुविवाहप्रथा में माताएँ सम्पत्ति विभाजन में सक्रिय थीं तथा सौत के बच्चों को अपने भाग ग्रहण करने के लिए संघर्ष करना पड़ता था। ज्ञातियों में भाग की विषमता के कारण माताएँ अपने-अपने बच्चों के लिए अधिक भाग की चेष्टा करती थीं। परिवार के मुखिया के निर्बल होने पर सौतेले बच्चों को उनके भाग से पूर्णतः वंचित करने की चेष्टा भी होती थी।

व्याकरण परम्परा में

पाणिनि के सूत्र 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' (अष्टाध्यायी 4.1.115) में उदाहरण बनते हैं– द्वैमातुर, षाण्मातुर, साम्मातुर तथा भद्रमातुर, जिनका क्रमशः अर्थ है दो माता वाले, छः माता वाले, सौतेली माता वाले तथा भद्रमाता वाले। पाणिनि का क्रम केवल आनुषङ्गिक नहीं है परन्तु बहुविवाहप्रथा अनेक माताओं की संस्था को अभिव्यक्त करती है जो कि ऋग्वेद में उपलब्ध होती है। भद्रमाता अथर्ववेद में उपलब्ध होती है। काशिका ने वैमातुर शब्द का भी संकलन किया है जो संस्था वाली है तथा जिसे द्वैमातुर से भी निष्पन्न किया जा सकता है यद्यपि इसकी व्युत्पत्ति वि+मातर् से मानी गई है।

निष्कर्ष–द्वितीय

संस्थावाची इस शब्द को हरदत्त ने काशिका की व्याख्या पदमञ्जरी में वैधानिक अर्थ में ही ग्रहण किया है।

मोनियर विलियम्ज़ ने संस्कृत-अंग्रेजी-कोष (पृ. 1180) पर एक माता वाले अथवा जुड़वें अर्थ किया है जो पश्चाद्वर्ती संस्कृत कोश परम्परा का अनुसरण करता है। हेमचन्द्र ने अनेकार्थ- सङ्ग्रह[7] में भी इसे "दो माताओं वाले" पात्रों पर घटाया है तथा क्षीरस्वामी[8] ने अमरकोष पर इसका अर्थ देवतापरक ही किया है।

समस्या के विश्लेषण के लिए निम्नलिखित विषयों पर विचार आवश्यक है–

(अ) क्या भारतीय समाज में बहुपत्नीप्रथा थी ?

(आ) क्या भारतीय स्त्रियों को विशेषतः ऋग्वेद में सम्पत्ति का अधिकार था ?

(इ) क्या स्त्रियाँ सम्पत्ति विभाजन में अपनी शक्ति का प्रयोग करती थीं ?

(ई) इस शक्ति के प्रयोग के लिए उपयुक्त समय क्या था ?

(उ) क्या इस संस्था का ज्ञान ऋग्वेद के परिप्रेक्ष्य में भारोपीय समाज को था ?

इस समस्या का समाधान भारोपीय विचारधारा विशेषतः शब्दावली के आधार पर किया जा सकता है। रामायण, महाभारत, पुराण तथा धर्मशास्त्र के कई भागों में तत्त्व विकीर्ण हैं जो उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए उपादेय हैं। याज्ञवल्क्य एवं मिताक्षरा में संयुक्त हिन्दू परिवार पर व्याख्या जो सप्तसिन्धु अथवा पंजाब में भी वैधानिक व्यवस्था रही है महत्त्वपूर्ण लोकप्रचलित व्यवस्था प्रदान करती है। यह व्यवस्था आजकल भी पंजाब में प्रचलित है। इन सब तत्त्वों के समन्वित अध्ययन से सममातर् संस्था की समस्या हल हो सकती है।

(अ) बहुपत्नीप्रथा–

राऊ[9] के विश्लेषण के अनुसार ब्राह्मण साहित्य में सर्वत्र बहुपत्नीप्रथा उपलब्ध होती है। श्रॉडर एवं ज़िम्मर के अनुसार इस प्रथा का क्रमशः प्रचलन भारोपीय एवं ऋग्वेद समाज में था। हरिश्चन्द्र वैधस ऐक्ष्वाक की सौ पत्नियाँ थीं, सोम का प्रजापति की तैंतीस पुत्रियों से विवाह, मनु की दस पत्नियाँ, याज्ञवल्क्य एवं वाजश्रवस् की दो-दो पत्नियाँ थीं। सम्पत्ति विभाजन का मुख्य आधार जातिप्रथा भी था[10]। मीयर[11] ने प्रदर्शित किया है कि वैधानिक, अवैधानिक साहित्य, इतिहास, पुराण एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में बहुपत्नीप्रथा प्रचलित थी। लुड्विग स्टर्नबॉख़ के अनुसार याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र में बहुपतिवाद प्रचलित नहीं है परन्तु बहुपत्नीवाद प्रचलित था जिसका मुख्य आधार जातिवाद था[12]।

सपत्नियों का परस्पर व्यवहार–

यद्यपि कामसूत्र[13] में बहुत पत्नियाँ होने पर समव्यवहार की व्यवस्था प्रदर्शित की गई है तथापि इस प्रथा से तैयार होने वाला वातावरण भयङ्कर था जो ऐसी प्रथा से नैसर्गिक अपेक्षित है। कई ग्रन्थों के आधार पर मीयर[14] ने उन मनःस्थितियों का विश्लेषण किया है जो घर में परेशानी पैदा कर देती थीं। संयुक्त परिवार में प्रत्येक पत्नी वही चाहती है जो उसकी सपत्नी के पास है। ईर्ष्या का तत्त्व प्रागैतिहासिक काल में नहीं था परन्तु संस्कृति के विकास के साथ-साथ इस तत्त्व का भी विकास हुआ[15]। जातकों में[16] प्रतियोगी के प्रति रोष उपलब्ध होता है। ईर्ष्या स्त्री को यक्खिनी बना देती है जो घृणा से अनिच्छित स्त्री के शिशुओं को खा जाती है[17]। यदि पचास स्त्रियों में से एक को प्रेम किया जाए तो उनचास घृणा एवं ईर्ष्या से भर जाती हैं। इस सन्दर्भ में कालिदास का मालविकाग्निमित्र तथा दण्डी का दशकुमारचरित[18] भी उद्धृत हैं।

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए अनेक उदाहरण इतिहास एवं पुराणों में उद्धृत हैं। कौशल्या का राम से रोष है[19] कि वन्ध्या का आन्तरिक दुःख एक ही होता है अन्य नहीं। मुझे अपने पति से कौन सा सुख मिला ? मैं उस सुख को अपने पुत्र राम में देखना चाहती थी और इसी आशा पर जीवित थी। यद्यपि पद में मैं सबसे ऊँची हूँ तथापि मुझे **अपनी सपत्नियों से अनिष्ट शब्द सुनने को मिलेंगे,** इससे और अधिक दुःखदायी क्या हो सकता है ? तुम्हारे यहाँ रहते हुए भी मैं प्रत्यादिष्ट पत्नी थी। तुम्हारे जाने के बाद तो न जाने क्या होगा। मेरे लिए मृत्यु ही निश्चित है। यद्यपि मैं

कैकेयी से ऊँची न सही, बराबर तो हूँ, उसकी दासी ने मुझे हमेशा दबाया है, मेरे पति ने मेरा प्रेम अथवा आदर नहीं किया। यह बात सत्रह वर्ष से है जब से तुम पैदा हुए हो। मैं चाहती थी कि यह व्यवहार समाप्त हो जाए। मेरी सपत्नियों ने मेरे साथ कितना दुर्व्यवहार किया। इसे मैं अब बिल्कुल सहन नहीं कर सकती यदि मैं तुम्हारा चाँद जैसा मुँह न देखूँ।

निष्कर्ष–तृतीय

पत्नियों का परस्पर व्यवहार. इतना भयङ्कर था कि न केवल सपत्नियाँ परन्तु उनकी दासियाँ भी उन्हें घृणा की दृष्टि से देखती थीं। सम्भवतः हर्षचरित (पञ्चम उच्छ्वास) की यह पंक्ति सार्थक ही है कि वह अपने पैर को सपत्नियों के सिर पर रखती थी[20]। इससे राजपरिवार की स्त्रियों की दुर्दशा का आभास मिलता है। देवयानी एवं शर्मिष्ठा की कथा में भी ययाति शर्मिष्ठा को प्रेम करता था न कि देवयानी को[21]।

सपत्नियों का शिशुओं पर प्रभाव–

अभिप्रेत पत्नियों का आपस में दुर्व्यवहार तो था ही, अपने बच्चों को सम्पत्ति दिलाने के लिए भी वे अपने व्यवहार का प्रयोग अपने पतियों पर करती थीं। अपने बच्चों को सम्पत्ति दिलाने के अतिरिक्त सपत्नियों के बच्चों के साथ ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार अज्ञात नहीं है। सपत्नियों के बच्चों को घर से निकालना भी उनकी इच्छाओं में से एक था। यह विशेष रूप से पति के वृद्ध हो जाने पर अधिक था जब उसका अधिकार अपनी सम्पत्तियों पर कम हो जाता था। इसीलिए पिता की वृद्धावस्था युवक पुत्रों के लिए विभाजन का काल धर्मशास्त्र में स्वीकृत है। उसका न ही अपने पुत्रों पर और न ही पत्नियों पर अधिकार रहता था जिनके हाथ में सम्पत्ति वास्तविक रूप में चली जाती थी। 'वर' के प्रतीक को भी आनुबन्धिक विवाह के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जहाँ पत्नी अपनी शर्तों पर विशेषतः अपने पुत्र को राज्य दिलाने की शर्त पर विवाह करने को तैयार होती थी। यद्यपि बड़े लड़के का ही राज्य पर वैध अधिकार होता था तथापि परिस्थितियाँ उसे राज्य छोड़ने के लिए तथा पिता के लिए त्याग करने को बाध्य करती थीं। शकुन्तला[22], मत्स्यगन्धा, कैकेयी तथा ध्रुव[23] की कथाएँ इस संस्था को निस्सन्देह प्रमाणित करती हैं।

निष्कर्ष–चतुर्थ

यद्यपि राज्यसत्ता का वैधानिक उत्तराधिकारी सबसे बड़ा पुत्र होता था तथापि इस नियम का अतिक्रमण करके किसी भी पुत्र को राज्य देने का पिता का अधिकार था। सशक्त एवं अभिप्रेत पत्नी अपने पुत्र को राज्य दिलाने के लिए अपनी विधाओं का प्रयोग करती थी। इतिहास-पुराण में भी यह संस्था केवल आनुसंगिक नहीं है परन्तु सम्मातृ संस्था की पृष्ठभूमि में लोक-विधान के माध्यम से सङ्क्रान्त हुई है जिसकी धर्मशास्त्र के नियमों के साथ-साथ वास्तविक सत्ता चलती रही। यद्यपि इसे पैतृक सम्पत्तिवादी शास्त्रों ने स्थान नहीं दिया।

धर्मशास्त्र में सम्पत्ति नियम

पिता की मृत्यु के बाद सब वैध एवं अवैध पुत्रों को सम्पत्ति का अधिकार मिलता था। उनके भाग का निर्णय सम्पत्ति के विभाजन के समय किया जाता था। याज्ञवल्क्य के दायभाग तथा मिताक्षरा व्याख्या में (114 से) इसका विस्तार उपलब्ध होता है। सामान्यतः पैतृक-व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति पुरुष ज्ञातियों को मिलती थी। इस नियम में कहीं भी विवाद नहीं है। परन्तु सरस्वतीविलास के अनुसार वैश्यों एवं शूद्रों में पत्नी के भाग की व्यवस्था है जो दक्षिण भारत के नागपत्तनम् में आज भी प्रचलित है[24]। मातृभाग तथा पत्नीभाग व्यवस्था भी प्रचलित थी तथा डैरेट[25] के अनुसार यह विभाजन माताओं के आधार पर होता था। काणे के अनुसार बृहस्पति ने इन नियमों को समजाति एवं समसंख्या वाले पुत्रों पर माता के अनुसार घटाया[26] था। परन्तु जहाँ पुत्रों की संख्या विभिन्न हो जाती थी, विभाजन पैतृक प्रथा के अनुसार होता था। माताओं के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि गौतम ने सब माताओं में सबसे बड़े पुत्र के लिए उत्तम भाग की व्यवस्था की है[27]।

सोदर शब्द

मातृ-वैधानिक व्यवस्था के सन्दर्भ में सोदर शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह (सह+उदर) से मातृ-व्यवस्था को अभिव्यक्त करता है न कि पितृ-व्यवस्था को। मिताक्षरा ने सोदर एवं भिन्नोदर का भेद सम्पत्ति के सन्दर्भ में स्पष्ट दिया है। यदि सोदर तथा असोदर में विप्रतिपत्ति होती है तो सोदर ही अपने सोदर की सम्पत्ति का भागी होता है[28]।

माता का भाग

याज्ञवल्क्य[29] के अनुसार जब पुत्र पिता की मृत्यु के बाद अपनी सम्पत्ति का विभाजन करते हैं तो माता को भी समान अंश मिलता है। मिताक्षरा के अनुसार यह इस शर्त पर निर्भर है कि उसे स्त्रीधन मिला है अथवा नहीं। यदि स्त्रीधन दे दिया गया है तो वह आधे भाग की भागीदार है।

मिताक्षरा ने प्राचीन नियम को वृद्ध विष्णु के नाम से उद्धृत किया है जिसके अनुसार विधवा को सम्पत्ति मिलती है। कात्यायन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। परन्तु वृद्ध मनु एवं बृहस्पति इसके साथ अपुत्र को भी जोड़ते हैं[30]। नारद के वाक्य से प्रतीत होता है कि एतद्विषयक विरोध-विवाद प्रचलित था[31]। मिताक्षरा का उत्तरभारत के विधिशास्त्र पर बहुत अधिक प्रभाव है जहाँ यह विवाद काफी प्रचलित रहा होगा।

निष्कर्ष—पाँच

ऋग्वेद के मूलस्थान पंजाब में अनिबद्ध व्यवस्था में विधवा को सम्पत्ति का अधिकार था जिसे प्राचीन विधिशास्त्री स्वीकार करते हैं। कालक्रम से उसका यह अधिकार छिन गया और केवल उसे जीवनयापन का अधिकार प्राप्त हुआ। वह अधिकार भी पुत्रों की इच्छा पर निर्भर करने लगा। स्टर्नबाख के अनुसार "याज्ञवल्क्य-धर्मशास्त्र में स्त्रियों की वैधानिक सत्ता स्पष्ट नहीं है। अपने पति के जीवनकाल में वह उसके अधीन थी। माता के रूप में विशेषतः पुत्रवती माता के रूप में यद्यपि

वह पराधीन थी तथापि उसका स्थान काफी ऊँचा था। बहुत से वैधानिक कृत्य केवल उसकी सहमति से ही किए जा सकते थे। पिता के समान उसे भी आदरणीय स्थान प्राप्त था[32]।

सम्पत्ति नियम में विषमता

धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा दायभाग में विषमता को प्रदर्शित करती है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार विभिन्न स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों में से ज्येष्ठ की समस्या थी। अर्थशास्त्र ने बहुपत्नीप्रथा में ज्येष्ठ का निर्धारण कठोरता से "आयु के आधार" पर किया है। वह उनकी जाति अथवा शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता[33]। परन्तु बृहस्पति ने आयु, विद्या एवं अन्य शिक्षाओं के सिद्धान्त के आधार पर निर्णीत ज्येष्ठ के लिए दाय से दो भागों को स्वीकार किया है[34]।

निष्कर्ष—छः

विधिशास्त्रियों में ज्येष्ठ पुत्र के निर्णय के सिद्धान्तों में परिवर्तन करने की प्रक्रिया इस बात को प्रदर्शित करती है कि उनके अपने अभिप्रेत कार्य कर रहे थे। ऐसा भी प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ अपने बच्चों को ज्येष्ठ घोषित करवाने के लिए पति पर प्रभाव डालती थीं। **नानास्त्रीपुत्राणाम्** शब्द ऋग्वेद के सम्मातर् के समान ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सम्पत्ति के भाग के लिए वैधानिक समस्याएँ भी खड़ी करती थीं तथा सौतेले पुत्रों को न केवल निम्न उद्घोषित करवाती थीं परन्तु सम्पत्ति के स्थान से उनका बहिष्कार भी करवाती थीं। ऐसा ही रामायण में कैकेयी ने "वर" के माध्यम से किया।

पिता की वृद्धावस्था तथा सम्पत्ति की व्यवस्था

धर्मशास्त्र परम्परा पिता के वृद्ध हो जाने पर सम्पत्ति के विभाजन का प्रतिपादन करती है। इसके दो कारण हो सकते हैं–(अ) शारीरिक शक्ति के अभाव में उसका परिवार पर अनियन्त्रण, (आ) दायादों का विभाग के लिए बल देना क्योंकि पिता वृद्ध हो जाता था तथा माता के निवृत्तरजस्का होने से अन्य सन्तान की सम्भावना समाप्त हो जाती थी। इतिहास तथा पुराण की परम्परा प्रथम कारण की अधिक पुष्टि करती है क्योंकि पुत्र वयस्क हो जाते थे तथा वृद्ध पिता की युवती स्त्री से विवाह से यह समस्या उत्पन्न होती थी। पुत्र संयुक्त परिवार की व्यवस्था को यहाँ तक सम्भाल लेते थे कि पिता को भी आजीविका के लिए पुत्रों के आश्रित होना पड़ता था। आज भी यह प्रथा पंजाब में विशेष रूप से प्रचलित है जहाँ पुत्र पिता के साथ अल्पायु में ही काम करने लगते हैं और वास्तव में वे ही घर तथा व्यापार के स्वामी बन जाते हैं। अथर्ववेद 6.110.3 तथा 6.140.1 में इस प्रकार के कर्मकाण्ड उपलब्ध होते हैं, जो पुत्रों के माता-पिता के इस व्यवहार के परिहार के लिए हैं।

अथर्ववेद 6.110.3–

स मा वधीत् पितरं वर्धमानो
मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्।

अर्थात् वह वयस्क होकर अपने पिता को न मारे तथा जन्म देने वाली माता की हानि न करे।

अथर्ववेद 6.140.1–

यौ व्याघ्रावव॑रूढौ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च।
तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः॥

अर्थात् 'हे जातवेदस् ब्रह्मणस्पते ! जो आगे बढ़े हुए दो दान्त पिता एवं माता को मारना चाहते हैं उन्हें शिव करो'।

निष्कर्ष–सात

जब पिता वृद्ध हो जाता था तो संयुक्त परिवार में अराजकता आ जाती थी क्योंकि पिता का वयस्क पुत्रों पर अधिक अधिकार नहीं रह जाता था जिसे जो कुछ मिलता था अपने अधिकार में ले लेता था। इस समय स्त्रियाँ अपने जीवनयापन के साधनों को एकत्रित करने के लिए तथा अपने पुत्रों को अधिकार दिलाने के लिए सौतेले पुत्रों की आयु एवं गुणों की अवहेलना करती थीं। इसी को सम्मातर् संस्था की क्रियान्विति का काल कहा जा सकता है।

पारम्परिक कानून : स्टर्नबाख के अनुसन्धानों ने प्रदर्शित किया है कि व्यवहार में साहित्यिक कथाओं में पारम्परिक कानून भी सुरक्षित है जिसका साम्य धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की परम्पराओं से नहीं है। इस पारम्परिक कानून को मुख्य धारा से जोड़ने के लिए इसमें सतत धर्मशास्त्र के पद्य सम्मिलित किए जाते रहे[35]। यह निष्कर्ष ऋग्वेद पर भी घटाया जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में ऋग्वेद बहुत अधिक उद्धृत नहीं है और न ही ऋग्वेद के काल में कोई निश्चित धर्मशास्त्र की व्यवस्था ज्ञात थी।

भारोपीय समाज में सौतेली माता एवं पुत्र : बक्क के भारोपीय पर्यायकोश में सौतेले पिता के लिए तातयवीयान् बहुत बाद का है[36]। द्वैमातुर शब्द सौतेले भाई के लिए है जिसका शाब्दिक अर्थ है दो माताओं वाला जिसकी सङ्गति सम्मातर् के साथ बैठती है जिसे बक्क ने नहीं लिया। अन्य भारोपीय शब्दों में लेटिन में noverca (सौतेली माता) novus शब्द से है जिसका अर्थ है नया अथवा नई माता[37]। यह इस निष्कर्ष से भी मेल खाता है कि पिता विशेषतः राजा युवती एवं सुंदर स्त्रियाँ लाते थे तथा उसके लिए अन्य शब्दों का विकास भी हुआ[38]।

यह शब्द प्रस्तुत सन्दर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि संयुक्त परिवार में यह न केवल ज्ञातियों को अभिव्यक्त करता है परन्तु शनैः शनैः संयुक्त परिवार के सदस्यों के अर्थ में भी संक्रान्त हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि भारोपीय बहुपत्नीप्रधान संयुक्त परिवार व्यवस्था में अनेक पत्नियों के पुत्रों के सम्मिलित समूह का ही नाम 'परिवार' था इसीलिए इसकी व्युत्पत्ति 'एक स्थान से न दुग्धपान करने वाले' न केवल सामाजिक व्यवस्था को अभिव्यक्त करते हैं परन्तु कालान्तर में ऋग्वेद के "सम्मातरा चिन्न समं दुहाते" जैसी अभिव्यक्ति को भी स्पष्ट करते हैं जो प्रस्तुत लेख की मुख्य समस्या है। भारोपीय अर्थ वैज्ञानिक अर्थ होना चाहिए–"विभिन्न माताओं के पुत्र जो एक ही माता का दूध नहीं पीते"। यह अर्थ शनैः-शनैः विभिन्न प्रकार की माताओं के पुत्रों के लिए जिन्हें

संयुक्त परिवार में ज्ञाति कहा जाने लगा रूढ़ हो गया। इसी सामाजिक एवं वैधानिक व्यवस्था को धर्मशास्त्र ने भी कालान्तर में स्वीकार किया।

भारोपीय परिवार के सन्दर्भ में श्रॉडर ने[39] Sib को संस्कृत शब्द शेव से जोड़ा जिसका अर्थ था प्रिय, सुन्दर, तथा मित्र। संस्कृत तथा गाथिक के Sibja अथवा Sib के समान है। परन्तु Sibja का अधिक सम्बन्ध समाज (समान सम्पत्ति वाले) से अधिक है न कि सभा के साथ जिसे भास् धातु से सम्बद्ध माना जा सकता है।

भारोपीय परिवार में सम्पत्ति के नियम के लिए श्रॉडर का नियम महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार यह अधिकतर गृहस्वामी एवं गृहिणी की अप्रतिबद्ध शक्तियों पर निर्भर था। विधवा की स्थिति भारोपीय परिवार में भी दुर्भाग्यपूर्ण थी[40]।

इसका अर्थ यह हुआ कि बहुपत्नीप्रथा में पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्रियों को समस्याएँ पैदा हो जाती थीं। वे अपने कल्याण एवं सम्पत्ति सुरक्षा के लिए संघर्ष करना प्रारम्भ कर देती थीं। यह सम्पत्ति किसी की भी हो, इस बात का उन्हें कोई मतलब न था। यह अराजकता की स्थिति थी जहाँ कोई कानून व्यवस्था न थी तथा सम्पत्ति उसकी हो जाती थी जो उसे संगृहीत कर ले। यह वैधानिक संस्था सम्मातर् (बाद में सम्मातुर्) के रूप में भारोपीय विचारधारा से ऋग्वेद में आई। भारतीय धर्मशास्त्र के निर्माण के समय पैतृक व्यवस्थाओं से यह संस्था लुप्त हो गई यद्यपि प्रचलित लोकव्यवहार में इसका प्रचलन कहीं न कहीं रहा।

भारत-ईरानी में : मॉयरहोफर ने प्राचीन ईरान में 'हमातर' संस्था का उल्लेख किया है[41]। दॉण्डेकर की टिप्पणी के अनुसार मॉयरहोफर ने इस संस्था को सम्मातर् से जोड़ा है[42]।

पुनश्च यह उल्लेखनीय है कि पंजाबी में हमातड़ शब्द इसी संस्था से जुड़ा हुआ है जो भारत-ईरानी शब्द हमातर से आया है। इसका मुख्य सम्बन्ध सम्मातर् संस्था से ही है।

पंजाबी में हमातड़

पंजाबी में यह शब्द निर्धन के अर्थ में है विशेषतः उन निर्धनों (प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त जो संस्था को अभिव्यक्त करता है) के लिए जिन्हें संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था में स्थान नहीं मिलता तथा जिन्हें प्रतिदिन की वस्तुएँ जैसे अन्नादि भी खाने को नहीं मिलते। इसका प्रयोग प्रायः बहुवचन तथा खाने के साथ होता है। जैसे "हमातडां की खाना है" ? अर्थात् निर्धन व्यक्तियों को खाने को क्या है ? इसका बहुवचन का प्रयोग इसके संस्थागत अर्थ को अभिव्यक्त करता है। यह उस संस्था को भी अभिव्यक्त करता है जहाँ मुखिया की मृत्यु के बाद अराजकता फैल जाती थी। पंजाब के कानून में आज भी दो प्रकार का कानून प्रचलित है–(अ) पग-वण्ड (वैधानिक)–जिसमें पगड़ियों के अनुसार सम्पत्ति का बटवारा होता था। (आ) झुण्डवण्ड–जहाँ अराजकता के कारण शक्तिमान् अपने वर्ग की शक्ति (झुण्ड) के आधार पर सम्पत्ति का बटवारा करते थे। इस तरह के लोग आज भी हिमायती या हिमाती कहे जाते हैं। ये सम्बन्धी प्रायः मातृपक्ष के होते थे जो सम्पत्ति के बटवारे में एकत्रित होते थे[43]। मामा का फैसला निर्णयात्मक होता था जो "तू मामा है" इस मुहावरे में

आज भी सुरक्षित है। मातृपक्ष का पगवण्ड में पूर्ण स्थान था जिनके हाथों के स्यासक अथवा चिह्न पगड़ियों पर लगवाए जाते हैं। ये साक्ष्य के रूप में बटवारे के अवशेष हैं जो लिखित साक्ष्य के स्थूल प्रारूप कहे जा सकते हैं। यह असम्भावित नहीं है कि जो भी सशक्त होता था सम्पत्ति पा जाता था और जो कमज़ोर होता था बाहर फेंक दिया जाता था। यह नियम ऋग्वेद के सम्मातर् नियम से पूर्ण सामञ्जस्य रखता है जो ऋग्वेद के काल में प्रचलित था और जिसका प्रचलन पंजाब (जो ऋग्वेद का निर्माण स्थान था) में पारम्परिक कानून में आज भी कहीं न कहीं विद्यमान है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में सम्मातर् व्यवस्था भारोपीय परिवार की संरचना से आई। भारोपीय समाज बहुपत्नीप्रथावादी था जहाँ इस संस्था का निर्माण हो चुका था। भारत-ईरान में इस संस्था का निर्माण सामाजिक-वैधानिक अर्थ में रूढ़ हो चुका था जो ऋग्वेद में भी लगभग इसी अर्थ में रूढ़ है। पंजाब में यह व्यवस्था पड़ोसी ईरान[1] से आई जो पंजाबी के ध्वन्यात्मक साम्य से स्पष्ट है। व्याकरणात्मक परम्परा में (निष्कर्ष–2) इस सामाजिक संस्था का कानूनी अर्थ सुरक्षित है। भारतीय बहुपत्नीप्रथा में सपत्नियों का ईष्यालु व्यवहार न केवल आपस में अपितु उनके बच्चों में भी लगता था। सपत्न शब्द 'शत्रु' के अर्थ में उनकी ईर्ष्या को अभिव्यक्त करता है। यह व्यवस्था इतिहास-पुराण में सर्वत्र परिलक्षित होती है (निष्कर्ष–3 तथा 4)। धर्मशास्त्र विशेषतः मिताक्षरा न केवल शब्दों में मातृपक्ष को पुष्ट करता है परन्तु इसका पंजाब पर प्रभाव इस पक्ष को दृढ़तर करता है (निष्कर्ष–5)। सम्पत्ति नियमों में विषमता के कारण स्त्रियाँ अपने अधिकार का उपयोग एवं दुरुपयोग भी करती थीं। ये स्त्रियाँ अपने अधिकार के लिए लड़ती थीं, विशेषतः उस समय जब वृद्धावस्था में उनके पतियों का अधिकार संयुक्त परिवार पर नहीं रहता था (निष्कर्ष–7)। इन सब निष्कर्षों को एकत्रित करके हम उपक्रान्त मन्त्र का अर्थ सामाजिक एवं वैधानिक अर्थ में कर सकते हैं। यह संस्था ऋग्वैदिक काल में प्रचलित थी जो लुप्त हो गई। सिद्धान्त में स्मृतियों में यह उपलब्ध नहीं होती यद्यपि पारम्परिक विधिशास्त्र में इसका प्रचलन आज भी कहीं न कहीं दृष्टिगत होता है।

●

---

1. स्तनपान प्रतीकात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त कर सकता है जिसका अर्थ है सम्पत्ति प्राप्त करना। पश्चाद्वर्ती परम्परा में अनेक पदार्थों के साथ √दुह् का प्रयोग उपलब्ध होता है। तु. रघु. 1.26 दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
2. SCHRADER : Pre-historic antiquity of the Aryans. p. 391.
3. काठक 13.7 ते अस्मा अन्नायं प्रयच्छतसम्मातरो भवतसम्मातरा इव हीमे एतयोरेव वायव्यं वर्त्मम्।
4. तैत्तिरीय-ब्राह्मण, 2.6.7.3।

5. तैत्तिरीय-ब्राह्मण, 2.6.7.3. पर सायण - वातृशब्दो गमनस्वभावं वत्समाचष्टे । समाने वाता वत्सो ययोस्ते सवातरौ । नकार उपमार्थः । इन्द्रस्य वत्सस्थानीयत्वात् एकवत्स इव ते उभे वर्तेते ।
6. BLOOMFIELD & EDGERTON : Vedic Variants - Phonetics.
7. काशिका, 4.1.115 पर पदमञ्जरी–एकस्या औरसः सुतोऽपरस्याः कृत्रिम इति द्वैमातुरत्वम् ।
8. अनेकार्थसङ्ग्रह–पंक्ति 1631–द्वैमातुरो जरासन्धे हेरम्बेऽथ धराधरः ।
9. उद्‌धृत - LIMAYE : Studies on the Mahābhāṣya, p. 294.
10. RAU : *Staat Und Gesellsohaft im alten Indien : nach den Brahmaṇa-texten dargestelt.* Wiesbaden, 1957, Section 29.
11. मनु. 9.153; गौतम 2.8-39; वसिष्ठ 17.48-50, बौधायन 2.2.3.10, याज्ञवल्क्य 2.125; बृहस्पति 25.27, विष्णु 8.1, कौटिल्य अर्थशास्त्र अनु. मीयर 259. 1-19 (उद्धृत–MEYER : Sexual life in ancient India) ।
12. MEYER : Sexual life in ancient India, p. 67.
13. STERNBACH, L : Juridical studies in ancient Indian Law. Vol. I. P. 453.
14. कामसूत्रम्, नि. सा. प्रे. पृ. 253 ।
15. MEYER : *op. cit.*
16. वही, पृ. 476 पादटिप्पणी ।
17. जातक संख्या 429 (उद्‌धृत–मीयर) ।
18. वही, पृ. 47 ।
19. Ed. MEYER : p. 305 (Q. Meyer)
20. रामायण, 2.20.32 से आगे (उद्‌धृत–मीयर) ।
21. हर्षचरित (पञ्चम) सपत्नीनां शिरःसु निहितं नमन्निखिलकटककुटुम्बिनीकिरीटमाणिक्यमालार्चितं चरणयुगलकम् ।
22. WILSON, H.H. Select Works. III. pp. 36-37 ff.
23. महाभारत समालोचनात्मक संस्करण, पूना, आदिपर्व 67.17 ।
    सत्यं मे प्रतिजानीहि यत्त्वां वक्ष्याम्यहं रहः ।
    मम जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम् ॥
24. WILSON, H.H. Viṣṇu Purāṇa. I. xi. p. 159; Bhāgavata Purāṇa : Q. MEYER : *Op. cit.* p. 474.
25. SONTHEIMER : Hindu Joint Family, p. 73.
26. DERRET : University of Ceylone Review. XIV. p. 105 ff.
27. KANE, P.V. History of Dharmaśāstra. Vol. III. p. 607.
28. धर्मकोश–1234 (a) प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः ।
29. याज्ञ. 2.138 एवं च सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदर एव संसृष्टिः गृह्णाति न भिन्नोदरः संसृष्ट्यपीति पूर्वोक्तस्यापवादः ।
30. याज्ञ. 2.123–
    पितुरूर्ध्वं भिजतां माताप्यंशं समं हरेत् ।

31. याज्ञ. 2.135-36 पर मिताक्षरा (पृ. 238)–
वृद्धविष्णुरपि–अपुत्रधनं पत्न्यभिगामी, तदभावे दुहितृगामी, तदभावे पितृगामी, तदभावे मातृगामी इति, **कात्यायनोऽपि** पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा । **बृहस्पतिरपि** (वृद्ध 25/48) कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु । असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ।
32. वही पृ. 239–
एतद्विरुद्धानीव वाक्यानि लक्ष्यन्ते ना. 13.25-26 (पाठान्तर), विरुद्धानि च वाक्यानीह (पादटिप्पणी) ।
33. STERNBACH : *op. cit.* Vol. I. P. 456.
34. अर्थशास्त्र, 3.6 नानास्त्रीपुत्राणां तु संस्कृतासंस्कृतयोः कन्याकृतक्रिययोरभावे च एकस्याः पुत्रयोर्यमयोर्वा पूर्वजन्मना ज्येष्ठभावः ।
35. उद्धृत बृहस्पति, 26.21 SONTHEIMER : *op. cit.* pp. 59, 64, 129,
जन्मविद्यागुणैर्ज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात् ।
समांशभागिनस्त्वन्ये तेषां पितृसमस्तु सः ॥
36. स्टर्नबाख–पूर्वोक्त भाग 2, पृ. 1 से तथा उपसंहार पृ. 90 से ।
37. BUCK : C.D. Dictionary of synonyms in principal Indo-European Languages, p. 128 (2)
38. ERNOUT, M.Q. Buck, *op. cit.* p. 680.
39. बक्क, वही : Waldex-Pakorny :-Etymological Dictionary, Vol. II. p. 456. Polish Pasierb (stepson), Gothic 'sibja' (kingship) originally means 'who does not suck the same milk'.
40. श्रॉडर-पूर्वोक्त, पृ. 350 ।
41. वही, पृ. 390-91 ।
42. *Annali Instituto Orientale Sezione Linguistica* Vol. I. i. 1959, pp. 13-14. दुर्भाग्य से यह मुझे प्राप्त नहीं हो पाई । इसका उद्धरण दाण्डेकर द्वारा सम्पादित वैदिक बिब्लियोग्राफी भाग 3 में है ।
43. DANDEKAR, R.N. Vedic Bibliography. Vol. III.

धर्म एवं दर्शन

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥

महामहोपाध्याय- पं. श्रीपट्टाभिरामशास्त्री

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति भगवद्वचनेन वेदवेद्यत्वं भगवतः। भगवत्तत्त्ववेदनसाधनं वेद इत्युक्तं भवति। तेन भगवत्तत्त्वस्य साध्यतापि अर्थात् सिद्धा। सर्वत्र ज्ञातस्यैव पदार्थस्य साध्यताऽनुभूयते। यदि भगवत्तत्त्वं ज्ञातं तर्हि तद्वेदनसाधनस्य कावश्यकतेति प्रष्टारो भवन्ति। अहमस्मि इति वदन्तं कश्चनान्यः 'त्वं नासि' कथमस्मीति वदसीति प्रश्नं कुर्यात्। तदा स किमुत्तरं दद्यात्? अहो त्वं चक्षुर्भ्यां विहीनः? मां प्रत्यक्षं पश्यसि, मदीयं भाषणं शृणोषि तथापि 'त्वं नासि कथमस्मीति वदसि' इति पृच्छसि इति। सत्यम्। नाहमक्ष्णा काणः, त्वां पश्यामि त्वदीयं भाषणञ्च शृणोमि, त्वदीये 'अहमस्मीति वाक्येऽहंपदस्यार्थमजानन्नेव वदसि 'अहमस्मी'ति। अत एवाहमपृच्छम् 'त्वं नासि कथं वदसी'ति। अत्रास्मच्छब्दप्रयोक्ता शरीरमहंपदार्थं मन्यमानो व्यवहरति, युष्मच्छब्दप्रयोक्तापि शरीरमेव त्वंपदार्थं निश्चिन्वानः पृच्छति। यदि वा युष्मच्छब्दप्रयोक्ता अहंपदार्थः शरीरं नेत्यवगत्य ब्रूयात् 'त्वं नासीति' तदा प्रश्नः स्थाने भवेत्। एवमेव ते प्रष्टारोऽपि भवेयुः, ये भगवत्तत्त्वं यदि ज्ञातं तर्हि तद्वेदनसाधनस्य कावश्यकतेति। यदा मानवेन शरीरं प्राप्तं तदैव तेन भगवत्सत्ता ज्ञातेत्यङ्गीकर्तव्यम्। भगवत्सत्तायां निश्चितायां मानवस्तत्तत्त्वं ज्ञातुं प्रभवति। शरीरप्राप्त्या भगवत्सत्ता कथं निश्चीयतामिति चेदित्थम्—कश्चन कुशली कुलालः छिद्रैर्युतं घटं निर्माय छिद्रेष्वपिहितेषु तत्र जलं पूरयित्वा घटात् जलनिस्सरणं यथा न भवेत् तथा कुर्याद्यदि तदा तं वयं स्तुमः—अहो बत! अयमद्भुतं वस्तु सृष्टवानिति। तथैवास्माकं शरीरे सन्ति नव द्वाराणि। नवद्वारपुरमिदं शरीरम्। तत्र च सततं सञ्चरणशीलः प्राणवायुः। द्वाराणि च न पिहितानि। यस्मात् कस्माचिदपि द्वारात् प्राणवायुर्बहिर्गन्तुं प्रभवति परन्तु न निर्गच्छति। किमिदमद्भुतं चेष्टितम्? केनेदं सम्पादितम्? इत्येकैकोऽपि मानवश्चिन्तयेत्तर्हि न स भगवत्सत्तायां सन्दिहानः स्यात्। अत्यद्भुतं सर्वसाधनसमुपेतं शरीरं प्राप्यापि एतन्निर्मातारं विज्ञातुं यदि मानवो न चेष्टेत तर्हि मानवं जन्मातस्थुषः जन्मनः साफल्यं किं स्यात्? अतः स्वशरीरेण भगवत्सत्तायां ज्ञातायां तत्स्वरूपज्ञानाय साधनमपेक्ष्यते। तदेव साधनं भगवानुपदिशति 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति। साध्यं साधनञ्चावगतम्। भगवत्तत्त्वप्राप्तये इतिकर्तव्या केत्याकाङ्क्षायां वेदादेवेतिकर्तव्यतामवगत्याकाङ्क्षा पूरणीया भवति। वेदबोधितेतिकर्तव्यताया विवरणायैव भागवतशास्त्रं गीताशास्त्रञ्च प्रवृत्तम्।

भगवत्तत्त्वमिव धर्मतत्त्वमपि वेदैकवेद्यम् । धर्मतत्त्ववेदनाय वेद एव साधनम् । वेदश्चानादिसिद्धः । सिद्धस्यैव साधनत्वम् । 'सिद्धं साध्यायोपदिश्यते' इति न्यायाद्वेदस्य साधनत्वं नानुपपन्नम् । सिद्धस्य वस्तुनः प्राक् काचन साध्यावस्थाऽऽसीदित्येष्टव्यम् । यथा सिद्धाद्बीजादङ्कुरं जायते, अङ्कुराच्च बीजमुत्पद्यते । अङ्कुराज्जायमानस्य बीजस्य साध्यावस्था बीजादङ्कुरे जायमाने बीजस्य सिद्धावस्था । अयमेव बीजाङ्कुरन्यायः कथ्यते । अत्र पूर्वापरभावो न केनापि निश्चेतुं शक्यते । किञ्च, कटपयादिसंख्याशास्त्रेण वेदशब्दगतद्वयोरक्षरयोः क्रमेण 4+8 संख्ये भवतः । अनयोर्योगेन संख्या 12 निष्पद्यते । अङ्कानां वामतो गतिरिति रीत्या 21 संख्या भवति । तथैव भगवत्तत्त्वं इतिशब्दगताक्षराणां क्रमेण 4+3+4+6+4 अङ्का भवन्ति । एतेषां योगेन 21 निष्पद्यते । अङ्कानां वामतो गतिरिति रीत्या 12 सम्पद्यते । एतेन वेदस्य भगवत्तत्त्वस्य च तादात्म्यं साधयितुं शक्यम् । एवं वेदवेद्यत्वं भगवतः धर्मस्य च समानम् । तादात्म्यञ्च मीमांसकमतेन भेदाभेदरूपं विवक्षितम् । 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र दर्शपूर्णमासपदमाग्नेयादीन् षड्यागान् समुदायद्वयसिद्धानाचष्टे । तान् फलसाधनत्वेन च वाक्यं विधत्ते । केवलं प्रधानमात्रेण फलसिद्धिर्न भवति । अङ्गैः सहितमेव प्रधानं फलसाधकम् । अङ्गानां प्रधानस्य च साहित्यमेव तादात्म्यम् । अङ्गत्वेन प्रधानत्वेन च भेदे सत्यपि फलसाधनावसरेऽङ्गाङ्गिनोरभेद एव । अयमेव जातिव्यक्त्योः अवयवावयविनोः क्रियाक्रियावतोश्च प्रकारो मीमांसकैः स्वीकृतः । अत एव भगवान् निर्गुणोऽपि कार्यवशेन सगुणोऽपि भवति । यथा प्रधानस्य फलसाधकत्वसामर्थ्ये सत्यपि फलसाधनवेलायामङ्गसहितं भवति तथैव भगवान् स्वयं दुष्टनिग्रहसमर्थोऽपि दुष्टनिग्रहावसरे रामकृष्णादिरूपेण मूर्तिमान् भवति । एवं धर्मोऽपि विद्यते–वेदविहितो भवति धर्मः । विधिश्च द्रव्यगुणक्रियाजातिषु प्रवर्तते । द्रव्यं ब्रीह्यादि, गुण आरुण्यादिः, क्रिया यागदानादिः, जातिः पर्णतादिः । इमे पदार्था विधिना विधीयन्ते इत्येते धर्मपदेन व्यवह्रियन्ते मीमांसकैः । लोकसिद्धा अपीमे कर्मप्रयोगवेलायाम् अलौकिकत्वं भजन्ते । अलौकिकत्वञ्चादृष्टरूपंम्, लौकिकञ्च दृष्टरूपम् । कौसल्यानन्दनरूपेण स एव भगवान् लौकिकानि कार्याणि साधयति, यशोदानन्दनरूपेण चालौकिकानि कार्याणि प्रदर्शयति । रावणकुम्भकर्णादीनां निग्रहे वानरपुङ्गवानां साहाय्यं गृह्णाति । कंसहिरण्यकशिप्वादीनां निग्रहे अन्यसाहाय्यं न गृह्णाति । अयमेव प्रकारो धर्मस्यापि । काम्ययागादिधर्मानुष्ठाने सर्वाङ्गापेक्षा तथा नित्यनैमित्तिकानुष्ठानावसरे तदनपेक्षेति धर्मभगवत्तत्त्वयोः सामान्यम् । अनया रीत्या धर्म एव भगवत्तत्त्वम्, भगवत्तत्त्वमेव धर्म इति अभिधातारो विद्यन्ते । अत एव "विग्रहवान् धर्मः" इति जानकीजानिं निर्दिशति महर्षिर्वल्मीकजन्मा ।

एवं वेदेन करणेन धर्मस्वरूपे ज्ञाते इतिकर्तव्यतांशपूरकत्वं मीमांसायाः कथमिति प्रदर्श्यते उदाहरणद्वारा–समग्रं मीमांसाशास्त्रं धर्मज्ञानसम्पादनकार्ययेतिकर्तव्यताभागप्रदर्शकम् । तत्रेदमुदाहरणं द्रष्टव्यम्-ज्योतिष्टोमे यूपसंपादनाय खदिरकाष्ठं यूपप्रकृतिभूतं विहितम्-'खादिरो यूपो भवति' इति । खदिरवृक्षस्य काष्ठं यूपशब्देन नोच्यते । यूपशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दृष्टादृष्टसंस्कारः । काष्ठं खदिरवृक्षात् छित्वा तस्मिन् तक्षणजोषणरन्धानाष्टाश्रीकरणाञ्जनादयः संस्काराः क्रियन्ते । विहितसंस्कारेषु कृतेषु तद् यूपशब्दवाच्यं भवति । मुख्यं द्रव्यमिदम् । खदिरस्यालाभे तत्प्रतिनिधितया कदरो

गृह्यते । खदिरस्य कदरस्य च सुसादृश्यमस्ति इति कदरः प्रतिनिधिर्भवति । प्रतिनिधिश्च मुख्यालाभे गृह्यते । मुख्यः खदिरस्तादृशो लब्धो यश्च तक्षणादिसंस्कारानर्हः । तनीयसि काष्ठे तक्षणादिषु क्रियमाणेषु अत्यन्तं तनुत्वमापतेत् । तत् खात्वा तत्र पशुनियोजने क्रियमाणे पश्वनपक्रमणरूपं फलं न सिद्ध्यति । प्रतिनिधिः कदरस्तु सकलसंस्कारार्हः प्रधानभूतपशुनियोजनक्षमश्च । तदत्र किं कर्तव्यमिति जायते विचिकित्सा । किं संस्काराणां बाधेऽपि मुख्यस्यानुग्रहः कर्तव्यः, उत सकलसंस्कारार्हं कदरं गृहीत्वा मुख्यं परित्यज्य संस्काराणामनुग्रहः कर्तव्यः ? इति । एवं मुख्यालाभे प्रतिनिधिं कदरं संस्कृत्य खननं कृत्वा तत्र पशुनियोजनं कृतम्, तदानीमेव मुख्यखदिरः सकलसंस्कारार्हो लब्धः । किं तदा मुख्यं संस्कृत्य खात्वा पुनः पशुनियोजनं कृत्वा क्रत्वनुष्ठानमिति जायते विचिकित्सा, किं कर्तव्यमिति । एवं प्रतिनिधिं संस्कृत्य खननमात्रं कृतम्, तत्र पशुनियोजनं न कृतम्, तदा मुख्यं द्रव्यं लब्धम्, तदानीं जायते विचिकित्सा-पशुनियोजनस्याकृतत्वात्–किं मुख्यमादाय संस्कृत्य खात्वा पशुनियोजनं कर्तव्यमुत नेति ।

यथारब्धमेव क्रतुः समापनीय इति वा । एवमादिषु स्थलेषु किं कर्तव्यमिति प्रकारं निर्दिशति मीमांसाशास्त्रम् । कर्तव्यप्रकार एवेतिकर्तव्यता । तस्याः पूरकं मीमांसाशास्त्रम् । तदिदमुक्तं भट्टपादैः 'इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यती'ति । एवं भगवत्तत्त्वाधिगमाय भागवतशास्त्रं गीताशास्त्रञ्चेति-कर्तव्यतापूरकत्वेन चिरन्तनैरवलम्बितम् । भगवदाराधनेऽपि भगवतीतिकर्तव्यताकाङ्क्षा । भगवान् सदाचारसम्पन्नमनुगृह्णाति दुराचारदूषितमपि । क्वचिदनुग्रहः क्वचिन्निग्रहः । निग्रहानुग्रहशक्तिमान् सः । क्वचित् पालनेन समुद्धरति क्वचिद् मारणेन च । दुष्टमपि शरणागतं न त्यजति, शिष्टमपि तथाविधं परित्यजति । विचित्राः खलु भगवतो लीलाः । मिथो विरोधमावहन्तीषु लीलासु का समवलम्बनीयेति भवत्येव विचिकित्सा । विचिकित्सया च किंकर्तव्यविमूढो भवति मानवः । भागवतमत्र सर्वत्र संवादं प्रदर्शयत् कर्तव्यं निर्दिशति । सत्यमेव वयं भारतीया धन्यधन्या यत् प्राज्यं वेदशास्त्रपुराणादिसंस्कृत-साहित्यमवाप्य कर्तव्यपथं निश्चेतुं योग्या अभवाम । साधूपदिशति भगवान् शङ्कराचार्यः–

"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ॥" इति ।

धन्योऽयं भारतदेशः धन्यतमेयं निलिम्पवाणी ।

●

स्फोटात्मकप्रणवस्य सृष्टिमूलकत्वम्

आचार्यश्री रामप्रसादत्रिपाठी

विविधदुःखपूरितेऽस्मिन् भवाम्बुधौ निमज्जतां मानवानां समुद्धरणाय परमकारुणिकैः महात्मभिः धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव निरपायं साधनमिति प्रत्यपादि ।

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः ब्रह्मसाक्षात्कारो वा मोक्षः । दुःखभूतसंसारं प्रति मूलभूतं कारणं मिथ्याज्ञानम् । '**कारणनाशात्कार्यनाशः**' इति सिद्धान्तात् सर्वानर्थबीजभूतं मिथ्याज्ञानं विनाश्यम् । एवञ्च यथार्थज्ञानेनैव मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः, तत एव मोक्षश्च, अत एव समेषां चराचरपदार्थानां मूलभूतं तत्त्वं किमिति यथार्थज्ञानजिज्ञासायाः सम्यग् समाधानार्थमेव लघुनिबन्धः "**स्फोटात्मकप्रणवस्य सृष्टिमूलकत्वम्**" इति नामधेयो वैयाकरणसिद्धान्तभूतः शब्दब्रह्मप्रतिपादकः समुपस्थाप्यते ।

अत्र प्रथमं प्रणवस्य स्फोटरूपता श्रीमद्भागवतानुसारेण प्रदर्श्यते, अनन्तरञ्च तस्य सृष्टिमूलकत्वं प्रदर्शयिष्यते ।

श्रुत्यनुसारेण प्रणवस्य स्फोटरूपता–

'ओङ्कार एव सर्वा वाक्', सैषा स्पर्शोष्मभिः व्यज्यमाना बह्वी नानारूपे भवति ।' इति श्रुत्यनुसारेण प्रणवस्य स्फोटरूपता सम्यगायाति । अस्याः श्रुतेरयमर्थः–बह्वी वाक्यपदादिरूपा नानारूपा घटपटादिरूपा च । स्पर्शः ताल्वादेः स्पर्शः, ऊष्मा वायुः ।

'अपि च द्वादशस्कन्धे भागवते प्रणवस्य स्फोटत्वं स्फुटमेवोक्तम्–

"समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
"हृदयाकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते" ॥[1]

ब्रह्मणो हृदि य आकाशः तस्मिन्नादोऽभूदिति । यः कर्णपुटविधानेन श्रोत्रवृत्तिनिरोधादस्माभिरपि विभाव्यते श्रूयते ।

'ततोऽभूत्त्रिविदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ।[2]'

त्रिवृत्= त्रिमात्रः अर्थादोङ्कारे विहिताकारोकारमकारमात्रत्रयात्मक इति । अव्यक्त ईश्वरः प्रभवो यस्य सः । अत एव भगवतो लिङ्गम्-गमक इत्याह ।

ननु कोऽसौ परमात्मेत्याह–

"शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः" ॥[3]

सुप्ते श्रोत्रे=कर्णपिधानादिना अवृत्तिके इमं–प्रणवस्वरूपं स्फोटं– स्थूलरूपेण परिणतमपि यः शृणोति स परमात्मा । जीवस्य तु करणाधीनज्ञानत्वात् करणस्य चावृत्तिकत्वात् न तदा श्रोतृत्वम् । अर्थात् इन्द्रियवृत्त्यभावेऽपि ज्ञातृत्वात्परमात्मैव श्रोता ईश्वरो यतः शून्येऽपि इन्द्रियवर्गे दृक् ज्ञानम् यस्य तादृक् इति श्रोतैव । जीवस्य तदुपलब्धिस्तु ईश्वरद्वारिकैव, यथा निद्राकाले लीनेन्द्रियकमपि जीवं परमात्मैव शब्दं श्रुत्वा प्रबोधयति तद्वद् येन प्रणवेन वाग् बृहती व्यज्यते यस्य च हृदयाकाशे आत्मनः सकाशाद् व्यक्तिः । "शब्दार्थमयीसृष्टिः प्रणवमूलैव"–

"स्वधाम्नः ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्" ॥[4]

स्वधाम्नः स्वकरणस्य, किञ्च स तदन्तर्भूतसमस्तदेवतावाचकोऽपि इत्याह सः प्रणवः । सर्वमन्त्राणामुपनिषद् रहस्यम्=सूक्ष्मरूपं यतो वेदकारणम् । तत्कारणत्वेऽपि न विकारित्वम्, यतः सनातनम्= सदैकरूपम् ।

"तस्य ह्यासँस्त्रयो वर्णाः अकाराद्याः भृगूद्वह !
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावाः गुणनामार्थवृत्तयः" ॥[5]

अकाराद्याः=अकारोकारमकाराद्याः। तस्येत्यवयवावयविभावे षष्ठी यैः=अकाराद्यैः, त्रयः त्रित्वसंख्यायुक्ताः, भावाः (धर्माः) धार्यन्ते तत्कारणत्वात्। गुणाः=सत्त्वरजस्तमांसि, नामानि=ऋग्यजुःसामलक्षणानि, अर्थाः=भूर्भुवःस्वर्लोकाः, वृत्तयः=जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः । अनेन तस्यैव सर्वप्रपञ्चकारणतोक्ता ।

"ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शदीर्घह्रस्वादिलक्षणम् ॥"

ततः=अकारादिभ्यः, अन्तस्थादयो लक्षणं यस्य तम् ।

"तेनासौ चतुरो वेदाँश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः ।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारान् चातुर्होत्रविवक्षया ॥"[6]

असृजदित्यनुषज्यते, चत्वारो होत्रोपलक्षिताः । ऋत्विजश्चतुर्होतारस्तैरनुष्ठेयम्, हौत्राध्वर्य्वादिकं कर्म चातुर्होत्रं तद् विवक्षया इत्यर्थकमुक्तम् ।

शब्दार्थयोर्मध्ये शब्दस्यैव प्राक् स्थितिः–

शब्दमयी, अर्थमयी चोभयविधाऽपि सृष्टिः प्रणवमूलैवेति वर्णितम् । तत्र च शब्दार्थयोरव्यक्तदशायाः पूर्वं क आसीत् शब्दो वा अर्थो वा इति विवेचनमतीवगहनम्, इति विचार्यते–द्वावपि परस्परं विरहय्य पृथक्-स्थातुं न शक्नुतः । शब्दाश्रितोऽर्थः, अर्थाश्रितश्च शब्द इति परस्परं सापेक्षत्वं वर्तते ।

परन्तु द्वयोरनयोरित्थं विचारे प्रस्ताविते प्रथमतः शब्दोऽनन्तरश्चार्थ इति व्यवहारक्रमो वक्तुं शक्यते । यथा मृत्तिकां गृहीत्वा घटारम्भं कुर्वाणे कुलाले, किङ्करोषि ? इति पृष्टे सति सः "घटं करोमि" इति वाक्यमुच्चारयति, तदनु कृतिं प्रक्रमते । अनेन शब्दस्य प्राथम्यमिति स्फुटमायातम् । यद्यप्यत्र कुलालस्य घटाकारो नाम च द्वयमपि पूर्वतः सिद्धम्, तथापि तद् अव्यक्तावस्थायाम्, न तु व्यक्तावस्थायाम् ।

शब्दतत्त्वस्य व्यक्ताव्यक्तत्वविचारः–

इदानीं शब्दतत्त्वस्य व्यक्ताव्यक्तत्वे विचार्येते । तत्र कस्यापि पदार्थस्य नाम स्वरव्यञ्जनसङ्घातरूपं भवति । स्वरसाहाय्यमन्तरा व्यञ्जनवर्णस्योच्चारणं नैव सम्भवति । उक्तञ्च महर्षिणा पतञ्जलिना–"न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं सम्भवति" ।[7] अचः स्वराः अ, इ, उ, ए, ओ, इति मुख्यस्वराः, क, च, ट, त, प, य, र इत्यादयो व्यञ्जनवर्णाः । तत्र स्वरवर्णोच्चारणे दन्तताल्वोष्ठप्रभृतिषु स्थानेषु न भवति व्यञ्जनस्योच्चारणम्, व्यञ्जनस्योच्चारणे तु स्वरवर्णोच्चारणं भवतीति सुस्पष्टमनुभूयत एव । व्यञ्जनस्योच्चारणावसाने स्वरः शिष्यते, क-खादयः किञ्चिद्दीर्घमुच्चार्यन्ते, अन्तेऽकारोऽनुभूयते, अयमेवाकारः कादीनामुच्चारणात् प्रागनुभूयते । एवञ्च स्वरः कादीनां प्राक् पश्चाच्चानुस्यूत एवेति मन्तव्यम् । यथा आश्रयं विना किमपि वस्तु स्थातुं न शक्नोति । अधुना सूक्ष्मदृष्ट्या दर्शनीयं कण्ठदेशे कामपि विकृतिमकृत्वा योऽसौ स्वर उच्चार्यते स एव कण्ठादिदेशस्य विकृतिभिर्व्यञ्जनरूपतामनुयाति, न स्वीयं स्वरूपं व्यञ्जयति । अत एव व्यञ्जनस्य स्वातन्त्र्येणोच्चारणं न भवतीत्युक्तम् । स्वरस्य व्यञ्जनात्मकतया व्यक्तीभवनार्थे विकृत्युपाधेरपेक्षा, व्यञ्जनस्योत्पत्तेः पूर्वं स्वरे अव्यक्तरूपा स्थितिः । एवञ्च स्वर- व्यञ्जनयोः कार्यकारणभावः सम्बन्धो मन्तव्यः । कार्यमुत्पत्तेः प्राक् कारण एव सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति इति व्यञ्जनस्याव्यक्तावस्था स्वरेऽस्तीति सिद्धम्[8] ।

स्वरध्वनीनां विवेकः

भेरीमृदङ्गादिभ्यो जडपदार्थेभ्यो निष्पन्नः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते । प्राणिभिरुच्चारितः शब्दः स्वर इत्युच्यते । इयानेव तयोर्भेदः स्वरूपतस्तत्त्वैक्यमेव । नादस्तु व्यापकः । मनुष्येषु वर्णः, स्वरः, नाद इत्येवं प्रकारत्रयेण ध्वनिर्व्यक्तो भवति । तत्र करतलतालशब्दो नादः । मनुष्येतरप्राणिषु बाहुल्येन स्वरात्मक एव शब्दो दृश्यते । शुकसारिकादिषु क्वचिद्वर्णरूपोऽपि अनुभूयते । कांस्यादिषु जडपदार्थेष्वेक एव नादात्मकः शब्दः परिदृश्यते । अतश्चायं शब्दो ध्वन्यादिरूपेण जडचेतनात्मिकायामखिलायां सृष्टौ परिपूर्णः सन् तिष्ठति । विकृतरूपोपाधिना नानारूपताञ्चायाति । यथा बिन्दुरूप एव कार्पासपिण्डो द्रष्टव्यः । तस्यैकदेशेऽङ्गुलिना संवलय्य यद्दीर्घमाकर्षितं सूत्रं रेखारूपं भवित । तत्सूत्रं सरलतिर्यगाद्याकृत्या लिपिरूपतामापन्नं भवति । पुनश्च तस्य संवलनमपाकृत्य पिण्डीकृते सति सूत्ररूपत्वं परित्यज्य कार्पासपिण्डत्वं सम्पाद्य पुनर्बिन्दुरूपेण परितिष्ठते । तत्र बिन्दुर्मूलकारणं ततो जायताम्– रेखा-अक्षरमङ्कादि च तत्कार्याणि च कारणस्वरूपाणि भवन्त्येवेति सर्वं कार्यजातमेतद् बिन्दुरूपमेव ।

अन्यच्चेदमपि द्रष्टव्यम्–यच्छब्दाक्षरलिपिना च अर्थबोधरूपं कार्यं तुल्यमेव । यद् वस्तुशब्देनान्यं प्रतिबोधनीयमस्ति तदक्षरलिपिनाऽपि सुबोधनीयम् । उभयत्राऽपि बोधकतारूपा शक्तिस्तुल्या । तेन समानधर्मत्वमुभयोः । किञ्च शब्देभ्योऽक्षरलिपावधिका शक्तिरस्तु । शब्दस्तु श्रुतः सन् समीपस्थं जनमुपकरोति । किं बहुना, शब्दतत्त्वस्य चिरकालस्थायित्वलाभार्थम् अक्षरलिपिः एवैक उपायः । ये शब्दा मुखेनोच्चार्यन्ते त एव अक्षररूपेण लिख्यन्ते । तेष्वक्षरेषु त एव शब्दा मुखान्निर्गच्छन्ति इति कृत्वाऽपि शब्दानां तल्लिपीनाञ्च समत्वमेव मन्तव्यम् । अपरञ्च गतिविकृतिसम्बन्धात् शब्दो रेखाक्षररूपो भवति । अनुच्चारितः शब्दो बिन्दुरूपो नादात्मकः । स एव घातोपाधिना स्वरात्मकश्च

रेखारूपो दीर्घो भवति, अथ च ताल्वाद्युपाधिना व्यञ्जनवर्णरूपो भवति। इति हेतोः शब्दाक्षर-लिप्योर्मध्ये भेदो नास्ति, अपि त्वेकत्वमेव। एवं रीत्या ॐ इत्येव शब्दः ओमित्यक्षरलिपिश्च तुल्य एव। ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वमिति माण्डूक्यश्रुत्यनुसारेण तु सर्वे शब्दास्तल्लिपयश्च ओंकार एवाव्यक्त-रूपेणोत्तिष्ठन्ति। तस्मादेवोत्पद्यन्ते पुनस्तत्रैव समवलीयन्ते। स च एतावद् कालमव्यक्तमासीत्, तदिदानीं व्याकृत्य वाचकेभ्यः कथयामि। अपरदृष्ट्या विचारे क्रियमाणे वर्णरूपा ध्वनिरूपाश्च शब्दा द्विविधा भवन्ति। तत्र व्यक्तावस्थायां 'वर्णः' इति अव्यक्तावस्थायाञ्च ध्वनिरिति व्यवहारः। मायायां परमेश्वरे लीयमानायां वर्णरूपं ध्वनिरूपञ्च शब्दतत्त्वमपि तत्रैव प्रलीयते। परमेश्वरेण चाव्यक्त-रूपेणावस्थितायां मायायां तदाश्रितं स्वरवर्णध्वन्यात्मकं सर्वं व्यक्तमपि सर्वजातं कैवल्यरूपेणाव्यक्तं सत् परमेशरूपतामभिसम्बद्ध्य तिष्ठति। तस्य परमेश्वरस्याव्यक्तं नाम किमिति जिज्ञासायामुच्यते दार्शनिकैः 'ओम्' इति।

ओमिति प्रणवस्येषद्विमर्शः—

ओमिति प्रणवे, अकार-उकार-मकारेति वर्णत्रयमस्ति। तत्र अकार इति उकार इति च स्वरौ मकारस्तु व्यञ्जनवर्णः। एवं रीत्यास्तु द्वौ भागौ स्वरव्यञ्जनाकृतौ द्रष्टव्यौ, यथा सृष्टावपि जड-भागश्चेतनभागश्चेति। वृक्षस्यास्ति तत्त्वमव्यक्तरूपतया यथा बीजे भवति, तथैव शब्देन तत्सृष्ट्या (नामरूपात्मिकतया) मायया च त्रिभिरव्यक्तोपाधिभिः सहितः परमात्मा सगुण इत्युच्यते। एतदेव यन्मायाया अस्तित्वम्, तदेव द्वैतस्य बीजम्। अत्रोपाधिरहितश्च परमात्मा त्रिगुण इति कथ्यते। एवमेव अकारात्मकः शब्दो विक्रियाशून्यो निर्गुणस्तदपेक्षया विक्रियासहितो व्यञ्जनवर्णः सगुण इति बोध्यम्।

वाच्यस्यार्थजातस्य वाचकस्य शब्दस्य च परमात्मनिलये सति "तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति"[9] नियमेन वाच्यवाचकयोरभेद आगच्छति। एवञ्च व्यक्ताव्यक्तयोस्तयोः प्रकृतिपुरुषयोर्वाचकमिदम् ओमिति शब्दस्वरूपं सगुणपरमात्मनोऽभिन्नमिति सिद्धम्[10]।

"ॐ" इति लिपिविषयको विमर्शः—

यथा 'ओम्' इत्यक्षराकृतिर्वर्णमालायां पतिता न तथा ओमित्याकृतिर्वर्णमालान्तःपातिनी; किन्तु परमात्मनो बोधकं निर्गुणचिह्नम्। यथा पुत्रः स्वोत्पत्तेः पूर्वं पित्रा सम्पत्स्यमानां स्वप्रतिमामाविष्कर्तुं न प्रभवति, पितरि तु पुत्रस्याव्यक्ता प्रतिमास्त्येव। तथैव अकारादिः सर्वा वाक् प्रणवरूपेति शब्दोच्चारणानन्तरं निष्पन्ना लिपिः स्मारितवाचकस्य वाच्यत्वं प्रकाशयितुं समर्थाऽपि न। तत्पूर्वसिद्धं प्रणवं प्रकाशयितुं क्षमते, स्वोत्पत्तेः पूर्वमुत्पादकतया बोधकं यत् 'ओमिति' चिह्नम् 'ओमिति' कार्याकृतिम् कथमानेतुं शक्नुयात् प्रत्युत स्वयमेव तस्मिन् चिह्ने व्यक्तमस्ति[11]।

'ॐ' इति निर्गुणं चिह्नम्, ओमिति सगुणं चिह्नं मन्तव्यम्। यतश्च ओमित्यत्र मकाराद् व्यञ्जनवर्णतः सगुणोऽस्ति। अस्य च मूलमव्यक्तं स्वरूपं बिन्दुरूपमस्ति। अस्मादेव बिन्दोः रेखागणितं प्रादुर्भूतम्। एते च तत्रत्या नियमाः, बिन्दुर्नाम यस्य केनापि साधनेन विभागः कर्तुं न शक्यते। अस्य च स दृग्गोचरोऽपि न भवति। एव यस्यायामो विभक्तुं शक्यः, या च दृक्पथे नायाति, सा

बिन्दुद्वयान्तर्वर्तिनी रेखेति । अस्तु अस्मिन्मते तस्योपपत्तिप्रकार इत्थं बोध्यः । सर्वासामक्षराकृतीनां केन्द्रस्थानं बिन्दुः, स च स्वस्थान एव स्थित्वा गतिरूपोपाधिना समधिगम्य रेखारूपो भवति । विकृतिरूपोपाधिवशात् सैव रेखाक्षराकृतिं भजते । रेखाक्षरश्चेति बिन्दोरेव विकृते रूपे स्तः । एते द्वे अपि अव्यक्तरूपेण बिन्दौ तिष्ठत इति बिन्दोः कारणरूपता स्फुटमायातम् ।

प्रणवस्याष्टौ प्रकृतयः–

बिन्दुरेवोत्थानरूपेणोपाधिना रेखारूपतामनुगतः । पुनर्वक्रगतिरूपोपाधिना अक्षररूपोऽभवत् । ओङ्कारस्याष्टौ प्रकृतयः (विभागाः) सन्ति । तेषां विभागानां प्रथमसंयोगे सति वर्णसंख्यादयश्च निष्पद्यन्ते । अत्र तद्वर्णनमहङ्कारेण सम्पादयिष्यते । एते चाङ्काः समक्षं निर्मितस्य चित्रपदस्या-कृतीनामवयवेषु लिखिताः सन्ति । तत्र प्रथमावयवी बिन्दुः, चन्द्राकाररेखायाः द्वाववयवौ मिलित्वा त्रयः । पुनस्त्र्यङ्कस्य शुण्डायाश्चावयवाः पञ्च इति मिलित्वा ओङ्कारस्यावयवाः संजाताः ।

प्रणवस्य कस्मादङ्कात् कस्या आकृतेः प्रादुर्भावः–

प्रणवस्य कस्मादवयवात् कस्याकृतेरुद्भव इति निरूप्यते । 8. 7. 6 इत्येतदवयवैः संयुक्तैः सद्भिः 'क' इत्येवं वर्णः प्रादुर्भवति । 5. 8. 7 इत्येभिरवयवैश्च व्यञ्जनस्याविर्भावः । 7. 8 आभ्यां 'त' इत्यस्य, 6. 7 इत्याभ्यां 'य' इत्यस्य, 8. 6. 7 एभिर्'र्य' इत्यस्य 6. 4. 5 एभिः 'र' इत्यस्य, 5. 4. 6. 7 एभिर्'ल' इत्यस्य, 6, 5, 8 एभिः 'छ' इत्यस्य च सम्भवो भवति । एवमवयवानामनुकूल-परिवर्तनेन सर्वे वर्णाः समुत्पद्यन्ते[12] ।

संख्योत्पादकावयवाः–

8, 7 आभ्यामेकः 1. इत्यङ्को भवति, 6, 4, 7 एभिः 2. इत्यस्य, 6, 4, 5 एभिः 3. त्रि इत्यस्य, 6, 4, 5 एभिः 4. चतुर् इत्यस्य, 6, 7 आभ्यां 5. पञ्च इत्यस्य, 6, 4, 5 एभिः 6. षडित्यस्य, 5, 8 आभ्यां 7. सप्त इस्यस्य, 5, 6 आभ्यां 8. अष्ट इत्यस्य, 5, 8 आभ्यां 9. नव इत्यस्य चाङ्कस्याकृतयो भवन्ति । बिन्दुः स्वतःसिद्धस्य निर्दिष्टाभिरङ्कसंज्ञाभिः सर्वा अङ्कसंज्ञा ऊहनीयाः ।

इदमत्राश्चर्यं द्रष्टव्यम्–कैश्चिदवयवैः किञ्चिदक्षरं भवति, कतिपयेऽवयवाः अवशिष्यन्त्येवानया सूक्ष्मेक्षिकया प्रणवस्य सगुणपरमेशवाचकत्वे को विरोधः, इदं पुनरवधेयम् । संख्येयाक्षराणि चेमानि हस्तलेखात्प्राक् मुखेनोच्चारणीयशब्द एव विलीनान्यासन् । मुखेनोच्चारणीया वर्णा दन्तताल्वोष्ठादि-विकृत्युपाधिना प्रकटत्वात् पूर्वं रूपव्यासन्नमिति । स्वरेण सह व्यञ्जनानां भेदः । स्वरस्तूच्चारणात् पूर्वं ध्वनिरूप इति । ध्वनिना सह तस्याभेदः । अनुच्चारितो ध्वनिरव्यक्तः, ओङ्कारश्च बिन्दुरूपः । व्यक्तबिन्दोः सगुणपरमात्मनश्चाभेदोऽव्यक्तबिन्दुर्निर्गुणः परमात्मा चैकरूपः । सर्वं जगत् परमात्मनैव विनिर्मितम् । स एव परमात्मोत्थानरूपगत्युपाधिना स्वकीयं व्यापकस्थानं परित्यज्य मायारूपा रेखाकृतिरभवत् । तदनुगुणविकृत्याक्षररूपा सृष्टिरजायत, कार्यसहदृष्टत्वेन साक्षररूपा सृष्टिः रेखा-

रूपिण्यां मायायां विलीनाऽभवद् । गुणविकृतिं परित्यज्य रेखारूपा माया बिन्दुरूपे परमात्मनि सुप्ता । एवञ्च रेखायाः, मायायाः, अक्षरस्य, सृष्टेश्च परमात्मैक्यमस्तीति बोध्यम् ।

अत एव जडचेतनात्मकसृष्टिसहिता माया, स्वरव्यञ्जनसहितः वर्णराशिः, रेखायुक्तश्च बिन्दुः, इत्येतेषां स्वरूपं परमात्मेति कृत्वा 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति प्रणवोऽपि एतद् गुणैः परिपूर्णः सकलैश्वर्य प्रकाशकोऽवश्यं भवितुमर्हति । इति ओङ्कारस्य वैलक्षण्यम् ।

बिन्दुरूपस्य परमात्मनो रेखारूपमायायाः अक्षरसृष्टेश्च पुनः सूक्ष्मो विमर्शः—

बिन्दुशब्दोच्चारणेनैव मनस्येका वर्तुलाकृतिः प्रादुर्भवति । तथैव हस्तेन पत्रपटादिषु आकारो निष्पाद्यते । लेखन्या यदेकं महच्छून्यं विलिख्यते तद् बिन्दोः स्थूलाकारोऽस्ति । एष च आकार एव -o-अस्ति । अस्मिन्नाकारे या कृष्णा रेखा दृश्यते न सा बिन्दुः, किन्तु तदन्तर्गतः श्वेतभागो बिन्दुः, इदमेव बिन्दोः व्यक्तं स्वरूपं मन्तव्यम् । रेखायां तिरोहितायां तु बिन्दोरव्यक्तं स्वरूपमायाति । तच्च व्यापकम्, परिच्छेदिकाया रेखाया अभावात् । एवमेवेदं विचारणीयं यद् अव्यक्तबिन्दोः स्वरूपव्यापकं तथा निर्गुणस्य परमात्मनोऽपि मायाशून्यत्वेन निरपेक्ष्यं व्यापकं स्वरूपं मन्यन्ते । वर्तुलरेखाकृतोपाधिना परमात्मनः सगुणत्वमायाति । गतिरूपोपाधिना रेखात्रयात्मको रेखारूपो भवति । यथा नदी स्वयं प्रवाहरूपेण मध्य-रेखा भूत्वा द्वाभ्यां पक्षाभ्यां द्वे तटरेखारूपे कृत्वा रेखात्रयवती सती प्रवहति । तथैव रेखैका या दृष्टिपथमायाति, तिसृणां व्यक्तरेखाणां जननी । उभयोर्ये पूर्वयोः द्वे रेखे मध्ये चैका इति सिद्धान्तः । एवमेव सगुणपरमात्मा 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इत्युत्थानरूपेणोपाधिना व्यक्त-गुणत्रयात्मकमायारूपेणाविर्भवति ।

त्रिगुणरेखाया दृष्टगत्याक्षररूपता यथा प्राप्यते, तथा त्रिगुणात्मिकाया मायायाः कामकर्माद्यने-कोपाधिसम्बन्धवशादतर्क्यसृष्टिरूपता सम्बध्यते, एवंरूपेण व्यापकपरमात्मैवाव्यक्तो बिन्दुः । सगुण-परमात्मा व्यक्तो बिन्दुः, त्रिगुणात्मिका माया त्रिगुणा रेखासृष्टिश्च ओमित्यक्षरम् । इत्येतेषां सर्वेषामैक्यरूपं सम्बलं न मनागपि भेदः ।

अत्र विषय इदमपि सूक्ष्मावलोकनीयम् अव्यक्तबिन्दुः परमात्मा च निरपेक्षकव्यापको निर्गुणश्च तत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' सिद्धान्तात् । व्यक्तिविषयिकैव वाक्प्रवृत्तिः । व्यक्त-बिन्दुश्च प्रकृतिपुरुषोभयात्मकः स्वस्थाने निश्चलोऽयं बिन्दुः । तस्मिन् मायास्थिततमोगुणः जडोपाधि-सत्त्वात् । तत्रोपाधौ परमात्मनः सन्देशोऽभिव्यक्तः । यदा च स एव बिन्दुः गतिं प्राप्य रेखारूपो भवति, तदा मायास्थचलन-वलनात्मकं रजोगुणवशात् परमात्मनः संदंशेन सह चेतनांशोऽप्यभिव्यक्तः, तदनु रेखाया विकृतिरूपोपाधिना बिन्दुरक्षररूपोऽभवत् । तत्र मायास्थसत्त्वगुणोपाधिना परमात्मन आनन्दांशोऽप्यभिव्यक्तः । अतश्चेदमालोच्यताम्—सच्चिदानन्दघनः परमात्मा सत्त्वरजस्तमोगुणवती माया, एतौ च प्रकृति-पुरुषौ वाच्यौ । नादस्वरवर्णात्मकः प्रणवो बिन्दुरेखाक्षराकृतिमानयम्, 'ॐ' इत्येव तस्य वाचक इत्येतेषामेकरूपेण व्यक्ताभेदोऽस्ति । एतत्तत्त्वमवश्यं विचारणीयम् ।

यथा चित्रकलानिपुणेन शिल्पिना निर्माणेच्छया मृत्पिण्डं पुरतः संस्थाप्यास्मादेकं, द्वे, बहूनि च चित्रवस्तूनि सम्पादयिष्यामि, इति तस्य मनसि यथा कल्पना प्रादुर्भवति, तानि सर्वाणि वस्तूनि तस्मिन्

पूर्वमेव वर्तन्ते । इच्छानुगमा कल्पना दृढीभवति । तदाकृतिं निर्मातुं प्रयतते । एवञ्च मूर्तयः स्वोत्पत्तेः प्राग् मृत्पिण्डे यथा व्यक्ता तथैवाव्यक्ता तथैवाखिला सृष्टिः साकारभवनात् प्राग् निराकारतया मायायामव्यक्ता । तेन अव्यक्तरूपेण सह माया परमात्मनि लीना भवति,तदा समेषां मूलबिन्दुः परमात्मैवास्ति । मूर्तीनां कारणं मृत्पिण्डोऽपि स्थूलबिन्दुरेव्न अव्यक्तो बिन्दुः व्यापकः, व्यक्तबिन्दुस्तु रेखायुक्त इति प्राङ् निवेदितम् ।

यावन्तो निष्प्राणपदार्था मृत्पाषाणप्रभृतयस्ते सर्वे परमाणूनां संयोगेन जाताः । परमाणोश्च स्वरूपं बिन्दुरूपमेव । स्थूलानां जडपदार्थानां घर्षणादिकैरुपायैः आकृतिर्नाशयितुं शक्या, तत्र परमाणूनां राशिरेवावशिष्यते । तस्य विनाशस्तु कर्त्तुमशक्य इति स परमात्मनो रूपम् । अत एव न्यायशास्त्रविद्भिः परमाणुभिरेव द्व्यणुकादिक्रमेण सृष्टिरित्युद्घोष्यते । प्रत्यक्षमनुभूयताम्–तुषाराणां संयोगेन जलं जायते । तुषारश्च बिन्दुरूप एव । किं बहुना, बिन्दुशब्देन जलबिन्दोरेव प्रतीतिर्लोकसिद्धा । अन्यच्चेदं द्रष्टव्यम्–पुष्पफलवतां वल्लीवृक्षादीनामुत्पत्तिर्बीजाद् भवति । बीजस्याकृतिस्तु प्रायशो वर्तुला बिन्द्वाकृतिरेव[13] ।

यद्यपि बीजस्याकृतिः सर्वत्र न वर्तुलैव; अपि तु क्वचिल्लम्बा, क्वचन चतुष्कोणा, क्वचन त्रिकोणा इत्यादि । तथापि बीजस्योपरितनभागे एकं कवचं भवति, तदन्तर्गतं बीजं तत् काठिन्यात् प्राग् रसभयेन बिन्दुरूपेणैव तिष्ठति, प्रथमं पुष्पोद्भवः, तत्परिपाकाद् यदा तत्रत्यं मधु घनं भवति ततस्तत्पुष्पं शुष्यति । तस्य मूले मधुनो लघुपिण्डिका जायते, तस्य संरक्षणाय कवचमुत्पद्य पुष्पं निर्गिलति । ततः फलाकृतिमनुलक्ष्य वृद्धिं प्राप्य स मधुबिन्दुरप्येकत्वेनानेकत्वेन वा तत्र परिणमति । ये चाफला अपुष्पा वनस्पतयस्तेऽपि जलसंयोगे प्ररोहन्ति । तत्रापि रजःकणास्ते जलबिन्द्ववयवोत्पत्तौ कारणमिति तेषामपि बीजं ग्रन्थिपर्णादौ वर्तत एव[14] ।

व्यक्तेन्द्रियाणां प्राणिनामुत्पत्तिप्रकारः–

अव्यक्तेन्द्रियाणां वृक्षवल्लीप्रभृतीनामुत्पत्तिप्रकारमुक्त्वा व्यक्तेन्द्रियाणां सः प्रकार उच्यते । ते च त्रिविधाः–(1) जरायुजाः, (2) अण्डजाः, (3) स्वेदजाश्च । तत्र जरायुजानामण्डजानाञ्चोत्पत्तिः रेतसो रजसश्च संयोगात् । रेतो जलबिन्दुर्मधुस्थानीयम्, रजश्च पुष्परजःकणस्थानीयम् । अत एव पुष्पवत्याः स्त्रिया रजोदर्शनं संजातमित्युच्यते ।

अनयोरुभयोर्बिन्द्वोः सम्मेलनाद् गर्भधारणं भवति यस्य बिन्दोराधिक्यं तद्वशात् पुरुषरूपा स्त्रीरूपा वाऽऽकृतिर्जायते । यद्यपीमा आकृतयः स्वातन्त्र्येण स्त्रीपुंसस्वरूपा उपलक्ष्यन्ते, तथापि प्रत्येकाकृतिषु वामदक्षिणाङ्गयोर्गौणप्रधानभेदोऽस्त्येव । पुरुषस्य दक्षिणमङ्गं प्रधानम्, वामं तु गौणम्, तदनुरोधेन बलस्यापि तारतम्यं भवति । एवं स्त्रीणां वामाङ्गं प्रधानम्, दक्षिणं त्वप्रधानम्, तस्या वामशरीरे दक्षिणाङ्गाद् बलाधिक्यम् । तथापि पुरुषवामशरीराद् न्यूनमेव दक्षिणाङ्गात्तु सुतरामेव । अत एव स्त्री वामाङ्गी इत्युच्यते । न्यूनशक्तेरधिकशक्त्यायत्तत्वात् ।

सा स्वभावेनैव पुरुषाधीना न स्वतन्त्रा । उक्तञ्च राजर्षिमनुना–

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति[15]" ॥

अपरञ्चैतदपि मार्मिकप्रमाणं द्रष्टव्यम्–मनुष्यस्य अन्यप्राणिनो वा शरीरे द्वौ भागौ समानौ वर्तेते। द्वे नेत्रे, द्वौ कर्णौ, नासापुटे द्वे, स्कन्धौ द्वौ, पादौ च द्वौ, इत्येवं सर्वे अवयवा द्वन्द्वीभूय वर्तन्ते। उदरे मुखे चापि मध्यवर्तिन्या रेखया द्वौ भागावनुमातव्यौ। अनया च रीत्या मनुष्याकृतिः स्वभावेन द्वेधाभूता संहिताऽस्तीति परिज्ञायते।

यद्यपि शरीरेऽवयवानां द्वन्द्वमस्ति, तथापि ताभ्यामेकैव क्रिया घटते, अतश्च द्वन्द्वेऽपि परस्परं सापेक्षत्वभावनया स्त्री-पुरुषयोः स्वाभाविकः स्नेहः परस्परमिति विज्ञानम्।

एवमेवाण्डजानामपि मूलं बिन्दुरेव। तत्र इयान् भेदः। जरायुजः प्राणी पूर्णावयवः सन् गर्भाशयाद् बहिरागच्छति। अण्डजस्तु निरवयवोऽण्डाकारेण गर्भाशयाद् बहिरागत्य पुनः कोटरादौ तस्मिन्नण्डेऽवयवैरात्मानमभिसम्पाद्याण्डनिर्भेदादुत्पद्यते। अत एव द्विजशब्देनापि व्यपदिश्यते। कीटपतङ्गादयः स्वेदजाः 'विकृतानां पृथिवीजलोष्मणां संयोगाद् यो वाष्पबिन्दुर्जायते (शरीराद् विनिर्गच्छति) स स्वेद इत्युच्यते"। निदाघसमये शरीरे यो घर्मः समुत्पद्यते, तस्मिन् शरीरजो मलः, जलम्, ऊष्मा चेति त्रितयमुपलभ्यते। मस्तके मलिनवस्त्रादौ च यूका-लिक्षादयो घर्मादिव जायन्ते। एवञ्च स्वेदज-प्राणिनामुत्पत्तेर्मूलं कारणं बिन्दुरेव।

एतावता इदमागतं यत् समग्रस्य मूलकारणं प्रणवाख्यो बिन्दुरेव। यस्य व्यक्ततायाः प्राक् समस्तं जगत् तत्रैव लीनमासीत्। सृष्टिकाले त्वनन्तानि नामरूपाणि तु तत एव प्रादुर्भवन्ति, तत्रैव च स्थितानि, तत्रैव च लीनानि भवन्ति। तथा चोक्तम्–'ॐ' **इत्यक्षरमिदं सर्वम्**"[16]।

●

---

1. श्रीमद्भागवतम्, 12/6/37।
2. तत्रैव, 12/6/39।
3. तत्रैव, 12/6/40।
4. तत्रैव, 6/2/41।
5. तत्रैव, 6/2/42।
6. तत्रैव, 6/2/43।
7. महाभाष्ये, सूत्र-संख्या–1/2/39।
8. अव्यक्तबोधः, पृ. 47-49।
9. तत्रैव, पृ. 49-50।
10. वै. लं. म. बौद्धार्थः, पृ. 36।
11. अव्यक्तबोधः, पृ. 51-53।
12. इत्येतद् रहस्यं महाराष्ट्रभाषया विरचिते स्वानन्दसाम्राज्य-सृष्टिवर्णन-प्रस्तावे द्रष्टव्यम्।
13. अव्यक्तबोधः, पृ. 7-74।
14. तत्रैव, पृ. 74-75।
15. मनुस्मृतिः, 9/3।
16. माण्डूक्योपनिषद्, 1/1।

तान्त्रिको योगः स्वरूपं मीमांसा च

डॉ. रुद्रदेवत्रिपाठी

तन्त्रशब्दार्थः परिभाषा च

'तन्त्र'शब्दं बहुधा व्याचख्युः शास्त्रकाराः। येषु प्रामुख्येन–'सिद्धान्त–शासन-प्रबन्ध-व्यवहार-नियम-वेदशाखा-शिव-शक्त्योस्तथान्यासां देव-देवीनां पूजा-विधान-शास्त्र-कर्मकाण्डागम-पद्धति-विविधोद्देश्यपूरकोपायाद्यर्थाः कोशकाराभिमताः सन्ति। यथोक्तं **मेदिनीकोशे**–

तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये च सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तूद्भवे च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥
श्रुति-शाखान्तरे हेतावुभयार्थ-प्रयोजने।
इतिकर्तव्यतायां च...............................॥ इत्यादि।

वाचस्पत्य-कोशे केचनान्येऽप्यर्था उद्भाविताः, येषु व्युत्पत्तिदृशा–'1. तननं तन्त्रम्, 2. तन्यतेऽनेनेति तन्त्रम्, 3. तन्त्रणं तन्त्रम्, 4. तनोति त्रायते चेति तन्त्रम्' इति विभाव्य विस्तार-धारण-पालनार्थकानां क्रमेण 'तनु-तत्रि-तन्-त्रैङ्' धातूनां प्रयोग-माध्यमेन तन्त्र-शब्दो निरुक्तः। तस्मादेवोच्यते–

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते॥

किञ्चैतदनुसारं "सर्वेषामनुष्ठानानां विस्तृतिपूर्वकं ज्ञानं तथा तेषां प्रयोग-विशेषेण सम्पादितैः कर्म्मभिः संरक्षणोपलब्धि'रित्ययमर्थस्तन्त्रशब्दस्य सिद्ध्यति। **कामिकागमे**ऽपि सोऽयमर्थ एव पद्येनानेन परिपोषितः–

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमात्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥ इति।

एवं विविधार्थतत्त्वगर्भस्तन्त्र-शब्दः कात्यायनश्रौतसूत्रस्य "कर्मणो युगपद् भावस्तन्त्रम्" (1/7/1) इति सूत्रप्रोक्तसमर्थमङ्गीकुर्वन् सर्वत्र सर्वैर्व्यवह्रियते।

तन्त्रस्य प्रकारा योगश्च

'इष्टदेवस्याथवेष्टदेवीनां साधनासूपयोगिनां साधकैरनुष्ठेयानामनुष्ठानानां विधानमेव तन्त्रमस्तीति' दृष्टिमवधार्य विचारणात् तन्त्रस्य मुख्यौ द्वौ प्रकारौ 1. ज्ञानं 2. विज्ञानञ्चेति निर्धार्येते। अनयोर्द्वयोः प्रकारयोराधार एव विविधानामन्येषां प्रकाराणां व्यवस्थापार्थक्येन 'तान्त्रिकज्ञान-तान्त्रिक-विज्ञान'-रूपयोस्तन्त्रसुम्बद्धानां प्रक्रियाणां भूयान् विकासोऽभूत्। इत्थमेव 'योग'–शब्दोऽपि स्वस्मिन् भूयसोऽर्थान्

धारयति । यथा हि कोशकाराः—"संयोगोपाय-ध्यान-सङ्गति-प्रेमच्छल-प्रयोगौषधि-धनलाभ-कौशल-परिणाम-नियमोपयुक्ततोपायचतुष्टय—सामदामदण्डभेद-सम्बन्ध-सद्भाव-शुभफल-वैराग्य-सुयोग-मोदनोपाय-समाधि-चित्तैकाग्र्यसाधनप्रक्रिया-यन्त्र-मन्त्रतन्त्रादिसाध्यक्रिया-प्रभृतीनर्थान् बोधयन्ति । सहैव विभिन्नैराचार्यैरपि योगशब्दमधिकृत्य यथाप्रसङ्गं नानाविधाः परिभाषा अपि विभाविताः सन्ति । एवं सत्यपि सर्वेषामर्थानां सर्वासां परिभाषाणां मूलं महर्षि-पतञ्जलेः—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" सूत्रमेव विद्यते । वस्तुत एतत्सूत्रानुसारं चित्तवृत्तेर्निरोधस्तथा तदर्थं विधीयमानानां साधनानामेवाभिधानं 'योग' इति सिद्ध्यति ।

यौगिकीनां प्रक्रियाणां विषये पूर्वाचार्यैरतीव विशदतया विचारा आविर्भाविताः किञ्च योगस्याङ्ग-प्रत्यङ्गानां निरूपणमपि सूक्ष्मातिसूक्ष्म-समीक्षणेन विहितमस्ति । राजयोग-हठयोग-मन्त्रयोग-लययोगातिरिक्तं कर्म-भक्ति-ज्ञानयोगानां विस्तारोऽपि योगस्य सर्वव्यापकतां प्रथयत्येव । व्याकरण-दृशा 'युज्' धातोरर्थद्वयी व्यज्यते—1. योजनं-संयोजनं 2. समाधिः=मनसःस्थैर्यञ्च । प्रायः सर्वैरपि चिन्तकैरेतौ द्वावप्यर्थावाश्रित्य योगस्य सम्बन्धोद्योतनाय स्वाः स्वाः परिभाषाः पुरस्कृताः । "धर्मव्यापाराध्यात्मिक-भावना-समताविकास—मनोविकारक्षय-मनोवचःकर्म्मसंयमात्म-विशुद्धि" प्रभृतीनां प्राप्तये क्रियमाणाभिः साधनाभिरात्मनो मोक्षेण सह संयोजनस्य भावस्तासु तासु परिभाषासु समाविष्टः[1] जैन-बौद्ध-सम्प्रदाययोरपि तादृश्यै भावनायै सुतरामभिव्यक्ति-प्रदायकः 'कर्म्म-विशेष' एव 'योग' इति स्वीकृतिः परं ताभ्यां स्वाः स्वाः कतिपयाः पारिभाषिकाः शब्दा अपि निर्धारिताः सन्ति, ये तेषामागमानां पिटकानां च परिधौ समाविष्टानां प्रक्रियाणां परिशीलनेन साकमेव साम्प्रदायिकानि साधना-तत्त्वान्यपि परिलक्ष्यन्ति ।

योग-परम्परायां 'ज्ञानस्य क्रियायाश्च' कोऽप्यपूर्व एवास्ति समन्वयः । ज्ञानक्रिये चैते यदा बाह्यभावेनानुष्ठीयेते, तदा ताभ्यामुत्तमं स्वास्थ्यमान्तरिक उल्लासः शरीरावयवानां समुचितं दार्ढ्यं कार्यक्षमता रोगनिवृत्तिर्द्वन्द्वसहिष्णुतादयो गुणा विकसन्ति, ये हि सुव्यवस्थितान्तरिक-साधनार्थमपि नितान्तमावश्यका वर्तन्ते । यदा चान्तर्भावेन योगानुष्ठानं विधीयते, तदा तेन साकमपि ज्ञानेन सह क्रिया विधीयन्ते । तासु क्रियास्वष्टाङ्गानां तथा तदीयानां विभिन्न-भेद-प्रेभदानां प्रबोधनविधानमपि क्रियते । तादृशानुष्ठानद्वारा साधको न केवलं शरीरस्यान्तर्गतानां स्थूलचक्र-सूक्ष्मचक्र-प्रमुखनाडी-तन्त्र-गुच्छरूपस्थ-नाडीसमूहानां क्रियाकारित्वोन्मेषतः प्रभावितान् विधीन् योगमूलकैः साधनैः समाध्युन्मुखान् विदधाति; अपि तु चक्रबीजैस्तत्तत्-साधना-शास्त्र-विधानोदितेष्टदेवता-परिवार-देवता-विशेष-क्रम-प्रोक्तैः सृष्टि-स्थिति-संहारानाख्या-भासा-प्रकारैर्दशाम्नाय-प्रक्रियया ग्रथितैः कूट-रूप-प्रवर्तित-गुरु-मार्गोपदिष्ट-दीक्षाविधान-सम्प्राप्तैस्तैस्तै—र्बीजमन्त्रैर्नाममन्त्रैर्वा सिद्धेः शिखरमपि प्रापयति । यौगिक-क्रियाभिः सह मन्त्रादीनां संयोग एव 'तान्त्रिक-योग'-संज्ञया सम्बोधितो भवति । योगेन सह तान्त्रिक-क्रियाणां समायोग इत्थं तन्त्राणां देव-देवीनां सम्प्रदायानाञ्च वैविध्यं समासाद्य तान्त्रिक-योगमपि वैविध्येन विशदयति ।

तान्त्रिक-योगस्याङ्गानामुपाङ्गानां च परिज्ञानम्

योग-साधनार्थं शरीरस्य तथा तदङ्गभूतानामवयवानां ज्ञानं त्वावश्यकमस्त्येव, ततोऽप्यधिकं सूक्ष्मया दृष्ट्या शरीरान्तर्गतानामवयवानां परिज्ञानमपेक्षितं भवति, यतो हि तेषां ज्ञानं विना साधनाऽपूर्णेव तिष्ठति । अस्तीदमेकं शाश्वतं सत्यम् । कथनस्यास्य पुष्टये **श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य-प्रणीते–** **'यतिदण्डैश्वर्यविधान'**2–नाम्नि ग्रन्थे स्पष्टतयोक्तमस्ति–

यतिदण्डे साधनाया ये ये मार्गाः प्रदर्शिताः।
तेषां सम्यक्-सिद्धिलब्ध्यै योग-ज्ञानमपेक्षितम् ॥ 3/1 ॥

तथा प्रसङ्गमिममेव पल्लवयित्वा 1-शरीरस्थचक्र 2-नाडी 3-वायु 4-वायुस्थान 5-वर्ण 6-कार्य 7-इन्द्रियपरिवार 8-आधारादिचक्र 9-चक्राधिष्ठात्रीदेवी 10-चक्र-सृष्ट्यादिक्रम 11-चक्रदेवी 12-नाडीद्वाराचक्रनिर्माणप्रक्रिया 13-प्रमुखषोडशनाडीस्थान 14-नाडीगति 15-विभिन्नसमूहस्थिति 16-स्वरूप 17-सन्निर्मित-चक्र-स्वरूप 18-ग्रन्थिभेदन 19-विभिन्नचक्रान्तर्जप-प्रकार 20-जप-फलादीनां वर्णनमपि विहितमस्ति । तत्रैवेदमपि सूचितं विद्यते यत्–

जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद् ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत् ।
जप-ध्यानादि-संयुक्तः क्षिप्रं मन्त्रः प्रसिद्ध्यति ॥ 3/154 ॥

यद्यपि योग-प्रकारेषु यत्र तत्रोपर्युक्त-विषयाणां वर्णनमपि समुपलभ्यते, तथापि तान्त्रिक-योगस्य यादृशी प्रक्रिया 'यतिदण्डैश्वर्य-विधान'–ग्रन्थे निर्दिष्टा विद्यते नतमां तादृशी कुत्रापि केनापि प्रकाशिताऽस्ति । आचार्यपादैः समग्रस्य शरीरस्य स्वरूप-परिज्ञानां कारयद्भिर्नव-सङ्ख्याकानां शरीराणां परिचयोऽपि कारितो, येषु मस्तिष्के त्रीणि चक्षुषोः कर्णयोश्चैकमेकं हस्तयोः पदोश्च द्वे द्वे इत्थमाहत्य नव शरीराणि भवन्ति । समस्तमपि नाडीजालं शक्तीनां देवीनां नामभिर्व्यवहृतं वर्तते, तथा तासां शक्तीनां तत्तद्-बीज-मन्त्र-नाममन्त्रादिभिस्तज्जालवर्तिनः प्रत्येकमवयवस्य 'तान्त्रिक-योग'-माध्यमेन प्रबोधनं विधाय तस्य स्वाभिलषिते कर्म्मणि प्रयोगो विधातुं शक्यते ।

नैतावदेव, योगशास्त्रेषु वर्णितानां विभूतीनां रहस्यमपि ग्रन्थेऽस्मिन् सजीवानां नाडीनां रूपेण चित्रितमस्ति । साधकः शरीरस्थां कामपि नाडीं प्रबोध्य यथेप्सितां यां कामपि विभूतिं हस्तामलकवत् प्राप्तुं शक्नोति । वस्तुतो यौगिक-विभूतीनामुपलब्धेर्गुरुगममार्ग एव तन्त्रपथः स एव च 'तान्त्रिक-योग' नाम्नाऽभिप्रेतः । यस्य लक्ष्यस्योपलब्धये योगमार्गः कठोरां साधनां निर्दिशति, तस्यैव लक्ष्य-स्यावाप्तिस्तन्त्रविधिना सहजा सरला च भवति । सहैव तन्त्र-विधिनोपलभ्यमाना विभूतयो योगापेक्षयाऽधिकं सुगमाश्चिरं स्थायिन्योऽपि भवन्ति ।

तन्त्र-योगश्चक्र-विज्ञानञ्च

योग-ग्रन्थेषु मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धाज्ञानाम्नां षट् चक्राणां विवरणेन सहैव सहस्रारचक्रस्य वर्णनं प्राप्यते, परं तान्त्रिका आचार्य अस्मिन् विषये नूत्न-नूत्ना गवेषणाः कुर्वाणाः सुबहु पुरोवर्धमानाः प्रतीयन्ते । चक्राराधनाया दैनिकीषु प्रक्रियासु काली-कल्प-सुन्दरी-कल्पयोः क्रमानुसारं मूलाधारादधो 1-अकुलसहस्रार 2-विषुवचक्रयोर्विधानं विद्यते । मूलाधारादि षण्णां चक्राणां मध्ये

1-स्वाधिष्ठान 2-मणिपूर 3-अनाहत 4-विशुद्धानि चक्राण्यधोमुखान्यपि मन्यन्ते । किञ्च पूर्वादि-द्वयोर्द्वयोर्दिशोर्योगेन निर्मितानि वह्नि-वाय्वीशान-नैर्ऋत्य-कोणात्मक-चतुश्चक्र-चिन्तन-विधानमपि तन्त्रेष्वेव प्रदर्शितं विद्यते । श्रीविद्याया दक्षिणामूर्तिमते 'स्वस्तिक-चक्र'मेकं विशिष्य स्वीकृतं यच्च मणिपूरानाहत-योर्मध्ये ह्याकुलायाः आङ्ग्लभाषायां sternum शब्दवाच्यायाः पृष्ठेऽस्ति । अस्याकारः स्वस्तिक-सदृशस्तथाऽयं श्वेतवर्णकः । चित्तरूप-हरिहरयोरस्मिन् मननं भवति । अष्टौ दलान्यस्य सन्ति येषु— 'अं कं चं टं तं पं यं शं' चेत्यष्टाक्षरबीजानि वसन्ति । 'प्राणतोषिणी'—तन्त्रग्रन्थे चतुःषष्टि —दलात्मकस्यैकस्य 'ललना-चक्र'स्य तालुनि स्थितिरपि मानिता । अस्माच्चक्रात् प्राक् 'लम्बिका-चक्रं' विशुद्धाज्ञयोर्मध्ये स्वीकृतमस्ति । आज्ञाचक्रस्योपरि 'गुरु-चक्र'स्य शतदलात्मकस्य ब्रह्मरन्ध्रे स्थितिः साधिता । केचनान्य आचार्यः 'सोमचक्र-मानसचक्र—ललाट-चक्र'मपि तत्रैव निर्दिशन्ति । काली-कल्पानुसारमिमान्येव द्वादशचक्राणि शारीराणि निगद्यन्ते ।

आज्ञाचक्रं 'कालीकल्प-सुन्दरीकल्प'योरुभयत्र विभागं मत्वा योगतन्त्रानुसारमाज्ञाचक्रादूर्ध्वमेकै-काङ्गुलवर्तिषु भागेषु 'सप्तकोश' नामकं 'मनश्चक्रं' तथा '1-बिन्दु-2-अर्धचन्द्र-3-रोधिनी-4-नाद-5-नादान्त-6-शक्ति-7-व्यापिका-समना-9-उन्मनी-10-महाबिन्दु-चक्राणां कल्पनमपि विद्यते । यति-दण्डैश्वर्य-विधाने पूज्यपादाद्यशङ्कराचार्यास्तु चक्रक्रममिममष्टोत्तरशतसङ्ख्यां यावत् सूचयन्ति—

अष्टोत्तर-शते चक्रे मन्त्र-पिण्डाक्षरात्मके ।

द्विशतात्मो[3] पुनः प्रोक्त उदयः सर्वसिद्धिदः ॥ इति ।

तान्त्रिक-योगः सिद्धयश्च

सिद्धीनां वर्णनं योगशास्त्रे महर्षिणा पतञ्जलिना विहितं परं तासां प्राप्तयो लक्ष्यसिद्धौ बाधिका इत्यपि तैस्तत्र निर्दिश्य ताभ्य आत्मनो रक्षणायापि निर्दिष्टम् । किन्तु ताः सिद्धयो यद्यकल्पितेन रूपेण प्राप्यन्ते, तदा ता बाधिका नैव भूत्वा साधिका एव सम्पद्यन्ते । अनया दृष्ट्या सिद्धेर्द्वौ प्रकारावङ्गीकृतौ स्तः—1-अकल्पिता सिद्धिः 2-कल्पिता सिद्धिश्च । अनयोरकल्पितायै सिद्धये तान्त्रिकस्य योगस्य नितान्तमावश्यकता भवति । उक्तं च तत्रैवैतदर्थम्—

मन्त्राणां जपतो योगाद् धारणा-ध्यानतस्तथा ।

न्यासात् सम्पूजनाच्चैव सिद्ध्यन्ति सिद्धयस्तु याः ॥

अकल्पितास्ताः सम्प्रोक्ताश्चिरकाल-सुखप्रदाः ।

प्रान्ते ब्रह्मपद-प्राप्तावपि साहाय्यकारिकाः ॥ 3।9-10 ॥ (यतिदण्डैश्वर्ये.)

अत एव मन्त्रजप-योग-धारणा-ध्यान-न्यास-पूजनादि-प्राप्ता अकल्पिताः सिद्धयो ब्रह्मपदप्राप्तये सहायिका इति कृत्वा न भवन्ति ता बाधिकाः । रसौषधि-क्रियासमूहाभ्यास-साधन-प्राप्ताः कल्पिताः सिद्धयः क्षणस्थायिन्यः स्वल्प-सुखावहाश्च भवन्ति, तस्मात् ता बाधिका एव सम्पद्यन्ते ब्रह्मपद-प्राप्ताविति ।

आध्यात्मिकानां साधना-सम्बद्धानाञ्च रहस्यानामुद्घाटनं केवलेन योगेन न सम्भवं भवति । अतिप्राचीनात् कालादियं वार्ता पूर्वाचार्यैर्विज्ञाताऽऽसीत् । तस्मादेव कारणाल्लोककल्याणकारिणस्तन्त्र-

मार्गस्य प्रवर्तनमप्यभूत् । योगनिर्दिष्टानां षण्णां चक्राणां वैशिष्ट्यं परिलक्षयद्भिराचार्यैस्तन्त्रमार्गे तेषामधोमुखत्वं प्रतिपाद्येदमपि दर्शितं यदभ्युदयाकाङ्क्षिभिरधोमुखानां चक्राणां साधनं कर्त्तव्यं किञ्च निःश्रेयस-साधनायोर्ध्वमुखचक्राणां साधनं कर्तव्येति । शरीरस्य मेरुदण्डाग्रे यथा षट्चक्राणां स्थितिरस्ति तथैव करयोः पदोर्मध्येऽपि लध्वाकाराणि षट्-षट् चक्राणि सन्तीत्यपि तान्त्रिकयोगादेव ज्ञायते । अधोमुखचक्रेषु केषां ध्यानमूर्ध्वमुखरूपेण केषाञ्चाधोमुखरूपेण विधेयमिति व्यवस्थापि तान्त्रिक-योगाधीना । चक्राणामुपासनायां जपो ध्यानञ्चोभावेव मान्यौ विद्येते, परं 'जिज्ञासापूर्तिराकर्षण-शक्तिर्बुद्धिविकासो ज्ञान-विज्ञानोपलब्धिः सिद्धिस्तथा स्वेष्टस्य 'स्वरूपैश्वर्य-वैभव-सामर्थ्यमूलक-विभूतीनां च यथार्थोऽनुभवः साधकेन कथं सम्प्राप्य दिव्यतोदयः कर्तुं शक्यत इति मार्गदर्शनं तान्त्रिक-योग-साधनादेव सम्भाव्येत ।

श्रीचक्रोपास्तौ तान्त्रिको योगः

नवयोन्यात्मकं श्रीचक्रं-श्रीयन्त्रं महात्रिपुरसुन्दर्याः कामराजविद्यास्वरूपं ब्रह्मरूपेणोपासितं सन्भुक्तिं प्रयच्छति । श्रुति-प्रतिपादितस्यास्य चक्रस्याभिव्यक्तिः स्थूल-बाह्य-सृष्टि-सूक्ष्मान्तःसृष्टिरूपयोर्भवति । श्रीचक्रस्य साधना-पद्धतिर्द्विविधा विद्यते । तत्र बाह्य-साधनायां बाह्यैरुपकरणैः सविध्याराधनं भवति । अपरस्यामन्तःसाधनायां देहेऽधऊर्ध्वस्थ-सहस्रदल-कमले विसृज्य मध्यस्थेष्वष्टचक्रेषु विद्यमानानि षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विक्षेपरहितानि विधायाष्टचक्रभेदन-पुरस्सरं कुण्डलिनी-प्रबोधने सति धैर्येणाधोऽ-कुलचक्रादाज्ञाचक्रं यावत् पूर्णे देहे स्थितेषु चक्रेषु श्रीचक्र-भावनया मुद्रासहितमाराधनं विधीयते ।

श्रीयन्त्रस्य मानव-शरीरे स्थितं स्वरूपं ग्रन्थेषु द्विविधं प्राप्यते । श्रीयन्त्रस्यैकं बिन्दुस्थानं स्वाधिष्ठाने द्वितीयस्य च सहस्रारे विद्यते । अनेनैवानुपातेन श्रीयन्त्रस्य निर्माणं सम्पन्नम् । एवं प्रतीयते यद् यतीनां दण्डस्य निर्माणमपि तदाधारेणैव विहितं भवेत् । यतिदण्डैश्वर्यविधाने तु सहस्रारस्य बिन्दोस्त्रयाणां श्रीयन्त्राणां निर्माणं तथा स्वाधिष्ठानस्य बिन्दोर्द्वयोः श्रीयन्त्रयोर्निर्माणं भवति । एतेषां नामानि सन्ति— 1-सृष्टि 2-स्थिति 3-लय 4-अनाख्या 5-भासाख्यानि । एतेषुं पञ्चस्वपि प्रकारेषु श्रीयन्त्रस्य पूजास्तान्त्रिकयोग-पद्धत्या विधातुमन्तर्यागक्रमः सुसाध्यो मन्यते । श्रीचक्र-साधनाया लक्ष्यमात्म-शक्ते-र्विकासोऽस्ति । अन्तःसाधन-प्रक्रियया साधकः श्रीचक्रस्य भावनां यदा स्वशरीरे विदधाति, तदा सोऽनुभवति यन्मम ब्रह्मरन्ध्रं बिन्दुचक्रं, मस्तकं त्रिकोणं, ललाटमष्टकोणं, भ्रूमध्यमन्तर्दशारं, कण्ठो बहिर्दशारं, हृदयं चतुर्दशारं, कुक्षिर्वृत्तं, नाभिरष्टदलं कमलं, कटिरष्टदलस्य बहिर्वृत्तं, स्वाधिष्ठानं षोडशदलं कमलं, मूलाधारः षोडशदलकमलस्य बहिर्वर्त्तिवृत्तत्रयं जानु-जङ्घा-पादाश्च भूपुरस्य तिस्रो रेखाः सन्तीति ।

अथवा मूलाधारादधोगतेऽकुलसहस्रारे चतुरस्रात्मकत्रैलोक्यमोहनचक्राधिष्ठात्र्यणिमाद्यष्टा-विंशति-शक्तिसहित-प्रकटयोगिनीरूपा त्रिपुरा, अधःसहस्रारोपरितने भागे षड्दले त्रिवृत्तात्मकत्रिवर्ग-साधकचक्राधिष्ठात्री-कालरात्र्याद्येकषष्टिशक्तिसहितमातृकायोगिनीरूपा त्रिपुरेशिनी, मूलाधारे चतुर्दले षोडशदलपद्मात्मक-सर्वाशापरिपूरक-चक्राधिष्ठात्री-कामाकर्षिण्यादि-षोडशशक्तिसहित-गुप्त-योगिनीरूपा त्रिपुरेशी, स्वाधिष्ठाने षड्दलेऽष्टदलपद्मात्मक-सर्वसंक्षोभणचक्राधिष्ठात्र्यनङ्ग-कुसुमाद्यष्टशक्तिसहित-

गुप्ततरयोगिनीरूपा त्रिपुरसुन्दरी, मणिपूरे दशदले चतुर्दशारात्मक-सर्वसौभाग्य- दायकचक्राधिष्ठात्र्यनङ्ग-कुसुमाद्यष्टशक्तिसहित-गुप्ततरयोगिनीरूपा त्रिपुरसुन्दरी, मणिपूरे दशदले चतुर्दशारात्मक-सर्व-सौभाग्यदायकचक्राधिष्ठात्री सर्वसंक्षोभिण्यादि-चतुर्दश-शक्तिसहित-सम्प्रदाययोगिनी-रूपा त्रिपुरवासिनी, अनाहते द्वादशदले बहिर्दशारात्मक-सर्वार्थसाधकचक्राधिष्ठात्री सर्वसिद्धिप्रदादिदशशेक्तिसहित-कुलोत्तीर्ण-योगिनीरूपा त्रिपुराश्री, विशुद्धौ षोडशदलेऽन्तर्दशारात्मक-सर्वरक्षाकर-चक्राधिष्ठात्री सर्वज्ञादि-दशशक्तिसहित-कुलोत्तीर्णयोगिनीरूपा त्रिपुरमालिनी, लम्बिकाग्रेऽष्टारात्मकसर्वरोगहरचक्राधिष्ठात्री वशिन्याद्यष्टशक्तिसहित–रहस्ययोगिनीरूपा त्रिपुरासिद्धा, आज्ञायां त्रिदले त्रिकोणात्मकसर्वसिद्धिप्रद-चक्राधिष्ठात्री कामेश्वर्यादि-त्रिशक्तिसहितातिरहस्ययोगिनीरूपा त्रिपुराम्बा तथा सहस्रारे (सहस्रदलपद्मे) बिन्द्वात्मक-सर्वानन्दमयचक्राधिष्ठात्री षडङ्गायुध-दशशक्तिसहित-परापरातिरहस्य-योगिनीरूपा श्रीमहा-त्रिपुरसुन्दरीत्येवं सर्वमात्मनः शरीरं श्रीचक्र-स्वरूपमित्यनुभवति साधकः ।

ईदृश एव तान्त्रिक-योग-निष्णातः साधको 'योगिनी-हृदये' प्रशंसितः । यथा–

त्रिपुरेशी महायन्त्रं पिण्डाण्डात्मकमीश्वरि !
यो जानाति स योगीन्द्रः स शम्भुः स हरिर्विधिः ॥

तान्त्रिके योगे प्रवृत्त उपासकोऽनेनैव विधिना सर्वासां देवतानां यन्त्राणि स्वशरीरे विभाव्य तत्तन्मन्त्राराधना-पूर्वकं स्वेष्टदेवता-प्रसादं सारल्येनासादितुं शक्नोतीति–

'सर्वेषु योगमार्गेषु तान्त्रिको योग उत्तमः ।
यमासाद्य नरः शीघ्रं कृपां स्वेष्टस्य विन्दन्ति ॥



---

1. प्रमाणाय निम्नलिखिता मूलांशाः सन्ति निरूपणीयाः–
   (क) योग आत्मा । (तैत्तिरीयोपनिषदि 2/4) ।
   (ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम् ।
   अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ (कठोपनिषदि 2/6/11) ।
   (ग) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति । (तत्रैव 1/2/12) ।
   (घ) तत्कारणं साङ्ख्य-योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । (श्वेताश्वतरोपनिषदि 6/13)
   (ङ) तथा तैत्ति. 2/4, कठ. 2/6/11, श्वेता. 2/11, 6/3, 1/14, छान्दो. 7/6/1, 7/6/2, 7/7/9, 7/26/11, कौषीतकि. 3/2, 3/3, 3/4 ।
2. अयं ग्रन्थो मया संशोध्य सम्पाद्य हिन्दीभाषयानूद्य च सज्जीकृतोऽस्ति, तस्यैव मूलांशः साम्प्रतं प्रकाशितो जयपुरात् ।
3. 'द्वि-शतात्मा+ओम्' इति च्छेदः । यतिदण्डैश्वर्य-विधान-ग्रन्थे प्रामुख्येन प्रणवस्य 256 मात्राः प्रदर्शिताः । प्रणव एवात्र प्रतिपाद्यम् । तदनुरुध्यैव यतिदण्डे प्रणवोपासनाऽत्रोक्ता ।

अभिनवयोगभाष्यभूमिका

डॉ. चिन्तामणि-त्र्यम्बककेंधे

अथ योगसूत्राणामभिनवभाष्यम्–

ईश्वरं सर्वभूतानां हृद्देशे सुप्रतिष्ठितम् ।
प्रणम्य तत्प्राप्त्युपायं योगं व्याख्यातुमारभे ॥
स्पष्टं सूत्रेषु निर्दिष्टं किन्तु व्याख्यानजालके ।
पतित्वाच्छन्नरूपं तं योगमुद्धर्तुमुत्सहे ॥
नास्ति मे साधना काचिन्नाधिकारो विशेषतः ।
जिज्ञासया प्रवृत्तोऽहं शास्त्रं सम्यगधीतवान् ॥
सूत्राणामेव शब्देषु प्रणिधाय प्रयत्नतः ।
भाष्यमभिनवं चैतत्तन्यते विनतेन तु ॥

इह खलु शेषावतारत्वेन प्रख्यातेन महर्षिणा पतञ्जलिना चित्तवाक्कायशुद्ध्यर्थं शास्त्रत्रयं प्रचारितमिति प्राचीनाविच्छिन्ना परम्परा । तत्र चित्तशुद्ध्युपायो योगस्तस्यानुशासनसूत्राणि पतञ्जलिमुनिना विरचितानि । गतेषु सूत्रेषु व्यासभाष्यापरनामकं सांख्यप्रवचनभाष्यं प्रथितं विद्यते । तस्यानुव्याख्यानानि सूत्रव्याख्यानान्यन्यान्यपि च बहुशः प्रावर्तन्त । एवं सति कोऽयमभिनवभाष्यरचनायां प्रयास इति । उच्यते–भाष्यकारादीन् पूर्वसूरीन् श्रद्धयादरेण च प्रणम्येदं निवेद्यते । विदुषां पूर्वसूरीणां व्याख्यानानि निःसंशयं प्रौढभाषानिबद्धानि विद्वत्तापूर्णानि च । किं तु सूत्रकारस्याभिप्रायः सम्यग् न विवृतस्तैः । यतो हि बहुत्र सूत्रकारेण विरोधो व्याख्याकाराणां दृश्यते । न चासौ विरोधाभासो निरासासंभवात् । अत एव सूत्रकाराभिप्रायमेव सम्यग् विशदीकर्तुमभिनवभाष्यमिदं प्रणीयते । तस्य साफल्ये वैफल्ये वा विद्वांस एव प्रमाणम् ।

प्रारम्भ एव योगः समाधिरिति प्रतिपादयन् भाष्यकारः सूत्रकारं विरुणद्धि । सूत्रेषु हि योगस्य समाधेश्च पृथग् लक्षणे कृते । योगभेदाः समाधिभेदाश्च पृथक् प्रतिपादिताः । अत्रैव भाष्यकारोऽमूमुहत् सर्वानपि व्याख्याकारान् । नैकेनापि व्याख्याकारेण सूत्रशब्देषु किंचिदवधानं प्रदत्तम् । अपि त्वन्धपरम्परा-न्यायेन सर्वैरपि भाष्यकारस्यैवानुसरणं कृतम् । सूत्रशब्दान् सम्यगवधारयन् न कश्चिदपि योगसमाध्योरेकत्वमभ्युपेयात् । संप्रज्ञातासंप्रज्ञातौ तथा तयोरुपभेदाश्च योगभेदाः सबीजनिर्बीजौ तयोरुपभेदाश्च समाधिभेदाः । तत्र संमोहो भाष्यकारमनुसृत्य सकलैरपि व्याख्याकारैः प्राचीनैरर्वाचीनैश्च कृत इत्यहो महानयं भाष्यकारस्य प्रभावः । यदि संप्रज्ञातोऽपि समाधिः सबीजोऽपि

समाधिस्तयोरनर्थान्तरं पु' तर्हि किमिति पृथक्संज्ञे कृते शास्त्रे ? नैतत् किं शास्त्रे दोषमावहति ? तदेतन्न केनापि चिन्तितं येन दूषितं योगशास्त्रमिति सखेदं वस्तुमुत्सहे । अत एव महतामपि विरोधमुपसह्य शास्त्रस्य विशुद्धस्वरूपं विशदीकर्तुमभिनवभाष्यप्रणयनेऽयं प्रयासः क्रियते ।

अपि च योगः समाधिरिति ब्रुवता भाष्यकारेण 'युजिर्योगे' इति निवर्त्य 'युज् समाधौ' इति निरुक्तिः स्वीकृता । तदपि न कथंचिदपि युक्तिसहम् । वेदमन्त्रेष्वपि योगशब्दो 'युजिर्योगे' इत्यस्मादेव धातोः सिद्धो दृश्यते । वर्णयन्ति च संप्रदायविदो–

"योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः" ॥ इति ।

सोऽयं योगः साधनरूपः समाधिश्च साध्यरूपः । योगाङ्गेषु सबीजसमाधेरन्तर्भावो न कथंचिदपि योगसमाध्योरेकत्वे प्रमाणम् । नात्र कथंचिदपि संमोहो युक्तः । न चासौ दृश्यते सूत्रशब्देषु । 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति न्यायेन नात्र भाष्यप्रामाण्यं स्वीकार्यम् । कोषेष्वपि 'युजिर्योगे' इत्येवानुरुध्य 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्याद्युक्तम् । सोऽसौ योगोऽनादिकालात्प्रवृत्तौ भारतवर्षे बहुविधं विकासं प्राप्तवान् । अस्य प्रणेतृविषये परम्पराभेदमेवाभ्युपगम्यते–

"हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ।" इति ।

पतञ्जलेः पूर्वं हैरण्यगर्भं योगशास्त्रप्रख्यातमासीत् । यद्यप्यद्यतने काले विनष्टमेतत्तथापि तद्विषयकाः संदर्भाः प्राचीनग्रन्थेषु तत्र तत्रोपलभ्यन्ते । तथा हि वैष्णवसंहितासु 'अहिर्बुध्न्य' नाम्न्यां संहितायां विस्तरेण वर्णितम्–

"विष्णुसंकल्परूपं च महद्योगानुशासनम् ।
हिरण्यगर्भादुद्भूतं तस्य भेदानिमाञ्शृणु" ॥ इत्यादि ।

अतिविस्तृतस्य भोगशास्त्रस्येदं वर्णनं संहिताकारेण मूलं दृष्ट्वा लिखितमिति नैव वक्तुं शक्यते । तेन न तत्सर्वथा प्रामाणिकम् । किं तु हैरण्यगर्भयोगशास्त्रविषयिकां परंपरा तु नितरां द्रढयति तत् । ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इत्युद्धरणं प्राचीनयोगशास्त्रादुद्धृतं तच्च नान्यहैरण्यगर्भाद्योगशास्त्रादिति विदुषां संमतिः । सनत्सुजातीयशांकरभाष्येऽपि हिरण्यगर्भस्योद्धरणान्युपलभ्यन्ते । यथा–उक्तं च हिरण्यगर्भे–

"अन्नाङ्गनादिकोषेषु भावो मान इति स्मृतः ।
ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिहेतुर्मौनमिति स्मृतम्" ॥ 2.41 ॥

तथा च हिरण्यगर्भे–

"या शुद्धा चिद्घनानन्ता गुणरूपविवर्जिता ।
आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते ॥" ॥ 3-42 ॥

उक्तं च हिरण्यगर्भे–

"यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः ।
उपद्रवकरास्तद्वत्क्रोधाद्या दुर्गमा नृणाम्" ॥ इति ।

अपि च विष्णुपुराणे श्लोकद्वयं हिरण्यगर्भादुद्धृतं यथा–

'संमानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥
तस्माच्चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतिम् ॥ 2.13.42,43 ॥

इति। तस्मान्महाभारतादिषु–

'हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः॥'

इति यदुक्तं तस्य प्रामाण्यं संदेहातीतम्। तदेतद्योगशास्त्रं वैदिकं योगशास्त्रमेवासीदित्यत्रापि नास्ति संदेहः। दुरूहत्वाद्वा विस्तृतत्वाद्वाऽन्येन वा केनचित्कारणेन पतञ्जलिमुनिना स्वीयशास्त्रस्य प्रणयनं कृतम्। वैदिकत्वे चास्यायमभिप्रायो यद्वैदिकसंहितोपनिषदादिषु भगवद्गीतोपनिषत्सु स्मृतिपुराणादिषु च यद्योगस्य विवेचनमुपलभ्यते तदनुसारं विरचितमासीद्धैरण्यगर्भयोगशास्त्रम्। तदेव च मूलं पातञ्जलयोगशास्त्रस्य।

वेदबाह्यैरप्याचार्यैर्योगः स्वीकृतः प्रतिपादितश्च। तेषु प्रधानौ गौतममहावीरौ। भगवता तथागतेन बुद्धेनाराडकालामादिभ्य आचार्येभ्यो योगोऽधीतः। स्वयं च महाबोधिपर्यन्तं योगानुष्ठानं कृतम्। तदूर्ध्वं च बहुजनसुखाय बहुजनहिताय च यदुपदिष्टं तदपि योगशास्त्रमेव। तेनैव भगवान् बुद्धो योगिनां चक्रवर्तित्वेन प्रशस्यते। एवमेव तपोनिष्ठेन महावीरेण तत्पूर्वैश्च तीर्थंकरैः कष्टसाध्यो योग एवानुष्ठितः। महती ह्येषापि परम्परा। एवं च जैनयोगशास्त्रमपि कष्टसाध्यं परम्परायां सुरक्षितं वर्तते। वेदबाह्यत्वेऽपि नास्याः परम्पराया महत्त्वं कथंचिद्धीयते। पातञ्जलसूत्रेषु पञ्चोपायप्रतिपादनेऽन्यत्रापि तत्र तत्र बौद्धपरम्परा ससंमानं निर्दिष्टा। महाव्रतादिवर्णने च जैनपरम्परा। एवं चास्या योगपरम्परायाः सम्यगध्ययनमपि पातञ्जलयोगव्याख्यानार्थं नितरामावश्यकम्। यावच्छक्यं योगशास्त्रमधीत्य पूर्वसूरीणां व्याख्यानान्यपि सूक्ष्मेक्षिकया दृष्ट्वा पाश्चात्त्यदर्शनानि विशेषतश्च मनोविज्ञानं सपरिश्रमं पठित्वा तदूर्ध्वमभिनवभाष्यलेखनचापले प्रवृत्तोऽहं नात्यन्तमुपहसनीयः स्यामित्याशासे। विस्तरस्तु यथास्थानं भाष्ये करिष्यत एव।

व्याचिख्यासितस्य योगशास्त्रस्येदमादिमं सूत्रम्–

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अत्राथशब्दो निगदमात्रेण माङ्गलिकः।

ऊँकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ इति।

वाक्यार्थे तु भाष्यानुसारमधिकारार्थ एव। योगानुशासनं शास्त्रमाग्रन्थान्तादधिकृतं वेदितव्यम्। अनुशासनमित्यनेनेदं प्रथमतया रचितमिदं शास्त्रमिति सूत्रकारः सूचयति। यस्यानुसारमिदं शास्त्रं विरचितं तत्तु प्राधान्येन हैरण्यगर्भं योगशास्त्रम्, यस्य च्छायायां निखिलं योगशास्त्रं पतञ्जलेः पूर्वं विकसितमासीत्। तथाप्यन्या अपि परम्परा अत्र वैदिका अवैदिकाश्च समाविष्टा आशास्त्रान्तं वेदितव्याः।

प्रामाण्यवादः

डॉ. उमारमणझाः

प्रामाण्यवादो दार्शनिकानां कृते प्रमुखो विषयोऽस्ति । प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमाणैरुत्पन्नज्ञानस्य निर्णयार्थं प्रश्नः समागच्छति । प्रामाण्यवादमधिकृत्य नैयायिकानां मीमांसकानाञ्च मध्ये परस्परं विवादः प्रचलति । प्रामाण्यवादः प्राचीनकालादेव शास्त्रार्थस्य विषयः प्रवर्तते । मण्डनमिश्रः प्रसिद्धो नैयायिक आसीत् । यदा श्रीशङ्कराचार्यः शास्त्रार्थं कर्तुं मण्डनमिश्रस्य सकासं गन्तुकाम आसीत्, तदा तेन मण्डनमिश्रस्य गृहं कुत्र इति प्रश्नः एकस्याः दास्याः समक्षं कृतः । तदा सा प्राह—

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरोर्गिरन्ति ।
शिष्योपशिष्यैरुपगीयमानमवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम" ॥

अर्थात् यस्मिन् गृहे शुका अपि स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणमित्यादि जल्पन्ति, तद्गृहमेव मण्डनमिश्रस्य गृहमवेहि । अर्थात् शुकानां मुखेभ्योऽपि स्वतः परतः प्रमाणविचारः निःसरति स्म ।

मीमांसका ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परतः स्वीकुर्वन्ति—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते" ॥

(श्लो. वा. श्लो. 47)

किन्तु नैयायिका वैशेषिकाश्च ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च परत एव मन्वते । न्यायमञ्जर्यां जरन्नैयायिको जयन्तभट्टो लिखति—

1. किं विज्ञानानां प्राणाण्यमप्रामाण्यञ्चेति. द्वयमपि स्वतः । 2. उत उभयमपि परतः । 3. आहोस्वित् अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परतः । 4. उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति । स्थितिमेतदर्थज्ञानविज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चय इति । तदिदमुक्तं प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति-सामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति । तस्मादप्रामाण्यमपि परोक्षमित्यतो द्वयमपि परत इति एष एव पक्षः श्रेयानिति । (न्या. म. पृ. 160)

एवंप्रकारेण न्यायवैशेषिकमते प्रामण्यमप्राण्यञ्च उभयमपि परतः स्वीक्रियते । सांख्ययोगयोः प्रमुखग्रन्थेषु प्रामाण्यवादस्य नास्ति विस्तरेण विचारः । सर्वदर्शनसंग्रहे माधवाचार्येण उक्तम्—

"प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः" ।

श्लोकवार्तिकेऽपि सन्दर्भो दृश्यते केचिदाहुः द्वयं स्वत इति । अत एव सांख्यदर्शने प्रामाण्य-मप्रामाण्यञ्चेति उभयमपि स्वत एव स्वीक्रियते ।

चतुर्थः पक्षः बौद्धानां वर्तते । सर्वदर्शनसंग्रहे सौगताश्चरमं स्वत इति उक्तम् । बौद्धाचार्यः शान्तरक्षितः तत्त्वसंग्रहे लिखति—न हि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः अनियमपक्षस्येष्ट-त्वात् । तथाहि उभयमपि एतत्किञ्चित्स्वतः, किञ्चित्परतः इति पूर्वपक्षमुपवर्णितम् । अत एव पक्ष-चतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः, पञ्चमस्यापि अनियमपक्षस्य संभवात् ।

अत्र अनियमपक्षस्याभिप्रायोऽस्ति यदभ्यासदशापन्नज्ञाने प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च उभयमपि स्वतो भवति अनभ्यासदशापन्नज्ञाने उभयमपि परतो भवति। अत एव जैनाचार्येण हेमचन्द्राचार्येणापि उक्तम्—

'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति । तदुभयमुत्पत्तौ परतः एवं ज्ञप्तौ तु स्वत इति । अत एव प्रामाण्यवादविषये षट् पक्षाः सन्ति—

1. प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च परत इति न्यायवैशेषिकाः । 2. प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च स्वत इति सांख्याः । 3. प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परत इति मीमांसकाः । 4. अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति सौगताः । 5. अभ्यासदशापन्नज्ञाने उभयमपि स्वतः अनभ्यासदशापन्नज्ञाने उभयमपि परत इति शान्तरक्षितः । 6. उत्पत्तौ उभयमपि परतः ज्ञप्तौ उभयमपि स्वत इति जैनपक्षः ।

अत एवोक्तम्—

'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वं सांख्ये योगे स्वतो मतम् ।
प्राभाकराश्च भाट्टाश्च प्रामाण्यं ब्रुवते स्वतम् ॥
अप्रामाण्यं पुनस्तेषां पुंदोषात् परतो मतम् ।
उभयं परतो ज्ञेयं प्रोक्तञ्च गौतमे नये ॥
स्वतोऽभ्यासदशापन्ने उभयं शान्तरक्षितैः ।
अनभ्यासदशायां तैरुभयं परतो मतम् ॥
स्वतस्त्वं समुत्पत्तौ ज्ञप्तौ परतस्त्वं तथा' ।

प्रामाण्यवादो मीमांसकानां प्रमुखः सिद्धान्तोऽस्ति । तेषां मते स्वतः प्रमाणमेव प्रामाण्य-कोटिमारोहति । न परतः प्रमाणं तेषां मते युक्तिसंगतम् । अत एव परतः प्रामाण्यवादिभिः नैयायिकैः सह तेषां प्रबलसंघर्षोऽभूत् ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं घटोऽयं पटोऽयमित्याकारकं व्यवसायात्मकं ज्ञानमुत्पद्यते । ततो घटमहं जानामि पटमहं न जानामि इति अनुव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य उत्पत्तिः भवति । तदनन्तरं सत्यां सन्देहादिनिवृत्तौ चरितार्थायाञ्च प्रवृत्तौ तज्ज्ञानं प्रामाणिकत्वमुपैति । अतः अनुमितिं द्वारीकृत्यैव तत्प्रामाण्योपपत्त्या तस्य परतः प्रामाण्यं सिध्यति नैयायिकानां मते ।

मीमांसकास्तु स्वतः प्रामाण्यवादमेव स्वीकुर्वन्ति । स्वतः प्रामाण्यवादमधिकृत्य मीमांसकाः यथा प्रतिपादयन्ति, तथा नैयायिकाः न स्वीकुर्वन्ति । तत्र प्राभाकराणां ज्ञानस्य स्वतः प्रकाशत्वं स्वयुक्त्या एवं प्रतिभाति । यथा हि दीपप्रकाशः तादृशघटपटादीन् पदार्थान् ततश्च आत्मानं तदनन्तरं च भूयो तैलवर्तिकादीन् प्रकाशयति । तथैव ज्ञानमपि पूर्वमिन्द्रियसन्निहितं पदार्थजातं ततः स्वरूपं तदनन्तरं ज्ञानाधिकरणमात्मानमभिव्यञ्जयति । अत्रेत्थं विचारणीयम् । प्रत्यक्षे हि तावत्पदार्थज्ञानं, ततो

ज्ञानस्वरूपज्ञानं, तदनन्तरमात्मनोऽभिव्यक्तिरिति । तदिदं प्रत्यक्षं त्रिपुटीप्रत्यक्षनाम्ना अपि उच्यते । स्वतश्चास्य स्वज्ञानजनकसामग्रीत इति भावः । अतः ज्ञानजनकसामग्रीतो यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत एव तत्प्रामाण्यमपि ।

कुमारिलभट्टः किञ्चिद्विलक्षणमेव अभिमनुते अमुं सिद्धान्तम् । तस्य मते घटज्ञाने सति ज्ञातो घट इति ज्ञानमुत्पद्यते । तस्मात् प्रत्यक्षविषयीभूतेऽर्थे ज्ञातताधर्म उपैति । अत्र ज्ञानस्य न स्वयं प्रत्यक्षत्वमपितु ज्ञानधर्मविशेषस्य ज्ञाततालक्षणस्यैव प्रत्यक्षत्वम् । एतज्ज्ञातताधर्मं द्वारीकृत्यैव ज्ञानस्य तत्प्रामाण्यस्य च उदयः संभवतीति ।

मुरारिमिश्रस्य मतं न्यायाभिमतेन सह न कश्चिद्विशिष्टो विसंवादो वर्तते । तन्मते ज्ञानस्यैव प्रत्यक्षत्वम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति व्यवसायात्मकज्ञानोत्तरं घटमहं जानामीत्याकारकमनुव्यवसाय-लक्षणं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेवानुव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रामाण्यापादकमिति मुरारिमिश्रस्य मतम् । तदेवास्य आचार्यान्तरेभ्यश्च वैशिष्ट्यमिति कृत्वा मुरारेस्तृतीयः पन्था इति प्रसिद्धिः श्रूयते । एतेषां त्रयाणामपि आचार्याणामभिमतस्य तारतम्यपरीक्षया मथुरानाथतर्कवागीशेन चिन्तामणिरहस्ये प्रकाशितं यद् एषु सर्वेषु मतेषु प्रभाकरमतमेव वास्तविकं सुदृढं च प्रतिभाति । अत एव तदेव स्वतः प्रामाण्यवादत्वेनोन्नेयम् । उक्तञ्च—स्वतः स्वाश्रयजनकसामग्रीतः स्वप्रमात्वम् । एतच्च गुरुमते । परतः तदन्यसामग्रीतः, एतच्च मिश्रमतभट्टमतन्यायमतेष्विति दिक् ।

मीमांसकाः स्वतः प्रामाण्यवादिनः सन्ति । तेषां मते स्वतः प्रमाणस्य लक्षणं ज्ञानग्राहकातिरिक्तान-पेक्षत्वं स्वतस्त्वम् । अर्थात् ज्ञानग्राहकसामग्रीतो भिन्नासामग्री प्रामाण्यग्रहाय यत्र न अपेक्षिता स्यात्, तत् स्वतः प्रमाणम् । अर्थात् यत्र ज्ञानं तद्गतप्रामाण्यञ्चेति उभयोः ग्रहणमेकया सामग्र्या भवति, तत् स्वतः प्रमाणमुच्यते । तद्विपरीतं ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम् । अर्थाद् यत्र ज्ञानग्राहकसामग्री च भिन्ना स्यात् तदा परतः प्रामाण्यं स्वीक्रियते । मीमांसकानां मते ज्ञानस्य प्रमाण्यस्य च ग्राहिका सामग्री एका एव भवति ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्तिः । किन्तु न्यायमते ज्ञानग्राहकसामग्री अनुव्यवसायो वर्तते, एवं प्रामाण्यग्राहकसामग्री अनुव्यवसायादि्भन्नं प्रवृत्तिसाफल्यमूलकमनुमानं वर्तते ।

मीमांसकानां मतं वर्तते—अयं घट इति ज्ञानात् घटे ज्ञाततानामको धर्मः जायते । अयं ज्ञातताधर्मः घटज्ञानात् पूर्वं नासीत् । एतादृशज्ञानोत्पन्नानन्तरम् अयं धर्मः समुत्पन्नो भवति । अत एव अयं घट इति ज्ञानाद् जन्यः अयं ज्ञतताधर्मः । अत एव ज्ञातताधर्मस्य कारणं ज्ञानमेव भवति ।

अस्य ज्ञातताधर्मस्य प्रतीतिः ज्ञातो मया घट इति ज्ञानाद् भवति । अयं ज्ञातताधर्मः स्वकारणज्ञानं विना नोत्पद्यते । अत एव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्तिरेव ज्ञातताधर्मस्य ग्राहिका वर्तते । यदा ज्ञातान्यथानुपपत्तिप्रसूतया अर्थापत्या ज्ञानस्य ग्रहणं भवति, तदा तज् ज्ञानगतप्रामाण्यस्य ग्रहणमपि तया अर्थापत्या एव भवति । एवं प्रकारेण ज्ञानग्राहकसामग्री प्रामाण्यग्राहकसामग्री च एकैव भवति । अतः स्वतः प्रामाण्यं स्वीक्रियते मीमांसकैः ।

नैयायिकानां मते नास्ति ज्ञातताानामकः कश्चित्पदार्थः । अत एव ज्ञाततासिद्धौ मीमांसकानां कृते नूतनो विचारः समापतति । ज्ञाततासिद्धिं विना स्वतःप्रामाण्यस्य सिद्धिः न संभवति । अत एव

मीमांसका विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूत्या अर्थापत्या ज्ञाततां संसाधयन्ति । अस्य अभिप्रायोऽस्ति यद् अयं घट इति ज्ञानस्य विषयः घटो भवति, न तु पटः । अस्य विषयस्योपपादनं नैयायिकैः तदुत्पत्ति-सिद्धान्तद्वारां बौद्धैश्च तादात्म्यसिद्धान्तेन क्रियते । क्रिन्तु समाधानद्वयमपि दोषग्रस्तमेवेति मीमांसका वदन्ति ।

तदुत्पत्तिसिद्धान्तस्यायमाशयो भवति यज् ज्ञानं प्रति विषयोऽपि कारणं भवति । अत एव अयं घट इति ज्ञानं घटाज्जायते । अत एव घटज्ञानस्य विषयः घटो भवति, न तु पट इति नैयायिकपक्षोक्तिः वर्तते । अत्र अयं दोषो भवति यद् घटज्ञानं प्रति यथा विषयरूपघटः कारणं भवति, तथैव आलोकोऽपि कारणं भवति । घटोत्पन्नत्वात् यदि घटज्ञानस्य विषयः घटः स्यात्तदा घटज्ञानमालोकादपि जायते । अत एव आलोकोऽपि तस्य विषयो भवेत्; परन्तु न कोऽपि घटज्ञानस्य विषयमालोकं स्वीकरिष्यति । अत एव तदुत्पत्तिमाश्रित्य विषयनियमोपपादनं न कर्त्तुं शक्यते ।

तादात्म्यपक्षः तदाकारपक्षो वा बौद्धानां वेदान्तिनां वा वक्तुं शक्यते । ज्ञानस्याकारेण बाह्यार्थानुमानं बौद्धैः क्रियते । मतमिदं वैभाषिकाणामस्ति । सौत्रान्तिकमते बाह्यार्थानामस्तित्वं स्वीकृत्य ज्ञानं तज्जन्यं तदाकाररूपेण भवति । एतदनुसारं घटस्य तज्ज्ञानयोस्तादात्म्यात् तदाकारत्वाच्च घटज्ञानस्य विषयो घट एव भवति, न तु पटः । तदाकारबलेन तादात्म्यबलेन च विषयनियमोपपादनं न समीचीनं भवति । यतो हि ज्ञानं तद्विषयश्च परस्परं भिन्नरूपेण वर्तते । घटादिविषयाणां बाह्या-स्तित्वं वर्तते, एवं तद्भिन्नस्य ज्ञानस्याभ्यान्तरिकमस्तित्वं वर्तते । अत एव घटस्य तज्ज्ञानस्य तादात्म्यं न संभवति । अत एव ज्ञातताद्वारा मीमांसकाः समाधानं कुर्वन्ति । घटज्ञानादुत्पन्ना ज्ञातता केवलं घटे एव भवति, पटे न भवति । अत एव घटज्ञानस्य विषयः घट एव भवति, न तु पटः । एवं प्रकारेण ज्ञाततामाश्रित्यैव विषयनियमोपपादनं कर्तुं शक्यते । अन्यथा न संभवति । अतः विषयत्वा-न्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्तिरेव ज्ञाततासिद्धौ प्रमाणं वर्तते ।

यदा विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्या ज्ञाततासिंद्धिः भवति, तदा ज्ञाततास्वकारणरूपं ज्ञानं ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतया अर्थापत्या साधयति । एवं तया अर्थापत्या एव ज्ञानगतप्रामाण्यमपि गृह्यते । एवं ज्ञानग्राहक-प्रामाण्यग्राहकसामग्र्या एकरूपत्वाज् ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्व-मिति स्वतः प्रामाण्यस्य लक्षणं संघटते । अतः स्वतः प्रामाण्यवाद एव युक्तिसंगत इति मीमांसकपक्षः ।

नैयायिकैः स्वतः प्रामाण्यखण्डनमित्थं क्रियते । मीमांसका विषयविषयीभावस्योपपादनाय ज्ञाततां स्वीकुर्वन्ति, तन्न समीचीनम् । घटस्य तज्ज्ञानस्य च विषयविषयीभावो ज्ञातताबलेन न भवति, अपितु स्वाभाविक एव वर्तते । यदि ज्ञाततामाश्रित्य विषयविषयीभावः स्वीक्रियते तदा तत्र द्वौ दोषौ भवतः । प्रथमं तावदतीतानागतपदार्थः ज्ञानस्य विषयो न भवितुमर्हति । यतो हि मीमांसकमते ज्ञानस्य विषयः स एव भवति, यो ज्ञानोत्पन्नायाः ज्ञाततायाः आधारो भवेत्, वर्तमानज्ञाततायाः आधारः वर्तमानपदार्थ एव भवितुमर्हति । अतीतानागतपदार्थस्य अस्तित्वं वर्तमानकाले न भवति । तदा ज्ञानोत्पन्नज्ञातता तत्र कथं स्यात् । यदि ज्ञाततामाश्रित्य विषयनियमः स्यात्, तदा अतीतानागतपदार्थाः न विषयाः भविष्यन्ति । अतः विषयनियमः स्वाभाविको वर्तते, न तु ज्ञातताबलेन न भवति इति नैयायिकमतम् ।

पुनश्च ज्ञाततामाश्रित्य विषयनियमस्वीकारात् अनवस्थादोषो भवति । अनवस्थादोषस्याभिप्रायोऽस्ति यज् ज्ञातताया अपि ज्ञानं भवति, अतः ज्ञातता अपि तज्ज्ञानस्य विषयः । मीमांसकानां मते ज्ञातता ज्ञानस्य विषयस्तदैव भवति यदा तज्ज्ञानादुत्पन्नज्ञातता तत्र स्यात् । एवमेकज्ञाततायाः विषयोपपादनाय अपरज्ञातता अपेक्षते । अपरज्ञातता अपि ज्ञानस्य विषयो भवति । अतस्तृतीया ज्ञातता तत्र अपेक्षिता स्यात् । एवमनवस्थादोषः संभवति मीमांसापक्षे इति नैयायिकाः गदन्ति । अत एव नैयायिकमते विषयनियमः स्वाभाविको वर्तते ।

अत एव नैयायिकानां मते ज्ञानविषयातिरिक्ता ज्ञातता नैव स्वीकार्या भवति । ज्ञातता एव मीमांसकानां स्वतः प्रमाण्यस्य मूलं वर्तते । ज्ञाततामाश्रित्यैव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतया अर्थापत्त्या ज्ञानस्य तत्प्रामाण्यस्य च ग्रहणं स्वीकुर्वन्ति मीमांसकाः । किन्तु "छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा" इति उक्त्वा ज्ञातताखण्डनं कृत्वा नैयायिकाः स्वतःप्रामाण्यवादस्य खण्डनं कुर्वन्ति । एवं च यथा यथार्थज्ञानाज् ज्ञातता उत्पद्यते, तथैव अयथार्थज्ञानादपि । अत एव यदि यथार्थज्ञानात् समुत्पन्नायाः ज्ञातताया बलेन ज्ञानस्य तत्प्रामाण्यस्य च सिद्धिः भवति, तर्हि अयथार्थज्ञानात् समुत्पन्नाया ज्ञाततायाः बलेन ज्ञानस्य अप्रामाण्यस्य च ग्रहणं भवेत् । अतस्तदा अप्रामाण्यमपि स्वतः भवेत् तेषां पक्षे । अत एव यदि प्रामाण्यं स्वतस्तर्हि अप्रामाण्यमपि स्वतः स्वीकर्तव्यम् । अथवा उभयं परतः स्वीकर्तव्यं मीमांसकैः । परन्तु मीमांसकास्तथा न स्वीकुर्वन्ति । ते प्रामाण्यं स्वतः एवमप्रामाण्यं करणदोषजन्यात्वात् परतः स्वीकुर्वन्ति ।

न्यायदृष्ट्या परतः प्रामाण्योपपादनम्

न्यायस्य परतः प्रामाण्ये ज्ञानस्य तस्य प्रामाण्यस्य च ग्राहकसामग्री भिन्नरूपेण वर्तते । ज्ञानग्राहकसामग्री अनुव्यवसायो भवति, एवं प्रामाण्यस्य अप्रामाण्यस्य च ग्राहकसामग्री प्रवृत्तिसाफल्यमूलकं वैफल्यमूलकं वा अनुमानं भवति । पूर्वं प्रमाणेन घटपटादीनामर्थः ज्ञायते, तदा तद्ग्रहणार्थं तत्र प्रवृत्तिः भवति । प्रवृत्तौ सत्यां यदि सा सफला भवेत्, तदा तत्र अर्थोपलब्धिः भवति । तदा तज्ज्ञानं यथार्थं भवति । यदि प्रवृत्तिः विफला स्यात्, तदा ज्ञानमयथार्थं भ्रमो वा भवेत् । अतः प्रवृत्तिसाफल्याद् वैफल्याद्वा प्रामाण्यस्य अप्रामाण्यस्य च निर्णयो भवति । एतादृशस्थले यत्र ज्ञानानन्तरं तत्र प्रवृत्तिः जायते, एवं तदनन्तरं ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा निश्चीयते । सा दश अभ्यासदशापन्ना भवति । अभ्यासदशापन्नज्ञानस्य प्रामाण्यस्य अप्रामाण्यस्य च निश्चयः प्रवृत्तिसाफल्यमूलकानुमानेन वैफल्यमूलकानुमानेन भवति । यथा इदं मे जलज्ञानं प्रमाणं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् । अतः अभ्यासदशापन्नज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रवृत्तिसाफल्यमूलकादनुमानाद् भवति ।

केषुचित्स्थलेषु ज्ञानानन्तरं प्रवृत्तेः पूर्वमेव तस्य प्रमाण्यं गृह्यते । एतादृशं ज्ञानमनभ्यासदशापन्नज्ञानं भवति । तत्र समर्थप्रवृत्तिजनकत्वादित्यस्य स्थाने समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानजातीयत्वाद् इति हेतुः समुचितः भवति । अस्य अभ्यासदशापन्नज्ञानस्योल्लेखो जैनैः बौद्धैश्च स्वतः प्रामाण्यवादप्रसङ्गे कृतः ।

न्यायमते प्रामाण्यस्य अप्रामाण्यस्य च ग्रहणं प्रवृत्तिसाफल्यमूलकानुमानेन वैफल्यमूलकानुमानेन वा भवति; परन्तु ज्ञानस्य ग्रहणं अनुव्यवसायेन भवति । अयं घट इति ज्ञानं घटाज्जायते । अतो ज्ञानस्य

विषयो घटो वर्तते । इदं व्यवसायात्मकं ज्ञानं वर्तते । तदनन्तरं घटाज्ञानवानहं अथवा घटमहं जानामि इति एवं ज्ञानं जायते । अस्य द्वितीयज्ञानस्य विषयः घटो नास्ति, अपि तु घटज्ञानं वर्तते । एतज् ज्ञानविषयकं ज्ञानमनुव्यवसायो वर्तते । अस्माद् अनुव्यवसायाज् ज्ञानस्य ग्रहणं भवति ।

मीमांसकस्य ज्ञाततायाः उत्पत्तिः अयं घट इति ज्ञानात् भवति । नैयायिकानामनुव्यवसायस्य उत्पत्तिरपि अयं घट इति ज्ञानाद् भवति । परन्तु तत्र भेदोऽस्ति यन्मीमांसकस्य ज्ञातता घटगतधर्मः वर्तते, नैयायिकानान्तु अनुव्यवसायः घटे न तिष्ठति, अपि तु आत्मधर्मः वर्तते, यतो हि ज्ञानमात्मनो धर्म एव ।

प्रामाण्यवादमधिकृत्य नव्यन्यायग्रन्थेषु मथुरानाथ-रघुदेव-भट्टाचार्य-जानकीनाथ-गदाधरभट्टाचार्या-दीनां विस्तरेण विचारो दृश्यते । वस्तुतो दार्शनिकप्रस्थानेषु प्रामाण्यवादोऽतीवप्रौढ़ः शास्त्रचर्चाविषयो वर्तते । अत्र परस्परं खण्डनमण्डनचिन्तनपरम्परापि यत्र तत्र दृग्गोचरीभवति । प्रमाणद्वारा जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते । कश्चित्संदेहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयति इति वस्तुगतिरिति दिक् ।



न्यायदर्शने शरीरविमर्शः

डॉ. पीयूषकान्तदीक्षितः

न्यायदर्शने षोडशधाविभक्तेषु पदार्थेषु द्वितीयः पदार्थः प्रमेयः प्रसिद्धः । यद्यपि प्रमाया विषयः अयं सर्वोऽपि संसारः प्रमेय एव, तथापि विशिष्टानां प्रमेयाणां द्वादशविधत्वं न्यायसूत्रकारेण महर्षिणा गौतमेनाभ्युपगतम् । "आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्" (न्या. सू. 1/1/9) इंत्येवं न्यायसूत्रे परिगणितानां प्रमेयाणां तत्त्वज्ञः अपवर्गमवाप्नोति । यदि चैतेषां प्रमेयाणां मिथ्याज्ञानं जायते, तर्हीदं मिथ्याज्ञानमेव संसारकारणं भवति । कीटसंख्यादीनां ज्ञानमपि प्रमेयज्ञानत्वेन स्वीकर्त्तुं शक्यते, परमेवं विधानां ज्ञानानां निःश्रेयसोपयोगित्वं न कथमपि साधयितुं शक्यते । एतावता निःश्रेयसोपयोगिनामेव[1] प्रमेयाणां द्वादशधा विभागः सूत्रकारेणानुष्ठित इति तथ्यं स्थैर्यमादधाति ।

द्वितीयं प्रमेयं शरीरम्, चेष्टायाः, इन्द्रियाणाम् अर्थानाञ्चाधिकरणम्[2] । इष्टप्राप्तये अनिष्ट-परिहाराय च या क्रिया[3] सा चेष्टापदव्यपदेश्या । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारात्मकस्य भोगस्य साधनानीन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि, क्रमशः पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशेभ्यः उत्पन्नानीति न्यायसिद्धान्तः । एतेषाम् इन्द्रियाणां विभिन्नानि पञ्च अधिष्ठानानि सन्ति । घ्राणेन्द्रियं तावत् नासाग्राधिष्ठितम् । रसनेन्द्रियाधिष्ठानं किल जिह्वाग्रम् । चक्षुरिन्द्रियं कृष्णताराग्रवर्त्तीति प्रसिद्धम् । त्वगिन्द्रियं सर्वमपि शरीरमभिव्याप्य तिष्ठति । एवं कर्णकुहराधिष्ठितम् अस्माकं श्रोत्रेन्द्रियं स्वीक्रियते । फलतः इन्द्रियाश्रयत्वमपि शरीरस्य सुस्फीतमिति आपाततः प्रतिभाति ।

परमत्रेदं विचारणीयम्–शरीरे इन्द्रियाणामाश्रयत्वं केन सम्बन्धेन विवक्षितम् । समवयन्ति (समवायसम्बन्धेन स्थितानि) इन्द्रियाणि शरीरे इति तु दुराशामात्रम् । अवयवी स्वावयवे समवायेन स्वीक्रियते, सावयवद्रव्याणि इन्द्रियाण्यपि समवायसम्बन्धेन स्वावयवेषु एव स्थास्यन्ति । घ्राणेन्द्रियं रसनेन्द्रियं चक्षुरिन्द्रियं त्वगिन्द्रियञ्च सावयवानि (अनित्यानि) इन्द्रियाणि । श्रोत्रमनसी तावत् निरवयवे (नित्ये) अतः अनयोः इन्द्रिययोस्तु समवायेनावस्थानं ब्रह्मणापि नोपपादयितुं शक्यम् । एवं समवाय सम्बन्धेन इन्द्रियाणि न शरीराश्रितानि प्रत्युत शरीरावयवाश्रितानीति[4] स्पष्टम् ।

संयोगेन इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणमिति प्रतिपादनमपि न परीक्षाकोटिमाटीकते, शरीरभिन्नानां घटादिपदार्थानामपि संयोगसंसर्गेण इन्द्रियाश्रयत्वस्य निराकुलत्वेन घटादौ इन्द्रियलक्षणातिव्याप्तेः वज्रलेपायमानत्वात् । फलतः शरीरेन्द्रिययोः परस्परमत्र आधाराधेयभावः नाभिमतः । यतः शरीरस्यानुग्रहेण अनुगृह्यन्ते शरीरोपघाते च उपहन्यन्ते इन्द्रियाणि, अतः शरीरस्य इन्द्रियाश्रयत्वम् अभ्युपगम्यते ।

पञ्चेन्द्रियाणाम् अधिष्ठानान्यपि पञ्च प्रसिद्धानि । यद्यपि एतेषाम् अधिष्ठानानाम् उपघाते इन्द्रियाणाम् उपघातः, अनुग्रहे चानुग्रहः अनुभूयते । एवमेतेषामधिष्ठानानामपि इन्द्रियाश्रयत्वेन शरीर-लक्षणाक्रान्ततया शरीरत्वमिति नास्थेयम्, यदुपघाते समेषामिद्रियाणामुपघातः अनुग्रहे चानुग्रहः तदेवेन्द्रियाश्रयं शरीरमिति तात्पर्यात् । गोलकादीनाम् इन्द्रियाधिष्ठानानां प्रत्येकं विनाशे सति अनुग्रहे वा सति, मात्रं चक्षुरिन्द्रियस्योपघातः अनुग्रहः वा अनुभवसिद्धः त्वगादीनामपि विनाशः अनुग्रहो वा भवतीति न केनाप्यनुभूयते । शरीरस्य तावद् जरावशादुपघाते सर्वाण्येव इन्द्रियाणि विकलायन्ते, युव-शरीरेण अनुगृहीतानि खलु इन्द्रियाणि सर्वाण्येव पटूनि सम्पद्यन्ते । एवञ्च इन्द्रियाधिष्ठानानां न इन्द्रियाश्रयत्वं, शरीरस्यैव इन्द्रियाश्रयत्वमिति तथ्यं सुस्थिरं भवति ।

एवमेव अर्थानामाश्रयत्वमपि शरीरस्य अवगन्तव्यम् । पृथिव्यादीनां पञ्चभूतानां यथाक्रमं गन्ध-रसरूपस्पर्श-शब्दाः विशेषगुणाः । इमे विशेष गुणा एव क्रमानुसारं घ्राण-रसन-चक्षुस्त्वक्-श्रोत्राणामर्थाः विषयाः वा बोध्याः । इमे सर्वेऽपि गन्धाद्याः अर्थाः सम्भूय न शरीरवृत्तयः पार्थिव-जलीयादिशरीरेषु गन्धादीनां केषांञ्चन अर्थानामेव समवेतत्वात् । एवञ्च समवायसम्बन्धेन अर्थाश्रयत्वं शरीरलक्षणं नाभिप्रेतम् । यतः सुखदुःखाद्युपलब्धिकारणत्वरूपं प्रयोजनं गन्धाद्यर्थानाम् असति शरीरे असम्भवदुक्तिकम्, अतः शरीराणाम् अर्थाश्रयत्वमूरीक्रियते इति अवधेयम् । अन्ते, "यदवच्छिन्ने आत्मनि अर्थाः भोगं जनयन्ति, तच्छरीरम्" इत्येवं लक्षणार्थः पर्यवसेयः ।

केचन तार्किकाः, चेष्टाश्रयत्वस्य, इन्द्रियाश्रयत्वस्य अर्थाश्रयत्वस्य च प्रातिस्विकरूपेण शरीर-लक्षणत्वं नामनन्ति । चेष्टायाः सामान्यतया व्यापारार्थकत्वस्वीकारे चेष्टाश्रयत्वं शरीरलक्षणं घटे अतिव्याप्नोति, अतः समवायेन चेष्टाश्रयत्वे सति संयोगेन इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणमभ्युपेयम्, परम् इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वेन इन्द्रियसंयोगित्वस्यापि घटे अक्षतत्वात् पुनः अतिव्याप्तिः ; एतत्परिजिहीर्षया लक्षणे समवायेन अर्थाश्रयत्वनिवेशः अपि व्यर्थः घटे एव रूपाद्यर्थानामपि समवेतत्वात् । घटे अतिव्याप्तिं वारयितुं इन्द्रियाश्रयत्वं समवायेनाभ्युपगम्यते चेत् इन्द्रियसमवायिकारणेषु परमाणुषु एव समवायेन इन्द्रियाश्रयत्वस्य प्रसिद्धेः शरीरे अव्याप्तिः प्रसज्यत एव । किञ्च इन्द्रियसमवायिकारणेषु परमाणुषु समवायेन चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयत्वस्य सत्त्वात् परमाणूनां शरीरत्वप्रसक्तिभियाऽपि नेदं शरीरलक्षणं सम्भवि । घ्राणेन्द्रियस्य निर्माणं केवलं पृथिव्या एव भवति । रसनेन्द्रियनिर्मितिस्तावत् जलेनैव स्वीक्रियते । चक्षुषः निर्माणं तेजसा जायते । स्पर्शेन्द्रियस्योत्पत्तिस्तु वायुनाङ्गीक्रियते । आकाशस्यैव कर्णकुहरावच्छिन्नस्य श्रोत्रेन्द्रियत्वमुरीक्रियते । एतावता प्रतीन्द्रियम् एकैकस्यैव भूतस्य कारणत्वं प्रसिद्ध्यति ।

न्यायदर्शने शरीरं चतुर्धा विभज्यते । पृथिव्या निर्मितं शरीरं पार्थिवम् । जलेनोत्पन्नं शरीरं जलीयम् । तेजसा विनिर्मितं खलु शरीरं तैजसम् । वायुना उत्पद्यमानं शरीरं वायवीयम् ।

अस्माकं मानवशरीरं पार्थिवम् । जलीयं शरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम् । तैजसं शरीरं तावत् सूर्यलोके अभ्युपगम्यते । वायवीयं शरीरं वायुलोके विद्यते । भूतपिशाचादीनां शरीरं वायुविनिर्मितं स्वीक्रियते ।

पार्थिवं शरीरं रजोवीर्यसंयोगेनं जायमानं योनिजं[5] मनुष्यपशुमृगादीनां प्रथितम् । योनिजं शरीरमपि द्विविधम्, जरायुजम्, अण्डजं च । चर्मनिर्मितगर्भावरणमेव जारायुपदेनोच्यते[6] । जरायुजं शरीरं मनुष्यपश्वादीनामास्ते । अण्डजं किल पार्थिवं शरीरं पक्षिसरीसृपादीनां स्वीक्रियते ।

कानिचन पार्थिवशरीराणि अयोनिजानि । एतेषामुत्पत्तिस्तावत् रजोवीर्यसंयोगमन्तरैवाभ्युपेयते । अयोनिजशरीराणामपि स्वेदजोद्भिज्जादिभेदेन बहुधा भेदः उपलभ्यते । जन्तुविशेषाणां पार्थिवं शरीरं स्वेदजमिति लोके अतिरोहितमेव । वृक्षलतादीनां[7] पार्थिवशरीराणाम् उद्भिज्जत्वमपि सर्वापरोक्षमेव । जलीयतैजसवायवीयशरीराणां तु अयोनिजत्वमेव प्रसिद्धम् ।

यद्यपि चतुर्णां ज्ञानेन्द्रियाणां निर्माणं पृथिव्यादिना एकैकेनैव भूतेनाङ्गीक्रियते, परं पार्थिवादि-शरीराणामुत्पत्तिस्तु पञ्चानामपि भूतानां[8] साहाय्येनैवाभ्युपगतास्ति । यदि मानवादीनां पार्थिवं शरीरं केवलं पृथिव्या एव नोत्पन्नं तर्हि मानवशरीरस्य जलीयत्वादिव्यवहारोऽपि कथं न विधीयते ? इति प्रश्नः अनायासं मनसि अवतरति । प्रश्नोऽयं, घटादीनां पदार्थानां जलादिना निर्माणे सिद्धेऽपि पार्थिवभागस्य घटादिनिर्मितौ प्राधान्यात् लोके यथा जलीयत्वादिव्यवहारः न भवति, प्रत्युत पार्थिवत्वादिव्यवहार एव अनुभवसिद्धः, तथा मानवशरीरेऽपि पार्थिवत्वव्यवहारमुपपाद्य समाधेयः । घटनिर्माणार्थं सन्नद्धः कुम्भकारः जलादीनां पदार्थानां सहयोगेनैव घटनिर्माणे साफल्यमवाप्नोति जलसंसिक्तमृत्तिकयैव घटनिर्माणसम्भवात् । एवं मानवशरीरमिदं केवलं पार्थिवपरमाणुभिरेवोत्पन्नं, परमिदं मानवशरीरं तावत् पर्यन्तं जनिं न लभते, यावत् जलादिभूतानां पार्थिवेऽस्मिन् शरीरे संयोगो न भवेत् । फलतः मानवशरीरस्य समवायिकारणं पृथ्वी, निमित्तकारणत्वञ्चास्य जलादिभूतेषु विद्यत इति स्पष्टम् ।

मानवशरीरस्य जलीयत्वस्वीकारे तैजसत्ववायवीयत्वस्वीकारे वा मानवशरीरे निर्गन्धत्वापत्तिः[9] दुरुद्धरा स्यात् । पृथ्वीमतिरिच्य जलादिषु भूतेषु गन्धस्यासत्त्वात् । मानवशरीरे यतो गन्धः प्राप्यते, अतः अस्य पार्थिवत्वमेव स्वीकर्त्तव्यमित्यवधेयम् ।

केचन मनुष्यशरीरस्य पार्थिवत्ववत् जीलयत्वम्, तैजसत्वम्, वायवीयत्वम्, आकाशीयत्वञ्चापि अभ्युपगच्छन्ति । पञ्चभूतेभ्यः उत्पन्नत्वादेव चास्य पाञ्चभौतिकत्वमप्युपपादयन्ति । मानवशरीरे पृथ्वी-विशेषगुणस्य गन्धस्योपलब्धेः यथा पार्थिवत्वं सिद्ध्यति, तथैव शरीरेऽस्मिन् स्वेदस्य, उष्णतायाः, भुक्ताहाररससञ्चरणस्य, अवकाशदानरूपाकाशविशेषगुणस्य च विद्यमानत्वात्, जलीयत्वम्, तैजसत्वम्, वायवीयत्वम्, आकाशीयत्वमपि कथं न सिद्ध्यतीति विद्यते पूर्वपक्षमतावलम्बिनामाकूतम् । परमयं पूर्वपक्षः न कथमपि परीक्षाकोटिमाटीकते । जलादिविशेषगुणानां स्वेदादीनामुपलम्भस्तावत् मानवशरीरे जलादिपरमाणूनामेतच्छरीरं प्रति समवायिकारणत्वमस्वीकृत्य केवलं जलादिभूतसंयोगादपि सूपपादयितुं शक्यते । स्थाल्यां तण्डुलपाकावसरे तण्डुलेषु अग्निसंयोगेन उष्णतायाः, जलसंसर्गेण तण्डुलेषु क्लिन्नतायाः वायुसम्पर्केण तण्डुलेषु सञ्चरणस्य, आकाशधर्मस्यावकाशस्य च आकाशसम्बन्धेन पार्थिवेऽपि तण्डुले यथा उपस्थितिः लोकेऽनुभूयते, तथैव मानवशरीरेऽपि क्लेदादीनां जलादिसंयोग-मात्रेणैवानुभव इति मन्तव्यम् ।

मानवशरीरस्य समवायिकारणं पार्थिवपरमाणुवद् यदि जलीयः अपि परमाणुः स्यात्, तर्हि शरीरस्यास्य गन्धवत्त्वमप्यनुपपद्येत । कारणगुणेभ्य एव कार्यगुणानामुत्पत्तेः[10] न्यायसिद्धान्त-सम्मतत्वेन मानवशरीरकारणयोः पार्थिवजलीयपरमाण्वोः गन्धस्यासत्त्वात् । किञ्च समानजातीयेभ्यः परमाणुभ्य एव द्व्यणुकादीनामुत्पत्तिः स्वीक्रियते, अतो विभिन्नजातीयेभ्यः पार्थिवजलीयादिपरमाणुभ्यः मानवशरीरनिर्माणम् असम्भवग्रस्तमेवेति निर्धारणीयम् ।

मानवशरीरस्य पार्थिवत्वसाधकानि बहूनि वेदवचनान्यपि सुप्रसिद्धानि सन्ति ।

"सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्"[11], "पृथ्वीं ते शरीरम्" इति वेदवचनं प्राप्यते । प्रथमवाक्ये चक्षुरिन्द्रियस्य नाशः लयो वा सूर्ये भवतु इति प्रतिपाद्यते । द्वितीयं श्रुतिवचनं पृथिव्यां शरीरं तव विलीयेत इति आशयं प्रकाशयति । आभ्यां वचनाभ्यां चक्षुरिन्द्रियस्य समवायिकारणं तेजोद्रव्यम्, मानवशरीरस्य च समवायिकारणं पृथ्वी इति व्यवस्थितं भवति । न्यायदर्शने यत्राधिकरणे समवायेन किमपि कार्यं जन्यते, तत्रैवाधिकरणे अथवा समवायिकारणे तस्य कार्यस्य लयः अपि अभ्युपगम्यते । एतावता समवायि-कारणस्यैव ध्वंसाधिकरणत्वात् उपर्युक्तैः वेदवाक्यैः पृथिव्याः तेजोद्रव्यस्य च यथाक्रमं मनुष्यशरीर-समवायिकारणत्वसाधनं चक्षुरिन्द्रियसमवायिकारणत्वसाधनं वा सर्वथा युक्तियुक्तमेव ।

एवं 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि[12]' 'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि' इत्यत्र गर्भाधानमन्त्रेषु अपि मानव-शरीररचना पृथिव्या एव भवतीति सुदृढं प्रतिपाद्यते । विवेचनेनानेन शरीरस्य समवायिकारणं पृथ्वी एव, जलादीनां भूतानां तु शरीरस्यास्य निर्मितौ निमित्तकारणत्वमिति तथ्यं सुनिश्चीयते ।

यदवच्छिन्ने आत्मनि भोगः, तदन्त्यावयवि[13] शरीरमिति सिद्धान्तः । 'पादयोः मे सुखम्', 'शिरसि मम वेदना' इत्यादि प्रतीत्याधारेण पादावच्छिन्ने, शिरोभागावच्छिन्ने चात्मनि सुखदुःखान्यतर-साक्षात्कारात्मकः भोगः नूनं भवति, परं पादयोः शिरसश्च अन्त्यावयवित्वाभावात् न शरीरत्वव्यवहारः इत्यवधेयम् । मृतशरीरस्यापि शरीरत्वं तावत् निराबाधं, परं मृतेऽस्मिन् अन्त्यावयवि-शरीरे भोगस्य अवच्छेदकतासम्बन्धेनासम्भवात् शरीरलक्षणमव्याप्तमिति तु नाशङ्कनीयम्; आत्मविशेषगुणकारण-मनःसंयोगवदन्त्यावयविमात्र-वृत्तिजातिमत्वमिति शरीरलक्षणस्वीकारात् । सुखादीनाम् आत्मविशेष-गुणानां कारणं मनःसंयोगः शरीरे एव भवति, फलतः अवच्छेदकतासम्बन्धेन मनःसंयोगवत् अन्त्यावय-विशरीरम्, अन्त्यावयविशरीरमात्रवृत्तिजातेः मनुष्यत्वादीनां मृतशरीरेऽपि अक्षततया लक्षणं सर्वत्र लक्ष्ये सङ्गच्छत एवेति स्पष्टम् । पाञ्चभौतिकत्वेन पराभिमतं मानवशरीरमिदं पार्थिवमेवेति प्रत्यपादि । द्व्यणुकादिप्रक्रमेणैवं समग्रापि सृष्टिः न्यायदर्शने अभ्युपेयते । मानवशरीरमपि द्व्यणुकादिक्रमेणैव पार्थिवपरमाणुभिः उत्पद्यते । शरीरनिर्माणानुगुणा क्रिया तावत् पृथ्वीपरमाणौ, जीवात्मनः धर्मा धर्मात्मकानाम् अदृष्टानामाधारेणैव ईश्वरेच्छया[14] भवति । नित्यज्ञानेच्छाकृतिमतः परमेश्वरस्यैव विद्यते एतादृशं निरतिशयं सामर्थ्यं, यन्माहात्म्येन सः निखिलजीवात्मनामदृष्टफलं (कर्मविपाकं) विज्ञाय, अदृष्टानुरूपज्ञानभोगायुषः चतुरोवर्णान् अन्यानि चोच्चावचानि भूतानि समुत्पाद्य, कर्मज्ञान-वासनानुरूपैः धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यैः तत्फलैश्च सुखादिभिः सशरीरं जीवात्मानं संयुनक्ति ।

न्यायदर्शनं जीवात्मनः नित्यत्वम्, शरीरस्य च अनित्यत्वम् ऊरीकरोति । यथा लोके पुरुषः जीर्णानि वस्त्राणि परिवर्त्य नूतनानि उपादत्ते, तथैव अयमात्मा पूर्वजन्मगतानि शरीराणि परित्यज्य जन्मन्यस्मिन् अभिनवानि शरीराणि धारयति । जीवनेऽस्मिन् परिगृहीतं शरीरं पुराणं सत् पुनः जीवात्मना परिवर्त्यते इत्येवं भगवान् श्रीकृष्णोऽपि गीतायामुपदिशति[15] ।

पूर्वजन्मनि शरीरेण, वाचा, मनसा च सम्पन्नः व्यापार एव पूर्वजन्मार्जितं कर्म इति उच्यते । अस्य कर्मण एव प्रवृत्तिशब्देनापि[16] व्यवहारो न्यायदर्शने प्रसिद्धः । शरीरे जायमानेयं प्रवृत्तिः (व्यापारः) पापात्मिका पुण्यात्मिका च सम्भाव्यते । यद्यपि शरीरादिजन्येयं प्रवृत्तिः पापपुण्यात्मकस्य अदृष्टस्य जनिका, तथापि 'पापात्मिका प्रवृत्तिः, पुण्यात्मिका प्रवृत्तिः' इत्येवं प्रतिथो लौकिकव्यवहारस्तु प्राणस्य साधने अन्ने "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" इति प्रामाणिकव्यवहारवत् समुपपादनीयः । शरीरेणोत्पन्ना पापात्मिका प्रवृत्तिः हिंसा-स्तेय-निषिद्धमैथुनाद्याचरणभेदेन त्रिधा विभज्यते । वाचा सञ्जायमाना पापात्मिका प्रवृत्तिस्तावत् अनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धवाग्व्यवहाररूपेण चतुर्विधा । पाप-कारणा मानसिकी प्रवृत्तिस्तावत् परद्रोह-परद्रव्याभीप्सा-नास्तिक्यधीभेदेन त्रिप्रकारा । एवं पूर्वजन्मनि शरीरेण वाचा मनसा च जायमाना पापजनिका प्रवृत्तिः दशविधेति स्फीतमेव । शरीरे जायमानायाः पुण्यजनिकायाः प्रवृत्तेः अपि दशविधत्वं[17] न्यायदर्शने व्यवस्थाप्यते । दानं, त्राणं, शुश्रूषा च शरीर-सम्बन्धिन्यः प्रवृत्तयः । वाण्या जायमाना पुण्योत्पादिका प्रवृत्तिः सत्यसम्भाषण-हितवचन-प्रियवचन-साङ्गवेदाध्ययनभेदेन चतुर्धा स्वीक्रियते । धर्मसाधिकाः मानसिक्यः प्रवृत्तयः दयास्पृहाश्रद्धा भेदेन त्रैविध्यमावहन्ति । वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणाभिः[18] एताभिः प्रवृत्तिभिः पूर्वस्मिन् जन्मनि यददृष्टं पापपुण्यात्मकं जन्यते, तत् समवायसम्बन्धेन जीवात्मनि अवतिष्ठते । आत्मसमवेतादृष्टप्रेरितैः भूतैरेव जन्मन्यस्मिन् जनिं लभते शरीरमिति न्यायशास्त्रविदामाकूतम् ।

न्यायदर्शनमिव वैशेषिकदर्शने अपि धर्माधर्मयोः आत्मगुणत्वम्[19] अभिप्रेतम् । धर्मसाधनानां कर्मणां ज्ञानं किल श्रुतिस्मृतिभ्यामेव जायते । समेषां वर्णानाम् आश्रमिणाञ्च धर्मसाधनेषु कर्मसु कानिचन कर्माणि सामान्यानि कानिचन च विशिष्टानि । देवमनुष्यादिलोकेषु पुनर्जन्मकामनया अनुष्ठितात् फलातिशयहेतोः प्रकृष्टाद् धर्मात् स्वल्पाधर्मसहितात् पूर्वजन्मकृतकर्मानुरूपैः अभीष्ट-शरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिः जीवः सम्बद्ध्यते । पुनर्भवकामनया कृतात् प्रकृष्टाद् धर्मात् अधिगतेषु गन्धर्वादिशरीरेष्वपि मनाक् दुःखसम्पर्कः भवत्येव; अयं दुःखसम्पर्कस्तावत् स्वल्पाधर्मप्रभावादेवेति ध्येयम् । प्रकृष्टधर्मे तारतम्यानुरोधेन शरीरादिष्वपि तारतम्यमनुभूयते इति सिद्धान्तः । एवम् प्रकृष्टात् अधर्मात् प्रेतयोनीनां तिर्यग्योनीनां च स्थानेषु अनभीष्टैः शरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिः सम्बन्धोऽनु-मन्यते । प्रेतादिस्थानेऽपि स्वल्पं किञ्चित् सुखं किल स्वल्पधर्मप्रभावादेवानुभूयते ।

एतावता विवेचनेन न्यायवैशेषिकदर्शनयोः शरीरसर्गः जीवात्मसमवेतादृष्टनिमित्तक एवेति सुस्थिरं सञ्जायते । उदाहरणमुखेनापि तथ्यमिदम् आकलयितुं शक्यते, यथा रथमारुह्य पुरुषः (जीवात्मा) भ्रमन् काष्ठादिनिर्मितेन रथेन सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारात्मकं भोगं करोति; जीवात्मनः उपभोग-साधनस्य निर्जीवस्य रथस्य निर्माणं तावत् रथनिर्मातुः प्रयत्नेन (गुणविशेषेण) प्रेरितेभ्यः

काष्ठादिभूतपदार्थेभ्य एव अभ्युपगम्यते, कदाचिदपि चेतनस्य पुरुषस्य प्रयत्नमन्तरा काष्टादिमात्रेण रथनिर्मितिः अशक्या, तथैव जीवात्मनः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारसाधनम् अचेतनमिदं शरीरमपि पूर्वजन्मनि जीवात्मना अनुष्ठितया शुभाशुभप्रवृत्त्या जनितेन आत्मविशेषगुणेन अदृष्टेनैव प्रवृत्तैः भूतैः पार्थिवादिपरमाणुभिः उत्पद्यते ।

एवं यत्र-यत्र आत्मनः उपभोगसाधकत्वम्, तत्र-तत्र आत्मविशेषगुणप्रयुक्तभूतजन्यत्वम् इति व्याप्तिबलेन पार्थिवादिशरीरे आत्मविशेषगुणरूपादृष्टप्रयुक्तभूतजन्यत्वम्, आत्मोपभोगसाधकत्वहेतुना साध्यत इति तात्पर्यमवसीयते ।

परलोकं धर्माधर्मरूपमदृष्टञ्च इन्द्रियातीतम् अस्वीकुर्वाणाः लोकायतिकाः आत्मसमवेतादृष्टप्रयुक्तेभ्यः भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिमसहमानाः स्वतन्त्रेभ्यः भूतेभ्य एवं तदुत्पत्तिमामनन्ति । यथा सिकताप्रस्तराञ्जनादीनां भौतिकानां पदार्थानां जीवात्मोपभोगसाधकत्वमास्ते, परं एतेषु पदार्थेषु आत्मविशेषगुण(अदृष्ट)प्रयुक्तभूतजन्यत्वम् असम्भवि, तथैव शरीरोत्पत्तिरपि अदृष्टनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः एव अभ्युपेयेति एतेषामाकूतम् । एवं चार्वाकाः पार्थिवशरीरे, उपभोगसाधकत्वहेतुना आत्मविशेषगुणप्रयुक्तभूतजन्यत्वाभावं सिषाधयिषन्ति । यत् यत् उपभोगसाधकं तत् तत् आत्मविशेषगुणप्रयुक्तभूतजन्यत्वाभाववदिति द्रढयितुं दृष्टान्ततया चार्वाकैः पाषाणसिकतादयः उपादीयन्ते । हेतौ साध्यनिरूपितायाः व्याप्तेः साक्षात्कारस्तावत् दृष्टान्ते वादिनः प्रतिवादिनश्च अत्यावश्यकः । प्रस्तुतस्थले दृष्टान्ततयोपन्यस्ते पाषाणसिकतादौ नैयायिकाः उपभोगसाधकत्वं तु स्वीकुर्वन्ति परमत्र आत्मविशेषगुणप्रयुक्तभूतजन्यत्वाभावं नाभ्युपगच्छन्ति, प्रत्युत तद्विपरीतम् आत्मविशेषगुण(अदृष्ट)प्रयुक्तभूतजन्यत्वमेव साधयितुं प्रस्तुतः दृष्टान्तः नोभयवादिसम्मतः । अतः दृष्टान्तेनानेन अदृष्टप्रयुक्तभूतजन्यत्वाभावसाधनप्रयासः चार्वाकाणां व्यर्थ एवेति ।

मानवशरीरोत्पत्तौ मातुः शोणितं पितुः वीर्यञ्च साक्षात् कारणं भवतः । रजोवीर्यसंयोगे सति सर्वदा शरीरोत्पत्तिः (अर्थात् गर्भाधानं नियमितं) लोके नानुभूयते, अतः रजोवीर्यसंयोगे शरीरोत्पत्तिं प्रति कारणता अन्वयव्यभिचारस्य जागरूकतया नाभ्युपगन्तव्येति कथनम् अज्ञानविजृम्भणमात्रम्; शरीरोत्पत्तौ गर्भाधाने वा रजोवीर्यसंयोगमतिरिच्य गर्भस्थशिशोः आत्मनः पूर्वजन्मानुष्ठितकर्मजनितम्[20] अदृष्टम्, पुत्रसुखोत्पादकं, मातापित्रोः कर्मजनितम् अदृष्टञ्चापि कारणमित्यभ्युपगमात् । एवञ्च यत्र सत्यपि रजोवीर्यसंयोगे शरीरोत्पत्तिः नानुभूयते, तत्र अदृष्टात्मकस्य कारणस्य विरहात् सामग्रीवैकल्येन शरीरं नोत्पद्यते इति अत्यन्तं स्पष्टम् । चार्वाकमतानुसारं तु पुत्रसुखजनकस्य मातापित्रोः पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितस्य अदृष्टस्य शरीरोत्पादं प्रतिकारणत्वास्वीकारात् अदृष्टनिरपेक्षस्य भूतमात्रस्यैव च कारणत्वस्वीकारेण दम्पत्योः रजोवीर्यसंयोगमात्रेणैव गर्भाधाननियमः आपद्येत । यतो दम्पत्योः संयोगे सति गर्भाधाननियमः (शरीरोत्पत्तिनियमः) लोके नानुभूयते, अतः पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितस्यादृष्टस्यापि शरीरोत्पादं प्रति कारणत्वं नूनमेवाभ्युपेयमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

मानवशरीरनिष्पत्तिस्तावत् आहारमन्तराप्यसम्भवि, मात्राशितं पीतञ्च अन्नजलादिकमेवाहारः । मातुः आहारपरिपाकमहिम्ना मातृतनौ विशिष्टं किञ्चिद्[21] रसद्रव्यं जनिं लभते । गर्भाशयस्थं बीजं

सम्पोषयितुं पूर्वशरीररूपेण परिवर्धयितुञ्च अपेक्षितया मात्रया रसद्रव्यमिदं सङ्कलितं तिष्ठति । रसद्रव्येण पोषितं बीजं यादृशम् आकारम् एकरात्रेण आधत्ते, तस्य कललनाम्ना व्यवहारः शास्त्रेषु प्रसिद्धः । पञ्चरात्रेण परिष्कृतः गर्भाकारः बुद्बुदसंज्ञया व्यवह्रियते । दशदिवसैः परिपुष्टं बीजं कर्कन्धू इत्यभिधाम् आधत्ते । अनन्तरञ्च पेशी अण्डं वा विकासमायाति । मासे व्यतीते विकसितं बीजं शिरःसम्पन्नं जायते । मासद्वयेन बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहैः समृद्धं गर्भशरीरम् अभ्युपगम्यते । गर्भशरीरे नखलोमास्थिचर्मणाभाविर्भावः लिङ्गच्छिद्रोद्भवश्च त्रिभिः मासैः अभ्युपेयते । मासचतुष्टयेन सप्तधातूनां प्रादुर्भावः मासपञ्चकेन क्षुत्तदुद्भवः अपि ऊरीक्रियते । अतिवाहिते च मासषट्के जरायुणा परिवेष्टितं[22] गर्भशरीरे अवतीर्णं प्रसवपर्यन्तं गर्भशरीरं पुष्णात्येव[23] ।

अत्यन्तं विचित्रमिदं गर्भशरीरनिर्माणं विचित्रकारणेनैव सम्भवदुक्तिकम्, विचित्रञ्च तत्कारणं पूर्वजन्मार्जितविचित्रकर्मजनितम् अदृष्टमेवेति सुनिश्चितम् । गर्भशरीरे वैचित्र्यमिदम् आहारादिभूत-वैचित्र्यप्रयुक्तमिति कथनं न क्षोदक्षमम्, आहारादिनिमित्ताविशेषेऽपि वैचित्र्यानुभवात् । फलतः शरीरोत्पत्तौ आहारादिकम् अदृष्टसापेक्षमेव कारणमिति अवसीयते । किं बहुना; गर्भाधानप्रयोजकः मातुः पितुश्च संयोगः[24] अपि अदृष्टनिमित्तक एव । एवं जीवात्मनः प्रतिशरीरं विभिन्नः संयोगः अपि अदृष्टमूलक एव । अन्यथा असङ्ख्येषु शरीरेषु सत्सु येन केनापि शरीरेण यस्य कस्यापि जीवात्मनः संयोगः भोग(सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कार)जनकः स्यात् । किञ्च जीवात्मनां व्यापकत्वेन एकेनापि शरीरेण समेषां सम्बन्धात् अशेषजीवात्मनां सदृशः भोगः अपि एकेनैव शरीरेण आपद्येत । यतः जीवात्मनः प्रतिशरीरं नियतः संयोगः सिद्धः सर्वेषां जीवत्मनां च सदृशः भोगः ब्रह्मणाप्युप-पादयितुमशक्यः, अतः जीवात्मनः पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितादृष्टाधारेण विनिर्मिते शरीरविशेषे एव नियतः संयोग इति तथ्यमाविष्क्रियते । एतावता अदृष्टसापेक्षैः पृथिव्यादिभूतैरेव शरीरं निष्पद्यते इति निर्गलति ।

तात्पर्यमिदम्–मानवानां शरीरमिदं विचित्रस्वभावकम् । अनन्तेषु मानवशरीरेषु कयोरपि द्वयोः शरीरयोः सर्वथा साम्यं लोको नानुभवति । अशेषस्यापि जीवात्मनः शरीरं जन्मप्रभृत्येव[25] वैशिष्ट्यमावहति । कस्यचित् जीवात्मनः जन्म प्रशस्ते कुले, कस्यचिच्चाप्रशस्ते कुले अवलोक्यते । उत्तमकुले कस्यचनोत्पत्तिः कस्यचन च निकृष्टकुले । जीवात्मसम्बद्धं शरीरं कस्यचन रुग्णं कस्यचन च प्रायः अरुग्णं दृश्यते । कस्यचन शरीरं तावत् सर्वावयवपरिपूर्णं कस्यचन च विकलमुत्पद्यते । कस्यचन आत्मनः शरीरं सुखसमृद्धं कस्यचन च दुःखपङ्कनिमग्नमनुभूयते । जीवात्मविशेषस्य शरीरं शुभलक्षण-सम्पन्नं जीवात्मविशेषस्य च अशुभलक्षणं जन्यते । एवमन्येऽपि बहवः अनुभवितुं योग्याः प्रतिशरीरं स्थूलाः भेदाः सन्ति । एषु शरीरेषु सूक्ष्मो भेदस्तु अपरिसङ्ख्येय एव । अयं विचित्रः जन्मभेदः प्रत्यात्मसमवेतपूर्वजन्मार्जितकर्मजनितादृष्टवैचित्र्यादेव सूपपद्यते । प्रत्यात्मनियतस्य विचित्रस्यादृष्टस्य शरीरोत्पत्तिनिमित्तत्वानभ्युपगमे शरीरोत्पत्तिनिमित्तानां पृथिव्यादिभूतानां वैचित्र्याभावात् शरीराणां प्रत्यात्मनैयत्यं वैचित्र्यञ्च नोपपद्येत[26] ।

जन्मवैचित्र्यमिव मरणवैचित्र्यमपि तथाविधकर्मजनितादृष्टवैचित्र्येणैवोपपाद्यते । बहूनां जीवात्मनां शरीरं गर्भदशायामेव विनश्यति । कस्यचित् प्रसवसमकालमेव मरणम्, कस्यचित् मासवर्षाद्यन्तरालेन, कस्यचिद् दीर्घदीर्घतरादिदुःखविपाकेन, कस्यचिच्च प्रशस्ताप्रशस्तनिमित्तेन मरणम् । एवं मरणवैचित्र्यं तु सर्वापरोक्षम् ।

सन्दर्भेऽस्मिन् एतदपि अवधेयम्—न्यायदर्शने निःश्रेयसस्य परापरभेदेन द्वैविध्यं निरूप्यते । तदत्यन्तविमोक्षलक्षणः अपवर्ग एव निःश्रेयसमिति निर्विवादम् प्रतिभाति, परमेतत् व्यामोह-विजृम्भितमेव । जीवन्मुक्तेरपि[27] निःश्रेयसत्वोपपादनात् जीवन्मुक्तिरेव अपरं निःश्रेयसम् । जीवन्मुक्तिरूपमिदमपरं निःश्रेयसं श्रुतिवाक्यजन्यतत्त्वज्ञानेन आन्वीक्षिक्यायत्तेन मननजन्येन वा तत्त्वज्ञानेन साक्षात् न भवति । आत्मनः मननान्तरं[28] तस्य सादरं नैरन्तर्येण निदिध्यासनं ध्यानं चिन्ता वा आवश्यिकी । आत्मनः चिरं चिन्तनेन अन्ते आत्मसाक्षात्कारः निष्पद्यते । परिनिष्पन्नात्म-साक्षात्कारस्य पुरुषस्य रागद्वेषादयो दोषाः अपयन्ति, अपगतदोषोऽयं पुरुषः पुनः धर्माधर्मसाधनयोः अप्रवर्त्तमानः, अनागतधर्माधर्मोत्पादधारां निरुणद्धि, अयमनागतधर्माधर्मयोरनुत्पाद एव अपरं निःश्रेयसम्, एतच्च तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरमेव[29] जनिं लभते । एवम् अनागतधर्माधर्मयोरनुत्पादात्मकेन अपरनिःश्रेयसेन सम्पन्नः भूतेन्द्रियविजयी प्रज्ञाज्योतिः जीवन्नेव मुक्त इत्यभिधीयते । एतादृशः कश्चन तत्त्वज्ञः मुनिः एव शास्त्रस्य प्रवर्त्तकः अभीष्टः । तत्त्वज्ञोऽयं जीवन्मुक्तः, सशरीरः तावदवतिष्ठते, यावत् अभुक्तस्य पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितादृष्टप्रचयस्य भुज्यमानस्य च शरीरेणोपभोगपुरस्सरं प्रक्षयो न सञ्जायते । पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितादृष्टस्य यथा शरीरोत्पत्तौ निमित्तत्वमुपपादितम्, तथा वर्त्तमान-शरीरस्थितिनिमित्तत्वमपि धर्माधर्मसमाख्यातस्य अस्य अदृष्टस्यैव प्रत्येतव्यम् । "यावदात्मनि धर्माधर्मौ तावदायुः[30] शरीरमिन्द्रियाणि विषयाश्चेति" वृद्धवचनमपि तथ्यमेतत् पुष्णाति । फलतः जीवन्मुक्तस्य शरीरं धर्माधर्मयोः उपभोगेन क्षीणं सत्, निरायतने जीवन्मुक्तात्मनि, तत्त्वज्ञानादिक्रमेणैवाधिगन्तुं योग्यं दुःखाभावरूपं परं निःश्रेयसम् उत्पादयतीति ।

विवेचनेनानेन अनागतधर्माधर्मयोरनुत्पादात्मकमपरं निःश्रेयसं किल तत्त्वसाक्षात्कारसमनन्तर-मेवासाद्यते, परं तावत् निःश्रेयसं, भुज्यमानस्य अभुक्तस्य च प्रागुपात्तस्य अदृष्टप्रचयस्य भोगेन प्रक्षये[31] सति बहुकालानन्तरं शरीरेन्द्रियादिक्षयात्मकजन्माभावादेव कश्चन कदाचित् प्राप्नोतीति स्फीतम् । एवं शरीरोत्पत्तेः पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितादृष्टं सापेक्षत्वानभ्युपगमे शरीरेण जीवात्मनः वियोगः[32] अपि नोपपद्येत, शरीरोत्पत्तेः अदृष्टसापेक्षत्वस्वीकारे तु अदृष्टनाशात् शरीरजीवात्मनोः वियोगः सूपपन्नः, इत्यपि अवदातम् ।

तत्त्वसाक्षात्कारवतः जीवन्मुक्तात्मनः अपि कस्यचन सत्वरं कस्यचन च विलम्बेन कथं परं निःश्रेयसमिति तु नाशङ्कनीयम्, परनिःश्रेयसार्थं त्वरमाणेन जीवन्मुक्तात्मना अचिन्त्यसमाधिप्रभावयुतेन युगपदनेकविधदेहान् समुत्पाद्य अनियतविपाककालानां दीर्घकालफलानामपि अदृष्टानां युगपदुपभोगात्, अचिरं निःश्रेयसप्राप्तेः परनिःश्रेयसार्थं त्वरारहितेन च जीवन्मुक्तात्मना क्रमशः यथाकालं विभिन्नेषु शरीरेषु अदृष्टानामुपभोगात्, चिरं निःश्रेयसप्राप्तेश्च निराकुलत्वात् ।

तत्त्वसाक्षात्कारवतः जीवन्मुक्तात्मनः मिथ्याज्ञानवासनानाशे[33] सति मिथ्याज्ञानकार्याणां दोषाणाम्, दोषकार्याणां धर्मधर्मात्मिकानां प्रवृत्तीनाञ्च क्षयः अनायासमेव सिद्धः, कारणनाशेन अनायासं कार्यनाशात् । नहि कफप्रभवं ज्वरं शमयितुं कफनिवृत्तौ[34] जातायां लोकः प्रयत्नान्तरमातिष्ठते, कफनिवृत्त्यैव ज्वरापगमात् । फलतः तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं मिथ्याज्ञानवासनानाशे जाते अपरनिः-श्रेयसार्थं प्रयत्नः नास्थेयः, परं परनिःश्रेयसाधिगतये तु भोगार्थं कायव्यूहनिर्माणाद्यर्थमवश्यं प्रयत्नः आस्थेय[35] इति तत्त्वं निर्गलति ।

निःश्रेयसस्यास्य परापरभेदेन द्वैविध्यव्यवस्थापनादेव "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्कनिर्णयवाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधि-गमः", "दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इत्यनयोः गौतम-सूत्रयोः प्रामाण्यमपि निस्सन्दिग्धं व्यवस्थाप्यते । अन्यथा दुःखात्यन्तविमोक्षरूपस्यैव निःश्रेयसस्याभ्युपगमे, प्रथमसूत्रानुसारं प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानानन्तरमेवापवर्गस्वीकारे च कश्चनापि तत्त्वज्ञ इह जगतीतले स्थितिं नैवासादयेत् । फलतः शास्त्रप्रणेतृषु तत्त्वज्ञत्वमेव व्याहन्येत, वातपुत्रीयत्वञ्च शास्त्राणां प्रसज्येत । यदि तावदिमामापत्तिमपाकर्त्तुं सशरीरस्य तत्त्वज्ञस्याप्यवस्थानं[36] समर्थ्यते, तर्हि वृश्चिकभिया पलायमानस्य आशीविषमुखे पतनमात्रमेतत्, प्रमाणादि-तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमिति गौतमाभिमतस्य मिथ्यात्वापातात् । एतेन शरीरोत्पत्तेः पूर्वजन्मार्जितकर्मजनितादृष्टसापेक्षत्वास्वीकारे, अदृष्टनाशापेक्षस्य शरीरनाशस्यासम्भवदुक्तिकतया परनिःश्रेयसानुपपत्तिः ब्रह्मणाप्यपनेतुमशक्येति भूतसापेक्षायाः शरीरोत्पत्तेः अदृष्टसापेक्षत्वमपि सुनिश्चीयते ।

जगद्रचनायां यदि अदृष्टस्य कारणत्वं स्वीक्रियते, तर्हि ईश्वरस्य जगत्कारणत्वमनुपपन्नमिति तु दुराशामात्रम्, जगति जन्मादिवैचित्र्यमुपपादयितुं विचित्रस्यादृष्टस्य, बुद्धिमत्-पूर्वकत्वञ्चात्रसम्पादयितुं नित्यज्ञानेच्छाकृतिमतः ईश्वरस्य, अवश्यमेव जगत् कारणत्वाभ्युपगमात् । बुद्धिमत्कृतैः कर्मभिः जनितेनादृष्टेन विचित्रेण, स्थावरादिकार्याणां जननात् बुद्धिमत्पूर्वकत्वं संसारस्य ईश्वरमन्तरापि सम्भाव्यते इति तु न रमणीयम्, बुद्धिमता साक्षात्कृतं[37] बुद्धिमत्पूर्वकमिति विवक्षणात् । बुद्धि-मदनुष्ठितकर्मजनितमदृष्टं तत्सामर्थ्यादिकञ्च यावद् ईश्वरो न साक्षात्करोति तावद् न किमपि कार्यं स्थितिं लभते । बुद्धिमता विरचितः रथः बुद्धिमदधिष्ठातृनिरपेक्षः स्वकार्यं कर्त्तुमक्षमः इति न कस्यापि तिरोहितम् । किञ्च यथा दण्डचक्रादेर्घटकारणतास्वीकारेण कुलालस्य घटकारणत्वं नापनेतुं शक्यं, तथैव प्रकृतेऽपि अदृष्टस्य जगत्कारणत्वाङ्गीकारेण ईश्वरस्य जगत्कारणत्वं कथमपि नापलपितुं योग्यम् ।

यथा सूर्यः स्वभावेन समस्तं संसारमालोकयति, तथा ईश्वरोऽपि जगदुत्पत्तिस्थितिलयं स्वभावेनैव[38] सम्पादयति, प्राणिनश्च तत्कर्मजनितादृष्टानुरूपैः सुखदुःखज्ञानाऽज्ञानादिभिः नियोजयतीति न्यायदर्शन-विदामाकूतम् । जगद्रचयितुरीश्वरस्यास्य "खण्डघटः, कुलालकृतिजन्यः, घटत्वात्" इत्यनुमानेनापि जीवात्मककुलालकृतिजन्यत्वस्य खण्डघटे बाधात्, खण्डघटरचनासमर्थस्य कुलालस्य परमात्मन एव कृतिजन्यत्वस्य तत्र प्रसिद्ध्या, खण्डघटजनककृत्याश्रयकुलालत्वेन सिद्धिः न्यायदर्शनसम्मता । एतेन "नमः कुलालेभ्यः[39] कर्मारेभ्यः" इति श्रुतिवाक्यमपि सङ्गच्छते । एवमेव सर्वत्र घटे कुलालचेष्टा-

जन्यत्वमपि अतिरोहितमेव । खण्डघटञ्चोत्पादयितुं परमेश्वरकृतिजन्या चेष्टा एव समर्था । हिताहितप्राप्ति- परिहारानुकूलायाः शरीरक्रियाया[40] एव चेष्टात्वात्, परमेश्वरकृतिजन्यायाः चेष्टाया अपि आश्रयेण केनापि ईश्वरशरीरेण नूनं भाव्यमिति विवेचनेनानेन आविष्क्रियते ।

ईश्वरस्य सशरीरत्वस्वीकारे अस्यापरोक्षत्वापत्तिस्तु ईश्वरशरीरस्य परमाणुरूपताभ्युपगमेन निरसनीया । परमाणुषु हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलायाः[41] क्रियायाः अभावात् चेष्टाश्रयत्वरूपं शरीरत्वमनुपपन्नमिति तु व्यामोहमात्रम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति क्रियात्वेनैव हेतुत्वस्वीकारेण क्रियात्मकचेष्टाश्रयत्वस्य ईश्वर-शरीरे परमाणुष्वपि अक्षतत्वात् । चेष्टावत्त्वमात्रं शरीरलक्षणमिति स्वीकारे शरीरावयवे हस्तपादादिष्वपि शरीरत्वव्यवहारः शक्रेणाप्यपनेतुमशक्यः, हस्तादिषु अवयवेषु शरीरत्वापत्तिमिमां निराकर्त्तुं शरीरलक्षणं 'द्रव्यान्तरानारम्भकत्वविशिष्टा-वयवित्वरूपेणान्त्यावयवित्वेनापि[42] अवश्यं विशेषणीयम् । एवञ्च हस्ताद्यवयवेषु चेष्टायाः सत्त्वेऽपि अन्त्यावयवित्वाभावात् चेष्टावदन्त्यावयवित्वरूपं शरीरलक्षणं हस्तादिषु नातिव्याप्तमिति अनवद्यम् ।

परमाणुरूपे ईश्वरशरीरे परिष्कृतमिदं शरीरलक्षणं परमाणोः द्व्यणुकारम्भकत्वेन, द्रव्यान्तराना-रम्भकत्वविशिष्टावयवित्वरूपान्त्यावयवित्वविशेषणस्य असत्वात् कथं सङ्गमनीयमिति प्रश्नः, शरीरलक्षणे अन्त्यावयवित्वस्थाने द्रव्यारम्भकावयविभिन्नत्वनिवेशपुरस्सरं सुसमाधेयः । हस्तादीना-मवयवानां शरीरात्मकद्रव्यारम्भकत्वेन अवयवित्वेन च द्रव्यारम्भकावयविभिन्नत्व-विशेषणशून्यत्वात् नास्ति शरीरत्वव्यवहारापत्तिः । ईश्वरशरीराणां परमाणूनां तावद् द्व्यणुकात्मकद्रव्यारम्भकत्वेऽपि अवयवित्वाभावात्, द्रव्यारम्भकावयविभिन्नत्वविशेषणमुपपद्यते, फलतः परमाणूनां शरीरत्वानुपपत्तिरपि सुदूरपराहता तिष्ठति । एवञ्च परमेश्वरकृतिजन्यचेष्टाविशिष्टैः परमाणुरूपशरीरैरेव जगति कार्याणा-मुत्पत्त्या सर्वं समञ्जसमिति निभालनीयम् ।



---

1. (क) नायं प्रमेयमात्रविषयः प्रश्नः, प्रमेयमात्रस्य प्रमाणलक्षणोद्देशेनाधिगतत्वात् । प्रमेयविशेषावधारणार्थस्तु भवेत् । कतमं तत् प्रमेयं यदनेन प्रमाणेन यथावत् परिज्ञायमानमपवर्गाय, अनवगम्यमानञ्च संसारायेति । एतदर्थ-प्रकाशनार्थम् आत्मादिसूत्रम् ।............न पुनरिदं प्रमेयमात्रावधारणार्थं सूत्रम्; अपि तु प्रमेयविशेषावधारणार्थम्, सूत्रेण प्रमेयं विहितमिति पुनः प्रमेयस्याभिधानात् प्रमत्तवाक्यमिदं स्यात् ।
   न्या. सू. भा. वा., अ. 1 आ. 1 सू. 9, पृ. 382-383 ।

   (ख) न प्रमेयपदं प्रमेयमात्रे प्रवर्त्तते, किन्तु यत् तत्त्वतो ज्ञायमानमपवर्गसाधनं तस्मिन् ।
   न्या. सू. भा. वा.टी., अ. 1 आ.1 सू. 9, पृ. 385 ।

   (ग) तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
   कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ 33 ॥ प्रमाणवार्तिक (प्रमाणसिद्धिप्र.)

2. 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' न्या. सू., अ. 1, आ. 1, सू. 11 ।

3. (क) हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः परिस्पन्दः । सुखसाधनोपलब्धौ तदीप्साप्रयुक्तस्य यः परिस्पन्दः सा चेष्टा इत्युच्यते । एवं दुःखसाधनोपलब्धौ तज्जिहासानुष्ठानलक्षणः परिस्पन्द इति । न्या. सू. भा. वा., अ. 1 आ. 1 सू. 11, पृ. 405 ।

(ख) चेष्टा व्यापारः, स चातिव्यापकतया अव्यापकतया च न लक्षणम्, वृक्षादिषु भावात्, अभावाच्च पाषाण-मध्यवर्तिमण्डूकादिशरीरे इति भावः .... न च व्यापारमात्रं चेष्टा अभिमता; अपि तु विशिष्टो व्यापारः। स च न वृक्षादिष्वस्तीति नातिव्यापकता। यद्यपि च दारुयन्त्रादिषु ईदृशो व्यापारोऽस्ति, तथापि मूर्तान्तराप्रयोगे सतीति विशेषणाद् न व्यभिचारः, तेषां शरीरेण मूर्तेन प्रयोगात्। शरीरस्य तु मूर्तान्तरा-प्रयुक्तस्य ईदृशव्यापाराश्रयत्वम्, पाषाणमध्यवर्तिनश्च मण्डूकदेहस्य तद्व्यापारायोगेऽपि, तद्योग्यत्वात्, पाटिते पाषाणे तादृशस्य तद्व्यापारस्य दर्शनादिति भावः। न्या. सू. भा. वा. टी., अ. 1 आ. 1 सू. 11 पृ. 407।

(ग) प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणात्यन्तावयविक्रिया चेष्टा।

न्या. सू. भा. वा. टी. प., अ. 1 आ. 1 सू. 11, पृ. 408।

4. तथापि न समवाय इन्द्रियाणां शरीरे। घ्राणस्य पार्थिवत्वेन समवायो न विरुद्ध इति चेत्, न, तस्य शरीरावयवसमवायित्वेन शरीरासमवायात्। न्या. सू. भा. वा. टी. अ. 1 आ. 1 सू. 11 पृ. 408।
5. शुक्रशोणितसन्निपातञ्च योनिजं तद्द्विविधं जरायुजमण्डजञ्च, मानुषपशुमृगाणां जरायुजं पक्षिसरीसृपाणामण्डजम्। प्रश. भा. पृ. 38।
6. गर्भवेष्टनचर्मपुटकं जरायुः। प्रश. भा. कि. पृ. 39।
7. यद्यपि चोद्भिदोऽपि वृक्षादयः शरीरभेदतयाऽत्रैव व्याख्यातुमुचिताः, तथाप्यतिमन्दान्तःसञ्ज्ञतया लौकिकापेक्षया सुखदुःखभोक्त्रधिष्ठानत्वममीषामविवक्षन् प्रायेण जङ्गमोपकारकतया तदधीनतया च विषयतां विवक्षन् तेष्वेवान्तर्भाव्य व्याख्यास्यन्ते। प्रश. भा. कि. पृ. 39।
8. गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकमिति प्रसिद्धिः। प्रश. भा. कि. पृ. 40।
9. तत्र यदि विजातीयपरमाणुभ्यामेकमारभ्येत अगन्धमरसमित्याद्यापद्येत। प्रश. भा. कि. पृ. 40।
10. गन्धवन्ति द्व्यणुकानि गन्धवद्भिरेव परमाणुभिरारभन्ते। प्रश. भा. कि. पृ. 41।
11. 'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतादित्यत्र' मन्त्रे 'पृथ्वीं ते शरीरमिति' श्रूयते। वा. भा. पृ. 332।
12. 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यत्र मन्त्रान्तरे पृथ्वीं ते शरीरं स्पृणोमीति श्रूयते। वा. भा. पृ. 332।
13. (क) प्रश. भा. कि. पृ. 37, (ख) यदवच्छिन्ने आत्मनि अर्थाभोगं जनयन्ति तच्छरीरम्।

न्या. सू. भा. वा. प., अ. 1 आ. 1 सू. 11 पृ. 409।

14. पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीररम्भलक्षणा तत् पूर्वकृतं कर्मोक्तं, तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानं तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति। न्या. सू. 60, अ. 3, आ. 2 वा. भा. पृ. 444।
15. गी. अ. 2 श्लो. 22।
16. पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तम्।

न्या. सू. वा. भा., अ. 3, आ. 2, सू. 6।

17. सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः।

न्या. सू. वा. भा., अ. 1 आ. 1 सू. 17।

18. प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः। न्या. सू. अ. 1 आ. 1 सू. 17।
19. धर्मः पुरुषगुणः। प्रश. भा. गुण. नि. पृ. 259।
20. पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत् पूर्वकृतं कर्मोक्तम्, तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ। न्या. सू. वा. भा., अ. 3 आ. 2 सू. 6 पृ. 444।
21. मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते। शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे॥

श्रीमद्भा. स्क. 3, अ. 31, श्लो. 5।

22. श्रीमद्भा. स्क. 3, अ. 31, श्लोक 1-4।

23. व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमुपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति ।
न्या. सू. वा. भा. अ. 3, आ. 2, सू. 64, पृ. 448 ।
24. "शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म" । न्या.सू. अ. 3 आ. 2 सू. 66 ।
25. जन्म पुनः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनानां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः ।
न्या. सू. वा. भा., अ. 1 आ. 1 सू. 2 ।
26. अथ तत्त्वज्ञानानन्तरमपवर्गे वातपुत्रीयं शास्त्रं प्राप्नोति, तत्त्वदृक् पूर्वकमिति न, निःश्रेयसस्य परापरभेदात् ।
न्या. सू. भा. वा. अ. 1 आ. 1 सू. 2 पृ. 152 ।
27. 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (1.1.22) इत्येतावदेव निःश्रेयसमिति केन प्रतिज्ञातं यावता जीवन्मुक्तिरपि निःश्रेयसं भवत्येव । न्या. सू. वा. टी. प., अ. 1 आ. 1 सू. 2 पृ. 169 ।
28. अत्र श्रुतितः कृतात्मश्रवणस्य मननेऽधिकारः, मननं च आत्मन इतरभिन्नत्वेनानुमानम् । तर्कामृत, पृ. 2 ।
29. तस्मादुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य दोषाभावात् प्रवृत्त्युपरमे योऽनागतापूर्वानुत्पादस्तदपरं निःश्रेयसम् । तच्च तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं भवति । तादृशश्च मुनिस्तत्त्वज्ञानवान् शास्त्रस्य प्रणेतेति न वातपुत्रीयं शास्त्रमिति । न्या. सू. भा. वा. टी., अ. 1 आ. 1 सू. 2 पृ. 156 ।
30. एतच्च तदाहुः, यावदात्मनि धर्माधर्मौ तावदायुः शरीरमिन्द्रियाणि विषयाश्चेति । न्या. सू. भा. वा. अ. 1 आ. 1, सू. 2 पृ. 154 ।
31. "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" 'तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽत सम्पत्स्ये" । (छान्दोग्य 6.14.2)
न्या. सू. भा. वा. टी. अ. 1, आ. 1, सू. 2 पृ. 156 ।
32. कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणात्मनो वियोग उपपन्नः । न्या. सू. भा., अ. 3, आ. 2 सू. 67 पृ. 453 ।
33. तत्त्वज्ञानेन मिथ्याज्ञानवासनानाशः । न्या. सि. मुक्ता. दिनकरी, पृ. 32 ।
34. न हि कफोद्भवज्वरप्रशमनाय कफनिवृत्तौ सत्यां यत्नान्तरमातिष्ठते, तत एव तत्सिद्धेः ।
न्या. सू. भा. वा. टी., अ. 1 आ. 1 सू. 2, पृ. 157 ।
35. 'उपभोगप्रयत्न आस्थेयो' मोक्षाय त्वरमाणेनापि कायव्यूहादाविति शेषः । यस्तु न त्वरते यदा भविता कर्मक्षयस्तदा भविता मोक्षोऽपि किं त्वरया ? न्या. सू. भा. वा. टी. प., अ. 1 आ. 1 सू. 2, पृ. 173 ।
36. (क) अथोत्पन्नतत्त्वज्ञोऽवतिष्ठते, न तत्त्वज्ञानकारणम् । न्या. सू. भा. वा., अ. 1 आ. 1 सू. 2, पृ. 152 ।
(ख) तदत्यन्तविमोक्षलक्षणोऽपवर्गो निःश्रेयसम् । तच्चेत् तत्त्वज्ञानानन्तरम्, सम्प्रदायोच्छेदो वातपुत्रीयता च शास्त्रस्य स्याताम् । तस्मान्न तत्त्वज्ञानानन्तरं निःश्रेयसम् । तथा सति प्रमाणादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमिति मिथ्या । न्या. सू. भा. वा. टी., अ. 1 आ. 1 सू. 2, पृ. 155 ।
37. बुद्धिमता हि साक्षात्कृतं बुद्धिमत्पूर्वकं विवक्षितम् । न्या. भू. पृ. 448 ।
38. (क) यः सूर्य इव इमाँल्लोकानीशते ईशनीभिः (बटुको. 22) न्या. भू. पृ. 460 ।
(ख) न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3/3)
39. एतेन 'नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः' इत्यादि यजूंषि बोद्धव्यानि । न्या. कुसु. स्त. 5, का. 5 ।
40. यद्यपि चेष्टा कायव्यापारस्तथापि तस्यैव लक्ष्यत्वादितरेतराश्रयभिया व्यापारमात्रं वक्तव्यम् ।
न्या. सू. भा. वा. टी. प., अ. 1 आ. 1 सू. 11, पृ. 408 ।
41. प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणान्त्यावयविक्रिया चेष्टा, फलद्वारा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारयंतेति । न्या. सू. भा. वा. टी. प., अ. 1 आ. 1 सू. 11, पृ. 409 ।
42. मनःकरचरणादयस्तु अन्त्यावयविपदेनैव निरस्ताः ।
न्या. सू. भा. वा. टी. प., अ. 1 आ. 1 सू. 11, पृ. 409 ।

द्वादशज्योतिर्लिङ्गदर्शनम्

प्रो. रामयत्नशुक्लः

भारतीयदर्शनेषु आस्तिक-नास्तिकदर्शनविभागो नितरां प्रसिद्धः। दर्शनशब्दो हि दृश्-धातोः करणे ल्युटि सति सिद्धयति। दृश्धातुर्हि ज्ञानसामान्ये वर्तते। अत एव "पश्यार्थैश्चानालोचने" इति सूत्रे 'अनालोचने' इति विशेषणं सङ्गच्छते। आलोचनं चाक्षुषज्ञानम्, तद्भिन्नमनालोचनम्। यदि चाक्षुषज्ञाने एव दृश्धातोर्वृत्तिस्तदा अचाक्षुषार्थस्याप्रसिद्धया अनालोचनविशेषणानुपपत्तिः। तस्माद् ज्ञानसाधनेऽर्थे दर्शनपदप्रवृत्तिः। यद्यपि चक्षुरादीनामपि ज्ञानसाधनतया तत्रातिव्याप्तिः सम्भवति, तथाप्यत्र योगरूढिस्वीकारेण, यस्यार्थस्य चक्षुरादिभौतिकप्रमाणैर्न प्रसिद्धिः, तत्साधनं दर्शनम्। तच्च तत्त्वं सूक्ष्मातिसूक्ष्ममात्मतत्त्वमेव। स आत्मा प्रतिपाद्यो दर्शनशास्त्रस्य। तस्यैवात्मनः श्रवणमनन-निदिध्यासनपराणि शास्त्राणि दर्शनपदव्यपदेश्यानि भवन्ति। नास्तिकदर्शनमपि आत्मतत्त्वमेव साधयद् युक्त्या एकस्मिन्नेव तत्त्वे निर्धारणां कुरुते। तस्य तस्येन्द्रियादेरापेक्षिकं सूक्ष्मत्वमस्त्येव। विना तदाश्रयणं नात्मतत्त्वं स्थिरीकर्तुं शक्यते। आस्तिकदर्शनानि तु शरीराद्यतिरिक्तमात्मतत्त्वं प्रतिपादयन्ति, स्वकीयं सूक्ष्मात्मपरत्वं सूचयन्त्येव। तानि च शास्त्राणि दर्शनशास्त्राणि कथ्यन्ते। दर्शनशास्त्राणि सूक्ष्मपराणि विभिन्नगम्भीररहस्यानीति विशिष्टप्रतिभासनाथाधिकारिजनसंवेद्यानि भवन्ति। मन्दाधिकारिजन-संवेद्यानि न भवन्ति। अतः आत्मतत्त्ववेदनपराणि अनेकानि उपायभूतानि अपि शास्त्रेषु वर्णितानि। तद् यथा—तस्यैव परमात्मनो बोधाय अनेकानि रूपाणि निर्गुणनिराकाराणि, सगुणसाकाराणि च शास्त्रेषु श्रद्धया कल्पितानि। एतानि च परमतत्त्वप्राप्तिकराणि आलम्बनभूतानि। अवतारवादोऽपि एतदेव साधयति, तेषां तेषामवताराणां चर्चा तेषु तेषु च शास्त्रेषु विशिष्टरूपेण कृतास्ति। तेषामवताराणां पुराणादिप्रतिपादितानां जनतातापापनोदनाय भक्तजनप्रार्थनया ईश्वरानुमोदनेन तत्र तत्र भक्तशिरोमणिभिः प्रतिष्ठापिता मूर्तयो विराजन्ते। भारतपावनभूमौ भारतगुणगौरवं सोपानन्यायेन सूक्ष्मदर्शने सहकारीति तदपि दर्शनपदेन ग्रहीतुं शक्यते।

मूर्तिषु पुराणादिप्रतिपादितासु द्वादशज्योतिर्लिङ्गमूर्तयो विशेषतो हि पुराणादिषु आख्यायमाना जनमानसकालुष्यापहारिण्यो वर्तन्ते। इमानि ज्योतिर्लिङ्गानि आत्मज्योतिर्ज्ञापकानि उत अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति श्रुत्या आत्मनो ज्योतिःपदवेदनीयतया तज्ज्ञापकत्वेनैवैषां ज्योतिर्लिङ्गत्वम्। अत्र निबन्धे, इमानि ज्योतिर्लिङ्गानि कृत्यानि, किम्प्रमाणानि तत्र गमने मार्गनिर्देशनानि तत्सम्बद्धानि विवेचनीयान्यन्यानि आवश्यकानि विचारयिष्यन्ते। मन्ये, अस्याध्ययनेन कोऽपि लाभो लब्धः स्यादिति प्रवृत्तिबीजम्। शिवपुराणे प्रोक्तमस्ति यद् भूतभावनो भगवान् शङ्करः प्राणिकल्याणाय प्रतितीर्थं वासं

कुरुते । भक्तजनैरर्चितस्तत्राविर्भूतः सन् ज्योतिर्लिङ्गरूपः सदैवावस्थितो भक्तजनानानन्दयति । यद्यपि शिवलिङ्गान्यनेकानि, तेषु निम्नलिखितानि द्वादशज्योतिर्लिङ्गानि प्रधानभूतानि–

"सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम् ।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरे ॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम् ।
वाराणस्याञ्च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे ॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने ।
सेतुबन्धे च रामेशं घुश्मेशं च शिवालये ॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति ॥
यं यं काममपेक्ष्यैव पठिष्यन्ति नरोत्तमाः ।
तस्य तस्य फलप्राप्तिः भविष्यति न संशयः ॥
एतेषां दर्शनादेव पातकं नैव तिष्ठति ।
कर्मक्षयो भवेत्तस्य यस्य तुष्टो महेश्वरः" ॥

एतद्विषये शिवपुराणम्, महाभारतम्, रामायणमित्येवमादि प्रमाणम् ।

इतः परं श्लोकोक्तप्रकारेण क्रमशो लिङ्गानां द्वादशानां विषये उच्यते । तत्र गमने मार्गनिर्देशनाय सर्वसाधारणसौविध्याय च टिप्पणी दास्यते ।

(1) सौराष्ट्रे सोमनाथः

श्रीसोमनाथः काठियावाडप्रदेशान्तर्गते प्रभासक्षेत्रे विराजते । यत्र लीलापुरुषोत्तमो भगवान् श्रीकृष्णो यदुवंशसंहारं कारयित्वा जराव्याधिविद्धपादपद्मः स्वां लीलामुपसंजहार ।

अस्य प्रभासक्षेत्रस्य संक्षिप्तः परिचयः अयमस्ति–दक्षप्रजापतिः स्वकन्यानां सप्तविंशतिं श्रीचन्द्रेण सह विवाहयामास; किन्तु चन्द्रमसोऽनुरागातिशयो रोहिण्यामभूत् । अतः अन्यासां मनःसु कष्टातिशयोऽजनि । तासां कष्टमनुभूय दक्षराजेन आग्रहीतोऽपि चन्द्रः स्वां मतिं न तत्याज । फलतो दक्षप्रजापतिनाभिशप्तश्चन्द्रः क्षयी जातः । सुधाकरस्य चन्द्रमसः सुधावर्षणमवरुद्धमभूत् । निखिलेऽपि ब्रह्माण्डे हाहाकारोऽभवत् । निशाकरप्रार्थनावशेन इन्द्रादिदेवताः, वशिष्ठादिमुनयश्च तत्र किमपि कर्तुमप्रभवः पितामहस्य ब्रह्मणः सेवायामुपातिष्ठन् । ब्रह्मोवाच–देवादिभिः सह चन्द्रमाः प्रभासतीर्थे मृत्युञ्जयं भगवन्तमाराधयेत् ।। तत्प्रसादेनैव रोगविमुक्तिः स्यादिति । तदाज्ञया चन्द्रो देवमण्डलेन प्रभासक्षेत्रमुपगम्य भगवन्तं मृत्युञ्जयमाराधयामास षण्मासान् नैरन्तर्येण घोरं तपश्चक्रे । दश-लक्षसंख्याको जपोऽभूत् । तेन आशुतोषो भगवान् सन्तुष्टः प्रकटितः अमरत्ववरं दत्त्वोवाच, यत् चिन्तां मा कार्षीः । कृष्णपक्षे प्रतिदिनम् एकैका कला क्षीणा भविष्यति,तथा शुक्लपक्षे प्रतिदिनम् एकैका कला वर्द्धिष्यते । एवं क्रमेण प्रतिपूर्णमासित्वं पूर्णचन्द्रो भवेः । एवमाशीर्भिराप्यायितः चन्द्रमाः

पुनः सुधावर्षणेन, जगच्चक्रं प्राणयामास । चन्द्रादिभक्त्या पूजितः प्रार्थितश्च पार्वतीसहितः श्रीशङ्करो भगवान् भक्तानुद्दिधीर्षुः ज्योतिर्लिङ्गरूपेण प्रभासक्षेत्रे सोमस्थापिततया सोमनाथरूपेणाद्यापि विराजते ।

(2) श्रीशैले मल्लिकार्जुनः

आन्ध्रप्रदेशे कृष्णाजनपदे कृष्णानद्याः पावनतटे श्रीशैलो नाम पर्वतोऽस्ति । यो दक्षिणकैलासः कथ्यते । महाभारते शिवपुराणे पद्मपुराणादिषु चास्य वर्णनं मिलति । श्रीशैलं गत्वा तत्र च शिवपूजनं कृत्वा अश्वमेधयज्ञफलं लभ्यते । किञ्च, शास्त्रेषु वर्णितमिदमस्ति यत् श्रीशैलपर्वतदर्शनमात्रेण सर्वाणि दुःखानि विनश्यन्ति । अत्यन्तसुखं च लभ्यते, मोक्षश्च प्रसिद्ध्यति ।

"श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।
दुःखं हि दूरतो याति शुभमात्यन्तिकं लभेत् ॥
जननीगर्भसम्भूतं कष्टं नाप्नोति वै पुनः" ।

मल्लिकार्जुनमन्दिरस्य नीचैस्तले स्थितायां कृष्णानद्यां स्नानमपि महत्त्वपूर्णमस्ति । इयं च पातालगङ्गेति नाम्नापि प्रसिद्धा ।

(3) उज्जयिन्यां महाकालः

श्रीमहाकालेश्वरज्योतिर्लिङ्गं मालवप्रदेशान्तर्गतायाः क्षिप्रानद्यास्तटे उज्जयिन्या-(उज्जैन)मस्ति । इयमवन्तिकापुरी कथ्यते । सप्तपुरीषु इयमन्यतमा । क्षिप्रास्नानेन ब्राह्मणभोजनेन च सर्वपापनाशः, दारिद्र्यं च विनश्यति । अत्र मङ्गलग्रहजन्मस्थानम्, मङ्गलेश्वरः, भर्तृहरिगुहा, सान्दीपनि-ऋषेराश्रमश्च वर्तते, यत्र श्रीकृष्णबलरामौ अधीतवन्तौ । महाकालेश्वरलिङ्गस्थापनाविषये इत्थं मिलति यत् पुरा अवन्तिकापुर्याम् अग्निहोत्री वेदज्ञः कोऽपि ब्राह्मणोऽभूत् । यो देवप्रियप्रियमेधा-सुकृत-सुव्रतनामकैः पुत्रैरुपेतः शिवभक्तिधर्मनिष्ठाप्रधानो विराजते स्म । तस्य निर्मलां कीर्तिं श्रुत्वा ब्रह्मवरगर्वितो दूषणनामा असुरो रत्नमालपर्वतवास्तव्यः सदलबलः अचक्राम । हाहाकारोऽभूत् । ब्राह्मणभक्त्या तुष्टो भगवान् शङ्करस्तदाविर्भूतः । एकेनैव हुङ्कारेण तं मारयामास, सदैव तत्र स्ववासं स्वीकृत्यान्तर्हितः । तदेव महाकालनाम्नो ज्योतिर्लिङ्गं भक्तजनैरद्यापि द्रष्टुं शक्यते । तत्र सन्निधौ मातुः पार्वत्या गणेशस्य च मूर्ती विद्येते । भयङ्करहुंकारेण प्रकटनमभूदिति हेतोरस्य लिङ्गस्य महाकालेति नामाभूत् । मन्दिरस्योर्ध्वभागे ओङ्कारेश्वरस्य नीचैस्तले महाकालेश्वरो विराजते । भक्तगणो रामघट्टे, कोटितीर्थनामके कुण्डे च स्नात्वा श्राद्धञ्च कृत्वा समीप एव अगस्त्येश्वरस्य, कोटीश्वरस्य, केदारेश्वरस्य, हरसिद्धिदेव्या(विक्रमादित्यकुलदेव्या)श्च दर्शनं कुर्वन्तो महाकालेश्वरं पश्यन्ति । प्रतिदिनं तल्लिङ्गे चिताभस्मलेपः क्रियते । तदानीन्तनं दर्शनं पुण्याय मन्यते ।

(4) अमलेश्वरे ओङ्कारः

स्थानमिदं मालवाप्रान्ते नर्मदातटे विद्यते । खण्डवातः 'छोटीलाइनसमीपे' मोरटक्का-नामक-स्टेशनमस्ति । ततः सप्तमीले स्थानमिदं प्राप्तुं शक्यते । खण्डवातः 37 मीले दूरे उज्जयिनीतश्च 89

मीलदूरे। तत्र नर्मदा विभागद्वयेन प्रवहति। मध्ये एकः पर्वतखण्डो राजते। स च मान्धाता इति शिवपुरीति वा कथ्यते। अस्मिन्नेव पर्वते ओङ्कारेश्वरो विराजते, प्रसिद्धो मान्धाता सूर्यवंशोद्भवः, यस्य पुत्रौ अम्बरीष-मुचुकुन्दौ भगवद्भक्तौ अभवताम्। अत्र विशिष्टं तपश्चक्रे। स्वतपस्यया च भगवन्तं शिवं तोषयामास। अत एवास्य पर्वतस्य मान्धातेति नाम अभवत्। इदं लिङ्गं प्राकृतिकमेवास्ति। समग्रमपि पर्वतमोङ्कारेश्वररूपमपि मन्यते। अत एव पर्वतपरिक्रमा-परम्परापि दृश्यते। प्राचीन-मन्दिरेषु सिद्धेश्वरमहादेवमन्दिरं दर्शनीयतमं विद्योतते। परिक्रमायां नानामन्दिराणि वर्तन्ते, अत एव अस्य पर्वतस्य स्वरूपमोङ्कारसदृशं जायते। ओङ्कारेश्वरमन्दिरं तस्मिन्नोङ्कारे चन्द्ररूपं भवति। मन्दिरे जगन्मातुः पार्वत्या अपि मूर्त्तिर्वर्तते। अस्या दर्शनस्य नर्मदास्नानस्य च माहात्म्यं शास्त्रेषु बहुधा वर्णितमस्ति। अतस्तद्दर्शनमवश्यं कर्त्तव्यम्।

द्वादशलिङ्गेषु ओङ्कारेश्वरस्य गणना वर्त्तते; किन्तु अमलेश्वरस्यापि नामोल्लेखो मिलति। कैश्चित् तयोरभेदो मन्यते। कैश्चित्तु द्वयोः पृथक् सत्ता मन्यते। गणानायां द्वयोरेकस्थानस्थित्या ऐक्यं मत्त्वा द्वादशत्वं सङ्ख्या निर्धार्यते। प्रमाणाय तु तत्र द्वयोः स्थितिरेव। अमलेश्वरस्य भगवतो मूर्त्तिः नर्मदाया दक्षिण-तटे एकस्मिन् ग्रामे अस्ति। अत्रायमितिहासः –

एकदा विन्ध्यपर्वतः पार्थिवार्चनेन सह ॐकारनाथस्य षण्मासैः महत्या भावनया पूजनं चकार। प्रसन्नः शिवः आविर्भूतोऽभूत्। तस्मै च वरं ददौ। तदैव देवा ऋषयश्च जग्मुः। तेषां प्रार्थनया भगवान् शिवः ओङ्कारलिङ्गं द्विधा विभाजयामास। एकत्र भगवान् शिवः ओङ्काररूपेण विरेजे। अतस्तस्य ओङ्कारेश्वर इति नाम। यश्च पार्थिवलिङ्गरूपेण आविर्बभूव, तल्लिङ्गम् अमरेश्वरेति नाम्ना प्रसिद्धमभूत्।

(5) हिमवत्पृष्ठे केदारः

उत्तरखण्डे केदारनाथस्य बदरीनाथस्य अतिशयितो महिमा वर्त्तते। केदारनाथस्य भगवतो विषये विशेषो मिलति यत् श्रीकेदारनाथमदृष्ट्वा बदरीनाथदर्शनं निरर्थकं भवति–

"अकृत्वा दर्शनं वैश्य केदारस्याघनाशिनः।
यो गच्छेद् बदरीं तस्य यात्रा निष्फलतां व्रजेत्" ॥ (केदारखण्डः)

केदारनाथस्य दर्शनानन्तरं नर-नारायणदर्शनेन महत्फलं लभ्यते, तस्यैव रूपं दृष्ट्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते–

"जीवन्मुक्तो भवेत् सोऽपि यो गतो बदरीवने ॥
दृष्ट्वा रूपं नरस्यैव तथा नारायणस्य च।
केदारेश्वरनाम्नश्च मुक्तिभागी न संशयः" ॥

अस्य ज्योतिर्लिङ्गस्थापनाविषये आख्यानमिदं लभ्यते यद् हिमालय-केदारशृङ्गे नरनारायणाभ्यां तपः चक्रे, तद्भक्त्या प्रसन्नः शिवः, तत्प्रार्थनया तोषितश्चात्र खण्डे सार्वदिकं वासं स्वीचक्रे।

श्रीकेदारनाथः हिमालयकेदारशृङ्गे विराजते । शिखरपूर्वभागे अलकनन्दासुरम्यतटे बदरीनारायणो विद्योतते । पश्चिमे च मन्दाकिनीतटे श्रीकेदारनाथो राजते । अलकनन्दा-मन्दाकिनीनद्यौ रुद्रप्रयागे मिलिते जायेते । एतयोः संयुक्तधारा गङ्गोत्रीक्षेत्रादागतायां भागीरथ्यां रुद्रप्रयागे मिलति । तत्रैव सा नदीत्रयसंयुक्तधारा गङ्गा उच्यते । अस्यां स्नानेन केदारनाथ-बदरीनाथचरणसम्बन्धो जायते । केदारनाथगमनमार्गस्तु प्रसिद्धः ।

(6) डाकिन्यां भीमशङ्करः

भीमशङ्करलिङ्गं मुम्बईतः पूर्वस्मिन् भागे 60 मीले दूरे, पूनातः उत्तरे भागे 43 मीले दूरे भीमा-नदी-तटे विद्यते ।

अत्र डाकिन्यां भीमशङ्करमित्यनुसारेण डाकिनीनामकं स्थानमेतद् लिङ्गस्य स्यादिति निर्णीयते; किन्तु डाकिनीनामकं स्थानं नोपलभ्यते । श्रीशङ्करस्तु सह्याद्रिपर्वते विद्यते, तत एव भीमानदी निस्सरति । मूर्त्तिमध्यतो स्वल्पा जलधारा निस्सरन्ती दृश्यते । मन्दिरस्य पार्श्वे कुण्डद्वयमस्ति । मन्दिरपार्श्वे ग्रामैको विद्यते । किंवदन्ती तत्र वर्त्तते यत् त्रिपुरासुरवधानन्तरं भगवान् शिवः अत्रैव विश्रामं चक्रे । तस्मिन् समये अवधवास्तव्यो भीमकनामको राजा सूर्यवंशीयस्तपश्चकार । तेन तुष्टो महादेवस्तस्मै दर्शनं ददौ । तत एव कालादस्य 'भीमशङ्कर' इति नाम अभवत् । अस्य दर्शनस्य महिमा महान् वर्तते ।

शिवपुराणानुसारेण भीमशङ्करज्योतिर्लिङ्गं असमप्रान्ते कामरूपजनपदे गोहाटीरेलवेलाइने गोहाटीसन्निधौ ब्रह्मपुरपर्वतविभागे वर्त्तते । अस्य संक्षिप्त इतिहासश्चेत्थमस्ति– ।

कामरूपदेशे कामरूपेश्वरो नामैकः प्रतापी राजा शिवभक्तोऽभूत् । स सर्वथा पार्थिवपूजने अनुरक्तो जातः । तस्मिन्नेव समये भीमनामा कोऽपि राक्षसः समुद्भूतः, धर्मोपासकान् विद्रावयामास । कामरूपेश्वरख्यातिं श्रुत्वा स राक्षसस्तत्रागत्य राजानं युद्धाय प्रैरयत् । राजा तपो न तत्याज, मनसा च शिवं सस्मार–

"भजामि शङ्करं देवं स्वभक्तपरिपालकम् ।"

यदा राक्षसः कृपाणमादाय तं हन्तुमियेष तत्र कृपाणं चिक्षेप च, तदा भगवान् आविर्भूय तं राक्षसं जघान । देवादिभिः प्रार्थितस्तत्रैव निवासाय स्वीकृतिञ्च दत्तवान्–

"इत्येवं प्रार्थितः शम्भुर्लोकानां हितकारकः ।
तत्रैव स्थितवान् प्रीत्या स्वतन्त्रो भक्तवत्सलः ॥"

तत एवारभ्य इदं ज्योतिर्लिङ्गं भीमशङ्करनाम्ना भक्तगणैः पूज्यते ।

(7) वाराणस्यां विश्वेशः

श्रीविश्वेश्वरज्योतिर्लिङ्गं प्रसिद्धायां वाराणस्यां (काश्यां) विद्योतते । अस्या नगर्या महान् महिमा वर्त्तते । प्रलयेऽपि अस्या विनाशो न भवति । तस्मिन् समये भगवान् शिव एनां त्रिशूले धत्ते, सृष्टिसमये चावतारयति । अस्यामेव नगर्यां भगवान् विष्णुः सृष्टिविधानाय तपसा आशुतोषं प्रसादयामास । तेन च शयनावसरे तन्नाभिकमलाद् उत्पन्नो ब्रह्मा जगत्सर्गं चक्रे । वसिष्ठोऽपि शिव-

पूजनेनैव पूजितोऽभूत् । विश्वामित्रश्च ब्रह्मर्षित्वमाप । अस्यां नगर्यां मृतस्य पुंसः कर्णयोः श्रीशिवः तारकमन्त्रमुपदिशति । येन स संसारबन्धनान् मुक्तो भवति–

"विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः ।
इह क्षेत्रे मृतः सोऽपि संसारे न पुनर्भवेत् ॥"

काश्यामनेकतीर्थानि सन्ति, तद्यथा–

"विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिञ्च भैरवम् ।
वन्दे काशीगुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम् ॥"

मत्स्यपुराणमतम्–

"जपध्यानविहीनानां ज्ञानवर्जितचेतसाम् ।
ततो दुःखहतानाञ्च गतिर्वाराणसी नृणाम् ॥
तीर्थातिपञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने ।
दशाश्वमेधलोलार्ककेशवो बिन्दुमाधवः ॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका ।
एभिस्तु तीर्थवर्यैश्च वर्ण्यते अविमुक्तकम् ॥"

काश्या उत्तरे भागे (1) ओङ्कारखण्डः, दक्षिणे (2) केदारखण्डः, मध्ये (3) विश्वेश्वरखण्डः, यत्र विश्वनाथस्य भगवतो मन्दिरं चकास्ति ।

(8) गौतमीतटे त्र्यम्बकः

इदं ज्योतिर्लिङ्गं महाराष्ट्रप्रान्ते मुम्बईसमीपे नासिकजनपदे वर्तते । मुम्बईतः 117 मीले नासिक-नामकं रेलवेस्टेशनं वर्तते–नासिकरेवलेस्टेशनतः क्रोशद्वयं पञ्चवटीस्थानं विद्यते–यत्र रामाज्ञया श्रीलक्ष्मणेन शूर्पणखाया नासिका च्छिन्ना । अत्रैव सीताहरणमभवत् । पञ्चवटीस्थानतः 18 मीले त्र्यम्बकेश्वरज्योतिर्लिङ्गं विराजते । बसादियानसौलभ्यमस्ति । अत्रैव ब्रह्मगिरिपर्वततः गोदावरीनदी निस्सरति । गौतमीपदेनाप्येषा व्यवह्रियते । यन्महत्त्वं गङ्गाया उत्तरभारते तदेव महत्त्वं दक्षिणभारते अस्या वर्तते । दक्षिणभारते च गोदावरी गंगापदेनोच्यते । गौतमेनेयमानीता आशुतोषभगवतः कृपावशात् । भगीरथेन प्रयत्नादानीता गंगा यथा भागीरथी कथ्यते, तथैव गौतमतपःप्रभावादानीता गोदावरी गौतमी कथ्यते, सिंहराशिस्थिते गुरौ इह कुम्भमेलापको वैशिष्ट्येन सम्पाद्यते । अस्मिन् पर्वणि गोदावरीस्नानमहिमा विशेषतो वर्णितः शास्त्रेषु । पुण्यतोयाया गोदावर्य्या उद्गमसथानेऽवस्थितस्य त्र्यम्बकलिङ्गस्य महिमातिशयितो वर्तते ।

गौतममहर्षेः विशिष्टप्रार्थनया भगवान् शिवः अत्र निवासाय स्वीकृतिं प्रदाय त्र्यम्बकेश्वरनाम्ना विख्यातोऽभूत् । मन्दिराभ्यन्तरे स्वल्पगर्ते लिङ्गत्रयरूपेण त्र्यम्बकेश्वरो विरेजे । अयं त्रिलिङ्गात्मा शिवः, ब्रह्मविष्णुरुद्रप्रतीकतया मन्यते । त्रिमूर्तौ ब्रह्मगिरितो निस्सरन्त्या गोदावर्याः धारा अविच्छिन्नरूपेण पतन्ती दृश्यते । शिवपुराणानुसारेण त्र्यम्बकेश्वरस्य भगवतो दर्शनं मानवानां परमश्रेयसे भवति ।

ब्रह्मगिरेरुपरि गमनाय 700 सोपानपरम्पराः सन्ति । सोपानारोहक्रमे मध्ये रामकुण्डं लक्ष्मण-कुण्डञ्च मिलतः । शिखरारोहे गोमुखान्निस्सरन्त्या गोदावर्या दर्शनं पावनं जायते ।

(9) चिताभूमौ वैद्यनाथः

इदं स्थानं वैद्यनाथपदेनेदानीं विख्यातमस्ति । वैद्यनाथो रावणेश्वरवैद्यनाथः, यतोऽयं रावणद्वारा स्थापितः । अयञ्च द्वादशज्योतिर्लिङ्गेषु अन्यतमोऽस्ति । प्रमाणं प्रदत्तमेव ।

पद्मपुराणे पातालखण्डे एतद्विषये कथानकमिदमस्ति यत्–एकदा लङ्कापतिः रावणो महादेवं प्रार्थयामास–भगवन् ! पूजनायात्र प्रतिदिनमागमने काठिन्यमनुभूयते, अतः कृपावत्सलो भगवान् कृपया लङ्कायामेव स्वनिवासं करोतु । श्रीशिवः प्रसन्नः सन्नुवाच–यदि त्वं मार्गमध्ये कुत्रापि मां न भूमौ अवस्थापयेः, तदा लङ्कायां चलामि, यदि मध्ये भूमौ मां निधापयिष्यसि तदा अहं तत्रैव निवत्स्यामि, रावणः शिवस्य पणं स्वीकृत्य शिवमादाय लङ्कां गन्तुं प्रस्थितः । एवमाकर्ण्य देवाः समुद्विग्ना अभवन्, यतो यदि सदाशिवः लङ्कायां प्रतिष्ठापितः, तदा रावणः अजरोऽमरो भविष्यति । ते देवा भगवन्तं विष्णुं जग्मुः । तेन साहाय्यदानाय प्रतिजज्ञे । इतो देवमायया रावणो लघुशङ्कापरतन्त्रो विचारयामास यद् यद्यहं श्रीशिवं भूमौ निधाय लघुशङ्कां करोमि तदा श्रीशिवोऽत्रैव स्थास्यति लङ्कायां न यास्यति, यदि न स्थापयामि भूमौ, तदा प्राणभयम् इति चिन्तयति तस्मिन् भगवान् विष्णुर्विप्ररूपो प्रादुरभूत् । तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा रावणः प्रसन्नः सन् उवाच–महाराज, क्षणं श्रीशिवमादाय तिष्ठतु यावल्लघुशङ्कां करोमि । स ब्राह्मणः प्रथमतः उपेक्षाञ्चक्रे; किन्तु रावणप्रार्थनया तद्दुर्दशया कृपापरतन्त्रः स्वल्पकालं मूर्ति-मादायावस्थितोऽभूत् । रावण एकदण्डकालेनैव लघुशङ्काविधानाय कृतप्रतिज्ञोऽपि मायया सुदीर्घ-लघुशङ्कः, अधिककालयापनेऽपि नोत्थितः, तदा स ब्राह्मणो देवः मूर्तिं तत्रैव संस्थाप्य ततो गतः । प्रत्यावर्तितो रावणो यदा भूमिगतां मूर्तिं ददर्श, उत्थाने च कृतयत्नोऽपि असफलोऽभूत्, निराशो लङ्कां जगाम । भगवान् शिवस्तत्रैवावस्थितो वैद्यनाथनाम्ना विख्यातोऽभवत् ।

इदमपि वर्णनमुपलभ्यते यद् यदा रावणः शिवोत्थापनेऽसमर्थस्तदा क्रुद्धः सन् अङ्गुष्ठपीडितं कृत्वा शिवं प्राह अत्रैव स्थिरो भव । अत एव तल्लिङ्गे मूर्तौ मध्ये स्वल्पगर्तो दृश्यते ।

रावणेन यत्र लघुशङ्का कृता तत्रैव एका नलिकाजायत यस्य नाम रावणखारेति जातम् । शिवलिङ्गप्रसादोऽत्र न भुज्यते; किन्तु वैद्यनाथप्रसादस्तु भक्तैर्भुज्यते । वैद्यनाथसन्निधौ स्वच्छभावनया यदि सत्याग्रहपूर्वकं सत्संकल्पो विधीयते, तदा तस्य अवश्यफलम्भवेत् । अत्र देवधरसिद्धपीठमस्ति । दक्षयज्ञविध्वंसानन्तरं शोकाकुलो भगवान् शङ्करः सतीशवं स्कन्धे निधाय पृथिवीपरिक्रमां विदधान आसीत् । भगवान् विष्णुः शिवमोहनिवृत्तये सतीशवं चक्रेण मध्ये-मध्ये चिच्छेद । चक्रच्छेदेन सतीशवाङ्गानि यत्र पेतुः, तानि सिद्धपीठानि अभवन्–देवधरस्थाने हृदयं पपात, अत इदं हार्दपीठमुच्यते । श्रीशिवस्येदं स्थानमत्यन्तं प्रियमस्ति । अत्रापि मरणे तारकोपदेशः शिवकर्तृकः मुक्तये भवति ।

केचन निजामहैदराबादराज्ये परलीग्रामे शिवलिङ्गमेव वैद्यनाथं मन्यन्ते, किन्तु द्वादशलिङ्गवर्णने शिवपुराणे या गणना कृता तन्मध्ये वैद्यनाथं चिताभूमौ इति प्रमाणमस्ति, तेन जसडीह-समीपस्थितं लिङ्गमेव बिहारप्रान्ते वैद्यनाथपदेन वस्तुतो गण्यते। यतः चिताभूमिः इयमेव कथ्यते, भगवान् शङ्करः सतीदेव्याः शवं स्कन्धे निधाय उन्मत्त इव इतस्ततः पर्यटन्नासीत् तदैव सतीदेव्या हृत्पिण्डं तरलं भूत्वा इहैव निपपात, महादेवस्तस्य दाहसंस्कारं कृतवान्। अतः चिताभूमिरियमेवेति निश्चितम्।

(10) दारुकावने नागेशः

नागेश्वरज्योतिर्लिङ्गस्थापनाविषये अयमितिहासो वर्तते—पुरा एकः सुप्रियो नाम वैश्योऽभूत्, यो धार्मिकः सदाचारः श्रीशिवस्यानन्यभक्तश्चासीत्। स कदाचिन्नौकामारुह्य सपरिकरः कुत्रापि गच्छन्नासीत्। तदैवाकस्माद् दारुको नाम राक्षसो नौकामचक्राम। तत्रारूढान् सर्वानपहृत्य स्व-पुरीमानीय कारगारे बबन्ध; किन्तु सुप्रियस्य शिवार्चना तत्रापि नावरुद्धा। स तन्मयतया शिवा-राधनञ्चक्रे। तस्य शिवनिष्ठां श्रुत्वा दारुकः कोपात्तत्रागत्य ध्यानावस्थितञ्च तमवलोक्योवाच, रे मूर्ख! नेत्रे निमील्य त्वमत्र किं षड्यन्त्रचक्रं कुरुषे। विशिष्टं घोरं नादमकृत; किन्तु सुप्रियस्य शिवध्यानं तथैवाभूत्। एवमालोक्य तं हन्तुं स्वानुचरान् आदिदेश। सुप्रियस्तावतापि स्वसमाधितो न चचाल। भक्तवत्सलं शिवमेव संस्मार। फलतस्तस्मिन्नेव कारागारे शिवो भगवान् एकस्मिन्नुच्चतमे स्थाने प्रकाशमानसिंहासने स्थितो ज्योतिर्लिङ्गरूपोऽदृश्यत। तस्मै भक्तशिरोमणये प्रसन्नः पाशुपतास्त्रमपि दत्तवान्। श्रीशिवस्यान्तर्धाने सुप्रियः पाशुपतास्त्रेण सपरिकरं दारुकं हत्वा शिवसन्निधिमाप। भगवतः शिवस्यादेशादेव तल्लिङ्गस्य नाम नागेशज्योतिर्लिङ्गमजायत। अस्य दर्शनस्य महिमा अतिशयितो वर्तते। तथा चोक्तम्—

एतद् यः शृणुयान्नित्यं नागेशोद्भवमादरात्।
सर्वान् कामानियाद् धीमान् महापातकनाशवान्॥ (शि. पु. अ. 4)

नागेश्वरलिङ्गविषयेऽपि द्वैविध्यमस्ति, केचिद् वदन्ति यद् नागेश्वरलिङ्गं निजामहैदराबादराज्ये वर्तते; किन्तु शिवपुराणाद्यवलोकनेनेदं निर्णीयते यद् उपरिलिखितं द्वारकाधिष्ठितमेव ज्योतिर्लिङ्गं नागेश्वरज्योतिर्लिङ्गप्रामाणिकम्।

(11) सेतुबन्धे रामेशः (रामेश्वरलिङ्गम्)

एकादशं ज्योतिर्लिङ्गं सेतुबन्धरामेश्वरलिङ्गम्। मर्यादापुरुषोत्तमो भगवान् रामचन्द्रः स्वकरकमलद्वारा ज्योतिर्लिङ्गमिदं स्थापयामास। लङ्कामाक्रान्तुं गमनसमये श्रीरामचन्द्रः समुद्रतटे वालुकाभिः शिवलिङ्गं निर्माय पूजयाञ्चकार। इदमत्र श्रूयते यद् यदा रामचन्द्रो जलपानाय प्रवृत्तस्तदा आकाशवाणी जाता, भो रामचन्द्र! मम पूजां विना ते जलपानप्रवृत्तिर्न शोभते। ततश्च श्रीरामचन्द्रः शिवलिङ्गं विधाय पूजां कृत्वा रावणपराजयाशीर्वादमयाचिष्ट। सुप्रीतस्त्रिपुरारिः सहर्षं वरं प्रदाय सर्वेषां प्रार्थनया तत्र वासाय स्वीकृतिमददात्।

एतद्विषये अन्यदपीतिवृत्तं लभ्यते—

रावणस्य वधं कृत्वा भगवान् रामचन्द्रो यदा सीतया सह सदलबलः प्रत्यावर्तमानः समुद्रस्य द्वितीये पारे गन्धमादनपर्वते प्रथमं वासमकरोत्, तदैव मुनयस्तं स्तोतुं तत्रागमन् । श्रीरामश्च तान् सविधि सम्पूज्योवाच, यत् पुलस्त्यकुलनाशेन मम ब्रह्महत्यापापमभूत् । अतः कृपालवो भवन्तस्तत्पापप्रायश्चित्तं ब्रुवन्तु । मुनयो भगवद्वचनेनातिप्रीताः प्रशंसन्तो व्यवस्थामिमां निरणैषुर्यद् भवान् शिवलिङ्गस्थापनां कुर्यात्, तेन सर्वपापापनोदनं श्रीमतः स्यादिति । भगवान् रामचन्द्रः कैलासात् शिवलिङ्गमानेतु-माञ्जनेयमादिदेश, श्रीहनुमान् क्षणेनैव कैलासशिखरं गत्वा शिवादर्शने तप आधाय श्रीमहादेवदर्शने शिवप्रसादाल्लिङ्गमादाय श्रीरामचन्द्रसन्निधावाजगाम । इतः शुभमुहूर्तातिक्रमणभयाद् मुनिगणप्रार्थनया श्रीरामचन्द्रो ज्येष्ठशुक्लदशम्यां बुधे वालुकाशिवलिङ्गमेव प्रतिष्ठापयामास । एतदवलोक्य हनुमन्मनसि महान् क्षोभोऽभूत्, स्वप्रभुचरणयोश्च भक्त्या निपपात । भगवान् रामो वालुकालिङ्गस्थापनहेतुं निर्दिश्य तत्सन्तोषायावदद् यद् भवान् वालुकालिङ्गमुत्पाटय, तत्र त्वया नीतं लिङ्गं स्थापयामि । हनुमान् प्रसन्नः सन् तदुत्पातने प्रवृत्तोऽसमर्थोऽभूत् । हठात् स्वलाङ्गूलेन लिङ्गं सम्बध्य तदुत्पातने समग्रापि पृथिवी चकम्पे, लिङ्गन्तु स्वस्थानान्न चचाल; किन्तु हनुमानेव तेनाक्रान्तः क्रोशं गत्वा निपपात, तस्याङ्गेभ्यः रक्तपातो जातः । एतदवलोक्य श्रीरामादयो व्याकुला अभूवन् । श्रीसीताऽपि हस्तेन मारुतिनन्दनं स्पृशन्ती अरुदत् । विलम्बेन मूर्च्छा, तस्य व्यपगता सम्मुखासीनं श्रीरामचन्द्रं दृष्ट्वा तद्रूपं साक्षाद् ब्रह्मरूपमपश्यत् । आत्मग्लानिपूर्वकं भगवतश्चरणे पतन् अस्तावीत् । भगवान् हनुमन्तं सान्त्वयन् उवाच—त्वया त्रुटिः कृता यया इदं ते समुपस्थितम् । मया प्रतिष्ठापितां मूर्तिं न कोऽप्युत्पाटयितुं समर्थः । महादेवापराधेन तवेयं दशा । पश्चाच्च हनुमता आनीतां मूर्तिमपि भगवान् रामचन्द्रः पार्श्वे स्थापयामास, तल्लिङ्गस्य नाम हनुमदीश्वरेति जातम् । उभयोः महत्त्वविषये उक्तम्—

"स्वयं हरेण दत्तन्तु हनुमन्नामकं स्वकम् ।
सम्पश्यन् रामनाथञ्च कृतकृत्यो भवेन्नरः ॥
योजनानां सहस्रेऽपि स्मृत्वा लिङ्गं हनूमतः ।
रामेश्वरनाथं चापि स्मृत्वा सायुज्यमाप्नुयात् ॥
तेनेष्टं सर्वयज्ञैश्च तपश्चाकारि कृत्स्नशः ।
येनेष्टौ महादेवौ हनुमद्राघवेश्वरौ ॥"

(स्क. पु. ब्र. ख. सं. मा. अ. 45)

रामेश्वरमन्दिरं 1000 फुटेन लम्बितम्, 650 फुटचतुरस्रं 125 फुटोन्नतञ्च वर्तते । अस्मिन् विशाले मन्दिरे प्रधानमूर्त्यतिरिक्तानि अनेकानि मूर्तिजातानि सन्ति । नन्दी विशिष्टोऽपूर्वश्चास्ति । शङ्करपार्वत्योश्च चलमूर्ती वार्षिकशृङ्गारवेलायां स्वर्णरजतवाहनेन निस्सार्येते । मन्दिराभ्यन्तरे 24 कूपाः सन्ति, ये तीर्थानि कथ्यन्ते, एषु स्नानस्य महत्त्वमस्ति । सर्वेषां कूपानां जलानि मधुराणि सन्ति; किन्तु मन्दिराद् बहिर्वर्तमानानां कूपानां जलं क्षारमस्ति, श्रूयते यद् भगवतैव स्वयं स्वामोघबाणेनैते निर्मिताः । तथा च भगवानेव अनेकतीर्थेभ्यो जलान्यादाय एषु निचिक्षेप । गंगा-गया-यमुना-शंख-चक्रकुमुदादिनामभिरेते प्रसिद्धाः । श्रीरामेश्वरधाममध्ये दर्शनतीर्थमतिरिक्तमस्ति । एतेषु

केषाञ्चिन्नामानि इमानि सन्ति–रामतीर्थम्, अमृतवाटिकातीर्थम्, हनुमत्कुण्डम्, ब्रह्महत्यातीर्थम्, विभीषणतीर्थम्, माधवकुण्डम्, सेतुमाधवः, नन्दिकेश्वरतीर्थम्, अष्टलक्ष्मीमण्डपः, नलादिकुण्डानि च। गंगोत्तरी-गंगाजलमादाय श्रीरामेंश्वरार्पणेन महत्फलं लभ्यते। एतदर्थं तन्मूल्यमत्र दीयते।

श्रीरामेश्वरमन्दिरतः 15-20 मीले दूरे धनुष्कोटितीर्थं शोभते, यत्र भारतमहासागरबङ्गालखाड़ी इत्यनयोः संगमो वर्तते। अत्र श्राद्धकरणेन पुण्यमवाप्यते। रामेश्वरयात्रायां प्रथमतः मद्रासगमनम्। ततश्च साक्षाद् रेलयानं प्राप्यते।

(12) शिवालये घुश्मेशः

घुश्मेश्वरलिङ्गं (घुसृणेश्वर-घृष्णेश्वर) निजामराज्ये मनमाड़स्टेशनतः 66 मीले दूरे दौलताबादस्टेशनमस्ति। ततः 12 मीले दूरे वेलगाँवसन्निधौ स्थानमिदं वर्तते। दौलताबादं विहाय आरङ्गाबादस्टेशने अवतरणं कार्यम्। यच्च दौलतबादतः अग्रिमस्टेशनमस्ति, मार्गे दौलताबादस्य दुर्गः मार्गश्च शोभनोऽस्ति। दौलताबाददुर्गः पर्वतशिखरे विराजते। धारेश्वरलिङ्गसन्निधौ एकनाथमहात्मनो गुरोः श्रीमतो जनार्दनमहाराजस्य समाधिर्वर्तते। अग्रे च इल्लोटाख्यस्य प्रसिद्धा गुहा वर्तन्ते। अस्य स्थापनेतिहासविषये एवं प्रसिद्धिः–

दक्षिणप्रदेशे देवगिरिसन्निधौ सुधर्मानामको ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। तस्य सुदेहा-नाम्नी पत्नी आसीत्। उभयोः परमा प्रीतिरभूत्, सुखेन च निवसतोस्तयोः सन्ततिचिन्ता समजायत। दैवज्ञैः सन्तानाभावयोगो घोषितः। कालक्रमेण ब्राह्मण इदं सर्वं पत्न्यै न्यवेदयत्। सुदेहा विवाहान्तरकरणाय आग्रहीत्। ब्राह्मणः पत्नीप्रीतिवशाद् विवाहतो न्यवारयत्; किन्तु सा साग्रहोवाच यत्–मदीया एका भगिनी घुश्मानाम्नी सुन्दरी गुणवती मत्समानस्वभावा चास्ति, तया साकं भवान् विवाहं करोतु। आवां सम्मिल्य भवतः सेवां करिष्यावः। दैवाद् घुश्मया सह विवाहविधिः समपद्यत। घुश्मा विवाहिता पतिसेवापरायणा साध्वीं स्वभगिनीं मातरमिव सेवमाना 101 पार्थिवार्चनेन शिवभक्ता अभूत्। भगवतः शिवस्य प्रसादेन घुश्मागर्भतः पुत्ररत्नमभूत्, तदानीम् उभयोः भगिन्योः मिथः प्रीत्यतिशयोऽभूत्। सुदेहायाश्चापि पुत्रस्योपरि मातृभाव आसीत्।

कालक्रमेण घुश्मायाः पुत्रस्य विवाहोऽभूत्। तस्य पत्नी गृहे समागता। क्रमशः सुदेहाया मनसि पुत्रं प्रति ईर्ष्याङ्कुरः समपद्यत। तन्मनसि इयमवधारणा जाता यदत्र गृहे मम किमपि नास्ति घुश्माया एव सर्वस्वमस्ति। तत्र मूलं पुत्र एवास्ति। घुश्मा च भक्त्या शिवार्चनतत्परा दिनानि यापयन्ती अतिष्ठत्। तस्याश्च भक्तिरहर्निशं ववृधे। इतः सुदेहा ईर्ष्याग्निना दग्धा पापाधिक्यवशादेकस्मिन् दिने पुत्रमारणोपायमचिन्तयत्। एकान्ते स्वपन्तं पुत्रं हत्वा यस्मिन् सरोवरे घुश्मा शिवलिङ्गानि पूजितानि त्यजति स्म, तस्मिन्नेव सरोवरे पुत्रशवं प्रक्षिप्तवती। पुत्रपत्नी यदा पतिशय्यामपश्यत् तदा तत्र रक्तस्रावः पत्यभावश्च तामपीडयत्। सा रोदनं चक्रे। घुश्मा तु शिवलिङ्गार्चनविधौ संलग्ना, पूजनानन्तरं लिङ्गानि तस्मिन्नेव सरोवरे प्रक्षिप्य स्वगृहमागवतवती। पार्थिवलिङ्गप्रपातप्रभावेण पुत्रः जीवितः स्वस्थः मातुः चरणयोः शिरो दत्त्वोवाच यत्–भो मातः, मृत्वाप्यहं पुनर्जीवितः तव पार्श्वे आगमम्। सुदेहायाः सन्निधावपि तथैवाचचार। इतो भगवान् शङ्करः सुदेहायाः कुकृत्यमवलोक्य कुपितः

सुदेहाविनाशाय समुद्यतोऽभूत् । कुपितं तथाचरन्तञ्च शिवमवलोक्य घुश्मा प्रार्थितवती यद् भगवन् ! यदि भवतः कृपा मयि स्यात्तदा अस्या अपराधं क्षमताम् । प्रसन्नो भगवान् तां तत्याज । घुश्माप्रार्थनया भगवान् शिवस्तत्र प्रतिष्ठितोऽभवत् । घुश्माप्रतिष्ठापितत्वेनास्य ज्योतिर्लिङ्गस्य नाम घुश्मेश्वरज्योतिर्लिङ्गमजायत । तत एव कालादिदं घुश्मेश्वरज्योतिर्लिङ्गं पुण्यकामैः पूज्यते, दृश्यते च अस्य महत्त्वं शास्त्रेषु बहुधा वर्णितम् । द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्यायं संक्षिप्तः परिचयः सर्वसाधारणतया प्रदत्तः । एतद्विषये प्रमाणभूतानि तत्त्वानि शिवपुराणादौ बहुशो वर्तन्ते, इह विस्तरभयान्नोल्लिखितानि, इह तु दिग्दर्शनरूपेणैवोपन्यस्तम् । यद्यनेन कस्यचित् कोऽपि लाभः स्यात्तदा सन्तोष इति शम् ।

●

जीवात्मपरमात्मनोरभेदविमर्शः

प्रो. पारसनाथद्विवेदः

इह जीवात्मा परमात्मनो विकारः, अंशः, भिन्नः, भिन्नाभिन्नः, अभिन्नो वेति विचार्यते।

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफल-सम्बन्धी अहमिति प्रतीतिसाक्षिकश्चेतनः। अस्ति च परमात्मा जगज्जन्मादिहेतुः श्रुतिस्मृतीतिहासप्रमाणको योगिज्ञानगम्यश्चेतनो नित्यो विभुस्तत्र स जीवात्मा किं व्योमादिवत् परस्मादात्मन उत्पद्यते, उत ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः। उभयथा हि श्रुतिः।

"यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति"। (बृ. 1/20)

"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः सम्प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति"। (मु. 2/1/1) इत्यादिश्रुतयः साक्षादेव जीवात्मनो ब्रह्म-विकारत्वं प्रतिपादयन्ति। सरूपाभावा इत्यनेन जीवानामपि उत्पत्तिप्रलयौ श्रुत्या प्रतिपाद्येते।

किञ्च, 'एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम्' इति प्रतिज्ञाया मृल्लोहमण्यादिदृष्टान्तस्य चास्मिन् पक्षेऽनुप-रोधोऽपि सम्भवति। एवं जीवस्योत्पत्तिः श्रूयते। अनुत्पत्तिरपि श्रूयते, यथा–

"न जायते म्रियते वा विपश्चित्",

अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा"।

स्मर्यते च–

"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"।

किं पुनरत्र ज्यायः ? जीवात्मा नोत्पद्यत इत्येव पक्षः साधीयान् श्रुतिसम्मतो युक्तश्च। बाहुल्येन श्रुतयस्तावज्जीवात्मनोऽनुत्पत्तिमेव श्रावयन्ति। अल्पाः श्रुतय उत्पत्तिं दर्शयन्ति। तासां नित्यत्व-श्रुत्यनुरोधेन बुद्ध्याद्युपाधिसम्बन्धाद् उत्पत्तिप्रलयप्रतिपादने गतार्थता स्यात्। उपपादितं चैतत्–

"चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्" (ब्र. सू. 2/3/16) इति सूत्रे भगवत्पादैः। जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशो भाक्त इति। शरीरादिप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्म-मरणशब्दौ तद्विषयौ मुख्यौ तत्रस्थे जीवे उपचर्येते, तद्भावभावित्वादिति भावः। न च शरीर-सम्बन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिद् लक्ष्यते। न च श्रूयते। श्रुतिरपि शरीरसम्बन्धादेवास्य

जन्ममरणे दर्शयति–"स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्बध्यमानः, स उत्क्रमन् म्रियमाणः" इति। (बृ. 4/3/8)

नित्यत्वाच्च जीवात्मन उत्पत्तिर्न सम्भवति। न हि उत्पन्नो नित्यः सम्भवति। श्रुतयस्तावत् शतशो जीवस्य नित्यत्वं प्रतिपादयन्त्यस्तदुत्पत्तिं वारयन्ति। यथा–

"न जीवो म्रियते" (छा. 6/11/3), **"स वा एष महान् अज आत्मा अजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म"** (बृ. 4/4/25)।

"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (क. 2/8)।

किञ्च, ब्रह्मविकारो जीवात्मा इति मते जीवस्य कार्यत्वं ब्रह्मणश्च परिणामित्वमापद्येत। उभयथापि उभयोरनित्यत्वं दुर्वारम्। न च ब्रह्मणः परिणामि नित्यत्वं सम्भवति, विरोधात्। न हि परिणामी अविकृतः सम्भवति। न च विकृतो नित्यः सम्भवतीति! किञ्च, परमात्मपरिणामो जीव इति दर्शने कृत्स्नस्य ब्रह्मणः परिणामः, यत्किञ्चिदंशपरिणामो वा स्यात्। उभयथा दोषः। तथा हि कृत्स्नपरिणामो ब्रह्मणो न श्रूयते क्वचित्। तत् सम्भवे वा जीवस्यापि ब्रह्मवदेव सर्वज्ञत्वापत्तिः स्यात्। न च भूतसृष्टिरपि ब्रह्मपरिणामः, विवर्तवादस्वीकारात्। यत्किञ्चिदंशपरिणामे च ब्रह्मणः सावयवत्वापत्तिः, निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यमित्यादिनिरवयवत्वप्रतिपादकश्रुतिव्याकोपश्च। अंशित्वाच्च ब्रह्मणोऽनित्यत्वमिथ्यात्वापत्तिश्च स्यादिति। न च ब्रह्माश्रिताविद्यापरिणाम एव जीव इति युक्तम्, आकाशादिवज्जडत्वापत्तेः। एवञ्च न जीवात्मा ब्रह्मणो विकार इति सिद्धम्।

ननु मास्तु ब्रह्मणो विकारो जीवः, अंशस्तु सम्भवति अविकृतः। तथा च श्रूयते–"तावानस्य महिमा ज्यायाँश्च पूरुषः पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छा. 3/12/6)। अत्र अंशः, पादः, भाग इति अनर्थान्तरम्। स्मर्यते च–

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। (श्रीमद्भगवद्गीतायाम्– 15/7)

वादरायणेनापि भगवता ब्रह्मसूत्रकृता उक्तम्–"अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके"। (ब्र. सू. 2/3/43)

अतो जीवः परमात्मनोंऽशो भवितुमर्हति, अग्नेर्विस्फुल्लिङ्गादिवत्, नानात्वेन व्यवहारात्। अत एव नैवेश्वर एव जीवात्मा। "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा. 8/7/10), "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति", "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानं यमयति" इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते। अत उपकार्योपकारकत्वाच्च जीवात्मपरमात्मनोरंशांशिभावो युक्तः। अत्रोच्यते–निरवयवस्य परमात्मनो न मुख्योंऽशो जीवः सम्भवति, निरवयवत्वप्रतिपादकश्रुतिव्याकोपात्, अनित्यत्वमिथ्यात्वापत्तेश्च। यत्रापि परमात्मनोंऽशो जीव इति श्रूयते स्मर्यते वा, तत्र अंश इव अंश इति व्याख्येयम्। चैतन्याविशेषात्तु जीवे ब्रह्मांशत्वव्यपदेशः, न तु वस्तुतोंऽशः सम्भवति।

किञ्च, जीवस्य परमात्मनोंऽशत्वे जीवगतसुखदुःखादिवेदना ब्रह्मणोऽपि प्रसज्येत, पादादिगतवेदना इव देवदत्तस्य। तथा सति ब्रह्मभूयं गतस्यापि जीवस्य वेदनानुभवप्रसङ्गः स्यात्। किं वा अंशभूत-

समस्तजीवगतवेदना ब्रह्मणः प्रसक्तेति मुक्तात्मनो ब्रह्मीभूतस्य समस्तजीवगतवेदनाप्रसक्तिः स्यादिति, ततो वरमनिर्मोक्ष एव स्यात् ।

किञ्च, अस्मिन् पक्षे जीवब्रह्माभेदप्रतिपादकश्रुतयो बाध्येरन् "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवमादयः । किञ्च, "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै. 2/6/1) इत्यादिप्रवेशनश्रुतयोऽपि अंशवादे बाधिताः स्युः । परमात्मन एव स्वसृष्टभूतप्रवेशोऽविकृतरूपेण तत्रोपलब्धरूपप्रवेशनं श्रूयते । न च तत्रांशतः प्रवेशः श्रूयते, सम्भवति वा, निरंशत्वात् परमात्मनः । अतो नायं पक्षः श्रुतिस्मृतियुक्तिसह इति ।

ननु अस्तु तर्हि अत्यन्तं भेद एव जीवात्मपरमात्मनोः । न विकारो नाप्यंशः; किन्तु परमार्थतो भिन्न एव, जीवात्मपरमात्मनोः विकारत्वांशत्वाभिन्नत्वादेश्च औपाधिकत्वमस्तु । सति भेदे नानाव्यपदेशोऽपि सम्भवति । अल्पज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविलक्षणधर्माश्रयत्वमपि सुतरामुभयोः सिद्ध्यति । एवञ्च सति जीवात्मानमधिकृत्य न शास्त्रोपदेशवैयर्थ्यमपि । जिज्ञास्यजिज्ञासकोपास्योपासकभावादेरपि भेदेऽनभ्युपगम्यमाने सुतरामुपपत्तिः । न चोभयोर्भेदोऽप्रामाणिकः, श्रुतेरेव प्रमाणत्वात् । तथा च—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते", "य आत्मनि तिष्ठन्....आत्मानं यमयति", "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततः स्यादमृतत्वमेति" इत्यादिभेदश्रुतयः सङ्गच्छन्ते । "निरञ्जनः साम्यमुपैति दिव्यम्" इत्यादिश्रुतिबोधितब्रह्मसमत्वरूपमोक्षोऽप्युपपद्यते । स्मृतिरपि—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" ॥ इति ।

किञ्च प्रतिक्षेत्रं भिन्नः अल्पज्ञोऽस्वतन्त्रः कर्मफलसङ्गी जीवः, न सर्वज्ञः स्वतन्त्र एकः कर्मफलासङ्गी परमात्मा भवितुमर्हति, विरोधात्, सर्वज्ञत्वसर्वेशितृत्वोपास्यत्वाद्यापत्तेः । अत एव न्यायवैशेषिकास्तार्किका औपनिषदाश्च माध्वादयोरुभयोर्भेदमेव साधयन्ति । याश्चाभेदवादिन्यः "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादिश्रुतयस्ता उपचरितार्था एव । उपास्योपासकयोरत्यन्तसन्निधिवशात् ताभिरौपचारिक एवाभेदो बोध्यते, न वास्तविको भेदो निवार्यत इति भेद एव युक्तः, श्रुतिस्मृतिसिद्धश्च ।

अत्रोच्यते—भवेदयं पक्षो युक्तो यदि जीवात्मपरमात्मनोर्भेदः श्रुतितात्पर्यविषयः स्यात् । स एव तु नास्ति । तथा हि षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्यः सन्ति सहस्रशोऽभेदप्रतिपादिकाः श्रुतयः स्मृतयश्च, ताः पारमार्थिके भेदे स्वीक्रियमाणे उपरुध्येरन् । न च तादृश्यो भूयस्यो जीवात्मपरमात्माभेदतात्पर्यवत्यः श्रुतयो वर्षशतैरपि शक्रेणापि शक्या उपचरितार्थाः कर्त्तुम् । न च 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिभेदबोधकश्रुत्यन्यथानुपपत्त्या ता उपचरितार्था इति वाच्यम्, औपाधिकभेदमादायापि भेदश्रुतीनां चारितार्थ्यात् । ताश्चाभेदश्रुतयः —

"सदेव सोम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्" (छा. 7/2/1),
"आत्मैवेदं सर्वम्" (तत्रैव—6/25/2),
"इदं सर्वं यदयमात्मा"(बृ. 2/4/6),

"तत्त्वमसि" (छा. 6/2/1),

"अयमात्मा ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवमादयः।

स्मृतयश्च–

"वासुदेवः सर्वमिति" । (श्रीमद्भगवद्गीतायाम्–7/9)

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" । (तत्रैव–13/27)

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" । (तत्रैव–13/2)

न चाभेदमेव बोधयति श्रुतिर्भेदमपि निन्दति निषेधति च । यथा–"अन्यऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः" (बृ. 1/4/10), "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ. 4/4/19), "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद् विजानाति स वै भूमा" , "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञातेति" (बृ. 3/723) । अतो न भेदः श्रुतिस्मृतिसम्मतः ।

न चायं पक्षो युक्तिसहः । तथा हि–यदि जीवात्मा परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्नोऽस्ति, तर्हि स किम् अणुर्वा देहपरिमाणो वा विभुर्वा ।

अणुश्चेत्, जीवात्ममहत्त्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधः । "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति", "स एष महान् य आत्मा" । सर्वशरीरव्यापिवेदनानुपलब्धिप्रसङ्गश्च, तस्यात्मनः शरीरव्याप्त्यभावात् । त्वक्सम्बन्धात् स्यादिति चेत्, तर्हि पादे कण्टकतोडनेऽपि सकलशरीरगतवेदना प्रसज्येत । न च गङ्गादिस्नानलब्धसर्वशरीरव्यापिशैत्योपलब्धिवत् पादे कण्टकतोडने सर्वशरीरव्यापिवेदना अनुभूयते । न च एकदेशस्थोऽपि अणुरात्मा सर्वशरीरव्यापिशैत्यादिवेदनां करिष्यति । यथा एकदेशस्थश्चन्दनबिन्दुः सर्वशरीरव्यापिनमाह्लादं जनयतीति वाच्यम्, सावयवस्य चन्दनबिन्दोः अणुसञ्चारेण सर्वदेहव्याप्तिसम्भवेन तथोपपत्तेः । न च जीवात्मनः सावयवत्वे प्रमाणमस्ति । न चाणोरपि जीवस्य मणिप्रदीपवत् स्वगुणचैतन्येन सर्वशरीरव्यापित्वं सम्भवतीति वाच्यम्, निर्गुणस्य चैतन्यरूपस्य जीवात्मनश्चैतन्यगुणाङ्गीकारे प्रमाणाभावात् । अङ्गीकारे वा एकदेशस्थस्याणोरात्मनश्चैतन्यगुणस्यान्यत्र शरीरभागे व्याप्त्यभावात् । न हि गुणिनं विहाय गुणोऽन्यत्र दृष्टचरः । एवं सति गुणत्वमेव तस्य न स्यात् । न हि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तमानो दृश्यते । न च गुणगुणिनो व्यतिरेको गन्धवद् द्रष्टव्यः । यथा गन्धगुणः स्वाश्रयं विहायान्यत्र वर्तमानो दृश्यते, तथात्मनश्चैतन्यगुणोऽपि वाच्यम्, पुष्पादेर्गन्धगुणस्यान्यत्र गमनाभावात्, गुणस्य निष्क्रियत्वाद् गमनासम्भवात् । पुष्पादेरणोरवयवस्यैवान्यत्र व्याप्त्यभ्युपगमात् । न च पुष्पाणां प्रक्षयः स्यादिति वाच्यम्, अदृष्टवशात् तदवयवानां पूरणात् तस्माज्जीवस्याणुत्वे सर्वशरीरव्यापिवेदनानुपलब्धिप्रसङ्गः स्यादेव । शरीरपरिमाणत्वे च तस्य विभुत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधः । शरीरपरिच्छेदाद् वस्तुतः परिच्छिन्नत्वाद् अनित्यत्वापत्तेश्च । न हि परिच्छिन्नं नित्यं दृष्टम्, शरीराणामनियतपरिमाणाच्चात्मनोऽपि अनियतपरिमाणापत्तेः । कदाचिद् हस्तिपरिमाणः, कदाचित् पिपीलिकापरिमाण इत्यस्तु तथेति चेत्, तर्हि मनुष्यपरिमाणो मृतः कदाचित् कर्मपरिपाकवशाद् हस्तिजन्म प्राप्नुवन् हस्तिशरीरं न कृत्स्नं व्याप्नुयात् । हस्तिपरिमाणो वा मृतो मशकादियोनिमाप्नुवन् मशकादिशरीरं न समीयेत । न चैतद्दोषपरिजिहीर्षया संकोचविकासशालित्वं शरीरानुरूपं तस्य

स्वीक्रियत इति वाच्यम्, अनित्यत्वापत्तेः। सङ्कोचोऽपचयः, विकास उपचयः, तौ च सावयवत्वेन व्याप्तौ जीवस्य सावयवत्वमापादयतः। तत्त्वे चानित्यत्वमापाद्यत एव। किञ्च, मोक्षावस्थायां निष्परिमाण एवात्मा स्यादिति नैतन्मतं युक्तम्।

विभुत्वपक्षेऽपि दोषः। तथा हि जीवात्मा परमात्मनो भिन्नो विभुः स्यात्, तर्हि किमेकोऽनेको वा? नाद्यः, तस्यैकत्वे सर्वलौकिकवैदिकभेदव्यवहारानुपपत्तिः। किञ्चैकस्मिन् जाते मृतेऽन्धे बधिरे वा सर्व एव तथा स्युः। भोगसाङ्कर्यापत्तिश्च स्यादिति अवश्यमनेके विभव आत्मानः स्वीकार्याः। तत्रापि कर्मफलव्यतिकररूपदोषापत्तिः। व्यतिकरः साङ्कर्यम्। तथा ह्यनेके विभव आत्मानश्चैतन्यरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च सन्ति। तदर्थं साधारणं प्रधानम्, तन्निमित्ता एषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः सङ्गिरन्ते।

काणादाश्च बहवो विभवः स्वतोऽचेतना द्रव्यमात्रस्वरूपा आत्मानः। तदुपकारीणि चाणूनि मनांसि अचेतनानि। तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगाद् नव ज्ञानादयो वैशेषिका गुणा उत्पद्यन्ते। ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकम् आत्मसु समवयन्ति, स संसारः। तेषां नवानां गुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति प्राहुः।

तत्र सांख्यमते आत्मनां चैतन्यरूपत्वात् प्रधानेन सम्बन्धस्य सर्वान् प्रत्यविशेषाद् एकस्य तत्कृतो भोगः सर्वेषां प्राप्नोति। न च कर्मनिबन्धना व्यवस्था कर्मणां प्राकृतत्वेन प्रकृतेश्च साधारण्येन अव्यवस्थातादवस्थ्यात्।

काणादानामपि मते कर्मफलव्यतिकरः प्राप्नोति। तथा हि यदा एकेनात्मना मनः संयुज्यते, तदा आत्मान्तरैरपि स सम्बन्धो नान्तरीयकः, सन्निधानाविशेषात्। ततश्च मनःसंयोगरूपहेत्वविशेषात् फलाविशेषोऽवश्यंभावीति एकस्यात्मनः सुखदुःखे सर्वात्मनामपि प्राप्नुतः। न चादृष्टं नियामकमिति वाच्यम्, धर्माधर्मलक्षणस्यादृष्टस्य सांख्यमतेऽनात्मसमवायिनः प्रधानवर्त्तिनो नियामकत्वायोगात्, तस्य साधारण्यात्, तद्वृत्तिधर्माधर्मादीनामपि तथात्वात्। काणादानां मतेऽपि नादृष्टं नियामकम्। आत्ममनःसंयोगेन सर्वान् आत्मनः प्रति साधारण्येन उत्पन्नस्यादृष्टस्य प्रत्यात्मं नियामकत्वायोगात्। न हि साधारण्येन उत्पन्नमदृष्टमस्यैवात्मन इति विशेषतो वक्तुं नियन्तुं शक्नोति, हेत्वभावात्। न चात्ममनःसंयोगस्य साधारण्येऽपि स्वस्वामिभावस्यासाधारण्याद् विशेषव्यवस्था भविष्यतीति वाच्यम्, उक्तरीत्या हेत्वविशेषाद् अदृष्टस्य साधारण्यात् तत्कृतस्वस्वामिभावोऽपि साधारण इति न व्यवस्था भविष्यतीति कर्मफलव्यतिकरप्रसङ्गः स्यादेव। उपपादितञ्चैतद् भगवत्पादैः श्रीशङ्कराचार्यैः ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्याये तृतीयपादान्ते। तस्मात् परमात्मनो भिन्नो जीवात्मा इति पक्षो दोषग्रंस्तत्वात् त्याज्य एव।

अस्तु तर्हि जीवात्मपरमात्मनोर्भेदाभेदपक्षः। तथा च सति न कापि श्रुतिर्बाधिता भवति। युज्यते च भेदमाश्रित्य नानाव्यपदेशः। अंशांशिभावश्च सुतरामुपपद्यते। अभेदमाश्रित्याभेदवादिन्यो निरंश-प्रतिपादिकाः श्रुतयः सङ्गच्छन्ते। प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरपि अनुपरोधः सम्भवत्येव। उक्तञ्च—"प्रतिज्ञा-सिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः" (ब्र.सू. 1/4/20) इति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि यथा वह्नेर्विकारा विस्फुलिङ्गा

व्युच्चरन्तो न वह्नेरत्यन्तं भिद्यन्ते, तद्रूपनिरूपणत्वात् । नापि अत्यन्तमभिन्नाः, वह्नेरिव परस्परव्यावृत्त्यभावप्रसङ्गात् । तथा जीवात्मानोऽपि ब्रह्मविकारा ब्रह्मणोऽभिन्ना भिन्नाश्चेति । उपदेशवैयर्थ्यान्यथानुपपत्त्या भेदः, प्रतिज्ञासिद्ध्यन्यथानुपपत्त्या चाभेद इति युक्तम् ।

अथवा जीवेशयोर्भेदाभेदौ अवस्थापेक्षौ स्याताम् । आमुक्तेर्भेद एव स्यात्, जीवस्य च परस्य च, मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावत इति पाञ्चरात्रिकाः प्राहुः । श्रुतिश्च भवति अत्रार्थे—"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" । (छा. 8/12/3) यथा वा—

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥

उपपादितञ्चैतद् भगवत्पादश्रीशङ्कराचार्यैरयं पक्षः—"उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः" (1/4/21) । एवञ्च भेदाभेदौ युक्तौ मन्तव्यौ ।

अत्रोच्यते—न तावत् तयोर्भेदाभेदौ पारमार्थिकावुपपद्येते, परस्परविरोधात् । भेदाभेदयोः परस्परमभावरूपत्वात् तमःप्रकाशवद् एकत्रायोगात् । एकत्र भिन्नो न पुनरवस्थान्तरेऽपि अभिन्नो भवन् क्वचिद् दृष्टः । तस्माज्जीवात्मा परमात्मनो न विकारः, नांशः, न भिन्नः, न भिन्नाभिन्नः; अपि तु अभिन्नस्तद्रूप एव, अभेदप्रतिपादकश्रुतिस्मृतीतिहासादिप्रमाणात् ।

न चाभेदपक्षे भेदव्यवहारो बाधितः, नामरूपोपाधिवशात् सर्वविधभेदव्यवहारोपपत्तेः । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः", "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव", "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्", "एकोऽहं बहु स्याम" इत्यादिश्रुतय एकत्वमेव दर्शयन्ति । अस्मिन् पक्षे प्रतिज्ञादृष्टान्तसर्वभूतप्रवेशनश्रुतयोऽपि आञ्जस्येन सङ्गता भवन्ति । विधिप्रतिषेधरूपानुज्ञापरिहारावपि देहसम्बन्धादेकस्मिन्नात्मनि उपपद्यन्ते । उपपादितञ्चैतत्—"अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्" (ब्र. सू. 2/3/48) इति सूत्रे शारीरकभाष्ये । तत्र देहैः सम्बन्धो देहसम्बन्धः, स च न संयोगः समवायो वा सम्भवति नित्यस्यात्मनः असङ्गत्वश्रवणात् "असङ्गोऽयं पुरुषः" इति; अपि तु देहेनास्य तादात्म्याध्यास एव, तेन च विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः 'अहं स्थूलः' इत्यादिरूपा ।

न चैकत्वपक्षे अनुज्ञापरिहारयोरुपपन्नत्वेऽपि कर्मफलसम्बन्धो व्यतिकीर्येत स्वाम्येकत्वादिति वाच्यम्, असन्ततेश्च न कर्मफलव्यतिकरः । कर्त्तुर्भोक्तुश्चात्मनो न सर्वैः शरीरैः सह सम्बन्धोऽस्ति, उपाधितन्त्रत्वात् तस्य, उपाधेश्चासन्ततत्वाद् नास्ति जीवसन्तानः । तस्मात् कर्मफलव्यतिकरो नास्ति । तस्मादभेदपक्षे न दोषलेशोऽपि । स चाभेदस्तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनजन्याखण्डाकारमनोवृत्तिविशेषरूपोऽहं ब्रह्मास्मि अहं ब्रह्मास्मीति ।

●

अनुमाने व्याप्तिः

श्रीविश्वनाथमिश्रः

मानाधीना मेयसिद्धिरिति सिद्धान्तानुसारं भवन्ति प्रमाणानि प्रमेयोपलब्धौ महत्त्वपूर्णसाधनानि। तानि च तत्तत्सम्प्रदायानुसारं भजन्ते वैभिन्न्यम्। तत्र प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति न्यायसूत्रानुसारमत्र चत्वार्येव प्रमाणानि। इदमत्रावधातव्यं यत्–न्यायदर्शने प्रमाकरणं प्रमाणञ्चेत्, जैनदर्शने प्रमितिः प्रमाणमिति भावव्युत्पत्त्या ज्ञानमेव प्रमाणम्। तत्र जैनदर्शने प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति ज्ञानस्य द्वैविध्यम्। अनुमानञ्चात्र परोक्षप्रमाणान्तर्गतमेव।

स्यादेतत्–स्युरिमानि ज्ञानजनकानि प्रमाणानि ज्ञानस्वरूपाणि वा, भवत्येवार्थावगतिः प्रमाणेभ्यः। तत्र प्रत्यक्षमिव अनुमानस्यापि अर्थसिद्धौ महदुपयोगित्वं वर्ततेऽनुभवप्रतिपन्नम्। "सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना" इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारं सम्बद्धस्य=इन्द्रियसन्निकर्षसंश्लिष्टस्य, आसन्नस्य च स्थूल-वस्तुनः प्रत्यक्षं भवति चक्षुरादिना; किन्तु असम्बद्धस्यावर्तमानस्य दूरस्थस्य सूक्ष्मस्य च पदार्थस्य ज्ञानन्तु भवत्यनुमानेनैव। नास्ति तत्र प्रत्यक्षस्य क्षमत्वम्। स चासौ अनुमानशब्दः अनुमीयते येनेति करणव्युत्पत्त्या अनुमित्यात्मकज्ञानसाधनपरो भवति। यदा च बाहुलकाद् भावे ल्युट्, तदा अनुमिति-रनुमानमिति पश्चाद्वर्तिज्ञानपरम्। एकस्माद् ज्ञानात् परवर्तिज्ञानमनुमानमिति फलितोऽर्थः। एकञ्च तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमेव। अत एव अथ तत्पूर्वकमनुमानमिति न्यायसूत्रस्य व्याख्यानावसरे तत्पूर्वकमिति पदस्य प्रत्यक्षपूर्वकमित्यर्थः कृतो वर्तते। एतेन प्रतीयते यदनुमानस्य स्वरूपसिद्धौ प्रत्यक्षस्य सहकारित्वं नान्तरीयकम्। कदाचिदागमोऽपि भवति अनुमानोपकारकः। आत्मनो नित्यत्वे आगमस्यैव वर्चस्वम्। अत एव वात्स्यायनेन प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानमिति व्याहृतं न्यायभाष्ये।

अनुमानस्योपयोगं न केवलं मनुष्या एव कुर्वन्ति; अपि तु पशवोऽप्यभ्युपयन्ति अनुमानम्। हरितघासं हस्ते दृष्ट्वा तच्चिखादयिषया भवति प्रवृत्तिस्तत्र गवादीनाम्। दण्डोद्यतकरं पुरुषं दृष्ट्वा–दण्डोऽयं मदनिष्टजनकः पूर्वानुभूतदण्डवदित्यनुमीय पलायते चासौ ततो गौः। अस्यां स्थितौ ये नाङ्गीकुर्वते अनुमानं प्रमाणत्वेन ते क इति त एव जानीयुः।

एतादृशस्य महत्त्वपूर्णस्य प्रमाणस्य नामान्तरं व्याप्तिज्ञानम्। तथा चोक्तं भाषापरिच्छेदे विश्वनाथेन–

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्।
अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं नहि॥

अनुमायाम्=अनुमितौ व्याप्तिधीः=ज्ञानं करणम् । करणञ्च भवति व्यापारवदिति किमत्र तदिति जिज्ञासायामुक्त-व्यापारस्तु परामर्शः । भवति हि व्याप्तिज्ञानजन्यत्वे सति व्याप्तिज्ञानजन्यानुमिति-जनकत्वेन परामर्शस्य व्यापारत्वम् । एवंरीत्या शक्यते वक्तुं निर्विवादं यदनुमित्यात्मके ज्ञाने व्याप्तिज्ञानस्यानिवार्यत्वमिति । व्याप्तिश्च केति प्रश्ने यद्यपि पुरः स्फुरन्ति नैकानि रूपाणि व्याप्तेस्तथापि सामान्यरूपेणेदमेवोच्यते यत् स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः । हेतुना सह साध्यस्य यः स्वाभाविकः सम्बद्धः स एव व्याप्तिः । अथवा "अविनाभावो व्याप्तिः" साध्यं विना=साध्याभाववति देशे हेतोरभावो व्याप्तिः । साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति यावत् । साध्यो वह्निः, साध्याभावो वह्न्यभावस्तद्- व्यापकीभूताभावो धूमाभावस्तत्प्रतियोगित्वं धूमे इति भवति समन्वयोऽत्र व्याप्तेः । इदमत्रावधेयं यत् साधनेन भवत्यनुमितिः साध्यस्य । साधनम्, हेतुः, लिङ्गं गमकञ्चेत्यादयः शब्दाः पर्यायवाचिनः । साध्यं व्यापकम्, साधनञ्च व्याप्यमिति स्थितिः । अत एव व्याप्येन व्यापकमनुमीयते । धूमोऽस्ति लिङ्गं वह्नेरिति भवत्यनुमितिर्वह्नेर्धूमात्; परन्तु एतत्कार्यार्थं पूर्वं वह्निधूमयोर्व्याप्तिग्रहः समपेक्षितः । स च भवति भूयः सहचारदर्शनेन । यथा पूर्वमुक्तमस्ति यदनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं भवति । अत एव धूमस्य प्रत्यक्षदर्शन एव वह्नेरनुमितिर्जायते । धूमद्वारा वह्नेर्ज्ञानमत एव भवति यतो धूमोऽस्ति वह्नेः साधनम् । वह्निधूमयोरयं साध्यसाधनभावः अविनाभावसम्बन्धोपर्याधृतः । यत्र धूमस्तत्राग्निः, यत्र वह्न्यभावस्तत्र धूमाभाव इति वर्तते तयोरविनाभावः ।

एतेनोपर्युक्तविवेचनेनेदं निश्चितं यद् धूमेन वह्नेरनुमितौ क्रियमाणायां तत्त्वद्वयं भवत्यपेक्षितम् । प्रथमन्तु पर्वते धूमस्यास्तित्वम् । द्वितीयन्तु वह्निना सह साहचर्यस्याविनाभावस्य वा ज्ञानम् । अत्र प्रथमं तत्त्वं पक्षधर्मतापदेनोच्यते । द्वितीयञ्च व्याप्तिरित्युच्यते । व्याप्तिश्च विशिष्टा आप्तिरेव । विशिष्टा आप्तिश्च विशिष्टः सम्बन्ध एव । असावेव भवति विशिष्टः सम्बन्धो यो न विच्छिद्यते, न वा व्यभिचरति कदाचन । एतादृशसम्बन्धश्चं लिङ्गलिङ्गिभावो गम्यगमकभावोऽथवा साध्यसाधनभाव-प्रभृतिविभिन्नशब्दैरभिलप्यते ।

इदमत्र बोध्यं यद् वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयत्वाद् धूमो व्याप्यः, वह्निश्च व्यापकः । धूमस्यैव वह्निना सह नियतसम्बन्धो न तु वह्नेः सम्बन्धो धूमेन सह नियतः । कदाचित् तप्तायःपिण्डे धूमाभावेऽपि वह्नेः सत्त्वात् । एतद्विपरीतं यत्र धूमस्तत्र वह्निः, यत्र च वह्न्यभावस्तत्र धूमाभावः । प्रकारेणानेन स्पष्टं यद् धूमवह्न्योः सम्बन्धो नियतः । अतो धूमस्य व्याप्यत्वं सुनिश्चितम् । इदं धूमस्य व्याप्यत्वं पञ्चभिः रूपैर्गृह्यते । तानि च पञ्चरूपाणि–पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितत्वरूपाणि । दृश्यते च धूमस्य पक्षे पर्वते सत्वम्, सपक्षे महानसे च सत्वम्-विपक्षे ह्रदे च व्यावृत्तत्व, मसत्प्रतिपक्षत्वमबाधितत्वञ्च । तस्मादेव कारणात् पञ्चरूपोपपन्ने हेतौ गृह्यते व्याप्तिः । तथा चोक्तं न्यायमञ्जर्यां जयन्तभट्टेन–

पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद् गृहीतान्नियमस्मृतेः ।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते ॥

इदं हेतोः पञ्चरूपोपपन्नत्वं प्रसिद्धव्यतिरेकिसाध्यके धूमादिहेतावेवोपलभ्यते । अप्रसिद्धव्यतिरेकि-पृथिव्यां यत्रेतरभेदः साध्यं भवति तत्र गन्धवत्वहेतौ तु सपक्षसत्त्वं नैव भवति, पृथिवीतरस्य कस्यापि गन्धाधिकरणस्याभावात् । अतस्तत्र हेतुश्चतू रूपोपपन्न एव भवति । इदं ज्ञेयं वाच्यत्वादित्यत्र वाच्यत्वस्य सर्वत्र वृत्तितया नास्ति कश्चन विपक्ष इति तत्रापि हेतोश्चतू रूपोपपन्नतैव भवति । एतादृशस्थले चतुर्भिः रूपैः सम्पन्नेनैव हेतुना जायतेऽनुमितिः । धूमादिस्थले तु पञ्चरूपोपपन्नेन हेतुना परोक्षस्य लिङ्गिनः साध्यस्य वह्न्यादेर्ज्ञानमनुमितिः ।

बौद्धकृतान्ते तु असिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वरूपहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः पक्षधर्मत्वं सपक्षसत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति त्रैरूप्यमेव स्वीकृतमित्यन्यदेतत् ।

स चायं धूमो हेतुः अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमान् सन् वह्निमनुमापयति । यत्र धूमस्तत्राग्नि-रित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिः । इदं व्याप्तिद्वयमेव कुत्रचित् पूर्वोत्तरव्याप्तिशब्देनाप्युच्यते । या खल्वत्र अन्वयव्याप्तिः सैवोत्तरव्याप्तिः । तथा चोक्तं तर्कामृते–व्याप्तिश्च हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम् । हेतुर्धूमस्तत्-समानाधिकरणोऽत्यन्ताभावः घटाभावस्तत् प्रतियोगी घटः, अप्रतियोगी वह्निरेव साध्यं तत् सामानाधि-करण्यं धूमे गतमिति धूमे वह्निनिरूपिता व्याप्तिः । अन्वयव्याप्तावपीदमेव भवति, यत्र धूमस्तत्र वह्निरिति । या खल्वत्र व्यतिरेकव्याप्तिः सा खल्वन्यत्र पूर्वव्याप्तिरित्युच्यते । पूर्वव्याप्तिं लक्षयतोक्तं भाषापरिच्छेदे–

"व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः" ।

साध्यवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाव एव व्याप्तिः । "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" अत्र वह्निमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदो वह्निमान् नेति प्रतीतिसाक्षिको भेदस्तदधिकरणजलह्रदनिरूपितवृत्तित्वाभावस्य धूमे सत्त्वेन भवत्येव समन्वयोऽत्र व्यतिरेकव्याप्तेः, यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्तीति ।

उपर्युक्तविवेचनेनेदं स्पष्टं भवति यद् वह्निनिरूपिता व्याप्तिर्धूमे याति, अतो धूम एव व्याप्यो वह्निस्तु व्यापकः । जैनतार्किकेण माणिक्यनन्दिनाऽपि शब्दान्तरेणैतदेव व्याप्तिद्वयं समर्थितम् । उक्तञ्च तेन–

इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ।
यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥

(परीक्षामुखम्, 3/12)

सति अग्नौ धूमः, अग्न्यभावे च धूमाभावः । इदमेव व्याप्तिस्वरूपम् । इयं व्याप्तिरेव अविनाभावः, अन्यथानुपपत्तिर्वोच्यते । शब्दान्तरेणेयं व्याप्तिः, तथोपपत्तिः, अन्यथानुपपत्तिरिति शब्देनाप्युच्यते । साध्ये सति साधनसत्ता तथोपपत्तिः । साध्याभावे च साधनभावः अन्यथानुपपत्तिः । उदाहरणञ्चास्या वह्निधूमयोर्मध्ये प्रसिद्धमेव ।

इदमत्र बोध्यं यद् जैनदर्शने योऽविनाभावः स्वीकृतस्तस्यैव नामान्तरमन्यथानुपपत्तिः । अयञ्चाविनाभावः सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमः । एकसामग्र्यधीनयोः फलादिगतयोः रूपरसयोः, व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वयोः, क्रमभाविनोः कृत्तिकोदयशकटोदययोर्मध्ये भवत्ययमविनाभावः । अत एव रजन्यामास्वाद्यमानाम्रादिफलरसात् तद्गतस्य रूपस्यानुमितिर्भवति । एवमेव शिंशपात्वेन वृक्षत्वस्य, तथा "उदेष्यति शकटः कृत्तिकोदयात्" इत्येवंरूपेण शकटोदयस्यानुमितिर्जायते । एवं रीत्या निश्चितान्यथानुपपत्तिरूपमेकलक्षणत्वं हेतोः स्वीकृत्य तस्य पञ्चरूपता त्रिरूपता वा निराकृताऽत्र । तदुक्तम्–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

(प्रमाणमीमांसा)

वह्नौ साध्ये धूमस्य पञ्चरूपोपपन्नता, रूपत्रयोपपन्नता वा अनावश्यिकी, यतो हि असिद्धस्य, विरुद्धस्य, व्यभिचरितस्य वा हेतोरविनाभावोऽन्यथानुपपत्तिर्वा भविष्यत्येव नेति अन्यथानुपपत्त्यैव सिद्धे हेतोस्त्रिरूपता, पञ्चरूपता वा अनङ्गीकरणीयैव; किन्तु कथनमिदं प्रतिभाति प्रौढिवादमात्रम् । कारणञ्चास्येदमस्ति यद् अविनाभावशब्दस्य प्रयोगो न केवलं जैनदर्शनोपज्ञोऽपि तु न्यायदर्शनेऽप्युपलभ्यतेऽयं प्रयोगः । तथा चोक्तं न्यायमञ्जर्याम्–

"सोऽयमेतेषु पञ्चसु लक्षणेषु अविनाभावो लिङ्गस्य परिसमाप्यते" इति । तात्पर्यमिदमस्यास्ति यद् हेतोः पञ्चरूपोपपन्नतैवाविनाभावस्तस्य । तस्मात् पञ्चरूपोपपन्नता अविनाभावश्चैकमेव वस्तु । अत एवाग्रे लिखितं जयन्तभट्टेन–

"विव्रियतां कोऽयं नियमो नाम, व्याप्तिः, अविनाभावो नियतसाहचर्यमित्यर्थः" इति । तस्मान्निश्चीयते यत् "व्याप्तिः, अविनाभावः, अन्यथानुपपत्तिः, नियतसाहचर्यम्" एते शब्दाः सन्ति समानार्थकाः । एतेषु वैभिन्न्यमुररीकृत्यायुक्तः खलु कश्चनाक्षेपः ।

एतद्व्याप्तिद्वयातिरिक्तं मीमांसादर्शने समविषमव्याप्त्योरपि संकेतः समुपलभ्यते । यदा भवति व्याप्यो व्यापकस्य समदेशवर्ती, समकालवर्ती च तदा तत्र समव्याप्तिः । यदा च व्याप्यो व्यापकस्य देशकालापेक्षया न्यूनदेशकालवर्ती भवति तदा तत्र विषमव्याप्तिः । तदुक्तम्–

यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाभ्यधिकोऽपि वा ॥
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते ।
तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥

(मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, अनु. 4-5)

अत्रावधारणीयं यद् व्यापकमेव व्याप्यस्य समदेशवर्ती, अधिकदेशवर्ती, अधिककालवर्ती वा भवति । तावतैव तस्य व्यापकता । व्याप्यस्तु नैवम् । तस्माद् व्याप्य एव गमको व्यापकन्तु गम्यमेवेति स्थितिः ।

अन्तर्व्याप्तिर्बहिर्व्याप्तिश्च–

उपर्युक्तव्याप्त्यातिरिक्तमन्तर्व्याप्तिर्बहिर्व्याप्तिश्चेत्यपि व्याप्तिद्वयं श्रूयते जैनन्याये । उक्तञ्च–

"पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः" । (प्रमाण-नयतत्त्वालोकः, 3/38)

यत्र सपक्षाभावाद् बहिर्दृष्टान्तो न संभवति तादृशदृष्टान्ताभावस्थल एवान्तर्व्याप्तिर्भवति । "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्", "जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्" इत्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वम्, तथा जीवच्छरीर-मात्रस्य पक्षत्वमित्युभयत्र दृष्टान्ताभावात् पक्षीकृत एव विषये साधनस्य सत्त्वस्य, प्राणादिमत्वस्य च क्षणिकत्वेन सात्मकत्वेन च साध्येन सह व्याप्तिर्वर्तते । अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः । यथा–देशोऽयमग्निमान् धूमवत्वात् । यो यो धूमवान् स स अग्निमान् यथा महानसम् । अत्र पक्षीकृताद् देशाद् अन्यत्र महानसे साधनस्य धूमस्य साध्येन वह्निना सह व्याप्तिरस्ति । अनयोर्व्याप्त्योर्मध्येऽन्तर्व्याप्तेरेव प्रामुख्यम् । अत एवोक्तम्–

अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तिरसाधनम् ।
साकल्येन विना व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या कथं भवेत् ॥

(अकलंकसि. 5/15)

यदि नास्ति अन्तर्व्याप्तिस्तदा बहिर्व्याप्तिर्व्यर्थैव । यथा "स श्यामः तत्पुत्रत्वात्" । अत्र सत्यामपि बहिर्व्याप्तौ अन्तर्व्याप्तेरभावाद् न भवति श्यामत्वस्य साधकं तत्पुत्रत्वम् । "उदेष्यति शकटं, कृत्तिकोदयात्" इत्यत्र यद्यपि नास्ति बहिर्व्याप्तिस्तथापि साधनस्य साध्येन सह अन्तर्व्याप्त्या भवति गमकः कृत्तिकोदयः शकटोदयस्य ।

न्यायमञ्जर्यामपि अन्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्त्योश्चर्चा कृता वर्तते । अत्रत्यं विवेचनन्तु पूर्वोक्तविवेचनतः किमपि पार्थक्यमुपैति । पूर्वत्र तु अन्तर्व्याप्तौ बहिर्दृष्टान्ताभावोऽपेक्षितः; किन्तु अत्र तु अन्त-र्व्याप्तावपि दृष्टान्तोऽपेक्ष्यत एव । उक्तञ्च जयन्तभट्टेन–"सामान्यतो व्याप्तिर्गृहीता सती सिषाधयिषितसाध्यधर्म्यपेक्षायां सैवान्तर्व्याप्तिरुच्यते । यैव च नगलग्नाग्न्यनुमानसमये तद्व्यतिरिक्तकान्तारादिप्रदेशवर्तिनी बहिर्व्याप्तिरभूत् सैव कालान्तरे कान्तारवर्तिनि वह्नावनुमीयमाने अन्तर्व्याप्तिरवतिष्ठते" ।

(न्यायमंजरी, पृ. 102)

अस्यायं भावः–यदा पक्षाद् बहिर्दृष्टान्ते धूमे वह्निनिरूपिता व्याप्तिर्गृह्यते तदासौ बहिर्व्याप्तिः । यदा चासावेव पक्षे पर्वतादौ विद्यमाने धूमे गृह्यते तदासौ अन्तर्व्याप्तिः । नगलग्नाग्न्यनुमानसमये पर्वततो भिन्नस्थले वनादौ धूमे गृहीता या वह्निव्याप्तिरासीत्, सा एव कालान्तरे वने वह्न्यनुमितौ भवति अन्तर्व्याप्तिः । यथा जैनन्याये बहिर्दृष्टान्तरहिता अन्तर्व्याप्तिरुक्ता तथा नात्र । अत्र तु अन्त-र्व्याप्तावपि बहिर्दृष्टान्तोऽपेक्षित एव ।

उपर्युक्तविवेचनेन सिद्धमिदं यद् व्याप्तिर्यत्र तिष्ठति स खलु व्याप्य इत्युच्यते । वह्निधूमस्थले वह्निनिरूपिता व्याप्तिर्धूमे तिष्ठतीति धूमो व्याप्यो वह्निश्च व्यापकः । आचार्यधर्मकीर्तिना मान्यतेयम-न्यथा कृता । तेन तु व्याप्तिर्व्याप्यधर्मवद् व्यापकस्यापि धर्म इति प्रत्यपादि । तथा चोक्तं तेन–

"व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव। व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः"।

(हेतुविनिश्चयः, पृ. 53)

"तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिः—यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तदुभयधर्मतया प्रतीतेः"।

(हेतुवि. टी. पृ. 17)

अस्यायं भावः—व्याप्ये सति व्यापकस्य भाव एव। अथवा व्यापके सत्येव व्याप्यस्य भावः। एतेन व्याप्तेरुभयधर्मत्वं स्पष्टमेव भवति। आचार्यधर्मकीर्तिमनुसरता आचार्यहेमचन्द्रेणापि व्याप्तिविषये एवमेव लिखितम्—

"व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः"।

(प्रमाणमीमांसा, सू. 6)

एवं व्याप्यव्यापकयोरुभयोः धर्मं प्रदर्श्य कथ्यते हेमचन्द्रेण यद् ःव्याप्यव्यापकधर्मसंकीर्तनन्तु [व्याप्तेरुभयत्र तुल्यधर्मतया एकाकारप्रतीतिर्माभूदिति प्रदर्शनार्थम्। पूर्वत्र व्यापकधर्मस्थलेऽयोगव्यवच्छेदेनावधारणम्। उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारताव्याप्तेः। तात्पर्यमिदं यद् व्याप्यस्थले व्यापकेनावश्यमेव स्थेयम्। व्याप्यस्तु तत्रैव तिष्ठेद् यत्र व्यापकस्य सत्ता स्यान्नान्यत्र।

स्यादेतत्—उभयधर्मसम्पन्नायां व्याप्तौ, तदाश्रयस्य व्याप्यत्वाद् धूमवह्न्योरुभयोरपि व्याप्यत्वं समापतितं कथं निराकृतं भविष्यतीति आलोचनपथमानीयमानो विषयः।



को योगः कश्च योगी

प्रो. रामजीमालवीयः

सम्पूर्णानन्दनामा स्मरहरनगरे कर्मयोगी गरिष्ठ-
श्चित्ते काये तदीये विमलविभवता कर्मयोगैकधन्या ।
ग्रन्थे रत्ने वरिष्ठे स्मृतिपदमहिते लेखमाला मदीया
सम्पूर्णानन्दचित्तं हरतु विजयिनी योगकौशल्यमाप्ता ॥ 1 ॥
भुक्तेश्च मुक्तेर्महनीयहेतुं शास्त्रोक्तयोगं ब्रुवते यतीशाः ।
तच्चिन्तकाः साधकतामुपेताः संसारसेतुं सहसा तरन्ति ॥ 2 ॥
के योगिनो योगधराधराये का योगभूतिः प्रथिता पृथिव्याम् ।
शास्त्रोक्तरीतिं परिचिन्त्य बुद्ध्या कुर्वे प्रयत्नं झटिति प्रचेतुम् ॥ 3 ॥
अन्वेषणे तत्त्ववरस्य नूनं प्रेक्षावतां भिन्नधियां नितान्तम् ।
दृष्टिप्रभेदो भवतीति पन्थास्तत्रापि भण्यो न विगर्हणीयः ॥ 4 ॥
सारस्वतेयाः सततं सयत्ना गृह्णन्ति सारं सरसा वचोऽब्धेः ।
तद्योगतन्त्रस्य विमृश्य सारं प्रस्तौमि योगाकलनैकतत्त्वम् ॥ 5 ॥
प्रस्तावितं मे लघुकायपक्षं बुद्ध्वैव दोषो नितरां प्रदेयः ।
जातावबोधो न दुनोति चेतः कालोऽन्यथा यास्यति सूरिदोषः ॥ 6 ॥
तन्मामकीनैव विचारमूर्तिः शास्त्रैकदृष्टिर्भवतां पुरस्तात् ।
प्रस्तूयमाना विदुषां मुदे वः संरातु मोदं हितदा धरित्र्याम् ॥ 7 ॥
योगो योगी च तन्त्रे वरवचनधरे गीयते तान्त्रिकैः कः ।
संक्षेपेणैव बन्धेऽवनिबुधकलितो लिख्यते लेखलक्ष्म्याः ।
तन्त्राणां तन्त्रगाणां सुकृततततिभृतामूहितो धन्यधन्यः
सम्पूर्णानन्दपीठे विभुमतिविभवे मालवीयेन भव्ये ॥ 8 ॥

"अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" इत्युपदेशो मायामलावृतानां संसारार्णवपतितानां समुद्धारणायैवोपदिष्टः । कोऽसौ योगः ? येनाचरितेनात्मदर्शनं परमो धर्मः स्यादिति वक्ष्यते—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः",[1] "जीवात्मनोरैक्यं योगः"[2], "योगः कर्मसु कौशलम्"[3], "सम्बन्धविशेषे योगः", "योगः अस्त्रशस्त्रधारणेऽपि", "योगोपायः"[4] इति । सन्त्यन्येऽपि बहवो भेदा योगज्ञानविषये; किन्तु सामान्यतया 'योग' इति शब्दोच्चारणमात्रेण किमभिव्यज्यते ? मुमुक्षवः कौतूहलतया कमनुधावन्तो

दृष्यन्ते ? कं योगं प्राप्य ते आत्मानं धन्यधन्यं कृतकृत्यमिति मत्वा चिदानन्दमनुभवन्ति ? लोके शास्त्रे व्यवहारे च को (योगः) रूढिं गतः ? इत्थं प्रश्नव्रातस्योपस्थिते **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** इत्येव व्यापकतया वक्तुं शक्यते । तदेव शास्त्रान्तर इत्थं वर्णितमुपलभ्यते । तदुक्तम्–

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते[5] ॥

विवेकमार्तण्डीये–

योगं चात्र प्रवक्ष्यामि योगं चाष्टाङ्गसंयुतम् ।
संयोगं योगमित्याहुः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ॥

अतो जीवात्मनोरैक्यमेवात्मज्ञानम्, 'आत्मज्ञानान्मोक्षः', चतुर्विध-पुरुषार्थेषु मोक्षस्यैव श्रेष्ठत्वात्, स एव प्राप्तव्यस्तदर्थं श्रुतिरपि–"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति" निर्दिशति । आत्मोपनिषदि–"अथ परमात्मनाम यथाक्षरमुपासनीयम् । स च प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकवटकणिकावाश्यामाकतण्डुलो वा बालाग्रशतसाहस्रकल्पनादिभिः स लभ्यते" । मुण्डकोपनिषदि–"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ? इति । तस्मै स होवाच–द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति । परा चैवापरा च । तत्रापरा–ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्यौतिषम् इतिहास-पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्म-शास्त्राणीति । परा–यया तदक्षरमधिगम्यत इति" । यदक्षरं यया प्राप्यत इत्युक्तं योगविद्यैव । कथम् ? श्रुतिस्मृतिपुराणादिसर्वविद्यानामपरविद्यायामेवोक्तत्वाद्योगविद्यायाश्चानुक्तत्वात् पृथक्त्वमर्थात् सिद्धम् ।

अन्यत्रापि–

ऋचो यजूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा ।
योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः ॥
एतत्ते कथितं ज्ञानं योगं चेमं निबोध मे ।
यं प्राप्य ब्राह्मणो योगी शाश्वतान्नान्यतां व्रजेत् ॥

अन्यच्च–

"योगी युञ्जीत सततं योगमात्मविशुद्धये" ।

आत्मनो जीवरूपस्य विशुद्धये–**योगतन्त्रेषु सर्वेषु शस्यते योगिना सदा"** इति योगतन्त्रे वर्णितम्–

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुलं शीलञ्च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

इति कुलार्णववचनादित्थंभूतैरष्टपाशजालैर्मुक्ताऽवस्था एव विशुद्धिस्तदर्थमेव योग आश्रयणीयः । स च योगो ज्ञानपरकाणां क्रियापरकाणां वा उभयविधामापद्यमानानां कृते मार्ग्यः आस्थेयश्च । कथमिति–"न अविरतो दुश्चरितात्, न अशान्तो न असमाहितः, न अशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमवाप्नुयात्" इति । क्रियापरकाणां कृते–

यदुद्धरति वायुश्च धारणाशक्तिरेव च ।
तन्मन्त्रं वर्धयित्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥
प्राणायामात्परं नास्ति पापराशिक्षयाय च ।
सर्वपापक्षये जाते किन्न सिद्ध्यति भूतले ॥
प्राणवायुं महोग्रन्तु महत्तेजोमयं परम् ।
प्राणायामेन जित्वा च योगी मत्तगजो यथा ॥
प्राणायामं विना नाथ ! कुत्र सिद्धो भवेन्नरः ।
सर्वसिद्धिक्रियासारः प्राणायामः परः स्मृतः ॥
प्रामायामं त्रिवेणीस्थं यः करोति मुहुर्मुहुः ।
तस्याष्टाङ्गसमृद्धिः स्याद्योगिनां योगवल्लभः ॥
एतत्क्रियादर्शनेन ज्ञानी भवति साधकः ।
ज्ञानादेव हि मोक्षः स्यान्मोक्षः समाधिसाधनः ॥
त्रैलोक्यातीतशास्त्राणि योगाङ्गविविधानि च ।
योगशास्त्रात्परं शास्त्रं त्रैलोक्ये नापि वर्तते ॥
योगशास्त्रप्रकारेण सर्वे वै भैरवाः स्मृताः ।
योगयोगाद् भवेन्मोक्षो मन्त्रसिद्धिरखण्डिता ॥
एतत्समाधिमाकृत्य योगी योगान्वितो भवेत् ।
प्रपश्यति महायोगी समाध्यष्टाङ्गलक्षणैः ॥
संयोगसिद्धिमात्रेण समाधिस्थं महाजनम् ।
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः[6] ॥

योगस्यैव वैशिष्ट्यं सर्वत्र तन्त्रेषु यथोचितं वर्णितं विविधक्रियाकलापसिद्धान्तोपायादिरूपेण प्रपञ्च्यते । योगस्य प्राधान्यं तु समाधावेव । समाधिस्तु वृत्तिशून्यस्य चित्तस्य अवस्थाविशेषः । उपस्थीयते सर्वात्मना बुद्ध्यते प्राप्यते वा स्थितिक्रमः यस्यां सेति व्युत्पत्तेः । "ष्ठा गतिनिवृत्तौ" इति धातोर्गतेः चतुर्ष्वर्थेष्वपुनरावृत्तिरूपार्थस्यैवात्र इष्टत्वात् । योगः समाधिः । "युज समाधौ" इति धातोर्घञि व्युत्पन्नः समाध्यर्थको योगो लोके चिरात्प्रथितः । योगो मोक्षकारणतया विहितः । "योगो वृत्तिनिरोधो मोक्षोऽपि" । स योगः किं स्वरूपः, किमुपायः, कथं वा ज्ञानमोक्षयोः कारणमित्यादि मुमुक्षूणां कृते जिज्ञासितम् । मत्वर्थीयोऽच् । सांख्यब्रह्ममीमांसादिषु च ज्ञानमेव भूयिष्ठतया विवेचितम्, ज्ञानसाधन-मात्रस्तु योगः सङ्क्षेपतः; किन्तु ज्ञानजन्ययोगस्तु तत्र सङ्क्षेपेणापि नोपपादितः । अतो भगवता पतञ्जलिना लोकहिताय स्वशिष्यावबोधायासम्प्रज्ञातसम्प्रज्ञात-समाधिनाम्ना अतिविस्तरेण द्विविधो योगः प्रतिपादितः । सर्वासां वृत्तीनां निरोधे जाते असम्प्रज्ञातः समाधिरुत्पद्यते । सम्प्रज्ञातकालिकी साक्षात्काररूपिणी या वृत्तिस्तस्या अपि परवैराग्येण निरोधे जाते असम्प्रज्ञातयोग इति तदर्थः । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमपि चित्तस्य पञ्च वृत्तयः । एता वृत्तय एव मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका,

संस्कारशेषा इति चतुर्धा चित्तभूमिपदेनाप्युच्यन्ते । तासु सर्वासु विदितः सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः, तन्निरोधलक्षणो योगः । योगाङ्गेष्वष्टस्वन्यतमः समाधिस्तु न विरुद्धलक्षणः, अतो योगः अङ्गी समाधिस्तु अङ्गम् । योगः सामाधिरिति प्रयोगस्तु अङ्गाङ्गिनोरभेदविवक्षया । योगशब्दस्य ऽप्रवृत्तिनिमित्तान्यष्टौ योगाङ्गानि । एभिर्निरुद्धं चित्तं परमार्थतया योगपर्यायतया व्यपदिश्यते । चित्तं बुद्ध्युपलक्षणीभूतम् । वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था, सा च संस्कारमात्रैः परिणामधारा, निरोधकाले संस्कारन्यूनाधिक्येन चित्तस्य परिणामसद्भावात् । एकाग्रे चेतसि विद्यमानमर्थं प्रकाशयति, क्लेशानपसारयति, कर्मबन्धनानि दूरीकरोति, निरोधमभिमुखं स्थापयति यः स सम्प्रज्ञातो योगः । यथा–

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः'[7] इति । आभ्यामेव द्वाभ्यां जीवात्मनोरैक्यं सम्पद्यते । युज्यते सम्बध्यते अनेन इति योगशब्दस्य करणव्युत्पत्त्या 'युजिर् योगे' इति धात्वर्थ-सम्बन्धाच्च योगः संयोगात्मक एव गृहीतव्यः । शिव-शक्तिसंयोगः, प्रकृति-पुरुषयोगः, जीवात्म-संयोग इत्यादिष्वनादिपरम्परया व्यवहारपथमागच्छति । एतेन इदं सुस्फुटं निश्चेतुं शक्यते यद् यस्यां स्थितौ येनोपायेन यस्माद् गुरोः सकाशाद् यस्मिन् काले यस्मात् कस्मात् सम्बन्धाद् जीवात्मसंयोगः संघटेत संघटते वा स एव उपायः, सा स्थितिः योगपदनाम्ना अभिधातुं युज्यते, युक्तं चैतत् कालविशेषे, स्थिति-विशेषे, उपायविशेषे, उपदेष्टृविशेषे वा चिरकालं संसारार्णवभ्रान्तस्य अनेकजन्ममरणचक्रसन्तप्तस्य धन्यधन्या दशा आगच्छेच्चेत्, परमात्मना योगो भवेन्नाम । न हि अनाप्तपुण्यस्य निष्कलङ्कस्य जीवस्य पुण्यातिरेकं विना स्वस्वरूपावाप्तिर्भवति । अतो योगशब्दस्य संयोगार्थकात्मत्वे न कापि संशीति-रुद्भावनीया । "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति योगसूत्रपरिभाषापरिगृहीतयोगशब्दार्थनिरूपणपूर्वकं मोक्षार्थकत्वमपि भास्कररायेण प्रदर्शितम् । अतो योगशब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययजन्यार्थनिरूपणेन न कोऽपि लाभः; अपि तु पारिभाषिकमोक्षार्थनिरूपणमेव श्रेयस्करम् । एतादृशयोगस्यैव उत्कृष्टार्थपरकत्व-मालक्ष्य जनेषु योगिविषये योगविषये च उत्कृष्टादरः । अतो योगशब्दस्य योजनमेवार्थः । जीवश्चैतन्यस्वरूपः, अनाद्यविद्यावशात् परब्रह्माभिन्नपरमात्मनः पार्थक्यमवाप । तदिदं पार्थक्यं दूरीकृत्य तस्य प्रातिस्विकस्वरूपे पुनः संस्थापनमेव योगो नाम । जीवात्मनोर्योजनमेव योगः । तदुक्तं देवीभागवते–

न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥

जीवात्म-परमात्मनोर्योजनं मुक्तावेव सम्भवम् । तस्माद्योगशब्दस्य मुक्तिरेवार्थः पारिभाषिको वेदशास्त्रानुमतो निर्धारणीयः । पातञ्जलयोगदर्शने यमादिसमाध्यन्ताष्टावङ्गानि योगस्य निर्णीय समाधि-साधन-विभूति-कैवल्यनामभिश्चतुर्भिरध्यायैः योगस्य महत्त्वं स्वरूपं साधनं फलञ्च उक्तम् । सर्वत्रापि योगप्रतिपादकदर्शने शरीरमनसोः परिष्कारनिरूपणपूर्वकं कैवल्यावाप्तिः समुद्भाविता । पौराणिक-वाङ्मयेऽपि प्राणायामादिसमाध्यन्ततत्तदङ्गानां वर्णनं यत्र तत्र समुपबृंहितं महद्बलमाधाय निर्दिष्टञ्च विद्यते । अनन्तरं शैव-शाक्त-वैष्णव-जैन-बौद्धागमेषु यमनियमासनानां परिहारेण अवशिष्टपञ्चाङ्गैः सह ऊह-तर्क-अभिवीक्षण-वीक्षण-अनुस्मृतिनामभिः षष्ठाङ्गस्य कल्पनां कृत्वा योगस्य षडङ्गान्येव

निर्धारितानि । पातञ्जलदर्शने यमनियमयोः प्रत्येकं पञ्चधात्वम्, स्मृतिषु च प्रत्येकं दशधात्वं वर्णितम् । यमानां नियमानां परिपालनेन मानवबुद्ध्यहङ्कारमनसां प्रक्षालनं परिष्करणं शक्यसम्भवं दृश्यते, एतेषां परिहारेण मानवसुलभसद्गुणानां सदाचाराणां वृत्तिपरिष्काराणाञ्च महान् अभावो यद्यपि क्षोभकारक एव, तथापि बुद्धितत्त्वसमीक्षकैः प्रत्याहारध्यानसत्तर्कापरपर्यायात्मशोधननिरतैः बुद्धितत्त्वस्य सर्वातिशायि-महत्त्वप्रेक्षावद्भिर्मनोवृत्तौ सर्वाधिकं बलमाधाय सुमहदुपकृतम् । दृश्यते हि लोके सदाचारपरायणाः परिस्थितिवशाद् अतथाकुर्वद्भिः घोरं जुगुप्स्यन्ते । पारस्परिकं सामञ्जस्यं सौहार्दं सद्भावं तु कुर्वन्त्येव, न हि जुगुप्सामूलतया असद्व्यवहरन्ति, अमानवतामाचरन्ति, दुःस्थितिमुत्पादयन्ति, मानवं दानवं प्रपश्यन्ति, निरर्थकमाचारपालनेन कालयापनं कुर्वन्तोऽपि स्वीयैरेव अन्यैर्बन्धुभिः सह प्राणापहारि-शत्रुभिरिव व्यवहरन्ति । एतेन देशस्य, जातेः, कुलानां महदनिष्टं सम्प्रवर्तयन्ति । एतां दुरवस्थां प्रसमीक्ष्य दूरदृष्टिभिः लोकसंग्राहकैः मानवतासंरक्षकैः आचारस्थाने बुद्धिव्यायामस्य ध्यानधारणादेः महत्त्वं समुपबृंहितम् । बुद्धौ साम्येन पारस्परिकं सौहार्दं संवर्ध्यते, सौमनस्यञ्च संस्थाप्यते । अतो योगस्य षडङ्गान्येव समाचर्य भौतिकजीवनसुव्यवस्थासंस्थापनपूर्वमाध्यात्मिकं महत्त्वमधिगन्तुं समुत्सहन्ते साधकाः । यथोक्तं भगवद्गीतायाम्–

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' बहुज्ञ एव कस्यचन अर्थस्य निर्णये प्रभवति नाल्पज्ञः । बहुज्ञतासमर्जनाय उत्कृष्टबुद्धितत्त्वस्य अपेक्षितता प्रेक्षावद्भिः समर्थितैव । हेयोपादेयभेदेन ज्ञानस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयन् भगवान् शिवः शाङ्करे योगे दीक्षां विना अधिकारित्वं निरस्य क्रियाज्ञानभेदेन योगस्य द्वैविध्यं संस्थाप्य सबीजयोगसंसिद्ध्यै मन्त्रलक्षणमभिहितवान् । एतेन कल्प्यते क्रियायोग-ज्ञानयोगभेदेन द्विप्रकारकौ योगौ अभीष्टौ । ज्ञानञ्च श्रुत-चिन्तामय-भावनामयभेदेन त्रिविधम् । एतेन त्रिविधज्ञानेन योग उत्पद्यते । योगिनां हितं विचिन्त्यैव अन्यत् किमपि कर्तव्यमिति मालिनीविजयोत्तरतन्त्रस्याभिमतम्–योगिमहायोगियोगिकुलादिशब्देन योगस्य महत्त्वमपि सर्वातिशायि उक्ततन्त्रेण समर्थ्यते ।

अत्र योगतन्त्रदर्शने नादबिन्दुमयं पर्यायेण मूलतत्त्वं स्वीकृत्य तत एव शब्दराशिमयस्य विश्वस्य जगतः आविर्भावः स्वीक्रियते । तेनैव इदं शब्दार्थरूपं चराचरात्मकं जडजङ्गमात्मकं जगदभिव्यज्यते । तस्मादेव नादापरपर्यायाद्बिन्दुपरपर्यायाद्वा ब्रह्मणः सकाशात् पञ्चाशदर्णाः क्रमान्निर्गच्छन्ति । निर्गच्छन्तोऽपि ते युगपदेव स्वस्मिन् समाविशन्ति च, तदेव केचन शब्द-ब्रह्मेत्यूचिरे, तदेवान्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्मात्मकमात्मविवर्तरूपं सकलं जगत् सृष्ट्वा पुनः स्वाभिन्नस्वातन्त्र्यशक्त्या स्वस्मिन् विलापयति इति निरन्तरं सृष्टिसंहारयोः क्रमः प्रचलति । यथा शारदातिलके–

नित्यानन्दवपुर्निरन्तर्गलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद्
व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपञ्जगत् ।
शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं
तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः ॥

पुरुषार्थचतुष्टयमेव जगज्जातं जीवस्य पार्यन्तिकमेष्टव्यम् । तस्य प्रथमं कारणमर्थात् प्राप्तिस्थानं सगुणनिर्गुणात्मकं सनातनं शिवतत्त्वमेव । तच्च सकलनिष्कलभेदेन द्विधाभूतमपि सच्चिदानन्द-

विभवतया आनन्दरूपतया च स्वेच्छया परिवर्तते । तस्मादेव बिन्दुनादबीजानि त्रीणि तत्त्वानि निर्गच्छन्ति । बिन्दुः शिव एव । बीजं शक्तिरेव । तयोर्मिथः समवायः नादः । बिन्दोः रौद्री, नादाज्ज्येष्ठा, बीजाद्वामा, ताभ्यश्च रुद्रब्रह्मविष्णवः सञ्जायन्ते । ते क्रमेण ज्ञानेच्छाक्रियारूपाः, वह्निचन्द्रसूर्यस्वरूपा इति क्रमेण भिद्यन्ते । यथा–

भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते[8] ॥

सृष्ट्युन्मुखपरमशिवप्रथमोल्लास एव अखण्डोऽव्यक्तो नाद एव व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः शब्दब्रह्मरूप इत्यर्थः । केचन शब्दार्थरूपं तत्, अपरे च शब्दरूपमेव इति समामनन्ति । केषाञ्चिद्-वादिनां मते तयोः शब्दशब्दार्थयोः शब्दब्रह्मत्वं वक्तुमशक्यम्, उभयोस्तयोर्जडत्वात् । फलतः सर्वभूतानां चैतन्यमेव शब्दब्रह्म इत्यागमिकाः । तदेव शब्दब्रह्म प्राणिनां देहमध्यगं कुण्डलिनीरूपं चैतन्यं गद्यपद्यादिभेदाद् वर्णात्मना आविर्भवति । बिन्द्वात्मकस्य शम्भोः सकाशात् कालबन्धोः कलारूपाद् जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिव उत्पन्नः, तस्मादीशः, तस्माच्च रुद्रविष्णुब्रह्माणः । अव्यक्तान्मूल-भूतान्नादाद् महत्तत्त्वादिक्रमेण जगदुत्पद्यते । महतस्त्रिविधो अहङ्कारः । वैकारिकादहङ्काराद् दशेन्द्रियाणि, तेषामधिष्ठातृदेवा दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्राणि । तैजसादहङ्कारादिन्द्रियाणि मनःसहितानि तन्मात्रक्रमयुक्तानि । भौतिकादहङ्कारात् पञ्चभूतानि जज्ञिरे । गगनानिलानलाप्पृथिवीभ्यः शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धाः पञ्चविषया उत्पद्यन्ते । ततो निवृत्तिः, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्तिः, शान्त्यतीतेति पञ्चकला उत्पद्यन्ते । एतत्क्रमेण अग्निसोमात्मको देहो जायते, तस्मिन् देहे इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, सुपूषा, अलम्बुषा, यशस्विनी, शङ्खिनी, कुहूरिति दशनाड्यः, मूलाधारादिषट्चक्राणि, तन्मध्ये सच्चिदानन्दघनरूपामात्मतत्त्वस्वरूपिणीं कुण्डलिनीशक्तिं भावयन्ति, आराधयन्ति, वशीकुर्वन्ति च । येनामरत्वं कुलेश्वरत्वं ब्रह्मज्ञत्वञ्चावाप्यन्ते । यथोक्तम्–

एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तेः पदं[9]
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम् ।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः
केचिद्धंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥
आरोप्यारोप्यशक्तिं कमलजनिलयादात्मना साकमेषु
स्थानेष्वाज्ञावसानेष्ववहितहृदयश्चिन्तयित्वा क्रमेण ।
नीत्वा नादावसानं रवगतकुलमहापद्मसद्मान्तरस्थां
ध्यायेच्चैतन्यरूपामभिमतफलसंप्राप्तये शक्तिमाद्याम् ॥
साक्षाल्लाक्षारसाभं गगनगतमहापद्मसद्मस्थहंसां
पीत्वा दिव्यामृतौघं पुनरपि च विशेन्मध्यदेशं कुलस्य ।
चक्रे चक्रे क्रमेणामृतरसविरसैस्तर्पयेद् देवतास्ता
हाकिन्याद्याः समस्ताः कमलजपदगां तर्पयेत् कुण्डलीन्ताम्[10] ॥

कुण्डली कुण्डलीकारा वक्रीभूता निवासिनी ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्नानिलयं व्रजेत् ॥
शक्तिं भैरवसंयोगादमृतानन्दमानयेत् ।
चन्द्रमार्गेण वायुश्च पिबेतश्च शनैः शनैः ॥
कुम्भकञ्च यथाशक्त्या सूर्यमार्गेण रेचयेत् ।
सूर्यमार्गैः पिबेद्वायुं चन्द्रमार्गेण रेचयेत् ॥
शून्यञ्च प्रतिबिम्बचन्द्रसदृशं सूक्ष्मतिसूक्ष्मं पदं
सर्वं व्याप्य तमोमयं जगति सद्धामप्रकाशं परम् ।
दृश्यादृश्यविनाशभेदसकलं ज्योतिर्मयं सर्वतो
ध्यात्वा तच्च पदन्तु साधकवरैर्दूरीकृतश्चान्तकः ॥
एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि निश्चितम् ।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवसागरात् ॥

शरीरस्य साधनत्वेऽपि शक्तिसाधनं विना योगस्य साधना अनुपपन्ना । नाना उत्कटकार्येषु पाशबद्धाः स्वावेशसंस्कारबुद्धिभेदक्रियाभेदादिभिः व्यस्ता भाग्यहीना जनाः शक्तितत्त्वं गुरुमुखान्न जानन्ति । अत्रान्तर एव भयानककालदूतेन हृतशरीरः शरीरान्तर्यात्रां प्रक्रमते ।

शक्तिभावसम्पन्नेन ज्ञानप्राप्तिरपि सुकरा भवति । अतो भावावलम्बनं सर्वशास्त्रेषु निगदं तत्त्वम्, शक्तिभावलाभं विना भौतिकजगतो भावजगतो वा मूलतत्त्वं ज्ञातुं न शक्यते, सिद्धीनां ध्यानादीनां कथैव का । अतोऽनुग्रहप्राप्तये भावोपासना विधातव्या । अनुग्रहप्राप्त्यनन्तरमेव महासुखप्राप्तसाधको योगो ज्ञानं भक्तिर्वा लब्धुं शक्यते । अस्यां प्रक्रियायां त्रैलोक्यपावनानां परमहंसानां गुरूणां वाक्यमेव हेतुः । तच्छ्रुत्वैव साधको योगी योगमवाप्नुयात् । आत्माभ्युदयसाधके मार्गे साधकानां गुरुसमीपस्थितिः विद्याभ्यासपरिश्रमश्च कर्तव्य एव । शाक्तं ज्ञानं शक्तिज्ञानपूर्वकमेव, शक्तिज्ञाने जाते ज्ञानक्रिया-मार्गयोर्विवेचना भवितुमर्हति । अतः सत्संस्कारलाभाय गुरुजनसंसर्ग आवश्यकः । सद्गुरोः करुणार्जनस्य लाभादेव सर्वेष्टसिद्धिः । यथा लवणसलिलसंयोगात् साम्यं सलिलैक्यं तथैवात्ममनसोरैक्यं जीवपरयोरैक्यञ्च अनर्थान्तरम् । स्वस्वरूपपरोक्षानुभवेन समाधिना ज्ञानम्, मुक्तिः, स्थितिः, सिद्धिः गुरुकृपया लभ्यत इति योगिसम्प्रदायव्यवस्था । योगिसम्प्रदाये प्राणेन्द्रियमनोबुद्धीनां परस्परं लयात् परिशेष्यादात्मनः शिष्टत्वादनायासेन आत्मलाभरूपयोगः सेत्स्यति, अत्र न सन्देहः । योगिसम्प्रदाये तुर्यावस्थायाः सहजावस्था इति भूयान् प्रयोगः, आसनकुम्भकाद्यनुष्ठानेन महाशक्तेः प्रबोधे प्राणः शून्ये (ब्रह्मरन्ध्रे) लीयते । प्राणलयात् स्वयमेव सहजावस्था प्रजायते । तदुक्तम्—

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः[11] ॥

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगादृते नहि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव जायते ॥
ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥

अनया कारिकया नादे मनसो लयः, स एव चित्तलयः मोक्षपदवाच्यः । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वाद् मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिन्निर्वाच्यः आनन्दः सम्प्रवर्तते । श्वासनिःश्वासयोर्लये अन्तःकरणवृत्तेः ध्येयाकारा वृत्तिर्जायते, सा सर्वोत्कृष्टा । एवंभूता उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पा स्वानुभवगम्या वागगोचरा वृत्तिः योगिनामेव जायते । पुनर्वासनास्थानाभावाद् विषयज्ञानस्य विस्मृतिरेव लयशब्दार्थः । तदुच्यते–

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शाम्भवीमुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ।

अनया शिवसाक्षात्कारो जायते । उभे ज्योतिर्मयनेत्रयोः कनीनिके भ्रुवोर्मध्ये योजनात् तस्याश्च स्वल्पमूर्ध्वमुन्नयनाद् उन्मनावस्था जायते । एतदपेक्षया काचनापि उत्तमाऽवस्था नास्ति इति केचित् । एषैव संसारतारकोपायभूता पराकाष्ठात्मिका योगिजनावस्था । इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं यत् स्थानं तत्र स्थिता व्योमचक्रवासिनी खेचरी नाम्नी अवस्था । एषाप्यभ्यस्ता उन्मनीरूपेण परिणमते । भ्रुवोर्मध्ये शिवस्य स्थानं तत्र मनसो लयात् तदेव तूर्यपदं तत्र कालस्याभावः । तदुक्तम्–"भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य" इति । योगिनां योगनिद्राऽपि कालरहितैव । समाधिनिष्ठेन योगिना ब्रह्माकारवृत्तितया सदा सर्वदैव ब्रह्मैवानुभूयते । सुषुप्ताविव सर्वचिन्ताविनिर्मुक्ततया अवस्थितिः पूर्णब्रह्मावस्थैव । अत एव योगवासिष्ठे ऋषे राममुद्दिश्य उक्तिरियम्–

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥

इत्थं नादानुसन्धानपूर्वकं नादोपासनं हठयोगेऽपि समादृतम् । एष नादो वर्णनादपदेनाप्युच्यते । वर्णनादमाहात्म्यप्रक्रियायां श्रवणपुटे नेत्रयुगलस्य च घ्राणपुटे निरोधनेन प्राणायामेन शुद्धसुषुम्नामार्गे अमलनादस्य स्फुटं श्रवणम्, तस्य नादस्य आरम्भघटपरिचयनिष्पत्तिनाम्ना चत्वारो भेदा भवन्ति । तत्र राजयोगस्य साम्राज्यमिच्छता योगिना सर्वचिन्तापरित्यागपूर्वकं दत्तावधानेन नाद एवानुसन्धेयः । तेन मनोभुजङ्गमस्य वृत्त्युपशमात् सम्प्रज्ञातलक्षणः समाधिः सञ्जायते । नादस्यापि अन्तर्गतं मन एव, तस्य

लये विष्णोः परमपदमवाप्यते। यत्किमपि नादरूपेण श्रूयते, तदपि विचार्यमाणे शक्तिरूप एव तिष्ठति। सा च शक्तिः परमेश्वरनिष्ठा, स एव आत्मा। समाधिनिष्ठस्य योगिनः कालजयित्वात् शीतोष्णादि-द्वन्द्वजयित्वाच्च मुक्तवत् स्थितिः स्वीक्रियते, अत एव शस्त्रादिभिस्तस्य अवध्यत्वम्, देहिभिः बलचेष्टादिना अप्राप्यत्वं मन्त्र-यन्त्रादिभिरग्राह्यत्वं भवति। तदुक्तं योगभास्करे–

सात्त्विकीं धृतिमालम्ब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः।
निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते॥

किं बहुना, योगमुपासीनो योगी ऐन्द्रादिपदं नेच्छति विष्णुहरयोरपि स एव स्पृहणीयः, न त्वेतौ।

नित्यस्य परमात्मनः जीवत्वं कथमिति प्रश्ने ईश्वरो ब्रवीति–ज्ञानरूपं निरञ्जनं सर्वाभावपदातीतं ब्रह्म स्वेच्छया स्वाधिष्ठाने वारिवत् स्फुरितम्। तत एव अहङ्कारोत्थानात् त्रिगुणात्मकं धातुबद्ध-पञ्चात्मकपिण्डमभूत्। अनवरत-सुखदुःखयोः संयोगात् पुण्यपापसंस्पर्शेन स्वस्मिन् कर्तृत्वाहङ्काराद् जीवत्वं समाविष्टम्। एवं विशुद्धे परमात्मनि जीवत्वसमावेशाद् मनसो विकाराः, अन्तःकरणविकाराः, षडूर्मयः, तिस्रोऽवस्थाः, संशय-विपर्ययादिपरवशतया शिव एव जीवत्वं गच्छति। उक्तदोषविनिवृत्तये केचन ज्ञानकारणमामनन्ति, केचन च योगं विना ज्ञानस्यासम्भवात् तस्यापि उपकारकत्वमिच्छन्ति। अत्र समाधत्ते–आदौ ज्ञानमेव सर्वात्मना समुद्भावितम्। उपपक्वपरिपक्वभेदेन द्विविधा आत्मजातिः योगेनात्मानं द्रवीकृत्य योगाग्निना आत्मा पक्वतां लभते। योगहीनानां मनोबुद्ध्यहंकारपरिपाकात् सुखदुःखशोकतापादिप्राप्तिः। एवंभूता अपरिपक्वात्मानः शरीरमेव आत्मानं मन्यमाना जगति सुख-दुःखादिभोगं लभमाना व्यवहरन्ति। परिपक्वास्तु शरीरं मनोबुद्ध्यहङ्कारादीनपि जित्वा निर्मलतया स्वतन्त्रतया च योगदेहं लभन्ते, स्वतन्त्रत्वादजरामरो योगीन्द्रः त्रिषु लोकेषु नानारूपाणि धारयन् सृष्टि-स्थितिसंहारान् विदधाति, अचिन्त्ययोगबलेन अमरत्वं लब्ध्वा स्वात्मन्यवस्थितो निर्दुष्टतया जीवन्मुक्ततामनुभवति। पुण्यातिशयेन सिद्धसङ्गतिलाभात् सिद्धकृपया योगवत्तां लभते। एतेन गुरुरूपसिद्धिलाभो योगाप्तौ मुख्यं कारणम्। योगलाभेऽपि सर्वकर्तृत्वलाभो भवतु नाम, तथापि ज्ञानं विना सर्वकर्तृत्वस्य अनुपयुक्ततैव भवेत्। अतो योगेन सह ज्ञानमप्यपेक्षितं तस्माद् ज्ञानयोगयोरभेदोऽपि किञ्चित्कालं मर्षणीय एव। बहुभिर्जन्म-जन्मान्तरैरर्जितेन ज्ञानेन योगो लभ्यते; किन्तु ज्ञानं तु एकेनैव जन्मना गुरुकृपया लभ्यते। **अतो ज्ञानापेक्षया योगोऽभ्यर्हितः**। चिरं ज्ञानमभ्यस्य प्रविचार्य च तल्लाभाद् मुक्तोऽहमिति भावनया पुनः पुनः मननाच्च मुक्तिर्जायते। योगेन सिद्धाः चिदाकाशरूपतया अवस्थिता अमरत्वमपि लभन्ते। योगाल्लब्धेन ज्ञानेन अपुनरावृत्तिमुक्तिर्जायते। यदीत्थं तर्हि देहधारणं किमर्थम्? इति चेच्छ्रोतव्यम्। कर्पटे दग्धेऽपि कर्पटमिदं दग्धमिति यथा दृश्यते तथैव योगात् सिद्धस्य पुरुषस्य देहश्चेत् का हानिः। चित्तप्राणसन्नद्धं शरीरं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमस्तद्वदेव।

अतो योगमार्गेण शरीरामरत्वप्रक्रियां विज्ञाय प्रवृत्ता योगिनः स्वेच्छया शरीरं धारयन्त्यन्तर्दधति च। तस्माद्योगसाधनस्य साधको नित्यमभ्यसेत्, मोक्षहेतवे योगिभिः प्राणजयादिः कर्तव्यतया अवधार्यते। श्रुतिस्मृतिधर्मशास्त्रपुराणादिषु महता कष्टेन ऋषिभिः शास्त्रकारैः स्मृतिकारैश्च

वर्णाश्रमोक्ताचाराणां व्यवहाराणां धर्माणाञ्च पालनं परपदप्राप्तये समर्थितम् । भगवत्प्राप्तौ शास्त्राण्येव प्रमाणानि नान्यत्किञ्चित्, तत्र शङ्कायाः जुगुप्साया वा कोऽवकाशः, किं बहुना, वर्णाश्रमविधिं सम्यक् परिपाल्य आजीवनं सुखं शान्तञ्च जीवनं संयाप्य अन्ते शिवसायुज्यमवाप्नुयादिति भारतीयमनीषिणां स्वार्थं तिरस्कृत्य परकल्याणाय हुतात्मनां तारस्वरेण कृत एष उद्घोषः ।

●

---

1. योगसूत्रम् ।
2. देवीभागवतम् ।
3. गीता ।
4. वाचस्पत्यम् ।
5. मनुस्मृतिः ।
6. रुद्रयामलम् ।
7. योगसूत्रम् ।
8. शारदातिलकम्, प्र. प. 11 ।
9. रुद्रयामलम् ।
10. रुद्रयामलम् ।
11. हठयोगप्रदीपिका ।

भारतीयदर्शनम्

श्रीनवरङ्गचतुर्वेदी

स्वकीयजन्मशताब्युत्सवे डॉ. श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयोऽमरो विजयते ।

यथाम्बुधिं नभस्तोयं याति देवनतिर्हरिम् ।
सम्पूर्णानन्द आसन् वै तथा लोकोत्तरा गुणाः ॥ १ ।
तद्दर्शनमयं ज्ञात्वा सम्पूर्णानन्दजीवनम् ।
निबन्धेऽस्मिन् निबध्नामि भारतीयं हि दर्शनम् ॥ २ ।
विशिष्टाद्वैतमाश्रित्य लभन्ते सूपयोगिताम् ।
व्यवहारे हि सर्वाणि शोभन्ते दर्शनानि यत् ॥ ३ ।
आचार्यान् सादरं नत्वा तद्भारतीयदर्शनम् ।
सम्पूर्णानन्दमुद्दिश्य शताब्यां वर्णये सताम् ॥ ४ ।

पृथिव्यां सर्वे मनुष्या मनोः पुत्राः सन्ति । मनोरपत्यानीति विग्रहे मनुशब्दात् "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् चेति" (४/१/१६१) पाणिनिसूत्रेण अञ्प्रत्यये, आदेरकारस्य वृद्धौ, गुणे, अवादेशे च कृते 'मानवाः' इति पदम्, मनुशब्दात् यत्प्रत्यये षुगागमे च कृते 'मनुष्याः' इति पदञ्च सिद्ध्यति । पृथिव्यां सर्व-देशनिवासिनो मनुष्यान् प्रति मनोरेष उपदेशः–

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥" (मनु. २/२०)

अस्यार्थः–एतद्देशे=भारतवर्षे प्रसूतस्योत्पन्नस्याग्रजन्मनो ब्राह्मणस्य सकाशात् स्वं स्वं चरित्रं सदाचारं शिक्षेरन्=शिक्षामुपदेशं गृह्णीयुः । ब्रह्मणोऽपत्यमिति विग्रहे "ब्राह्मोऽजातौ" (पा. ६/४/१७१) इति सूत्रेणापि "अन्" इति प्रकृतिभावे आदेरचो वृद्धौ 'ब्राह्मण' इति पदं सिद्ध्यति । अथवा ब्रह्म वेद जानाति वेति विग्रहे "तदधीते तद्वेद" (पां. ४/२/५९) इति सूत्रेणाणि 'ब्राह्मण' इति पदं सिद्ध्यति । ब्राह्मणा अध्यात्मविद्यासम्पन्ना भवन्ति । तत्प्रभावाच्चरित्रशिक्षां दास्यन्ति । अध्यात्मविद्याया लाभो दर्शनशास्त्रादेव जायते । दृश्यते ज्ञायत आत्मा येन तद् दर्शनमिति व्युत्पत्तिः । दर्शनशास्त्र-मेवाध्यात्मविद्याया मूलम्, नान्यदिति ।

"सर्वागमानामाचारः प्रथमं प्रतिपद्यते ।
आगमप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः" ॥

(विष्णुसहस्रनाम, श्लो. १३७)

अस्यार्थः—आगमाः सर्वे सदाचारं प्रथमं प्रतिपादयन्ति, सदाचार एव सर्वधर्माणां मूलमस्ति। धर्मस्य प्रभुरच्युतो धर्मं कृत्वा भगवत्प्रीतये भगवते समर्पणीयः। एवं सर्वधर्ममूलं स्वं स्वं चरित्रं सदाचारस्तस्य कारणम् अध्यात्मविद्या, तस्याः कारणं दर्शनशास्त्रम्। ब्राह्मणा वेदपुत्राः, अत एव **"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"** इति सूक्तिः। वेदस्य द्वौ भागौ, पूर्वभागस्य व्याख्या जैमिनिप्रोक्ता मीमांसा। अत्र भगवदाराधनकर्म वर्णितम्। उत्तरभागस्य व्याख्या ब्रह्मसूत्रं व्यासप्रणीतम्। ब्रह्मसूत्रद्वारा वेदवेद्यभगवतो वर्णनम्। उत्तरभागवेदान्तोपनिषदां व्याख्या ब्रह्मसूत्रम्। तस्य ब्रह्मसूत्रस्य दार्शनिकाचार्यैर्भाष्याणि रचितानि, तान्येव दर्शनशास्त्राण्युच्यन्ते। सर्वदर्शनानां प्रतिपाद्यविषय आत्मस्वरूपम्। यद्यपि सर्वदर्शनप्रतिपाद्यमात्मस्वरूपं भिन्नं भिन्नमस्ति, तथापि निःश्रेयसहेतुरात्मज्ञानमित्येवात्र सर्वेषां मतैक्यम्। **"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"**, **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** इत्यादयः श्रुतयः। **"आचारव्यवहाराभ्यां धर्मसिद्धिः"** इति याज्ञवल्क्योक्तिः। वाल्मीकिरामायणे प्रथमसर्गे **"को नु चरित्रवान् लोकः"** इति वाल्मीकिर्नारदं पप्रच्छ, **"रामश्चरित्रवान् लोकः"** इति नारद उक्तवान्। धर्मस्थापनाय रामः किष्किन्धां सुग्रीवाय दत्तवान्, धर्मस्थापनाय लङ्कां जित्वा विभीषणाय दत्तवान्। अयोध्याविस्तारं न कृतवान्। इति रामे धर्मस्थापनाय व्यवहारः। सीताया आचरणम्—

"तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता"।

(सुन्दरकाण्डे-२१/२)

इति सीता रावणस्योत्तरं दत्तवती मध्ये तृणव्यवधानं कृत्वा। एवमाचारव्यवहाराभ्यां रामराज्ये धर्ममर्यादासिद्धिः। अध्यात्मविद्याया अपरिशीलनाद् दुराचारिणां कौरवाणां नाशं कृष्णः कृतवान्, दुराचारिणं रावणं रामो जघान, **"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः"** इति सूक्तिः। अतो दर्शनशास्त्रादध्यात्मविद्याया लाभस्ततः सदाचारज्ञानम्, अत एव भारतवर्षनिवासिनोऽद्यापि जगद्गुरवः परिगण्यन्ते। इदमेव सम्प्रधार्य निबन्धविषयो **"भारतीयदर्शनम्"** मया गृहीतम्।

अधुना भारतीयदर्शनानि बहूनि सन्ति, समुपलभ्यन्ते च। तत्र श्रीरामानुजीयतत्त्वत्रयात्मकं विशिष्टाद्वैतदर्शनमस्ति। चिदचिदीश्वरतत्त्वत्रयमस्ति। लौकिकाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिश्चिदचिद्विशिष्टाद्वैतनारायणभगवत एव भवति। जगत् तद्व्यवहारादिकं परमार्थभूतं सत्यमस्ति।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

इति गीताश्लोकरीत्या विशिष्टाद्वैतातिरिक्तान्यपि दर्शनानि लोकव्यवहारदशायां तत्सिद्धये विशिष्टाद्वैतमेव प्रतिपादयन्ति।

अथ दर्शनसमीक्षा

अद्वैतदर्शनं भगवतः शङ्कराचार्यस्यास्ति। अत्राद्वैतशब्दव्युत्पत्तिः—द्वे जीवप्रकृती इते गते यत् तद् द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतम्। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं चिन्मात्रं निर्गुणं निर्विशेषं ब्रह्मेति। अत्र प्रमाणम्—**"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"** इति श्रुतिः। सदेवेति विजातीं व्यावर्तयति, एकं सजातीयं व्यावर्तयति, अद्वितीयं स्वगतभेदं व्यावर्तयति, अद्वितीयपदं ब्रह्मातिरिक्तं

जगन्मिथ्येति प्रतिपादयति । ब्रह्मातिरिक्ता भावरूपा अनादिः सान्ता चाविद्याऽस्ति, तुलयाऽविद्यया ब्रह्मणः स्वरूपस्यावरणं भवति । मूलया ब्रह्मणि मनुष्यदेवतिर्यग्विक्षेपो भवति । तत्त्वमसीत्यादिवाक्येन जीवब्रह्मणोरैक्यज्ञानेनाविद्यानिवृत्तिः स्वस्वरूपाविर्भावो मोक्षो भवति ।

अविद्यायुक्तं ब्रह्म जीवो भवतिं, ततो जगदध्यासो भवति ब्रह्मणि, ब्रह्म सत्यं परमार्थं जगन्मिथ्या । जगद्व्यवहारसिद्ध्यर्थं जीवप्रकृतिब्रह्मरूपतत्त्वत्रयं, स्वीक्रियते । यावज्जगद्व्यवहारस्य न बाधस्तावद् व्यावहारिकी सत्ता, ब्रह्मणः पारमार्थिकी सत्ता, शुक्तावध्यस्तरजतस्य भागिति बाधात् प्रातिभासिकी सत्ता। एवं सत्तात्रयं स्वीक्रियते । अत्र दर्शने विवर्तवादः । अधिष्ठानविषयसत्ताकोऽतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः । अन्तेऽद्वैतेऽविद्यायाः स्वीकाराद् भटकुटीरप्रभातन्यायेन द्राविणप्राणायामेन वा अद्वैतदर्शनमपि विशिष्टाद्वैतमेव भवति । चेतनं चित्, भावे क्विप् । चैतन्यमात्रं ब्रह्म, न तु चैतन्याश्रय इति । तत्त्वमसीत्यत्र जहदजहल्लक्षणया सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोर्विशेषणयोर्बाधे तत्त्वंपदार्थयोरैक्यात् ततपदवाच्य-ब्रह्मणस्त्वंपदवाच्यजीवस्य चैक्यमिति ।

अथ श्रीरामानुजमते विशिष्टाद्वैतदर्शनम्

अत्र दर्शने **"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"** इत्यस्याः श्रुतेरर्थः–हे सोम्य ! सृष्टेरग्रे इदं दृश्यमानं जडचेतनात्मकं जगत् सदेवासीत्, नामरूपकार्यविभागानर्हस्वरूपसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टमेव ब्रह्म, न त्वसद् नामरूपकार्यविभागार्हरूपस्थूलचिदचिद्विशिष्टब्रह्मेति । एकमेव प्रधानमुपादानकारणम् । अद्वितीयं न द्वितीयः सहायको यस्य तत् । **"एकोऽहं बहु स्याम्"** इति मानससङ्कल्प एव निमित्तम् । एवमभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म । कार्यकारणस्वरूपचिदचिद्विशिष्टयोर्ब्रह्मणोरद्वैतम् । द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, अविद्यमानं द्वैतं यत्रेत्यद्वैतम्=एकत्वमित्यर्थः । अथवा चिदचितोः प्रकारयोरपृथक्–सिद्धविशेषणतया विशेष्ये ब्रह्मण्यन्तर्भूतत्वाद् विशिष्टं ब्रह्म विशिष्टाद्वैतम्, एकतत्त्वमित्यर्थः । लोके सपत्नीक एको यजमान इतिवत् । लोकेऽप्यपृथक्सिद्धविशेषणस्य धर्मभूतज्ञानस्य विशेष्य आत्म-न्यन्तर्भावो भवति । चेततीति चित्, कर्त्तरि क्विप्, चैतन्याश्रय आत्मा । अचित् चैतन्यरहिता । जगत्सत्यं जगद्व्यवहारोऽपि सत्यः ।

अत्र दर्शने परिणामवादः । अधिष्ठानसमसत्ताकस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः । यथा दुग्धस्य परिणामो दधि । सृष्टेः प्राक् सूक्ष्मनामरूपकार्यविभागानर्हचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म नामरूपकार्य-विभागार्हस्थूलचिदचिद्विशिष्टरूपेण परिणमति । उत्तरावस्थायाः पूर्वावस्थापन्नं वस्तूपादानं भवति । यथा उत्तरावस्थापन्नस्य घटस्य मृत्पिण्डमुपादानम् । स्वाप्निकपदार्थोऽपि सत्योऽदृष्टवशादीश्वरेच्छया स्वप्ने पदार्थान् भगवान् निर्मिमीते । स्वप्नः सत्योऽत्र हरिश्चन्द्रः प्रमाणम् । वेदपुराणगङ्गाजगद्व्यवहारादिकं सर्वं सत्यम् । अत्र दर्शने पारमार्थिकी सत्तैकैव । पञ्चीकरणप्रक्रियया शुक्तौ रजतं सत्यं परमार्थभूतं भूषणनिर्माणबाधो रजतज्ञानरजतविषयौ सत्यौ । व्यवहारे बाधिते बाधितं ज्ञानमौपचारिकम् । व्यवहाराबाधाद् आपणप्रसारितरजतज्ञानं सत्यमबाधितमिति । रज्ज्वां सर्पः सत्यो वक्राकारप्रकारस्य सत्यत्वात्, प्रकारी सर्पोऽसत्यः, वक्राकारप्रकारस्तु सत्य एव । शुष्कवृक्षे पुरुषभ्रान्तिः सत्या, सादृश्य-सत्त्वात् । प्रकारी विशेष्यः पुरुषोऽसत्यः । क्वचित् प्रकारः सत्यः, क्वचित् प्रकारी विशेष्यांशः सत्यः, एवं

रीत्या सर्वं ज्ञानं सत्यमेव, न तु मिथ्या । पञ्चीकरणप्रक्रियया शुक्तावपि रजतांशोऽस्त्येव । यथार्थं सर्वविज्ञानमिति नाथमुनेरुक्तिः । ब्रह्म निर्गुणं हेयप्राकृतगुणरहितम् । जीवगतपारतन्त्र्यहेयगुणो भगवति नास्ति । जीवे पारतन्त्र्यं गुण एव । यथा स्त्रीषु स्तनोद्भेदो गुणः, पुरुषे स्तनोद्भेदगुणो हेय इति । ब्रह्म सगुणम्, अत एव ब्रह्मण उपासनां भक्ताः कुर्वन्ति, निगुर्णस्य ब्रह्मण उपासनां कोऽपि न करिष्यति । शरणागतरक्षकत्ववात्सल्यादिकल्याणगुणा अनेके सन्ति । तस्माद् ब्रह्म सगुणम् । उपासनासाफल्यार्थं साकारं सगुणं सविशेषं ब्रह्म । सिद्धे वस्तुनि ब्रह्मणि श्रुतीनामुपासनाबोधनाय समन्वयः । साधुपुण्यकर्मणा भगवतः प्रीतिरेवादृष्टभूता । पापकर्मणाऽप्रीतिरेव पापरूपमदृष्टम् । **"यत्त्वत्कृते पुण्यम--पुण्यमन्यत्"** इत्युक्तिः । तत्त्वमसीति वाक्ये न लक्षणा, शरीरवाचकशब्दानां शरीरिणि ब्रह्मण्यन्वयः । मनुष्यः पठतीत्यत्र यथा मनुष्यशब्दो मनुष्यशरीरवाची, शरीरिजीवबोधेऽभिधाशक्तिः, जीवकर्त्तरि पठनस्यान्वयः । तत्सर्वज्ञं कारणं ब्रह्म, त्वं जीवात्मा ब्रह्मणः शरीरमतः शरीरशरीरिभावः । त्वम्पदवाच्यान्तर्यामिणस्तत्पदवाच्यकारणब्रह्मणश्चैक्यम् । अथवा त्वच्छरीरकं ब्रह्मेत्यर्थः । एवमहं ब्रह्मेति वाक्यस्य ब्रह्मात्मकोऽहमस्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यस्य ब्रह्मात्मकं सर्वमस्ति । एवमभेद-प्रतिपादिकानां श्रुतीनां ब्रह्मणि शरीरशरीरिभावसम्बन्धेन चिदचितोरन्वयः । **"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्"** इत्यादि श्रुतयस्तु साक्षाद् भेदं प्रतिपादयन्ति । **"यः पृथिव्यां तिष्ठन् यं पृथ्वी न वेद"** इत्यादिघटकश्रुतयो विशिष्टाद्वैतं प्रतिपादयन्ति । एवमद्वैतद्वैतघटकश्रुतीनां सर्वासां विशिष्टाद्वैतप्रतिपादने तात्पर्यम् । ज्ञातृत्वे सति शेषत्वे सति अणुत्वं जीवलक्षणम् । ज्ञातृत्वे सति शेषित्वे सति विभुत्वमीश्वरस्य लक्षणम् ।

"देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योऽनन्यसाधनः ।
नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्माभिन्नः स्वतः सुखी" ॥

इति सिद्धित्रये यामुनाचार्योक्तिः । अजडमानन्दरूपं निरवयवं निर्विकारं ज्ञानाश्रय ईश्वरस्य नियाम्यं धार्यं शेषमिति जीवलक्षण् । देहसम्बन्धो जन्म, देहत्यागो मृत्युः । "न जायते" इत्यादिगीताप्रमाणम् । हृदयदेशादुत्क्रमणगमनागमनानां शास्त्रे प्रोक्तत्वादणुत्वम् । भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नः स एवोपायः । परमे पदे श्रीवैकुण्ठे विराजमानः स एव परवासुदेवो नारायणो मोक्षप्रापकः, मुक्तजीवानां प्राप्यः ।

परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावतारभेदाद् ईश्वरः पञ्चधा, जीवस्त्रिविधः, बद्धमुक्तनित्यभेदात् । अचित् त्रिधा, अविद्या प्रकृतिमायाभेदात् । अविद्या जीवज्ञानविरोधिनी । शरीरमविद्या, शरीरसम्बन्धे सति जीवानामसङ्कुचितस्थापकज्ञानं सङ्कुचितं भवति । अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः । पाञ्चभौतिक-शरीरस्यात्यन्तविनाशे सति निवृत्तौ सत्यां मोक्षः । प्रकृतिः सृष्टिकर्मणि हेतुः । मायाऽघटित-विचित्रसृष्टिकरी । **"मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्"** इति गीतायामुक्तिः । प्रकृतिश्-चतुर्विंशतिधाऽस्ति । अत्र दर्शने विशिष्टाद्वैतं परमार्थभूतम् । चिदचितोः प्रकारयोर्ब्रह्मणा सहापृथक्-सिद्धविशेषणतया सम्बन्धः । जीवन्मुक्तिरत्र दर्शने नास्ति । शरीरत्यागानन्तरं विरजानद्यां स्नात्वा चतुर्भुजभगवत्सायुज्यं प्राप्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः । भगवत्कैङ्कर्यं मोक्षफलम् । स्वामि-श्रीमद्रामानन्दाचार्यमते विशिष्टाद्वैतदर्शनं सर्वं श्रीरामानुजमतवद् बोध्यम् ।

अथ शुद्धाद्वैतदर्शनम्

इदं दर्शनं वल्लभाचार्यस्य । गत्यर्थकिज्धातोः कर्मणोऽविवक्षायामकर्मकत्वाद् धातूनामनेकार्थत्वाद् भावे क्तप्रत्यये ज्ञानमित्यर्थः । ततो द्विपूर्वकाद् भावे क्तप्रत्यये दीर्घे द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतम्, द्विप्रकारकज्ञानम् । जीवेश्वरात्मना कार्यकारणात्मना च । न द्वैतमद्वैतम् । सृष्टेः प्राक् शुद्धमद्वैतम् । सृष्टेरनन्तरं शुद्धयोरीशजीवयोरद्वैतम् । निर्मायिकं ब्रह्म । न तु मायासंवलितम् । अत्र दर्शने भगवदतिरिक्ता शक्तिर्माया । जीवानां प्रकृतीनामाविर्भावतिरोभावावीश्वरेच्छया भवतः । यथा स्फुलिङ्गा अग्नावेव सन्ति, यथासमयमाविर्भावतिरोभावौ भवतः । भगवदुपासनया मोक्षः । मोक्षकाले चिदचितोर-पृथक्सिद्धविशेषणतया शुद्धाद्वैतेऽन्तर्भूतत्वात् शुद्धाद्वैतम् । एवं शुद्धाद्वैतमपि चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मेति, तेन चिदचिद्विशिष्टत्वाद् ब्रह्मणः सत्त्वादिदमपि शुद्धाद्वैतदर्शनं विशिष्टाद्वैतमेव । अत्र दर्शने जगत् सत्यम्, तद्व्यवहारोऽपि सत्यः परमार्थः ।

अत्र दर्शने परिणामवादः । ईश्वरश्चैतन्याश्रयः । जीवोऽपि चैतन्याश्रयः । राधाकृष्णोपासनया मोक्षः ।

अथ मध्ववेदान्तदर्शनम्

मध्वमतं द्वैतदर्शनम् । मधु वेत्यत्रोकारलोपे मध्वपदस्य सिद्धिः । मधु=आनन्दः, वस्तीर्थशास्त्रम् । अत्र दर्शने द्वे तत्त्वे स्तः । स्वतन्त्रतत्त्वमीशः । परतन्त्रतत्त्वे द्वे जीवप्रकृती । ईश्वरो विभुः, जीवा अणवः, प्रपञ्चः सत्यः परमार्थश्च, जीवा ईश्वरदासाः, राधाकृष्णोपासनया मोक्षः । शेषं श्रीरामानुजमत-वज्ज्ञेयम् । चिदचिदीशतत्त्वत्रयमस्ति । चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म । अत इदमपि द्वैतमतं विशिष्टाद्वैतमिति निष्कर्षः ।

अथ निम्बार्कदर्शनम्

निम्बार्काचार्यकृते ब्रह्मसूत्रस्य वेदान्तपारिजातसौरभनाम्नि भाष्ये परिणामवादो वर्णितः । अधिष्ठानसमसत्ताकस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः । अत्र दर्शने भेदाभेदवादः । ईश्वरेच्छया जीवकृतकर्मफलभोगायाग्नेः स्फुलिङ्गा इव जीवाः सृष्टिकाले प्रादुर्भूता भवन्ति । मोक्षेऽपृथक्सिद्ध-विशेषणतया चिदचितोः प्रकारयोर्ब्रह्मण्यन्तर्भावो भवति । सृष्टिकाले भेदो मोक्षेऽभेदः ।

एवं चिदचिदीशतत्त्वत्रयमत्र दर्शनेऽप्यस्ति । राधाकृष्णोपासनया मोक्षः । तत्त्वत्रयस्वीकाराद् विशिष्टाद्वैतदर्शनमिदमपि भेदाभेददर्शनमस्ति । शेषं श्रीरामानुजवज्ज्ञेयम् ।

अथ न्यायदर्शनम्

नीयन्तेऽनेनेति न्यायः । षोडशपदार्था नीयन्तेऽनेनेति न्यायः । प्रमाणैः प्रमेयसिद्धिः । प्रत्यक्षेणागमने च दृष्टपदार्थानुमानद्वारा परीक्षाऽन्वीक्षा । प्रत्यक्षाश्रितमनुमानम् । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमैः परार्थानुमानम्, अतः परार्थानुमानं न्यायः ।

अत्र दर्शने ईश्वरो विभुर्नित्यज्ञानाश्रयः । जीवा विभवो ज्ञानाज्ञानाश्रयाः । अनुमानेनेश्वरसिद्धिः । "द्यावा पृथिवी जनयन् देव एकः" इत्यागमो ह्यनुकूलः । क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात्

कुम्भकारकर्त्तृकघटवत् । एतावन्महत्क्षित्यङ्कुरादेः कार्यस्य जीवद्वाराऽसाध्यत्वादीश्वरोऽनुमीयते । देह आत्मवान् चेष्टावत्त्वाद् रथवदित्यनुमानेन जीवात्मसिद्धिः । **"पदार्थतत्त्वज्ञानाद् दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः"** इति गौतमसूत्रानुसारेणेश्वरोपासनया ज्ञाने जाते मोक्षः । इदमपि दर्शनं तत्त्वत्रयात्मकमतो जीवप्रकृतिविशिष्टं ब्रह्म विशिष्टाद्वैतं सिद्ध्यतीति निष्कर्षः ।

अथ चार्वाकदर्शनम्

अस्य प्रणेता बृहस्पतिः । चैतन्यविशिष्टदेह आत्मा । अत्र दर्शने प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् । पृथिव्यादीनां चतुर्णां मेलनेन चैतन्यं देह उत्पद्यते । तेषां पृथिव्यादीनां विभागे चैतन्यं नश्यति । ततः परं न किञ्चिदस्ति । चैतन्यरहितदेहनाशो मोक्षः । चैतन्यविशिष्टो देह आत्मेति स्वीकारात् विशिष्टाद्वैतमेव ।

अथ जैनदर्शनम्

जैनदर्शने कार्यकारणरूपेण जगन्नित्यम्, अनित्यम्, सत्यमसत्यम्, भिन्नमभिन्नम् । कर्मानुगुणतया शरीरपरिमाण आत्मा, संसारोऽनादिः । आत्मज्ञानेन दिगम्बरेश्वरोपासनया प्रकृतिनिर्मुक्ता ऊर्ध्वगतिं प्राप्नुवन्ति जीवाः, स एव मोक्षः ।

अत्र दर्शने दिगम्बर-ऋषभदेव ईश्वरो जीवाः प्रकृतयश्च तत्त्वत्रयं ततो जगद्व्यवहारः सिद्ध्यति । **"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः"** इत्यार्हतसूत्रम् । इदमपि दर्शनं तत्त्वत्रयस्वीकारात् चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मेति, तस्माद्विशिष्टाद्वैतदर्शनमिदमपि जातमिति निष्कर्षः ।

मीमांसादर्शनम्

मीमांसादर्शनस्य प्रणेता जैमिनिः । पुरुषो जगच्च द्वे तत्त्वे स्तः । यात्रादिकर्मणाऽदृष्टं जायते, अदृष्टं पापं पुण्यञ्च । अदृष्टपुण्यद्वारा मोक्षः । संसारोऽनादिः । खण्डप्रलयो भवति, महाप्रलयो न भवति । अतो जगतः कर्त्ता कोऽपि नास्ति, जगतो नित्यत्वात् । जैमिनिमीमांसा सेश्वरमीमांसा । अत्र दर्शने ईश्वरोऽस्ति, जगत्कर्त्तृत्वेन न स्वीक्रियते ।

जैमिनिर्वेदव्यासस्य शिष्य आज्ञया मीमांसां रचितवान् । अतो जैमिनिरास्तिक इति । एवं चिदचिदीशतत्त्वत्रयं दर्शनेऽस्मिन्, तस्मादिदमपि दर्शनं विशिष्टाद्वैतमेवेति निष्कर्षः ।

अथ बौद्धदर्शनम्

अस्यादिः प्रणेता बुद्धः । ततश्चत्वार आचार्याः–माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकाः । माध्यमिकमते शून्यं तत्त्वम् । संवृतिदोषेण शून्यमभावस्वरूपमपि जगद्भावरूपेण भासते । योगाचारमते विज्ञानमेवात्मा क्षणिकः उत्पद्यते, नश्यति च । वासनादोषेण सम्पूर्णं जगद् विज्ञानरूपेण भासते । सौत्रान्तिकमते विज्ञानं द्विविधम्–इदमिति प्रवृत्तिविज्ञानम् । अहमिति आलयविज्ञानम्, विवेक-विलासनाम्नि ग्रन्थे सर्वं प्रकाशितम् । वैभाषिकमतं माध्यमिकमतवत् । बाह्यमाभ्यन्तरं सर्वं शून्यम्, अतो व्यवहारसिद्ध्यर्थं तत्त्वत्रयं कथमपि दर्शनेऽस्मिन्नपि वर्णितम् । अत इदमपि दर्शनं विशिष्टा-द्वैतमेव । संवृतिवासनास्वरूपदोषविशिष्टं जगदस्ति, बुद्ध ईश्वर इति, तस्माद्विशिष्टं तत्त्वमिति । जडचेतनबुद्धभगवद्रूपतत्त्वत्रयात्मकं विशिष्टाद्वैतमिति निष्कर्षः । लेखविस्तारो यथा न स्यादतः कतिपयानां दर्शनानामुल्लेखः कृतः ।

अवशिष्टदर्शनानि

अवशिष्टरसेश्वरनकुलीशशैवभास्करयादवप्रतिबिम्बदर्शनान्यपि व्यवहारे विशिष्टाद्वैतान्येव जायन्ते। अतः परमुपसंह्रियते निबन्धः–

डॉ. सम्पूर्णानन्दमहोदयस्य भारतीयदर्शन-भारतीय-संस्कृति-संस्कृतभाषाः प्राणवदासन् । अत एव काश्या भारतवर्षस्य च गौरवरक्षायै विश्वनाथनगर्यां संस्कृतविश्वविद्यालयं संस्थापितवान् । भारतीयदर्शने निष्कर्मणामनादरोऽस्ति । देशसेवा-जनतासेवा-परोपकार-दया-त्यागद्वारा भगवतः पूर्णसेवा भवति ।

अथ वैष्णवदर्शनम्

विष्णुर्देवताऽस्येति वैष्णवः, "सास्य देवता" इति सूत्रेणाणि रामानुजरामाननन्दनिम्बार्कमध्व-वल्लभमतानुयायिन ईदृशा वैष्णवाः । अन्ये विष्णोरयं वैष्णव इति "तस्येदम्" इत्यणि । रामानुजमते भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षे सत्यपि भगवत्कैङ्कर्यरूपेण कर्माराधनास्वरूपं कर्त्तव्यमेव । लोकेऽपि निष्कामकर्मणा भगवद्विषयकं ज्ञानं जायते । प्रीतरूपापन्नं ज्ञानं भक्तिः । भगवानेवोपायोपेय इति प्रपत्तिस्तस्माद् भगवदाराधनास्वरूपं कर्म कर्त्तव्यमेवातः शिखासूत्रधारणमाजीवनम् । भारतीयदर्शने कतिपयेऽमृतोपदेशाः प्रदर्श्यन्ते–"**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, ःआचार्यदेवो भव, देशभक्तो भव, जनताजनार्दनदेवो भव, अतिथिदेवो भव**",

"मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

सर्वधर्ममूलमाचारः, "**आचारः प्रथमो धर्मः**" इत्युक्तेः । आचारमूलं व्यवहारमूलम् अध्यात्मविद्या, तस्या मूलं भारतीयदर्शनम् ।

"स्वगृहे सकलाचारास्तदर्द्धं परवेश्मनि ।
तदर्द्धं तीर्थयात्रायां पथि शूद्रवदाचरेत्" ॥
"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै" ॥

भूतहितं हि सत्यमिति श्रीभाष्यटीकाश्रुतप्रकाशिकायां लिखितम् । जीवानामुपकारकं वचनं सत्यम् । यथादृष्टं यथाश्रुतमित्येव कथनमिति न्यूनपरिभाषा । अध्ययनमध्यापनं सत्यम् । येनोच्चारितेन लिखितेन पठितेन शब्देन परोपकारो भवति, स शब्दः सत्य इति भारतीयदर्शनं संस्कृतवाङ्मयमस्ति, तस्मात् संस्कृतभाषा रक्षणीया । पाणिन्यादिरचितव्याकरणद्वारा साधुत्वरूपसंस्कारसम्पन्ना भाषा संस्कृतभाषाऽस्ति सर्वभाषाजननी । संस्कृतशब्दोऽदृष्टं व्यवहारञ्च साधयति । अन्या भाषा व्यवहारमात्रं साधयन्ति । वेदः कल्पवृक्षस्तस्य ब्रह्मसूत्रशारीरकभाष्यप्रभृतीनि दर्शनशास्त्राणि पत्राणि सन्ति । अष्टौ पुष्पाणि सन्ति–

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया पुष्पं क्षमा पुष्पं विशेषतः॥
ज्ञानं पुष्पं तपः पुष्पं ध्यानं पुष्पञ्च सप्तमम्।
सत्यञ्चाष्टविधं पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं भवेत्॥

भारतीयदर्शनपर्यालोचनया मनुष्येषु लोकोत्तराणि विष्णुप्रीतिकराणि पुष्पाणि स्वयं जायन्ते, अध्यात्मविद्यालाभश्च भवति। फलम्–अध्यात्मविद्यया मोक्षः सिद्ध्यति। एवं भारतीयदर्शनेन मानवानां सर्वेषां जीवनं सफलं भवतीति।

●

कालिका-पुराण—स्वरूप चिन्तन

पं. बलदेव उपाध्याय 'पद्मभूषण'

परापरात्मिकां नित्यां साध्याधारैकसंस्थिताम् ।
कामाह्लादकरीं कान्तां त्वां नमामि जगन्मयीम् ॥

पुराण के विस्तृत साहित्य में कालिका पुराण की भूयसी ख्याति है। शक्तिपूजा के महत्त्वपूर्ण विषय को आश्रित कर लिखे गये पुराणों में इसका स्थान नितान्त महनीय एवं आदरणीय है। धर्मशास्त्र के निबन्धकारों ने अपने निबन्धों में अपने कथन की पुष्टि में इस कालिका पुराण के श्लोकों को बड़े आदर से उद्धृत किया है। ऐसे निबन्धकारों की एक लम्बी परम्परा है जिनके नाम तथा ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार है—लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु, अपरार्क की याज्ञवल्क्य टीका, बल्लालसेन का दानसागर, हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि, श्रीदत्त उपाध्याय का आचारादर्श, माधवाचार्य का पराशर-स्मृति-भाष्य, वाचस्पति मिश्र का द्वैतनिर्णय, विद्यापति का दुर्गाभक्तितरङ्गिणी आदि। पूर्वोक्त आचार्य धर्मशास्त्र के विषय में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। इनके द्वारा उद्धृत किये जाने से कालिका पुराण के महत्त्व तथा प्रामाण्य के विषय में किसी प्रकार के सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

कालिका पुराण में 90 अध्याय हैं। आदि के 45 अध्यायों में भगवान् शंकर के चरित्र का विपुल वर्णन है। विष्णु, ब्रह्मा तथा शंकर का एकत्व प्रतिपादित किया है जिससे कालिकापुराण के उदार भाव का संकेत मिलता है। शिव तथा सती के चरित्र का भी विस्तृत विवेचन है। सती के दग्ध शरीर से विभिन्न अङ्गों के काटने का तथा उनके पतन से उत्पन्न पवित्रता से मण्डित शक्ति तीर्थों का विस्तार से वर्णन है। सृष्टि आदि का भी विवरण इस पूर्वभाग में है। उत्तरभाग 46 अध्याय से लेकर 90 अध्याय तक है जिसमें शक्ति के तान्त्रिक रूप का विशेष विवरण है।

दार्शनिक दृष्टि

यह उत्तर भाग तान्त्रिक दृष्टि से विशेष गौरव रखता है। कालिका पुराण का मूल रूप वैष्णव-भावापन्न था जिसमें विष्णु ही प्रधान देवता के रूप में स्वीकार किये गये थे। इसीलिए हेमाद्रि ने इस पुराण को 'भागवत' नाम निर्दिष्ट किया है। परन्तु वर्तमान कालिका पुराण सर्वतोभावेन शाक्त तन्त्रों के विधि-विधानों से पूर्ण है। यह पुराण स्वतः अपने को मन्त्र तथा यन्त्र से युक्त, ज्ञान का दाता, काम का दाता तथा लोक एवं वेद में गुह्यतम ज्ञान का प्रचारक उद्घोषित करता है[1]। यह 'गुह्यतन्त्र' नाम से व्यवहृत किया गया है। इसका भौगोलिक क्षेत्र असम का कामरूप मण्डल है जहाँ प्राचीन काल में वसिष्ठ मुनि के शाप के कारण वामाचार का प्रचुर प्रचार हो गया। दुर्गा की विशेष

पूजा का विधान शारदीय नवरात्र में बतलाया गया है। नवमी तिथि की पूजा की विशिष्टता तथा निर्णय के विषय में विवरण प्रस्तुत किया गया है। वैष्णवी देवी का पूजाविधान 52 अध्याय से आरम्भ कर 56 अध्याय तक विस्तार से वर्णित है, 61 वें अध्याय में अष्टादशभुजा उग्रचण्डा, षोडशभुजा भद्रकाली तथा दशभुजा दुर्गा के शारदीय उत्सव का वर्णन यह पुराण विस्तार से करता है। इन देवियों के अतिरिक्त अन्य देवियों का भी पूजनविधान के निर्देश करने में यह पुराण अग्रसर है। त्रिपुरातन्त्र के अनुसार त्रिपुरा का पूजन (63 अ.), कामेश्वरी तन्त्र के अनुसार कामेश्वरी का पूजन (64 अध्याय), शारदा तन्त्रानुसार शारदा देवी का पूजन (65 अ.) यहाँ क्रमशः वर्णित है।

कामरूप में स्थित कामाख्या देवी की विशिष्ट अर्चना तथा तदुपयोगी तथ्यों का विस्तृत वर्णन कालिका पुराण का प्रधान लक्ष्य है। यह नीलकूट पर्वत पर विराजमान रहती है। इस विश्व में जगत् की सृष्टि की कारणभूता देवी योगमाया है। योगमाया स्निग्ध अंजन के समान कान्तिवाली, ऊँची डील-डौल वाली, चार भुजाओं से सम्पन्न, हाथ में तलवार तथा नीलकमल धारण करने वाली तथा खुले केशकलाप से सम्पन्न सिंहवाहिनी बताई गई है:-

स्निग्धाञ्जनद्युतिश्चारुरूपोत्तुङ्गा चतुर्भुजा।
सिंहस्था खड्ग-नीलाब्जहस्ता मुक्तकचोत्करा॥

(कालिका-पुराण 5/52)

योगमाया जगत् की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उभयरूपा हैं। चर तथा अचर जीवों की वह सनातनी शक्ति हैं। योगियों के हृदय में ज्ञान से विराजने वाली वही हैं। सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की विकारहीन समवस्थिति हैं। अशेष जगत् की बीजरूपा, ज्ञेय तथा ज्ञानरूपिणी, संसार के हित के लिए अवतीर्ण होने वाली विष्णु की माया वे ही हैं। मन्त्र के अन्तस् को बोधन करने वाली, परमानन्द स्वरूप, योगियों के हृदय में शुद्ध विद्यारूपिणी यह योगमाया ही जगन्मयी कहलाती हैं-

मन्त्रान्तर्भावनपरा परमानन्दरूपिणी।
योगिनां सत्त्वविद्यान्तः सा निगद्या जगन्मयी॥

(कालिका-पुराण 6/61)

वह नित्या हैं। जगत् के गर्भ में नित्यरूप से प्रकाशित होती हैं। जगत् के भीतर ही नहीं, प्रत्युत जगत् के बाहर भी वे ज्योतिस्वरूप से विराजमान हैं-वह ज्योति, जो व्यक्त (कार्यजगत्) तथा अव्यक्त (कारण जगत्) दोनों को प्रकाशित करती है[2] योगमाया परा, परात्मिका, शुद्ध, मलरहित, लोकों को मोहने वाली, वेदत्रयीरूपा, ब्रह्मा-विष्णु-महेश-त्रिदेवरूपा, जगत् की कीर्ति-वार्ता-गति-रूपिणी है।[3]

यही अचिन्त्य शक्तिसम्पन्ना योगमाया ही जगत् के कल्याणार्थ नाना अभिव्यक्ति प्राप्त कर देवियों के रूप में विराजमान होती हैं। इनमें कामाख्या ही सर्वातिशायिनी देवी हैं। ऊपर कहा ही गया है कि कामाख्या का विशिष्ट पूजाविधान कालिका पुराण का प्रधान सुचिन्तित विषय है। जिस प्रकार एक ही विष्णु नित्य होने से 'सनातन' तथा दुष्टजनों के अर्दन करने के कारण 'जनार्दन' कहलाते हैं,

उसी प्रकार योगमाया विभिन्न कार्यों तथा पीठों से सम्बद्ध होने के कारण नाना अभिधानों को प्राप्त करती हैं। कामाख्या नाम वाली महामाया मूलमूर्ति हैं अर्थात् वही आदिम रूप है योगमाया का[4]। वही कामकाल में रक्त कमलों से सम्पन्न प्रेतरूपी शिव पर रमण करती हैं। त्यक्तकामा होने पर वही कामाख्या श्वेत प्रेत पर रमण करती हैं।[5] कामाख्या का यह ध्यानपरक श्लोक उनकी दिव्य सौन्दर्यमूर्ति का चित्रण करता है:–

कामाख्यामक्षमालाऽभयवरदकरां सिद्धसूत्रैकहस्तां
श्वेतप्रेतोपरिस्थां मणिकनकयुतां कुङ्कुमापीतवर्णाम्।
ज्ञानध्यानप्रतिष्ठामतिशयविनयां ब्रह्म-शक्रादिवन्द्याम्
अग्नौ बिन्द्वन्तमन्त्र-प्रियतमविषयां नौमि सिद्ध्यै रतिस्थाम्॥

(कालिका-पुराण 72 अ. 63 श्लो.)

देश और काल

कालिका पुराण के अन्तरङ्ग से स्पष्ट है कि इस पुराण का भौगोलिक क्षेत्र भारतवर्ष का पूर्वाञ्चल है और उसमें भी कामरूप का प्रदेश। यह पुराण कामरूप के क्षेत्र में विद्यमान नदियों, सरोवरों, कुण्डों तथा पर्वतों का निर्देश बड़ी सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ करता है। इस पुराण का निर्माता उस प्रदेश के इन भौगोलिक इकाइयों का पूर्ण परिचय रखता है। इस प्रसंग में एक प्रमाण विचारणीय है। विद्यापति ने अपने 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी' ग्रन्थ में देवी के नैवेद्य के लिए उपयुक्त फलों के नाम निर्देशक ९ श्लोकों को कालिकापुराण से उद्धृत किया है[6] इन्हीं में से यह महत्त्वपूर्ण श्लोक है[7]–

आक्षोडं पिण्डखर्जूरं करुणं श्रीफलं तथा।
औदुम्बरं च पुन्नागं माधवं कर्कटीफलम्॥

इन फलों के ऊपर टीका करते हुए वे 'करुण' हो गौड देश का प्रसिद्ध फल बतलाते हैं[8]। विद्यापति का स्पष्ट अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि पुराण का प्रणेता बंगाल में प्रख्यात फल से परिचित था। इस प्रमाण के आधार पर हम कह सकते हैं कि कालिका पुराण का उत्पत्तिस्थल असम का कामरूप प्रदेश है अथवा असम का वह भाग है जो बंगाल के सन्निकट है।

कालिका पुराण का रचनाकाल इदमित्थंरूपेण बतलाना नितान्त कठिन है। अन्तरंग प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। बाह्य प्रमाण पर अवलम्बन ही एकमात्र उपाय है। कालिका पुराण का प्राचीनतम निर्देश[9] नान्यदेव के 'भरतभाष्य' में है। भरतभाष्य के रचयिता नान्यदेव महीपति मिथिला के राजा नान्यदेव से सर्वथा अभिन्न माने जाते हैं। (राज्यकाल ई. 1097 से लेकर ई. 1133 तक)। ई. सन् 1097 में नान्यदेव राजगद्दी पर बैठे थे–इसे फ्रेंच विद्वान् सिल्वाँ लेवी ने सिद्ध किया है। अतः एकादश शतक का मध्यभाग नान्यदेव के समय की निचली सीमा है।

उसकी ऊपरी सीमा का भी निर्देश मिलता है। वर्तमान कालिकपुराण के निर्देश बंगाल के ग्रन्थकार शूलपाणि तथा मैथिल विद्यापति के द्वारा भी किये गये हैं। शूलपाणि ने अपने 'दुर्गोत्सवविवेक' में एवं विद्यापति ने अपने 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी में दुर्गा के पूजा विषयक श्लोकों को कालिकापुराण से उद्धृत किया है। ये दोनों लेखक 14 शतीके ग्रन्थकार हैं। फलतः नान्यदेव के अनन्तर भी कालिका पुराण के उद्धरण मिलते हैं। कालिकापुराण कालिदास के कुमारसम्भव से (पञ्चम शती) तथा माघ के शिशुपाल वध से (अष्टमशती का आरम्भकाल) परिचय रखता है। फलतः यह पुराण अष्टमशती (750 ई.) से कथमपि प्राचीन नहीं हो सकता। ग्रन्थ की रचना के अनन्तर प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा पाने के लिए नान्यदेव से दो सौ वर्षों का काल व्यवधान मानना कथमपि अनुचित न होगा। फलतः वर्तमान कालिकापुराण का निर्माण सम्भवतः दशम शती में मानना चाहिए।

साहित्यिक सौन्दर्य

कालिका पुराण का साहित्यिक चमत्कार विशेष दर्शनीय है। भाषा विशुद्ध पाणिनीय संस्कृत है। यह काव्यसौष्ठव से सम्पन्न है। 43 वें अध्याय में पार्वती की तपस्या का विस्तृत वर्णन है। इस अवसर पर यह पुराण कालिदास के कुमारसम्भव का स्पष्ट रूप से अनुकरण करता है। कालिदास ने 'अपर्णा' नाम के लिए जो कारण बतलाया है उसी का अक्षरशः अनुकरणकर्ता पुराण अपने को कालिदास का अधमर्ण सिद्ध कर रहा है[10]। इस अवसर पर वसन्त के आगमन का स्निग्ध वर्णन है[11]। पुराण के पन्द्रहवें अध्याय में वर्षा का बड़ा ही रसपेशल, मधुर तथा यथार्थ वर्णन उपन्यस्त[12] है। इस वर्णन की चारुता निरखने के लिए दो पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं–

स्निग्धनीलाञ्जनश्याम–मुदिरौघस्य पृष्ठतः।
बलाका राजिर्भात्युच्चैर्यमुनाघुष्टफेनवत्॥

(कालिका-पुराण 15/8)

आशय है कि चिकने नीले आँगन के तरह काले-काले बादलों की पीठ पर बगुले की पाँत वैसी ही शोभा पाती है जैसी श्याम यमुना जल के ऊपर घुटे हुए सफेद फेन। कितनी सुन्दर उपमा है।

वाताहता महावृक्षा नृत्यन्त इव चाम्बरे।
दृश्यन्ते हर भीरूणां त्रासकाः कामुकेप्सिताः॥

(कालिका-पुराण 15/9)

हवा के थपेड़े खाने से हिलते-डुलते हुये बड़े-बड़े पेड़ आकाश में नाचते हुए प्रतीत होते हैं। ये वृक्ष विभिन्न जनों के हृदय में भिन्न प्रकार की भावना प्रकट करते हैं। भीरु जनों के हृदय में भय पैदा कर रहे हैं, परन्तु कामी जनों के हृदय में आनन्द उत्पन्न कर रहे हैं।

कालिकापुराण देवों तथा देवियों की स्तुति के लिए सर्वथा रमणीय रहेगा। ये स्तुतियाँ दार्शनिक आध्यात्मिकता एवं साहित्यिक सौन्दर्य दोनों से सर्वथा अलंकृत हैं। विष्णु की स्तुति (अध्याय 20), गोविन्द की स्तुति (अध्याय 30), शिवकी स्तुति (अध्याय 18) तथा देवी की गीतिमयी स्तुति

(अध्याय 76)–साहित्यिक सुषमा, कोमल पदविन्यास एवं गाढ़ भक्तिभावना के कारण कालिकापुराण को कोमल काव्यमय विग्रह प्रदान कर रही हैं। एक दो उदाहरण सुषमा के परिचायक होगें :–

विष्णु की स्तुति[13]

निराकारं ज्ञानगम्यं परं यत् नैव स्थूलं नापि सूक्ष्मं न चोच्चैः।
अन्तश्चिन्त्यं योगिभिर्यस्य रूपं तस्मै तुभ्यं हरये मे नमोऽस्तु ॥

शिव की स्तुति[14]

विभिन्नवाय्वग्निजलौघवर्जितं न दूरसंस्थं रविचन्द्रसंयुतम्।
त्रिमार्गमध्यस्थमनुप्रकाशकं तत्त्वं परं शुद्धमयं महेश्वर ॥

देवी की स्तुति[15]

जय जय देवि सुरगणार्चित पादपङ्कजे
विश्वस्य भूतभाविनि शशिमौलि-केलिभाविनि गिरिजे।
नेत्रत्रयनिर्जित-विवस्वद् विद्युद्वह्निकान्तितुलितकमलजे
मध्यनेत्रगतभ्रूभङ्गभक्तरक्तमतिचयज्वायक विमलजे ॥

भगवती देवी की यह गौरवमयी गीतिका तान्त्रिक सिद्ध की भक्तिमयी गीर्बाणवाणी का मधुमय प्रसाद है। यह मनोहर गीतिका है जिसका मधुर गायन वीणा पर बड़ी सरसता से किया जा सकता है। यह गीतिका सचमुच भक्तिरसाप्लुत हृदय का अमृतमय उद्‌गार है। इस गीतिका के लिये भी यह कालिकापुराण साहित्य संसार में चिर स्मरणीय रहेगा। अन्तमें, भगवती के चरणारविन्दमें यह चिन्तन भक्तिभावना से संप्लुत हृदय से समर्चित किया जा रहा है, जिससे उनकी कृपाधारा के कतिपय कणों को पाकर लेखक एवं पाठक दोनों धन्यंमन्य बन जायँ।

सा पातु नः सकलयोगिजनस्य चित्तेऽ–
विद्यातमिस्रतरणिर्यतिमुक्तिहेतुः।
या चास्य जन्तुनिबहस्य विमोहिनीति
माया विभोर्जनुषि शुद्धकुबुद्धिहन्त्री ॥[16]



---

1. इति वः कथितं पुण्यं पुराणं कालिकाह्वयम्।
   मन्त्रयन्त्रमयं शुद्धं ज्ञानदं कामदं परम् ॥
   इति गुह्यतमं लोके वेदेषु च तथा द्विजाः ॥
   –कालिका-पुराण 90/29-30
2. नित्या सा नित्यरूपेण जगद्‌गर्भे प्रकाशते।
   ज्योतिःस्वरूपेण परा व्यक्ताव्यक्तप्रकाशिनी ॥
   –कालिका-पुराण 6/69

3. परा परात्मिका शुद्धा निर्मला लोकमोहिनी ।
त्वं त्रिरूपा त्रयी कीर्तिर्वार्ताऽस्य जगतो गतिः ॥
—कालिका-पुराण 8/16
4. एकैव तु महामाया कार्यार्थं भिन्नतां गता ।
कामाख्या तु महामाया मूलमूर्तिः प्रगीयते ।
पीठैर्भिन्नाह्वया सा तु महामाया प्रगीयते ॥
—कालिका-पुराण, 58 अ. 51-52 श्लो. ।
5. कामकाले शिवप्रेते न्यस्तलोहितपंकजे ।
रमते त्यक्तकामा तु सितप्रेतोपरिस्थिता ॥
—वही 58/58
6. कालिका-पुराण 70. अ. 4-12 श्लोक ।
7. वही, 10/6 ।
8. करुणं गौडदेशे प्रसिद्धम् ।
9. इति रोविन्दकं समाप्तम् । कालिकाख्यपुराणे । यत्पुराणे पुरुषेरितं रोविन्दकाभिधं गीतं नान्यमहीभुजा । इति ।
रोविन्दकं प्रोक्तं स्यादुत्तरमतः परम् ।
—भाष्य का हस्तलेख, पृ. 132, मद्रास ।
10. क्रमेण तु तदा पर्णं निरस्य हिमवत्सुता ।
निराहारव्रता भूत्वा तपश्चरणखिन्निका ॥
आहारे त्यक्तपर्णाऽभूद् यस्माद् हिमवतः सुता ।
तेन देवैरपर्णेति कथिता पृथिवीतले ॥
—कालिका-पुराण 43/36-37
11. वही, 42 अ., श्लोक 136-143 ।
12. वही, 15 अ. श्लोक 2-18 ।
13. वही, 22/51 ।
14. वही, 18/73 ।
15. वही, 76 अध्याय 96 श्लोक ।
16. वही, 1 अध्याय, 2 श्लोक ॥

सांख्य-ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी अथवा निरीश्वरवादी

प्रो. लल्लनजी गोपाल

प्राचीन भारत में दर्शन का उद्भव प्रायः धर्म के अनुषङ्ग के रूप में हुआ था। दार्शनिक चिन्तन का अस्तित्व अलग-अलग नहीं था। हमें तत्व-मीमांसा के सर्वोच्च स्तर के ग्रंथ और अंश मिलते हैं, किन्तु दार्शनिक विचार का जन्म धार्मिक आवश्यकताओं के संदर्भ में होता था। धर्म की व्यावहारिक अपेक्षाओं को दार्शनिक चिन्तन के द्वारा आवश्यक बौद्धिक पृष्ठभूमि और वैचारिक समर्थन प्रदान किया जाता था। जीवन के दुःखों से निस्तार पाने और मोक्ष-प्राप्ति की लालसा ने अनेक विधियों और मार्गों की प्रस्तावना की। इन विधियों और परंपराओं ने अपने दृष्टिकोण को तार्किक समर्थन देने के लिये संसार और जीवन के प्रश्नों, दुःख के कारणों और दुःख से निस्तार पाने के उपायों के विषय में एक दर्शन की प्रस्तावना की। एफ. एड्गर्टन[1] (F. Edgerton) ने भारतीय चिन्तन की इसी विशेषता को रेखांकित करते हुये कहा है कि इसके उद्देश्य व्यावहारिक हैं, यह सत्य को स्वयं ही एक निरपेक्ष लक्ष्य के रूप में नहीं खोजता, वरन् यह उस सत्य से प्रस्तावित होने वाले मोक्ष के लिये है।

भारतीय दर्शन जिन प्रश्नों का विवेचन करता है उनमें ईश्वर का स्वरूप और उसकी भूमिका का प्रमुख स्थान है। कुछ सीमा तक तो यही विभिन्न संप्रदायों की विशिष्ट पहचान का आधार बना। सांख्य में भी इस प्रश्न का महत्व है। ईश्वर के विषय में सांख्य का मत प्राचीन काल से ही विवेचित और विवादित रहा है। सांख्यकारिका में सांख्य की प्रशस्त (क्लैसिकल) प्रस्तुति में ईश्वर का कोई उल्लेख नहीं है। इसी कारण सांख्य को अनीश्वरवादी कहा जाता है। ईश्वर को नकारना सांख्य की लक्षणात्मक विशेषता मानी जाती है। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि सांख्य और योग के युग्म संप्रदायों के दार्शनिक मत एक जैसे हैं, तीनों में प्रमुख अंतर यह है कि जहां योग ईश्वर की सत्ता का समर्थक है और अपनी दार्शनिक योजना में उसे एक प्रधान भूमिका देता है, वहीं सांख्य अपनी विचार पद्धति में ईश्वर का उल्लेख नहीं करता। सांख्य का अनीश्वरवादी रूप उसकी इतनी गहरी विशेषता मानी जाती है कि इसके कारण प्रायः विद्वान् उसे अवैदिक दर्शन मानते हैं। कुछ तो उसे वेद-विरोधी कह कर उसकी उत्पत्ति अवैदिक स्रोत से बतलाते हैं। आधुनिक विद्वानों का सुदृढ़ विश्वास है कि सांख्यदर्शन अनीश्वरवादी है। उनके इस मत ने सांख्यदर्शन के उनके विवेचन को प्रभावित किया है और उसे एक विशिष्ट दिशा और मोड़ दी है।

यहाँ हम सांख्य वैदिक है अथवा अवैदिक है, इस प्रश्न का सांगोपांग विवेचन नहीं करेंगे। हम केवल ईश्वर के विषय में सांख्य के विचार के मूलभूत प्रश्न तक ही सीमित रहेंगे। इस प्रश्न के विधिवत् विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि हम इसके सभी पक्षों और आयामों का अध्ययन करें। हमें सर्वप्रथम सांख्य के आधुनिक कालीन अधिकारी विद्वानों के मतों का विश्लेषण, उसके अनन्तर प्राचीन कालीन ग्रन्थों में प्राप्य सांख्य के विषय में उल्लेखों का परीक्षण और अन्त में सांख्य-ग्रंथों में ही प्रस्तुत मतों का विवेचन करना होगा। सम्प्रति हम सांख्य पर आधुनिक विद्वानों की व्याख्याओं के विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखेंगे[2]।

आधुनिक विद्वान् सांख्य के अनीश्वरवादी होने के विचार से इतने अधिक अभिभूत हैं कि वे प्राचीन ग्रंथों में इसके विरुद्ध प्राप्य उल्लेखों के साथ न्याय करने में असफल रहे हैं। उन्होंने ऐसे उल्लेखों की कई प्रकार से व्याख्या की है। इन स्पष्ट उल्लेखों की उपस्थिति में भी वे सांख्य के अनीश्वरवादी स्वरूप की अपनी अवधारणा को परिवर्तित नहीं करते। ईश्वर के प्रश्न पर सांख्य के मत में परिवर्तन को वे कई चरणों के रूप में प्रस्तावित करते हैं। इन विद्वानों के अनुसार ईश्वर-कृष्ण के हाथों अपना प्रशस्त अनीश्वरवादी रूप पाने से पहले सांख्य अनीश्वरवादी से ईश्वरवादी और पुनः ईश्वरवादी से अनीश्वरवादी बना। परिवर्तन का यह क्रम सर्वमान्य नहीं है। आधुनिक विद्वान् सांख्य के मूल रूप के विषय में अपने मत के अनुसार परिवर्तन के विभिन्न क्रम प्रस्तावित करते हैं।

रिचार्ड गार्बे (Richard Garbe) ने, जो सांख्य की विस्तृत विवेचना करने वाले प्रारंभिक विद्वानों में से एक थे, सांख्य के अनीश्वरवादी रूप को रेखांकित किया। उनके अनुसार सांख्य में एक या अनेक ईश्वरों के लिये कोई स्थान नहीं है[3]। वह सांख्य को अपने प्रमुख लक्षणों के सहित एक ही व्यक्ति कपिल की कृति मानते हैं[4]; सांख्य के इतिहास में कभी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ[5]। कपिल के मूल सांख्य में ही ईश्वर को नकारना एक प्रमुख लक्षण था[6]।

गार्बे के मत का अनुसरण करने पर हमें यह मानना होगा कि सांख्य बिना किसी पूर्वरूपों के अपने पूर्ण विकसित रूप में अचानक उभरता है। हम यहाँ गार्बे के विचार के सभी तर्काभासों का विवेचन नहीं करेंगे। उनकी प्रस्तुति का मूलभूत दोष है कि वह अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु की व्याख्याओं की दृष्टि से सांख्य-प्रवचन-सूत्र पर निर्भर है। वह सांख्य के दूसरे ग्रन्थों और अन्य प्राचीन कृतियों में सांख्य के उल्लेखों की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार उनके निर्णय ऐतिहासिक दृष्टि से समर्थित नहीं हो सकते। वह मध्य उपनिषदों (कठ और श्वेताश्वतर), महाभारत के शान्तिपर्व में मोक्षधर्म अनुभाग के अध्यायों, गीता और मनुस्मृति के ऐतिहासिक महत्व को समझ सकने में असमर्थ हैं। वह इन संभावनाओं को नहीं स्वीकार कर पाते कि सांख्यकारिका में सांख्य को अपना प्रशस्त रूप ऐतिहासिक परिवर्तनों की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही मिल सका था और प्रशस्त सांख्य से पूर्व सांख्य का एक प्रारंभिक रूप था जो उससे कई महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भिन्न था। उन्होंने इस

सुझाव पर कोई विचार नहीं किया कि सांख्य कुछ वर्गों में और अपने इतिहास के किन्हीं चरणों में ईश्वरवादी था ।

परवर्ती विद्वानों ने इतिहास के तर्कों और प्रमाणों को स्वीकारा और सांख्य दर्शन के विकास को कई चरणों में प्रस्तावित किया, जिसमें ईश्वर के विषय में विचार निर्णायक लक्षणों में से एक रहा है । प्रारम्भ काल के ऐसे विद्वानों में एक जोज़ेफ डॉलमान (Joseph Dahlmann) हैं । उनका मत है कि महाभारत के दार्शनिक अंशों में सांख्य का मूल रूप प्राप्य है[7] । इस चरण में सांख्य और योग दो पृथक् संप्रदाय नहीं थे[8] । सांख्ययोग के रूप में वे एक संप्रदाय थे जो ईश्वरवादी था[9] । डॉलमान पर गार्बे का प्रभाव बना हुआ था । वह एक या दो अपवादों को छोड़कर महाभारत में प्राप्य मूल सांख्य को प्रशस्त सांख्य से अभिन्न मानते हैं[10] । यद्यपि महाभारत के सांख्य और प्रशस्त सांख्य में समानतायें हैं, इनके बीच अन्तर, अधिक न होने पर भी, महत्वपूर्ण हैं । महाभारत के सांख्य की प्रमुख विशेषताओं में से एक है उसका ईश्वरवादी स्वरूप ।

पॉल आल्ट्रामार (Paul Oltramare) ने भी गार्बे की भाँति ही सांख्य के एकीभूत रूप को माना है, जिसमें प्रारंभिक काल से सांख्य-प्रवचनसूत्र और उसकी टीकाओं तक के लम्बे इतिहास में अत्यल्प परिवर्तन हुये हैं । किन्तु गार्बे से वह कई महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भिन्न हैं । उनके अनुसार सांख्य का द्वैत पदार्थ (matter) और चेतन (spirit) के रूप में नहीं है, वह अस्ति (being) और भव (becoming) के रूप में है[11] । आल्ट्रामार ने सांख्य के अनीश्वरवाद की ओर अधिक तार्किक व्याख्या दी है । अस्ति और भव का द्वैत पदार्थ और चेतन के द्वैत से अधिक सांख्य के अनीश्वरवादी रूप के अनुकूल है । अस्ति और भव के भेद में किसी सर्वव्यापक ईश्वर की पृथक् सत्ता के लिये स्थान नहीं है । इस विचार से पृथक् देवताओं का अस्तित्व बाधित नहीं होता । आल्ट्रामार के अनुसार सांख्य का अनीश्वरवाद इन देवताओं को नकारता नहीं वरन् भव की अवधारणा पारंपरिक भारतीय देव-परिवार के इन देवताओं को समाहित करती है[12] । सांख्य दर्शन की प्रस्तुति से इनका कोई विरोध नहीं है । सृष्टि और मनुष्य के मोक्ष के प्रश्नों के लिये इनकी कोई प्रासंगिकता नहीं है । आल्ट्रामार की प्रस्तुति की विशेषता यह है कि उन्होंने यह समझा कि सांख्य पूर्णरूपेण अनीश्वरवादी नहीं है, सांख्यदर्शन सृष्टिकर्ता और अन्तिम आश्रय के रूप में ईश्वर को कोई स्थान नहीं देता ।

वैदिक साहित्य और अन्य संस्कृत ग्रंथों के अपने गहन ज्ञान के कारण हेरमन ओल्डेनबर्ग (Hermann Oldenberg) सांख्य की उत्पत्ति और उसके प्रारंभिक इतिहास को निरूपित करने के लिये सर्वथा सक्षम थे । उन्होंने प्रशस्त सांख्य को उसके पूर्वकालीन रूपों से भिन्न बतलाया और उसको "प्राक्-प्रशस्त सांख्य" (फ़ोर-क्लाशिसे सांख्य Vor Klassisehe Samkhya) की संज्ञा दी । यह मध्य और कनिष्ठ उपनिषदों (कठ, श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय) और महाभारत के दार्शनिक अंशों (गीता और मोक्षधर्म) में मिलता है[13] । कठ उपनिषद् में पूर्णरूपेण ईश्वरवादी दर्शन का प्रतिपादन नहीं है । इसमें पुरुष ब्राह्मण के समान है[14] । श्वेताश्वतर उपनिषद् और गीता में प्राक्-प्रशस्त सांख्य ने और अधिक ईश्वरवादी रूप प्राप्त किया[15] ।

यद्यपि ए. बी. कीथ (A.B. Keith) सांख्य को वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों के चिन्तन से निःसृत मानते हैं[16], किन्तु उन्होंने प्राक्-प्रशस्त सांख्य की प्रस्तुतियों को नहीं स्वीकारा है। उनका मत है कि एक दर्शन के रूप में सांख्य मोक्षधर्म के कुछ परवर्ती अंशों से बहुत पहले का प्रमाणित नहीं होता[17]। एक ब्रह्म को नकारना और व्यक्तिगत आत्मा (पुरुष) को समर्थन देना सांख्य की दो प्रमुख लाक्षणिक अवधारणाओं में से एक मानते हैं। मध्य उपनिषद् (कठ, श्वेताश्वतर, मुण्डक, ईश आदि) ईश्वरवादी या ब्रह्मवादी हैं, अतः कीथ इनकी प्रस्तुति को सांख्य नहीं मानते। कीथ जिनको सांख्य की विशिष्ट पहचान मानते हैं वे वास्तव में ईश्वरकृष्ण द्वारा स्थापित विशेषतायें हैं। सांख्य शब्द का अर्थ शताब्दियों के प्रवाह में परिवर्तित हुआ है और उसी के साथ सांख्य की विशेषताओं और उसके विचार को भी नये रूप मिले हैं। सांख्य दर्शन में परिवर्तन और विकास की ऐतिहासिक संभावना के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। ईश्वरकृष्ण के द्वारा सांख्य दर्शन को सुस्थिर रूप देने के कारण पूर्ववर्ती सांख्य-प्रस्तुतियाँ आच्छादित हो गईं। अतः सांख्य को केवल प्रशस्त सांख्य तक ही सीमित करना युक्ति-संगत नहीं। सांख्य के दीर्घकालीन इतिहास को देखते हुये हमें इसके विकास में कई चरणों को स्वीकारना होगा। यदि हम इन सभी चरणों की पहचान न कर सकें, तो भी हम दो व्यापक अवस्थाओं को मान्यता दे सकते हैं–प्राक्-प्रशस्त सांख्य और प्रशस्त सांख्य।

यही आलोचना कीथ के द्वारा महाभारत के प्रमाण की विवेचना के विषय में भी लागू होती है। कीथ के अनुसार महाभारत में मोक्षधर्म और दूसरे दार्शनिक अंशों में विविध प्रकार के विचार मिलते हैं[18]। वह केवल उन्हीं कुछ अंशों को[19] सांख्य की प्रस्तुति मानते हैं जो पंचविंश तत्त्वों का उल्लेख करते हैं और ईश्वर और ब्रह्म को स्पष्ट अस्वीकार करते हैं। वे अन्य अंशों में सांख्य की पहचान नहीं देखते हैं। किन्तु वे यह अवश्य कहते हैं कि इन सभी अंशों में एक स्पष्ट ईश्वरवादी छाप और वेदान्ती विचार है[20]। कीथ इन अंशों को सांख्य से संबंधित नहीं कहते। अतः उनके द्वारा सांख्य के इतिहास में ईश्वरवादी चरण को स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठता। गार्बे की भाँति वे भी सांख्य को मूलतः अनीश्वरवादी मानते हैं।

एफ. एड्गर्टन का मत है कि आरंभ में सांख्य का अर्थ था ज्ञान के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की एक विधि, किन्तु इसमें ज्ञान के विषय-तथ्यों की कोई पहचान नहीं थी[21]। एड्गर्टन के अनुसार उपनिषदों और गीता में सांख्य का यही अर्थ है, यह तत्त्वमीमांसा की किसी एक परंपरा का द्योतक नहीं है[22]। सांख्यकारिका की रचना के अनन्तर ही सांख्य नाम एक विशिष्ट विचार-परंपरा से जुड़ा जिसमें आत्मा की अनेकता और परमात्मा की अस्वीकृति के सिद्धान्त थे[23]। एड्गर्टन उन कुछेक विद्वानों में से हैं जिन्होंने सांख्य के अनीश्वरवादी या निर्ब्रह्मवादी होने के प्रचलित विचार का खण्डन किया।

एड्वर्टन का यह सुझाव युक्तिसंगत है कि सांख्य मूलतः ज्ञान के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग का सूचक था। किन्तु उन्होंने उपनिषदों और महाभारत में मोक्षधर्म के अध्यायों के सबल प्रमाण की उपेक्षा की है। इनसे स्पष्ट है कि सांख्यकारिका की रचना से बहुत पहले ही सांख्य एक विशिष्ट

दर्शन के रूप में स्थापित हो गया था। एड्गर्टन ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि स्वयं सांख्यकारिका[24] में उसके समय से पूर्व एक दर्शन के रूप में सांख्य के समृद्ध और दार्घकालीन इतिहास का उल्लेख है। सांख्यकारिका में प्राप्य पूर्णतः विकसित प्रस्तुति को ही सांख्य का सर्वप्रथम रूप मानने में एड्गर्टन ने वैसी ही त्रुटि की है, जैसी गार्बे ने सांख्य को एकाश्मीय (monolithic) दर्शन बतलाकर की थी। इसी प्रकार सांख्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन की संभावना को दुत्कार कर वह उपनिषदों और महाभारत में ईश्वरवादी रूझान वाले अंशों के साथ न्याय नहीं कर सके।

एड्गर्टन ने महाभारत 12.289.3 में "अनीश्वर" शब्द की व्याख्या "जिसका कोई ईश्वर नहीं है" (he who has no lord) के स्थान पर आत्मा (soul) अथवा परब्रह्म (highest self) किया। यह महाभारत के इस अंश में सांख्य के अनीश्वरवादी होने का प्रमाण खोजने वालों का युक्तिसंगत विरोध था। किन्तु जो बात एड्गर्टन का ध्यान नहीं आकर्षित कर सकी वह यह थी कि सांख्य के अनीश्वरवादी होने या न होने के प्रश्न का विवेचन मुख्यतः सांख्य के सुनिश्चित ग्रंथों के आधार पर ही होना चाहिये। यह तो निर्विवाद है कि सांख्यकारिका में सांख्य के प्रतिपादन में ईश्वरवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। एड्गर्टन ने सांख्य के अनीश्वरवादी न होने के अपने मत की संपुष्टि सांख्यकारिका और दूसरे सांख्य ग्रंथों में प्राप्य सांख्य के स्वरूप की व्याख्या के आधार पर नहीं की है।

जिन विद्वानों ने उपनिषदों, मोक्षधर्म, गीता और दूसरे पूर्वकालीन ग्रंथों के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करके सांख्य के विकास के इतिहास के कई चरणों का निर्धारण किया है। उनमें सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, ई. एच. जान्स्टन (E.H. Johnston) और ई. फ्राउबालनर (E. Frauwallner) के नाम प्रमुख हैं। कुछ विद्वानों ने इन चरणों की पहचान सांख्य के ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी होने के आधार पर की है। इन चरणों के क्रम इन विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार बतलाये हैं। यह अन्तर इस कारण है कि विद्वानों ने आधारभूत पूर्वकालीन ग्रंथों की तिथि और उनके सापेक्षिक महत्व के विषय में भिन्न-भिन्न मतों की प्रस्तावना की है।

दासगुप्ता ने तीन चरणों की परिकल्पना की है। अहिर्बुध्न्य संहिता में षष्ठितन्त्र की विषय-वस्तु के आधार पर वह सांख्य को मूलतः ईश्वरवादी मानते हैं। चरकसंहिता और महाभारत 12.219 में पंचशिख के विचारों में प्रस्तुत द्वितीय चरण अनीश्वरवादी था। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तृतीय और अंतिम चरण की है जो अनीश्वरवादी है[25]।

जान्स्टन ने पांच स्तरों की पहचान की है जिन्हें तीन प्रमुख चरणों में प्रस्तुत किया गया है[26]। सांख्यकारिका ने सांख्य के प्रशस्त रूप की प्रस्तुति की है जो पंचम स्तर का सूचक है। पहले चार स्तरों को सांख्यकारिका से पूर्व रखा गया है। जान्स्टन ने प्रथम दो चरणों का क्रम बदल दिया है। उन्होंने पहले को आदिम अनीश्वरवादी, द्वितीय को मध्यम ईश्वरवादी और तृतीय को परवर्ती अनीश्वरवादी कहा है। प्रथम चरण में दो स्तर हैं। प्रथम में कठोपनिषद् में सांख्य का अपूर्ण रूप है और दूसरे में अधिक व्यवस्थित रूप है जो कदाचित् वार्ष्णगण्य संप्रदाय द्वारा प्रस्तुत हुआ। दूसरा

ईश्वरवादी चरण श्वेताश्वतर उपनिषद् और भगवद् गीता में प्राप्य है। तृतीय चरण प्रशस्त सांख्य के प्रादुर्भाव से पूर्व का है। इसमें अनीश्वरवादी संप्रदायों ने अपने सिद्धान्त इस प्रकार प्रस्तुत किये कि पूर्ववर्ती ईश्वरवादी स्तर में किये गये परिवर्तनों से सामंजस्य स्थापित हो सके। इस नवीन प्रस्तुति की कुछ प्रमुख विशेषतायें पांचशिख संप्रदाय की देन थीं।

जान्स्टन की संरचना का प्रमुख दोष यह है कि वह अत्यल्प प्रमाणों के आधार पर ही कल्पना का अत्यधिक उपयोग करते हैं। वह कुछ मूलभूत शब्दों, उनके उपयोग और परिवर्तन, के आधार पर सांख्य के इतिहास की संरचना करते हैं। अपने प्रस्तावित चरणों को परिलक्षित करने वाले प्रामाणिक ग्रंथों का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। जान्स्टन ने तिथिक्रम के ज्ञात सूचकों की अवहेलना की है। यथा, परवर्ती वार्ष्णगण्य संप्रदाय को दूसरे स्तर में और पूर्ववर्ती पांचशिख संप्रदाय को चौथे स्तर से जोड़ने का कोई युक्तिसंगत तर्क नहीं है।

फ्राउवाल्नर[27] ने सांख्य के विकास के पाँच चरणों को निश्चित किया है। उनका मत है कि शान्तिपर्व के मोक्षधर्म के तीन अंशों[28] के आधारभूत मूल पाठ में सांख्यसिद्धान्त की प्रथम अभिव्यक्ति प्राप्य है। इसमें उपनिषद् के आत्मा के सिद्धान्त का ही विकास हुआ है। द्वितीय चरण में, जो पंचशिख से संबंधित था, परवर्ती प्रशस्त सांख्य के अधिकांश रूप की अभिव्यक्ति हुई। इसी में विकास के सिद्धान्त और अन्य संबंधित विचारों का प्रवेश हुआ। तृतीय चरण में, जो वार्ष्णगण्य से संबंधित है, कुछ नये सिद्धान्तों को जोड़ा गया जिनमें साठ तत्त्वों (षष्टितन्त्र) का प्रवेश प्रमुख है। सांख्यकारिका में प्रशस्तरूप अन्तिम चरण है। फ्राउवाल्नर ने इन चार चरणों में से किसी भी एक की विशेषता ईश्वर की अवधारणा को नहीं माना है। वह उपनिषदों में वास्तविक सांख्य-विचार को देखने के पूर्णतया विरोधी हैं, वह मोक्षधर्म में प्रभूत सामग्री का सीमित उपयोग करते हैं और ईश्वरवादी उल्लेखों की अवहेलना करते हैं। इन कारणों से सांख्य के इस महत्वपूर्ण पक्ष को वह पृष्ठभूमि में फेंक देते हैं।

भारतीय परंपरा में सांख्य और योग को प्रायः संयुक्त माना जाता है। उनमें बहुत कुछ एक जैसा है। कुछ पक्षों को एक में महत्व दिया गया है और कुछ को दूसरे में विस्तार मिला है। एच. ज़िम्मर (H. Zimmer) इन क्षेत्रों को पृथक् संप्रदाय नहीं मानते। उनका मत है कि दोनों मिलकर एक संप्रदाय है जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्ष है। सांख्य में इस संप्रदाय का सैद्धान्तिक आयाम प्राप्य है और योग में व्यावहारिक आयाम[29]। इसमें यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि ईश्वरवादी विचार को उसके व्यवहार से और अनीश्वरवादी विचार को उसके सिद्धान्त से सरलता से जोड़ा जा सकता है।

जे. डब्ल्यू. हाउएर (H.W. Hauer)[30] और मिर्सिए एलिएद (Mircea Eliade)[31] के दो प्रकाशनों में इस प्रश्न पर इसी प्रकार का विचार अपनाया गया है। उनका प्रमुख रुचि योग में है। वे सांख्य को योग की ही दृष्टि से देखते हैं। वे योग के साथ सांख्य के संबंधों को आवश्यकता से

अधिक महत्व देते हैं, जिसके फलस्वरूप वे सांख्य के स्वरूप और उसके विकास में स्वतंत्र तत्त्वों के साथ न्याय नहीं कर सके हैं।

हाउएर का मत है कि ब्राह्मण धर्म ने व्रात्यों में प्रचलित आद्यतन (Proto) योग को अपना लिया। योग की जो परंपरा योग की चेतना के वैचारिक और अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक परीक्षण को महत्व देती है सांख्य उसी का परवर्ती विकास है। कालान्तर में सांख्य और योग में कुछ अन्य मूलभूत अन्तर उभरे। हाउएर ने सांख्य के इस अनीश्वरवादी और द्वैतवादी स्वरूप को महाभारत 12.289 जैसे प्रारंभिक काल में ही पहचाना है[32]।

एलिएद ने योग और सांख्य को बहुत कुछ एक समान पाया है। इन दोनों में आधार-भूत अत्यल्प भेदों में एक यह है कि जहाँ सांख्य निरीश्वरवादी है, योग ईश्वरवादी है[33]। एलिएद ने सांख्य की विशेषताओं में परिवर्तन को नहीं पहचाना, क्योंकि उन्होंने मोक्षधर्म और दूसरे प्रारंभिक ग्रंथों में सांख्य को एक विशिष्ट दर्शन-परंपरा न मानकर अविशिष्ट दार्शनिक ज्ञान का सूचक एक साधारण शब्द माना है[34]।

आधुनिक काल में सांख्य दर्शन के अध्ययन के इतिहास में प्रारंभिक अवस्था में भी कुछ ऐसे विद्वान् रहे हैं जो सांख्य को निरीश्वरवादी दर्शन की संज्ञा देने के आलोचक थे। इनमें से कुछ ने यह कहा कि सांख्य के पूर्वकालीन ग्रंथ ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्ट नहीं नकारते; वे इस प्रश्न पर प्रायः मौन हैं। कुछ विद्वानों ने इस मौन की दार्शनिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि सांख्यग्रंथों में ईश्वर के स्पष्ट उल्लेख का न मिलना इस कारण नहीं है कि इनका उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं था, वरन् इसलिये है कि वे अपने दर्शन में ईश्वर के लिये तर्क-संगत कोई स्थान नहीं पाते।

मैक्समूलर (Maxmuller)[35] ने यह दिखलाया है कि तत्वसमास और सांख्यकारिका में निरीश्वरवाद की स्पष्ट प्रस्तुति नहीं है। इनमें से किसी भी ग्रन्थ ने ईश्वर या देवों की स्थिति को अस्वीकार नहीं किया है।

सांख्य के अनीश्वरवादी स्वरूप की व्याख्या करने में ए. के. मजूमदार दूसरे छोर पर पहुँच गये हैं। वह सांख्य में ईश्वरवादी अंशों और टीकाओं और परवर्ती सांख्य-ग्रंथों में प्रस्तुत अनीश्वरवादी तर्कों में कोई विरोध नहीं देखते। अनीश्वरवाद के समर्थन के तर्क ही समुचित व्याख्या करने पर ईश्वरवादी हो जाते हैं[36]। किन्तु यह व्याख्या को आवश्यकता से अधिक खींचना है। यह स्पष्ट है कि प्रशस्त सांख्य अपने सिद्धान्तों की प्रस्तुति में अनीश्वरवादी है। टीकाकार सांख्य के अनीश्वरवादी रूप को बिना किसी विवाद के स्वीकार करते हैं। वे सप्रयास यह सिद्ध करते हैं कि सांख्य का अनीश्वरवाद उसकी दार्शनिक मान्यताओं की बाध्यता से उत्पन्न होता है और इसका उनके अपने धार्मिक संप्रदायों की अपेक्षाओं से विरोध नहीं है।

आधुनिक विद्वानों ने ईश्वर के विषय में सांख्य-मत को समझने का प्रयास किया है। एक दर्शन के रूप में सांख्य में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। सांख्य तत्वों की सच्ची तार्किक प्रस्तुति करने

में ईश्वर की दार्शनिक स्वीकृति का कोई औचित्य नहीं रहता। अपने सिद्धान्तों का तर्क की दृष्टि से अनुसरण करने के लिये सांख्य सराहनीय है। अपनी दार्शनिक प्रस्तुति में वह इतर दृष्टिकोणों से प्रेरित नहीं हुआ है। इसने अपने प्रमाणों को उनकी तार्किक परिणति तक पहुंचाया है[37]।

जी. जे. लार्सन (G. J. Larson) ने सांख्य के इतिहास और उसके स्वरूप की अत्यन्त विश्लेषणात्मक और संगत प्रस्तुति की है। उन्होंने सांख्य के प्रशस्त रूप को महत्व देते हुये भी सांख्य के इतिहास के पूरे विस्तार का विचार किया है। उन्होंने पूर्ववर्ती विद्वानों के शोधों का भी विवेचनात्मक और समीचीन उपयोग किया है[38]। सांख्य के विकास के ऐतिहासिक अध्ययन की वांछनीयता के प्रति वह जागरूक हैं[39]। उन्होंने स्वयं प्रशस्त सांख्य के ऐतिहासिक विकास को निरूपित करने का प्रयास किया है[40]। वह ईश्वरकृष्ण के प्रशस्त सांख्य से पूर्व दो स्तरों को मानते हैं। प्रथम को उन्होंने प्राचीन परिकल्पनायें कहा है। इसमें उन्होंने वेदों और प्राचीनतम उपनिषदों में अनेक बिन्दुओं, भावों और विचार-संरचनाओं को खोजा है जो परवर्ती काल में सांख्य सन्दर्भ में समाहित किये गये। द्वितीय स्तर सांख्य परिकल्पनाओं का है। इसमें वह कठ, श्वेताश्वतर, मैत्री और दूसरे परवर्ती उपनिषदों, चरक और पंचशिख, अश्वघोष के बुद्धचरित, मोक्षधर्म और गीता का विचार करते हैं। उन्होंने विविध परंपराओं का उल्लेख किया है, किन्तु उन्हें तिथिक्रम से संजोने का प्रयास नहीं किया है। इस स्तर के ग्रंथों में अद्वैतवादी प्रवृत्तियाँ द्वैतवादी प्रवृत्तियों के समानान्तर चलती हैं अथवा उन्हें समेटे रहती हैं और कई स्थलों पर ईश्वरवादी प्रभाव मिलता है[41]। लार्सन के अनुसार इस स्तर में हम विकासवादी दृष्टिकोण से परिकल्पित चतुर्विंशति तत्त्वों के एक सिद्धान्त के उद्‌भव को रख सकते हैं जो मूलतः द्वैतवादी और अनीश्वरवादी है और जो ज्ञान के द्वारा मुक्ति को महत्व देता है[42]।

लार्सन ने मध्यम मार्ग अपनाया है। वह इस प्रश्न की विवेचना नहीं करते कि सांख्य ईश्वरवादी है अथवा अनीश्वरवादी। उनके अनुसार सांख्य निरीश्वरवादी (non-theistic) था, अनीश्वरवादी नहीं। महाभारत 12.289.3 में "अनीश्वर" शब्द की व्याख्या वह इसी प्रकार करते हैं[43]। उन्होंने "अनीश्वरः कथं मुच्येत्" का अनुवाद किया है "वह जिसका कोई ईश्वर नहीं है किस प्रकार बचाया जा सकता है" जिसका अर्थ है कि पुरुष, जिसके लिये ईश्वर अप्रासंगिक है, किस प्रकार मुक्त हो सकता है। लार्सन का मत है कि इस दृष्टिकोण से ईश्वरवाद पर सांख्यकारिका के विचार की व्याख्या हो जाती है। इस ग्रंथ में देवताओं की स्थिति को नकारा नहीं गया है। कारिका 53 और 54 में उनका उल्लेख है किन्तु उन्हें प्रकृति के अन्तर्गत रखा गया है। अतः मोक्ष के दृष्टिकोण से ये अप्रासंगिक हैं। यह निरीश्वरवादी विचार दीर्घकाल तक सांख्य की विशेषता रहा है। लार्सन का मत है कि सांख्य-प्रवचन-सूत्र में सर्वप्रथम एक स्पष्टतः अनीश्वरवादी सिद्धान्त की प्रस्तुति का प्रयास हुआ[44]।

सांख्य सिद्धान्तों की ऐतिहासिक प्रस्तुति करने में लार्सन का संकोच उचित ही है। प्रारंभिक काल के लिये उपयुक्त ग्रंथों का अभाव और प्राप्य उल्लेखों को तिथिक्रम से संजोने में अनिश्चय

इस प्रकार के किसी भी प्रयास को निरुत्साहित करेंगे। किन्तु विकास के तिथिगत क्रम की स्थूल रूप-रेखा के पर्याप्त संकेत प्राप्य हैं; अतः लार्सन से अपेक्षित था कि वे पूर्ववर्ती कुछ विद्वानों का अनुसरण करके ऐसा प्रयास करते।

सांख्य का दृष्टिकोण निरीश्वरवादी है, लार्सन का यह मत मुख्यतः मोक्षधर्म के पद्यांश के प्रमाण पर आधारित है। उन्होंने अन्य सांख्य ग्रन्थों का सविस्तार विवेचन नहीं किया है, केवल सांख्यकारिका की कारिका 53 और 54 का संक्षिप्त उल्लेख किया है। उनका यह मत स्वीकृत नहीं हो सकता कि सांख्य का निरीश्वरवादी रूप मोक्षधर्म के काल से चलता रहा और सांख्यप्रवचनसूत्र के द्वारा ही निरीश्वरवाद से अनीश्वरवाद में परिणत हुआ। लार्सन ने सांख्य-प्रवचन-सूत्र का काल चौदहवीं शती के अनन्तर किन्तु सोलहवीं से पूर्व रखा है[45]। सांख्यकारिका की टीकाओं से स्पष्ट है कि प्रचलित मत के अनुसार सांख्य अनीश्वरवादी था और उन्होंने अनीश्वरवादी तर्क के विरुद्ध सभी आपत्तियों पर विचार किया। उदाहरण के लिये हम युक्तिदीपिका[46] में इस प्रश्न के विवेचन का उल्लेख कर सकते हैं। डॉ. पुलिन चक्रवर्ती[47] के अनुसार यह टीका सातवीं शती के पूर्वार्ध से पहले की नहीं है और न आठवीं शती से बाद की है।

श्रीमती लतिका चट्टोपाध्याय ने सांख्य में ईश्वर की तार्किक और युक्तिसंगत विवेचना की है[48]। इन्होंने अपने को सांख्यकारिका तक ही सीमित नहीं रखा है, वरन् अन्य सांख्य ग्रंथों, टीकाओं और उपनिषदों, महाभारत और पुराणों में प्रासंगिक अंशों का भी अध्ययन किया है। उन्होंने इस तथ्य को यथोचित स्वीकृति दी कि सांख्य में किसी न किसी रूप में दैवी व्यक्तित्व को स्थान मिला है[49]। सांख्य के ईश्वरवादी अंशों का उसके अनीश्वरवादी तर्कों से सामंजस्य स्थापित करते हुये उन्होंने कहा है "सांख्य दर्शन का ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद में विभाजन क्रमशः तर्क और आस्था को गौण स्थिति देने की ओर संकेत करता है। सांख्य में उपलब्ध अनीश्वरवादी तर्कों से यह निश्चय से सिद्ध नहीं होता कि उनके लेखकों को अवश्य ही दैवी सत्ता में विश्वास नहीं था; इनसे वास्तव में यही सिद्ध होता है कि एक दर्शन के रूप में सांख्य अपनी संरचना में ईश्वर जैसे किसी ऐसे तत्व को स्थान नहीं दे सकता जिसकी स्थापना तर्क प्रक्रिया के फलस्वरूप नहीं हो सकती[50]। सांख्य ने सम्पूर्ण सृष्टि की सिद्धि पुरुष और प्रकृति दो तत्त्वों के माध्यम से की है। सांख्य ने सृजन के स्थान पर विकास को रख कर स्रष्टा ईश्वर को आवश्यक बना दिया। सांख्य में ईश्वर के लिये ऐसा कुछ कार्य नहीं है जिससे उसके अस्तित्व का औचित्य हो[51]। सांख्य ने विभिन्न तत्त्वों की सिद्धि अनुमान के माध्यम से की है और इसी को ईश्वर के लिये भी प्रयुक्त किया गया। सांख्य के द्वारा ईश्वर को नकारने के मूल में यही कारण है[52]। डॉ. चट्टोपाध्याय ने यह रेखांकित किया है कि "ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर आस्था के मार्ग से आता है तर्क के माध्यम से नहीं। ईश्वरवादी सांख्य के अंश और योग में ईश्वर का निरूपण तर्क पर आस्था के प्रभुत्व का सूचक है, यद्यपि यह सांख्य-योग की प्रस्तुति में बाह्य तत्त्व है"[53]।

चट्टोपाध्याय ने सांख्य और योग के बीच सम्बन्ध और अन्तर को स्पष्ट किया है[54]। उन्होंने योग अनीश्वरवादी सांख्य का ईश्वरवादी प्रतिरूप है, इस प्रचलित आग्रह की आलोचना की है। दोनों में वास्तविक अन्तर यह है कि जहाँ योग व्यवहार पर आधारित है, सांख्य का सम्बन्ध मुख्यतः सिद्धान्त से है। व्यावहारिक उपलब्धियों के प्रति अपने लगाव के कारण योग को "अपने क्षेत्र में कुछ नये तत्त्वों को स्थान देना पड़ा जो तर्कसिद्ध न होने पर भी यौगिक क्रियाओं के लिये अनिवार्य हैं। योग में ईश्वर एक ऐसा ही तत्त्व है"[55]। निष्कर्ष रूप में उनका सारांश सांख्य के दृष्टिकोण और ईश्वर के विषय में उसके कथन के बीच दृश्यमान भ्रामक विरोधों की सबसे अधिक ग्राह्य व्याख्या है। "प्रचलित विश्वास के विरुद्ध हमें इस बात को ध्यान देना चाहिये कि इतिहास के क्रम में सांख्य को कई अवसरों पर अपने तार्किक उद्दाम को धीमा करना और वैयक्तिक ईश्वर की व्यावहारिक मांग के अनुरूप अपने को ढालना पड़ा है"।

इस प्रकार हम देखते हैं सांख्य पर पूर्वकालीन अध्ययनों में कुछ त्रुटियाँ और तर्काभास हैं। इसीलिए ये ऐसी कोई व्याख्या नहीं दे सके जो दार्शनिक दृष्टि से संगत होने के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी सही हो। कुछ विद्वानों ने किसी एक विशेष ग्रन्थ में प्रस्तुति को ही सांख्य के सिद्धान्त माना है। कुछ ने पूर्वकालीन ग्रन्थों में सांख्येतर सन्दर्भों में सांख्य मत की प्रस्तुति को अपने अध्ययन के लिये अप्रासंगिक माना है। योग के साथ सांख्य के संबन्धों ने भी आधुनिक विद्वानों की व्याख्याओं को प्रभावित किया है। कुछ विद्वानों ने सांख्य दर्शन को स्थिर और अपरिवर्तनशील माना है और कुछ ने इसके एक-रेखीय विकास की कल्पना की है। सांख्य के विकास के चरणों को ईश्वर-सम्बन्धी विचारों के आधार पर निर्धारित करने के प्रयास स्रोत-सामग्री और उसमें सन्निहित विचारकों के तिथिक्रम के प्रति उदासीनता के कारण दोषपूर्ण रहे हैं।

सबसे अधिक भयंकर भूल इस कारण हुई है कि यह नहीं समझा गया कि अपने इतिहास के सभी कालों में सांख्य का स्वरूप एकाश्मीय नहीं था। यह सही है कि ईश्वरकृष्ण के द्वारा स्थरीकरण ने सांख्य को एक ढाँचा प्रदान किया जिसमें परवर्तीकाल के लेखकों और टीकाकारों ने केवल कुछ छोटे परिवर्तन और संवर्धन का प्रयास किया। प्राक्-ईश्वरकृष्णकाल में सांख्य की प्रस्तुति अत्यन्त विविध और समृद्ध थी, इसे मानना होगा। इस दीर्घकाल में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सांख्य के परस्पर पूर्ववर्ती और परवर्ती स्तर थे, जिनमें से एक ने दूसरे को पूर्णतया निरस्त किया और उसके स्थान पर स्वीकृत हुआ, ऐसा विचार सही नहीं है। भिन्न-भिन्न वर्गों में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी परंपराओं का सह-अस्तित्व था। ईश्वरवादी विचार कुछ उपनिषदों और मोक्षधर्म में सुरक्षित है। परवर्तीकाल में कुछ पुराणों और टीकाओं में उनके लेखकों के सम्प्रदाय-गत आग्रह के कारण ये फिर उभरे थे।

सांख्य और योग परस्पर संबद्ध दर्शन हैं, जिन्हें कभी-कभी एक ही माना गया है। उनमें बहुत कुछ उभयनिष्ठ होने पर भी, उनके अपने अन्तर भी हैं। योग में उसका व्यवहार पक्ष अधिक मुखर है। सांख्य में उसका दार्शनिक पक्ष अधिक उभरा हुआ है। तर्क पर आधारित दर्शन के रूप में

सांख्य को ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में कोई तर्क नहीं मिलता। विकास की प्रक्रिया में सृष्टा ईश्वर के लिये कोई भूमिका नहीं शेष रहती और मुक्त के लिये भी वह प्रासंगिक नहीं रहता। इसीलिये सांख्य ईश्वर का उल्लेख नहीं करता, किन्तु जब सांख्य भी एक व्यावहारिक मार्ग का रूप धारण करता है तो वह भी ईश्वर अथवा देवों का उल्लेख करता है।

इस प्रकार सांख्य को ईश्वरवादी, निरीश्वरवादी या अनीश्वरवादी की संज्ञा देना हमारे विचार करने के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। किन्तु कोई भी एक नामकरण सभी दृष्टियों से समान रूप से सही नहीं हो सकेगा। यह विवेच्य काल और ग्रन्थ के अनुसार परिवर्तित हो सकता है।



---

1. 'द मीनिंग ऑव सांख्य ऐण्ड योग', अमेरिकन जर्नल ऑव फाइलालोजी, खण्ड 45, संख्या 177 (1924), पृ. 1.
2. हमने जी. जे. लार्सन, क्लासिकल सांख्य, पृ. 16-72, 245-56 में आधुनिक विद्वानों की व्याख्याओं की आलोचनात्मक समीक्षा का यथेष्ट उपयोग किया है।
3. दी सांख्य फिलासफी, पृ. 253 आदि।
4. वही, पृ. 46-50.
5. गार्बे (सं.), सांख्यसूत्र-वृत्ति, भूमिका, पृ. 4.
6. दी सांख्य फिलासफी, पृ. 26.
7. दी सांख्य फिलासफी आल्स नातुर्लेहरे उन्द एर्लोसुंग्स्लेहरे, पृ. 1-19.
8. वही, पृ. 5-10.
9. वही, पृ. 12-13.
10. वही, पृ. 6-7.
11. लिस्त्वार द आइदे थियोसोफीक दॉ लिन्द, खण्ड 1 : 'लथियोसोफी ब्राह्मणीक, पृ. 221-30.
12. वही, पृ. 268-71.
13. 'ज़ुर गेशिस्ते देर सांख्य-फिलासफी', नाख़रिश्तेन फ़ोन देर कोनिग्लिशेन-गेसेलशाफ़्ट देर विसेनशाफ़ेन ज़ू गोटिंगेन, फ़िलोलोगिश-हिस्तोरिशे क्लासे आउस देम जाह्रे, 1917, पृ. 218.
14. वही, पृ. 223.
15. वही, पृ. 226, आदि, 233 आदि।
16. द सांख्य सिस्टम, पृ. 8
17. वही, पृ. 65.
18. वही, पृ. 36.
19. महाभारत 12.289.1 आदि; 12.294.297 आदि
20. द सांख्य सिस्टम, पृ. 36-37.
21. द बिगिनिंग्स ऑव इण्डियन फिलासफी, पृ. 24 आदि; 'द मीनिंग ऑव़ सांख्ययोग, पूर्वोद्धृत, पृ. 16.
22. द मीनिंग ऑव सांख्य ऐण्ड योग, पूर्वोद्धृत, पृ. 32.
23. वही, पृ. 34.
24. कारिका 71-73

25. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी खण्ड 1, पृ. 219-21.
26. अर्ली सांख्य, पृ. 81-88.
27. हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, पृ. 222 आदि
28. 12.194=247-49=287 (पूना संस्करण, 12.187=239-40)
29. फिलासफीज़ ऑव इण्डिया, पृ. 280.
30. देर योग (स्टुटगार्ट 1958)।
31. योग : इम्मार्टेलिटी एण्ड फ्रीडम। इसका अंग्रेजी अनुवाद विलियम आर. ट्रास्क द्वारा (न्यूयार्क) 1958 में ही प्रकाशित हुआ था।
32. पूर्वोद्धृत, पृ. 208-9.
33. पूर्वोद्धृत, पृ. 7.
34. वही, पृ. 148-49.
35. द सिक्स सिस्टम्स ऑव इण्डियन फिलासफी, पृ. 302 आदि।
36. द सांख्य कन्सेप्शन ऑव पर्सोनैल्टी, पृ. 1.
37. सोवनी, ए क्रिटिकल स्टडी ऑव द सांख्य सिस्टम, पृ. 4.
38. क्लासिकल सांख्य, पृ. 16-72, 245-56.
39. वही, पृ. 73-75.
40. वही, पृ. 77-163.
41. वही, पृ. 139.
42. वही, पृ. 142.
43. वही, पृ. 132-35
44. 1.92-94.
45. वही, पृ. 164.
46. (सं. पी. चक्रवर्ती) पृ. 84-88.
47. ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑव द सांख्य सिस्टम ऑव थॉट, पृ. 161-62.
48. सेल्फ इन सांख्य फिलासफी (कलकत्ता, 1982), पृ. 157-98.
49. वही, पृ. 166-72.
50. वही, पृ. 172-73.
51. वही, पृ. 157-63.
52. वही, पृ. 174.
53. वही, पृ. 177.
54. वही, पृ. 180-82.
55. वही, पृ. 177.

आगम

श्री राममूर्ति त्रिपाठी

आगम–निगम

'निगम' अपौरुषेय, निर्द्धारितानुपूर्वीक, श्रेयस्कर शब्दराशि विशेष है, जबकि 'आगम' पौरुषेय अज्ञातकर्तृक तथा निबद्ध और अनिबद्ध उभयात्मक है। निगम अस्मर्यमाणकर्तृक है और आगम स्मर्यमाणकर्तृक। निगम त्रैवर्णिक है और आगम सार्ववर्णिक। निगम याग-मार्ग है और आगम रागमार्ग। निगम सब का एक है पर आगम सब का अपना अलग-अलग, जो जिसके लिए फलीभूत है, वह उसका आगम है। आगम 'उपक्रम' है और निगम उपसंहार–इसलिए तत्त्वतः दोनों का अविरोध होने पर भी एक का स्वरूप अन्य के अनुरूप निर्द्धारित होता है। उपक्रम और उपसंहार से एक ही तत्त्व की चर्चा होती है, पर उपक्रम प्रतिपाद्यभूत या वाच्यभूत उपक्रमण में नियमतः क्रियाशीलता की ओर केन्द्रित होता है, जबकि निगम अपने वाच्यभूत अर्थ उपसंहरण में क्रियाशीलता की ओर इंगित नहीं करता–इसीलिए आगमसम्मत दर्शन प्रत्यभिज्ञा प्रकाशाद्वयवादी होता हुआ भी स्वयं विमर्शनात्मक क्रिया से अपने को शून्य नहीं मानता, जबकि निगम का चूडान्त दर्शन अद्वैतवेदान्त प्रकाशतत्त्व को विमर्शमय या स्पंदात्मा नहीं मानता। ज्ञान और क्रिया के बीच क्रिया को महत्त्व देने वाले उपक्रम का भी पराक्रम अधिक मानते हैं और जो लोग क्रिया की अपेक्षा प्रकाश को ही (अधिक) महत्त्व देते हैं, वह निगम का वैशिष्ट्य बताते हैं। अर्थात् जहाँ आगम भोग और मोक्ष दोनों को चरम प्रयोजन मानते हैं। 'वहाँ' निगम केवल मोक्ष को। इसीलिए आगमिक धारा का प्रत्यभिज्ञा दर्शन जहाँ जगत् को सत्य मानता है, वहाँ निगम का चूडान्त अद्वैतदर्शन उसे मिथ्या मानता है। न्यायदर्शन के अनुसार 'आगम' प्रतिज्ञा है और निगमन 'सर्वेषामेकार्थ-समता सामर्थ्य-प्रदर्शन' है–एक में सब का निर्वहण है। दूसरे विद्वान् 'आगम' में उपासना या राग की और 'निगम' में ज्ञान, उपासना, तथा कर्म का प्रतिपादन देखकर कहते हैं–"निःशेषेण गमो बोधो यस्मात् स निगमः' । इसके साथ ही–

"आ ईषद् अंशतः उपासनाख्यांशस्य गमो बोधो यस्मात्स अगमः", कहा भी गया है–

"अमान्ये शिवमार्गेऽस्मिन् राग एव प्रशस्यते" ।

'आगम'–शब्दार्थ निर्वचन

'निगम' से 'आगम' का अन्तर कर लेने के बाद व्युत्पत्ति के सहारे भी 'आगम' का स्वरूप-निर्वचन सम्भव है, परिभाषाएँ तो हैं ही।

(क) सामान्य (व्युत्पत्ति और परिभाषाओं के साक्ष्य पर)–

'आगम' शब्द को कुछ लोग 'रूढ़' मानते हैं और कुछ लोग 'योगरूढ़'। रूढ़ मानने वाले निम्नलिखित श्लोक का साक्ष्य देते हैं–

"आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखम्।
मतं च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते" ॥

इस श्लोक में 'आगत' 'गत' तथा 'मत'–पदों का आद्य अक्षर (आ ग म) ले लिया गया है और 'आगम' संज्ञा बना ली गई है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है वह शास्त्र 'आगम' है, जो शिव के मुख से निकला हो, गिरिजा के मुख में गया हो और वासुदेव ;द्वारा मननगोचर हुआ हो। पर इस परिभाषा द्वारा अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं हो पता, फलतः योगरूढ़ि से अर्थ ग्रहण करना उचित है। योगरूढ़ अर्थ की ओर संकेत करते हुए स्वामी करपात्रीजी ने कहा है–'आगच्छति–इति आगमः'। इसी को आधार बनाते हुए स्वामी सीताराम शरणजी ने कहा है–"जो रहस्य या सत्य परम्परा या गुरु परम्परा से आ रहा हो–वही आगम है। औरों ने भी इसे मान्यता प्रदान की है।

डॉ. शशिभूषण दास गुप्त, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज तथा पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय–आदि तंत्र के नव व्याख्याकारों ने न केवल भारतीय भूमि पर; अपितु अन्तर्राष्ट्रीय भूमि पर इस धारा का गुह्य मंडलियों में अविगीत 'प्रसिद्धि' स्वीकार की है और ऐसे संकेत संहिताओं तथा उपनिषदों से ढूंढ़ निकाले हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि निगम आगमसम्मत रहस्य साधनाएँ साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं। फिर जो सम्प्रदाय या उपासक इस अन्तःप्रवाहित धारा से जुड़ता गया, वह आगमिक अन्तस्तत्त्व को अपने अनुरूप ग्रहण करता गया। मेरा यह विश्वास है कि जिस प्रकार विज्ञान के सत्य सार्वभौम होते हैं, उसी प्रकार अध्यात्म विज्ञान के भी। इतना अवश्य है कि ज्ञान वस्तु के अधीन रहता है, जबकि उपासना में वस्तु उपासक की इच्छा के अनुरूप गृहीत होती है। उपासना इच्छाधीन होती है, अतः उस सन्दर्भ में उपासक की इच्छा तृप्ति के लिए आराध्य तदनुरूप गृहीत होता रहता है। मतलब ज्ञान वस्तु के और भक्ति (उपासक की) इच्छा के अधीन होती है। इस प्रकार उपासक की उपासना में तत्त्व का रूप उसकी स्वारसिकी वासनावश भिन्न-भिन्न हो सकता है।

आगम के योगरूढ़ अर्थ का दार्शनिक स्तर पर भी व्याख्यान हुआ है, जिसका समय-समय पर पौराणिकीकरण भी होता रहा है। 'आगम' शब्द की व्याख्या करते हुए 'स्वच्छन्दतंत्र' में कहा गया है–

"आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः"।

गति या गम ज्ञान ही है–आगम एक ऐसा परिपूर्ण ज्ञान है, जो सर्वतोमुखी और सम्यक् है। टीकाकार ने मूलकार के आशय का उपबृंहण करते हुए कहा है–

अनन्ताः शास्त्रकोटयः यः पारमेश्वर आगमः तज् ज्ञानपराः–शक्तिस्फाररूपमित्युक्तम् । आसमन्तातु गमयति अभेदेन परामृशति पारमेशं रूपमिति कृत्वा या पराशक्तिः, सैवागमः तत्प्रतिपादकः शब्दसन्दर्भः तदुपायत्वात् शास्त्रस्य ।

अर्थात् अनन्त शास्त्रकोटियाँ ही पारमेश्वर आगम हैं–वह ज्ञानमयी हैं। शक्ति का ही वह विस्फार है अथवा तत्त्वतः वह शक्ति ही आगम है, जो अभिन्न रूप से पारमेश रूप का विमर्शन कराती है–तत्परक शब्दसन्दर्भ और स्वरूप विमर्श में उपायभूत तत्तत् शास्त्र भी आगमपद पदवाच्य हैं। शब्द के बिना न स्वयं विमर्शन सम्भव है और न ही अन्यत्र उसकी संक्रान्ति। अतः विमर्शन में उपयोगी होने के कारण शब्द को भी आगम कहा जाता है। आगमों में परस्पर विरोधी अर्थ भी होते हैं। उसका कारण वस्तुतः जिस साधक का जिस शब्द में दृढ़ विमर्श या विश्वास हो–वही उसका आगम है। व्यक्तिभेद से जिस प्रकार उपचार और निदान भिन्न होता है–वैसे ही साधक संस्कार-भेद से उसके अपने मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। फलतः जिसका जो शब्दात्मक आगम है, वह उससे जैसे भी विमर्शन करेगा, उसके लिए वैसा ही घटित होकर रहेगा। उसका प्रामाण्य तर्क सापेक्ष नहीं, अपितु प्रसिद्धि और क्रमागत परम्परा से प्राप्त होने के कारण स्वयं है। इस दृष्टि से शैवशास्त्र और वैष्णव ही आगम नहीं है–बौद्ध और जैन भी आगम हैं–वे भी नियत व्यक्ति विशेष से प्रकाशित नहीं हैं–अपितु परम्परा से उनके आगम भी चले आ रहे हैं। इसी आधार पर डॉ. के. सी. पाण्डेय का कहना है कि इस दृष्टि से न केवल भारतभूमि पर उपलब्ध धार्मिक पुस्तकों के पाठ प्रमाण हैं; अपितु 'कुरान' और 'बाइबिल' भी प्रमाण हैं। जैन और बौद्ध परम्परा भी यही मानती है कि जिन और बुद्ध समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं–वे व्यक्ति नहीं जाति हैं। मिलिन्द ने बुद्ध के लिए बौद्ध परम्परा में और जैनों के लिए जैन-परम्परा में भी यही प्रसिद्धि बताई है।

आगम का अर्थ अवतरण भी है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए आगमिकों ने बताया है कि आगम मूल में परावाक् के रूप में रहता है। वही पश्यन्तीभाव में अवतीर्ण होकर मध्यमाभाव में स्थित होती है–तब परिमित प्रमाता के द्वारा अधिकृत होती है। वस्तुतः प्रकाशमय शिव के स्वभाव में स्थित यह व्यापार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों का उपजीव्य है–इसलिए वह पर-प्रमाता का व्यापार होने से नित्य माना जाता है। इसे और स्पष्ट किया जाय तो यह कहना होगा कि चरम सत्य रूप परावाक् परपरामर्शमय बोध रूप है। वही विभिन्न अवस्थाओं में रूपान्तरित होती है। 'पश्यन्ती' उसी की बहिर्मुख अवस्था है। इसी बहिर्मुखी भाव में परबोधात्मक शास्त्र 'अहमि''त्याकारक-परामर्शरूप में अन्तर में उदित होता है। उस भूमि के प्रत्यवमर्शक प्रमाता द्वारा परामृश्यमाण वाच्यार्थ रूप में नहीं, अपि तु अहन्ताच्छादित होकर प्रतीत होता है। उसके बाद तीसरी अवस्था आती है–मध्यमा। यहाँ परवर्ती 'पश्यन्ती' का आन्तरविमर्श विततरूप में–वाच्यवाचकभाव रूप में उल्लसित होता है। फिर भी यहाँ वह भेद नहीं है, जो वैखरी स्तर पर होता है। यह भूमि कई दृष्टियों से महत्त्व की है। यही वह भूमि है, जहाँ परसत्ता चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप पंचमुख का प्रकाश करती है और सदाशिव तथा ईश्वर दशा का आश्रय लेकर गुरु-शिष्य भाव

का परिग्रह धारण करती है। इसी परम्परा से आगम का अवतरण होता है। वैखरी भूमि पर यह स्फुटतर होता है—मध्यमा भूमि पर स्फुट रहता है।

यही वह भूमि है जहाँ चिन्मरीचिमय मंत्रों का उदय होता है। यहाँ वर्ण समष्टिमय मंत्र चैतन्य या जागृत होते हैं—पर वैखरी स्तर पर शब्द जड़ होता है। वे केवल मध्यमा स्तर के मंत्रों के स्मारक होते हैं। मंत्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश करती रहती है। वैखरी का स्थान स्थूल है—यहीं से वह मुद्रित होती है। इसके मूल में मानसिक चिन्ता, मनोगत भाव या अर्थ जडीभावापन्न हो जाते हैं। यही वह भूमि है, जहाँ शब्द और अर्थ का भेद स्पष्ट होता है। इस भूमि में स्मृति परिशुद्धि नहीं होती—स्मृति में सांकर्म रहता है—स्मृति परिशुद्धि के द्वारा सांकर्य का निराकरण होता है—यह निराकरण मध्यमाभूमि में आरूढ़ होने का आनुषंगिक फल है। वाक् के साथ प्राण और मन का तो अविनाभाव सम्बन्ध है ही, चित् का भी सम्बन्ध है—पर वह यहाँ आवृत रहता है। दीक्षा और अभिषेक से मध्यमाभूमि पर आरोहण होता है। पशुभाव (वैखरी) से दिव्यभाव (पश्यन्ती) आने के लिए मध्यमा मध्यवर्ती भूमि है।

मध्यमा भूमि में ही परावाक् पंचमुखी आत्मप्रकाशन करती है—इसी का पौराणिकीकरण हुआ है और कहा गया है कि शिव (सदाशिव) के पंचमुख से शैवागमों का उद्धार हुआ है। कहा गया है—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैः तंत्रं समवतारयत्॥

सदाशिव विमर्शशक्ति संविद् को ही शिष्य बनकर आगम को अवतीर्ण करते हैं। यह वह भूमि है, जहाँ नित्यसिद्ध विभव ज्ञान नादरूप से प्रकाशित होता है। इसके अतिरिक्त यह नाद और कुछ नहीं। शिवतत्त्व में शक्ति का सतत चलन स्पंदन ही है या चित् शक्ति के स्फुरण से महामाया का अवाङ्मुख होना है और यही चलन शब्द का मूल है। शिव कारण है और सदाशिव से भूमि पर्यन्त सभी कार्य हैं। शिव ही अमूर्तसादाख्य, मूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य, कर्मसादाख्य और शिवसादाख्य रूप में पंचमुख हैं—इन्हीं का नामान्तर वामदेव, अधीनर तत्पुरुष, सद्योजात और ईशान है। 64 शैवागम इन्हीं मुखों से निःसृत हैं। ये पाँचों मुख मंत्रमय हैं—इन्हीं से दिव्यागम प्रसूत है। ये पाँच सादाख्य नाम देवादि पंच भूमियाँ हैं। ये ही पाँच आम्नाय हैं।

●

तुलनात्मक दर्शन : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

श्री रेवतीरमण पाण्डेय

तुलनात्मक दर्शन से आपाततः यह बोध होता है कि दर्शन की जिस प्रकार अन्यान्य विधाएँ हैं, उसी प्रकार तुलनात्मक दर्शन भी एक-एक दार्शनिक विधा अथवा निकाय है; किन्तु इस शब्द की अर्थ-गवेषणा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे विश्वविद्यालयों में अन्यान्य दार्शनिक विधाओं का अध्ययन-अध्यापन तो होता है; किन्तु तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता है। तुलनात्मक धर्म का अध्ययन-अध्यापन कुछ इने-गिने विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ हो गया है; किन्तु तुलनात्मक दर्शन का अभी तक नहीं। निस्सन्देह, यूरोप में तुलनात्मक दर्शन को "फेनामेनालाजी आफ् फिलासफीज" के रूप में स्वीकारा गया है[1]।

भारतीय विश्वविद्यालयों का सारा प्रारूप आक्सफर्ड एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों को निकष मानकर विलायत से आयातित किया गया है। बहुत लम्बे अर्से तक हम "प्रतीची दर्शन" को दर्शन के रूप में पढ़ते रहे। यूरोप में अभी भी दर्शन विभागों में मात्र पाश्चात्त्य दर्शन का पठन-पाठन होता है। भारतीय दर्शन अथवा एशिया के अन्य दर्शनों का अध्ययन-अध्यापन एशियन अथवा प्राच्य विद्या विभागों, भारतीय विद्या विभागों में होता है। भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शन-विभागों में इस शताब्दी के चौथे एवं पाँचवें दशक में भारतीय दर्शन ने धीरे-धीरे प्रवेश किया। किन्तु केन्द्र में ईसाई-धर्म-दर्शन ही रहा। इस शताब्दी के छठें दशक तक नव्य हेगेलवाद, विशेषतः ब्रेडले का निरपेक्षवाद, दर्शन की चरम निष्पत्ति के रूप में स्वीकारा गया था। पाँचवें दशक से भारतीय दार्शनिकों का एक वर्ग भारतीय दर्शन को विशेषतः शांकर वेदान्त को केन्द्र में ले जाने का प्रयास किया। इस वर्ग के प्रथम भारतीय दार्शनिक आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे हैं, जिन्होंने पारमिनीडीज की व्याख्या शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की। आचार्य अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ने काण्ट की व्याख्या शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की, तो राधाकृष्णन् ने ब्रेडले की, रमाकान्त त्रिपाठी ने स्पिनोजा की। क्यां इसे हम तुलनात्मक दर्शन की संज्ञा नहीं दे सकते ? दो शीर्षस्थ दार्शनिकों की तुलना क्या तुलनात्मक दर्शन नहीं है ? हम प्लेटो एवं अरस्तु की तुलना नहीं करते ? दर्शन के दो ही प्रकार हो सकते हैं—प्लेटोवाद अथवा अरस्तूवाद। हम तुलनात्मक संस्कृति का, तुलनात्मक भाषा विज्ञान का, तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करते हैं, क्या उसी प्रकार का अध्ययन तुलनात्मक दर्शन नहीं है ? यह उसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। यह इस शती की सर्वथा नवीन विधा है।

इस अध्ययन के माध्यम द्वारा प्राची-प्रतीची के समन्वय एवं सम्मेलन पर बल दिया जाता है[2]। "तुलनात्मक अध्ययन" केवल तुलनाएँ ही नहीं होते, वे समाजों, संस्कृतियों और सभ्यताओं के बीच तुलनाएँ होती हैं। उन सीमा-रेखाओं के जो "हम" और "उन" के द्वारा परिभाषित होती हैं, आर-पार विस्तृत तुलनात्मक अध्ययनों का संसार, अनिवार्यतः "उस अन्य यथार्थ" को देखने का फल होता है, जो उस दृष्टि से देखा गया हो वह अनिवार्यतः उस यथार्थ से बाह्य और इतर होता है।[3]

प्राची-प्रतीची, प्राच्य-पाश्चात्त्य शब्दों का क्या आशय है ? क्या यह विभाजन सर्वथा निरपेक्ष है ? यदि देश-काल सापेक्ष हैं, तो उनका विभाजन कैसे निरपेक्ष होगा ? क्या इस्लाम-पूर्व फारस, यूनान एवं भारत के मध्य एक सेतु नहीं था ? क्या यूनान एवं चीन ईसा की प्रथम शताब्दी में सन्नद्ध नहीं हो चुके थे ? यदि यह मान भी लिया जाय कि पाश्चात्त्य धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का प्रमुख उत्स यूनानी-यहूदी एवं ईसाई विचार है, तथापि मिस्र का सांस्कृतिक अवदान पाश्चात्त्य धर्म-दर्शन एवं संस्कृति को क्या कम है ? इसराइल एवं यूनान मिस्र के कितने ऋणी हैं, यह सर्वविदित तथ्य है। यूनानियों को मिस्र एवं यहूदी संस्कृति का पर्याप्त ज्ञान था। क्या विश्वसंस्कृति को मेसोपोटामिया के योगदान को नकारा जा सकता है ? सागर की प्रशान्त गहराइयों में, गिरि-गह्वरों में विश्व के गहन कान्तारों में माया, अन्टेक, अजटेक आदि अनेक संस्कृतियाँ इतिहास के गर्भ में सोयी पड़ी हैं। कभी आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका एवं भारतीय प्रायद्वीप परस्पर सन्नद्ध थे। अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया को हम प्राच्य मानते हैं या पाश्चात्त्य ? रूस को किधर रखा जाय ? प्राची-प्रतीची का, प्राच्य-पाश्चात्त्य का विभाजन सर्वथा सापेक्ष है। ट्वायनबी ने विश्व-संस्कृतियों का इक्कीस प्रकारों में विभाजन किया है, तो नारथ्राप ने नौ प्रकारों में। इस प्रकार प्राची-प्रतीची का, प्राच्य-पाश्चात्त्य का विभाजन सर्वथा सापेक्ष है, तथापि व्यवहार में हम इनका धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। भारत एवं चीन को, अरब एवं इसराइल को प्राच्य माना जाता है, तो यूनान एवं रोम को (यूरोप) तथा अमेरिका को पाश्चात्त्य[4]।

इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन में मात्र तुलना ही नहीं होती, अपि तु वह दो परम्पराओं, समाजों, सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की तुलना के माध्यम से उनमें समन्वय एवं ऐक्य स्थापित कराने का प्रयास होता है, यही तुलनात्मक दर्शन का परम लक्ष्य है। किन्तु हमें भ्रम में रखा गया है। इस प्रकार व्यवहारतः "तुलनात्मक अध्ययनों" का अर्थ था पाश्चात्त्य समाजों और संस्कृतियों द्वारा स्थापित मानदण्डों से दूसरे समाजों और संस्कृतियों को ज्ञान और ज्ञानेतर दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में परखना। इन दूसरे समाजों और संस्कृतियों के विद्वानों ने भी पाश्चात्त्य समाजों को अपने दृष्टिकोण से देखने के बजाय पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा देखे गये मानदण्डों को ही स्वीकार कर लिया और यह सिद्ध करने के प्रयत्न में जुट गये कि उनकी अपनी संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में पाश्चात्त्य संस्कृतियों की उपलब्धियों से तुलनीय उपलब्धियाँ की हैं और वे किसी भी प्रकार से उनसे कम नहीं हैं। इस परिस्थिति ने ऐसे अध्ययनों के उद्‌भव को अवरुद्ध कर दिया, जिन्हें 'तुल्य तुलनात्मक अध्ययन' कहा जा सकता है और जो इन क्षेत्रों में अधिक संतुलित अध्ययनों के आधार बन सकते

थे[5] । इस प्रकार मात्र एक परम्परा रही, वह पाश्चात्त्य परम्परा रही, अन्य परम्परा की स्वीकृति ही नहीं हुई । निस्सन्देह आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी का विकास पश्चिम में हुआ, अतः पश्चिम ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का निकष माना गया । दर्शन के जो भी इतिहास लिखे गये, वे तस्तुतः पाश्चात्त्य दर्शन के इतिहास रहे । रसल पहले विचारक हैं जिन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया । व्यवहारतः सर्वाधिक प्रचलन ख्रिष्टीय सन् का है । हमारे स्वतन्त्र भारत के प्रशासनिक क्रिया-कलाप सन् से नियन्त्रित हैं, हमारी मानसिकता में यह संस्कार इतना गंभीर है कि हम चाहे या अनचाहे पहली जनवरी को ही वर्ष का प्रथम दिन मानते हैं, शुभ-कामनाओं का आदान-प्रदान करते हैं । ऐसा क्यों? ग्रीकाब्द क्यों नहीं ? रोमन सन् क्यों नहीं ? विक्रम संवत् क्यों नहीं ? क्या इसलिए कि ८ वीं शताब्दीपर्यन्त स्वयं अंग्रेज जंगली एवं बर्बर रहे । क्योंकि विगत तीन सौ से अधिक वर्षों तक पूरे विश्व में उनका साम्राज्य था, वह भी ऐसा विशाल साम्राज्य, जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था । समस्त ज्ञान-विज्ञान के वही आदर्श बन गये । "डिक्लाइन आफ् द वेस्ट" में स्पेन्गलर ने अंग्रेजों के ऐतिहासिक बोध पर समीचीन टिप्पणी की है । अमेरिका का कुल इतिहास कितने वर्षों का है ? किन्तु वह पूरे विश्व में ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी का प्रमुख नियामक एवं व्यवस्थापक बन गया है । पाश्चात्त्य विचारकों का दावा है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बोध ही नहीं है । वे ब्रह्मवादी हैं । उनका ब्रह्म महाकाल एवं अकाल है । क्या महाकाल एवं अकाल का भी इतिहास होता है ? कितने राम, कितने कृष्ण, कितने बुद्ध आये, चले गये, एवं आते रहेंगे । कल्प-कल्पान्तर की काल-गणना करने वाले भारतीयों में ऐतिहासिक बोध हो भी कैसे ? हमारी मानसिकता में ईसाई संस्कृति घर कर गयी है । "आक्सफर्ड", "कैम्ब्रिज" एवं अब "हार्वर्ड" एवं "कैलिफोर्निया" हमारी शैक्षिक एवं बौद्धिक ऊँचाई के मापदण्ड हैं । शिक्षा एवं शिक्षाविदों के ये मक्के-मदीने हैं, यह तो समझ में आता है; किन्तु अब देश के प्रशासक भी नियमित रूप से इन विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण हेतु भेजे जा रहे हैं । देश की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है ? ऐसा क्यों ? जहाँ तक इस्लामी दर्शन की बात है, वह सामी दर्शन के अन्तर्गत आ ही जाता है । पाश्चात्त्य-दर्शन के ग्रन्थों में अरबी-दर्शन, पर एकाध अध्याय तो होता ही है । किन्तु उनमें चीनी दर्शन, जापानी दर्शन, अफ्रीकी दर्शन, भारतीय दर्शन का नामोनिशान नहीं । ऐसा भेद-भाव क्यों ? हम अन्यान्य दर्शनों के प्रति भले ही अनभिज्ञ हों किन्तु भारतीय-दार्शनिक परम्पराओं का हमें बोध है । अतः तुलनात्मक दर्शन के सन्दर्भ में अपनी दार्शनिक परम्पराओं पर विचार करना एवं उन पर इस दृष्टि से प्रकाश डालना सर्वथा वांछनीय होगा । किन्तु इसके पूर्व पाश्चात्त्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक दर्शन पर कुछ और विचार कर लें ।

१९२३ में फ्रेंच-प्राच्य-विद्याविद् पाल मैसल आवरसील ने प्रथम पुस्तक "कम्परेटिव फिलासफी" प्रकाशित की[6] । इसके बाद 1953 में इण्डोनेशिया के प्राच्य-विद्याविद् क्ली स्वान लायट की पुस्तक "मैथड्स आफ् कम्परेटिव फिलासफी" प्रकाश में आयी[7] । इसके बाद अमेरिकन प्रो. एम. एस. सी. नारथ्राप की कृति "द मीटिंग आफ् ईस्ट एण्ड वेस्ट" प्रकाशित हुयी । यह एक चर्चित रचना है । प्रो. नारथ्राप के अनुसार प्राच्य अनुभूति-प्रज्ञा प्रधान हैं, तो पाश्चात्त्य बुद्धिप्रधान । वे प्राची-प्रतीची

की अनुभूति एवं बुद्धि के समन्वय के हिमायती हैं। 'यूरोप में तुलनात्मक दर्शन' एक प्रकार की 'फेनामेनालाजी आफ् फिलासफीज' है। पाल मैसल आवरसेल इस धारणा के प्रणेता माने जाते हैं। उन पर फ्रान्स के समाज वैज्ञानिक-अनुभववादियों का भरपूर असर था।

मैसल पाल आवरसेल के अनुसार दर्शन गोचर जगत् का अध्ययन है। कोई भी दार्शनिक अपने देश-काल का, परिवेश का अतिक्रमण नहीं कर सकता। यदि सुकरात अपने परिवेश से अभिभूत हैं तो कन्फ्यूसियस् अपने परिवेश से एवं बुद्ध अपने परिवेश से। इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन किसी काल विशेष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं का परस्पर तुलनात्मक अनुभव-प्रधान अर्थ विवेचन है। यह एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। किन्तु इसकी उपादेयता समाज वैज्ञानिक विषयों के लिए अधिक है। यह बात मात्र इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि कोई बड़ा मानव व्यक्तित्व सर्वथा अपने काल विशेष का प्रतिफल होता है। किन्तु दर्शन मात्र इतना ही नहीं है। इसका उद्देश्य काफी विशाल है। दर्शन मानव एवं जगत् के स्वरूप पर प्रकाश तो डालता ही है, इससे आगे बढ़कर इन दोनों की अर्थवत्ता एवं लक्ष्य पर भी प्रकाश डालता है। इस प्रकार दर्शन जीवन एवं जगत् के प्रति उदात्त दृष्टि देता है। **तुलनात्मक दर्शन समग्र जीवन के प्रति समग्र दृष्टि है। यह अपनी दिव्यता का, पूर्णता का बोध है।** किन्तु ऐसी दृष्टि फेनामेनालाजी में कहाँ संभव है ? इसी कारण प्रो. नारथ्राप ने तुलनात्मक दर्शन को मेटाफिलासफी की संज्ञा दी है; क्योंकि इसमें हम सभी दार्शनिक दृष्टियों का मूल्यांकन करते हैं।

फेनामेनालाजी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हेगेल ने किया—'दि फेनामेनालाजी आफ् स्पिरिट्' जिससे उन्होंने चेतना का विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति एवं समाज के विकास-क्रम को दिखाकर उसके तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अन्तर्निहितों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। ब्रेन्टालों के माध्यम से इस शब्द का यही रूप एडमण्ड हुसर्ल में स्पष्ट हुआ। स्वयं हुसर्ल के दर्शन में फेनामेनालाजी के विकास का एक लम्बा क्रम है, जो गोचर जगत् के वर्णनात्मक अध्ययन से प्रारम्भ होकर अन्त में दार्शनिकता के उस बिन्दु पर ले जाता है, जो सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं, पूर्वाग्रहों एवं पक्षपातों से रहित हो, जो मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक, एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोणों के दोषों से मुक्त हो। इस प्रकार फेनामेनालाजी, दार्शनिक विधा के साथ-साथ एक दार्शनिक विधि भी है। निस्सन्देह हुसर्ल की फेनामेनालाजी फेनामेना-गोचर जगत् के वर्णनात्मक अध्ययन से अवश्य प्रारम्भ होती है; किन्तु इस गोचर जगत् का विषयी-चेतना, विषयापेक्षा का जो उत्स है, उसके स्वरूप एवं संरचना पर भी प्रकाश डालता है। पाश्चात्त्य दर्शन की यह अप्रतिम उपलब्धि है, जो उसे तुलनात्मक दर्शन की अपेक्षाओं एवं उद्देश्य के समीप पहुँचा देती है।

मैक्समूलर आदि पाश्चात्त्य प्राच्य-विद्याविदों ने अपने गम्भीर अध्ययन एवं शोधों से यह प्रमाणित किया है कि यूनानी, ईरानी एवं भारतीय संस्कृतियों का उत्स एक ही है। एथेन्स में सुकरात की मुलाकात भारतीय आचार्यों से हो चुकी थी[8]। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में यूनानी लिपि की चर्चा की है। उन्होंने यूनानियों ही के लिए यवन शब्द का प्रयोग किया है। सभी धर्मों का

उदय प्राच्य में हुआ । इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है ! यूरोप के पुनर्जागरण काल के पूर्व तक प्राच्य चिन्तन छाया था । इस्लाम के विकास ने अवरोध का काम किया; किन्तु पुनः इस्लाम के अवरोध के बावजूद भारतीय विद्या 19वीं शताब्दी में संस्कृतभाषा के माध्यम से यूरोप के सर्वाधिक उर्वर स्थल जर्मनी में छा गयी । गोथे, फिख्टे, शेलिंग, हेगेल, शापेनहावर, मैक्समूलर एवं डायसन ने भारतीय विद्या की भूरि-भूरि प्रशंसा ही नहीं की, इनमें से अधिकांश ने अपने सम्पूर्ण जीवन को भारतीय विद्या के प्रति समर्पित किया । ये सभी हमारे लिए ऋषिवत् परमपूज्य हैं । इन्होंने भारती के गौरव एवं माहात्म्य का भरपूर प्रचार एवं प्रसार किया ।

प्रतीची अपने प्राचीत्व को कैसे नकार सकता है ? सारे धर्म प्राची में उत्पन्न हुए । इस प्रकार प्राची ने प्रतीची को धर्म एवं दर्शन दिया तो 16वीं शताब्दी से प्रतीची ने प्राची को विज्ञान एवं तकनीकी दिया, क्योंकि इनका जन्म प्रतीची में हुआ ।

ईसाई धर्म की उत्पत्ति एलेक्जेन्ड्रिया में हुई थी एवं वहीं से रोम के व्यवस्थित शासन तन्त्र ने इसे अपनाया, जो धीरे-धीरे यूरोप एवं अमेरिका में छा गया । यही एलेक्जेन्ड्रिया प्राची-प्रतीची के प्रथम सम्मेलन का स्थल है[9] । एक दार्शनिक के अनुसार 1964 में होनोलूलू में प्राची-प्रतीची के दार्शनिकों के सम्मेलन का निष्कर्ष यह रहा कि पाश्चात्त्य संस्कृति मुख्यतः बौद्धिक है, तो जापानी संस्कृति सौन्दर्यपरक, चीनी संस्कृति नैतिक है तो भारतीय तात्त्विक,[10] इन चारों के समन्वय को कौन नहीं चाहेगा ? किसी भी दार्शनिक का यह दायित्व है कि वह अपनी परम्परा के साथ-साथ अन्य दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन करे एवं उनकी अच्छाइयों का ग्रहण करे । प्राची एवं प्रतीची के मिलन से "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श का साक्षात्कार होगा ।

प्राची के जिस आलोक से स्वयं प्रतीची आलोकित हुआ, उसी ने प्राची को बर्बर, जंगली एवं आदिम आदि विशेषणों से मण्डित किया । इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है ?

अब हम प्राची की अपनी परम्परा पर थोड़ा सा प्रकाश डालें । भारतीय दर्शन को एक लम्बे अर्से तक प्रतीची ने दर्शन की कोटि में नहीं स्वीकारा । उनका भारतीय दर्शन पर यह आक्षेप था कि यह वैराग्यवाद, मोक्षवाद एवं परलोकवाद का हिमायती है, एवं इसका विश्वास तर्क तथा अनुभव से परे आप्तता, प्रातिभ साक्षात्कार अथवा प्रज्ञा में अधिक है । उनका जो आक्षेप है, उसे ही हम अपनी पहचान मानते हैं । वही हमारा गौरव है । भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में जैन, बौद्ध एवं वेदान्त पर मोक्षवाद, परलोकवाद एवं वैराग्यवाद का आक्षेप सर्वाधिक है । अन्य दार्शनिक विधाएँ– सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं पूर्व-मीमांसा वस्तुवादी हैं । न्याय एवं मीमांसा प्रमाणशास्त्र के सशक्त हिमायती हैं । हरिभद्रसूरी ने "षड्दर्शनसमुच्चय" की रचना की । स्वयं जैनाचार्य होते हुये भी सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का सम्यक् विवेचन बिना किसी आग्रह के किया है । वही बात 'सर्वदर्शनसंग्रहकार' में देखने को मिलती है । बौद्ध दर्शन ने असंग, वसुबन्धु, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति एवं दिङ्नाग जैसे तर्क-विद्या के एक से एक धुरन्धर आचार्यों को उत्पन्न किया । ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रथम साधन नित्यानित्यवस्तुविवेक है, अर्थात् "यथाभूत" को सत्य को समझने की

अर्हता, योग्यता । ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी का न्याय प्रस्थान है । आचार्य शंकर ने तर्कपाद में अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का खण्डन श्रुति निरपेक्ष तार्किकता के निकष पर किया है–"इह तु वाक्यनिरपेक्षस्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते"[11] । वादन्याय[12] की परम्परा भारतीय परम्परा है । वादिप्रतिवादीभ्यां निर्णीतोऽर्थः वादः । वादी-प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ ही वाद है । यह शास्त्रार्थ की वैज्ञानिक विधि है, प्रक्रिया है । वादन्याय सत्यान्वेषण की सर्वथा वैज्ञानिक प्रक्रिया है । इसके बीज वेदों में विद्यमान हैं; किन्तु उपनिषदों में इस प्रक्रिया का रूप सुस्पष्ट हो जाता है । वादन्याय सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम गौतम के न्यायसूत्र में मिलता है । न्यायसूत्र के अनुसार प्रमाण और तर्क के आधार :र प्रतिपक्ष का खण्डन एवं सिद्धान्तपक्ष मण्डनवाद है । बाद में वात्स्यायन, उद्द्योतकर आदि ने इसे पल्लवित एवं पुष्पित किया । बौद्धाचार्य दिङ्नाग, शान्तरक्षित एवं धर्मकीर्ति नैयायिकों से पीछे नहीं रहे । इसी वादन्याय का परिष्कार आचार्य गंगेश के अवच्छेदकतानिरूपण की प्रक्रिया में किया गया है । समूचा भारतीय वाङ्मय-साहित्य, इतिहास, पुराण, दर्शन, आयुर्वेद यदि नव्यन्याय की परिष्कार शैली में नहीं लिखा गया, तो उसे शास्त्र के रूप में स्वीकृति सादर प्राप्त नहीं होती थी । वादन्याय एवं परिष्कार की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विकास हुआ है । बौद्धों ने 'प्रमाणवार्तिक' की रचना की, तो जैनों ने 'स्याद्‌वादमंजरी' की, अद्वैतियों ने 'खण्डनखण्डखाद्य' की, आचार्य रामानुज ने सप्तानुपपत्तियाँ उठायीं, जिनका निखार शतदूषणी में हुआ । प्रत्युत्तर में शतभूषणी की संरचना की गयी ।

प्रतीची प्राची के आलोक से ही आलोकित हुआ; किन्तु वह उसके समग्र आलोक को, प्रकाश को, सत्य को ग्रहण न कर सका । उसे उसने खण्डशः ग्रहण किया । यही कारण है कि सत्य जो अखण्ड, समग्र एवं पूर्ण है, सामी दृष्टि में खण्डित, अधूरा एवं अपूर्ण हो जाता है । सामी दृष्टि में प्रकृति अन्न है, भोग्या है, साधन है, अतः प्रकृतिजय, प्रकृतिदोहन वहाँ के मनुष्य का अधिकार है । सामी दृष्टि उपभोक्तावादी है । इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने इस सीमा तक विकृति पैदा कर दी है कि सारा पर्यावरण दूषित हो गया है । जल, वायु, अन्न, फल, पृथ्वी, आकाश, समुद्र एवं अब अन्तरिक्ष भी दूषित हो गये हैं । वे अब हमारे लिए अभिशाप बनते जा रहे हैं । इसके विपरीत भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि अर्थगवेषणा एवं आत्मपर्येषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है । भारतीय दृष्टि तत्त्वतः "एकं सत्" की दृष्टि है, "अद्वैती" दृष्टि है, "ईशावास्यमिदम्" की दृष्टि है, "वासुदेवः सर्वम्" की दृष्टि है, "रसो वै सः" की दृष्टि है, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" की दृष्टि है । फलस्वरूप प्रकृति के पोर-पोर में उसे "तस्य भासा" का ही प्रकाश दिखायी पड़ता है । वैदिक शान्तिपाठ कितना उदात्त एवं मंगलमय है–

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षः शान्तिः
पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः ।
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि ।

शुक्लयजुर्वेदसंहिता, 36/17 ॥

समस्त अनेकता में एकता, समस्त भेदों में एक, अखण्ड अभेद–"अविभक्तं विभक्तेषु", "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि आत्मनि", "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति",–सर्वत्र अखण्ड, अनन्त, पूर्ण, अद्वैत ही तो है। अतः सर्वरूपाय नमो नमः। "प्रतिबोधविदितम्" प्रत्येक ज्ञान में उसी का बोध है। सभी मनुष्यों में ही नहीं, सभी प्राणियों में ही नहीं अपितु जगत् के कण-कण में एक ही अद्वैत तत्त्व का दर्शन है। इसीलिए श्रीमद्भागवत का निम्न श्लोक कितना सार्थक है–

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशां द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

श्रीमद्भागवत, 11/2/41॥

"आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र, जो कुछ भी हैं, वे सब भगवान् हरि का शरीर ही हैं। अतः सबको अनन्यभाव से प्रणाम करें।". तुलनात्मक दर्शन के आदर्श का साक्षात्कार अद्वैत की भावभूमि पर, प्रज्ञापारमिता की भावभूमि पर ही संभव है। उत्तरयोगी श्री अरविन्द का उद्घोष कितना समीचीन है– समग्रपूर्णता परम दिव्य से, सच्चिदानन्द से, परमात्मा से एकाकारता है। परमात्मा से एकाकारता सभी वस्तुओं एवं प्राणियों से एकाकारता है। समग्र दिव्यपूर्णता का यही सार है[13]।



---

1. पी. टी. राजू, लैक्चर्स आन कम्परेटिव फिलासफी, पूना विश्वविद्यालय, पूना, 1970, पृ. 8।
2. वही, पृ. 2।
3. दयाकृष्ण (प्र. सं.), डायोजिनीज, संख्या-7, 1986, पृ. 77।
4. पी. टी. राजू, लेक्चर्स आन कम्परेटिव फिलासफी, पृ. 4।
5. दयाकृष्ण (प्र. स.), डायोजिनीज, संख्या-7, 1986, पृ. 78।
6. अंग्रेजी अनुवाद केगनपाल, लन्दन से प्रकाशित।
7. युनिवर्सिटी आफ लाइडेन प्रेस, लाइडेन।
8. एस. राधाकृष्णन्, ईस्टर्न रेलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, क्लैरेन्डन, प्रेस, आक्सफोर्ड, 1939, पृ. 151।
9. पी. टी. राजू, लेक्चर्स आन कम्परेटिव फिलासफी, पृ. 31।
10. वही, पृ. 35।
11. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, तर्कपाद, 2/2/1॥
12. रामचन्द्रपाण्डेय, राघवेन्द्र पाण्डेय, एवं मंजु, वादन्यायः वाद-प्रक्रिया का तार्किक विश्लेषण (गौतमीय एवं बौद्ध न्याय के सन्दर्भ में), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1988।
13. श्री अरविन्द, दि सेन्थसिस आफ योग (श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, सिक्स्थ प्रिंट, 1971), पृ. 677। तथा लेखक का "समग्र योग", पृ. 143।

काश्मीर शैव आगम

डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने प्राचीन परम्परा से प्राप्त प्रमाण के आधार पर श्रुति के दो वर्ग माने हैं–वैदिकी श्रुति और आगमिक श्रुति । हिन्दू धर्म के समस्त अङ्गों की परीक्षा की जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि इस धर्म की बाहरी रूपरेखा तो वैदिकी है; परन्तु भीतरी विशेषताएँ अधिकांश आगमिक हैं । उन पारम्परिक विशेषताओं के विषय में ऐसा भी स्पष्ट हो जाता है कि उन आगमिक तत्त्वों को धीरे-धीरे वैदिक आकार दिए जाते रहे और अन्ततोगत्वा दोनों ही वैदिक और आगमिक धर्मतत्त्व और दर्शन-तत्त्व तथा उपासना-तत्त्व इस तरह से परस्पर मिलजुल गए कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना असम्भव सा होता गया । परस्पर सम्मिश्रण की यह प्रक्रिया महाभारत काल में पक्की हो गई । तभी तो महाभारत में इन्द्र आदि वैदिक देवताओं का महत्त्व पर्याप्त मात्रा में बना तो रहा, परन्तु साथ ही साथ शिव और विष्णु का महत्त्व समस्त वैदिक देवताओं की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में बढ़ गया और साथ ही शक्ति-उपासना की आगमिक परम्परा को भी समुचित स्थान दिया जाने लगा । कश्मीर मण्डल में वैदिक धर्म का महत्त्व अंग्रेजी शासन के अन्त तक अक्षत भाव से बना रहा और साथ ही आगमिक दर्शन-विद्या और उपासना-परम्पराओं का सजीव प्रचार भी बना ही रहा । स्वातन्त्र्य युग में सारे भारत में वैदिक और आगमिक परम्पराओं का ह्रास होता आया । अब तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कश्मीर में इन परम्पराओं का अन्त ही हो रहा है और इस्लामी कट्टरता (fundamentalism) के बीजों की जड़ें कश्मीर भूमि में गहरी चली जा रही हैं । आगम-विद्या का यह मुख्य केन्द्र अब ऐसे रूप को धारण कर रहा है, जो वर्तमान ईरान की स्थिति का अनुकरण करने वाला है, वह भी भारतीय शासन की सुरक्षा के भीतर और आर्थिक सहायता के बल से इस ऐसी स्थिति का उत्तरदायित्व भारत के उस केन्द्रीय शासन पर है, जिसके कर्णधार अधिकांश में निज स्वार्थ सिद्धि के लिए गत चार दशकों में जान बूझकर गजनिमीलिका का आश्रय लेते रहे । वर्तमान ज्वालामुखी के उत्स्पन्दन की जैसी स्थिति में भी हमारी केन्द्रीय सरकार और उसके अनेकों अधिकारी तथा पृष्ठपोषक नेतागण उसी गजनिमीलिका का आश्रय लेते हुए और स्वकपोलकल्पित खोखले आदर्शवादों की रट लगाते हुए समस्त देश की सुविशाल जनता को इस विषय में सुलाए रखने का यत्न कर रहे हैं । यदि कोई महानुभाव सच्ची बात कहने का यत्न करे, तो उसे साम्प्रदायिक कह कर जनता द्वारा उसकी अवहेलना करवाने के यत्नों में भी लगे हुए हैं । कश्मीर मण्डल आगे भी आगम-विद्या का केन्द्र बना

रहे या न बना रहे, वहाँ आगमिक-परम्पराओं की सुरक्षा हो या त्वरित समुच्छेद हो जाए, फिर भी उस विधा के विषय में संक्षिप्त जानकारी इस लेख के द्वारा दी जा रही है, क्योंकि डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के हृदय में उस विद्या के प्रति बड़ा सम्मान था

आमतौर पर तन्त्रसाहित्य का ही दूसरा नाम आगमशास्त्र है। कश्मीर के दर्शनकारों ने आगम के आन्तरिक और बाह्य आकारों पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि मुख्यतः आत्म-शिव-स्वरूप के अपरोक्ष साक्षात्कार को आगम कहा गया है; क्योंकि वह साक्षात्कार ही स्वात्म-शिव के अन्तरतम वास्तविक स्वरूप की पहचान करवा देता है–"आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगमः।" हमारे वैदिक षड्दर्शन तथा अवैदिक बौद्ध जैन दर्शन दोनों ही दर्शन वर्ग सूक्ष्म-सूक्ष्मतर बुद्धि-वैभव के फल हैं। ये सभी दर्शन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तर्क के आधार पर ठहरे हैं। तर्कों का आधार होता है मानवों की अनुभूति की परम्परा। मानव अनुभूति के आधार होते हैं अतीव अल्प सामर्थ्य वाली इन्द्रियों और अन्तःकरणों के तुच्छातितुच्छ ज्ञानसामर्थ्य। इन्द्रियजन्य और अन्तःकरणजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान आदि प्रमाण ही तो दार्शनिक तर्क के आधार बनते हैं। अत्यन्त अल्पज्ञ मायीय जीवों की ऐसी अनुभूतियाँ कभी-कभी कारणवशात् सत्य भी हो सकती हैं; परन्तु प्रायः पूरी तरह से सत्य नहीं हुआ करती हैं। इन्द्रियाँ वस्तुओं का दर्शन कराती हैं। अन्तःकरण उनपर विमर्श करवाते हैं। उस विमर्श का आधार बनते हैं प्राचीन संस्कार। अत्यन्त अल्पज्ञ जीवों की अनुभूतियों की सत्यता पर कितना भरोसा किया जा सकता है और ऐसी तुच्छसामर्थ्य वाली अनुभूतियों के आधार पर जमे हुए संस्कारों की यथार्थता पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है। मानवीय व्यवहारों का आधार बने हुए ऐसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो बाह्य प्रमेयों के विषय में भी सर्वथा यथार्थ निर्णय सदा करा नहीं सकते, चाहे कभी अकस्मात् वैसा कर भी जाएँ। इन्द्रियों और अन्तःकरणों में अपनी कोई भी सामर्थ्य नहीं है, जिसके बल से वे वस्तुस्थिति के विषय में यथार्थ निर्णय करा सकें। बाह्य-वस्तुओं के विषय में भी जब इनकी शक्ति की पूरी पहुँच नहीं, तो आत्मास्वरूप के विषय में वह पहुँच इनमें कैसे आए ? इन्द्रियाँ और अन्तःकरण वस्तुतः शुद्ध चेतना के आवेश से ही अपना-अपना काम कर सकते हैं, उसके बिना नहीं। तो समझिए कि जिस शुद्धचेतना रूपी आत्मस्वरूप के आवेश से उसी आत्मा के द्वारा दी गई थोड़ी-सी सामर्थ्य के बल से जो इन्द्रिय और अन्तःकरण प्रमेय विषयों के स्वरूप और स्वभाव को प्रकट कर सकते हैं, समस्तज्ञान के उस मूल स्रोत बने हुए आत्मस्वरूप को ये कैसे प्रकट कर सकें ? आत्मस्वरूप तो समस्त बाह्यकरणों से और अन्तःकरणों से परे ठहरा हुआ सत्य है।

वह सत्य शुद्ध और सुसमर्थ चैतन्य है। वह चैतन्य अपने ही चित् प्रकाश से सदैव चमका करता है और साथ ही अपनी सत्ता का तथा अपनी प्रकाशमानता का विमर्श भी करता रहता है। परन्तु हमारे जैसे मायीय जीव स्वयं अपने उस वास्तविक स्वरूप का दर्शन तब तक नहीं कर सकते हैं, जब तक हम माया के आवरण से आवृत हैं, जब तक हम शरीर, प्राण, बुद्धि आदि जड पदार्थों को ही अपना आप समझते हैं, और जब तक हम अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत् को अपना ही आप

न समझते हुए अपने से भिन्न विषय के रूप में ही देखते-सुनते हैं। परन्तु आगमिक साधना के अभ्यास से जब किसी साधक के अन्तःकरण निष्क्रिय हो जाएँ, मन कुछ सोचे नहीं, बुद्धि किसी विषय की ज्ञप्ति कराए ही नहीं और अहङ्कार देह आदि जड़ वस्तुओं पर टिका न रहे, तो हमारी चेतना स्वयमेव अपने ही चित्प्रकाश से प्रकाशमान होती हुई तथा अपने आपका विमर्शन करती हुई स्वयं अपने शुद्ध चिन्मय स्वरूप का और वास्तविक स्वभाव का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाया करती है। परन्तु ऐसी साधना के अभ्यास में इस विषय के प्रति विशेष सावधान बने रहना होता है कि साधक कहीं सुषुप्ति में विलीन न हो जाए। वह जागता ही रहना चाहिए और उसके सभी अन्तःकरण निश्चेष्ट बनकर रहने चाहिए। यदि साधक सुषुप्ति में विलीन होने में ही आनन्द ले लेवे, तो वह शून्यवाद के सम्मुख आ जाएगा, उसे आत्मप्रकाश नहीं होगा। उदाहरण के तौर पर बौद्धों की 'जेन' नामक साधना को लीजिए, श्री कृष्णमूर्ति के अनुयायियों की स्थिति को लीजिए या भावातीत ध्यान की साधना को लीजिए। इस प्रकार की साधनाएँ शून्यवाद की ओर ले जाती हैं और साधक यदि वैसी ही स्थिति में शरीर छोड़ देवे, तो अगले महासंहार के अनन्तर जो नई सृष्टि होगी, जिस सृष्टि में मूल प्रकृति के तीन गुणों में पुनः प्रक्षोभ आएगा और सांख्यशास्त्र के तेईस तत्त्वों की नई सृष्टि होगी, उस समय तक वह साधक सुषुप्त पड़ा रहता है। नई सृष्टि के समय भगवान् श्रीकण्ठनाथ शिव अनुग्रह दृष्टिपात करें, तभी वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार के प्रति अग्रसर हो सकता है। योगदर्शन की निर्विकल्प समाधि को भी काश्मीर शैव आगमों के गुरुओं ने सुषुप्ति में ही गिना है। सुषुप्ति से परे शुद्ध चित्प्रकाशमयी तुर्या चमकती है। जब वह भली-भाँति चमकने लगती है, तब शुद्ध चेतना स्वयं अपने ही चित्प्रकाश की चमक से अपने आप का ही दर्शन करती है और साथ अपनी परमेश्वरतामयी स्वाभाविक शक्ति का भी विमर्शन करती है। योगदर्शन की समाधि में अपने चित्स्वरूप की परमेश्वरतामयी शक्ति का अनुभव नहीं हुआ करता है। इसीलिए योगसूत्र में ईश्वर को सृष्टिसंहार आदि करने वाला नहीं माना गया है। उसे एक आदि सिद्ध और सदामुक्त "पुरुषविशेष" कहा गया है। कुछ वैसी ही स्थिति गौडवादकृत माण्डूक्यकारिका में वर्णित निरोध समाधि की भी बताई गई है।

इस प्रकार की सुषुप्ति की अनुभूतियों को बन्धनक्षेत्र के भीतर ही गिना जा सकता है। कश्मीर की शैवी आगम-विद्या में तुर्या और तुर्यातीत स्थितियों को आत्मदर्शन कहा गया है। उस दर्शन में जो अपरोक्ष अनुभूति हुआ करती है, उसके द्वारा यह साक्षात्कार हो जाया करता है कि "मैं शुद्ध और स्वतन्त्र चैतन्य हूँ, यह सारा प्रपञ्च मेरी पारमेश्वरी शक्तियों का बहिर्मुख प्रतिबिम्ब है, यह सब कुछ मेरे से ही प्रकट हुआ है और सब कुछ वस्तुतः मैं ही हूँ!" आ. अभिनवगुप्त ने इस विषय में कहा है–

(क) अहमेव विश्वरूपः करचरणादिस्वभाव इव देहः।
मत्तः प्रसरति सर्वं स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तात्।

(ख) मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः॥

(तं. आ. 3-280)

इस आत्मदर्शन को प्रत्यक्ष में नहीं गिनते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा होता है और यह दर्शन अपने आप को अपने आप ही के द्वारा हुआ करता है। इसीलिए महाकवि कालिदास ने आधिदैविक स्वरूप में ठहरे शिव जी की समाधि के विषय में कहा है कि 'वे अपने अक्षर स्वरूप को स्वयमेव देख रहे थे'-

'यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तं स्वात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्' ॥

(कु. सं. 3-50)

तर्क विद्या पर प्रतिष्ठित ज्ञान अनुमान आदि होता है। वह साक्षात् ज्ञान न होकर परोक्ष ज्ञान होता है; परन्तु उपरोक्त आत्मसाक्षात्कार कदापि परोक्ष तो होता ही नहीं। इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही से भिन्न होते हुए इस ज्ञान को अपरोक्ष साक्षात्कार कहा जाता है। इसमें केवल अपना आप ही अपने आपका ही स्वयं साक्षात्कार किया करता है।

कश्मीर के शैवागमों के गुरुओं ने ऐसे अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार को ही "आगम" कहा है; क्योंकि वह साक्षात्कार ही पूरी तरह से जानने के योग्य वस्तुतत्त्व का ज्ञान कराता है। यहाँ गम् धातु का अर्थ ज्ञान ही है। तभी तो इस आगम पद की व्याख्या की गई है कि–"आ-समन्ताद् अर्थं गमयतीति आगमः"। आ. अभिनवगुप्त के विचार में मुख्यतया आगम इसी आत्मदर्शन को कहा जाता है। इस आत्मदर्शन को प्राप्त करने वाले योगी इसी के आधार पर आत्मा के स्वरूप और स्वभाव के विषय में पहले अपनी बुद्धि में किसी धारणा को ठहराते हैं। फिर उसी धारणा के अनुसार उसके अनुकूल शब्द-प्रयोगों की कल्पना कर करके उपदेश द्वारा उस तत्त्व का प्रचार किया करते हैं। उन योगियों के ऐसे उपदेशों को भी आगम कहा जाता है। परन्तु आ. अभिनवगुप्त ने ऐसे उपदेशात्मक शब्दमय या लिपिमय आगमों को गौणरूप से ही आगम माना है। आगे ऐसे लिपिमय आगम पुत्र-पौत्र परम्पराओं में या गुरु-शिष्य-परम्पराओं में शताब्दियों तक जो चलते रहे, तो इस तरह से इनके द्वारा बताए गए ज्ञान का खूब विस्तार हुआ। विस्तारयुक्त परम्पराओं में चलते रहने के कारण ये आगम तन्त्र भी कहलाये जाते रहे। 'तनु' धातु का अर्थ ही होता है विस्तार। इस प्रकार से अन्तरतम आत्मस्वरूप का जो साङ्गोपाङ्ग ज्ञान आगम कहलाता रहा, उसी के प्रतिपादक ग्रन्थ तन्त्र भी कहलाए जाते रहे। इन दो नामों की ऐसी व्याख्या काश्मीर परम्परा में प्रचलित है।

जितने भी आगम या तन्त्र जहाँ कहीं भी प्रचलित हैं, वे भिन्न-भिन्न देवताओं द्वारा कहे हुए माने जाते हैं। इस विषय में आ. अभिनव गुप्त ऐसा कहते हैं कि सिद्ध योगीजन अपनी साधना के अभ्यास की सफलता के अवसर पर जिस-जिस देवाधिदेव की स्थिति पर पहुँच कर शङ्का या समाधान करें, वे सारे शङ्का-समाधान उस-उस देवाधिदेव के द्वारा ही किए गए समझे जाते हैं। परात्रीशिका आगम की व्याख्या करते हुए "भैरव उवाच" और "भैरवी उवाच" इन दो वाक्यों के तात्पर्य के विषय में उनका सिद्धान्त यही है कि जब कोई सिद्ध योगी तुर्या दशा में आरूढ होकर भैरवी महाशक्ति की स्थिति में ठहर कर प्रश्न करता है या शङ्का उठाता है, तो वही दूसरे क्षण में भैरवस्वरूप शिव की स्थिति में ठहर कर उसका उत्तर भी देता है और शङ्का का समाधान भी

करता है। कभी पश्यन्ती दशा में ठहरकर कोई सिद्ध योगी जिस-जिस शङ्का-समाधान को जब प्रतिपादित करता है, तो वह संवाद ईश्वरभट्टारक और सदाशिव भट्टारक के द्वारा किया गया समझा जाता है। भगवद्गीता वाला संवाद भी युद्ध-क्षेत्र में पश्यन्ती वाणी ही के द्वारा कुछ एक क्षणों में ही पूरा हो गया था। तदनन्तर व्यास मुनि ने मध्यमा वाणी में उसे समझते हुए वैखरी वाणी के द्वारा विस्तार से कहा। पश्यन्ती-वाणी की गति अत्यन्त तीव्र होती है और परा-वाणी की गति की तीव्रता का कहना ही क्या। आगमों के उपदेशक देवताओं आदि के विषय में सर्वत्र ऐसा ही समझा जाना चाहिए। तदनुसार आ. अभिनवगुप्त कहते हैं कि निम्नतर स्तर के आगम वे होते हैं, जिनका उपदेश आदर्श मानवों ने किया हो। ऋषियों द्वारा उपदिष्ट आगम उनसे ऊँचे स्तर के होते हैं। उनसे भी ऊँचे आगम देवताओं के द्वारा कहे हुए होते हैं। आगे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव की अवस्थाओं में उपदिष्ट आगम उत्तरोत्तर अधिक-अधिक उत्कृष्ट होते हैं। उस दृष्टि से शिव द्वारा उपदिष्ट आगम सर्वोत्कृष्ट माने जा सकते हैं। वस्तुतः रुद्र से लेकर शिव तक के सभी देवाधिदेवों को प्रायः शिवरूप ही गिना जाता है। इसलिए लोक व्यवहार में रौद्र आगमों से लेकर सभी आगमों को शैव आगम ही प्रायः कहा जाता है। उन सभी प्रसिद्ध शैव आगमों को तीन वर्गों में बाँटा गया है। वे वर्ग हैं–1-शिव आगम, 2-रुद्र आगम और 3-भैरव आगम। सांसारिक प्राणियों में जो जिज्ञासु निम्न कोटि के होते हैं, उनके हित के लिए दस शिव आगम कहे गए हैं। इन आगमों के भेदात्मक दृष्टिकोण को लेकर कहा गया है। मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के हित के लिए भेदाभेदमयी दृष्टि को लेकर के अट्ठारह रुद्र आगमों का उपदेश हुआ है। फिर उत्कृष्ट अधिकारियों के लिए अभेदमय दृष्टिकोण को लेकर के चौंसठ भैरव-आगमों का प्रचार हुआ है। इन सभी 10+18+64=92 आगमों से भी उत्कृष्ट छः आगमों को माना गया है। वे आगम परम-अद्वैतमयी दृष्टि को लेकर के कहे गए हैं। वे हैं सौर, भर्गशिखा आदि आगम। उनमें भी तीन आगमों का विशेष महत्त्व है। वे हैं–1-क्रियाप्रधान–सिद्धातन्त्र, 2-ज्ञानप्रधान–वामकतन्त्र और 3-उभयप्रधान मालिनीतन्त्र। इन तीन तन्त्रों को ही त्रिक आगम या षडर्थ शास्त्र कहा जाता है। इन छः आगमों में से किसी-किसी का नामोल्लेख मात्र ही अब मिल रहा है। किसी-किसी में से कोई-कोई उद्धृत वाक्य ही मिलते हैं। पूरे आगम ग्रन्थ कहीं मिलते नहीं। सिद्धातन्त्र के अनेक ही वाक्य तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने उद्धृत किए हैं। मालिनीतन्त्र के भी एक वाक्य आ. अभिनवगुप्त ने उद्धृत किए हैं। पूरा मालिनीतन्त्र कहीं नहीं मिल रहा है। फिर सौभाग्य की एक बात यह है कि उस तन्त्र का उपासना-प्रधान भाग अभी तक मिल ही रहा है। उसे "मालिनी-विजयोत्तर" कहते हैं। हो सकता है कि सुविशाल मालिनीतन्त्र का उत्तर भाग यह आगम हो। भैरव आगमों में से इस समय एकमात्र स्वच्छन्दतन्त्र मिल रहा है। उसके अतिरिक्त रुद्रयामल आगम के कुछ एक खण्ड कहीं-कहीं मिल रहे हैं। उनमें दार्शनिक दृष्टि-प्रधान जो दो खण्ड मिल रहे हैं, उन्हें "परात्रीशिका" (जिसे सम्पादकों की असावधानता के कारण "परात्रिंशिका" कहा जा रहा है) और

विज्ञानभैरव (विज्ञानभट्टारक) कहा जाता है। इन प्रसिद्ध आगमों के आधार पर रचे गए बहुत सारे उपागम भी थे, जिनमें से नेत्रतन्त्र कश्मीर में उपलब्ध हो रहा है। प्रसिद्ध मृगेन्द्रतन्त्र भी एक उपागम ही है। शिव आगम और रुद्र आगम दक्षिण में ही प्रसिद्ध हैं। किसी समय में वहाँ के उपासक चौंसठ भैरव आगमों से भी परिचित थे, क्योंकि आ. शङ्कर ने सौन्दर्यलहरी में चौंसठ शैव तन्त्रों का उल्लेख किया है, यद्यपि उनमें से किसी का नाम नहीं लिया है। काश्मीर शैव दर्शन के आधार मुख्यतया पराद्वैत दृष्टिप्रधान छः आगम बने और उनमें से भी विशेष आश्रय त्रिक आगमों का ही लिया गया। उस आगमत्रय में भी विशेष महिमा मालिनीविजयोत्तर की ही मानी गई। इन आगमों के अतिरिक्त सूत्रशैली में कहा गया एक और उत्कृष्ट आगम काश्मीर शैव-दर्शन का आधार बना। वह आगम है 'शिवसूत्र' जिसका उपदेश आ. वसुगुप्त को किसी सिद्ध के मुख से प्राप्त हुआ। शिवसूत्र के विषय में शङ्करोपल पर अङ्कित होने की जो कथा क्षेमराज ने कही है, वह दन्त-कथा मात्र है। भट्ट भास्कर, उत्पल वैष्णव, रामकण्ठ भट्ट कल्लट आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में उस दन्त-कथा का कहीं भी कोई भी उल्लेख नहीं मिल रहा है। अस्तु, शिवसूत्र के चार खण्ड थे। उनमें से अब केवल पहले तीन खण्ड ही मिल रहे हैं। उन खण्डों की जो पारम्परिक व्याख्या है, वह भट्ट भास्कर के वार्तिक में विद्यमान है। बहुत खेद की बात है कि उस वार्तिकग्रन्थ का अभी तक विशेष प्राचर कहीं भी नहीं हुआ। उसके स्थान पर क्षेमराज ने अपनी कल्पना के आधार पर जो अयथार्थ व्याख्या सूत्रों की कर रखी थी, उसी का बहुत अधिक प्रचार होता रहा। क्षेमराज ने शिवसूत्र के चतुर्थ खण्ड का नाम भी कहीं लिया नहीं, यद्यपि उसके कई एक सूत्रों को अवश्य उद्धृत किया। उस चतुर्थ खण्ड का परिचय हमें एकमात्र भट्ट भास्कर के वार्तिक से ही मिलता है। उस खण्ड में से एक सूत्र को आ. अभिनवगुप्त ने भी उद्धृत किया है। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी में)) वह सूत्र विद्यमान तीन खण्डों में कहीं मिल नहीं रहा है। अस्तु !

कश्मीर के इन शैव-आगमों का ही आसरा आ. भट्ट कल्लट, सोमानन्द, उत्पल देव, अभिनव गुप्त जैसे सिद्ध योगियों ने लिया और तदनुसार ही उन्होंने काश्मीर शैव-दर्शन को विकसित किया। यही एक ऐसा दर्शन है, जिसे वस्तुतः अद्वैतदर्शन कहा जा सकता है। इसी दर्शन में एकमात्र मूल तत्त्व की अनादि सत्ता को ठहराया गया है। उस मूलभूत परम तत्त्व की परिपूर्ण और स्वतन्त्र परमेश्वरता को भी इसी दर्शन में ठहराया गया है। मानव-जीवन के भुक्ति और मुक्ति नामवाले दोनों ही प्रयोजनों को साथ-साथ हस्तगत करने का निर्विघ्न मार्ग यही दर्शन सिखाता है। इसी दर्शन ने उस औपनिषद-सिद्धान्त को युक्तियों के आधार पर ठहराया, जिसमें विद्या और अविद्या दोनों ही को तुल्य प्रधानता दी गई है। श्रीकृष्ण जैसे दर्शन-गुरु इसी सिद्धान्त का उपदेश करते रहे। इस तरह से काश्मीर शैव आगमों पर आश्रित काश्मीर शैवदर्शन एक सर्वोपयोगी और परिपूर्ण दर्शन है। इसमें केवल एक त्रुटि रह गई है। वह यह है कि इस दर्शन के गुरुओं ने राष्ट्र की प्राशासनिक परिस्थितियों की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इस विषय में काश्मीर-शैव-दर्शन ने भी

वेदान्त और बौद्धवाद की जैसी एकपक्षीय दार्शनिक-दृष्टि को अपनाए रखा। तभी तो कश्मीर में ऐसी स्थिति पन्द्रहवीं शताब्दी से ही बनती गई जिसमें सुविशाल आगम शास्त्रों के पुस्तक-भण्डारों का विनाश होता रहा, वैदिक और आगमिक परम्पराओं पर चलने वालों पर अत्याचार होते रहे और अब स्थिति बिगड़ती-बिगड़ती उस स्तर पर पहुँच चुकी है, जहाँ शैव-आगमों की विद्या की परम्परा का उच्छेद ही सामने दीख रहा है। ऐसी स्थिति को देखती हुई सुविशाल भारतीय जनता को कोई भी विशेष संवेदना नहीं हो रही है। जनता के अधिकांश नेतागण भी इस्लामी कट्टरता Islamic Fundamentalism के अग्रदूतों पर ही स्नेहदृष्टि बनाए रखे हैं और विनाशोन्मुख वेदागमाश्रित परम्परा के भावी उच्छेद पर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। "पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्"।

●

तांत्रिक शिवाद्वयवाद में उपलब्ध योग-प्रक्रियाएँ एक जिज्ञासात्मक विश्लेषण

डॉ. नवजीवन रस्तोगी

इस लेख की शुरुआत इस जिज्ञासा में है कि काश्मीर (Monistic Saivism) शिवाद्वयवाद में योग का प्रतिनिधि या मानक रूप क्या है ? इस जिज्ञासा का मूल स्वयं काश्मीर शिवाद्वयवाद के ग्रन्थों में मिलने वाले योग सम्बन्धी मन्तव्यों में है। कई जगह पर 9 वीं शताब्दी से लेकर 13 वीं शती के मध्य 400 वर्षों के दौरान, यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तांत्रिक योग षडङ्ग है और प्रसिद्ध पातंजल अष्टाङ्ग योग से भिन्न है। किन्तु व्यवहार में इस कथन का अनुवदन इतना शिथिल है और अन्य समानान्तर पद्धतियों पर आग्रह इतना पर्याप्त है कि यह विषय गंभीर गवेषणा की अपेक्षा करता है। यह लेख संभवतः प्रारंभिक जिज्ञासा का समाधान भले ही न कर सके, पर समस्या को उसके परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा अवश्य करेगा।

भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक परम्पराओं के किसी भी विद्यार्थी को मर्सिया इलियाड के इस कथन की प्रामाणिकता पर विश्वास करने के लिए किसी अतिरिक्त तर्क की आवश्यकता नहीं होगी कि 'Yoga is a characteristic dimension of Indian mind'[1] बात बड़ी प्रखरता से तांत्रिक संप्रदायों और विशेषतः काश्मीर के शैव तान्त्रिक संप्रदायों में देखने को मिलती है। तांत्रिक परम्पराओं के आधारभूत आगम-साहित्य में प्रत्येक आगम अपनी विषय वस्तु की दृष्टि से 4 हिस्सों में बंटा दीखता है–ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। इससे स्पष्ट है कि तंत्रों की आधारभूत विषयवस्तु का योग एक अनिवार्य अंग है। कुछ आगम तो साफ-साफ इस विभाजन मर्यादा का पालन करते हैं पर अधिकतर आगम ऐसे हैं जो इस विभाजन को आदर देते हुए भी इनके बीच लक्ष्मण-रेखा खींच नहीं पाते। अनेक बार तो ऐसा होता है–विशेषतः अद्वयवादी शैव तन्त्रों में–कि चारों में या तो चढ़ा ऊपरी (परस्परानुप्रवेश) होती रहती है य पारस्परिक सामनन्तर्य या समीकरण को ढूंढने का सायास/निरायास प्रयास साफ जारी रहता है। अभिनवगुप्त के तंत्रालोक और उसके उपजीव्य तंत्र मालिनीविजयोत्तर में यह प्रवृत्ति अपने चरम प्रकर्ष पर दिखाई देती है।

यह प्रवृत्ति हमारी गवेषणा के मूल में निहित संशय को जो हमने प्रारम्भ में उठाया था, एक नया आयाम और पैनापन प्रदान करती है कि काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वीकृत योग का प्रातिस्विक रूप क्या है। क्या यह एकल है या जटिल या अनेक प्ररूपों का सहवर्ती अभ्युपगम है। इस बिन्दु पर आकर मर्सिया इलियाड का वह कथन एक अतिरिक्त प्रामाणिकता ग्रहण करने लगता है कि

"Yoga represents a Para-Indian corpus of spiritual techniques"[2] ऐसा लगता है, जैसा कि हम अभी देखेंगे, कि तांत्रिक शिवाद्वयवाद में योग की अनेक विधाएँ मान्य हैं और यह भी कि आपातिक विभिन्नता के बावजूद भी उनमें गहरी आतंरिक अन्विति है और इस अन्विति के अनेक कारणों में से एक महत्वपूर्ण कारण है उसका मूल पातंजल योग की आधारभूत निष्ठा से किसी न किसी प्रकार का प्रभवात्मक (genetic) सम्बन्ध ।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में योग के स्वरूप को समझने में योगी की भूमिका पर ध्यान देना उचित होगा । आगमों की संरचनात्मक परिघटना (Constitutional structuring) के अलावा योगिन् के दृष्टान्त का उपयोग माहेश्वर्य की सिद्धि की युक्ति के रूप में किया गया है । विशेष रूप में अस्तित्व में अंतर्व्याप्त स्वातन्त्र्य या चरम सत् की कर्तृता की व्याख्या के लिए सर्वसंदेहातीत, सर्वमान्य और सार्वभौम प्रमाण के रूप में योगी के दृष्टान्त का उपयोग हुआ है । और इस युक्ति का न केवल आगम साहित्य में अपितु परवर्ती सिद्धान्त शास्त्र में निरपवाद रूप से आश्रय लिया गया है । अर्थात् योगी लोकोत्तर सामर्थ्य और कर्तृत्व का लोकदृष्ट, लोकोपलब्ध प्रतीक है । इस युक्ति का आनुषंगिक निहितार्थ यह भी है कि चरम कर्तृत्व केवल एक वायवीय आदर्श ही नहीं है, वह इसी जीवन में प्राप्य, उपलभ्य स्थिति है । इससे हम अनजाने ही जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसका सम्बन्ध भारतीय चिन्तन की मूलभित्ति से है । भारत में वस्तु या सत् को जानने का अर्थ है उसकी उपलब्धि करना । इसी अर्थ में सारा बोध-व्यापार उपलब्धिमूलक या प्रत्यक्षात्मक कहा जाता है । ज्ञान और प्राप्ति की यह पर्यायता योग के क्षेत्र में भी प्रबल रूप से दिखाई पड़ती है । योग के परम्परा से आदर प्राप्त अनेक अर्थों में एक अर्थ "प्राप्ति" भी है[3] । योग के अन्य मान्य अर्थों में "प्राप्ति" का यह अंश किसी न किसी रूप से स्वीकृत है । स्वच्छन्द तंत्र कें उद्द्योत में क्षेमराज योग को परम तत्त्व से एकात्मता प्राप्ति रूप मानते हैं–"ज्ञानं तज्ज्ञेयतत्त्वानुभवम्, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम् ।"[4] और उससे पूर्व, त्रिक के मूल आगम मालिनीविजयोत्तर में दो वस्तुओं की एकात्मता प्राप्ति को ही योग के रूप में ग्रहण किया गया है–"योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।"[5] योग शब्द के अनेक पारिभाषिक, यौगिक व रूढ़ अर्थ हैं, जैसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण-अपान का संयोग ।[6] कविराज जी इसमें एक अर्थ और जोड़ते हैं–शिव और शक्ति की एकता या सामरस्य[7] । इन सबके मूल में प्राप्ति का भाव छिपा हुआ है । गीता में योग शब्द का संदर्भ भेद से अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है । परन्तु उस अर्थ-वैचित्र्य के बावजूद भी, प्रो. काणे की दृष्टि में, उन सारे अर्थों में इस बात को लेकर अन्विति है कि योग उन पद्धति (Method) या पद्धतियों (Methods) की संज्ञा है जिनके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्ति में अग्रसर हो सके । तंत्रालोक[8] में प्रस्तुत त्रिक दर्शन के दो मूलभूत स्रोतों–श्रीकण्ठ और पाशुपत–में से एक लकुलीश पाशुपत संप्रदाय में योग की परिभाषा– "चित्तद्वारेण आत्मेश्वर संबंधो योगः"[9] में "प्राप्ति" की अनुस्यूति साफ पता चलती है ।

यहाँ पर संभवतः यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि कर्तृता का यह स्पर्श संभवतः योग के मौलिक प्रत्यय का आदितः अंग रहता है । महाभारत में योग को प्रवृत्तिलक्षण (प्रवृत्तिलक्षणो

योग:) कहा गया है। गीता के शांकर भाष्य में भी यही अर्थ गृहीत हुआ है। वैदिक धर्मग्रन्थों तथा पालि व संस्कृत के बौद्ध धर्मग्रन्थों में भी यही अर्थ मान्य हुआ है। देखने में यह धारणा योग के पतंजलिगृहीत अर्थ की विरोधी लगती है (और यदि ऐसा है तो पतंजलि में योग का अर्थ संकोच हुआ है, पर यह बात हम आगे देखेंगे)। स्वयं गीता में जहाँ दो निष्ठाओं की चर्चा हुई है और योग को ज्ञान और कर्म दोनों से जोड़ा गया है वहाँ गीताकार ने इस संदेह को बिल्कुल नहीं रहने दिया है कि वस्तुतः "योग" का संबंध कर्मयोगियों की निष्ठा से है। शिवाद्वयवादी रामकण्ठ ने अपने सर्वतोभद्र में अद्वयवादी योग की मूल निष्ठा कर्मानुष्ठान में ही मानी है–"तथा इह उपदिष्टस्य आत्माद्वयज्ञानस्य कर्मानुष्ठानौ निष्ठा........."[10]। इससे प्रतीत होता है कि "योग" की कर्तृतापरक सोच का बीज प्राचीन है और काश्मीर शिवाद्वयवाद में उसका यौक्तिक पल्लवन हुआ है।

पाणिनि योगी शब्द की निष्पत्ति युज् में इन् (घिनुण्) प्रत्यय लगाकर करते हैं "ताच्छील्ये" (उस स्वभाव का होना) अर्थ में। युज् का रुधादिगण में अर्थ है जोड़ना, एक करना, मिलाना। इस आधार पर एकत्र अवस्थिति का नाम योग है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति के उपाय, साधन, युक्ति या कर्म को भी योग संज्ञा से पुकारा जाता है। अमरकोश में योग को संहननोपाय[11] इसी दृष्टि से कहा जाना समझ में आता है।

परन्तु योग का सामान्यतः जो अर्थ लिया जाता है वह उपर्युक्त अर्थ से थोड़ा हटकर है। योग का लोकगृहीत अर्थ है "समाधि"। काशिकाकार के अनुसार युज् रुधादिगण के अलावा दिवादिगण में भी पढ़ी गयी है और वहाँ इसका अर्थ है समाधि। काशिकाकार तो वस्तुतः दोनों ही अर्थों को समान महत्व देते हैं[12]। (युज् समाधौ दिवादिः। युजिर योगे रुधादिः। द्वयोरपि ग्रहणम्।) परन्तु पतंजलि के संप्रदाय में, जो वस्तुतः योग शब्द का एक प्रकार से अभिधेय बन गया है, योग का तात्पर्य समाधि से लिया जाता है। व्यास योग को स्पष्टतः समाधि से समीकृत करते हैं (योगः समाधिः)।[13] यह विचित्र संयोग कहा जाएगा कि शिवाद्वयवादी रामकण्ठ भी मुक्तकण्ठ से योग का अर्थ समाधि लेते हैं।[14] आचार्यों में और संप्रदायों में इस बात के बारे में अवश्य मतभेद है कि समाधि का वास्तविक अर्थ क्या है। पतंजलि का "चित्तवृत्तिनिरोध" (यो. सू. 1.1.2) वस्तुतः समाधि की परिभाषा है। हरिहरानंद आरण्यक के शब्दों में "इस शास्त्र में योग का अर्थ समाधि ही समझना चाहिए"।[15] उसी प्रकार यहाँ समाधि अद्वयात्मा का प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रतीति-विषयक योग[16] रूप या अद्वैतज्ञान निष्ठा रूप मानी गयी है। वस्तुतः समाधि की इसी धारणा को केन्द्र में रखकर सांख्यीय और शैवाद्वैती निष्ठाओं के भेद को सशब्द रेखांकित किया गया है।[17/18] अतः यह निर्णय अनुचित नहीं होगा कि योग निरुक्तितः और अर्थतः न तो नकारात्मक अवधारणा है और न ही सकारात्मक। सकारात्मकता और नकारात्मकता की अवधारणाएँ तो समाधि के रूपाकलन से उपजती हैं। पातंजल योग के विद्यार्थी चित्तवृत्ति-निरोध की नकारात्मकता को मात्र लाक्षणिक मानते हैं। व्यास के भाष्यकार आरण्य को यदि प्रमाण माना जाए तो योग का चरम लक्ष्य है–कैवल्यरूप परम शान्ति[19]। योग अर्थात् समाधि कोई नितान्त निष्क्रिय या निषेधात्मक

स्थिति नहीं है। यह तो "स्ववश तथा पूर्ण चेतन अवस्था है। ....चेष्टा के बिना स्वतः अथवा इच्छा के बिना प्राप्त चित्त का स्तब्ध भाव योग नहीं है। केवल वृत्तिरोध योग नहीं है वरन् ग्रहीता, ग्रहण व ग्राह्य आदि किसी में इच्छापूर्वक चित्त को स्थिर कर सारी वृत्तियों का निरोध ही योग है।[20] यदि योग की यह व्याख्या सही है तो महाभारत में योग की प्रवृत्तिलक्षणता की अनुस्यूति सांख्यीय योग की तथाकथित निषेधरूपता में भी अंतर्व्याप्त है। यही नहीं एक दूसरी दिशा से भी इस मन्तव्य की पुष्टि होती है। पतंजलि के यहाँ गृहीत योग की अवधारणा की छाप काश्मीर शिवाद्वैती योग की आकार-संरचना में काफी गहरे तक दिखाई पड़ती है। महीन विश्लेषण करने पर पता चलता है कि परमतत्त्व की उपलब्धि के लिए शैवाद्वय योग दो पद्धतियों का उपयोग करता है--एक पद्धति है विकल्प-संस्कार की, जिसे शब्दान्तर से चित्तवृत्ति संस्कार भी कहा जा सकता है और दूसरी पद्धति है वृत्ति-क्षय की। इन दोनों पद्धतियों के पारस्परिक समीकरण पर हम अभी विचार करेंगे। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि वृत्तिक्षय वाली पद्धति का उपयोग शिवाद्वयवाद के अन्यतम घटक स्पन्दसंप्रदाय में अपेक्षाकृत आग्रहपूर्वक हुआ है। मजे की बात है कि स्पन्द-दर्शन के दोनों ही शिविर-कल्लटानुयायी और वसुगुप्त के पक्षधर दोनों--इस बात में एकमत हैं। कल्लट के वशंवद रामकण्ठ तुरीया स्थिति में सारी वृत्तियों का अस्तभाव मानते हैं।[21] वसुगुप्त के पक्षस्थ क्षेमराज सारी इतर वृत्तियों के प्रशमन को योग का सर्वाधिक उपकारक अंश मानते हैं।[22] स्पन्द है वृत्तिक्षयात्मक पद, इसी स्पन्द तत्त्व के विवेचन के लिए योगी लोग निरन्तर उद्यत रहते हैं। इसे चाहे वृत्तिक्षय कहें, चाहे वृत्ति प्रशय संप्रदाय में समान अर्थ ही व्यक्त करते हैं।[23] स्वयं अभिनव-गुप्त ने योगी की विशेषता मानी है वृत्तिक्षय के सुख का अनुभव।[24] ऊपर चर्चित दूसरी पद्धति-विकल्प संस्कार की चरम स्थिति को निर्विकल्पक माना गया है। निर्विकल्पक का अर्थ है विकल्पों का क्षय जो वृत्तिक्षय या वृत्ति के अनादर से एक रूप है,[25] यही संवित् की प्रकटता की स्थिति है। इसलिए दोनों पद्धतियाँ परिणाम की दृष्टि से एक ही हैं। अतः योग की पारम्परिक अनुगूंजों और सांप्रदायिक दृष्टि का सामञ्जस्य किया जाए तो योग का अर्थ है ऐसी समाधि जिसमें सारी वृत्तियों का क्षय हो जाने के कारण परम प्रमातृता या चित् प्रमातृता की अद्वयानुभूति कभी लुप्त नहीं होती।[26] साम्प्रदायिक शब्दावली में यह शुद्धविद्या से उत्पन्न होनेवाली स्वरूप निश्चय की अवस्था है।

यह समाधि जीवनव्यापी साधना का गलित फल है। अतः साधना की इस संपूर्ण प्रक्रिया को भी योग कहते हैं। सच पूछा जाए तो भारतीय दर्शन का अंतरंग स्वभाव है साधनाप्रवणता जिसे स्वर और प्राण मिलते हैं योगनिष्ठता से। काणे के अनुसार भारत में योग की मुख्यतः दो धाराएँ हैं। एक मन को अनुशासित करने से संबद्ध है जिसका प्रतिपादन पातंजल योग सूत्र करता है और दूसरी शरीर को अनुशासित करने से जिसका पल्लवन गोरक्षशतक व हठयोगप्रदीपिका इत्यादि में होता है। इन्हें क्रमशः योग/राजयोग तथा हठयोग के पारिभाषिक नामों से भी जाना जाता है। पातंजल योग चक्रों व नाडियों की बात नहीं करता परन्तु हठयोग में आसन, प्राणायाम, मुद्राओं और

अन्य साधना का लक्ष्य है कुंडलिनी को विभिन्न चक्रों और सुषुम्णा नाडी से ब्रह्मद्वार तक ले जाना। तंत्रों में सामान्येन जिस योग का वर्णन मिलता है वह कई अंशों में दोनों का मिश्रित रूप है। परन्तु शिवाद्वयवादी तंत्रों में हठयोग की सारी प्रक्रिया को मानसिक रूप से भी घटित किए जा सकने की वास्तविक संभावना के कारण यह राजयोग की ही एक अवान्तर पद्धति के रूपं में ही उभरती है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में योग की एक तीसरी धारा भी है और वह है अति मानस धारा जिसका संबंध व्यक्ति की चिद्रूपता प्रकाशन से है। शिवाद्वयवाद में अभ्युपगत योग का संबंध इसी तीसरी धारा के विकास से जुड़ा हुआ है।

हम अपने मूल प्रश्न की ओर वापस चलें। त्रिक धारा में सांचे में ढले योग के किसी एक प्रतिनिधि रूप की परिकल्पना कठिन काम है। इस दिशा में किसी भी नतीजे पर पहुँचने के लिए हमें परिभाषात्मक स्थलों को वर्णनात्मक स्थलों से अलग करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए स्वच्छन्दतंत्र में आया हुआ "दशधा योगमार्गेण" शब्द योगांगों की कोई नयी सूची प्रस्तुत नहीं करता, केवल प्राणायाम के ही स्वरूप की षड्विध विवृति करता हुआ दश प्रकारता की चर्चा करता है।[27] ऐसे स्थल अनेक हैं और यहाँ पर उनका उल्लेख न संभव है और न वांछनीय। थोड़ा मथने पर योग के तीन प्ररूप मिलते हैं। इनमें से दो त्रिबिध हैं और एक षडंग। पहला त्रिविध योग मालिनीविजयोत्तर तंत्र में मिलता है पर अभिनवगुप्त इत्यादि में उसका विकास एक तरह से चतुर्विध रूप में होता है, अतः इसे हमने चतुर्विध कहा है। दूसरा त्रिविध योग नेत्रतंत्र में मिलता है जिसका पल्लवन क्षेमराज के हाथों होता है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्षेमराज इस योग पर कुल-प्रक्रिया और तन्त्र-प्रक्रिया दोनों दृष्टियों से विचार करते हैं।[28] तीसरे षडंग-प्ररूप के बीज भी परोक्षतः मालिनीविजय में मिल जाते हैं पर उसे अपेक्षाकृत मूर्त आकार मिलता है जयरथ में।

हम सबसे पहले मालिनीविजयोत्तर में प्रतिपादित योग के प्ररूप से प्रारम्भ करते हैं। इस प्रसंग में शायद यह उल्लेख भी रोचक हो कि नेत्रतंत्र में योग एक अवान्तर विषय के रूप में आया है जबकि मालिनीविजय शब्दतः योगपरक तंत्र है—उसका प्रादुर्भाव वास्तविक योग के प्रतिपादनार्थ हुआ है।[29] परन्तु इस आरोप के बावजूद भी उपलब्ध सामग्री बहुत ही अल्प है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि यहाँ योग का अर्थ है एकत्व की प्राप्ति।[30] तीन समावेशों की भांति यह योग भी तीन प्रकार का माना गया है,[31] यद्यपि इन संज्ञाओं का उल्लेख नहीं किया गया है। इन तीन समावेशों की चर्चा दूसरे अधिकार में आयी है। ये समावेश हैं आणव, शाक्त और शांभव।[32] इससे सहज ही अनुमान होता है कि इन तीनों योगों को भी आणव, योग, शाक्त योग और शांभव योग की संज्ञा से पुकारा जाना चाहिए। इन योगों के स्वरूप या पद्धति को लेकर हमें कोई स्वतन्त्र मन्तव्य उपलब्ध नहीं होता। परन्तु यदि त्रिविध समावेशों के निरूपण को ध्यान से देखा जाए तो साफ हो जाता है कि वहीं पर इन समावेशों के स्वतन्त्र साधनों का प्रतिपादन किया गया है। दी हुई परिस्थिति में उन्हें ही योग कहा जाना चाहिए। इस प्रकार प्राणों के मूल पर एकाग्र ध्यान (उच्चार), वाह्य और

आन्तरिक शारीरिक अंग रचना (करण), वायु में ध्वनियों की आवर्तन (वर्ण), क्रिया के आश्रय का मानस न्यास (स्थान प्रकल्प) आणव योग के अन्तर्गत आता है। प्राणीय उच्चार के बिना वस्तु का मानस चिन्तन शाक्त योग है। गुरु के प्रबोधन द्वारा या आत्म संवित् का विकल्प-मुक्त उद्‌बोध शांभव योग है। इस संदर्भ में योग की भावना साधनरूप में हुई है और साध्य-समावेश-के उपकरण के निर्वचन के माध्यम से त्रिविध योग का प्रतिपादन हुआ है। योग के प्ररूप के संबंध में इसके अतिरिक्त सामग्री मालिनीविजयोत्तर में नहीं मिलती।

मालिनीविजयोत्तर में प्रतिपादित इस योग का उपवृंहण परवर्ती शास्त्र में दो प्रकार से हुआ है। एक ओर साधनात्मक ज्ञान की विधा के रूप में और दूसरी ओर योग के विभिन्न सोपानों के रूप में। निश्चय ही पहली विचारधारा पर मालिनीविजय के अतिरिक्त विज्ञानभैरव तंत्र का भी प्रभाव पड़ा है और इन तीनों उपायों को एक ही ज्ञान की तीन-भेद, भेदाभेद और अभेदमयी स्थितियों के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरा रूप इन्हें त्रिक योग की ही विभिन्न भूमिकाओं के रूप में ही स्वीकार करने का रहा है। बाद में मालिनीविजय के चतुर्थ अधिकार से प्रेरणा लेकर इन दोनों ही दशाओं का एक में समन्वयन किया गया है। तंत्रालोक में अभिनवगुप्त स्वयं यही करते हैं, परन्तु यह समीकरण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी तात्कालिक रूप से प्रासंगिक नहीं है। मालिनीविजय वार्तिक के दोनों काण्डों में ज्ञान और योग पर यह क्रमिक आग्रह स्पष्ट है।[33] परवर्ती शास्त्र में एक और परिवर्तन आया है वह है अनुपाय के रूप में चतुर्थ विधा का आसूत्रणं। चतुर्विध योग की अभिधा के पीछे इस परवर्ती आयाम को भी समेट लेने की दृष्टि रही है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह चतुर्विध योग त्रिक मार्ग की अपनी विशेषता है।[34] इस योग पद्धति को अभिनव हृदयस्पन्दनात्मक उपाय-पद्धति कहते हैं।[35] और इस पद्धति का उपयोग, यदि हम अपनी शब्दावली में कहें तो मालिनीविजयोत्तर में प्रतिश्रुत और उपक्रान्त आनन्द-योग[36] की सिद्धि के लिए, करते हैं। छह आनन्दों की यह सोपान परम्परा निजानन्द से प्रारम्भ होकर जगदानन्द में पर्यवसित होती है जिसमें चरम अद्‌वय दशा का उल्लास छलक पड़ता है।[37] इसकी उपलब्धि में हृदयस्पन्द का पहला सोपान है शाम्भव जिसमें पूर्णाहन्ता है। दूसरा है शाक्तोपाय[38] और तीसरा है हृदयोच्चार[39] जिसे आणवोपाय कहने में कोई हानि नहीं है। वस्तुतः यह प्राणीय उच्चार की भूमि है जिसकी सोपानमालिका से हम अन्ततः चिद्‌भूमि में पहुँचते हैं। तत्त्वसर्ग और वाग्व्यापार के साथ साथ भ्रकुटी, बिन्दु, नादान्त और शक्ति की सोपान परम्परा से भैरवीय भूमि की प्राप्ति इसका लक्ष्य है। यहाँ पर योगी स्वात्मस्थ होता हुआ चाहे शिवचित्स्पन्द की भूमि में विश्रान्त हो और चाहे बाह्य विषय रूप विशेषस्पन्द में वह जगदानन्दरूप सामान्याभासमयी[40] भैरव भूमि में ही आविष्ट रहता है।[41] ये तीनों उपाय सोपानीभूत होकर जिस परमस्थिति पर पहुँचते हैं वह अखिल वृत्तियों के विलय की स्थिति है।[42] यह ध्यान देने की बात है कि अभिनव इसे पुनः[43] शाम्भव योग[44] से जोड़ते हैं और यह भी कि योग की जो आधारभूत परिभाषा है उसका विस्तार यहाँ तक मिलता है। अभिनव इस भूमि को अनुपाय की स्थिति कहते हैं, केवल उपाय और उपेय को जोड़ने के लिए।

इस अर्थ में ही अनुपाय का उल्लेख होता है, वस्तुतः वह शांभव की ही पार्यंतिक स्थिति है[45]। वृत्तियों के विलय का अर्थ है एक मात्र चिद्वृत्ति होना जिसमें विश्व अपनी समग्रता में सर्वदा भासित होता है। इसी नित्योदित समाधि का नाम जीवन्मुक्ति है और यही त्रिक कया अनुत्तर योग है।[46]

स्वयं अभिनव के तंत्रालोक, तंत्रसार तथा परवर्ती युग के क्षेमराज एवं महेश्वरानन्द इत्यादि के ग्रन्थों में इस उपाय योग के अनेक आयामों का विकास हुआ है परन्तु लेख की सीमाओं की दृष्टि से सबको समेट पाना न संभव है और न उचित ही। फिर भी दो एक बातों का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। पहली बात तो यह है कि आणव योग का संबंध देह और प्राण, शाक्तयोग का चित्त या भावना और शांभव का शुद्ध चेतना से जोड़ा गया है। अर्थात् देह और प्राण के व्यापार का अवकाश आणव में, चित्त और बुद्धि के व्यापार का शाक्त में और संविन्मयता का अवकाश शांभव में माना जाता है। इन तीनों प्रकार के योगों का विधान अभिनवगुप्त कुण्डलिनी योग के संदर्भ में भी करते हैं। योग भेद से कुण्डलिनी भी तीन प्रकार की हैं–प्राण कुण्डलिनी, नाद कुण्डलिनी और बोध कुण्डलिनी। शारीरिक योग, जो आणवोपाय स्थानीय है और प्राणायाम इत्यादि से साध्य है, से प्राण कुण्डलिनी जागृत होती है। मानसिक योग, जो शाक्तोपाय स्थानीय है और चक्रप्रणिधान आदि से साध्य है, से नाद-कुण्डलिनी जागृत होती है। और आत्मिक योग जो शांभवोपाय स्थानीय है और शुद्ध अहंभाव के अनुसंधान से साध्य है, से बोध कुण्डलिनी जागृत होती है।[47] अहंकार के आत्मभाव में पूर्ण समर्पण या समावेश के माध्यम से चिद्भाव का गंभीरीकरण होता है, जिसका परिणाम है चेतना का ऊर्ध्वोन्मुख (vertical)/आनुपूर्व विकास। अथवा आत्मावस्थान के द्वारा चिद्भाव का विस्तारीकरण होता है जिसका प्रतिफल है चेतना का समतल (horizontal) विकास। विश्वाहन्ता के निरन्तर उदय का यही अर्थ है। इस योग का तीसरा आयाम है चित्तात्मकता। मात्र चित्त के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने पर तीन पार्यन्तिक स्थितियाँ इस योग की त्रिविधता की व्याख्या करती हैं–चित्तविश्रान्ति, चित्तसंबोध और चित्तप्रलय।[48] ये वे भूतियाँ हैं जिनका सम्बन्ध विकल्प, शुद्धविकल्प और निर्विकल्प स्थितियों से जोड़ा गया है।

योग की इस प्रक्रिया के पल्लवन में क्षेमराज का योगदान उल्लेखनीय है। स्पन्दनिर्णय और शिवसूत्रविमर्शिनी में एक ओर तो वह मालिनीविजय स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव और नेत्र आदि तंत्रों का स्पन्दसिद्धान्तों से समन्वयन करते हैं और इस प्रक्रिया में दूसरी ओर उसे पातञ्जल योग की पृष्ठभूमि में रखते हुए अपेक्षाकृत ठोस आधार प्रदान करते हैं। क्षेमराज के अनुसार मालिनीविजय में आणव योग की परिभाषा में "ध्यान" शब्द का प्रयोग प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि सभी को ग्रहण करता है।[49] आगे के विवेचन से स्पष्ट है कि देह शुद्धि और भूत शुद्धि की भी इसमें गणना है। दूसरे शब्दों में पातञ्जल योग प्रक्रिया आणव योग में अन्तर्भुक्त है। आणवयोग से मोहावरण के कारण तत्तत्त्वभोग रूप सिद्धि होती है।[50] मोह के अभिनव से सहज विद्या का उदय होता है। यह शाक्तयोग की भूमि है। सहज अर्थात् शुद्धा विद्या के उदय से परामृतमय आत्म-

कर्तृत्वमय आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है। यह शांभवयोग की भूमि है।[51] क्षेमराज की दृष्टि में आणवोपाय की गणना स्थूलयोग और शाक्त-शाम्भव की सूक्ष्म योग में होती है।[52] स्थूलोपाय परमसंवित् की अनुभूति में साक्षात् साधन नहीं बन पाता।

मालिनीविजयोत्तर में भी योग के मूल्यात्मक आधार पर दो विभाग किए गए हैं—कृत्रिम और अकृत्रिम। सामान्य रूप से "कृत्रिम योग" शब्द से पातञ्जल योग पर चुटकी कसी गयी है। प्राणायाम इत्यादि की सहायता से किया गया योग कृत्रिम है, इसलिये वहाँ मुक्ति की संभावना अकिंचित्कर है।[53] "अकृत्रिम योग" अर्थात् त्रिक योग की विशेषता यह है कि यहाँ तर्क योग का साक्षात् या सर्वोत्तम अंग है।[54] हेयोपादेय विवेक रूप शुद्ध बुद्धि को पयोयशः भावना शब्द से भी कहा गया है।[55] इसके उदय से तुरन्त समाधि या परम पद लाभ होता है।[56] प्राणायाम इत्यादि तर्क के माध्यम से ही उपयोगी हो पाते हैं[57], अन्यथा नहीं। सत्तर्क के स्वरूप पर तंत्रालोक और तन्त्रसार में बड़ा विचार हुआ है। शुद्धाविद्या तथा शक्तिपात से उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है।[58] सत्तर्क को शुद्ध विद्यात्मक और प्रातिभ कहने का अर्थ यह है कि योग को मन और चित्त की भूमि से हटाकर शुद्ध वेदन (pure gnosis) की भूमि पर प्रतिष्ठित किया जा रहा है। शरीर और मन से ऊपर विशुद्ध प्रज्ञा के धरातल पर योग की प्रतिष्ठा योग की तीसरी धारा या तीसरे स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। यह विचारद्वय-प्राणायाम आदि का तिरस्कार और सत्तर्क का अभ्युपगम—त्रिकयोग के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जयरथ इस विवेचन में योग के एक नए प्ररूप की संभावना देखते हैं।

जयरथ के अनुसार त्रिक योग अष्टांग योग न होकर षडंग योग है। जहाँ तक अभिनवगुप्त का प्रश्न है वे मालिनीविजय के कृत्रिम और अकृत्रिम भेदों को एक अन्य आगम—वीरावलि—का आश्रय लेते हुए पतञ्जलि की मूल प्रक्रिया की छाया यहाँ स्वीकार करते जान पड़ते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के ये पाँच अंग बहिरंग है और इनकी तुलना में धारणा, ध्यान और समाधि को पातञ्जल योग में अन्तरंग माना गया है।[59] परन्तु यह अंतरंग त्रितयी भी निर्बीज समाधि की दृष्टि से बहिरंग है।[60] निर्बीज समाधि में अन्तरंगतम है अभ्यास और पर वैराग्य।[61] पातञ्जल योग के इस त्रिविध साधनक्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) अन्तरंगतम = अभ्यास, पर-वैराग्य
(2) अन्तरंग = ध्यान, धारणा, समाधि
(3) बहिरंग = यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार

इस पातञ्जल प्रक्रिया में अभिनवगुप्त केवल एक ही अन्तर करते हैं कि वह यमादि अष्टांगों को स्वपूर्वपूर्वोपाय रूप से अन्ततः तर्क में उपयोगी मानते हैं, संवित् के प्रति उनका कोई उपयोग नहीं है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि समाधि रूप अंतिम अंग भी तर्क का उपकारक या सहायक है[62] और वस्तुतः तर्क अन्तिम और सर्वोच्च अंग है। हम यहाँ पर आकर अटकते हैं। जयरथ का कहना है कि यद्यपि तन्त्रयोग के 6 अंग हैं परन्तु उन्हें छोड़कर अभिनव के द्वारा आठ अंगों के

उल्लेख के पीछे आशय यह है कि कहीं भी आठ से अधिक अंग नहीं माने गए हैं। और ये सारे तर्क के ही उपाय हैं न कि संवित्साक्षात्कार के। वह तो केवल तर्कलभ्य है।[63] इस आधार पर शैव योग पातञ्जल योग से भिन्न और विशिष्ट है।[64]

यह छः अंग कौन हैं और इनका स्वरूप क्या है, इस पर जयरथ प्रायः मौन हैं। तन्त्रालोक 1.15 की व्याख्या में तर्क शब्द की व्याख्या में वह अनाम स्रोत से एक श्लोक उद्धृत करते हैं[65] जिसमें प्रत्याहार से समाधिपर्यन्त पातञ्जल योग के ही 5 अंगों की गणना की गयी है और धारणा तथा समाधि के मध्य तर्क को रखा गया है। वस्तुतः यह श्लोक हम उससे पहले भट्ट भास्कर के गीता-भाष्य में पाते हैं।[66] परन्तु यहाँ भी यह किसी अन्य स्रोत से उद्धृत ही है।[67] यहाँ पर दो बातें विचारणीय हैं कि इस उद्धरण का उद्गम क्या है, क्योंकि इस निर्णय के बिना त्रिक में षडंगता के आविर्भाव का निश्चय सम्भव नहीं है। और दूसरे, षडंग के अवयवभूत तर्क और अन्य योगांगों का स्वरूप और प्रक्रियागत स्थिति क्या है। तभी त्रिक में षडंगता की मान्यता का आधार स्पष्ट हो सकेगा। मैत्रायणी उपनिषद्[68] में जयरथ वाले ही 6 अंगों का उल्लेख मिलता है पर वहाँ क्रम इस प्रकार है–प्राणायाम, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि।[69] पांचरात्र आगम के अन्तर्गत विष्णु संहिता (30.61-72), वैखानस सूत्र (5. 2. १6) इत्यादि में भी थोड़े कम भेद से इन्हीं अंगों का उल्लेख हुआ है। दूसरी ओर थोड़ी गवेषणा से पता चलता है कि जयरथ तथा भट्ट भास्कर का उद्धरण अपने उसी रूप में हमें गुह्य समाज तन्त्र[70] में उपलब्ध होता है केवल एक परिवर्तन के साथ। वहाँ "तर्कश्चैव" की जगह "अनुस्मृति" का प्रयोग हुआ है।[71] बाद में नाडोपाद ने अपनी सेकोद्देश टीका में इन पर विस्तार से विचार किया है। अनुस्मृति का अर्थ है "पूर्व जन्मों में हुई उपलब्धि"यों का स्मरण जो कि तर्क की इस संप्रदायगत धारणा से भिन्न है। ऊपर के विवेचन से लगता है कि षडंग योग की धारणा तन्त्र योग की सामान्य विशेषता के रूप में उद्गत हुई थी। बौद्ध, वैष्णव तन्त्रों में किसने किससे लिया यह कहना कठिन है। सामान्यतः यम, नियम और आसन के परित्याग के पीछे तंत्रों की यह मान्यता है कि तन्त्र योग सुखोपाय है और तन्त्रेतर योग शरीर पीड़ा के कारण कष्ट साधन हैं।[72] और यह भी कि योग का सम्बन्ध चित्तवृत्ति के अनुशासन से है अतः शरीर से संबद्ध यम, नियम और आसन की कोई सार्थकता नहीं। मालिनीविजय में कृत्रिम रूप से व्याख्यात प्राणायाम आदि लिंगों वाले योगों (18.19) में इस प्रकार पातञ्जल योग ही नहीं आता, बल्कि अन्य तान्त्रिक परम्पराएं भी आ जाती हैं जो तर्क को स्वीकार नहीं करतीं।

फिर भी यह समस्या रहती है कि क्या त्रिक योग षडंग है। जहाँ तक मालिनीविजय और वीरावली तन्त्रों का प्रश्न है, वे इस पर शान्त हैं। उनका कहना है कि योगांग दो प्रकार के हैं– साधारण और उत्कृष्ट। जहाँ अन्य सब योगांग साधारण हैं, तर्क उत्कृष्ट अंग है। तर्क बुद्धि की वह स्थिति है जिसमें वह हेय और उपादेय का विवेक कर सकती है और हेय मार्ग में प्रवृत्त मन को भी अनामय पद की ओर प्रेरित कर सकती है। जैसा कि हम देख चुके हैं अभिनव अनामय मार्ग की प्राप्ति के हेतु सद्गुरु के पास जाने की इच्छा में इसी सत्तर्क को सक्रिय मानते हैं क्योंकि उनके लिए

वह परमेश्वर का अनुग्रह, शुद्ध विद्या है।[73] जयरथ एक अनाम स्रोत से उद्धरण देते हुए उसे "ऊह" का पर्याय मानते हैं।[74] मृगेन्द्रागम के योग पाद में[75] योग के अंग के रूप में वीक्षण (अभिवीक्षण) का उल्लेख हुआ है। उसीको ऊह भी कहा गया है।[76] वृत्तिकार नारायणकण्ठ ने यहाँ ऊह की पुष्टि में स्वायम्भुवागम को भी उद्धृत किया है। जयरथ ने जो दूसरा उद्धरण दिया है वहाँ शास्त्रों के अविरोधी तर्क को सत्तर्क कहा है।[77] जयरथ का यह उद्धरण मनु के कथन का अनुवदनमात्र है।[78] भारतीय परम्परा में तर्क की प्रतिष्ठा तो निरुक्त के काल से चली आ रही है। ऋषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि हमारे मध्य अब ऋषि का काम कौन करेगा? इसके समाधान में देवताओं ने मनुष्य को तर्क शक्ति दी कि यही अब तुम लोगों के बीच ऋषि का काम करेगी।[79] इससे यह स्पष्ट है कि तर्क सत्तर्क की मान्यता वैदिक और तांत्रिक संस्कृतियों के उर्वर विनिमय का दस्तावेज़ है। परन्तु त्रिक् योग की षडंगता इससे भी पुष्ट नहीं होती।

शिवाद्वयवादी परम्परा में जयरथ के अतिरिक्त केवल एक व्यक्ति षडंग योग का उल्लेख करता है। वह है क्षेमराज। क्षेमराज नेत्र तंत्र 1.8 पर अपनी टीका में योगी का अर्थ लेते हैं षडंगयोग के माध्यम से ईश्वर की आराधना करने वाले।[80] इसके अतिरिक्त क्षेमराज भी मौन हैं। स्वयं नेत्र तंत्र अष्टांग योग का ही उल्लेख करता है।[81] इस अष्टांग योग और पातञ्जल अष्टांग योग के पारस्परिक अन्तर का अवलोकन हम यथासमय करेंगे। ऊपर हमने अभी मृगेन्द्रागम को भी अष्टांग योग का ही पोषक पाया था यद्यपि वहाँ भी पातञ्जल प्रक्रिया से भेद है। 18वीं शताब्दी के भास्करकण्ठ, अभिनवगुप्त की ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के टीकाकार भी योग का अर्थ अष्टांग योग से ही लेते हैं।[82] दूसरे षडंग योग का जो क्रम जयरथ लेते हैं, वह क्रम मालिनीविजय में तो है ही नहीं (केवल इतना कि समाधि तर्क के बाद पढ़ी गयी है) वह तन्त्रालोक में प्रतिपादित अभिनव की दृष्टि से भी समर्थित नहीं होता। जयरथ के अनुसार तर्क समाधि के पूर्व है जबकि अभिनव के अनुसार समाधि के बाद तर्क आता है, अंतिम योगांग तर्क है।[83]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना संभवतः अनुपयुक्त नहीं होगा कि तन्त्रयोग की षडंग प्रकृति के प्रभाव में कई बार यह प्रयास किया गया कि त्रिक योग की मूल धारा को मौलिक रूप षडंग योग की धारा में ढाल लिया जाए परन्तु त्रिक योग की सम्पूर्णता वादी (अष्टांग) और दूसरी ओर अद्वयवादी (एक मात्र सत्तर्क) दृष्टि के कारण यह संभव नहीं हो सका। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि योग के मूल प्ररूप को ग्रहण करते हुए भी शैव तान्त्रिकों ने उसमें आवश्यक संशोधन किए हैं। यही कारण है तर्क को अन्त्य योगांग मानकर भी हमारा प्रतिज्ञात योग और समाधि का समीकरण खंडित नहीं होता। अभिनव की दृष्टि में पातञ्जल समाधि योगांगीभूत है जब कि यहाँ तर्क से अद्वय संवित की अभिव्यक्ति रूपा समाधि उपेयरूपा है।

अब हम तन्त्र योग के तीसरे प्ररूप की ओर चलते हैं। नेत्र तन्त्र की प्रकृति वस्तुतः त्रिकात्मिका है। परम तत्त्व के बोध के लिए यहाँ तीन उपायों का उपदेश किया गया है—मन्त्र, योग और ज्ञान।[84] इनमें से योग भी स्थूल, सूक्ष्म और पर भेद से तीन प्रकार का है। इनका वर्णन मुख्य रूप

से 6 से 8वें तथा बीसवें अधिकार में संक्षेप में हुआ है। परन्तु 6 से 8वें अधिकारों में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे हैं उपाय, यजन और ध्यान। परन्तु दूसरे तथा 20वें अधिकार के साथ संगति बैठाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान, यजन और उपाय शब्दों से यहाँ योग अभिप्रेत है। होम, जप, मुद्रा, ध्यान, यन्त्र और विविध मन्त्र की गणना स्थूल योग के अन्तर्गत होती है। षट्चक्र तक षोडश आधारों के माध्यम से तथा कलाप्रधान नाडियों के उदय इत्यादि से सिद्ध होने वाला योग सूक्ष्म है और अमृतेश के विश्वात्मक अद्वय स्वरूप की भावना पर योग है।[85] स्थूलोपाय से ऊर्ध्वगति या शुद्धविद्यादि पद की प्राप्ति होती है, सूक्ष्म से शरीर में दिव्यता के आपादन द्वारा मृत्युजित् भट्टारकता की प्राप्ति होती है और पर योग से योगी की पूर्ण मुक्ति और परम प्रमातृता का आपादन होता है।[86]

सूक्ष्मयोग का विवेचन क्षेमराज ने कुल प्रक्रिया और तन्त्र प्रक्रिया[87] के आधार पर दो प्रकार से किया है। कुल प्रक्रिया के अनुसार संक्षेप में परमशिव से अविनाभूत चितिशक्ति को सुषुम्णा नाड़ी में स्थित उदान मार्ग से ऊपर उठाना चाहिए। मन्त्रवीर्य के प्रभाव से जन्माधार में प्रतिष्ठित हो योगी को नादरूपी सुई की सहायता से सोलह आधार और बारह ग्रन्थियों का भेदन कर सुषुम्णा मार्ग से द्वादशान्त धाम तक पहुँचना चाहिए। यहाँ विराजमान नित्योदित पराशक्ति और निष्कल परमशिव का अपने हृदय-कमल में ध्यान करने से परानन्द स्वरूप अद्भुत रसायन की प्राप्ति होती है। योगी ऐसी भावना करे कि वह रसायन अनन्त नाड़ियों के माध्यम से उसकी रग-रग में भर गया है। इस विधि से अजर-अमर होकर योगी साक्षात् मृत्युजित् भट्टारक बन जाता है

तन्त्र प्रक्रिया के अन्तर्गत सूक्ष्म योगविधि का साध्य है योगी के चित्त को कन्दभूमि में स्पन्दनशील प्राणशक्ति के साथ एकाकार कर देना। खेचरी दशा में अवस्थित योगी ज्ञान शूल से छह चक्रों, सोलह आधारों, बारह ग्रन्थियों का भेदन कर द्वादशान्त धाम में प्रवेश कर जाता है। वहाँ परम शिव का साक्षात्कर उसको समनापद में उतार लाकर सृष्ट्युन्मुख कर देता है। अपान का उल्लास अर्थात् चन्द्रोदय होने पर उससे प्राप्त अमृत से सुषुम्ना मार्ग से अपनी अन्तर्मुख शक्ति को नीचे लाकर, अपने सभी चक्रों और आधारों को सींचता है। यह अमृत योगी के शरीर को निर्मल बना देता है। और वह इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्ति संपन्न शिव से अभिन्न हो जाता है। बीसवें अधिकार में क्षेमराज इसे शाक्तोपाय से एकीकृत करते हैं। उनके अनुसार सहज नाद का परामर्श करने वाली ज्ञानशक्ति से इसकी प्रतीति हो सकती है।[88]

अष्टांग योग को ही यहाँ पर योग कहा गया है।[89] परन्तु यह अष्टांग योग पातञ्जल अष्टांग योग से भिन्न है। सारे नाम यद्यपि पतञ्जलि से ही लिए गए हैं परन्तु उनकी ज्ञानपरक परिभाषाएँ की गयी हैं। यम है संसार से नित्य विरति। नियम है पर तत्त्व की नित्य भावना। मध्यम प्राण अर्थात् उदान का आश्रय लेकर ज्ञानशक्ति के सहारे ज्ञानशक्ति में स्थित रहना ही आसन है। प्राण, अपान, समान आदि प्राणों में संपन्न होने वाले रेचक, पूरक आदि स्थूल भेदों को, और आन्तर मध्य धाम में होने वाले रेचन, आचमन आदि प्राणायाम को भी छोड़ दें तो जो सूक्ष्मातीत प्राणात्मिका

चित् के स्पन्दन की अनुभूति होती है वही प्राणायाम है। चित्त के द्वारा जो शब्द स्पर्श आदि विकल्पात्मक वृत्तियों के अनुभव हैं उनको छोड़कर अपने चित्त द्वारा परमधाम में प्रवेश ही प्रत्याहार है। बुद्धि के गुणो को लांघकर निर्ध्येय, विभु, अव्यय व स्वसंवेद्य तत्त्व का ध्यान करना ही ध्यान है। जिसके द्वारा परमात्म तत्त्व को धारण किया जाए वह धारणा है। समाधि की चार व्याख्याएँ नेत्र तंत्र[90] में उपलब्ध हैं। क्षेमराज के अनुसार ये चारों क्रमशः आणव, शाक्त, शांभव और अनुपाय लभ्य समाधियों के निर्वचन हैं। सभी प्राणियों में समता बुद्धिआधान समाधि का प्रथम प्रकार है। अहन्ता और इदन्ता का एकीकरण कर मैं ही शिव हूँ और मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है यह भावना शाक्त समाधि है।[91] क्षेमराज इसे शुद्धविद्या से उत्पन्न अध्यवसाय रूप मानते हैं। यह देखना निश्चय ही रोचक होगा कि यदि क्षेमराज की व्याख्या सही है तो अभिनवगुप्त के द्वारा सत्तर्क को शुद्धाविद्या रूप मानना और उसे अद्वय संवित् के लाभ का निमित्त मानना और यहाँ प्रतिपादित समाधि की दूसरी विधा में अत्यन्त साम्य दिखाई देता है। क्षेमराज की दृष्टि से समाधि की शैव सम्प्रदाय गत यही पारम्परिक अवधारणा है। स्वसंवेद्य संवित्स्वरूप का स्वाभाविक रूप में भासित होना समाधि की तीसरी विधा है जो अनुपायसाध्य सततोदित अव्युत्थान समाधि से एकरूप है।[92] जड वर्ग तथा चेतन वर्ग में वर्तमान नित्य और शाश्वत चित्तत्व का अपनी वृत्ति में स्फुरण निर्विकल्प शांभव समाधि है।

नेत्र तंत्र में प्रतिपादित इस त्रिविध योग–पर सूक्ष्म स्थूल–में भेद का निमित्त है–उनका क्रमशः मन्त्र, योग और ज्ञान पर प्रधानतया आश्रित होना।[93] इस दृष्टि से इन तीनों और उपाय चतुष्टय में एकरूपता की छाया देखी जा सकती है। स्थूल ध्यान रूप स्थूल योग को आणव के उपाय से, सूक्ष्म ध्यान रूप सूक्ष्म योग को तन्त्र और कुल प्रक्रिया-भेद से शाक्तोपाय शोभवोपाय रूप (इस समीकरण का आश्रय चिन्तन से अधिक शक्ति की उल्वणता से है) और पर योग को पर ध्यान, ज्ञान रूप अनुपाय से एकीकृत किया जा सकता है। पर योग से निष्पद्यमान समाधि चतुष्टय का यही सहज फलितार्थ होना चाहिए। इस बात को थोड़ा बढ़ाकर यों कहा जा सकता है नेत्र तंत्र के त्रिविध योग और मालिनीविजय में वर्णित त्रिविध, चतुर्विध योग में भले ही साक्षात् सामनन्तर्य न हो, उत्तरत्र प्रतिपादित योग चतुष्टय का यहाँ की समाधि चतुष्टय से अवश्य समन्वय संभव है।

जहाँ तक नेत्रस्थ अष्टांग और पातंजल अष्टांग योग के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है,पातंजल आष्टांग योग क्रिया प्रधान है और नेत्र तंत्र का अष्टांग योग ज्ञान प्रधान। क्षेमराज इसी बात को दूसरे ढंग से रखते हैं। वे कहते हैं कि नेत्र तन्त्र में अष्टांग योग का प्रतिपादन लोकोत्तर दृष्टि से हुआ है, लक्षणया जिसका तात्पर्य है कि पातञ्जल योग में अष्टांगता लौकिक है।[94] पर इस प्रकार के मन्तव्यों की एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। वह इस अर्थ में कि अष्टांग प्रक्रिया से उपायों का कोई स्वीकृत या सर्वमान्य सम्बन्ध नहीं है फिर भी समाधि को उपाय गत्या चार प्रकार की मानकर और उन्हें तत्तदुपायसाध्य कहकर अष्टांग प्रक्रिया व चतुर्विध उपाय की तांत्रिक प्रक्रिया के मध्य सामञ्जस्य बैठाने का प्रयास अवश्य किया गया है। इससे कदाचित् इस संभावना को

बल मिलता है या मिल सकता है कि चतुर्विध उपायों/योगों में यह अष्टांग प्रक्रिया समभाव से वर्तमान है जो इन उपायों की कार्यन्विति की पूर्व पीठिका के रूप में उभरती है।[94a]

ऊपर के विवेचन से कतिपय तथ्य प्रकाश में आते हैं। एक तो यह कि त्रिक योग पर पातञ्जल योग का गहरा प्रभाव पड़ा है आन्तरिक संरचना और बाह्य विकास दोनों पर। इसके दो परिणाम हुए हैं। पहला षडंग योग की तरफ झुकाव के छिटपुट प्रयासों के बावजूद भी अष्टांग योग के प्रति निष्ठा रही है। और दूसरा, अष्टांग योग का अभ्युपगम उसके मूल रुझान (orientation) को परिवर्तित करके हुआ है। दूसरा तथ्य यह है कि तांत्रिक धारा की निजी विशेषताओं ने तंत्र योग को एक नया आकार, और नई गति-दिशा दी है जिसके कारण वह पातञ्जल योग और हठयोग के मिश्रित रूप का प्रन्नोता होकर भी ज्ञान और क्रिया की अन्विति रूप संविद् के उदय या उसमें समावेश के एकाभिनिवेश के कारण एक अतिक्रामी व्यक्तित्व को अर्जित करता है।

संप्रदाय में इन योगांगों के प्रति आदर होते हुए भी पूरी सोपानप्रक्रिया का क्रमवार एकत्र अध्ययन उपलब्ध नहीं होता। यम और नियम की यदि नेत्र तंत्र वाली व्याख्या छोड़ दें, जिसका समर्थन स्वच्छंदतंत्र[95] से भी होता है, तो एक तरह से इनकी कोई चर्चा नहीं मिलती।[96] पातञ्जल योग में निश्चल और सुखावह उपवेशन ही आसन है।[97] सुख साध्य शारीरिक अवस्थाओं को तंत्र में स्वीकृति मिली है। ऐसा संकेत शिव सूत्र[98] और स्वच्छन्द तंत्र पर क्षेमराज के उद्योत[99] से मिलता है। परन्तु अपनी विमर्शिनी में क्षेमराज की व्याख्या[100] ठीक नेत्र तंत्र के निकट जा पहुँचती है ज्ञानशक्ति के स्थान पर शाक्तबल को अधिष्ठान मानती हुई। प्राणायाम पर निश्चित रूप से गंभीर विचार हुआ है। पातञ्जल योग में आसनसिद्धि हो जाने पर श्वास और प्रश्वास दोनों की गतियों का जो विच्छेद है वही एक प्राणायाम है। किसी भी प्रकार से गति-विच्छेद करना ही प्राणायाम है।[101] इससे लगता है कि हठयोग और तंत्रयोग में जो रेचक, पूरक और कुम्भक इत्यादि का उल्लेख हुआ है वह योग के प्राणायाम से भिन्न है।[102] श्वास-प्रश्वास का यह गति-विच्छेद चित्त के निरोध अर्थात् गति-विच्छेद की वास्तविक पीठिका है। ध्यान, धारणा वस्तुतः परम्परया इसी प्रक्रिया का विस्तार हैं। समाधि में श्वास-प्रश्वास सूक्ष्म होते-होते अलक्ष्य हो जाते हैं या पूरी तरह से रुद्ध हो जाते हैं। मालिनीविजय में प्राणायाम की स्वरूपावधारणा "गतिभंग" की शब्दावली में मिलती है जो पातञ्जल धारणा को प्रतिध्वनित करती है। परन्तु यहाँ यह 5 प्रकार का है–पूरक, कुम्भक, रेचक, अपकर्षक और उत्कर्षक।[103] अन्यदेश की प्राप्ति का साधन उत्कर्षक और वहाँ से पुनः प्रत्यावृत्ति का अपकर्षक कहा जाता है।[104] नेत्र तन्त्र का प्राणायाम निश्चय ही योग के प्राणायाम से भिन्न है क्योंकि वहाँ परम स्पन्दन के लाभ की स्थिति है और यहाँ स्पन्दनहीनता की। प्राणायाम की तीसरी परिभाषा मिलती है प्राणों के यथास्थित प्रवाह को सिद्ध कर स्वायत्त कर लेने के अर्थ में। यह व्याख्या है क्षेमराज की स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत में।[105] परन्तु स्वयं स्वच्छन्द तन्त्र प्राणायाम की कोई व्याख्या नहीं करता पर उनके तीन प्रकार अवश्य बताता है–रेचक, पूरक और कुम्भक। उनके दो रूप हैं, बाह्य और आन्तरिक। हमारी जो सामान्य धारणा है उस अर्थ में वह बाह्य हैं। अपने

आन्तरिक रूप में मध्य मार्ग से द्वादशान्त में रेचन, हृदय में पूरण और निष्कम्पकता की स्थिति में कुम्भक होता है। यह प्रत्यय महत्वपूर्ण है क्योंकि तन्त्रों में अत्यन्त समादृत प्राणवृत्ति का उच्चार या नेत्रतंत्र में प्रतिपादित सूक्ष्म योग आदि का आधार इनसे प्रशस्त होता है। इस प्रकार इन 6 प्रकार के प्राणायामों के अतिरिक्त एक 7वाँ (या चौथा) प्रकार है प्रशान्त-कुम्भक का।[106] यह प्राणायाम की निरायास स्थिति का नाम है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के साथ जुड़कर यही स्वच्छन्द-तन्त्र के "दशधा योगमार्ग" की व्याख्या करता है।[107] तंत्रयोग में प्रत्याहार की चर्चा कठिनाई से मिलती है। पातञ्जल योग में प्रत्याहार वह है जिसके कारण इन्द्रियां विषय के सम्पर्क में आए बिना चित्त का इस प्रकार अनुकरण करती है कि मानों वह मन का स्वभाव हो।[108] क्षेमराज के अनुसार शिवसूत्र (3.5) का भूत कैवल्य शब्द प्रत्याहार की स्थिति को बताता है।[109] पंचभूतों से असम्पृक्त या विरत होने पर चित्त का प्रत्याहार होता है। परन्तु क्षेमराज इसे हठयोगी आयाम देते हैं और इसी स्थल पर संकेत करते हैं कि स्वच्छन्दतन्त्र का सुप्रशान्त प्राणायाम, जो कि प्रशान्तकुम्भक के अनन्तर होता है, प्रत्याहार स्थानीय है। हृदय से नीचे लाकर प्राण और विषयों से हटाकर मन इन दोनों को नाभि में संचारित या स्थापित करना प्रत्याहार है। मालिनीविजय में भी प्रत्याहार की चर्चा आती है। बाह्य शब्द आदि किसी विषय पर चित्त को स्थिर करने से उसी विषय का ग्रहण करते हुए चित्त उससे अभिन्न हो जाता है। उससे तन्मयता पाकर वह फिर शून्य हो जाता है, इतना शून्य कि चाहे जितना प्रयत्न किया जाए अन्य विषय व्यापार से चित्त विरत रहता है। इस प्रकार बार-बार मन के प्रत्याहारपूर्वक प्राणायाम आदि से योग की सिद्धि होती है। मालिनीविजय का यह प्रतिपादन योग के प्रत्याहार के निकट है सिवाय इसके कि इन्द्रियों के स्थान पर चित्त को रखा गया है।[110] जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि इन विवेचनों में पातञ्जलीय क्रम का अभाव मिलता है। प्रत्याहार का यह वर्णन तर्क और समाधि के बाद आता है। योगांगों में प्रथम है धारणा। व्यास धारणा सूत्र (यो. सू. 3.1 देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्द्ध-ज्योति, नासिकाग्र और जिह्वाग्र इत्यादि (आध्यात्मिक) दशा में अनुभव द्वारा चित्त का बन्ध और बाह्य विषय में इन्द्रिय वृत्ति के द्वारा चित्त का बन्ध धारणा है।[111] आरण्यक के अनुसार धारणा प्रधानतः द्विविध होती है—तत्त्वज्ञानमय तथा वैषयिक।[112] यद्यपि पहले प्रकार की धारणा में भी इन्द्रियादि के अभ्यन्तरस्थ आध्यात्मिक देशों का सहारा लेना होता है, तब भी तत्त्वज्ञान ही इसका मुख्य आलम्बन रहता है। वैषयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा प्रधान है। धारणा का प्रत्यय तंत्रों में बहुमान्य है क्योंकि चक्रों की धारणा का, विशेषकर कुण्डलिनी के ऊर्ध्वारोहण के संदर्भ में, बहुत महत्त्व है। यह बात अवश्य विचारणीय है कि जहाँ मालिनीविजय धारणा इत्यादि को बहिरंग योगांग या संविल्लाभ में साक्षात् अनुपयोगी मानता है, वहीं 12 से लेकर 17 (बल्कि एक प्रकार से 18 तक-पर यहाँ आंशिक) तक उसके 7 अधिकार सिर्फ[113] धारणा-विचार पर केन्द्रित हैं। मालिनीविजय में धारणा की कोई परिभाषा नहीं मिलती, पर कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे योग और तंत्र की धाराओं के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। धारणाओं का विभाजन या तो

लक्ष्य (विषय)-भेद से होता है या चित्त भेद से। छह प्रकार के लक्ष्य गिनाए गए हैं–व्योम, विग्रह, विन्दु, अर्ण, भुवन और ध्वनि।[114] विषयभेद से यहाँ अनेक फल भेदों की कल्पना की जाती है। परन्तु जहाँ तक चित्तभेद या चित्ताश्रित धारणाओं का प्रश्न है वहाँ फलभेद नहीं होता।[115] चित्तभेद वाली धारणाओं का विचार 17वें तथा अंशतः 18वें में हुआ है।[116] प्रधानरूप से यहाँ चार धारणाओं की गणना हुई है–शिखी, अम्बी, ईशानी और अमृता। इनके आध्यात्मिक देश हैं–नाभि, हृत्, तालु और कण्ठ। इन धारणाओं की विशेषता है एकाग्रीभूत वस्तु का उसकी विश्वात्मकता में ग्रहण।[117] और दूसरी विशेषता है हेय के परित्याग पूर्वक योगी को अनुत्तम पद की प्राप्ति।[118] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि योग की त्रिक मान्यता से धारणाओं का तालमेल बैठाया जाना। चित्रभेद और लक्ष्यभेद की तत्त्वज्ञानमयी और वैषयिक के भेद से तथा नाभि, हृत् आदि स्थानों की नाभि चक्र आदि से निकटता स्पष्ट है। क्षेमराज शिवसूत्र (3.5) के "भूतजय" शब्द को धारणा से जोड़ते हैं। पृथिवी आदि भूतों की जय का अर्थ है धारणाओं के द्वारा उनका वशीकार।[119] अपना प्रमाण वह स्वच्छन्द तंत्र (7.299-300) में ढूँढते हैं यहाँ धारणा चतुष्टयवायवी, आग्नेयी, पार्थिव और वारुणी-के नाभि, कण्ठ, हृदय और घण्टिका में आश्रयण कर अंगुष्ठ से द्वादशान्त तक पहुँच कर सारी सिद्धियों की प्राप्ति का बखान किया गया है। धारणा का यह स्वरूप पातञ्जल योग से काफी हटा हुआ लगता है। रामण्ठ धारणा की दो परिभाषाएँ देते हैं। स्पन्दकारिका की टीका में ध्येय अर्थ में चित्त की तुरन्त प्रवृत्ति को धारणा कहा है,[120] और गीता के भाष्य में भ्रूमध्य में केवल ज्योति का अवलम्बन करने वाला चित्त का बन्ध।[121] ये दोनों व्याख्याएँ योग भाष्य के दोनों अंशों का पृथक्-पृथक् अनुवदन करती हैं। क्षेमराज धारणा आदि से होने वाली सिद्धि को मोह के आवरण से उत्पन्न मानते हैं, न कि तत्त्वज्ञान से। विगलित मोह वाले योगी के लिए तो धारणा, ध्यान आदि का अर्थ ही नेत्र तंत्र वाली भंगिमा में बदल जाता है।[122]

ध्यान के विषय में त्रिक ग्रन्थों में बहुत कम कहा गया है। एक आध स्थल पर जहाँ ध्यान (जैसे तं. आ. 1.89) आदि का उल्लेख आया है वह अतिक्रामी ध्यान या जप के प्रतीक के रूप में आया है। योगांग के रूप में 'नेत्रतंत्र' की विशुद्ध ज्ञानपरक व्याख्या के अतिरिक्त केवल रामकण्ठ ही मुखर लगते हैं। स्पन्दकारिका-विवृति में उनका ध्यान का लक्षण[123] व्यासभाष्य का शब्दान्तर मात्र है। धारणा में प्रत्यय केवल अभीष्ट देश में बंधा होता है, अभ्यास के बल से विजातीय प्रत्यय का परिहार कर उसी की अखण्ड धारा का प्रवाह ध्यान है। परन्तु यही रामकण्ठ सर्वतोभद्र में चित्त से हटाकर प्राण संचार की शब्दावली में ध्यान को परिभाषित करते हैं। एक साथ समानरूप से बहने वाले प्राण और अपान नामक दोनों वायुओं को जिस एकाग्र बुद्धि से "समान" रूप में संपादित किया जाता है वही ध्यान नामक योग का अंग है।[124]

धारणा और ध्यान के सम्बन्ध में स्पन्दकारिका-विवृति में प्रतिपादित रामकण्ठ के मन्तव्य से संभावित भ्रान्ति–यह योगमत परिभाषा है या त्रिकगत–का निराकरण उचित रहेगा। वस्तुतः, रामकण्ठ की आत्मस्वीकृति के अनुसार, वह योग के विभिन्न सोपानों को दैनिक अनुभव की

त्रिकाभिमत अनेक अवस्थाओं से समीकृत करना चाहते हैं ।[125] इसलिए मूलतः ये वे पातञ्जल परिभाषाएँ हैं जो यहाँ की जाग्रत आदि अवस्थाओं से अभिन्न हैं, इस प्रकार ध्यान के विषय में तुरन्त प्रवृत्तिमात्र जाग्रति अवस्था है जो योग में धारणा के नाम से प्रसिद्ध है। समान प्रत्यय की एकतानता रूप पातञ्जल ध्यान यहाँ की स्वप्नावस्था है। संप्रज्ञात समाधि को त्रिक की सवेद्य सुषुप्तावस्था से एकरूप माना है ।[126] यहाँ पर रामकण्ठ ने जो संप्रज्ञात की परिभाषा की है वह वस्तुतः उसके एक भेद सविचारा समापत्ति (विचारानुगत) की है परन्तु वे उसे संप्रज्ञात के सभी प्रकारों में अनुगत मानकर उसकी दो अवस्था विशेषों–आनन्दानुगत और अस्मितानुगत–से एकीकृत करते हैं। रामकण्ठ के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे संप्रज्ञात समाधि में योग की मौलिक धारा (जहाँ आनन्दानुगत और अस्मितानुगत निर्विचारा समापत्ति के अधीन है) से हटकर वाचस्पति की परम्परा को स्वीकार करते हैं जो वितर्कानुगत (सवितर्का/निर्वितर्का) और विचारानुगत (सविचार/निर्विचार) के अतिरिक्त आनन्दानुगत और अस्मितानुगत को दो स्वतन्त्र भेद मानते हैं [127] जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहा गया है और योगसूत्र जिसे सब प्रकार की सालम्बन वृत्तियों के निरोध (विराग) के कारणभूत परवैराग्य के अभ्यास द्वारा साध्य संस्कार शेषरूप समाधि की शब्दावली में प्रस्तुत करता है, अपवेद्य सुषुप्त से एकरूप है ।[128] इस अवस्था में निरोध का संस्कार शेष रहता है। परन्तु असंप्रज्ञात समाधि की और भी उन्नत अवस्था जो "संस्कारहीनता" की स्थिति है, आप्तवेद्य सुषुप्ति की ही स्थिति है। सच बात तो यह है कि वह कृत्रिम और काल्पनिक है ।[129] हमारी दृष्टि में इस प्रकार के समीकरण केवल आपात साम्य को बताते हैं और एक प्रकार के दार्शनिक दम्भ की उपज हैं, वे उपमान दर्शन की आन्तरिक निष्ठा (spirit) के साथ न्याय नहीं कर पाते।

समाधि के सम्बन्ध में हम इस निबन्ध के प्रारम्भ में विचार कर चुके हैं और नेत्रतन्त्र के पर योग के प्रसंग से भी। यहाँ पर केवल दो बातों पर ध्यान देना शेष रहता है। पहली तो यह कि योग की समाधि मूलतः पुरुष अर्थात् चितिशक्ति की स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् प्रकृति के स्पर्श से नितान्त शून्य कैवल्य की स्थिति है, त्रिक योग में यह समग्र क्रिया-सामर्थ्य से युक्त चेतना की सहजावस्था है–स्वाशभूत अचित् का अपने में ही निमज्जन करती हुई अपने स्वातन्त्र्यमय स्वरूप का बोध या परामर्श ही समाधि है ।[130] योग की पूर्ण शान्तावस्था या वृत्तिशून्यता से भिन्न यह चेतना की आत्मवृत्ति का प्रत्यभिज्ञान है। कैवल्य में जहाँ चित् और अचित् की व्यावृत्ति का मुखर है, यहाँ की समाधि में अचिद् के ऊर्ध्वीकरण द्वारा चिद् से अन्विति पर आग्रह है। और दूसरी यह है कि समाधिगत यह अन्तर तत्त्व और जीवन के प्रति दोनों दर्शनों के मौलिक दृष्टिभेद से उत्पन्न होता है जिसका सबसे अच्छा निदर्शन उनकी सौन्दर्य शास्त्रीय स्थापनाओं से मिलता है। सांख्य (अर्थात् योग) में योगी (मुक्त पुरुष) प्रकृति के व्यापार को तटस्थ सामाजिक की भाँति देखता है ।[131] परन्तु यहाँ योगी की इन्द्रियाँ अपने उस स्वरूप जो संसार रूपी नाट्य के प्रकटन से उत्पन्न आनन्द को पाने के लिए ही प्रवृत्त है, को अपने अंदर साक्षात् रूप से देखती है। इस नाट्य-प्रयोग से प्ररूढ़ होकर

सारे विभाग को गलाकर आत्मास्वादन रूप चमत्कार के रस को उसकी पूर्णता में निष्पादित करती है।[132] जहाँ यह स्थिति कठोपनिषद्[133] की याद दिलाती है वहीं योग की कैवल्यनिष्ठा और त्रिक की अखण्ड संविन्मयता के वैलक्षण्य को भी रेखांकित करती है।

परन्तु यह बात भी सच है, और ध्यान देने योग्य भी, कि योग में समाधि का जितना प्रौढ़ संरचनात्मक विकास हुआ है, वह त्रिक योग में देखने को नहीं मिलता। और जो है भी वह बहुत विखरा हुआ है। कहीं पर योग और कहीं पर योगी इन के स्तरों और भेदों की कल्पना के द्वारा हम इसे देखेंगे कि क्या कोई ठोस संरचना उभरती भी है कि नहीं।

मालिनीविजय में सबीज योग का उल्लेख हुआ है। इससे संभावना होती है कि निर्बीज योग का कोई संस्कार मालिनीविजयकार के मन में अवश्य रहा होगा। इस विभाग को देखते ही पातंजल योग के सबीज और निर्बीज योगों का स्मरण होता है जो संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के सभी भेदों को क्रमशः व्यक्त करते हैं। परन्तु मालिनीविजय के कथन से स्पष्ट नहीं है कि वहाँ सबीजयोग का लक्षण क्या है। केवल इतना कहा गया है कि सबीज-योग (अर्थात् सविकल्पक योग) की सिद्धि के लिए मन्त्रज्ञान पर्याप्त है[134]। पूरे प्रसंग को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि शाङ्कर (शैव) योग की धारणा अपेक्षाकृत व्यापकतर रही होगी। क्योंकि शाङ्कर योग की पात्रता ज्ञान और क्रिया रूपी शिव दीक्षा के बिना संभव नहीं है। और यह शिवदीक्षा केवल योग के लिए ही पात्रता नहीं देती अपितु मन्त्र के लिए भी देती है। यदि सबीज योग की सिद्धि के लिए मन्त्रज्ञान साधन है तो क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'योगाधिकारित्व' में योग शब्द निर्बीज योग का वाचक है और उस निर्बीज योग की सिद्धि के लिए ज्ञानमयी शिव दीक्षा का सहारा आवश्यक है। इस शिवदीक्षा (शांकरीदीक्षा) का जिक्र पहले भी आया है। शाङ्करीदीक्षा का योगदीक्षा से भेद करते हुए बताया गया है कि शिवदीक्षा से सद्यः मुक्ति या भोग परिपाक के बाद देहपात के अनन्तर मुक्ति प्राप्त होती है। जबकि योग दीक्षा क्रमिक योग से संबद्ध है। योग दीक्षा से योग सिद्ध होता है और अंततः शाश्वत पद को प्राप्त कर योगी शुद्ध आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है।[135] उपलब्ध ज्ञान के आधार पर यह संभावना नितान्त अप्रामाणिक नहीं कही जा सकती कि शिव दीक्षा की व्यापक परिधि में ज्ञान और मंत्र, शाङ्करी दीक्षा और योगदीक्षा दोनों आ जाते हैं और शाङ्करी दीक्षा ज्ञान का और योग दीक्षा मंत्र अर्थात् क्रिया का आश्रय लेकर चरम योग फल की उपलब्धि कराते हैं। सबीजयोग[ण] की सिद्धि के लिए मन्त्रज्ञान की उपकारिता का यही अर्थ है।

समाधि के दो प्रकारों का क्षेमराज स्पन्दनिर्णय में उल्लेख करते हैं–निमीलन समाधि और उन्मीलन समाधि।[136] निमीलन समाधि में शक्ति निमीलन का अर्थ है, आत्मा की ओर, अंतःसंहार या विलोम प्रक्रिया के सहारे, उस चेतना का प्रत्यावर्तन जो इन्द्रियों के माध्यम से बाहर की ओर प्रसृत हो रही है। इसी प्रकार शक्ति के उन्मीलन का अर्थ है अंतर्लीन शक्ति का, विकास-प्रक्रिया के दौर में सारी इन्द्रियों के एक साथ उन्मोचन द्वारा बाहर की ओर प्रसार और फैलाव। क्षेमराज इस प्रक्रिया को विशिष्ट रूप से तांत्रिक मानते हैं और इस बात का श्रेय लेते हैं कि प्रत्यभिज्ञाग्रन्थों

में प्रतिपादित न होने पर भी वह इसका प्रतिपादन कर रहे हैं।[137] शैवाष्टक कोश निमीलन समाधि को शाम्भवोपाय द्वारा प्राप्य परमशिवावस्था से और उन्मीलन को शाक्तोपाय से उपलब्ध विश्वाहन्ता की प्रतीति से जोड़ता है[138] पर प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्षेमराज के विवेचन से स्पष्ट है कि वे इसे सभी उपायों से जोड़ते हैं। महेश्वरानन्द त्रिकयोग की इस चरमस्थिति में दोनों समाधियों के सामरस्य का दर्शन करते हैं[139]। पातंजल योग में वर्णित व्युत्थान और निर्व्युत्थान (अथवा निरोध) या सबीज, निर्बीज समाधियों का प्रभाव यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है–आकृति और संज्ञा दोनों पर ही। क्योंकि यहाँ भी नित्योदित समाधि को निर्व्युत्थान कहा जाता है। योग में व्युत्थान समाधि सविकल्पक और निर्व्युत्थान निर्विकल्पक होती है। सारी सिद्धियाँ, जिन्हें योग में विभूति कहा गया है, व्युत्थित चित्त से ही संबंध रखती हैं, समाहित चित्त या निर्व्युत्थान के लिए उन्हें विघ्न माना गया है। त्रिक योग में इन दोनों स्थितियों का समन्वय दो प्रकार से किया गया है। एक तो विशुद्ध त्रिक-योग की पद्धति पर, दोनों स्थितियों में सातत्य और अंतर्विनियम को मान्यता देकर जैसा कि हमने निमीलनोन्मीलन समाधि में देखा है और दूसरा समन्वय मिलता है ठीक पातंजल योग की पद्धति पर मितयोगी और महायोगी या परमयोगी और लक्षणया, मितयोग और महायोग का भेद कर।[140] योगप्रक्रिया के सोपानक्रम का अभ्यास करते हुए योगी को मितयोगी और अपने प्रातिस्विक स्वरूप में अनायास प्रतिष्ठित योगी को महायोगी कहा जाता है। सारी तथाकथित सिद्धियों का संबंध मितयोग से है और चरम सिद्धि अर्थात् स्वरूपप्रथन का संबंध महायोग से है।[141] नेत्रतंत्र में उपलब्ध योगी के द्वैविध्य से यह बात और प्रकट हो जाती है। वहाँ दो भेद हैं–साभास और निराभास। सर्वज्ञत्वादि गुणों से विशिष्ट होकर सर्वज्ञत्वादि के आभास का विमर्शन करने से वह साभास कहा जाता है। इसी प्रकार ग्राह्यग्राहकविमर्शरूप आभासों से निष्क्रान्त होकर चिद्विमर्श को ही एकमात्र परमार्थ मानने वाली स्थिति है निराभास[142]। इन दोनों दशाओं के भेद का परिहार भी त्रिकयोग में करने का प्रयास किया गया है–साधनावस्था और सिद्धावस्था के भेद से। परिहार की इस पद्धति को त्रिकयोग में लगभग सभी दिशाओं से समर्थन मिला है। योगियों की सारी अवस्थायें इन दो ध्रुवों को एक दूसरे से बांधती हैं। स्पन्दकारिका से प्रेरित होकर, क्षेमराज अपने निर्णय में योगी (साधक/मित) की तीन अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं–मूढ, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध।[143] मूढ वह है जिसका स्वभाव सम्यक् रूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है। सारे वेद्यों के उपशमरूप स्वभाव को पाकर भी शिथिल प्रयत्न के कारण सुषुप्तावस्था या शून्य प्रमातृता में जो पड़ा रहता है। प्रबुद्ध वह है जो स्वरूप लाभ के लिए निरन्तर उद्योगशील है। स्पन्दसंप्रदाय के संदर्भ में स्वरूप है स्पन्दमयता। इस स्पन्दस्वभावता को पाने के लिए योगिजन सतत उद्यत रहते हैं। इस उद्यम या उद्योग के लिए वे दो युक्तियों का आश्रय लेते हैं–

(क) कूर्मांगसंकोच युक्ति से क्रोधसंशय इत्यादि वृत्तियों का प्रशमन करके।

(ख) महाविकासयुक्ति से प्रहर्ष, धावन आदि वृत्तियों को विस्फारित करके।

इन युक्तियों से अभिमुखीभूत हुई निज स्पन्दशक्ति के विमर्श से वे योगी युक्त हो जाते हैं[144]।

तीसरा सुप्रबुद्ध है जो नित्योदित समावेश की स्थिति में आकर विद्यमान होता है। परन्तु इन तीनों से ऊपर भी एक स्थिति है, वह है महायोग की। सुप्रबुद्ध केवल नित्य समावेशमय है पर महायोगी में अपरिमित ज्ञातृत्व और कर्तृत्व सामर्थ्य भी प्राप्त है। इस महायोगी की व्याख्या करते हुए स्पन्दकारिका कहती है कि वह सारे जगत् को अपने खोल की भाति देखता हुआ अपनी संवित् के उन्मेष-निमेष से सृष्टि-संहार करता हुआ सतत समाविष्ट रहता है।[145] ऐसा वह जीवन्मुक्त योगी देहपात होने पर वस्तुतः शिवरूप हो जाता है। क्षेमराज इसे शिव सूत्रों से भी प्रमाणित करते हैं[146] और रामकण्ठ के अनुभवावस्थाओं से समीकरण की परम्परा को यौक्तिक विस्तार देते हुए सुप्रबुद्ध को तुर्य दशा और महायोगी को तुर्यातीत दशा से एक पाते हैं।[147]

क्षेमराज और बाद के महेश्वरानंद इत्यादि के द्वारा आश्रित यह वर्गीकरण की मूल प्रेरणा मालिनीवजियोत्तर में ढूंढी जा सकती है। योग की सफलता उसकी सिद्धि में है, अतः सिद्धि की अवस्था को ध्यान में रखते हुए योगी के चार प्रकार माने गए है[148]–संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध या सिद्धतम। संप्राप्त योगी वह है जिसने परम्परा क्रम से तत्वं ज्ञान को प्राप्त किया है। तीन प्रकार के योगों–शाम्भव, शाक्त और आणव के कारण यह तीन प्रकार का होता है। घटमान योगी वह है जो ध्येय रूप यथार्थ तत्त्व से बार-बार विचलित हुए चित्त को पुनः पुनः वापस तत्त्व ज्ञान में लगाता है। सिद्धयोगी वह है जो अन्य सभी पदार्थों को छोड़कर केवल एक मात्र "सत्" तत्त्व पर ही अपना चित्त एकाग्र करता है तथा सुसिद्ध वह है जिसका चित्त उसी ध्येय तत्त्व के आस्वादन में स्थिर हो गया है और जो उससे कभी विचलित नहीं होता। यह सुसिद्ध यहाँ सदाशिव के समकक्ष कहा गया है[149]। परन्तु महायोगी तो इन सबसे ऊपर है, वह वस्तुतः शिव की भूमिका है। वह जिस रस का आस्वादन करता है वह नैवेद्य बन जाता है। जिस वर्ण का उच्चारण करता है वही जप है। जिस रूप को देखता है वही ध्यान है[150]। योगी का पूरा जीवन ही योग बन जाता है।[151]

ऊपर के विवेचन से निःसंशय हम इतना तो कह सकते हैं कि पातंजल योग से न केवल आकृति बल्कि संरचना और युक्ति-पद्धति में पारगामी प्रभावों को लेकर भी त्रिकयोग उनका उपयोग अपने निजंधर व्यक्तित्व को रूपायित करने में करता है। "वृत्तिक्षम" या "निर्विकल्प" इत्यादि शब्दों की अर्थवत्ता यहाँ बदल जाती है। इसका अर्थ वृत्ति-शून्यता न होकर आत्मा की सहज भाव में वृत्ति या अवस्थिति है। इस सहजता या अयत्न सिद्धि पर त्रिकयोग का आग्रह स्वाभाविक है और युक्तिसंगत भी। अयत्नावस्था का अर्थ है चित्त या आत्मा की स्वयं मात्र में स्थिति, पर यह स्थिति स्वतन्त्रतया अभिव्यक्त होने की सामर्थ्य की प्रतीक है। कारण यह है कि योग की भांति चित् (आत्मा) यहाँ मात्र शुद्ध द्रष्टा, साक्षी न होकर स्वतंत्र कर्ता भी है। यह क्रिया स्वतन्त्र है का अर्थ है कि यह बिना किसी प्रेरणा या निमित्त के स्वभावतः अपने ही आनन्द से उच्छलित है। इसलिए योग का लक्ष्य यहाँ अपने निष्क्रिय साक्षी रूप की प्राप्ति नहीं है वरन् स्वाभाविक ज्ञानक्रिया सामर्थ्यमय स्वरूप की प्राप्ति है। दूसरे शब्दों में पातंजल योग क्रिया से प्रारम्भ तो होता है, पर अंत

में उसका तिरस्कार कर देता है। परन्तु तंत्र योग क्रिया से प्रारम्भ होता है और क्रिया में ही पर्यवसित होता है। इसलिए निरोध के स्थान पर वह ऊर्ध्वीकरण या उदात्तीकरण की प्रक्रिया का आश्रय लेता है–इससे चित् के सातत्य का निर्वाह भी होता है और पूर्णता का भी। त्रिक योग में इस परमयोगी को सांसिद्धिक कहा गया है जिसमें सत्तर्क का स्वतः, स्वाभाविक रूप से उदय माना गया है [152]। यही महायोगी है। सिद्धान्त में चरम कर्तृत्व या माहेश्वर्य के निदर्शन के लिए जिस योगी[153] या महायोगी[154] का उल्लेख होता है, वह यही है।

●

---

1. योगः इम्मॉर्टलिटी एण्ड फ्रीडम, मर्सिया इलियाड। अंग्रेजी अनुवाद प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस. 1970, पृ. 359।
2. योगः इम्मॉर्टलिटी एण्ड फ्रीडम, मर्सिया इलियाड, अंग्रेजी अनुवाद प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस, 1970, पृ. 359। इस निबन्ध में हम यह मानकर चलेंगे कि पाठक का पारिभाषिक शब्दों के पारिभाषिक अर्थों से परिचय है। हम केवल उन्हीं संदर्भों और सामग्री का उपयोग करेंगे जिसका हमारे विवेचन से साक्षात् और तात्कालिक सम्बन्ध है।
3. योगक्षेमं वहाम्यहम्–भगवद्गीता (भ. गी.) 9/22।
   योग है–अप्राप्तस्य प्रापणम्।
4. स्वच्छन्दतंत्र-उद्योत (स्व. तं. उ.), स्वच्छन्द तंत्र (स्व. तं.) के साथ प्रकाशित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली (का. सं. ग्र.) 1926, वाल्यूम-111, पृ. 141।
5. मालिनीविजयोत्तर तंत्र (मा. वि. तं.), का. सं. ग्र., 1922, 4.4।
6. पातञ्जलयोगदर्शनम् (पा. यो. द.), हरिहरानन्द आरण्य, हिन्दी संस्करण, रमाशंकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसी दास (मो. ला. ब. दा.), दिल्ली, 1974, पृ. 3, पादटिप्पणी 14।
7. भारतीय संस्कृति और साधना, गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963, भाग 2, पृ. 381।
8. तंत्रालोक (तं. आ.), अभिनवगुप्त, आ. सी. द्विवेदी तथा नवजीवन रस्तोगी द्वारा सम्पादित, मो. ला. ब. दा., 1987, भाग 8, आ. 37/14-15
9. पाशुपत सूत्र 5/2, सर्वदर्शनसंग्रह, उमाशंकर ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964, पृ. 310 पर उद्धृत।
10. भ. गी. पर सर्वतोभद्र टीका, राजानक रामकण्ठ, का. सं. ग्र., 1943, पृ. 46।
11. अमरकोश, अमरसिंह, हरिदास संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1949, 3/3/22।
12. अष्टाध्यायी पर काशिकावृत्ति 3/2/142, वामन जयादित्य, काशी संस्कृत ग्रंथमाला, 1952।
13. योगसूत्रभाष्य, 1/1, ब्यास, पा. यो. द., पृ. 1।
14. समाधिर्योग उच्यते-सर्वतोभद्र, पृ. 46, योगः समाधिः-वही, पृ. 62।
15. पां. यो. द., पृ. 3।
16. यथाप्रतिपादिताद्वयचिन्मात्रस्वरूपस्य आत्मतत्त्वस्य प्रत्यभिज्ञानलक्षणा प्रतिपत्तिरिह ज्ञानमुच्यते, तद्विषयो योगः समाधिः कर्मध्यपि सति यथोक्तस्वरूपाप्रच्युतिलक्षणं प्रणिधानम्। सर्वतोभद्र, पृ. 62।
17. शास्त्रविहितानां कर्मणामनुष्ठाने यथोक्तात्माद्वैतज्ञाननिष्ठत्वलक्षणः समाधिर्योग उच्यते। यथा कपिलादिप्रणीतस्य सांख्यसंज्ञकस्य ज्ञानस्य पातञ्जलादिप्रणीते चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणे योगे निष्ठा, तथा इह उपदिष्टस्य आत्माद्वयज्ञानस्य कर्मानुष्ठानौ निष्ठा............।

   –सर्वतोभद्र, पृ. 46

18. एवं चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगाभ्यास निष्ठस्य योगिनः सकाशात् सदा स्वरूपप्रतिष्ठसंवित्कर्मयोगी विशिष्टः प्रतिपादितः ।

–स्पन्दकारिका-विवृति (स्प. का. वि.), रामकण्ठ, का. सं. ग्रं., 1969, पृ. 133 ।

19. देखें, पा. यो. द., भूमिका, पृ. 28 ।

20. विस्तृत विवेचन के लिए देखें, वही पृ. 25-28 ।

21. ....समस्तवृत्तिप्रत्यस्तमये सति संवित् तुरीयां दशाम् अवश्यमेवाविशति, तत्प्रत्यवमर्शाभ्यासात् परतत्त्वोपलब्धिः । –स्प. का. वि., पृ. 78 ।

22. सर्वत्र तावदुपायमार्गे समस्तेतरवृत्तिप्रशमपूर्वकमेकाग्री भवन्ति योगिनः ।

–स्पन्द-निर्णय (स्प. नि.), क्षेमराज, पृ. 40 ।

23. तं. आ. 3. 260-261-का. सं. ग्र., 1925, पृ. 39 ।

24. अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः ।

–मालिनी-विजय-वार्तिक (मा. वि. वा.), अभिनवगुप्त
का. सं. ग्र., 1921, 2/114

25. विकल्पस्य च निर्ह्रासो निर्विकल्पोपलक्षणम् ।..............
निकल्पविश्रान्तिबलात्तां वृत्तिं नाभिमन्वते ।
विकल्पनिर्ह्रासवशेन याति विकल्पवन्ध्या परमार्थसत्या ।

–मा. वि. वा. 10988-990

ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिवृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥ तं. आ. 4.6 ।

26. सर्वावस्थासु अविलुप्त भैरव समापत्तिः । एषैव च निर्व्युत्थान समाध्यात्मा महारहस्यभूः । योगिनो तु तत्र आद्यन्तमध्यदशावगाहिप्रमातृस्वरूपाविस्मरणरूपा समाधानतेति । शुद्धविद्योत्थानाध्यवसायरूपा समाधिः ।

–शिवसूत्रविमर्शिनी (शि. स. वि.), क्षेमराज का. सं. ग्र. 1/15 पर पाद टिप्पणीं संख्या 140 ।

27. ऐ···दशध योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तररेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भकप्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना–स्व. तं. 7/292-293 पर उद्योत ।

28. संभवतः क्षेमराज शैवाद्वैत के इतिहास में पहले व्यक्ति हैं, जयरथ के भी पूर्व, जो इन दोनों प्रक्रियाओं का शब्दशः पहली बार उल्लेख करते हैं ।

29. सा च योगं विना यस्मान्न भवेत्तमतो वद ।
ऋषिभिर्योगमिच्छद्भिः स तैरेवमुदाहृतः ॥ मा. वि. तं. 1.5
× × ×
योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर । वही, 1.10

30. मा. वि. तं. 4. 4 ।

31. समावेशोक्तिवद्योगस्त्रिविधः समुदाहृतः । वही 4. 34 ।

32. देखिए वही 2. 21-23 । विस्तृत विचार के लिए देखें रुद्र प्रेस, कैम्ब्रिज, मेसाचुसेट्स से प्रकाशनाधीन मेरी आगामी पुस्तक "दी मालिनीविजयोत्तरतंत्र" ।

33. एवं महेश्वरो देवो विश्वात्मत्वेन संस्थितः ।
क्रमिक-ज्ञानयोगाभ्यां धारणाभिरुपास्यते ॥ मा. वि. वा. 2. ।

34. वही, 2/32-33 ।

35. वही, 2/19 ।

36. यत्रैवानन्दयोगः क्वचन ननु भवेत्तत्र पूर्णः स्वभावो । –वही, 2/118
37. वही, 2/34 ।
38. वही, 2/26 ।
39. वही, 2/41 ।
40. वही, 2/20/77 ।
41. मा. वि. वा., 2/83
42. महासाहससंयोगविलीनाखिलवृत्तिकः । वही, 2.86 ।
43. वही, 2/87 ।
44. वही, 1/23 ।
45. वही, 2/120-121 ।
46. वही, 2/140-141 ।
47. देखें "दि सिग्नीफिकेन्स ऑफ् तान्त्रिक ट्रेडीशन", कमलाकर मिश्र, अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, 1981, पृ. 144-45 ।
मेरी दृष्टि में श्री मिश्र का विवेचन युक्तियुक्त है और बहुलांश में स्वीकरणीय है।
48. तन्त्रसार (तं. सा.), अभिनवगुप्त, का. सं. ग्र. 1918, पृ. 17 तं. आ., 3/211-213 ।
कृपया देखें मेरी मो. ला. ब. दा., दिल्ली द्वारा प्रकाशनाधीन पुस्तक "दि क्रम तांत्रिसिज्म ऑफ काश्मीर", भाग-2, अध्याय 1 ।
49. शि. सू. वि., पृ. 39 ।
50. वही, पृ. 40 ।
51. तदेवं नाडीसंहाराद्याणवोपायक्रमासादितमोहजयोन्मज्जच्छुद्धविद्यात्मकशाक्तबलासादनप्रकर्षाद् आत्मीकृतपरामृतहृदात्मक शाम्भव पदो योगी'''–शि. सू. वि., पृ. 46 ।
देखे "दि सिग्नीफिकेन्स ऑफ् तांत्रिक ट्रेडीशन", कमलाकर मिश्र, अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, 1981, पृ. 144-45 ।
मेरी दृष्टि में श्री मिश्र का विवेचन युक्तियुक्त है और बहुलांश में स्वीकरणीय है।
52. वही, पृ. 38, 50 ।
53. न च कृत्रिमयोगेषु स मुक्तः सर्व बन्धनैः ॥
प्राणायामादिकैर्लिङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमा मताः ।
तेन तेऽकृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ -मा. वि. तं, 18. 18-19
54. योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात् तत्र यत्नः प्रशस्यते । -वही, 17.8
55. तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते । वही, 17.20
सद्यः प्रकाशित अभिनवगुप्त के अभी तक अप्राप्त ग्रन्थ तन्त्रोच्चय में भी इसी विचार का उन्मेषण हुआ है–
यस्य त्वित्थमप्यविकल्पकः समावेशो नोदेति स सविकल्पभावनया सत्तर्करूपया संस्कुरुते विकल्पम् । –द तंत्रोच्चय ऑफ् अभिनवगुप्त, रैनिरो भोली एवं रफेल टोरेला द्वारा संपादित, रोम विश्वविद्यालय, रोम 1990, पृ. 165 (पौर्वात्य अध्ययन विभाग के नवें प्रकाशन का अंगभूत)।
56. मुहूर्तादिव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते । –मा. वि. तं., 17.21 ।

57. इत्यनेन विधानेन प्रत्याहृत्य मनो मुहुः ।
प्राणायामादिकं सर्वं कुर्याद्योगप्रसिद्धये ॥ वही, 17.24
इस वाक्य में योग, शब्द योग का या सत्तर्क का वाचक है, यह स्पष्ट नहीं है । पर पूर्वापरअन्विति तथा तन्त्रालोक के आधार पर उपर्युक्त अर्थ लिया गया है ।
58. तं. आ., 4/34-37 ।
59. त्रयमन्तरंगम् पूर्वेभ्यः । यो. सू., 3/7 ।
60. तदपि वहिरंगम् निर्वीजस्य । –वही, 3/8 ।
61. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । –वही, 1/12 ।
62. योगाङ्गता यमादेस्तु समाध्यन्तस्य वर्ण्यते ।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वादन्त्यतर्को पयोगतः ॥ –तं. आ., 4.96, 104, 105 ।
63. यन्नाम अत्र योगस्य स्वदर्शनोक्तानि षडंगान्यय हाय पातञ्जलीयं यमाद्यष्टकमुक्तं, तत्रायमाशयो-यत् क्वचिदपि एतरंगाष्टकातिरिक्तम् अन्यदंगान्तरं नास्ति, इति सर्वत्र तर्कस्यैवांगान्तराण्युपायः, स च स्वसंवित्साक्षात्कारस्येति ।
–तंत्रालोक विवेक (तं. आ. वि.), जयरथ, तं. आ., के साथ प्रकाशित, भाग 3, पृ. 718-19
64. स्वरससिद्धसंविद्व यात्मनौ योगस्य स्वल्पेनापि अंशेन दर्शनान्तरीया योगाः साम्यगात्रमप्यधिगन्तुं नोत्सहन्ते । -वही, पृ. 729
65. प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते ॥ –वही, भा. 3, पृ. 63 ।
66. भगवद्गीताभाष्य, ' भट्टभास्कर, सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1965, पृ. 127 ।
यह भट्ट भास्कर कौन हैं, यह अभी विवादास्पद है । परन्तु काश्मीर के गीता भाष्यों पर इनका प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है । गीतार्थ संग्रह से पता चलता है कि अभिनवगुप्त इनसे परिचित थे । अभिनव के गुरुओं में भास्कर की गणना हुई है, यदि यह वही हैं तो षडंगयोग की काश्मीरी परम्परा के इतिहास के बारे में हमारी एक सूचना बढ़ जाती है ।
67. षडंग योग का एक संस्करण (यद्यपि वहाँ पर इस प्रकार का नाम नहीं दिया गया है) हमें रामकण्ठ की सर्वतोभद्र टीका (पृ. 133) में मिलता है जिसमें यम और नियम को छोड़कर आसन से समाधि पर्यन्त छह पातञ्जल अंगों की गणना है । पर यहाँ सत्तर्क या तर्क की ओर संकेत भी नहीं है ।
रामकण्ठ का यह प्रयोग हमें ध्यानबिन्दु उपनिषद् की याद दिलाता है जिसमें ठीक इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है:–
आसनं प्राणसंरोधाः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि भवन्ति षट् ॥
–श्लोक 41, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (काणे),
पी. वी. काणे, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट,
पूना, भा. 5.1, पृ. 1419 पर उद्धृत ।
68. तथा तत्प्रयोगकल्पः । प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्क समाधिः षडंग इत्युच्यते योगः । –मैत्रायणी उपः 2/18 काणे द्वारा उद्धृत, पृ. 1419 ।
काणे कुछ प्रारम्भिक स्मृति-स्रोतों के आधार पर अपरार्क (याज्ञवल्क्य स्मृति 3/10) को तथा दक्ष स्मृति (7/3) को इसी दृष्टि का प्रतिपादक बतलाते हैं।

69. और भी देखिए अतिस्मृति 11.6, दक्षस्मृति 7.34, स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 41.59, काणे द्वारा उद्धृत, पृ. वही।

यद्यपि वैखानस सूत्र में ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है जहाँ योग को अष्टांग माना गया है।

यद्यपि यह दूसरी बात है कि इस परित्याग का दुष्परिणाम यह हुआ कि तांत्रिक आचार की विश्वसनीयता संदिग्ध हो गयी।

प्रो. काणे को कहना पड़ा कि यम नियम का परित्याग इसलिए किया गया क्योंकि वे पंच मकार की वर्जनाहीन दृष्टि के विरुद्ध पड़ते थे।

–विज्ञानभैरव की व्रजवल्लभ द्विवेदी कृत भूमिका (वि. भै., द्वि.) मो. ला. ब. दा., 1978 में पृ. 36 पर उद्धृत।

70. गुह्यसमाजतन्त्र बिनयतोष भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, 1967, पृ. 163।

71. बौद्ध षडंग योग के विवेचन के लिए देखिए, गोपीनाथ कविराज की भूमिका, नगेन्द्रनाथकृत "तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य", काशीनागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2015,–एन इन्ट्रोडक्सन टु तांत्रिक बुद्धिज्म, एस. बी. दास गुप्ता, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1958, पृ. 164-173।

72. पूर्वैर्निरोधः कथितः वैराग्याभ्यासयोगतः।
अस्माभिस्तु निरोधोऽयमयत्नेनोपदिश्यते॥

–जयरथ द्वारा उद्धृत, तं. आ. वि., भा. 3, पृ. 905।

73. तं. आ., 4.34।

74. तं. आ. वि., भा. 3, पृ. 631।

75. प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानवीक्षणे।
जयः समाधिरित्यंगान्यंगी योगोऽष्टमः स्वयम्॥

–मृ. आ., योगपाद 3, वि. मे., द्वि., भूमिका, पृ. 37 पर उद्धृत।

76. ऊहोऽभिवीक्षणं वस्तुविकल्पानन्तरोदितः॥ 18॥
यदा वेत्ति पदं हेयमुपादेयं च तत्स्थितेः। वही, वहीं पर।

जयरथ किसी अज्ञात तंत्र से एक लम्बा उद्धरण देते हैं जिसमें ऊह, ईक्षण (वीक्षण) और तर्क का समीकरण स्वतः सिद्ध है। हम यहाँ सम्बन्धित वाक्य उद्धृत कर रहे हैं–

"लब्धभूमेर्विरक्तस्य तज्जयोपायपेशलः।
ऊहो नाम वितर्कोक्तिः प्रविचारेक्षणात्मकः॥ .....
शक्यन्ते मुनिशार्दूल तस्मात्तर्कोऽपि युज्यते।

–तं. आ. वि., भा. 3, पृ. 709-10

77. तं. आ. वि., भा. 3, पृ. 632।

78. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

–मनु. स्मृ. 12-106, वि. मै., द्वि., भूमिका, पृ. 37 पर उद्धृत।

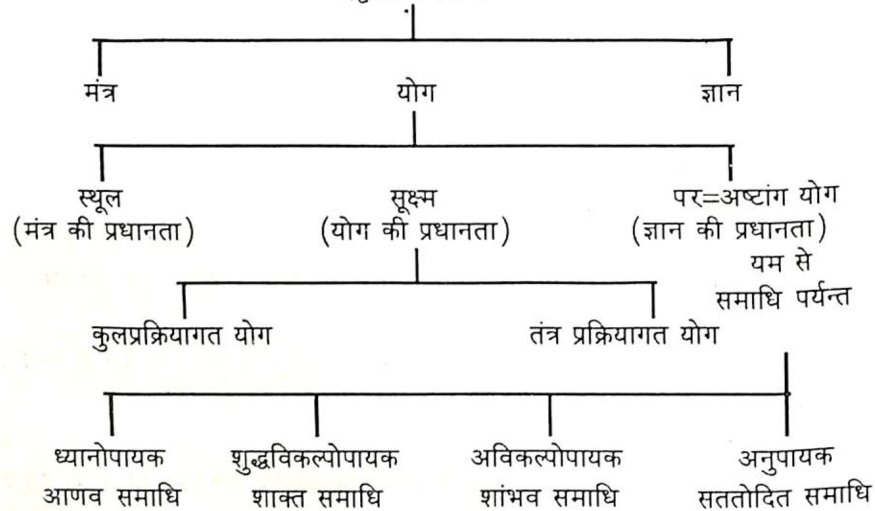
79. "मनुष्या वा ऋषीषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिभिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्।"–निरुक्त 13-12, वि. भै., द्वि, भूमिका, पृ. 37 पर उद्धृत।

80. योगिनः षडंगादियोगेनेश्वरा राधकाः–नेत्र तंत्र उद्योत (ने. तं. उ.), नेत्र तंत्र (ने. तं.) के साथ प्रकाशित, क्षेमराज, भाग I, पृ. 9-10।

81. ने. तं., 8. 9, 8. 21।

82. भास्करी, भास्करकण्ठ, अय्यर एवं पाण्डेय द्वारा संपादित, इलाहाबाद, 1938, भा. I, पृ. 227।

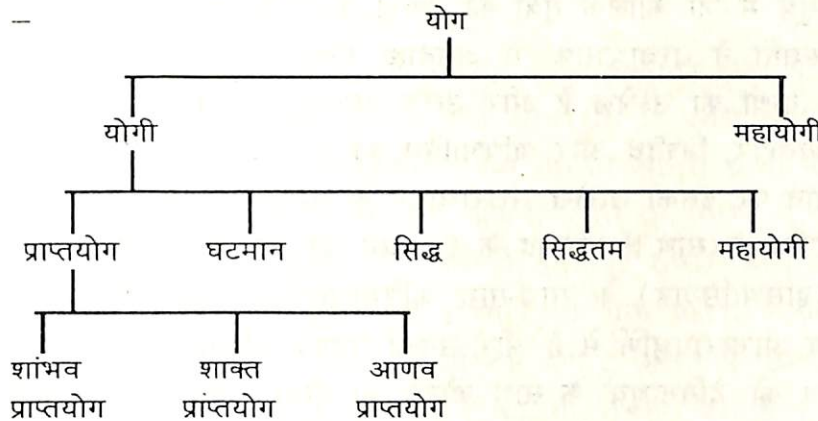
83. तं. आ., 4. 96 ।
84. ने. तं., 2.11 ।
85. वही, 6.7-8 ।
86. सामान्यतः स्थूलोपाय में वर्णित विधियों का अन्तर्भाव मन्त्रवाद में किया जा सकता है । इस प्रसंग में एक नई विधि (20. 38-39) का आसूत्रण करते हुये बताया गया है कि योगिनी आदि शक्तियाँ स्थूल शरीर में वर्तमान जीव के पुर्यष्टकमय सूक्ष्म देह को प्रतिकृति आदि के माध्यम से, मन्त्र और मुद्रा की सहायता से, पांसवविधि से, ध्यान और योग के बल से, एवं छुम्मक विधि से बाहर निकाल देती हैं । इनसे बचने का उपाय यह बताया (20.46-48, 58-63) है कि आचार्य को ऐसे प्राणी की रक्षा स्थूल उपायों का आश्रय लेकर करनी चाहिए । क्षेमराज ने सम्बद्ध श्लोक की व्याख्या में इन विधियों पर प्रकाश डाला है पर अनावश्यक विस्तार भय से हमें उसे छोड़ना पड़ेगा ।
87. कुल और तन्त्र प्रक्रियाओं के विस्तृत विवेचन के लिए मेरी पुस्तक देखें, क्रम तांत्रिसिज्म ऑफ काश्मीर, मो. ला. ब. दा. 1979, भा. I, पृ. 32-34 आदि ।
88. इस संदर्भ में क्षेमराज गोलकविधि का भी उल्लेख करते हैं जिससे द्विवेदी कुण्डलिनी योग को विवक्षित मानते हैं । देखें–नेत्र तंत्र, ब्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा संपादित (ने. तं., द्वि.), परिमल प्रकाशन, देहली, 1985, भूमिका, पृ. 39, पादटिप्पणी-2 । उपर्युक्त दोनों योगों का विवेचन भी द्विवेदी के निरूपय का उपजीवी है ।
89. ने. तं. 8/9-16 ।
90. वही, 8/17-20 ।
91. स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ - ने. तं., 8/18 ।
92. इसके बाद नेत्र तंत्र में क्रम बदल जाता है । पहले अनुपाय तब शाभवोपाय का उल्लेख होता है ।
93. येन येन प्रकारेण ज्ञानयोगेन मन्त्रतः ॥
यद्यत्पश्यसि देवेश तदुपायं वदस्व मे । - ने. तं., 2/7-8
और भी देखें वही, 2/11, ने. तं. उ., भा. I, पृ. 45 ।
94. ने. तं. उ., पृ. 185 ।
94a. संक्षेप में नेत्र तंत्र के योगक्रम, क्षेमराज की व्याख्या के अनुसार, को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:–



95. स्व. तं., 7.252-53 ।
96. यह एक प्रकार से षडंगता की पोषक अभिव्यक्ति मानी जा सकती है।
97. यो. सू., 2.46 ।
98. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति, –शि. सू., 3.16 ।
99. स्व. तं. उ., 7/290 ।
100. आस्यते नित्यमैकात्म्येन स्थीयते अस्मिन् इति आसनं, परं शाक्तं बलम्, –शि. सू. वि., पृ. 46 ।
101. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । –यो. सू., 2.49 ।
102. पा. यो. द., पृ. 241।
103. गतिभंगं ततस्तस्य प्राणायामेन कारयेत् ।
स च पंचविधः प्रोक्तः पूरकादिप्रभेदतः ॥ –मा. वि., 17.2 ।
104. मा. वि. 17.9, 17.4 से 17.10 तक प्राणायाम के अवान्तर भेदों का जिक्र है, जिनका उल्लेख विस्तारभय से नहीं किया जा रहा है।
105. प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् । –स्व. तं. उ., 7.295 ।
106. वही, 7. 296-97 ।
107. वही, 7.293 तथा इस पर उद्योत–यह कोई नयी पद्धति नहीं है वरन् यह मात्र वर्तमान स्थिति का रूपकात्मक विवरण है।
108. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
109. शि. सू., 3/5 पर विमर्शिनी, शि. सू. वि., पृ. 39-40, स्व. तं. 7/297-298 तथा इस पर उद्योत।
110. यत्किंचिच्चिन्तयेद्वस्तु नान्यत्वं प्रतिपद्यते ।
तेन तन्मयतामाप्य भवेत्पश्चादभाववत् ॥
पंचतामिव संप्राप्तस्तीव्रैरपि न चाल्यते ।
ततः शब्दादिभिर्योगी योगिनीकुलनन्दनः ॥
इत्यनेन विधानेन प्रत्याहृत्य मनो मुहुः ।
प्राणायामादिकं सर्वं कुर्याद्योगप्रसिद्धये ॥ –मा. वि. तं. 17. 22-24 ।
111. यो. सू. भा. 3.1, और भी देखें-पा. यो. द., पृ. 259 ।
112. पा. यो. द., पृ. 260 ।
113. तान्येवोद्दिश्य तत्सर्वं पूरणाय धरादितः ॥
शिवान्तं बहुधा भेदैर्धारणाग्रन्थ उच्यते । –मा. वि. वा. 1.1133-34 ।
114. मा. वि. तं., 2.8-9, इनके अवान्तर भेदों को गिनाने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।
115. वही, 12,14 ।
116. वही, 16, 66 ।
117. भा. वि. तं., 17. 13-15 ।
118. धारणाभिरिहैताभिर्योगी योगपथे स्थितः ।
हेयं वस्तु परित्यज्य यायात्पदमनुत्तमम् ॥ –मा. वि. तं., 17.16 ।
119. भूतानां पृथिव्यादीनां जयो धारणाभिर्वशीकारः । –शि. सू. वि., पृ. 39 ।
120. ध्येये अर्थे चेतसा झगिति प्रवृत्तिमात्रम् । –स्प. का. वि., पृ. 23 ।
121. भ्रूमध्यलक्षणे देशे तेजोमात्रालम्बनतया चित्तस्य बन्धो हि अनेन उक्तः । --सर्वतोभद्र, पृ. 133 ।

122. एवं देहशुद्धि-भूतशुद्धि-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिभिर्या तत्तत्तत्त्वरूपा सिद्धिर्भवति सा मोहावरणात्, न तु तत्त्वज्ञानात् .··विगलितमोहस्य तु .··श्रीमन्मृत्युजिद्भट्टारकनिरूपितनीत्या धारणादिभिरपि परतत्त्वसमावेश एव भवति, न तु मितसिद्धिः। –शि. सू. वि., पृ. 40-41
123. विसदृशप्रत्ययपरिहारेण समानप्रत्ययप्रवाहैकतानुसंधानम्। –स्प. का. वि., पृ. 23।
124. प्राणापानसंज्ञौ शारीरौ मारुतौ यौगपद्येन तुल्यरूपतया वहनात् समानौ संपाद्य इत्यनेन एकाग्रबुद्धिसम्पाद्यं ध्यानलक्षणं योगांगम्। –स्वतोभद्र, पृ. 133।
125. एताभिरेव अवस्थाभिः योगशास्त्रप्रसिद्धास्वपि जागराद्यवस्थासु तस्य अभेदः प्रतिपादितो वेदितव्यः तास्वपि तस्य उपलब्धृत्वेन व्यापकत्या अवस्थानात्। –स्प. का. वि., पृ. 22-23।
126. क्रमेण ऐकाग्यातिशयात् प्रत्ययान्तरासंकीर्णसूक्ष्मध्येयाभासमात्रविशेषता चित्तस्य सवेद्यसुषुप्तावस्थायां वितर्क-विचारानन्दास्मितारूपानुगमलक्षणस्य संप्रज्ञातस्य समाधेः आनन्दास्मितामात्रानुगतम् अवस्थाविशेषम् आचक्षते। –स्प. का. वि., पृ. 23।
127. योग एज़ फिलॉसफी एण्ड रिलीजन –एस. एन. दासगुप्त, पृ. 153।
128. यस्तु "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (यो. सू. 1.18)
इति कृतलक्षणः असंप्रज्ञातसमाधिः तद् अपवेद्यसुषुप्तम्। –स्प. का वि., पृ. 23।
129. ध्यातृध्यानध्येयविकल्पोच्छेदरूपा समाध्यवस्था। –वही, पृ. 45।
130. तं. आ. वि., भा. 2 पृ. 517।
131. प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवत्स्थितः स्वस्थः। –सांख्य-कारिका-651।
132. योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखातया साक्षात्कुर्वन्ति, तत्प्रयोगप्ररूढ्या विगलित विभागश्चमत्काररससंपूर्णतामापादयन्ति। –शि. सू. वि., पृ. 44।
133. कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तसक्षुरमृतत्वमश्नन"-कठो. 2.4. 1।
134. सबीजयोगसंसिद्ध्यै मन्त्रलक्षणमप्यलम्।
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे॥
क्रियाज्ञानविभेदेन सा च द्वेधा निगद्यते।
द्विविधा सा प्रकर्तव्या तेन चैतदुदाहृतम्॥
न च योगाधिकारित्वमेकमेवानया भवेत्।
अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया॥ –मा. वि. तं., 4.6-8।
135. तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शाङ्करीम्।
तत्क्षणाद्वोपभोगाद्वा देहपाताच्छिवं व्रजेत्॥
योगदीक्षां समासाद्य ज्ञात्वा योगं समभ्यसेत्।
योगसिद्धिमवाप्नोति तदन्ते शाश्वतं पदम्॥–वही, 1.46-47
इन कारिकाओं का संबंध सद्योनिर्माणदीक्षा से भी अभिनवगुप्त जोड़ते हैं। पर वह सब प्रासंगिक नहीं है। –तं. आ., 19/1
136. स्प. नि., पृ. 25, 49।
137. शक्तिसंकोचाद्यस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः, तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसंगात् प्रदर्श्यन्ते। –प्रत्यभिज्ञाहृदय, जयदेव सिंह द्वारा अनूदित, मो. ला. ब. दा., 1973, पृ. 85।,
138. निमीलनसमाधिः परमशिवावस्था शांभवोपायः। उन्मीलनसमाधिः मन्मयमेवेदं सर्वमित्युक्तयुक्तिसम्यक्परिशीलनशक्तिदशारूढिः शाक्तोपाय इति। –शैवाष्टक-कोश (मातृका), शब्द सं. 65।

139. इयं च निमीलनोन्मीलनसमाधिद्वयसामरस्यौचित्यादत्यन्तमुण्लाल्यते ।—महार्थमंजरी, महेश्वरानन्द, व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित, योगतंत्र ग्रंथमाला, वाराणसी, 1972, पृ. 40, शैव ग्रन्थों में इसी स्थिति का उल्लेख "भैरवी मुद्रा", "क्रमुद्रा" इत्यादि रूपों में हुआ है ।
140. इति श्रीमन्मृत्युजिद्भट्टारकनिरूपितनीत्या धारणादिभिरपि परतत्त्वसमावेश एव भवति, न तु मितसिद्धिः । –शि. सू. वि., पृ. 41 ।
141. प्राणरूपः परस्याः शक्ते..............परशक्तिपदानुप्रवेशावष्टम्भपूर्वमेव स्वच्छन्दभैरवता अवाप्यते (महायोगी) । तत्तरान्तरकालांशविश्रान्तिपूर्वं विधिमनुतिष्ठद्भिः सा सिद्धिरविघ्नेनासाद्यते (मितयोगी) । –स्व. तं. उ., भा. 3, पृ. 73-74
142. ने. तं., 8/32-34 ।
143. स्प. वि., पृ. 42-3 ।
144. वही, पृ. 40 ।
145. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ –स्प. का., 3/3
146. शि. सू., पृ. 3125
147. तुर्यपरिशीलनप्रकर्षात् प्राप्ततुर्यातीतपदः परिपूर्णस्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनेन शिवेन भगवता तुल्यो देहकलाया अविगलनात् तत्समो जायते । तद्विगलनेन साक्षाच्छिव एव असौ । –शि. सू. वि., पृ. 53 ।
148. संप्राप्तो घटमानश्च सिद्धः सिद्धतमोऽन्यथा ।
योगी चतुर्विधो देवि यथावत्प्रतिपद्यते ॥ –मा. वि. तं., 4/33
149. वही, 4.34-38 ।
150. मा. वि. तं., 18.40, 42, 44-48 ।
151. –



152. स तावत्कस्यचित्तर्कः स्वत एव प्रवर्तते ।
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः ॥–त. आ., 4/40-41
153. योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्–ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, उत्पलदेव, का. सं. ग्र., 1/5/7
154. बीजस्यान्तरिवांकुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुनः
मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीकुरुमूर्तये नमः इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।
–श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्, शंकराचार्य, प्राच्यविद्यासंशोधनालय ग्रंथमाला, 1972, श्लोक 2 ।

ऋषिभाषित जैन, बौद्ध और औपनिषदिक ऋषियों के उपदेशों का प्राचीनतम संकलन

प्रो. सागरमल जैन

जैन आगम साहित्य में ऋषिभाषित का स्थान

ऋषिभाषित-(इसिभासियाइं) अर्धमागधी जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वर्तमान में जैन आगमों के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमें इसे प्रकीर्णक ग्रन्थों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा में 12 अंग और 14 अंगबाह्य माने गये हैं; किन्तु उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में स्थानकवासी और तेरापंथी, जो 32 आगम मानते हैं, उनमें भी ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 2 चूलिकासूत्र और 10 प्रकीर्णक, ऐसे जो 45 आगम माने जाते हैं, उनमें भी 10 प्रकीर्णकों में हमें कहीं ऋषिभाषित का नाम नहीं मिलता। यद्यपि नन्दीसूत्र और पक्खीसूत्र में जो कालिक सूत्रों की गणना की गयी है उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख है।[1] आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें सर्वप्रथम सामयिक आदि 6 ग्रन्थों का उल्लेख है और उसके पश्चात् दश वैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा (आचारदशा) कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है।[2] हरिभद्र आवश्यक निर्युक्ति की वृत्ति में एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते हैं[3] और दूसरे स्थान पर 'देविन्दथुय' नामक प्रकीर्णक के साथ।[4] हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) के साथ-साथ ऋषिमण्डलस्तव (इसिमण्डलथुड) नामक ग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविन्दथुय' के साथ जोड़ने का होगा। यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का उल्लेख है अपितु उनके इसिभासियाइं में जो उपदेश और अध्याय हैं उनका भी संकेत है। इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभासित से अवगत था। मात्र यही नहीं ऋषिमण्डल में तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियों का भी उल्लेख मिलता है। इसिमण्डल का उल्लेख आचारांगचूर्णि 'इसिणामकित्तणं इसिमण्डलत्थउ' (पृ., 374) में होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (7 वीं शती) के पूर्व का ग्रन्थ है। विद्वानों का इस सम्बन्ध में विशेष रूप में चिन्तन

करना चाहिए। इसिमण्डल के संबंध में यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है; किन्तु यह धारणा मुझे भ्रान्त प्रतीत होती है क्योंकि ये 14 वीं. शती के आचार्य हैं। वस्तुतः इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है और इसका लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है। आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा में तप आराधना के साथ आगमों के स्वाध्याय की जिस विधि का वर्णन किया है, उसमें प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययन-क्रम विधि को समाप्त किया है। उन्होंने जिन प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है उनमें ऋषिभाषित भी समाहित है।[5] इस प्रकार वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति में ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रों में की जा सकती है।

प्राचीनकाल में जैन परम्परा में इसे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था। आवश्यकनिर्युक्ति में भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं[6], वर्तमान में यह निर्युक्ति उपलब्ध नहीं होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी गई थी या नहीं। यद्यपि 'इसिमण्डल' जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है इससे सम्बन्धित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। स्थानांग में इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में हुआ है।[7] समवायांग इसके 44 अध्ययनों का उल्लेख करता है।[8] जैसा कि पूर्व में हम सूचित कर चुके हैं। नन्दीसूत्र, पक्खीसूत्र आदि में इसकी गणना कालिकसूत्रों में की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ कहती है (आवश्यकनिर्युक्ति-हरिभद्रीयवृत्ति, पृष्ठ 206)।

ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल

यह ग्रन्थ अपनी भाषा, छन्द योजना और विषयवस्तु की दृष्टि से अर्धमागधी जैन आगम ग्रन्थों में अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध से किंचित् परिवर्ती तथा सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। इतना सुनिश्चित है कि इसकी छन्द योजना, शैली एवं भाषा अत्यन्त प्राचीन है। मेरी दृष्टि में इसका वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति में ईसवीपूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होता है। स्थानांग में प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ प्रारंभ में प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था; स्थानांग में प्रश्नव्याकरणदशा की जो दस दशाएँ वर्णित हैं, उसमें ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायांग इसके 44 अध्ययन होने की भी सूचना देता है। अतः यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, रामपुत्त, असितदेवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियों का एवं उनकी आचारगत मान्यताओं का किंचित् निर्देश है। इन्हें तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमें कहा गया है कि ये पूर्व ऋषि इस (आर्हत् प्रवचन) में 'सम्मत' माने गये हैं। इन्होंने (सचित्त) बीज और पानी का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था।[9] अतः पहला प्रश्न यही उठता है कि इन्हें सम्मानित रूप में जैन परम्परा में सूत्रकृतांग के पहले किस ग्रन्थ में स्वीकार किया गया है। मेरी दृष्टि में केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें इन्हें सम्मानित रूप से स्वीकार किया

गया है। सूत्रकृतांग की गाथा का 'इह-सम्मता' शब्द स्वयं सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित दोनों में जैनेतर परम्परा के अनेक ऋषियों यथा असितदेवल, बाहुक आदि का सम्मानित रूप में उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनों की भाषा एवं शैली भी मुख्यतः पद्यात्मक ही है। फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्तीकाल की लगती है। क्योंकि उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोड़कर प्राचीन अर्धमागधी है। पुनः जहाँ सूत्रकृतांग में इतर दार्शनिक मान्यताओं की समालोचना की गयी है, वहाँ ऋषिभाषित इतर परम्परा के ऋषियों का सम्मानित रूप में ही उल्लेख हुआ है। यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रन्थ जैनधर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णतः अभाव था। मंखलिगोशालक और उसकी मान्यताओं का उल्लेख हमें जैन आगम सूत्रकृतांग[10], भगवती[11] और उपासकदशांग[12] में और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामञ्ञकलसुत्त[13] आदि में मिलता है। सूत्रकृतांग में यद्यपि स्पष्टतः मंखलिगोशालक का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन में नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करें तो भगवती का मंखलिगोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृतांग और उपासकदशांग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृतांग, उपासकदशाङ्ग और पालित्रिपिटक के अनेक ग्रन्थ मंखलिगोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं। फिर भी जैन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा सुत्तनिपात में मंखलिगोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों में करके उनके महत्त्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है,.[14] किन्तु पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित में उसे अर्हतऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। अतः धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालित्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योंकि किसी भी धर्मसंघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास हो पाता है। ऋषिभाषित स्पष्टरूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन परम्परा में साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैन आगम ग्रन्थों में यह धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। अतः ऋषिभाषित केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैनागमों से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्द योजना आदि की दृष्टि से भी यह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मध्य में ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात है[15] किन्तु उसमें भी वह उदारता नहीं है जो ऋषिभाषित में है। त्रिपिटक साहित्य में ऋषिभाषित में उल्लिखित कुछ ऋषियों यथा नारद,[16] असितदेवल,[17] पिंग,[18] मंखलिपुत्र,[19] संजय (वेलट्ठिपुत्त)[20], वर्धमान (निग्गंथु नातपुत्र)[21],

कुमापुत्त[22] आदि के उल्लेख हैं किन्तु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है–दूसरे शब्दों में वे ग्रन्थ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नहीं हैं, अतः यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित में उल्लिखित अनेक गाथांश और गाथायें भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती हैं। अतः उनकी रचना-शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी सम्भव है कि ये गाथायें एवं विचार बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपात एवं जैनग्रन्थ उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक से ऋषिभाषित में गये हैं, किन्तु यह बात इसलिए समुचित नहीं है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना आदि इन ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट है। दूसरे जहाँ ऋषिभाषित में इन विचारों को अन्य परम्पराओं के ऋषियों के सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य से इन्हें अपनी परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप में आध्यात्मिक कृषि की चर्चा ऋषिभाषित[23] में दो बार और सुत्तनिपात[24] में एक बार हुई है किन्तु जहाँ सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूँ वहाँ ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो मुक्त होगा। अतः ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध को छोड़कर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते हैं कि ऋषिभाषित में अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित में आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है जबकि जैन आगम साहित्य में भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है जो कि परवर्ती प्रयोग हैं। 'त' श्रुति की बहुलता निश्चितरूप से इस ग्रन्थ को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है क्योंकि उत्तराध्ययन की भाषा में 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित में जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्टती, पवत्तती आदि रूपों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषयवस्तु दोनों की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। अगन्धन कुल के सर्प का रूपक हमें उत्तराध्ययन,[25] दशवैकालिक[26] और ऋषिभाषित[27] तीनों में मिलता है। किन्तु तीनों स्थानों के उल्लेखों के देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है। क्योंकि ऋषिभाषित में मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप में प्रयोग हुआ है जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोड़ा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक कृषि का रूपक ऋषिभाषित के अध्याय 26 एवं 32 में और सुत्तनिपात अध्याय 4 में है। किन्तु सुत्तनिपात में जहाँ बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मैं कृषि करता हूँ,

वहाँ ऋषिभाषित में वह एक सामान्य उपदेश है, जिसके अन्त में यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की कृषि करता है वह सिद्ध (सिज्झंति) होता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो।[28] अतः ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध का परवर्ती और शेष सभी अर्धमागधी आगम साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इसी प्रकार पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से सम्पूर्ण पालित्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती है।

जहाँ तक इसमें वर्णित ऐतिहासिक ऋषियों के उल्लेखों के आधार पर कालनिर्णय करने का प्रश्न है केवल वज्जीपुत्त को छोड़कर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती हैं या उनके समकालिक हैं। पालित्रिपिटक के आधार पर वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही हैं, वे आनन्द के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही अस्तित्व में आ गया था। अतः इनका बुद्ध का लघुवयस्क समकालीन होना सिद्ध है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी ऋषिभाषित बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही निर्मित हो गया होगा, यह सम्भव है इसमें बाद में कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि में यह इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा पू. 5वीं शताब्दी और अन्तिम सीमा ई. पू. 3 शती के बीच ही है, अतः यह इससे अधिक परवर्ती नहीं है। मुझे अन्तः और बाह्य साक्ष्यों में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमें न तो जैन सिद्धान्तों का और न बौद्ध सिद्धान्तों का विकसित रूप पाते हैं। मात्र पंचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है, यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाएँ पार्श्वसत्यों में प्रचलित रही हों और वहीं से महावीर की परम्परा में ग्रहण की गई हों। परिषह, कषाय आदि की अवधारणाएँ तो प्राचीन ही हैं। ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेश में भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्त सन्ततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते हैं। अतः बौद्ध दृष्टि से भी जैनागम एवं पालित्रिपिटक से प्राचीन है।

ऋषिभाषित की रचना

ऋषिभाषित की रचना के सम्बन्ध में प्रो. शुब्रिंग एवं अन्य विद्वानों का मत है कि यह मूलतः पार्श्व की परम्परा में निर्मित हुआ होगा, क्योंकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय में देखा जाता है जहाँ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है।[29] पुनः पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी उसी तथ्य को पुष्ट करता है। दूसरे इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी—उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओं से आचार-व्यवहार आदि में भी अधिक निकटता थी। पार्श्वापत्यों के महावीर के संघ में प्रवेश के साथ यह ग्रन्थ महावीर की परम्परा में आया और उनकी परम्परा में निर्मित दशाओं में प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में सम्मिलित किया गया।

ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यों पहले तो उसे प्रश्नव्याकरणदशा में डाला गया और बाद में उसे उससे अलग कर दिया गया ? मेरी दृष्टि में पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन होने से इसे अपने आगम-साहित्य में स्थान देने में महावीर की परम्परा के आचार्यों को कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई होगी; किन्तु जब जैन संघ सुव्यवस्थित हुआ और अपनी एक परम्परा बन गई तो अन्य परम्पराओं के ऋषियों को आत्मसात करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नहीं था कि एक ओर तो सूत्रकृतांग, भगवती[30] और उपासकदशांग[31] में मंखलिगोशालक की तथा ज्ञाताधर्म[32] में नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाये और दूसरी ओर उन्हें अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशों को आगम वचन के रूप में सुरक्षित रखा जाये। ईसा की प्रथम शती तक जैनसंघ की श्रद्धा को टिकाये रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मंखलिगोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनों को तीर्थंकर की आगम वाणी के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया था, यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने ऋषिभाषित को प्रश्न-व्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उसे सुरक्षित रखा। साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्ध भाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमें उल्लिखित पार्श्व, वर्धमान, मंखलिपुत्र आदि को आगम में वर्णित उन्हीं व्यक्तित्वों से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध क्यों कहा गया ?

ऋषिभाषित के मूलपाठ में केतलिपुत्र को ऋषि, अंबड (25) को परिव्राजक; पिंग (32), ऋषिगिरि (34) एवं श्री गिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत् ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया गया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन में वक्ता के नाम का उल्लेख ही नहीं है, अतः उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अन्त में प्राप्त होनेवाली संग्रहणी गाथा में[33] एवं ऋषिमण्डल[34] इन सबको प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमें से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन में हुए। किन्तु यह गाथा परवर्ती है और बाद में जोड़ी गयी लगती है। मूलपाठ में कहीं भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप में उल्लेख नहीं है। समवायांग में ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसंग में इन्हें मात्र देवलोक से च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नहीं कहा गया है। यद्यपि समवायांग में ही प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमें स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धों के विचारों का संकलन है। चूँकि ऋषिभाषित प्रश्नव्याकरण का ही एक भाग था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियों को सर्वप्रथम समवायांग में परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था।[35] यह स्पष्ट है कि

ऋषिभाषित अधिकांश ऋषि जैन परम्परा के नहीं थे अतः उनके उपदेशों को मान्य रखने के लिए उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया। संग्रहणीगाथा तो उन्हें स्पष्टरूप से प्रत्येकबुद्ध कहती ही है। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया—इन्हें प्रत्येकबुद्ध कहने का प्रयोजन यही था कि इन्हें जैन संघ से पृथक् मानकर भी इनके उपदेशों को प्रामाणिक माना जा सके। जैन और बौद्ध दोनों परम्परा में प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वयं प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु न तो वह स्वयं किसी का शिष्य बनता है और न किसी को शिष्य बनाकर संघ व्यवस्था करता है। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध किसी परम्परा या संघ व्यवस्था में आबद्ध नहीं होता है, फिर भी वह समाज में आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते हैं।

ऋषिभाषित और जैनधर्म के सिद्धान्त

ऋषिभाषित का समग्रतः अध्ययन हमें इस संबंध में विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है। प्रथम दृष्टि के देखने पर तो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है। प्रो. शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो. लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशों के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अन्तिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रन्थकार ऋषियों के उपदेशों के प्रस्तुतीकरण में प्रामाणिक नहीं हैं। उसने इनके उपदेशों को अपने ही ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अधिकांश अध्यायों में जैन पारिभाषिक पदावली यथा पंचमहाव्रत, कषाय, परिषह आदि को देखकर इस कथन में सत्यता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणार्थ प्रथम नारद नामक अध्ययन में यद्यपि शौच के चार लक्षण बताये गये हैं, किन्तु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है। वज्जीयपुत्त नामक द्वितीय अध्याय में कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दुःख का मूल बताता है। यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की परम्परा चलती रहती है, उसी प्रकार से मोह से कर्म और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल-पत्ती अपने आप समाप्त होते हैं। कर्म सिद्धान्त की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय 13, 15, 24 और 30 में भी मिलती है। जैन परम्परा में इससे ही मिलता जुलता विवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय से प्राप्त होता है। इसी प्रकार तीसरे असितदेवल नामक अध्याय में हमें जैन परम्परा और विशेषरूप से आचारांग में उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है। इस अध्याय में हमें पाँच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिंसा से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के 18 पापों का उल्लेख भी मिलता है। यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनर्भव, अपुनरावर्तन तथा शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमें

जैन-आगम-साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। पाँच महाव्रतों और चार कषायों का विवरण तो ऋषिभाषित के अनेक अध्यायों में आया है। महाकाश्यप नामक 9वें अध्ययन में पुण्य, पाप तथा संवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय में कषाय का भी उल्लेख है। नवें अध्याय में कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण कहा गया है जो कि जैन परम्परा के पूर्णतः अनुरूप है। इसमें जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द यथा उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी अवस्था, पेदशोदय, विपाकोदय आदि पाये जाते हैं। इस अध्याय में प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा सिद्धावस्था का स्वरूप एवं कर्मबन्धन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह अनेक अध्यायों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवें याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन में जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप एवं शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, यह बात भी 15वें मधुरायन नामक अध्ययन में की गयी है। सत्रहवें विदुर नामक अध्ययन में सावद्ययोग विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवें आरियायण नामक अध्याय में आर्य ज्ञान आर्यदर्शन और आर्यचरित्र के रूप में प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र की ही चर्चा है। बाईसवाँ अध्याय धर्म के क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निन्दा करता है, इसकी सूत्रकृतांग के इत्थिपरिण्णानामक अध्ययन से समानता है। तेईसवें रामपुत्त नामक अध्याय में उत्तराध्ययन (28/35) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा देखने, संयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविध कर्म के विघुणन की बात कही गयी है। अष्टविध कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा में ही पायी जाती है। पुनः चौबीसवें अध्याय में भी मोक्षमार्ग के रूप में ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक–इन चतुर्गतियों की भी चर्चा है। पचीसवें अम्बड़ नामक अध्याय में चार कषाय, चार विकथा, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ती, पंच इन्द्रिय संयम, छः जीवनिकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार इस अध्याय में जैन परम्परा में मान्य अनेक अवधारणायें एक साथ उपलब्ध हो जाती हैं। इसी अध्याय में आहार करने के छः कारणों की वह चर्चा भी है, जो कि स्थानांग (स्थान 61) आदि में मिलती है। स्मरण रहे कि यद्यपि जैनागमों में अम्बड़ को परिव्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान् बताया है।[36] यही कारण है कि इसमें सर्वाधिक जैन अवधारणायें उपलब्ध हैं। ऋषिभाषित के छब्बीसवें अध्याय में उत्तराध्ययन के पचीसवें अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा है। इसी अध्याय में कषाय, निर्जरा, छः जीवनिकाय और सर्वप्राणियों के प्रति दया का भी उल्लेख है। एकतीसवें पार्श्व नामक अध्ययन में पुनः चातुर्याम, अष्टविध कर्मग्रन्थि, चार गति, पंचास्तिकाय तथा मोक्ष स्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। इसी अध्याय में जैन परम्परा के समान जीव को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किन्तु पार्श्व तो जैन परम्परा में मान्य ही हैं,

अतः इस अध्याय में जैन अवधारणाएँ होनी आश्चर्यजनक नहीं हैं। अब विद्वानों की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान पार्श्वापत्यों की ही देन है। शूब्रिंग ने भी इसिभासियाइं पर पार्श्वापत्यों का प्रभाव माना है। पुनः 32वें पिंग नामक अध्याय में जैन परम्परा के अनुरूप चारों वर्णों की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। 34वें अध्याय में परिषह और उपसर्गों की चर्चा है। इसी अध्याय में पंच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनाश्रव भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है। पुनः 35वें उद्दालक नामक अध्याय में तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन शल्य, चार कषाय, चार विकथा, पाँच समिति, पंचेन्द्रियसंयम, योगसन्धान एवं नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष से रहित विभिन्न कुलों की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी अध्याय में संज्ञा एवं 22 परिषहों का भी उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित में अनेक जैन अवधारणायें उपस्थित हैं। अतः यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यों ने ऋषिभाषित का संकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओं को इन ऋषियों के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलतः ये अवधारणायें इन ऋषियों की ही थीं और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हुईं। यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित उल्लिखित ऋषियों में पार्श्व और महावीर को छोड़कर शेष अन्य सभी या तो स्वतन्त्र साधक रहे हैं या अन्य परम्पराओं के रहे हैं। यद्यपि इनमें कुछ के उल्लेख उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में भी हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इसमें जो विचार हैं वे उन ऋषियों के नहीं हैं तो ग्रन्थ की और ग्रन्थकर्ता की प्रामाणिकता खण्डित होती है, किन्तु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणायें जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं से प्रविष्ट हुईं पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं लगता है। अतः सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं वे उनके अपने हैं या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है।

ऋषिभाषित में उपदिष्ट अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियों के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमें जैनेतर परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होता फिर भी इनमें से अनेकों के विचार और अवधारणायें आज भी अन्य परम्पराओं में उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदों में है। वज्जीयपुत्त, महाकाश्यप और सारिपुत्त के उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में है। इसी प्रकार विदुर, नारायण, असितदेवल आदि के उल्लेख महाभारत एवं हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मिल जाते हैं। ऋषिभाषित में इनके जो विचार उल्लिखित हैं, उनकी तुलना अन्य स्रोतों से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के जिन विचारों का उल्लेख किया गया है, उनमें कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवें अध्याय में मंखलिपुत्र गोशालक का उपदेश संकलित है। मंखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध में हमें जैन परम्परा में भगवतीसूत्र और उपासकदशांग में, बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय के सामञ्जस्य महाफलसुत्त और सुत्तनिपात में एवं हिन्दू परम्परा में महाभारत के शान्तिपर्व के 177वें अध्याय में मंखी ऋषि के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। तीनों ही

स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते हैं। यदि हम ऋषिभाषित अध्याय 11 में वर्णित मंखलि-गोशालक के उपदेशों को देखते हैं तो यहाँ भी हमें परोक्ष रूप से नियतिवाद के संकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है, आहत होता है, स्पंदित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है वह त्यागी नहीं है। इसके विपरीत जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित नहीं होता है, क्षोभित नहीं होता, दुःखित नहीं होता है वह त्यागी है। परोक्षरूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध में नियतिवाद का प्रतिवादक है। संसार की अपनी एक व्यवस्था और गति है वह उसी के अनुसार चल रहा है, साधक को उस क्रम का ज्ञाता-द्रष्टा तो होना चाहिए किन्तु द्रष्टा के रूप में उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम संसार के घटनाक्रम से साक्षी-भाव से रहें। इस प्रकार यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य में जो मंखलिगोशालक के सिद्धान्त का निरूपण है वह वस्तुतः गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा से निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुतः ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धान्तों के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटक और परवर्ती जैन आगमों के रचयिता नहीं हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के 177वें अध्याय में मंखि ऋषि का उपदेश संकलित है उसमें एक ओर नियतिवाद का समर्थन है किन्तु दूसरी ओर इसमें वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय में मूलतः द्रष्टा भाव और संसार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमें यह बताया गया है कि संसार की अपनी व्यवस्था है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नहीं मोड़ पाता है अतः व्यक्ति को द्रष्टा भाव रखते हुए संसार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की विशेषता यह है कि मंखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित में मंखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप में संकलित मिलता है वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार ऋषिभाषित के अध्याय 9 में महाकश्यप के और अध्याय 38 में सारिपुत्त के उपदेश संकलित हैं ये दोनों ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं। यदि हम ऋषिभाषित में उल्लिखित इनके विचारों को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से इसमें हमें बौद्धधर्म के अवधारणा के मूलतत्त्व परिलक्षित होते हैं। महाकश्यप अध्याय में सर्वप्रथम संसार की दुःखमयता का चित्रण है। इसमें कर्म को दुःख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है जो कि बौद्धों के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय में एक विशेषता हमें यह देखने को मिलती है, कि इसमें कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए "सन्तानवाद" की चर्चा है जो कि बौद्धों का मूलभूत

सिद्धान्त है। इस अध्याय में निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसंस्कारों के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इसमें बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित हैं। इसी प्रकार 38वें सारिपुत्त नामक अध्याय में भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यममार्ग का प्रतिपादन मिलता है। इसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमें प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय में कहा गया है कि मनोज्ञ भोजन, शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ के आवास में रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है। फिर भी प्राज्ञ पुरुष को सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य नामक 12वें अध्याय में भी हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमें उपनिषदों एवं महाभारत में भी मिलता है।[37] उपनिषद् में जहाँ याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी का संवाद है वहाँ उनकी संन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया गया है। ऋषिभाषित में भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप में लोकैषणा और वित्तैषणा के त्याग की बात कही गयी है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकैषणा होती है तब तक वित्तैषणा होती है और जब वित्तैषणा होती है तो लोकैषणा होती है। इसलिए लोकैषणा और वित्तैषणा के स्वरूप को जानकर गोपथ से जाना चाहिए महापथ से नहीं जाना चाहिए। वस्तुतः ऐसा लगता है कि यहाँ निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्ति मार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते हैं। यहाँ सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्धधर्म में जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास है, कहीं वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नहीं है। आचारांग में महायान शब्द आया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी अध्याय 310 से लेकर 318 तक याज्ञवल्क्य के उपदेशों का संकलन है। इसमें मुख्य रूप से सांख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय में मुनि की भिक्षा विधि की भी चर्चा है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। वैसे बृहदारण्यक में भी याज्ञवल्क्य भिक्षाचर्या का उपदेश देते हैं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों को विकृत नहीं किया है। ऋषिभाषित के 20वें उत्कल नामक अध्याय में भौतिकवाद या चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन है। इस अध्याय के उपदेष्टा के रूप में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है किन्तु इतना निश्चित है कि इसमें चार्वाक के विचारों का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित में वर्धमान का जो उपदेश है उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन में एवं उत्तराध्ययन के 32वें अध्याय में यथावत् रूप से उपस्थित है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में ऋषियों के उपदेश को सामान्य रूप से प्रामाणिकतापूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमें मुख्य रूप से उनके

आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का ही प्रस्तुतीकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमें कोई बल नहीं दिया गया है। दूसरे यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतीकरण या ग्रन्थ रचना जैन परम्परा के आचार्यों के द्वारा हुई है। अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें जैन परम्परा में मान्य कुछ अवधारणाएँ प्रतिबिम्बित हो गयी हैं। पुनः इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार हैं कि जिन्हें आज हम जैन परम्परा की अवधारणाएँ कह रहे हैं, वे मूलतः अन्य परम्पराओं में प्रचलित रही हों और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हो गयी हों। अतः ऋषिभाषित के ऋषियों के उपदेशों की प्रामाणिकता को पूर्णतः निरस्त नहीं किया जा सकता है। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर अपरोक्षरूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित में वर्णित अधिकांश ऋषिगण जैन परम्परा से सम्बन्धित नहीं हैं। उनके कुछ नामों के आगे लगे हुए ब्राह्मण परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करते हैं। दूसरे देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाहुक, विदुर, वारिषेणवृष्ण, द्वैपायन, आरुणि, उद्दालक, नारायण, ऐसे नाम हैं जो वैदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध रहे हैं और आज भी उनके उपदेश उपनिषदों, महाभारत एवं पुराणों में सुरक्षित हैं, इनमें से देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग, औपपातिक, अंतकृतदशा आदि जैन-ग्रन्थों में तथा बौद्ध त्रिपिटिक साहित्य में भी मिलते हैं। इसी प्रकार वज्जीयपुत्र, महाकाश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं और उनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्य में उपलब्ध है। मंखलिपुत्र, रामपुत्त, अम्बड (अम्बष्ट), संजय (वेलट्ठिपुत्र) आदि ऐसे नाम हैं जो स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित हैं और इनके इस रूप में उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओं में हमें स्पष्ट रूप से मिलते हैं। ऋषिभाषित के जिन ऋषियों के उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते हैं उन पर विस्तृत चर्चा प्रो. सी. एस. उपासक ने अपने लेख 'इसिभासियाइं एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स; ए स्टडी' में किया है। यह लेख पं. दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहा है। पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में सुस्पष्ट रूप से मान्य हैं। आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग में है। इसके अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र वल्कलचीरी, कुर्मापुत्र, केतलिपुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम हैं जिनमें अधिकांश का उल्लेख जैन परम्परा के इसिमण्डल एवं अन्य ग्रन्थों में मिल जाता है। पुष्पशाल वल्कलचीरी कुर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा में भी है। किन्तु मधुरायण, सोरियायण आर्यायन आदि जिनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्परा में अन्यत्र नहीं मिलता है उन्हें भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नहीं कह सकते। यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियों की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण, ऐसे नाम हैं जिन्हें काल्पनिक कहा जा सकता है क्योंकि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराएँ इन्हें सामान्यतया लोकपाल के रूप में ही स्वीकार करती हैं, किन्तु इनमें भी महाभारत

में वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप में मिलता है। यम को आवश्यकचूर्णि में यमदग्नि ऋषि का पिता कहा गया है। अतः इस सम्भावना को भी पूरी तरह निरस्त नहीं किया जा सकता कि यम कोई ऋषि रहे हों। यद्यपि उपनिषदों में भी यम को लोकपाल के रूप में भी चित्रित किया गया है। किन्तु इतना ही निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा हैं। यम और नचिकेता का संवाद औपनिषदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध ही है। वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा में मंत्रोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप में लोक परम्परा में मान्य रहे हों और इसी आधार पर इनके उपदेशों का संकलन ऋषिभाषित में कर लिया गया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियों में उपर्युक्त चार-पाँच नामों को छोड़कर शेष सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति हैं काल्पनिक चरित्र नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ऋषिभाषित न केवल जैन परम्परा की अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमें भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह हमें अधिकांश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋषियों के सम्बन्ध में और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनाएँ देता है। जैनाचार्यों ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुतः यह ग्रन्थ ईसापूर्व 10वीं शती से लेकर ईसापूर्व 6ठीं शती तक के अनेक भारतीय ऋषियों की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

●

---

1. (अ) से किं कालियं ? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं।
   तं जहाउत्तरज्झयणाइं 1 दसाओ 2 कप्पो 3 ववहारो 4 णिसीहं 5 महाम्मिसीहं 6 इसिभासियाइं 7 जंबुद्दीवपण्णत्ती 8 दीवसागरपण्णत्ती–नन्दिसूत्र 84(महावीर विद्यालय, बम्बई, 1968)
   (ब) नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंग बाहिरं कालिअं भगवंतं तं जहा-1 उत्तरज्झयणाइं 2 दसाओ 3 कप्पो 4 ववहारो 5 इसिभासिआइं 6 निसीहं 7 महानिसिंह............
   (ज्ञातव्य है कि पंक्खिय सुत्त में अंगबाह्यग्रन्थों की सूची में 28 उल्कालिक और 36 कालिक कुल 64 ग्रन्थों के नाम हैं। इसमें 6 आवश्यक और 12 अंग मिलाने से कुल 82 की संख्या होती है, लगभग यही सूची विधिमार्गप्रपा में भी उपलब्ध होती है।) (–पक्खियसुत्त (पृ. 79) देवचन्दलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सिरीज क्रमांक 99)
2. अंगबाह्यमनेकविधम् । तद्यथा-सामयिकं, चतुर्विंशतिस्तवः, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्यत्सर्गः, प्रत्याख्यानं, दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारौ, निशीथं, ऋषिभाषितानीत्येवमादि । –तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) 1/20, (देवचन्दलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड) क्रम-संख्या 67.
3. तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि.......... ।–आवश्यक निर्युक्ति–हरिभद्रीयवृत्ति, पृ. 206.

4. ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिं.......... ।—आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 41.
5. इसिभासियाइं पणयालीसं अज्झयणाइं कालियाइं, तेसु दिण 45 निव्विएहिं अणागाढजोगो । अण्णे भणंति-उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइं अतंभवंति । विधिमार्गप्रपा पृ. 58 ।

देविदत्थयमाई पइण्णगा होंति इगिगनिविएण ।
इसिभासियअज्झयणा आयंबिलकालतिगसज्झा ॥ 61 ॥
केसिं चि मए अंतभवंति एयाइं उत्तरज्झयणे ।
पणयालीस दिणेहिं केसि वि जोगो अणागाढो ॥ 62 ॥

विधिमार्गप्रपा, पृ. 62 ।

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या के सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा में भी मतैक्य नहीं है । 'सज्झाय पट्ठवण विही' पृ. 45 पर 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेद, 4 मूल एवं 2 चूलिका सूत्र के घटाने पर लगभग 31 प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं । जबकि पृ. 57-58 पर ऋषिभाषित सहित 15 प्रकीर्णकों का उल्लेख है ।)

6. (अ) कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती ।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुआगो ॥ 124 ॥ (मू. भा.)
तथा ऋषिभासितानि-उत्तराध्ययनादीनि, 'तृतीयश्च' कालानुयोगः—आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 206.

(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे ।
सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमणिउणस्स ।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभाषिआणं च ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, 84-85.

7. पष्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तंजहा-उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासिताइं, महावीर-भासिताइं, खोमपसिणाई, कोमलपसणाइं, अद्दागपसिवाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं । ठाणंगसुवे, दसमं अज्भयणं दसट्टाणं । (महावीर जैन विद्यालय संस्करण, पृ. 311).
8. चोत्तालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता । समवायंगसुत्त-44.
9. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्त तवोघणा ।
उदएण सिद्धिभावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥ 1 ॥
अभुंजिया नमी विदेही, रामपुत्ते य भुंजिआ ।
बाहुए उदगंभोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥ 2 ।
आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि यं ॥ 3 ।
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह संभता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्ध इति मेयमणुस्सुअ ॥ 4 ।

—सूत्रकृताङ्ग, 1/3/4/1-4.

10. सूत्रकृतांग, 2/6/1-3, 7, 9.
11. भगवती शतक, 15.
12. उपासकदशांग, अध्याय 6 एवं 7.
13. (अ) सुत्तनिपात 32 सभियसुत्त,
(ब) दीघनिकाय, सामज्यफलसूत्र ।
14. ये ते समणब्राह्मणा संगिनो गणिनो गणाचरिया आता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता, बहुजनस्स, सेप्यथीदं-पूरणो कस्सपो, मक्खलिगोसालो, अजितो केसकम्बली, पकुधो कच्चायनो, संजयो बेलटिठपुत्ता, निगण्ठो नातपुत्तो ।

—सुत्तनिपात, 32-सभियंसुत्त.

15. (अ) पालिसाहित्य का इतिहास (भरत सिंह उपाध्याय), पृष्ठ 102-104.
(ब) It is.........the oldest of the poetic books of the Buddhist Scriptuares Introduction, page-2-Sutta-Nipata (Sister vajira).
16. उभो नारद पब्बता ।
सुत्तनिपात 32, सभियसुत्त, 34.
17. असितो इसि अद्दस दिवाविहारे ।
सुत्तनिपात 37, नालकसुत्त 1.
18. जिण्णेऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्चायस्मा पिंगियो)
सुत्तनिपात 71 पिंगियमाणवपुच्छा.
19. सुत्तनिपात, 32 सभियसुत्त ।
20. वही ।
21. वही ।
22. घेरगाथा 36; डिक्सनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स
वाल्यूम प्रथम पेज 631, वाल्यूम द्वितीय पेज 15.
23. (अ) 'आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं ।
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥ 8 ॥
अकूडत्तं च कूड़ेसु, विणए णियमणे ठिते ।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ॥ 9 ॥
सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा ।
थितिजोत्तसुसंबद्धा सव्वण्णुवयणे रया ॥ 10 ॥
पंचैव इंदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिजिजता ।
माहणेसु तु ते गोणा गंभीरं कसते किसिं ॥ 11 ॥
तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं ।
ववसातो घणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ 12 ॥
थिती खलं वसुयिकं, सद्धा मेढी य णिच्चला ।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥ 13 ॥
कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा ।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति' ॥ 14 ॥
एतं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वापि विसुज्झती ॥ 15 ॥
—इतिभासियाइं 26।8-15.

(ब) "कतो छेत्तं, कतो बीयं, कतो ते जुगणंगलै ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ॥ 1 ॥
आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुगणंगलं ।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा घम्मन्तरा किसी ॥ 2 ॥
एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता ।
एसा बहुसई होइ परलोकसुहावहा ॥ 3 ॥
एयं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती" ॥ 4 ॥
—इसिभासियाइं 32।1-4.

24. सद्धा बीजं तपो वुट्ठि पञ्ञा मे युगनंगलं ।
हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फालपाचनं ॥ 2 ॥
कायगुत्तो वचीगुत्तो आहारे उदरे यतो ।
सच्चं करोमि निदानं सोरच्चं मे पमाचनं ॥ 3 ॥
रिरियं मे धुरधोरम्हं योगक्खेमाधिवाहनं ।
गच्छति अनिवत्तन्तं यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥ 4 ॥
एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतफ्फला ।
एतं कसिं कसित्वान सब्बदुक्खा पमुच्चतीति ॥ 5 ॥
—सुत्तनिपात, 4 - कसिभारद्वाजसुत्त ।
25. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥
—उत्तराध्ययन, 22/44.
26. पक्खंदे जलियं जोइं, घूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति बंतयं भोत्तुं, कुल जाया अगंधणे ॥
—दसवैकालिक, 1/6.
27. अगन्धणे कुले जातो जधा जागो महाविसो ।
मुंचिता सविसं भूतो पियन्तो जातो लाघवं ॥
—इसिभासियाइं, 45/40.
28. (अ) इसिभासियाइं, 26/15.
(ब) इसिभासियाइं, 32/4.
29. See—Introduction of Isibhasiyaim by Walther Schubring, Ahmedabad - 1974.
30. देखें भगवती शतक, 15.
31. देखें उपासकदसांग, अध्याय 6 एवं 7.
32. ज्ञात-धर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन ।
33. पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स ।
पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥
इसिभासियाइं, संपा. मनोहरमुनि,
परिशिष्ट नं. 1.
34. नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि ।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ॥ 44 ॥
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता ।
पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपवराइं ॥ 45 ॥
ऋषिमण्डलप्रकरणम्, आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 13, बालापुर, गाथा 44, 45.
35. पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णवय पतेअबुद्धविविहत्यभासाभासियाणं
—समवायांग, सूत्र 546.
36. औपपातिक सूत्र 38.
37. बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, पञ्चम ब्राह्मण, 1.

व्यासभाष्य के रचनाकाल का ज्ञापक एक भाष्य-पाठान्तर

डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य

व्यासभाष्य के कई मुद्रित संस्करणों में अनुमान के विषय में निम्नोक्त वाक्य मिलता है—

'देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच् चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्च अप्राप्तिरगतिः' (1/7 सूत्रभाष्य) । इस वाक्य के 'अप्राप्तिः' शब्द के स्थान पर 'अप्राप्तेः' पाठ कई हस्तलेखों में मिलता है, जैसा कि अभ्यंकर शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण से ज्ञात होता है । यह 'अप्राप्तेः' पाठ ही व्यासभाष्य की विवरणटीका[1] द्वारा स्वीकृत हुआ है । टीकाकार विज्ञान भिक्षु को भी 'अप्राप्तेः' पाठ ज्ञात था, यद्यपि उन्होंने इस पाठ का खण्डन करके 'अप्राप्तिः' पाठ ही माना है (द्र. योगवार्तिक–1/7) । टीकाकार वाचस्पति मिश्र 'अप्राप्तिः' पाठ ही मानते हैं । उन्होंने 'अप्राप्तेः'–रूप पाठान्तर का उल्लेख नहीं किया (द्र. तत्त्ववैशारदी, 1/7) । वाचस्पति के प्रभाव के कारण बाद के टीकाकार 'अप्राप्तिः' पाठ को ही मानते हैं– यह देखा जाता है ।

हमारा कहना है कि 'अप्राप्तेः' ही मूल पाठ है और परवर्ती काल में 'अप्राप्तिः' पाठ बनाया गया । पाठ में यह परिवर्तन किस आचार्य ने किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया–यह यहाँ विचारित हो रहा है ।

इस पाठान्तर पर दीर्घकाल तक मनन करने के बाद हमारी यह धारणा बनी है कि व्यतिरेकी हेतु (जिसको वैधर्म्य हेतु भी कहते हैं–वैधर्म्य-दृष्टान्त पर आश्रित होने के कारण) के स्वरूप के विषय में जो नया मत बाद में उद्भूत हुआ, वही इस पाठभेद का कारण बना । व्यतिरेकी हेतु का जो स्वरूप अत्यन्त प्राचीन आचार्य (जैसे न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन) मानते थे, तदनुसार 'अप्राप्तेः' पाठ ही संगत हो सकता था, 'अप्राप्तिः' नहीं । परवर्तीकाल में व्यतिरेकी हेतु का जो स्वरूप सोचा गया' तदनुसार 'अप्राप्तेः' पद नहीं रखा जा सकता था । अतः नवीन धारणा के मानने वाले किसी आचार्य ने 'अप्राप्तिः' रूप से पाठ में परिवर्तन कर दिया ।

'अप्राप्तेः' मूल पाठ है–इसका सर्वबलिष्ठ प्रमाण है–'अप्राप्तेः' पाठ मानने पर उपर्युक्त भाष्यसन्दर्भ का सहज रूप से अर्थबोध हो जाना । 'अप्राप्तिः' पाठ मानने पर वाक्य का तात्पर्य संशयग्रस्त रहता है–जैसा कि दिखाया जा रहा है ।

व्यासभाष्यकार यहाँ उदाहरण देकर अन्वयी हेतु तथा व्यतिरेकी हेतु को दिखाना चाहते हैं । अन्वयी हेतु को दिखाने के लिये 'पक्ष' है–चन्द्रतारकम्, 'साध्य' है–गतिमत्, हेतु' है–देशान्तरप्राप्तेः (हेतु होने के कारण पञ्चमी विभक्ति हुई है) । इसी प्रकार व्यतिरेकी हेतु को दिखाने के लिए 'पक्ष' है–विन्ध्यः, 'साध्य' है–अगतिः, हेतु' है–अप्राप्तेः (हेतु होने के कारण पञ्चमी विभक्ति हुई है)[2] ।

यदि 'अप्राप्तेः' के स्थान पर 'अप्राप्तिः' पढ़ा जाये (उपर्युक्त भाष्य सन्दर्भ द्रष्टव्य) तो 'अप्राप्तिः' और 'अगतिः' दोनों में प्रथमा विभक्ति होने के कारण यह सहजतया पता नहीं चलता कि कौन शब्द 'साध्य' को कहता है और कौन 'हेतु' को कहता है। 'अप्राप्तिः अगतिः' ऐसा पाठ मानने वालों की व्याख्या देखने से यह स्पष्टतया विज्ञात होता है कि यह व्याख्या अस्वारसिक है।

हमने कहा है कि व्यक्ति की हेतु के स्वरूप के विषय में धारणा का परिवर्तन ही 'अप्राप्तेः' पाठ को 'अप्राप्तिः' रूप में बदलने का हेतु है। इसका स्पष्टीकरण यह है–प्राचीन आचार्यों के अनुसार 'हेतु के रहने पर साध्य का रहना' अन्वयी का स्वरूप है तथा 'हेतु के न रहने पर साध्य का न रहना' व्यतिरेकी हेतु का स्वरूप है।[3] इस मत के अनुसार देशान्तर-प्राप्ति अन्वयी हेतु है (अतः इसमें पञ्चमी विभक्ति हुई है) और अप्राप्ति (देशान्तर-अप्राप्ति) व्यतिरेकी हेतु है (अतएव 'अप्राप्तेः' यह पञ्चम्यन्त पाठ संगत होता है)।

नवीन आचार्यों के अनुसार व्यतिरेकी हेतु का स्वरूप है–साध्य के न रहने पर हेतु का न रहना (भाष्योक्त स्थल में कहा जायेगा–गति न रहने पर देशान्तर-प्राप्ति का न होना)। इस मत को दृष्टि में रखकर ही 'अप्राप्तेः' को 'अप्राप्तिः' बना दिया गया है और व्याख्यान के बल पर इस नये पाठ का ऐसा अर्थ किया गया जिससे यह व्यतिरेकी हेतु का प्रदर्शनकारी सिद्ध हो। 'अप्राप्तिः' पाठ करने का उद्देश्य है–'यद् गतिमद् न, तत् (देशान्तर)-प्राप्तिमद् न'–इस अर्थ को दिखाना (भाष्यवाक्य का ऐसा अर्थ निकालना); 'अप्राप्तेः' पाठ रहने पर यह अर्थ निकालना संभव नहीं है।

हमने पहले ही यह कहा है कि 'अप्राप्तिः' पाठ करने से 'कौन साध्य है' और 'कौन हेतु है'–इसमें संशय होता है क्योंकि 'अप्राप्तिः' और 'अगतिः' दोनों में समान विभक्ति (प्रथमा विभक्ति)–हेतुपरक शब्द में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग करना शिष्ट व्यवहार है।

दर्शनशास्त्ररसिक पाठकों को यह जानकर विस्मय होगा कि व्यतिरेकी हेतु के विषय में जो प्राचीन मत (हेतु के न रहने पर साध्य का न रहना) है, वह मत व्यासभाष्य में ही (गति और देशान्तर-प्राप्ति का उल्लेख करके) अन्यत्र प्रतिपादित हुआ है–"यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः, यत्र न प्राप्तिस्तत्र न गतिः, इत्युक्तम्' (1-49 सूत्रभाष्य)। 'इत्युक्तम्' कहने से यह निश्चित होता है कि भाष्यकार ने पहले भी कहीं इस मत को कहा है। भाष्यकार का लक्ष्य 1-7 सूत्र-भाष्य का पूर्वोक्त सन्दर्भ है–इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। इससे भी स्पष्ट है कि व्यासभाष्य के अनुसार 'जहाँ देशान्तरप्राप्ति है वहाँ गति है'–यह अन्वयी हेतु है और 'जहाँ देशान्तरप्राप्ति नहीं है" वहाँ गति नहीं है (हेतु के अभाव में साध्य का अभाव)–यह व्यतिरेकी हेतु है। अतः यह भी स्वीकार्य होगा कि 'अप्राप्तेः' (=देशान्तराप्राप्तेः)–यही भाष्यसम्मत पाठ है। व्यतिरेकी हेतु की नयी धारणा के अनुसार (साध्य के अभाव से हेतु का अभाव) 'जहाँ गति नहीं है, वहाँ देशान्तरप्राप्ति नहीं है'-ऐसा कहना होगा, यह ज्ञातव्य है।

व्यतिरेकी हेतु के विषय में जो नया मत है (साध्य के अभाव में हेतु का अभाव) वह सर्वप्रथम न्यायभाष्य के उद्द्योतकारकृत वार्त्तिक में मिलता है। वार्त्तिककार ने भाष्यकार के मत (अर्थात् हेतु के अभाव में साध्य का अभाव=व्यतिरेकी हेतु) में दोष दिखाकर उस मत का सुदृढ़ खण्डन किया है, वार्त्तिक की व्याख्या तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने वार्त्तिककार के मत का ही समर्थन किया है तथा न्यायभाष्यकार के मत को स्पष्टतया सदोष कहा है। चूँकि तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ही व्यासभाष्य की तत्त्ववैशारदी नामक टीका के प्रणेता हैं, **इसलिए यह अनुमित होता है कि उन्होंने ही व्यासभाष्य के 'अप्राप्तेः' इस मूलपाठ को 'अप्राप्तिः' के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिससे उनके द्वारा स्वीकृत व्यतिरेकी हेतु का स्वरूप व्यासभाष्य में चरितार्थ हो जाये।** 'अप्राप्तेः'–पाठ न्यायभाष्यकारसम्मत व्यतिरेकी हेतु के अनुसार है–यह पहले ही कहा गया है। न्यायभाष्य का मत न्यायसूत्रकार को भी अभीष्ट है–यह मानने में कोई बाधा नहीं है। चूँकि व्यतिरेकी हेतु के विषय में व्यासभाष्यकार प्राचीनतम के अनुयायी हैं (जैसा कि 1.49 व्यासभाष्य से ज्ञात होता है), अतः यह निश्चित है कि व्यासभाष्य का मूल पाठ 'अप्राप्तेः' ही था, 'अप्राप्तिः' नहीं था।

व्यासभाष्यटीकाकार विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि 'अप्राप्तेः' पाठ लेखक-प्रमाद से हुआ है। चूंकि विन्ध्य पर्वत प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उसकी गतिहीनता को सिद्ध करने के लिए अनुमान करने की प्रवृत्ति ही नहीं होगी[4]। भिक्षु का यह मत संगत नहीं है क्योंकि जिसने विन्ध्य पर्वत को देखा नहीं, वह अनुमान करने के लिए प्रवृत्त अवश्य होगा। किंच दृष्ट विषय में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती–यह सर्वथा सत्य नहीं है। आगमसिद्ध विषय पर भी अनुमान करने की प्रवृत्ति होती है। वेदवाक्य में जिसका अटल विश्वास है, वह भी वेदोक्त मतविशेष (यथा आत्मा नित्य है) को अनुमान से सिद्ध करने के लिए प्रयास करता है–यह देखा जाता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ विज्ञानभिक्षु से प्राचीन वाचस्पति मिश्र ने 'अप्राप्तेः' रूप पाठ का कोई उल्लेख नहीं किया वहाँ परवर्ती विज्ञान-भिक्षु ने इस पाठ का उल्लेख करना उचित समझा। इसका कारण स्पष्ट है। हम इस बात को पूर्ण संभव समझते हैं कि व्यतिरेकी हेतु के विषय में नवीन मत के अनुयायी वाचस्पति मिश्र ने ही प्राचीन पाठ 'आप्राप्तेः' को बदल कर 'अप्राप्तिः' किया था ('अप्राप्तेः' पाठ को अपनी दृष्टि के अनुसार असंगत समझकर)। व्यासभाष्य के अनेक हस्तलेखों में 'अप्राप्तेः' पाठ विद्यमान था, जिसको भिक्षु ने देखा था। अनेक हस्तलेखों में दृष्ट होने के कारण भिक्षु इस पाठ पर सर्वथा मौन नहीं रह सकते थे, अतः उन्होंने 'अप्राप्तेः' पाठ का उल्लेख किया और चूँकि भिक्षु भी व्यतिरेकी हेतु के विषय में, नवीन मत के ही अनुयायी थे, अतः उन्होंने भी 'अप्राप्तिः' पाठ को संगत समझा तथा 'अप्राप्तेः' पाठ की असगंति दिखाने की चेष्टा की।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि व्यासभाष्य उस काल में रचित है जब व्यतिरेकी हेतु के विषय में नवीन मत का उद्‌भव नहीं हुआ था। दूसरे शब्दों में व्यासभाष्य न्यायवार्त्तिक से बहुत पहले का ग्रन्थ है। व्यासभाष्य न्यायभाष्य से भी प्राचीन है–ऐसा मानने में हेतु है। ऐसा होने पर भी

व्यासभाष्यकार द्वारा स्वीकृत व्यतिरेकी हेतु के स्वरूपसम्बन्धी मत में कालक्रम की दृष्टि से कोई अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि व्यतिरेकी हेतु से सम्बन्धित न्यायभाष्यकार का मत भी सर्वथा उनका अपना नहीं है–प्राचीनतर नैयायिकों का है। यह मत अन्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यों का भी हो सकता है। व्यासभाष्यकार ने अपना मत न्यायभाष्य से ही लिया हो–ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे न्यायभाष्य के प्रांचीन स्वसंप्रदाय के आचार्यों से भी ले सकते हैं। चाहे जो भी हो इतना तो निश्चित है कि व्यतिरेकी हेतु के स्वरूपसम्बन्धी नवीन मत के उद्‌भव से बहुत पहले व्यासभाष्य रचित हुआ था।



---

1. यह विवरण टीका भगवत्पाद-शंकराचार्यकृत है–ऐसा ग्रन्थसंपादक का कहना है। हमारी दृष्टि में यह टीका शंकराचार्य उपाधिधारी किसी व्यक्ति के द्वारा प्रणीत है, शारीरकभाष्यकार शंकराचार्य के द्वारा नहीं। संभवतः यह तत्त्ववैशारदी-टीकाकार वाचस्पति मिश्र से अर्वाचीन है। अर्वाचीन होने पर भी इस टीका की व्याख्या बहुत ही गम्भीर है और कहीं-कहीं वाचस्पति की व्याख्या की तुलना में उत्कृष्टतर है। दक्षिण भारत में सांख्ययोग का कोई संप्रदाय था–ऐसा कई प्रमाणों से ज्ञात होता है। विवरण-टीकाकार उस संप्रदाय के अनुयायी होंगे-ऐसा अनुमित होता है।
2. हेतुवाचक शब्द पञ्चम्यन्त होगा–यह एक प्रतिष्ठित मत है। यही कारण है कि हेतु के लिए 'त्वाच्-शिरस्कवचः' शब्द नैष्कर्म्य-सिद्धि (2/59) में प्रयुक्त हुआ है। 'त्वात्' (अमुकत्वात् जैसे धूमवत्वात्) पञ्चमी का लक्षक है।
3. द्र. न्यायसूत्र 1-1-37 का वात्स्यायन भाष्य ('साध्यवैधर्म्याद् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्......वैधर्म्यो वा तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्याद् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्' सन्दर्भ) द्रष्टव्य है। उद्द्योतकार आदि परवर्ती नैयायिकों ने न्यायभाष्यकार के व्यतिरेकी हेतु के स्वरूपसम्बन्धी मत पर जो दोष दिये, उन दोषों का समाधान भाष्यकारीय दृष्टि के अनुसार किया जा सकता है; पर इस लेख में यह विचार करना अप्रासंगिक होगा। यह आश्चर्य है कि उद्द्योतकार, वाचस्पति आदि किसी आचार्य ने भी न्यायभाष्यकार के आशय पर कुछ नहीं कहा–उन्होंने भाष्यकार के मत पर दूषण ही किया है।
4. अप्राप्तेरिति पंचमीपाठस्तु लेखकप्रमादात्, प्रत्यक्षसिद्धेरनुमितिवैयर्थ्यादिति (योगवार्त्तिकम्, 1-7)।

बाली द्वीप में ओङ्कार-साधना

अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र



इण्डोनेशिया के 27 प्रान्तों (प्रापिंसी) में बाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पश्चिम में अन्दमान-नीकोबार (भारत) पूर्व में हवाई द्वीप-समूह (अमेरिका) दक्षिण में आस्ट्रेलिया तथा उत्तर में वियतनाम, कम्बोडिया, मलेशिया, थाईलैण्ड एवं बर्मा से घिरा प्रशान्तमहासागर का विशाल क्षेत्र इण्डोनेशिया राष्ट्र है। उत्तर-दक्षिण में प्रायः 1800 कि. मी. तथा पूर्व-पश्चिम में प्रायः 3800 कि. मी. विस्तृत इस सागर क्षेत्र में इण्डोनेशिया के 13677 द्वीप बिखरे हैं। प्रायः तीन हजार द्वीप ही आबाद हैं। इनमें भी कुछ प्रमुख द्वीप सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा राजनयिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। इन द्वीपों में ईसा की प्रारम्भिक शदियों में ही भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई।

जावा (यवद्वीप) में मतराम, कडिरी, सिंहसारि तथा मजपहित राजवंशों ने 732 ई. से 1478 ई. तक शासन किया। इस अवधि में जावा तथा साम्राज्यशासित अन्यान्य द्वीपों में भारतीय संस्कृति, धर्म एवं साहित्य का अद्भुत पल्लवन हुआ। कविभाषा (Old Javanese)में लिखा गया यह उत्कृष्ट वाङ्मय किसी भी दृष्टि से, संस्कृत से कम उत्कृष्ट एवं समृद्ध नहीं है। वेद, पुराण, दर्शन, तंत्र, शास्त्र, काव्य एवं नृत्य (लेगांग) नाटक (वायांग) के हजारों 'लोन्तार' (ताडपत्रांकित ग्रन्थ) आज भी प्राचीन यवसाम्राज्य की सर्वतोमुखी समृद्धि के साक्षी हैं।[1]

सुमात्रा से जावा तथा जावा से बाली द्वीप प्रायः मिला हुआ है। जावा-बाली के बीच का सागर तो मात्र 3 कि.मी. चौड़ा है। 1478 ई. में जब जावा का मजपहित साम्राज्य मुस्लिम आक्रमण में विध्वस्त हो उठा तो वहाँ के पराजित नरेश ने भाग कर पूर्वी बाली द्वीप में शरण ली तथा गेल्गेल नगर में 'देव अगुंग' (ruler the great) नाम से स्वयं को बाली का शासक घोषित कर दिया। यही राजवंश बाली में 1906 ई. तक शासन करता रहा, अपने सामन्तों की सहायता से।

1906 ई. में, जब बाली द्वीप अन्तिम रूप से डचों के अधिकार में आया, वह नौ राज्यों में विभक्त था—ग्यान्यार, करंगसम, बांगली, बुलेलेंग, बाडुंग, मेंगवी, तबानान, जेम्ब्राना तथा गेल्गेल।

वस्तुतः गेल्गेल-राजवंश ही बाली का शासक था । अन्य राज्यों के नरेश उसी के सामन्त तथा अधीनस्थ थे ।

चूँकि बाली द्वीप प्रथम शती ई. से 1906 तक सर्वतंत्र-स्वतंत्र रहा,[2] फलतः वहाँ हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं रीतिरिवाज आज भी अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं । आज भी प्रायः 30 लाख निष्ठावान्, हिन्दुओं से आबाद यह द्वीप में हमें उपनिषत्कालीन भारत की याद दिलाता है । यद्यपि बाली के हिन्दू शैव, वैष्णव तथा बौद्धों में विभक्त है, तथापि समाज में वर्चस्व शैवों का ही है । भटार अतिन्तिय (निराकार अचिन्त्य शिव) ही बालीवासियों के भुक्ति-मुक्ति एवं गति-प्रदाता हैं । वह शिव 'निष्कल' हैं; परन्तु साकांक्ष होने पर वही 'सकल' बनकर सृष्टि करने लगते हैं । यह सृष्टि चार खण्डों में सम्पन्न होती है ।

प्रथम खण्ड में अचिन्त्य परमेश्वर स्वयं को तीन रूपों में विभक्त करता है–ब्रह्मशिव (ब्रह्मा) सदाशिव (विष्णु) तथा रुद्रशिव ! विस्तार की दूसरी प्रक्रिया में भटार[3] (देवगण) तीसरी में कवितान (पितर) और चौथी में समूची अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज सृष्टि का निर्माण सम्पन्न होता है । पितर देवसृष्टि एवं मानवसृष्टि के बीच माध्यम का काम करते हैं । अशरीरी होने के कारण वे 'देव' भी हैं तथा अपने 'पूर्वपुरुष' होने के कारण कुल-परिवार के योगक्षेम-चिन्तक मानव भी । बाली के प्रत्येक गाँव में अनिवार्यतः चार मन्दिर होते हैं–पुरा दलिम (शिव) पुरा पुसेह्‌ (विष्णु) पुरा देसा (ब्रह्मा) तथा पुरा दद्या (सं. पुर दायाद अथवा पितर मन्दिर) । प्रत्येक मन्दिर का रखरखाव तथा पूजा का दायित्व 'पमंकू' (पुजारी) सँभालता है । प्रत्येक मन्दिर के नाम 'सावाह्' (धान के खेत) होते हैं, जिनकी उपज से पमंकू के परिवार का भरण-पोषण, मन्दिर की देख-भाल तथा 'ओडालान' (मन्दिर-महोत्सव) सम्पन्न होते हैं ।

परन्तु बाली के चातुर्वण्य-व्यवस्थित समाज में सर्वाधिक महत्त्व है पेडण्डा अथवा धर्माचार्य का । जावी भाषा में पकार मत्वर्थीय है, अतएव पेडण्डा अथवा पडण्डा का अर्थ है–दण्ड से युक्त । भारतीय दण्डी संन्यासी की तरह पडण्डा भी हाथ में निरन्तर दण्ड लिये रहता है । पमंकू का अर्थ है–अंक वाला, अर्थात् जो देवता को गोद में लिये रहे, उसका सार्वकालिक सेवक ! पमंकू अधिक पढ़ा-लिखा नहीं होता है; परन्तु पेडण्डा शास्त्रनिष्णात, कर्मकाण्ड-मर्मज्ञ तथा दैवी शक्ति से ओतप्रोत होता है । उसकी जीवनचर्या अत्यन्त कठोर, जटिल तथा सारे समाज से पृथक् होती है । यही कारण है कि बाली के हिन्दू-समाज में पेडण्डा, परमेश्वर के बाद सर्वाधिक श्रद्धेय व्यक्ति होता है । वह क्रिश्चियन-समाज के पोप की ही तरह धर्मव्यवस्था का नियामक एवं उसका रक्षक होता है । वह सर्वथा अनुल्लंघनीय तथा अनतिक्रमणीय होता है । पाश्चात्त्य सभ्यता की आँधी में फँसे तथा लाखों-लाख भोगान्वेषी पर्यटकों की भीड़ से संत्रस्त बाली द्वीप में आज भी पेडण्डा साक्षात् 'धर्मावतार' ही माना जाता है ।

यद्यपि बाली द्वीप में शैव, वैष्णव तथा बौद्ध सम्प्रदाय के पृथक् धर्माचार्य हैं । उन सब की वेषभूषा, जीवनचर्या, पूजाविधि तथा पूजोपकरण आदि भी सर्वथा भिन्न हैं ।[4] तथापि शैव धर्माचार्य

(Pedanda Siva) की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। वह शक्तिविग्रह माना जाता है। इस दैवी शक्ति को अर्जित करने के ही लिये पेडण्डा आजीवन घोर तप, व्रतोपवास एवं नियम-संयम का पालन करता है; परन्तु उसकी सबसे बड़ी तपस्या है—ओङ्कारसाधना।

शक्ति-रहित जीवन बाली के हिन्दू समाज में निरर्थक माना जाता है। फलतः बालीवासी बालियान (प्रेतसमर्चक ओझा) पमंकू (पुजारी) डलंग (वायांग नाट्य का सूत्रधार) एवं पेडण्डा के सन्दर्भ में प्रायः उनकी शक्ति (Divine power) को लेकर ही विवाद करते रहते हैं। शक्ति का अर्थ है—मंत्र-तंत्र की सिद्धि का प्रतिफल अथवा देवार्चन से प्राप्त विलक्षण प्रभाव।

प्राचीन जावी भाषा (Kawi or old Javanese) में लिखित ब्रह्माण्डपुराण (भारतीय ब्रह्माण्ड-पुराण से सर्वथा भिन्न) में ब्रह्माण्ड-रहस्य, देवशास्त्र (Mythology) भुवनकोश (Cosmogony) तत्त्वशास्त्र (Tutur) तथा तंत्रमंत्र-सिद्धि आदि का गहन एवं अनुभवसिद्ध ज्ञान सुरक्षित है। यही गूढ़ातिगूढ़ तत्त्वज्ञान पेडण्डा की महिमा-गरिमा का मूल हेतु है।

ब्रह्माण्डपुराण के विषयों का पारदृश्वा होते हुए भी पेडण्डा का शक्तिविग्रहत्व उसकी विविध मंत्रसाधनाओं पर तथा विशेष रूप से 'ओङ्कार-साधना' पर केन्द्रित होता है। इन मंत्रों में प्रमुख है—नवार्णविधान जिसे बाली के लोन्तारों में 'अदश अक्षर' (Adasa Akshar) कहा गया है। इसी श्रेष्ठ मंत्रविधान को 'नव संघ' (Nava Sangga) भी कहा गया है। नव संघ अथवा अदश अक्षर समूची सृष्टि का मंत्रात्मक अभिव्यंजन है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

नव संघ (Nava Sangga)

स्थान	देव	वर्ण	मंत्राक्षर
1. केन्द्र (Puseh)	शिव	मिश्र	इंग् यंग् (शक्ति-शिव)
2. उदीची (Kadja)	विष्णु	कृष्ण	हैंग्
3. ऐशानी दिक् (Kadja Kangin)	शम्भु	नील	वंग्
4. प्राची (Kangin)	ईश्वर	श्वेत	संग्
5. आग्नेयी दिक् (Clod Kangin)	महेश्वर	पाटल	मैंग्
6. अवाची (Clod)	ब्रह्मा	रक्त	बंग्
7. नैर्ऋती दिक् (Clod Kauh)	रुद्र	नारंग	मंग्
8. प्रतीची (Kauh)	महादेव	पीत	यंग्
9. वायव्य दिक् (Kadja Kauh)	शङ्कर	हरित	सिंग्

इस प्रकार 'इंग् यंग् हैंग् वंग् संग् मैंग् बंग् मंग् यंग् सिंग्' यह नवाक्षर अथवा 'अदश अक्षर' मंत्र ही बाली का सृष्टिमंत्र है, जिससे समूचे ब्रह्माण्ड का बोध हो जाता है। इनमें भी 'ओङ्कार' (Ongkar) मंत्रराज है। इन मंत्राक्षरों की सिद्धि तथा समुचित विनियोग का विशेषाधिकार पेडण्डा को ही प्राप्त है।

बालीद्वीपीय शास्त्रकारों के मतानुसार 'अदशाक्षर' मंत्र ओङ्कार में ही समाविष्ट है, उससे पृथक्, कथमपि नहीं। ओङ्कार (बाली में ओङ्गकार) में तीन वर्ण है–अंग् उंग् मंग्। यही तीन वर्ण विविध रूपों में व्याख्यात हैं, जैसे–सदाशिव, परमशिव, महाशिव अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा स्वर्गलोक पृथ्वीलोक, पाताललोक अथवा अग्नि, जल, वायु अथवा पुरुष, नारी, सृष्टि (=पुरुषनारीसंयोग)।



ओङ्गकार

इस प्रकार बालीवासियों की दृष्टि में ओङ्कार से पृथक् कुछ बचता ही नहीं है। ओंकार, शिव-शक्ति से समन्वित सृष्टि का ही उपलक्षण है। इतना ही नहीं, वह पुरुष की ही तरह साकार भी है। कृपया चित्र देखें। शीर्ष पर अवस्थित खड़ी रेखा को 'नाद' कहते हैं। यही ओङ्कार पुरुष का 'लिङ्ग' है। नीचे का अर्धचन्द्र (arda tiandra) ही योनि (जननाङ्ग) है। इन दोनों के बीच में स्थित वृत्त ही वीर्य एवं रज के समन्वय से उत्पन्न 'सृष्टि' है। शेष भाग ओङ्कार पुरुष का शरीर है।

बाली के हिन्दू समाज में ओङ्कार साक्षात् शिव-विग्रह ही माना जाता है। फलतः शुभाशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल संघटना में, अनिष्ट-निवारण में, प्रेतबाधा, रोगनिवारण तथा तापत्रय के अपसारण में 'ओङ्कार' ही विविध रूपों में विनियुक्त किया जाता है। परन्तु बाली के लब्धप्रतिष्ठ तपस्वी धर्माचार्य प्रायः दो रूपों में ही ओङ्कार का प्रयोग अधिक करते हैं–पवित्र जल (Tirta Suci) के निर्माण में तथा रक्षाकरण्डक (ताबीज, amulet) के रूप में।

भूत-प्रेत-पिशाच (लेयाक) तथा चुड़ैल (रांगडा) जनित भय को दूर करने के लिये पेडण्डा, दक्षिणा लेकर ओङ्कार-समन्वित ताबीज देता है। ये ताबीजें बाजार में भी मिल जाती हैं, तथापि पेडण्डा द्वारा अभिमंत्रित एवं शक्त्यापादित ताबीज को ही धारण करना सार्थक माना जाता है। परन्तु यह तो ओङ्कार का सामान्य उपयोग हुआ। विशिष्ट लक्ष्यों की सिद्धि के लिए ओङ्कार के अत्यन्त गूढ़, जटिल एवं प्रयत्नसाध्य तान्त्रिक प्रयोग भी होते हैं जिन्हें पेडण्डा, उचित दक्षिणा पाने पर तथा कृपालु होने पर ही प्रकाशित करता है।

यदि कोई युवक संकटापन्न प्रणयिनी को किसी भी मूल्य पर प्राप्त ही करना चाहता है तो पेडण्डा उसके लिए 'ओङ्कार मधुमुख' (Ongkar madumuka) ताबीज का निर्माण करायेगा। इसमें दो ओङ्कार सम्मुखीन होते हैं–



ओंगकार मदुमुक

परन्तु यदि व्यक्तियों (पति-पत्नी, मित्र या पिता-पुत्र आदि) में विद्वेष कराना हो तो पेडण्डा 'ओङ्कार-पसह्' (Ongkar Pasah) का भीं प्रयोग कर सकता है, बशर्ते कि वह घटना के औचित्य के प्रति आस्थावान् हो। यदि पेडण्डा किसी सन्दर्भ के औचित्य से स्वयं आश्वस्त न हो तो लाखों रूपयों की लालच देकर भी उसे खरीदा नहीं जा सकता है। उसकी तंत्रशक्ति से भयभीत समाज उसका अपकार भी करने की बात नहीं सोचता है। ओङ्कार-पसह् में दो ओङ्कार विमुख स्थिति में सम्पृक्त किये जाते हैं–


ओंगकार पसह्

ओङ्कार के आभिचारिक प्रयोगों की संख्या एक-दो नहीं, हजारों में हैं। यहाँ उनका दिङ्मात्र निर्देश है। ये सारे प्रयोग गुप्त रीति से ही सम्पन्न होते हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन तथा विद्रावण की बात न कोई प्रत्यर्थी सबके सामने कहता है, न ही पेडण्डा उसे किसी और से बताता है। गोपनीयता की रक्षा से भी पेडण्डा को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

ओङ्कार का दूसरा विनियोग तीर्थशुचि (Tirta Suci) अथवा पवित्र जल के निर्माण में होता है। पेडण्डा यह कार्य लोकहित में करता है। इसमें कोई गोपन नहीं होता। यह एक प्रकार से पेडण्डा का व्यवसाय तथा दैनिक आय का स्रोत है। प्रायः पुत्रजन्म, विवाह, अन्त्येष्टि, मविन्तेन (शुद्धि), मेटाटाह् (दन्तशोधन), रेजासावाला (रजोदर्शन), गलुङ्गान्-कुनिङ्गान आदि शास्त्रीय तथा पारम्परिक संस्कारों में 'तीर्थशुचि' की आवश्यकता होती है। विना तीर्थशुचि के, बाली का कोई धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न नहीं होता।

पवित्र जल की इसी महिमा के कारण बाली के हिन्दू धर्म का नाम ही पड़ गया–आगमतीर्थ (Agama Tirta)। धर्माचार्य के निरन्तर अनुपलब्ध होने पर धर्मभीरु गृहस्थ कभी-कभी पमंकू (मन्दिर का पुजारी) निर्मित तीर्थशुचि से ही काम चला लेते हैं। परन्तु वह 'गणपतिस्थाने पूगीफलम्' जैसा ही माना जाता है। वास्तविक माहात्म्य तो पेडण्डा-निर्मित पवित्र जल का है।

तीर्थशुचि के निर्माण की विधि भी कम जटिल नहीं है। सर्वप्रथम यह जल बाली के किसी पवित्र सरोवर (चिन्तामणि, बेडुगुल आदि) प्रपात अथवा बाली की गंगा (पकेरिसान) से मँगाया जाता है। तदनन्तर पेडण्डा 'मवेद' (वेदमंत्र) का पाठ करके, ढेर सारे शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड सम्पन्न करके उस साधारण जल को 'असाधारण' बना देता है। तंत्रमंत्र-प्रयोग, ओङ्कार-जप तथा विनियोगानुकूल पुरश्चरण के कारण इस जल की शक्तिमत्ता, प्रभावक्षमता तो पृथक् होती ही है– मूल्य भी पृथक् होता है।

सामान्यकोटि का पवित्र जल येह्निंग् (Yehning) है। यह साधारण मूल्य का है। तथा अनुष्ठानों में वातावरण-शुद्धि मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। पमंकू भी येह्निंग का निर्माण कर लेता

है । पमंकू भी संयोग से न मिले तो लोग पीले नारियल के जल से भी शुद्धि कर लेते हैं जिसे न्योह्गदिगं (Nyohgading) कहते हैं ।

तीर्तपेलुकतान् (Tirta Pelukatan) पेडण्डा ही बना पाता है । यह जल दैहिक, दैविक, आत्मिक अशौच के अपसारण, रोगव्याधिनिवारण, प्रेतबाधाविनाश में समर्थ होता है । इस जल में, पेडण्डा ओङ्कार-प्रक्रिया से सारे देवताओं को प्रतिष्ठित कर देता है । गेरुपुक् (वार्षिक पूजा) पूजा पञ्चबलिक्रम[5] (दशवार्षिक) तथा पूजा एकादशरुद्र[6] जैसे राष्ट्रीय अनुष्ठानों में भी यही जल प्रयुक्त होता हैं ।

इससे भी अधिक शक्तिशाली पवित्र जल का नाम है-तोय पंगेन्तास् (Toya Pangentas) । यह जल पेडण्डा द्वारा अखण्ड मंत्रोच्चारण के साथ, पीताक्षत, चन्दनचूर्ण, सुवर्णपत्राङ्कित मंत्रलेख (Pripih) तथा सुवर्णमुद्रिका को जल में मिलाकर बनाया जाता है । जल तो यजमान को मिलता है कामनासिद्धि के लिए परन्तु; सुवर्णपत्र एवं मुद्रिकादि सम्भार पेडण्डा को प्राप्त होते हैं दक्षिणा के रूप में ।

परन्तु पवित्र जल की पराकाष्ठा है—तोय अमिर्त (Toya amerta) अथवा तोयामृत । यह साक्षात् अमृत ही है । पेडण्डा इसे बनाता तो है परन्तु किसी भी मूल्य पर, किसी को देता नहीं । क्योंकि अमृतपान का अधिकार केवल देवों को है, मानवों को नहीं । धर्मभीरु पेडण्डा को भय, लोभ अथवा प्रर्थना से भी विचलित नहीं किया जा सकता । क्योंकि वह जानता है कि यदि अनर्ह व्यक्ति 'अमृत' का पान करता है तो ऋत-सत्य का नियमोल्लंघन होगा जिससे कि समूचे ब्रह्माण्ड का अकल्याण संभव है । इस सन्दर्भ में बाली के धर्माचार्य अमृत-मंथन एवं राहु का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं ।

'मवेद' (Maweda) का अर्थ है वेदमंत्रपाठ । शुचितीर्थ एवं मवेद एक-दूसरे के पूरक हैं । विना मवेद के शुचितीर्थ का निर्माण संभव नहीं । फलतः पेडण्डा का सारा जीवन इन्हीं दोनों ध्रुवों के बीच संयमित होता है । प्रत्येक महीने की कुछ निश्चित तिथियों पर 'मवेद' अनिवार्य होता है । विशेष कर प्रतिपदा, पञ्चमी (kalion) तथा पूर्णिमा (Purnama) के दिन पेडण्डा नियत रूप से मंत्रसिद्धि करता है । उस समय पेडण्डा की मंत्रगायन-विधि, स्वरावरोहारोहक्रम, अंगुलिप्रचार, हस्तमुद्राभिनय–सब कुछ विलक्षण प्रतीत होता है । चाक्षुष, श्रावण एवं मानस प्रीति उत्पन्न करने वाला, पेडण्डा का वेदपाठ, भारतीय वेदपाठ से भी अधिक रोचक एवं मनोहर प्रतीत होता है ।

मवेद के दिन पेडण्डा प्रातःकाल से ही पर्याकुल दीखने लगता है । सारे कुटुम्बी, विशेष कर पेडण्डा की पत्नी निरन्तर दौड़ते रहते हैं, उसके संकेतों पर । पेडण्डा नित्यक्रिया सम्पन्न कर, मुँह धोकर, दाँतों को साफ कर, नहा कर, केशों को कंघी से सँवार कर, ललाट पर चन्दनादि का तिलक लगाकर, यथोचित वेष-भूषा पहन कर आसन पर बैठता है । उसकी पत्नी सोने-चाँदी के पूजापात्र, अक्षत-पुष्प आदि स्मरण कर-कर एकत्र करती रहती है ।

पेडण्डा प्रत्येक कर्म में श्लोक अथवा मंत्र पढ़ता रहता है, जैसे स्नानवेला में–'गंगे च यमुने चैव' आदि।

तदनन्तर पैर के ऊपर पैर रखकर, शान्त मुद्रा में बैठा पेडण्डा आत्मशुद्धि एवं जलशुद्धि करता है। मंत्रोच्चारण के साथ धूप-दीप, नैवेद्य आदि अर्पित करता हुआ वह अपने शरीर तथा कमण्डलु के जल (Siwamba) में महेश्वर शिव की अवतारणा करता है। तदनन्तर विविध तान्त्रिक क्रियाएँ सम्पन्न कर, फुसफुसाहट-भरे स्वर में–दोनों हथेलियों को परस्पर रगड़ते हुए मंत्र-जाप करता हुआ पेडण्डा पुष्पों तथा चन्दनचूर्णों से अंग-प्रत्यंग का कालुष्य दूर करता है।

यह सब तो हुआ सामान्य शौचकर्म। अब वह प्राणायाम द्वारा शिवसायुज्य-प्राप्ति के लिए समाधि का अभ्यास करता है। प्राणायाम के बाद पात्र में रखे जल पर कुशाग्र में 'ओम्' लिखकर, पुष्पाञ्जलि से प्रार्थना कर, पुष्पों को कमण्डलु-जल में मिलाकर, बायें हाथ से घण्टी बजाता हुआ शिवसायुज्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है। धीरे-धीरे उसकी साँसें, मंत्रोच्चारण-स्वर घण्टिका-वादनरव–सब के सब श्लथ एवं गंभीर होने लगते हैं। पेडण्डा की आँखें स्वतः बन्द हो जाती हैं। अब वह साक्षात् 'शिव' बन जाता है–ऐसा बालीवासियों का दृढ़ विश्वास है।

शिवसायुज्य का प्रभाव पेडण्डा विविध संकेतों से सूचित करने लगता है। बार-बार मुँह फाड़कर हुंकारयुक्त जँभाई, निद्राकातर काली पुतलियों का नाचना, बृहत् उच्छ्वास-निःश्वास तथा रह-रह कर अंगों का आन्दोलन, यह सब करने के बाद ही पेडण्डा गहन समाधि में लीन होता है।

इस पूरी प्रक्रिया को 'उपकार कर्म' कहते हैं। पूरी प्रक्रिया ही विलक्षण एवं दर्शनीय होती है। समाधिदशा में भी पेडण्डा कुश (Alang-alang) से शीर्ष को बाँधकर, अंग-प्रत्यंग को रुद्राक्ष से लपेट कर, कम्पन एवं हिचकियों के साथ विविध पवित्र मंत्रों का उच्चारण करता हुआ 'आत्मा' को वक्षःस्थल से उठाकर 'ब्रह्मरन्ध्र' तक ले जाता है। उस स्थिति में वह सर्वप्रपञ्चानुभवशून्य हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के भेद से विरहित पेडण्डा उस क्षण में साक्षात् भूतभावन शिव बन जाता है।

समाधि की अवधि के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अल्पावधिक तो वह होती ही नहीं है। सारा परिवार तथा भक्तगण, बस पेडण्डा के 'प्रकृत' बनने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। समाधि के पूर्ण होने पर पेडण्डा, ब्रह्मरन्ध्रस्थ आत्मा को पुनः वक्षःस्थल में स्थापित करता है–विविध अनुष्ठानों द्वारा। अब वह पुनः अचिन्त्य शिव (Bhatar Atintiya) से साधारण पुरुष बन जाता है। इस अवसर पर वह बार-बार यह मंत्र पढ़ता है–ओम् ह्रं ह्रं सः। परमशिवादित्याय नमः। ओम् ह्रम् ह्रम् सः।

जैसा कि प्रारंभ में ही निर्देश किया गया है, बाली के हिन्दू-समाज में, मवेद तथा उपकार-कर्म के कारण पेडण्डा देवता के ही समान पूज्य है। भले ही वह दक्षिणा लेकर 'तीर्थशुचि' (पवित्र जल) तथा ओङ्कार-ताबीजों का वितरण करे, जनता की दृष्टि में वह सौजन्य, दाक्षिण्य एवं परोपकार की प्रतिमूर्ति ही माना जाता है। पेडण्डा का व्रतानुष्ठान-नियंत्रित कठोर जीवन उसे सारे समाज से

अलग-थलग कर देता है। वह अपने घर में भी प्रायः पृथक् ही रहता है। वह सदैव स्वयं को परमेश्वर का प्रतिनिधि, धर्म का रक्षक एवं दीनबन्धु समझता है।

बाली में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था है–ब्राह्मण (Ida Bagus), क्षत्रिय (Satriya or Jokorde), वैश्य (Deva) तथा शूद्र (Jabo), परन्तु चारों वर्णों में छुआछूत का नाम नहीं। सबमें अपार प्रेम एवं सहयोग का भाव। सब के सब निराकार शिव के उपासक हैं। प्रायः सभी मांसाहारी हैं। सुअर, मुर्गा चारों वर्णों का प्रिय भक्ष्य है। प्रायः सब मीमांसक प्रवृत्ति के हैं।

शैव धर्माचार्य (पेडण्डा) ही बाली में एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो 'पवित्र मांस' (Daging Suci) खाता है। पवित्र मांस का अर्थ है–बत्तख। पेडण्डा सुअर अथवा मुर्गा आदि का भक्षण कभी नहीं करता। यही उसकी सात्त्विकता है। वह सदैव श्वेतवस्त्र ही पहनता है तथा केशों को सँवार कर, ऊपर जूड़े की आकृति में संयत किये रहता है। उसका प्रभामण्डित व्यक्तित्व स्वतः सबसे अलग दीखता है। भौगोलिक रक्षाकवच के कारण बाली का हिन्दूसमाज आज भी अपनी दो हजार वर्ष प्राचीन मान्यताओं एवं आर्ष परम्पराओं के साथ सुखपूर्वक जी रहा है। यदि किसी को हजार-डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन भारत देखने की लालसा हो तो उसे एक बार बालीद्वीप अवश्य जाना चाहिये।[7]



---

1. भारत सरकार द्वारा उदयन विश्वविद्यालय, डेन्पसार, बाली (इण्डोनेशिया) में दो वर्षों (मार्च 87 से अप्रैल 89 तक) के लिये विजिटिंग प्रोफेसर नियुक्त।
2. बाली ग्यारहवीं, तेरहवीं तथा चौदहवीं शती ई. में क्रमशः जावानरेश एरलंग, कृतनगर तथा राजसनगर के विशाल साम्राज्य का अंग रहा। परन्तु उस स्थिति में भी वह हिन्दू सम्प्रभुता के ही अधीन रहा।
3. इन भटारों में इन्द्र, वरुण, कुबेर (कुवेर) गेनि (अग्नि) गना (गण अथवा गणेश) कुमार आदि के अतिरिक्त कुछ नये नाम भी हैं जैसे देवी दनु (जलाशयों की देवी) देवी मेलान्त्रिङ् (व्यापार) आदि।
4. सविस्तर द्रष्टव्य–बालीद्वीपे भारतीया संस्कृतिः (संस्कृतश्रीः पाक्षिक में धारावाहिक प्रकाशित, श्रीरंगम)।
5. बलिकर्म (संस्कृत)
6. पूजा पञ्चबलिक्रम सौभाग्य से मेरे प्रवासकाल में ही सम्पन्न हुई थी–8 मार्च, 1988 ई. को। राष्ट्रपति सुहार्तो ने इसका शुभारंभ 'गुनुंग-अगुंग' (महामेरु) पर स्थित शिवमन्दिर में किया। शतवार्षिकी पूजा बाली में सन् 74 ई. में सम्पन्न हुई थी।
7. पेडण्डा का 'मवेद' एवं 'उपकारकर्म' सम्बन्धी विवरण लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है। लेखक, राजधानी डेनपसार से पूर्व में स्थित सागरतटवर्ती सानुर कस्बे के एक पेडण्डा परिवार का स्नेहभाजन रहा। पेडण्डा की जीवनचर्या, मंत्रसिद्धि एवं आहार-व्यवहार को प्रत्यक्ष देखने का अवसर उसे यहीं मिला। नृवंशशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष प्रो. नूरा बागुस की माँ के श्राद्ध-संस्कार (Momukur) में भी लेखक पेडण्डा के पाण्डित्य एवं कर्मकाण्ड से भलीभाँति परिचित हुआ।

भारतीय दर्शन का मूल स्वर

प्रो. लक्ष्मी सक्सेना

एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई में जन्मे और कालान्तर में समृद्ध हुए इस चिंतन की सर्वोपरि विशेषता तो यह है कि वह देश-काल की परिधि का अतिक्रमण करता हुआ विश्व-चिंतन की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। यही कारण है कि इस चिंतन का प्रभाव न केवल भारतवर्ष के वासियों पर पड़ा, उसने अड़ोस-पड़ोस के सभी एशियाई देशों को प्रभावित किया। और आज तो वह विश्व के सभी समृद्ध देशों में भी अपना ध्यान बना चुका है। और यदि यह कहा जाय कि वह संपूर्ण एशियाई संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है तो इसमें कुछ अतिशयोक्ति न होगी। यह हम भारतवासियों के लिए गौरव की बात है। और विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति के इस दौर में भी हमें इस बात के लिए सचेत करती है कि हमें एक बार फिर अपने लगभग विस्मृत संस्कारों की ओर प्रत्यावर्तन करना है, यदि हमें अपने को संपूर्ण मानव जाति को विनाश से बचाना है।

भारतीय संस्कृति—उसके दर्शन एवं धर्म की ऐसी क्या विशेषता है जो हमें प्रत्यावर्तन के लिए विवश करती है ? वह कौन सी अंतरंग शक्ति है जिसने हमारी संस्कृति की सार्थकता को आज भी सुरक्षित रखा है ? उसकी जीवंतता का क्या राज है ? क्यों वह अन्य प्राचीन संस्कृतियों की भाँति अपनी आयु को जीने के बाद नष्ट नहीं हो गयी ?

क्यों आज भी उसके मूल स्वर में इतना विलक्षण आकर्षण है कि थके-हारे पैरों से हम उसमें शान्ति की, नूतन प्रेरणा की खोज करते हैं ? उपनिषदों की इस प्रेरणा-शक्ति के बारे में पाश्चात्त्य दार्शनिक शोपनहायर ने कहा था—"वह मेरे जीवन ही को ही नहीं मृत्यु को भी शांति प्रदान करने की शक्ति रखते हैं"—शोपनहायर की इस स्वीकृति का अन्य पाश्चात्त्य दार्शनिकों ने भी अनेक बार समर्थन किया है। यह पाश्चात्त्य दार्शनिकों ही की नहीं, अंततः संपूर्ण मानव जाति की स्वीकृति है कि हम अधिक समय तक पार्थिव उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं रह सकेंगे—हमें अंततः अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होना ही होगा।

अस्तु, भारतीय चिंतन की इस शाश्वत सार्थकता को जब हम समझने की कोशिश करते हैं तो जो पहली बात हमारे सामने आती है वह है इसकी अध्यात्मपरक दृष्टि। इसने जीवन के केन्द्र में आत्मा को प्रतिष्ठित किया। वहीं से जीवन के सभी स्तर आलोकित होते हैं और अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि—ये सभी तो हमारे जीवन की दृश्यसत्तायें हैं। इनके इर्द-गिर्द

तो हमारी दृष्टि केन्द्रित ही रहती है, इन्हें संतुष्ट करने की हममें सहज प्रवृत्ति होती है और इससे संबद्ध प्रयासों की सार्थकता की हमें स्पष्ट अनुभूति होती है। पर भारतीय दृष्टि तो इन दृश्यसत्ताओं और इनसे जुड़े हुए मूल्यों को एक छलाँग में पार करती हुई सीधे अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है। वह आत्मा का साक्षात्कार करती हुई उसके दिव्य, पावन, आलोक में सभी कुछ को रंजित देखती है और इस दृष्टि को पाने के लिए जितने भी साधन संभव हैं वे सभी यहाँ उपलब्ध हैं। यही हमारी अनूठी संपत्ति है। हमारी विरासत, जो हमें आज भी विश्व में अप्रतिम स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है, उसी की महानता की घोषणा 20वीं शताब्दी के पूर्व के दशक में शिकागो में 'पार्लियामेन्ट ऑफ रिलिजन' में स्वामी विवेकानंद ने की थी। उस उद्घोष के मूल स्वर को भारतीय समाज के समक्ष बनाये रखने का श्रेय एक ओर तो हमारे विद्वान् संतों को है, तो दूसरी ओर यहाँ के आस्थावान् विद्वानों को, जिनमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन का नाम प्रमुख है। यूँ तो इस शताब्दी के सभी प्रतिभावान् व्यक्तियों में अपनी संस्कृति के प्रति विशेष रूप से उसकी दार्शनिक परंपरा के प्रति एक विशेष अनुराग रहा है जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने-अपने कार्यक्षेत्रों को उस आस्था से सार्थक बनाया। बानगी के तौर पर जो नाम महत्त्वपूर्ण हैं वे हैं—महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द तथा जवाहरलाल नेहरू। भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान् इन व्यक्तियों की शृंखला में और भी न जाने कितने नाम गिनाये जा सकते हैं। पर इन सभी में जो एक बात समान देखने को मिलती है वह है अपने में और इससे भी बढ़कर अपनी सांस्कृतिक विरासत में उनकी आस्था एवं श्रद्धा। अपनी इस निष्ठा के सहारे ही वे अपने-अपने कार्यक्षेत्र में पूरी शक्ति के साथ उतरे और सफल हुए। उन्होंने न केवल अपने दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया, साथ ही हमें दिशा भी दी कि अपनी सांस्कृतिक परंपरा से जुड़कर ही जीवन को शक्तिशाली और समृद्ध बनाया जा सकता है, कि उससे विमुख होकर न केवल हम अपने लक्ष्यों की सिद्धि में पराजित होंगे बल्कि संपूर्ण देश पतन की राह पर वेग से आगे बढ़ेगा—यह निश्चित है। क्या है वह मूल स्वर जो हमारे पूर्वजों की शक्ति और सफलता का राज था ? क्या है वह जीवन-दर्शन जो आज भी अपनी प्राचीनता के बावजूद जीवंत है ? क्या है उसकी शक्ति का अजस्र स्रोत ? एक शब्द में कहा जा सकता है—सत्य के प्रति समर्पण का शुद्ध सात्त्विक भाव। यही भाव इस शताब्दी में गाँधी में मुखर हुआ जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण इसकी वेदी पर अर्घ्य रूप में अर्चित था।

एक जीवन-शैली के रूप में इसका प्रतिपादन इतनी आस्था के साथ कहीं और नहीं हुआ। एक दूसरे से स्पर्धा त्याग करने की अभिलाषा हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। यह भारतवर्ष तपोभूमि रही है। ऋषियों एवं मनीषियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों से इसे वह समग्र दृष्टि प्रदान की है जिससे वह हमेशा ही सभी का मार्गदर्शक होने का अधिकारी हो सकता है।

कठोपनिषद् में नचिकेता की सत्य को जानने की तड़प भारत की तपः-संस्कृति की प्रतीक है। आयु में छोटा पर आकांक्षा में उन्मुक्त सुदूर आकाश को छूने की इच्छा ही ने तो यमराज को परास्त कर उसे वह ज्ञान देने के लिए विवश किया जो बड़े-बड़े महात्माओं के लिए भी दुर्लभ है।

जो प्रिय है वही तो मोह का कारण होता है, वही श्रेय की प्राप्ति में बाधक भी। इसीलिए तो नचिकेता ने पिता से बार-बार पूछा, 'पिता आप मुझे किसे दे रहे हैं' ? अपना सर्वस्व दान देने वाला व्यक्ति ही तो आध्यात्मिक यात्रा का अंततः आध्यात्मिक दृष्टि का अधिकारी होता है। जहाँ अपना कुछ भी शेष हो, शेष रह जाय, वहाँ उच्चतम ज्ञान की किस प्रकार प्राप्ति हो सकती है ? यही नचिकेता की कठिनाई थी। उसके पिता उसकी इस कठिनाई को समझे नहीं थे। इसीलिए तो क्रोध में आकर उन्होंने उसे कहा—'यमराज को'।

पिता का यह कहना नचिकेता के लिए वरदान सिद्ध हुआ। यमराज ने उससे तीन वरदान माँगने को कहा जिनमें प्रथम पिता की शांति, दूसरा अग्निविद्या की प्राप्ति जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और तीसरा ज्ञान की प्राप्ति जो उसे स्थायी शांति और सुख की प्राप्ति करा सके। इसी ज्ञान को 'सत्य' भी कहा गया है वह सत्य जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है।

नचिकेता में सत्य के प्रति वह अशेष समर्पण का भाव था जिसके सामने उसे कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं दिखायी दे रहा था। और नचिकेता का सत्य के प्रति यही शुद्ध समर्पण भाव इस देश की आध्यात्मिक संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य को तो केवल उस अदृश्य परम सत्ता पर ही दृष्टि रखनी चाहिए जिसको यह संपूर्ण सृष्टि अनेक रूपों में व्यक्त कर रही है और उसे संपूर्ण सृष्टि के मूल स्वर का बोध हो जायेगा जिसके जानने के पश्चात् कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता। जो दृश्य है, ग्राह्य है वह परिवर्तनीय है। उसे पाकर कैसे व्यक्ति संतुष्ट हो सकता है ? उसे तो खोना ही है एक न एक दिन। इसीलिए तो एक नचिकेता के लिए लौकिक सुख तो वांछनीय है ही नहीं, स्वर्ग भी वांछनीय नहीं। क्योंकि स्वर्ग भी भोग-स्थली ही है। यह हमें नाना प्रकार की वस्तुओं से तृप्त करता है और उसके उपयोग की अवधि भी यहाँ की तुलना में कहीं अधिक होती है पर कितना भी काल का विस्तार क्यों न हो उपयोग की अवधि का अंत तो होना ही है। इसलिए नचिकेता जब सुख एवं वैभव के सारे प्रलोभनों से विचलित न होकर मात्र सत्य को जानने की इच्छा व्यक्त करता है, तभी यमराज पूर्णतः आश्वस्त होकर उसे वह 'ज्ञान' देते हैं जो सब कार्यों में सर्वोपरि है।

आत्मविद्या का अधिकारी कौन ?

जो नचिकेता के लिए सही है वह प्रत्येक सत्यार्थी के लिए भी सही है। मुमुक्षुत्व की कामना ही व्यक्ति को सत्य प्राप्त करने का अधिकारी बनाती है। और यह कामना एक उत्कृष्ट स्थिर बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति ही में संभव है। इसीलिए हमारे सारे ही ग्रन्थों में, उपनिषदों में, ब्रह्मसूत्र[1] में तथा भगवद्गीता[2] में स्थिर बुद्धि की महिमा का वर्णन मिलता है। स्थिर-बुद्धि प्राप्ति के विना आध्यात्मिक यात्रा संपन्न करना असंभव है। इसी स्थिर-बुद्धि की परीक्षा के लिए ही तो यमराज ने नचिकेता के सामने अनेक प्रलोभन रखे थे और अंत में उसकी दृढ़ता से प्रसन्न होकर उसे आत्म-ज्ञान दिया था।

गीता के द्वितीय अध्याय के 54 से 72 श्लोक में स्थिर बुद्धि वाले पुरुष के लक्षणों का विशद चित्र अंकित किया गया है। ऐसी स्थिति कामना-रहित होती है और इसीलिए पूर्ण शांति की स्थिति होती है। एक बहुत ही सुंदर उपमा द्वारा ऐसे व्यक्ति की मनःस्थिति अंकित करने का प्रयास मिलता है–

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ 70 ॥

अर्थात् जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल, उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिर बुद्धि पुरुष के प्रति संपूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये विना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परम शांति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहने वाला।

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति" ॥ 71 ॥

क्योंकि जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं का त्याग कर ममतारहित और अहंकाररहित, स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शांति को प्राप्त होता है।

नचिकेता ने इसी सिद्धि की कामना की थी। भोगेच्छा का अतिक्रमण कर लेने वाला व्यक्ति ही मोक्ष का यानी "परा विद्या" का अधिकारी होता है। वही शाश्वत शांति का भी अधिकारी होता है।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति की इसी विशेषता को अनेक प्रसंगों में उभारने की कोशिश की है। उनका कहना है कि भारतीय संस्कृति मूलतः आस्थापरक है। वह आध्यात्मिक अनुभूति को वरीयता देती है। यही कारण है कि उसकी दृष्टि इतनी उदार और संपूर्ण है कि उसमें विरोध का कोई स्थान ही नहीं है। जिस संस्कृति का आधार अदृश्य सत्ता की स्पष्ट अनुभूति है जो संपूर्ण जगत् में व्याप्त है और जो उसकी एकमात्र संचालिका शक्ति है उसमें फिर कैसा विरोध ? सारी गतियाँ उसी को व्यक्त करने वाली हैं और उसी तक ले जाने वाली हैं। फिर हम अल्पबोध वाले प्राणी किसे स्वीकार करें और किसे न करें ? उस सत्ता की अंतरंग उपस्थिति से सभी सूत्रबद्ध हैं। यद्यपि यह समन्वय स्पष्टतः हमें दिखायी नहीं देता। जाहिर है अदृश्य के प्रति इस आस्था ने ही हमारी संस्कृति को वह उदारता दी है जिसके नाते उसने बाहर से आनेवाली विभिन्न जातियों को इस प्रकार अपनाया कि वे उसके जीवन के अंतरंग सदस्य बन गये और उनके परस्पर वैचारिक और भावनात्मक आदानप्रदान से दोनों की जीवन-शैलियाँ समृद्ध हुईं। अन्य शब्दों में, जो आया वह इस देश का शासक बनने का स्वप्न लेकर आया। पर वह यहाँ की मिट्टी की आत्मीयता से उसके आतिथ्य भाव से इस प्रकार अभिभूत हुआ कि वह यहीं का होकर रह गया। और यह आंतरिक परिवर्तन इतना सहज था कि उसने दोनों के हृदयों को स्नेहसूत्र में बाँधकर एक कर दिया।

जिस एक सिद्धांत द्वारा भारतीय दर्शन ने अपनी पहचान बनायी है वह अद्वैत दर्शन है जो 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में व्यक्त हुआ है। परमसत्ता जो संपूर्ण विश्व में व्याप्त है तथा सभी का आधार है, वही मानव का भी सारतत्त्व है। यही नहीं, जीव में विद्यमान सत् तथा उस परमसत्ता में पूर्ण अभेद है। जिसने अपने अन्तस् में श्रद्धापूर्वक प्रवेश किया है उसने उस सत् का साक्षात्कार भी किया है। पर इसके लिए निश्छल हृदय, उद्वेगों से पूर्ण विमुक्ति अनिवार्य है। जिस योगी ने इस आत्म-शुद्धि को प्राप्त कर लिया है उसके भीतर निर्विरोध वह सत्ता अपने स्वरूप को उद्घाटित करती है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन ने नर-नारायण की कल्पना की है और मनुष्य को उसकी दिव्य श्रेष्ठता के नाते वंदनीय माना है। देवताओं से भी ऊँची उसकी नियति है। देवता तो स्वर्ग में वास करते हैं। पर मनुष्य तो स्वर्ग को भी तुच्छ मानकर अपवर्ग की आत्म-साक्षात्कार की कामना करता है और आत्मविद् होकर अपनी नियति को प्राप्त करता है।

जिसने अपने को पार्थिव तक सीमित किया उसने अपने को सही रूप से समझा नहीं। मनुष्य मात्र शरीर नहीं। इसलिए मात्र शारीरिक उपभोग तक अपने को सीमित रखना उसके लिए उचित नहीं। यह तो पशु-चेतना के लिए उचित हो सकता है। वह मात्र बुद्धि एवं हृदय भी नहीं। ये तो उपकरण हैं उसके विकास के ताकि वह मानव के रूप में—एक बौद्धिक प्राणी के रूप में अपने स्वरूप को पूर्णतः विकसित कर सके। पर बुद्धि एवं हृदय भी यंत्र हैं। उसका अपना तात्त्विक स्वरूप नहीं। इसलिए इनके प्रलोभनों से बचते हुए नचिकेता की तरह उसे आगे बढ़ना चाहिए। अपने दिव्य अतिमानुषी अस्तित्व को प्राप्त करने के लिए। इस नियति को अपवर्ग या कैवल्य कहा गया है। इस रूप का साक्षात्कार ज्ञान नहीं, मनुष्य को देवताओं से भी ऊपर उठाते हुए पावन और दिव्य बना देता है।

आत्मा का कालातीत स्वरूप :

अतएव वह स्वरूपतः अचिन्त्य है, अतीन्द्रिय है; क्योंकि केवल सीमित ही इन्द्रियों तथा बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है। इसीलिए तो वह अ-विषयी भी कहा गया है और इसीलिए अपरिभाष्य भी। केनेपनिषद् ने इस तत्त्व के स्वरूप को यूं प्रस्तुत किया है—

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ 5 ॥[3]

अर्थात् बुद्धि और मन का जो कुछ भी विषय है, जो इनके द्वारा जानने में आ सकता है तथा प्राकृत मन-बुद्धि से जाने हुए जिस तत्त्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर मन और बुद्धि से सर्वथा अतीत हैं। इसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो मन-बुद्धि का ज्ञाता, उसको मनन और निश्चय करने की शक्ति देने वाला तथा मनन और निश्चय करने में नियुक्त करने वाला है तथा जिसकी शक्ति के किसी अंश से बुद्धि में निश्चय करने की और मन में मनन करने की सामर्थ्य है, वह ब्रह्म है।

इसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियों के विषय में भी कहा गया है और यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि परब्रह्म उनके द्वारा जाना नहीं जा सकता है; क्योंकि वह इन सभी की सक्रियता का एकमात्र आधार है इसीलिए वह अतीन्द्रिय है और अचिन्त्य भी और उसे विनय रूप में जाना नहीं जा सकता है। मन-बुद्धि से अतीत इस सत्ता को इसीलिए सामान्य अभिव्यंजना के स्वरूप में न बोध कर उसे सांकेतिक रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है और इस बात की आशा की गयी है कि शिष्य अपनी शुद्ध एवं विकसित संवेदनशीलता द्वारा उसके स्वरूप को ग्रहण करने में सफल हो जायेगा।

केनोपनिषद् में आगे के मंत्रों में उस परमसत्ता के अतिक्रामी स्वरूप की चर्चा है। वह सभी में व्याप्त है मात्र अपने एक अंश से। शेष से वह संपूर्ण ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करता है। ऐसा कहकर गुरु शिष्य के सामने उस परिव्याप्तता की अकल्पनीय विराटता को ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करते हैं जैसे कि भगवद्गीता के कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष अपने विराट् स्वरूप को प्रस्तुत किया था। भारतीय चिंतन में एक सुस्पष्ट सातत्यता है और ऐसा इसलिए कि उसका चिंतन जिस भूमि पर खड़ा है वह यौगिक अनुभूति की भाव-भूमि है जहाँ कुछ भी अनिश्चित या संभाव्य नहीं है।

साक्षी-निर्विकार भाव की भव्यता :

मानव की जिस नियति की चर्चा ये मंत्र करते हैं वह हमें उदात्त के क्षेत्र में सीधे-सीधे प्रविष्ट कराता है। मनुष्य के निर्वैयक्तिक स्वरूप की भव्यता इससे अधिक सुस्पष्ट रूप से और कहाँ मिलेगी, क्योंकि यह अंकन तो आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित है जहाँ किसी प्रकार की अनिश्चितता की गुंजाइश ही नहीं है।

इसी बात को आत्मा के साक्षी स्वरूप के माध्यम से भी प्रस्तुत किया गया है। अंग्रेजी का 'पर्सनेलेटी' शब्द लैटिन के 'पर्सना' शब्द से बना है, जिसका अर्थ मुखौटा होता है। मुखौटा लगाकर हम नाना प्रकार के पात्रों को अपने माध्यम से स्टेज पर जीते हैं। पर हम जो इन विविध रूपों में अपने को व्यक्त कर रहे हैं वह इन सारे रूपों से पृथक् ही हैं। इसी प्रकार जीवात्मा के रूप में विविध उपाधियों से अलंकृत होकर हम अनेकों रूपों में अपने आपको जीते हैं और अपने आपको समृद्ध करते हैं। पर सच्चाई तो यही है कि हमारा अपना रूप इन सभी का आधार है इसलिए इनमें से किसी भी एक के साथ अथवा इनके समवेत रूप के साथ हम इसे एकीकृत नहीं कर सकते। जीवात्मा जब उपाधियों से युक्त होकर जन्म लेती है तो वह मोहवश या यूं कहें प्राकृतिक परिस्थितियों के नाते अपने को इन्हीं उपाधियों से युक्त एक सीमित इकाई मानती है और विभिन्न अनुभूतियों को अपना मानते हुए इनसे हर्षित होती है और दुःखी होती है। पर जो मोहमुक्त हो जाते हैं जिन्हें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है, वे इन परिवर्तनों को अपने में होने वाले परिवर्तन नहीं मानते। ऐसे विवेकी, आत्म-बोधयुक्त पुरुष न इनसे हर्षित होता है और न दुःखी। वह शूद्र साक्षी भाव में स्थित इन सभी के प्रति ताटस्थ्य बर्तते हुए इनसे अप्रभावित रहता है और द्वन्द्वातीत हो जाता है।

उपनिषद् ने इसी यथार्थ को एक ही वृक्ष की टहनियों पर बैठी दो चिड़ियों के माध्यम से व्यक्त किया है : एक जो नीचे की टहनी पर बैठी मीठे-खट्टे फलों को खाती है और सुखी व दुःखी होती है, दूसरी ऊपरी छोर पर अप्रभावित बैठी इस सारे खेल को पूर्ण तटस्थ भाव से देखती रहती है और इस नाते प्रकृति के पाश से मुक्त गुणातीत भाव में स्थित रहती है। यही विशुद्ध आत्म-भाव है जो सारी उद्विग्नताओं से ऊपर की स्थिति है।

पर अपने इस विशुद्ध गुणातीत भाव में स्थित होने के लिए जीवात्मा को घोर श्रम करना पड़ता है–यज्ञ रूप हो जाना पड़ता है, अपने सर्वस्व को, निजत्व को अर्पित कर देना होता है, तभी अंतस्थ भगवान् के-अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप के दर्शन संभव हैं। विवेकचूड़ामणि में आदिगुरु शंकराचार्य ने विवेक बुद्धि का बड़ा सशक्त एवं जीवंत चित्र अंकित किया है। विवेक की इसी भाव-भूमि पर स्थित होकर मानव अपनी दिव्य नियति को प्राप्त कर सकता है।

उसका कालातीत स्वरूप :

मनुष्य शरीर नहीं, शुद्ध कालातीत परमसत्ता ही का रूप है। इसी बात की ओर महात्मा सुकरात ने क्रिटो का ध्यान आकर्षित किया था, जब क्रिटो ने उनसे पूछा था कि 'हम आपका अंतिम संस्कार किस प्रकार करेंगे' ? सुकरात आत्मा की अनश्वरता और शरीर की नश्वरता की बात करते हैं और क्रिटो से कहते हैं कि ध्यान में रखना तुम मेरे शरीर ही का अंतिम संस्कार करोगे आत्मा का नहीं।

यही कारण है कि जब अज्ञान से वशीभूत होकर व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधाओं के पीछे भागता है, अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित होता है, तो वह अपने कालातीत, शुद्ध, दिव्य स्वरूप की अवहेलना करता है और अपने को अपमानित करता है। हमें हमेशा यह स्मरण रखना चाहिए कि हम प्रकृति के स्वामी हैं–दास नहीं। इसीलिए भारतवर्ष ने संचय का दर्शन न देकर त्याग का दर्शन प्रतिपादित किया है। जो वस्तुएँ, जो उपलब्धियाँ हमें अपने तक सीमित रखती हैं, वे हमारे लिए बंधन ही का सृजन करती हैं। हमें तो निजत्व के भाव का यह मेरा है–का अतिक्रमण करके ही अपने अतिक्रामी, उन्मुक्त विशाल स्वरूप को प्राप्त करना है। इसीलिए भारतीय संस्कृति ने तप-त्याग, संयम-वैराग्य, दानशीलता आदि पर इतना अधिक जोर दिया है–संचय पर नहीं। और जब हमारी चेतना इतनी उन्नत हो जाती है तभी सही अर्थों में हम विश्वबन्धुत्व के भाव को जी सकेंगे–अन्यथा नहीं। सत्यं शिवं एवं सुंदरम् से जुड़े उज्ज्वल आदर्श जिन्हें हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है, मन-बुद्धि की सक्रियता के साथ ताल-मेल नहीं रखते। इसीलिए तो गीता ने अनासक्ति योग की बात की है। जो अपने आपके प्रति अपने निजत्व के प्रति तटस्थ नहीं हुआ वह सभी से युक्त कैसे हो सकता है ? महात्मा सुकरात ने भी इसी प्रकार की बात क्रिटो से की थी जब उन्होंने उनसे यह कहा था कि 'मैं न ऐथन्स का हूँ, न ही यूनानी। मैं तो संपूर्ण विश्व का नागरिक हूँ। और सभी के क़ल्याण की सोचता हूँ'।

लोककल्याणार्थ कार्य करने का आदर्श :

इसी अंतःस्थ दिव्यता की स्वीकृति से युक्त एक और विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य दिव्य है और इसीलिए हमारे मानदण्ड के अनुसार वह कितना भी पतित क्यों न हो उसके उबरने की संभावना स्वयं उसमें निहित है। सभी उस एक पुरुष ही के पुत्र हैं, इसलिए सभी उसकी कृपा के पात्र हैं और उसकी कृपा में सभी को शुद्ध करने की शक्ति है। यही कारण है कि हिन्दू तथा बौद्ध दर्शनों में लोककल्याणार्थ कार्य करने का आह्वान है और यह भी कि कैवल्य को प्राप्त बुद्ध तब तक संतुष्ट नहीं हो सकता जब तक कि एक भी जीव अपनी लक्ष्य-सिद्धि से दूर है।

इसका यह अर्थ नहीं कि यह विचारधारा अच्छे और बुरे के अंतर ही को समाप्त कर देती है। वह तो केवल यह कहता है कि जो अभी सच्चाई से दूर है, जिनमें अपने को जानने की इच्छा अभी नहीं जगी है वे भी कालान्तर में वह योग्यता विकसित कर लेंगे। यह संसार एक विद्यालय के समान है जहाँ व्यक्ति उत्तरोत्तर ऊँचे पाठों को पढ़ने आता है। इन निम्न से उच्च और उच्चतर पाठों को पढ़ते हुए ही वह कालान्तर में–कई जन्मों में सत्य को जानने की इच्छा अपने में विकसित कर लेता है। तभी वह अपने कल्याण के पथ पर चलने की योग्यता अपने में विकसित कर पाता है और एक नचिकेता की प्रबल कामना से प्रेरित सत्य का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

हिन्दू तथा बौद्ध दोनों ही दर्शनों के लिए 'सत्य' एक अनुभूति है–उसे बुद्धि से नहीं अपितु साक्षात्कार से जाना जा सकता है। और वह अनुभूति उसके सभी तथाकथित मानकों को आमूलतः बदल देती है। जो मूल्य इससे पूर्व केन्द्र में थे वे विस्थापित होकर परिधि में चले जाते हैं और जो कहीं दीखता न था वह आध्यात्मिक स्वरूप केन्द्र में स्थापित हो जाता है। सूर्य के इस प्रकाश की परिधि में पहुँचने वाला व्यक्ति भी अलौकिक आभा से दीप्त हो उठता है। उसके निर्विरोध, निर्बाध, आलोक के प्रसारण-केन्द्र के रूप में जीवन-जीने वाले व्यक्ति की महानता के बारे में क्या कहा जाय–वाणी मौन हो उठती है। सत्य के प्रकाश से आलोकित जीवन को प्रमाणों की क्या आवश्यकता ? वह तो उसके भीतर का उद्घाटित स्वरूप है इसलिए उसके सम्बन्ध में कैसा संशय ? युक्तिपरक दर्शन इसके साक्ष्य को कैसे ठुकरा सकता है ? उसकी अपनी सीमायें हैं और साथ ही खतरे भी। वे सभी हमें गुमराह करने वाले हैं। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने साधना-शैलियों को विकसित किया ताकि आध्यात्मिक प्रेरणा से दीप्त मानव को वह रास्ता स्पष्ट दिखायी दे जो उन्हें उनके गन्तव्य तक ले जाने में सहायक हो।

लक्ष्य की इसी ऊँचाई को ध्यान में रखते हुए भारतीय चिंतन ने ईश्वर में विश्वास की और उससे भी अधिक गुरु की उपयोगिता पर बल दिया है। हिमालय की उच्चतम चोटियों को लक्ष्य बनाने वालों को शेरपा की सहायता लेनी अनिवार्य है।

एक आध्यात्मिक जनतंत्र की संभावना का अंकन :

राधाकृष्णन विचारों की इसी श्रेष्ठता को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इसने जीवन के उन मूल आधारों को उद्घाटित किया है जिन पर स्थित होकर कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र महान् हो सकता है। वह हमें मानव की दिव्य अति-मानवीय नियति का एहसास कराता है जिसकी ओर सामान्यतः हमारी दृष्टि जाती नहीं। वह एक आध्यात्मिक जनतंत्र की संभावना को रेखांकित करता है जहाँ सब समान रूप से सम्मान के अधिकारी होंगे, जहाँ न कोई ऊँचा होगा न नीचा, जहाँ न कोई शोषक होगा और न कोई शोषित। सभी प्राणियों की मूल एकता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह हमारी आस्था को सुदृढ़ करता है और एक बृहद् सांस्कृतिक एकता का आदर्श प्रस्तुत करता है जहाँ जाति, वर्ण अथवा अन्य सभी भेदों का अतिक्रमण करते हुए हम मानव के रूप में ही एक-दूसरे को जानें और उनसे संबंधों की स्थापना करते हुए आदर्श आध्यात्मिक लोकतंत्र के नागरिक होने का दावा कर सकें।

विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति के इस युग में जहाँ शक्ति अधिकार और परस्पर स्पर्धा की अंधी दौड़ चल रही है वहाँ सर्वनाश ही की कल्पना की जा सकती है। हमें अपने इस परस्पर स्पर्धा एवं द्वेष के भावों से ऊपर उठकर एक नवीन दृष्टि को अपनाना होगा ताकि हम सर्वनाश से बच सकें। एक आध्यात्मिक नवजागरण ही हमें बचा सकता है और जागृति की प्रेरणा हमें भारत से उसके आस्थापरक दर्शन से मिल सकती है, इसमें कोई संदेह नहीं।

पुरुषार्थ वर्ण एवं आश्रमों की सार्थकता :

भारतीय चिन्तन आमूलतः अध्यात्मपरक और इसी नाते आस्थापरक चिंतन है। उसने अध्यात्म को जीवन के केन्द्र में स्थापित किया है और आध्यात्मिक ज्ञान को जीवन के सर्वोपरि मूल्य के रूप में स्थापित किया है। शेष सभी मूल्य उसी से नियंत्रित हैं। यही कारण है कि लौकिक तथा अलौकिक का उसमें अद्भुत समन्वय है। उसने जीवन के सभी पुरुषार्थों को अंतिम पुरुषार्थ–'मोक्ष' की प्राप्ति में अनिवार्य माना है। और आश्रमों को भी इसी दृष्टि से व्यवस्थित किया है–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मनुष्य प्रथम तीन आश्रमों से गुजरते हुए ही अंतिम और अन्यतम साध्य के लिए अपने को अधिकारी बनाता है, जैसे पूर्ण विकसित पुष्प ही से सुगन्ध फूटती है। अपरिपक्व चेतना पर यदि संन्यास का आदर्श जबर्दस्ती लादा जाय तो उसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं। इसलिए भारतवर्ष के मनीषियों ने जन सामान्य के लिए निवृत्ति मार्ग की तुलना में प्रवृत्ति मार्ग ही को अधिक सार्थक माना है। हम जीवन की ऊँची-नीची घाटियों से गुजर कर ही पूर्ण परिपक्वता प्राप्त कर सकते हैं और अन्यतम लक्ष्य की ओर जो पूर्ण वैराग्य की भाव-भूमि पर ही स्थित हो सकता है, की ओर अग्रसर हो सकते हैं। जो जन्म से ही इस उच्च अवस्था को लेकर जन्म लेते हैं वे ही सीधे संन्यास के आदर्श को जी सकते हैं और उसकी उदात्त अपेक्षाओं के साथ न्याय कर सकते हैं। ऐसे पावन पुरुष लोककल्याणार्थ ही जन्म लेते हैं। वे पिछले जन्मों के प्रयासों के नाते ही विशिष्ट होते हैं और उच्चतम पथ के अधिकारी होते हैं। बाकी लोगों के यही हित में है

कि वे जीवन की वृत्तियों को जीते हुए–उनसे अनुभवों को प्राप्त करते हुए ही आगे का रास्ता तय करें। जो मील भर चल सकता है उससे 10 मील की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ? अपनी जन्मजात योग्यता के अनुरूप ही हमें यहाँ के पाठ पढ़ने हैं और आगे बढ़ना है। एक जीवन की छोटी-सी अवधि हमारे इस उद्देश्य की दृष्टि से पर्याप्त नहीं। इसीलिए आध्यात्मिक उद्देश्य की सफलता की दृष्टि से भारतीय दर्शन कर्म और पुनर्जन्म की बात करता है और हमें आश्वस्त करता है कि कोई कितना भी पतित क्यों न हो कालान्तर में उसमें अन्तस्थ दिव्यता को व्यक्त होना ही है। उसकी परिस्थितियाँ और उन्हीं से जुड़ी हुई चुनौतियाँ क्रमशः उसे आगे ले जाने वाली ही हैं। अतएव इन्हीं के बीच, इन्हीं को स्वीकार करते हुए ही हमें अपने दायित्वों का निर्वाह करना चाहिए। तभी हम आगे बढ़ सकेंगे और अपने में वह सामर्थ्य विकसित कर सकेंगे। जिसके सहारे हमारी अपनी अंतिम यात्रा संपन्न हो सकेगी। हमारी वर्ण-व्यवस्था का आधार भी यही जीवन-दृष्टि है कि एक क्षत्रिय को अपनी प्राकृत प्रवृत्तियों के विरुद्ध कार्य करना कभी भी मंगलकारी नहीं हो सकता। वह तो क्षत्रिय धर्म का पालन करके ही ब्राह्मण हो सकता है और संन्यास उसके जीवन का अन्यतम साध्य। एक समग्र संपूर्ण जीवनदृष्टि ही इस प्रकार की वर्णव्यवस्था एवं वर्ण-धर्म की बात कर सकती है और हमें आश्वस्त कर सकती है कि यही व्यवस्था हमारे लिए मंगलकारी है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में यही कहा था कि क्षत्रिय होकर भी वह कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहा है, कि संन्यास की इच्छा उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ मेल नहीं खाती। उसे बाद में इसके लिए पछताना पड़ेगा। अतः उसके लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है। इसी के साथ कृष्ण ने अर्जुन को धर्म-निर्वाह की शैली में भी दीक्षित किया जिसे कर्म-योग कहा गया है। व्यक्ति को संसार में कर्म करने का ही अधिकार है। फल का नहीं। अतएव फल के प्रति पूर्णतः अनासक्त होकर ही हृदय की संपूर्ण निष्ठा के साथ स्वधर्म का पालन करना चाहिए।

उपरोक्त शैली कहने में जितनी सरल है पालन करने में उतनी ही कठिन है। क्योंकि सामान्य जन कामना के वशीभूत होकर ही कार्य करते हैं। यह कामना ही उनके कार्यों की एकमात्र प्रेरयित्री है। इस सहज, प्राकृत कार्य-शैली का आमूलतः त्याग एक संपूर्ण जीवनदृष्टि और उच्चतम के प्रति अप्रतिम निष्ठा की अपेक्षा करती है। जीवन की कुछ इच्छाओं को पूरा करते चलें और थोड़ा अध्यात्म की ओर भी प्रवृत्त होते रहें, इससे लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। एक नचिकेता की निष्ठा ही अध्यात्म की ओर हमें प्रवृत्त कर सकती है। अर्जुन की चेतना इस प्रवृत्ति के लिए तैयार थी। इसलिए कृष्ण के संदेश को उसने उसी प्रकार ग्रहण किया जिसकी उससे अपेक्षा थी। उसने हृदय की संपूर्ण निष्ठा से क्षत्रिय धर्म का पालन किया जिससे एक साथ ही दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हुई, उसके अधिकारों की रक्षा हुई और अध्यात्म की भी सिद्धि हुई। यूं कहा जाय तो बेहतर होगा कि जिसने अपने में स्थित कृष्ण-चेतना का साक्षात्कार कर लिया हैं वह लौकिक लक्ष्यों की भी सहज प्राप्ति कर लेता है। उसका संकल्प कभी वृथा नहीं जाता। उसका संकल्प करना ही तत्क्षण सिद्धि का प्रवेश द्वार है।

लौकिक एवं पारलौकिक का अपूर्व समन्वय :

अस्तु, भारतीय दार्शनिक चिंतन ने लौकिक एवं आध्यात्मिक को जीवन के दो पृथक् एवं परस्पर ध्रुवों के रूप में स्वीकार नहीं किया है । इन दोनों को पृथक् किया ही नहीं जा सकता है । और जिन्होंने जीवन के इन दो ध्रुवों को पृथक् करके जीने का संकल्प लिया उसकी कठिनाइयाँ अकल्पनीय हैं । लौकिक का सबसे सुंदर, सबसे उदात्त अलंकरण अध्यात्म है । यह अनेक प्रसंगों में रामायण एवं महाभारत दोनों ही महाकाव्यों में बार-बार सिद्ध किया गया है । राम और सीता के व्यक्तित्वों का आकर्षण ही उनकी आध्यात्म में अडिग आस्था है । जीवन की कठिनतम घड़ियों में भी न राम के चेहरे पर और न ही सीता के स्वर में किसी प्रकार की अनास्था का भाव दिखायी देता है । यही उन्हें देवताओं से भी ऊपर उठाकर दिव्य बना देता है—क्योंकि देवता तो स्वर्ग के शाश्वत ऐश्वर्य एवं भोग की कामना रखते हैं, पर राम ने तो सारे ऐश्वर्यों का त्याग कर जिस आंतरिक ऐश्वर्य को प्राप्त किया वह अकथनीय है । वह हमारे सारे व्यक़ित्व को भीतर तक प्रभावित करता है और हमारे मन में इस इच्छा को पुष्ट करता है कि हम भी उन जैसे बन जाँय । महाभारत के कृष्ण का भी व्यक्तित्व अप्रतिम है । जहाँ भी लौकिक कठिनाइयों के बीच मनुष्य त्रस्त है, वहीं उनकी वाणी भीतर के स्रोतों से उसे जीवनी शक्ति प्रदान करती है । कृष्ण अपनी सहायता द्वारा व्यक्ति का कल्याण नहीं करते । वे तो व्यक्ति को इस प्रकार भीतर से प्रेरित करते हैं—अपनी उपस्थिति मात्र से हृदय को इस प्रकार निर्मल कर देते हैं कि उसमें स्थित कृष्ण-चेतना स्वयं झंकृत होने लगती है ।

यह आस्था का दर्शन अदृश्य है, पर है यह अपने में आस्था का दर्शन । प्रत्येक व्यक्ति में एक बुद्ध की संभावना निहित है । कृष्ण उसी बुद्ध को व्यक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं और भीतर के सुप्त स्वर झंकृत होने लगते हैं । ऐसी व्यापक समग्र दृष्टि जिसकी परिधि से कुछ भी बाहर नहीं, अन्यत्र अकल्पनीय है, इसीलिए उसकी शाश्वत सार्थकता है ।

क्या भारतीय दर्शन पलायनवादी है ?

धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों ने भारतीय दार्शनिक दृष्टि को जनसाधारण के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया कि वह उनके लिए ग्राह्य हो और उनके जीवन को सार्थक बनाये । यही इनका कार्य था और संभवतः अपने उद्देश्य में ये सफल भी हुए ।

पर पाश्चात्त्य दर्शन के झरोखे से अपनी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने वाले कुछ विद्वानों ने भारतीय दार्शनिक दृष्टि की कुछ मौलिक कमियों को महसूस किया और उन्हें ऐसा लगा कि भारतीय दार्शनिकों को जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विशेष रूप से यूनानी दार्शनिकों से मदद लेनी चाहिए थी । वे प्रश्न करते हैं कि यहाँ लौकिक जीवन से संबंधित एक ऐसा ग्रंथ उपलब्ध है जिसे हम प्लेटो की रिपब्लिक, अरस्तू की 'एथिका', कांट की 'क्रिटिक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन' तथा हाब्स की 'लेवियथन' आदि अनेक ग्रंथों की तुलना में रख सकते हैं ? क्या यह सही नहीं है कि आज

भी जब हम अपने सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में सुधार लाने की बात सोचते हैं तो हम अपनी आध्यात्मिक आस्थाओं को सुदृढ़ करने की ही बात सोचते हैं ? आधुनिक युग में नवजागृति लाने के लिए जो महापुरुष सक्रिय हुए—यथा स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद तथा महात्मा गाँधी—उन सभी ने एक स्वर से अपनी आध्यात्मिक विरासत की श्रेष्ठता ही का प्रतिपादन किया और हमारी राष्ट्रीय चेतना में सुप्त, निष्क्रिय पड़ी आस्था ही को पुनः जागृत करने का प्रयास किया । इससे बढ़कर कष्टप्रद और क्या बात हो सकती है कि न पहले यहाँ के दार्शनिकों ने हमें स्वस्थ, सुनिश्चित, सुदृढ़ और व्यवस्थित नैतिक सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन को सूत्रबद्ध करने वाला चिंतन दिया और न ही सुदृढ़ आधारों वाली संस्थायें, जो हमें हमारे मूल्य बतलातीं और इस बात को सुनिश्चित करतीं कि समाज में किसी भी वर्ग का अनुचित शोषण न हो, उनकी स्वतंत्रता की अवमानना न हो ।[4]

प्रो. देवराज यह मानते हैं कि सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक जीवन को नियंत्रित करने वाला चिंतन इस देश को मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य आदि अनेक विद्वानों द्वारा मिला, पर वह उस कोटि का न था जिस कोटि का हमारा दार्शनिक चिंतन रहा है । वे इस संदर्भ में महायानियों की तथा वेदान्तियों की अप्रतिम योग्यता की सराहना करते हैं और कहते हैं कि इनकी विविध प्रश्नों की सूझ-बूझ ब्रैडले जैसे महान् दार्शनिक से कुछ ज्यादे ही थी ।

प्रो. देवराज के ये भाव अपनी जगह ठीक होते यदि पाश्चात्त्य चिंतन और भारतीय चिंतन एक ही धरातल पर स्थित होता । जब दोनों की आधारभूमि ही भिन्न है तो उनकी तुलना करनी अनुचित है । भारतवर्ष का दर्शन विवेक के शुद्ध धरातल पर स्थित है, जबकि पाश्चात्त्य दर्शन मात्र बुद्धि के स्तर पर प्रतिपादित दर्शन है । यदि भारत के विद्वान् बुद्धि के स्तर पर उपलब्ध सूत्रों के आधार पर ही जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करना चाहते हैं तो वे अपनी दार्शनिक दृष्टियों को उन सभी प्रश्नों पर सार्थक मान सकते हैं और संतुष्ट रह सकते हैं । पर तब उनकी दृष्टि भारतीय न होगी क्योंकि उसमें लौकिक और आध्यात्मिक का इस प्रकार का विभाजन हुआ ही नहीं । कितनी भी वैज्ञानिक खोज हम क्यों न कर लें, कितना भी बुद्धि के आधार पर दर्शनों का विकास क्यों न हो जाय, जब जीवन के प्रश्नों से जूझते हुए हम क्लांत, थके, बोझिल मन से शाश्वत आनंद एवं शांति की चाह करेंगे तो प्रकाश के लिए, जीवन के लिए, सहारे के लिए हमें अपने मनीषियों की ओर ही जाना पड़ेगा । यही कारण है कि अपनी दार्शनिक उपलब्धियों के बावजूद आज पश्चिम में भी इस शांति और आनंद की खोज अब तड़प का रूप ले चुकी है ।

हम पीछे की ओर लौटना चाहें तो लौट सकते हैं बेशक क्योंकि हमें वह सब कुछ अच्छा लग रहा है जो पश्चिमी देशों में हो रहा है । हम इतने वर्षों की स्वतंत्रता के बाद भी भीतर बुरी तरह उनकी उपलब्धियों की चकाचौंध तथा अपने संस्कारों की भी गिरिफ्त में है । यह चाह हमारी सीमाओं को भी व्यक्त कर रही है । इसे जीकर ही हम इसके ऊपर शायद उठ सकेंगे और अपने गौरवपूर्ण अतीत के प्रति सही अर्थों में आस्थावान् हो सकेंगे ।

एक और प्रश्न जिस पर विचार करना आवश्यक है। क्या भारतीय दर्शन सचमुच में निराशावादी है ? क्या उसने इस संसार की पूर्णतः अवहेलना की है ? क्या सही में जीवन में इसकी कोई आस्था नहीं है ?

एक उच्च संवेदनशीलता के लिए सचमुच में यह संसार और इसकी सारी उपलब्धियाँ बेगानी लगती हैं क्योंकि इनमें कहीं भी उसे किसी प्रकार का स्थायित्व नजर नहीं आता। जो आज सर्वाधिक सुखप्रद दिखायी देता है वह बदली हुई परिस्थितियों में पूर्णतः निरर्थक और बेमानी दिखायी देने लगता है यही नहीं, कभी-कभी तो परिस्थितियाँ इतनी कठोर और उसकी त्रासदी इतनी कष्टप्रद होती है कि संपूर्ण जीवन ही बेमानी लगने लगता है।

यही कारण है कि आदिकाल से मानव की विकसित संवेदनशीलता ने इन अस्थायी सुखों के स्थान पर उस सत्य को जानना चाहा है जो उसे शाश्वतता का, स्थिरता का, शांति, आनंद एवं अमरत्व का एहसास करा सके। **'मृत्योर्मा अमृतं गमय'**–यह दिशा रही है भारतीय मनीषियों के चिंतन की। और यही दिशा रही है उन सभी उच्च संवेदनशील दार्शनिकों की जिन्होंने गहराई से जीवन को देखना और समझना चाहा है।

वे अपनी इस खोज में सफल हुए, यह तो हम सभी जानते हैं। जिन्होंने त्याग, वैराग्य और संयम के पथ पर चलकर अमरत्व का साक्षात्कार किया वे तो अमर हो ही गये और उनकी अनुभूतियाँ ही आज भी हमारा मार्गदर्शन करती हैं।

पर उन्होंने यह भी बतलाया कि यह अनुभूति एक संसारी व्यक्ति के लिए भी संभव है। मनुष्य जीवन के दायित्वों का पालन करते हुए भी भीतर इस तटस्थता को कायम रख सकता है। यही गीता के स्थितप्रज्ञ का आदर्श है जिसे गीता के कृष्ण ने और रामायण के राम ने अपने व्यक्तित्व के माध्यम से साकार किया। राम का व्यक्तित्व हमें अपने निकट अधिक प्रतीत होता है क्योंकि राम ने जीवन के झंझावातों के बीच भी किसी प्रकार की उद्विग्नता से अपने हृदय को मलिन नहीं होने दिया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि जीवन की बड़ी से बड़ी चुनौती भी भीतर के सहज ताटस्थ्य एवं स्थिरता को भंग नहीं कर सकती। उनकी यही विशेषता उन्हें एक विशिष्ट कोटि का अधिकारी बनाती है और यह सिद्ध करती है कि भारतीय दर्शन न पलायनवादी है और न ही अव्यावहारिक। वह तो इस विश्वास को मुखर करता है कि ऐसा व्यक्तित्व देवताओं के लिए भी वंदनीय है। वह राम को उनसे ऊपर स्थित करता है।

अतः स्थितप्रज्ञ का आदर्श मात्र आध्यात्मिक जीवनदृष्टि के लिए ही वैध है। वह किसी नीति-दर्शन, समाज-दर्शन अथवा राजनीति-दर्शन का आधार नहीं हो सकता–ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। जीवन के सभी पक्ष एक ही सूत्र में पिरोये हुए हैं और वहीं से अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। यदि वह शुद्ध बौद्धिक दृष्टि को अपरिपक्व एवं पर्याप्त रूप से व्यवस्थित न दिखे, तो इसमें

आश्चर्य की क्या बात है ? उनके लिए ऐसा सोचना सहज ही है। पर सच्चाई तो यह है कि जिस आन्तरिक श्रेष्ठता एवं पवित्रता की बात इस आदर्श में शब्द-बद्ध की गयी है वह बुद्धि के मूल्यांकन का विषय ही नहीं है। अस्तु, हमें अपनी जीवनदृष्टि की आंतरिक उत्कृष्टता एवं भव्यता को समझना होगा और उससे व्यावहारिक जीवन को अलंकृत करना होगा, तभी हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के साथ न्याय कर सकेंगे और विश्व-संस्कृति के निर्माण में अपना योगदान दे सकेंगे।



---

1. प्रथम अध्याय, प्रथम वल्ली—23-25।
2. वही, 26-28।
3. अध्याय प्रथम, 5.।
4. प्रो. देवराज—इंट्रोडक्शन, द माइन्ड एण्ड स्पिरिट आफ इंडिया, 1967, पृ. 23।

अवधूत

प्रो. शालिग्राम उपाध्याय

अवधूत शब्द के साक्षात् या असाक्षात् संकेतित गुरु-गंभीर अर्थों को समझे बिना प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-भक्ति और कर्म-योग किसी भी कांड या मार्ग में गति नहीं हो सकती। इसमें संनिविष्ट संजीवनी शक्ति ने भारत और इसके बाहर भी आश्चर्यजनक ढंग से लोगों को प्रभावित किया है। विभिन्न धर्मों, मतों या सम्प्रदायों में जीवन्तता के साथ यह दृष्टिगोचर हो सकता है। जब-जब यहाँ चिन्तन-मनन पर बल दिया गया, उसकी संजीवनी शक्ति ने अनेकता में एकता के लिए प्रभावित किया। इसने एक ओर निःसार को उड़ाया, सार की ग्रहणीयता का संकेत दिया तो दूसरी ओर निःसार या तुच्छ समझे जाने वाले में सारवत्ता और ग्रहणीयता का संकेत दिया। अथवा, इसने सत्ता या परमसत्ता को स्वीकार कर हमें विविध परिवर्तनों के झंझावातों में भी अपनी स्थिरता और दृढ़शक्ति के महत्व को पहचानने का निर्देश दिया। यही कारण है कि अवधूत ने हमारे चिन्तकों, भावकों, ज्ञानियों, कर्मकाण्डियों-श्रमजीवियों, योगियों, साधकों, सिद्धों और मार्गोपदेशकों को सर्वदा प्रेरित किया और आगे भी करता रहेगा। इसकी प्रेरणा से ही जीवन में जीवन्तता गति या स्थिरता है।

इन्हीं सब कारणों से भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष के अन्तिम दिनों पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' में इस पर विचार करना आवश्यक समझा। कबीर के संबंध में प्रासंगिक बातें वहां प्रस्तुत की गईं। कुछ प्रसंगेतर भी संकेत वहाँ विद्यमान हैं। यहाँ उनके द्वारा स्पृष्ट या अस्पृष्ट पहलुओं पर भी ध्यान दिया जाएगा, किंतु उस समय भारतीय चेतना को पहचानने और आगे की अनेकता में एकता की प्रतिष्ठा के लिए कुछ बातों पर किंचित् ध्यान आकृष्ट करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

जातीय एकता की प्रतिष्ठा के लिए स्वामी दयानंद, विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, महामना मालवीय, महात्मा गांधी, अरविन्द आदि के विचारों से अनुप्राणित चिन्तक इस्लाम पूर्व की भारतीय चिन्ताधारा और भारतीय चेतना शक्ति के साथ ही नवागत इस्लाम और इसाई मजहबों में भी एकता संस्थापक तत्त्वों को पहचानने का प्रयास कर रहे थे। वे वर्णाश्रम के विभिन्न संघटकों– जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों के उत्थान पतन के कारणों को पहचान कर भविष्य के मार्गान्वेषण में व्यस्त थे। उन्हीं दिनों श्री क्षितिमोहन सेन ने 'भारतवर्ष में जाति भेद' लिखा था। हम अपने को अपनों में खोज रहे थे। राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद हम अपने को विभिन्न खण्डों में विभक्त कर विभिन्न कमजोर अंगों की सेवा के बहाने भटक गए। राजसत्ता प्राप्ति लक्ष्य-सा बन गया और मत

प्राप्ति के लिए भारतीय समाज को अधिक विद्रूप किया गया। एकता संघटक सूत्रों की अवहेलना हुई और भेदक संघटकों ने जाति-वर्ण, बड़े-छोटे, अजगर-मजगर शहरी-ग्रामीण हरिजन, गिरिजन, जलजन, बहुजन, पतित-दलितजन आदि न जाने कितने भेदों को संघर्षों पर उतार दिया। स्वार्थलोलुपता ने आचरण भ्रष्ट कर दिया। हम कौन हैं ? हम इसे पहचान नहीं पाते। स्व-राज्योपभोग की लिप्सा ने पुनः एकता का शक्तिशाली विखंडन प्रारंभ कर दिया है। केन्द्रीयता से विमुख हो, क्षेत्रीयता की प्रधानता के लक्षण एकता के विखंडन के हैं। हमारी कुंठा, हतोत्साहसिकता, संकुचितता, हिंसा, अत्याग, असत्य, अस्नेह, मात्सर्य और अनौदार्य के भाव क्या कह रहे हैं ? हमें स्मरण रखना होगा कि सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। सफल होना प्रयत्न साध्य है। साधना चाहे जैसी भी हो पर सफल होने से क्या ? हम जिसे अमृतफल समझ रहे हैं, वह कहीं विषफल न हो। चरितार्थता में आदर्श है। जीवन का लक्ष्य या आदर्श क्या हैं ? 'अवधूत हमें सफलता और चरितार्थता दोनों का पाठ पढ़ाता है। विभिन्न सिद्धियों द्वारा त्रैलोक्य को भी वश में किया जा सकता है पर इस सफलता को वह कुछ नहीं समझता। वह तो संपूर्ण जड़-चेतन में एक ही को देखता है। अतः उसके यहाँ इस भोग का कोई मूल्य नहीं। वह त्याग का पाठ पढ़ाता है। हम ऐसे समय में जी रहे हैं, जबकि अवधूत से हमें पर्याप्त सहायक प्रेरणा मिलेगी।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'अवधूत कौन' शीर्षक में यह बताने का प्रयास किया कि अवधूत कहकर कबीर किसकी ओर संकेत करते थे ? उसका अर्थ क्या है ? "भारतीय साहित्य में अवधूत शब्द कई सम्प्रदायों के सिद्ध आचार्यों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। साधारणतः जागतिक द्वन्द्वों से अतीत मानापमान विवर्जित पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतः तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। "(कबीर पृ. 24)" आप कहते हैं "तांत्रिक-ब्रह्मावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूत से कबीर के अवधूत का संबंध नहीं। उनका हंस कहीं-कहीं टीकाकारों द्वारा ज्ञानमार्गी, कुटीचर (-चक), बहूदक, हंस-परमहंस से संबंध रखता हैं।.........पंचमकार सेवी अवधूत" की चर्चा नहीं। वस्तुतः शाक्त या तांत्रिक अवधूत की चर्चा कबीर को अपेक्षित नहीं।" आपने रीवाँ नरेश का मत भी उद्धृत किया है–"वधू जाके न होइ सो अवधू।" रक्तचंदन और अस्थिमालाधारी अवधूत को तो कबीरदास जानते ही नहीं। (कबीर पृ. 27) उनकी "जगथैं न्यारे अवधूत" की चर्चा से गोरखपंथी सिद्ध योगी अभिप्रेत है। 'सो जोगी जाके मन में मुद्रा' (कबीर ग्रंथावली पद 206) से द्विवेदी ने इसे समर्थित किया है। वहीं यह भी बताते हैं कि उन पर बौद्धसिद्धों का प्रभाव नाथपंथियों की मध्यस्थता से ही पड़ा है। वस्तुतः जब कबीरदास अवधूत को पुकारते हैं तो इन (बौद्ध) सिद्धचार्यों के अवधूत से उनका सीधा अभिप्राय नहीं होता। कबीर ने स्पष्ट ही गोरखनाथ को अवधू कहा है। प्रमाण है– 'रामगुन बेलड़ी रे अवधू गोरखनाथि जोगी' (कबीर ग्रंथा पद 163)। द्विवेदी जी की यह मान्यता है कि 'सो जोगी जाके मन मे मुद्रा' के द्वारा कबीर ने गोरखपंथी कनफटे विलक्षण योगेश्वर अवधूत को संकेतित किया है। नाथ मत के मुद्रा,

नाद, विभूति और आदेश महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। कबीर ने बाह्य वेशभूषा की अपेक्षा आंतरिक साधना पर बल देने वाले को वास्तविक योगी बताया है। गोरक्ष सिद्धान्त संहिता के अनुसार–

'क्वचिद्योगी क्वचित्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्व चाचारी सोऽवधूतो विधीयते ॥'

कहा गया। पर कबीर दास इस प्रकार योग में भोग को पसंद नहीं करते। वे सामान्य योगी और अवधूत में अन्तर समझते हैं। हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी ने कबीर के मत में नाथपंथी विलक्षण योगी को अवधूत कहा है। पर वह अवधूत या अवधू कबीर का आदर्श नहीं। उसमें उन्होंने अपनी ओर से भी कुछ छोड़ दिया है। अर्थात् योग और भोग की स्वच्छंदता वाला योगी उनका आदर्श नहीं। इस छोटे से शीर्षक में नाथपंथी अवधूतों पर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया गया है। इस विषय से संबंधित अनेक बातों का उल्लेख अगले शीर्षकों–'नाथपंथियों के सिद्धांत और कबीर मत' तथा 'हठ योग की साधना' में विवेचित है। हठयोग की साधना में बताया गया है कि हठयोग असल में लक्ष्य नहीं है उसे राजयोग का सोपान ही कहा गया है। शुरु-शुरु में हठयोग का उद्देश्य शरीर शुद्धि और मन का सम्मार्जन ही समझा गया था। पर नाथपंथ में काया-साधना से ही मुक्ति माने जाने लगी। देहशुद्धि के लिए हठयोगी क्रियाओं का विशाल ठाढ हैः धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपाल भाति (अपने विभिन्न भेदों के साथ) षट्कर्म हैं। इनके साथ आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानों और समाधि का विराट् आडंबर है। भले ही उनमें भी जो महत्त्वपूर्ण है, उन्हीं पर विशेष ध्यान है पर इन कृच्छ्रसाधनाओं के कारण कबीर का वह आदर्श नहीं। कबीर ने हठयोगियों और नाथपंथियों से प्रभाव ग्रहण किया पर उनका ही सबकुछ नहीं कहा। इस तरह कबीर के प्रसंग में जितना अपेक्षित हो सकता है, उसे कहने का द्विवेदी जी ने श्लाघ्य प्रयास किया।

यहाँ कबीर का प्रासंगिक अवधूत ही अभिप्रेत नहीं। द्विवेदी ने जिन सूत्रों का सिर्फ संकेत किया है या किंचित् उल्लेख कर ही छोड़ दिया है, उन पर आज के परिवेश में विचार करना आवश्यक हो जाता है। उसमें न केवल मध्यकालीन अपितु उससे पूर्व की हजारों वर्षों की जीवनधारा जीवनमूल्यों का पता चलेगा। इससे हमारी जीवन शैली को प्रेरणा मिलेगी। बौद्ध सिद्धों, ज्ञान-मार्गियों, शैवों, वैष्णवों, तांत्रिकों, शाक्तों (पंचमकार सेवियों) आदि सबों ने अवधूत की महत्ता को समझा और समझाया है।

हंस-परमहंसः

इस प्रकरण में सर्वप्रथम एक अति प्राचीन महत्त्वपूर्ण हंस शब्द पर हमारा ध्यान जाता है। अवधूत प्रकरण में इस शब्द ने सांस्कारिक योगदान किया। संन्यासाश्रम में कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस संन्यासियों का अधिक उल्लेख किया गया है। इनमें भी कुटीचक या कुटीचर और बहूदक की अपेक्षा हंस और परमहंस का अधिक महत्त्व है। हंसोपनिषद्, परमहंसोपनिषद्, भिक्षुकोपनिषद्, आरुणिकोपनिषद्, जाबालोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद् आदि उपनिषदों में इन चारों

संन्यासियों की गतियों, स्थितियों और उनके अन्तर को भी समझाया गया है। जाबालोपनिषद् खण्ड पाँच में परमहंसों की गणना में संवर्त्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय और रैवतक गौ का उल्लेख है। बृहज्जाबाल में भुसुंड को जोड़ कर इसकी संख्या दस तक पहुँच जाती है। याज्ञवल्क्य और भिक्षुकोपनिषदों में शुक, वामदेव और हारीतक तीन और जोड़े गए। इस प्रकार तेरह तक परमहंसों की संख्या पहुँच गई। इनसे संबंधित विभिन्न उपाख्यान हमारे पुराणों महाभारत और वाल्मीकि रामायण में भी उपलब्ध हैं।

हंसोपनिषद् के अनुसार गौतम ऋषि ने सनत्सुजात से हंस परमंहस और ब्रह्मविद्या के विषय में पूछा तो उन्होंने शिव-पार्वती-संवाद-स्मरण कर योगियों के लिए कोश: पर सबके सम्मुख अप्रकटनीय हंस विषयक ज्ञान दिया। यह ज्ञान भुक्ति और मुक्ति देने वाला है। 'हंस हंसेति सदायं सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते'। हंस हंस का यह नाद सभी देहों में व्याप्त है। आधारचक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यंत 'हं', या 'अहं' ध्यातव्य है। शुद्ध स्फटिक के समान प्रकाशमान वह ब्रह्म है–परमात्मा है। एक दिन-रात में इक्कीस हजार छह सौ बार शरीर में यह नाद होती है। सनत्सुजात ने बताया कि 'हं' बीज है और 'सः' शक्ति है। 'सोऽहम्' यह कीलक है। हृदय स्थित अष्टदल कमल मे हंस रूप अपना ध्यान करने का उन्होंने गौतम को उपदेश दिया। इस हंस आत्मा के अग्नि और सोम (चन्द्र) दोनों पंख हैं। ओंकार शिर है, बिन्दु नेत्र है। रुद्र मुख है, रुद्राणी इसके दोनों चरण और दोनों भुजाएं हैं। काल और अग्नि दोनों पार्श्व हैं। यह परम हंस है, जो भानुकोटि के समान सर्वत्र व्याप्त और प्रकाशमान है। आठ दिशाओं में इसकी अष्टवृत्तियां हैं। उस अष्टदल कमल को छोड़ने पर तुरीयावस्था आती है। जब हंस नाद में लीन हो जाता है, तब तुर्यातीत अवस्था होती है। वह उन्मनावस्था या अजपा की उपसंहारावस्था है। उस हंस के कारण ही जप कोटि में स्थित रहने पर हंस या परमंहस दशविध नाद का श्रवण करता है। इसे दश कोशनाद भी कहा है। दशविध नादो के विभिन्न प्रभावों का भी उल्लेख है–

संख्या	*नादप्रकार*	*शारीरिक स्थिति या आन्तरिक अनुभव*
प्रथम	चिणीनाद	शरीर में चिनचिनाहट
द्वितीय	चिञ्चिणीनाद	शरीर या अंग टूटना
तृतीय	घंटा नाद	खेद (पसीना) खेदन (थकावट)
चतुर्थ	शंखनाद	शिरः कम्पन
पंचम	तंत्रीनाद	तालु से रस झरना
षष्ठ	तालनाद	अमृतपान करना
सप्तम	वेणुनाद	रहस्य ज्ञान
अष्टम	मृदंगनाद	परावाणी का अनुभव
नवम	भेरी नाद	अदृश्य होना और दिव्यचक्षु
दशम	मेघनाद	ब्रह्मात्म के सान्निध्य से परमब्रह्म स्वरूपता

इस नादानुसंधान से पूर्व ही मन के संकल्प-विकल्प, पाप-पुण्य सब कुछ दग्ध हो जाता है। मन के नाद में विलीन होने पर शक्त्यात्मा सदाशिव की सर्वत्र स्थिति रहती है। उस समय शुद्ध-बुद्ध स्वयं ज्योति नित्य निरंजन शांतरूप में प्रकाशमान रहता है।

इस तरह हंस में लीन हो परमहंस या शक्त्यात्म सदाशिव की परब्रह्मावस्थिति का वर्णन सनत्सुजात ने गौतम को सुनाया।

जाबालोपनिषद् में परमहंसों के लिए अव्यक्तलिंग और अव्यक्ताचार शब्दों का प्रयोग किया गया है। अव्यक्त लिंग अर्थात् उनके लक्षण पहचान में नहीं आते और अव्यक्ताचार अर्थात् जिनके आचरण स्पष्ट नहीं प्रतीत होते। वे त्रिदंड, कमंडलु शिक्थपात्र, शिखा-यज्ञोपवीत आदि त्याग कर आत्मान्वेषण में मग्न रहते हैं। वे जात रूप निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रही होते हैं। शुद्धमन वे अपने निश्चित समय पर प्राण धारणार्थ भिक्षा कर केवल पेट पात्र में भोजन लेते हैं। लाभ-अलाभ को वे समान समझते हैं। उनके वास-स्थल हैं—सूनी देवालय, तृणगृह, कोई ऊँचा टीला भले ही वह दीमक निर्मित ही क्यों न हो वृक्ष की जड़ के पास कुंभकार के अवाँ के पास, अग्निहोत्र स्थान, नदी निर्झर, पर्वत-कन्दरा, पृथ्वी पर घासफूस या बिना घासफूस के स्थान। जो माया-ममता रहित अध्यात्मनिष्ठ हो अशुभकर्म-निर्मूलन में तत्पर संन्यास के द्वारा ही देहत्याग भी करता है वही परमहंस है-वही परमहंस है।

यदि कुछ पीछे मुड़ कर **तैत्तिरीय-संहिता** से उद्धृत **कठोपनिषद्** के मंत्र 'हं सः शुचिषद' (कठ. 2.2.2) पर ध्यान देते हैं, उसकी व्यख्याओं पर दृष्टि दौड़ाते हैं तो देखते हैं कि हंस का अर्थ स्वयं प्रकाश पुरुषोत्तम किया गया है। शंकराचार्य का अनुसरण करते हुए भाष्यकर भट्ट ने बतलाया कि अध्यात्म प्रकरण में हंस का अर्थ आत्मा है, आधिदैव प्रकरण में आदित्य-सूर्य है, आधिभौतिक प्रकरण में पृथ्वी को रगड़ने के कारण (हन्ति पृथिवीमिति हंसो रथः) इसका अर्थ रथ है। इस प्रकार विभिन्न प्रकरणों में हंस के विभिन्न अर्थ समझाए गए हैं।

नारद परिव्राजकोपनिषद् के पाँचवें उपदेश में महत्त्वपूर्ण छह प्रकार के संन्यासों का उल्लेख है। और सातवें उपदेश में भी इन षड्विध संन्यासों या संन्यासियों के आचार-व्यवहार पर पर्याप्त विचार किया गया है।

कुटीचक संन्यासी और बहूदक के अतिरिक्त हंस से अवधूत तक नीचे द्रष्टव्य हैं—

हंस	*परमहंस*	*तुरीयातीत*	*अवधूत*
जलस्नान एकबार	मानस स्नान	भस्म धारण	वायु स्नान
अर्धपुंड्र त्रिपुंड्र	भस्मोद्धूलन	तिलक पुंड्र	कुछ नहीं
अक्षौर	अक्षौर या अयन क्षौर	अक्षौर या ऋतु क्षौर	ऋतु क्षौर या नहीं
करपात्र	करपात्र	गोमुख	अजगर वृत्ति
खंडधारण	दिगंबर	एक कौपीन	एक कौपीन

अजिन-धारण	अजिन धारण	सोऽहंभावना	सोऽहंभावना
मानसार्चन	मानसार्चन	महावाक्याधिकार (ध्यान नहीं)	महाबाक्याधिकार
आन्तर प्रणव	आन्तर प्रणव	ब्रह्म प्रणव	ब्रह्म प्रणव
मनन	मनन	निदिध्यासन	निदिध्यासन

कुटीचक से अवधूत तक सब के लिए आत्मानुसंधान विधेय है। मुमुक्षु संन्यासी सर्वदा संसार तारक प्रणव का 'सोऽहं' या 'ऊँ' का स्मरण करता हुआ जीवन मुक्त रहे। विशेषाधिकार से कैवल्य प्राप्ति उपाय का अन्वेषण करता रहे।

ब्रह्मा ने विभिन्न प्रकार के प्रणवों को समझाते हुए नारद को तारक का महत्व समझाया। व्यष्टि और समष्टि प्रणव सृष्टि और संहार प्रणव है। सृष्टि प्रणव भी अन्तः बाह्य और उभयात्मक भेद से तीन प्रकार का। अन्तः प्रणव व्यावहारिक प्रणव है। बांह्य-आर्ष और उभयात्मक विराट् प्रणव है। संहार प्रणव ब्रह्म प्रणव है। सगुण प्रणव-विराट प्रणव, संहार प्रणव-निर्गुण प्रणव तथा उभयात्मक उत्पत्ति या सृष्टि प्रणव है। पितामह ने ब्रह्म प्रणव को षोडश कलात्मक बतलाया। 1-अ 2-उ 3-मकार 4 अर्धमात्रा 5-नाद 6-बिन्दु 7-कला 8-कलातीता 9-शांति 10-शान्त्यतीता 11-उन्मनी 12 मनोन्मनी 13-पुरी (वैखरी) 14-मध्यमा 15-पश्यन्ती और 16-परा।

एक ही ब्रह्म-प्रणव प्रकृति-पुरुष, मात्रा-कला, सगुण-निर्गुण आदि विभिन्न भेदों का आधार है। यह ब्रह्म-प्रणव परमज्योति है, सर्वेश्वर है, विभु है, सर्वदेवमय है और सर्वप्रपञ्चाधार गर्भित है। उक्त प्रकार से पितामह ने कुटीचक से अवधूत तक के संन्यासियों की गतिविधियों के विषय में बताया।

यहाँ पुनः स्मरणीय है कि ऐसे संन्यासियों को ही ब्राह्मण भी कहा गया है। जो ब्रह्म को जानता है, उसी में लीन है, वह ब्राह्मण. है। वही अवधूत भी है। इसे ब्रह्मावधूत कहा जा सकता है।

वज्रसूचिकोपनिषद् में ब्राह्मण कौन ? क्यों वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में श्रेष्ठ है ? का उत्तर श्रुति-स्मृति, पुराण-इतिहास के आधार पर ही समझाया गया है। जीव, देह, जाति, ज्ञान, कर्म और धर्म के कारण वह ब्राह्मण नहीं, जो कोई अद्वितीय आत्मा को—जो जाति, गुण और क्रिया से हीन है-जानता है, उसीमें अपने को स्थित समझता है, जो षडूर्मियों (बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मरण) से रहित है, जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं, जो अपने को सत्य-ज्ञान-आनन्द का अनन्त स्वरूप समझता है, जो स्वयं निर्विकल्प है और सारे विकल्पकों-कल्पनाओं का आधार है जो अन्तर्यामी रूप से अपने को समझ रहा है, जो बाहर भीतर सर्वत्र आकाश के समान अनुष्यूत है, अखंडानन्द स्वभाव है, जो केवल अनुभव गम्य है, जो करतलामलकवत् सब कुछ प्रत्यक्ष देख रहा है, जो अपनी कृतार्थता के कारण काम, राग, भाव, मात्सर्य एवं तृष्णा रहित तथा शम-दमयुक्त हो, जो दंभ-अहंकार आदि से अस्पृष्ट हो, उसी को ब्राह्मण कहते हैं। वह सर्वदा अपने को सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप में मानता है। देखिए—जात्यन्तर से उत्पन्न अनेक महर्षि हैं—मृगी से शृष्यशृंग, कुश से कौशिक, उर्वशी से वसिष्ठ, जम्बूक (शृगाल) से जाम्बूक, वल्मीक से वाल्मीकि, धीवर कन्या से

व्यास, खरगोश पृष्ठ से गौतम, कलश से अगस्त, ऋषियों की उत्पत्ति सुनी जाती है । अतः जाति, क्रिया, धर्म, ज्ञान, जीव, शरीर आदि ब्राह्मण नहीं । (धम्मपद में भी ब्राह्मण के विषय में कुछ ऐसा ही कहा गया है, वहाँ ब्राह्मण की श्रेष्ठता के कुछ और कारण दिए गए हैं ।)

निरालम्बोपनिषद् का कथन है कि संन्यासी सभी धर्मों को छोड़ निर्मम, निरहंकार हो कर अभीष्ट ब्रह्म की शरण में जा कर 'तुम वही हो' 'मैं वही हूं' यह 'सब कुछ ब्रह्म ही है', 'अन्य कुछ भी नहीं' आदि महावाक्यों के अर्थों का अनुभव करता है । इस अनुभव ज्ञान के बल से 'मैं ब्रह्म ही हूँ', यह निश्चय कर निर्विकल्प समाधि द्वारा स्वतंत्र हो जाता है । **वही संन्यासी** है, **मुक्त** है, **पूज्य** है, **योगी** है, **परमहंस** है, **अवधूत** है और **वही ब्राह्मण** है । अर्थात् निरालम्बोपनिषद् के अनुसार ये सभी एक हैं । यहाँ तक कि अवधूत के अन्त में वहाँ 'ब्राह्मण' शब्द रखा गया है ।

उपर्युक्त लक्षणों से लक्षित अवधूत थे दत्तात्रेय । **शाण्डिल्योपनिषद्** के तृतीय अध्याय में उनके नाम का निरुक्त बताया गया है और उनका आदर के साथ स्मरण किया गया है । वे शिव हैं, शान्तस्वरूप हैं, इन्द्रनीलमणि के समान प्रभु हैं । वे आत्ममाया संलग्न दिगम्बर अवधूत हैं । भस्मलेपित संपूर्ण अंग, जटाजूटधारी चतुर्भुज, उदार अंगों वाले, प्रफुल्ल कमल-नयन, ज्ञान-योगनिधि हैं । वे विश्वगुरु योगियों के प्रिय, भक्तों पर कृपा करने वाले सर्वसाक्षी और सिद्धों द्वारा सेवित हैं–

दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम् ।
आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम् ॥ १ ॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम् ।
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम् ॥ २ ॥
ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम् ।
भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम् ॥ ३ ॥

दत्तात्रेयोपनिषद् में उन्हें भगवान् कहा गया है । स्मरण मात्र से संतुष्ट होने वाले ये भयाभय निवारक हैं । ये महाज्ञानप्रद, चिदानन्दात्मा, बालोन्मत्त हैं । पिशाचवेशवाले सर्वकाम प्रद, महायोगी अवधूत हैं ।

दत्तात्रेयं हरेकृष्ण उन्मत्तानन्ददायक ।
दिगम्बरमुने बालपिशाच ज्ञानसागर ॥ १ ॥

ये हरि हैं । कृष्ण हैं । उन्मत्त हैं । आनन्ददायक हैं । दिगम्बर मुनि हैं । बालवृत्त पिशाच रूप और ज्ञानसागर हैं ।

श्रीमद्‌भागवत में भी अवधूत प्रसंग है । इस पृथ्वी पर स्वच्छन्द विहरने वाले **शुक को अवधूत** कह कर स्मरण किया गया है । उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं । वे अलक्ष्य या अव्यक्त लिंग थे । वे आत्मसंतुष्ट, बालाचारी अवधूत वेश में थे ।

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्ष्यः ।
अलक्ष्य लिङ्गो निजलाभतुष्टो वृत्तश्च बालैरवधूतवेशः ॥ 1.19.25

पंचम स्कंध में जड़भरत अवधूतरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। सिन्धु सौवीरपति रहूगण जड़भरत को अपनी शिविका में जोतता है। जड़भरत के व्यापार और क्षमता भरे वचनों से आश्चर्यचकित राजा पूछता है कि आखिर तुम छिपे रुस्तम कौन हो ? द्विजों के सूत्रों को धारण करने वाले निगूढ़ आचारण वाले तुम कोई अवधूत तो नहीं–

'कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां विभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः। 5.10.16

उनमें देह जनित स्थूलता-कृशता, आधि-व्याधि, भूख-प्यास, कलि-इच्छा, जरा, निद्रा, रति, क्रोध, अहंकार, मद, शोक आदि नहीं थे। जड़भरत की ज्ञानमयी बातों को सुन कर प्रभावित हो रहूगण ने कारण विग्रह, अपने स्वरूप से शरीर को तुच्छ करने वाले निगूढ़ चिह्नों वाले नित्य अनुभवी द्विजबन्धु को बार-बार प्रणाम किया–

नमो नमः कारणविग्रहाय स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय।
नमोऽवधूतद्विजबन्धुलिङ्ग निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम्॥ 5.12.1

उन्हें 'कुदेहमानाहि विदष्टदृष्टि' कहा। आप महान् से भी महान् हैं, आप शिशु भी हैं और युवक भी। आप बटु भी हैं। राजा ने कहा–जो ब्राह्मण इस पृथ्वी पर अवधूत लक्षणों से युक्त हैं उन पर राजाओं की कल्याण–दृष्टि बनी रहे।

'ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गाश्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्।' 5.13.23

श्रीमद् भागवत के स्कंध ग्यारह के सातवें अध्याय से नौवें अध्याय तक अवधूतोपाख्यान है। यहाँ श्रीकृष्ण उद्धव को यदु और ब्राह्मण अवधूत का पुरातन इतिहास सुना रहे हैं:–

'अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः।'
अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्। (11.7.24-25)।

यदु ने द्विज अवधूत से पूछा- अकर्त्ता को ऐसी बुद्धि कहाँ से आई ? जिसे प्राप्त कर भी विद्वान् आप बालवत् आचरण कर रहे हैं। 'न कर्त्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्'। (7.26)। 11. 7.33-34 श्लोकों में अवधूत ने अपने चौबीस गुरुओं का उल्लेख किया है। ये हैं–पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्र, रवि, कपोत, अजगर, सिंधु, पतंग, मधुकर, गज, मधुहा, हरिण, मीन, पिंगला वेश्या, कुरर, अर्भक, कुमारी, शर रचयिता, सर्प, उर्णानाभि (मकरी) और सुपेशकृत भृंगकीट। उसने इन गुरुओं से विभिन्न शिक्षाएँ लीं। अपने चारों ओर के जड़-चेतन से विभिन्न प्रकार की शिक्षा लेने की प्रेरणा दी है।

श्रीकृष्ण के भी पूर्वज यदु विप्र अवधूत की बातें सुन सर्वसंग विनिर्मुक्त और समचित्त हो गए– 'अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः। सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह।' (11.9.33) श्रीमद्भागवत में उपर्युक्त अवधूत प्रसंग को **अवधूतगीता** या **अवधूतोपदेश** भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त भी 'अवधूतगीता' और 'अवधूतोपनिषद्' में अवधूत सामग्री पर्याप्त है। इसकी चर्चा अधिकतर होती है।

अवधूतोपनिषद् में सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेय के पास पहुँच कर चार प्रश्नों की जिज्ञासा की। अवधूत कौन है ? उसकी स्थिति क्या है ? उसका लक्षण क्या है और उसका संसरण क्या है ? अर्थात् किन लक्षणों और व्यवहारों से हम अवधूत को पहचान सकते हैं ? वह क्या सोचता, समझता और करता है ? परम कारुणिक भगवान् दत्तात्रेय ने अत्यंत संक्षेप में इन प्रश्नों का उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि अवधूत अक्षर है, वरेण्य है, श्रेष्ठ है, क्योंकि सारे सांसारिक सम्बन्धों या बन्धनों को उसने छोड़ दिया है। इसीलिए वह अवधूत कहा जाता है। जो योगी आश्रम और वर्ण धर्मों को पार कर उससे आगे निकल गया है और सर्वदा आत्मस्थ-आत्मा में विद्यमान है, उस अतिवर्णाश्रमी योगी को अवधूत कहा जाता है–

"अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद् धूतसंसारबन्धनात्।
तत्त्वमस्याविलक्षत्वाद्वधूत इतीर्यते ॥ 1 ॥
यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
अति वर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥ 2 ।

कोई वैदिक-लौकिक कर्मकांडों से, या पुत्र उत्पन्न कर, धनसंग्रह से, या दान-पुण्य कर्मों से अमरता को नहीं प्राप्त कर सकता। ये सभी विनाशी हैं। जीव जब तक इन्हें नहीं छोड़ेगा, अमर नहीं हो सकता। इस बात को वे अच्छी तरह से जानते हैं। अतः वे आदि, मध्य और अन्त किसी एक पर नहीं सम्पूर्ण पर ध्यान रखते हैं। गोपाल जैसे दूध को लक्ष्य कर गौ के सम्पूर्ण अंगों पर ध्यान रखता है वैसे ही वे भी रहते हैं। वे जिधर चलें उनके लिए चारों ओर मार्ग ही मार्ग है। उनके लिए प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द नगण्य हैं। अपनी इच्छा से वे जिधर चाहें सवस्त्र या दिगम्बर स्वैर-विहार कर सकते हैं। यही उनका संसरण है। उनके लिए धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, पवित्र-अपवित्र कुछ भी नहीं। जो कुछ मिला. उसे ग्रहण करते हुए इष्टपूर्ति करते हैं। यही उनका इष्टापूर्त्ति या अश्वमेध यज्ञ है। यह उनका अन्तर्याग महायज्ञ या महायोग है। यही सब एकत्र उनके विचित्र कर्म हैं। स्वैर या निर्द्वन्द्व विहार वे जो चाहे करें, यही उनका महाव्रत है। इसमें किसी प्रकार का व्यवधान या बाधा नहीं आ सकती। वे अज्ञानियों-मूढ़ों के समान किसी भी वस्तु या भाव में लिप्त नहीं, अपितु निर्लिप्त रहते हैं। जैसे सूर्य सभी रसों का भोग करता है, उसके लिए कोई वांछित या अवांछित नहीं, जैसे अग्नि सर्वभक्षी है, उसके मुख में जो भी आ जाए उसे भस्म कर डालता है, वैसे ही अवधूत सर्वरस भोगी, सर्वखाद्याखाद्य भक्षी होता है। पर चूँकि किसी विशेष रस में उसकी स्पृहा नहीं, किसी में लिप्त नहीं, अतः वह पाप-पुण्य रहित और शुद्ध है। कहा भी है–

"यथा रविः सर्वरसान् प्रभुङ्क्ते हुतासनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान् न भुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः ॥ ६ ॥

उसकी निष्कामता के विषय में श्रीमद् भगवद्गीता से 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं' 2.70 वाला श्लोक जोड़ दिया गया है। परमार्थता पर उनका ध्यान रहता है, जो निरोध या बन्धन में नहीं, कर्तव्याकर्तव्य या नैतिकता अनैतिकता में नहीं। वे जानते हैं कि आत्मा का न तो निरोध होता है, न

उत्पत्ति होती है। न वह पाश या विभिन्न क्रिया-कलापों से बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है। यही परमार्थता की स्थिति है। विभिन्न मतों के अचार्यों ने ऐसा ही कहा है–

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

परमार्थता की चर्चा में 'ब्रह्मविन्दु', 'आत्मोपनिषद्', 'त्रिपुरातापिन्युपनिषद्', तथा माण्डूक्यकारिका में किंचित् परिवर्तनों के साथ यह श्लोक उद्धृत है। विज्ञान भिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य 6.52 में इसका अर्थ समझाया है।

अवधूत आत्मानुसन्धान कर्त्ता है। वह आनन्दपूर्ण, निष्काम और नित्यतृप्त रहता है। अतः ऐहिक आमुष्मिक कृत्यों में उसकी रुचि नहीं रहती। वह समझता है कि परमार्थ को न समझने के कारण अज्ञ किसी कामना पूर्ति के लिए कोई काम करता है। वह अपने को अक्रिय समझता है अतः उसके लिए कर्मकांड का आकर्षण नहीं। वह सब जानता है, अतः श्रवण के समय वह संशयरहित रहता है। उसके मन में विपर्यय ज्ञान का अभाव रहता है। निदिध्यासन या ध्यान में विकारी या विक्षिप्त नहीं रहता। उसे सब कुछ प्राप्त है, अतः वह कृतकृत्य रहता है। वह नित्य तृप्त है, अतः उसके चारों ओर आनंद या ब्रह्मानन्द रहता है। सांसारिक दुःख उसके पास नहीं पहुँच पाते। उसका आत्म-अज्ञान दूर रहता है, अतः वह अपने को धन्य समझता है। यदि व्यक्ति अपने को ऐसा समझने लगे तो सुरापान, स्वर्ण चोरी और ब्रह्महत्या के महापापों से भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार परम कारुणिक भगवान् दत्तात्रेय ने सांकृति की जिज्ञासा को शान्त किया। दत्तात्रेय के नाम से जो **अवधूतगीता** उपलब्ध है, उसमें भी इन्हीं बातों को विस्तार से समझाया है।

अवधूतगीता की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। वहाँ 'अवधूत' शब्द में आए प्रत्येक अक्षर का अर्थ समझाया गया है। उसके प्रथम वर्ण 'अ' का अर्थ-आशाओं-आकांक्षाओं और बन्धनों से विनिर्मुक्त हो, निर्मल हो, सर्वदा-आदि, मध्य और अन्तमें-आनन्दमग्न होना है। दूसरे वर्ण 'व' का अर्थ-वासना रहित, विना कष्ट के निरामय वक्तव्य और वर्तमान स्थिति वाला है। तीसरे वर्ण 'धू' का अर्थ-धूलिधूसरितगात्र होना, नीरोग, कष्टरहित, धुला हुआ निर्मल स्वच्छचित्त, धारणा ध्यान रहित होना है। इसके चौथे वर्ण 'त' का अर्थ-जो किसी प्रकार की चिन्ता से रहित है जिसकी तत्त्वचिन्ता साफ है। तत्त्वचिन्तक मनन से जो ऊपर उठ गया है जो अज्ञान और अहंकार से मुक्त है। इस तरह उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट को 'अवधूत' कहा गया है–

"आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यम् **अकारं** तस्य लक्षणम्॥ 8/6॥
वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्त्तमानेषु वर्त्तेत वकारस्तस्य लक्षणम्॥ 8/7॥
धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः।
धारणाध्याननिर्मुक्तो **धूकारस्तस्य** लक्षणम्॥ 8/8॥
तत्त्वचिन्ताधुता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।
तमोऽहङ्कारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥ 8/9॥"

अवधूतगीता में आत्मानुभव पर विशेष बल दिया गया है। वहाँ द्वैता-द्वैतविवर्जित समतत्त्व को जानने समझने पर बल दिया गया है। वह सर्वात्मक-देव आत्मा गगन सदृश सर्वव्यापी निष्कल स्वभाव निर्मल और शुद्ध है। इसे जान लेने पर अवधूत बन्धन-मोक्ष, कार्याकार्य, पुण्यापुण्य से ऊपर उठ जाता है। पूजा-नमस्कार-ध्यान-जप-समाधि-प्रणायाम आदि विभिन्न साधनाओं की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह अब साधक नहीं सिद्ध हो जाता है। अवधूत शून्यागार में अकेला समरस हो, गर्व छोड़ नग्न सुखपूर्वक रहता है। वह आत्मा में ही सब कुछ प्राप्त कर नित्यतृप्त रहता है:–

शून्यागारे समरसपूतस्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं विन्दति केवलमात्मनि सर्वम्॥ 1/73

वह परम अवधूत बार-बार कहता है कि जिसे समरस मग्न पवित्र भावों से भावित अवधूत प्राप्त करता है, वह मंत्र-तंत्र, छन्द-काव्य से नहीं प्राप्त किया जा सकता।

'विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रं छन्दो लक्षण नहि नहि तन्त्रम्।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपितमेतत्परमवधूतः॥ 1/75॥'

वह अपने को सार-असार से बढ़ कर गमनागमन विनिर्मुक्त निराकुल निर्विकल्प शिवरूप समझता है जिसके प्रयास के बिना ही यह चराचर जगत् चलायमान है। वह उस सहजता का अनुभव करता है। जहाँ 'अहं' 'त्वम्' और 'इदं' का भेद नहीं वह उस अचिन्त्य सहजता का अनुभव करता है जिसके कारण वह कहीं भी किसी से बद्ध या लिप्त नहीं हो सकता। उसके लिए किसी नियम-विधान, दीक्षा-संस्कार की आवश्यकता नहीं। प्राणायाम-त्राटन-ध्यान-आसन-नाड़ीप्रचारण-चक्रभेदन आदि के विना अवधूत शाश्वत आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। वह अपने को सदोदित, सर्वदा प्रकाशमान, गगनोपम व्यापक, समरस ज्ञानामृत समझता है–'ज्ञानामृतं समरसो गगनोपमोऽहम्।' वह स्वच्छन्द रूप सहज को स्वरूप और परमार्थतत्त्व के रूप में समझता है। अतः शून्य-विशून्य, शुद्ध-विशुद्ध, रूप-विरूप से परे है। त्याग और अत्याग के विष से शुद्ध, अमृत, सहज में उसकी निष्ठा रहती है। वह निर्वाण और अनामय का अनुभव करता है–'स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्।' एक शिव ही सब कुछ है। सर्वशिवता के अनुभव होने पर अन्य किसी प्रकार के भेदतत्त्व की गुंजाइश नहीं। अवधूत गलियों से वस्त्रों के टुकड़ों को लेकर अपना कन्था बनाता है। उसका पथ पुण्यापुण्य विवर्जित है। इस शून्यागार में भले ही वह नग्न है पर शुद्ध है, निरंजन है, समरसमग्न है, लक्ष्य-अलक्ष्य, युक्त-अयुक्त, वाद-विवाद आदि उसके सम्मुख कुछ भी नहीं। वह गगनाकार निरंजन हंस है, तत्त्व विशुद्ध निरंजन हंस है।

अवधूतगीता के अंतिम आठवें अध्याय में नारी-संग की वर्जना है। नारी की पर्याप्त निन्दा की गई है। भग से कुच पर्यंत उसे नरक-समुद्र कहा गया है। वह दर्शन से चित्त, स्पर्श से बल और संभोग से वीर्य हरने वाली नारी प्रत्यक्ष राक्षसी है। नारी अग्नि-कुंड है और पुरुष घृतकुंभ। जहाँ इनका संसर्ग हुआ कि घृतकुंभ-पुरुष समाप्त हुआ। अतः नारी संग वर्जित है। तीन प्रकार की

सुराओं-गौड़ी, माध्वी और पैष्टी (पीस कर बनाई जाने वाली भाँग आदि) का उल्लेख किया जाता है पर नारी को चौथी सुरा समझना चाहिए। इसने संपूर्ण जगत् को मोह लिया है। नारी संग को मद्यपाप या महापाप समझ उसे छोड़ मुनि को तत्त्वनिष्ठा में संलग्न होने का उपदेश दिया गया है। सब प्रकार से चित्तरक्षा पर ध्यान रखना आवश्यक है। चित्तरक्षा से शरीर की धांतुओं की रक्षा होती है। चित्त के नाश होने पर धातुओं का यहाँ तक कि बुद्धि का भी नाश हो जाता है। स्वस्थ चित्त के रहने पर ही बुद्धि भी स्वस्थ रहती है।

संभवतः यह नारी प्रकरण प्रारंभिक साधकों को विचलित होने से बचाने के लिए प्रस्तुत किया गया है। पहुँचे हुए अवधूत के सम्मुख इसका कोई आकर्षण नहीं।

कौलावली-निर्णय :

शाक्ततंत्रों में नारी और योनि की पर्याप्त महत्ता कही गई है। नारी देवी है, भगवती है। योग भगवती है प्रकृति है। उसी से ब्रह्मा-विष्णु और महेश सभी निकले हैं। अतः योनि पूज्य है। योनि सृष्टि-स्थिति-लयात्मिका है। इसी से सभी उत्पन्न और इसीमें लीन हो जाते हैं। देवी भगवती और सदाशिव भगवान् ने भी कहा है कि ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका तीन शक्तियों से युक्त योनि है। भग-लिंग वाली एक ही परमा देवी है। 'सर्वेषां जननी सा तु रत्यर्थं रमणी परा' (कौला. नि. ९)। योनिपूजा में कुछ योनियाँ वर्जित हैं, यथा-गुरुपत्नी, मंत्रदाता, पत्नी (मंत्रमाता), पुत्री और भगिनी आदि की। पर शाक्ताद्वैतों की दृष्टि से कुछ भी निषिद्ध नहीं। 'अद्वैतानां तु कुत्रापि निषेधो नैव वर्तते।' (कौ. नि. ८)। जननी के जठर से योनि मार्ग से निकले हुए नग्न बच्चों के लिंग से माता की योनि स्पृष्ट रहती है। अतः किसी जननी की योनि पुत्रलिंग से अस्पृष्ट नहीं। यदि इस विचार को ध्यान में रखा जाए तो गुरुतल्पग होने से कोई नहीं बच सकता। अद्वैत शाक्तों की दृष्टि से कोई योनि वर्जित नहीं। तभी उनका अनाचार सदाचार, कुकार्य-उत्तम कार्य और अमेध्य मेध्य हो जाता है। उनके लिए अपेय भी पेय है, अखाद्य भी खाद्य है, अगम्या भी गम्या है। उनके लिए न विधि, न निषेध, न पुण्य-पाप और नं तो स्वर्ग-नरक ही है। हां, संदिग्धों के लिए गुरु के सम्मुख अद्वैत क्रियाओं का निषेध है। वासना की गंध भी दोषकार है। कौलावलिनिर्णय के अष्टम उल्लास के अन्त का वर्णन द्रष्टव्य है। कुलपूजा में मद्य और मांस की आवश्यकता बताई गई है–

'मद्यं मांसं विना यस्तु कुलपूजां समाचरेत्।
जन्मान्तरसहस्रस्य सुकृतं तस्य नश्यति॥' ८/९

विभिन्न बाह्योपचारों के अभाव में भी तंत्रानुसार यजन कथन है। वहाँ आलिंगन न्यास है, चुंबन ध्यान है, सीत्कार यजन है, नखक्षत नैवेद्य है, जिह्वामृतपान पान है, रमण जप है और आनन्द स्तुति है एवं रेतःपात विसर्जन है। सर्वत्र अद्वैत के सहारे देवी की अर्चना का विधान है। जीव शिव है, शिव जीव है। परन्तु शिव पाश मुक्त है और जीव पाशबद्ध है–जैसे भूसी से बंधा धान है और भूसी मुक्त तंडुल। इस देह को देवालय औरं इसमें रहने वाले जीव को सदाशिव कहा गया है।

तत्त्वज्ञान या ब्रह्मविचार में एक क्षण का भी महत्त्व है। योगीन्द्र पर विचार करते हुए कहा गया है कि उसके लिए सहजावस्था उत्तम है, ध्यान-धारणा मध्यम है, जप, स्तुति अधम है और होम-पूजा अधमाधम है। इसी प्रकार तत्त्वचिन्तन उत्तम है, जपचिन्ता मध्यम, शास्त्रचिन्तन अधम और लोकचिन्तन अधमाधम है। जो व्यक्ति निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र सबमें समान है वह हर्ष-अहर्ष रहित योगीन्द्र है। वह निःस्पृह, नित्य संतुष्ट, समदर्शी, जितेन्द्रिय और परतत्त्व का जानकार है। वह इस शरीर में ही प्रवासी के समान रहता है, जिसके भीतर संकल्प-विकल्प नहीं, वह विभिन्न उपाधियों और वासना से ऊपर उठा हुआ है। वह अपने स्वरूप में ही मग्न है, वह परतत्त्ववित् योगी है। वह परं योगी पंगु, अंध, बधिर, नपुंसक, उन्मत्त और जड़ के समान सर्वत्र गतिशील रहता है। वह परमानन्दनिर्भर आत्मा में ही आत्मा को देखता है।

कौलावलीनिर्णय के इक्कीसवें उल्लास में **अवधूतक्रम** पर विचार है:–'अथातः सम्प्रवक्ष्यामि **अवधूतक्रमं** शृणु। चतुर्धाश्रमिणां मध्ये अवधूताश्रमो महान्', संन्यासाश्रमियों में अवधूताश्रमियों का महत्त्व अधिक है–श्रेष्ठ है। कुलयोग के द्वारा ही उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है। नहीं प्राप्त होने पर उसका उपाय भी बताया गया है।

कौलज्ञानसंपन्न अवधूत अपनी कौलिकी की आज्ञा से विमुक्त हो सकता है। कुंडली के विवर में उसे योग का अभ्यास करना चाहिए। कुंडलिनी को ऊर्ध्व मुख कर षट्चक्र भेदन करना होगा। षट्चक्रों–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों के स्थान, उनके दलों की संख्या, वहां रहने वाली देवियों के नाम-डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी और हाकिनी की कृपा से विभिन्न सिद्धियों का उल्लेख **नागभट्ट** के **त्रिपुरासार समुच्चय** के अनुसार किया गया है। विभिन्न पीठों का भी वहां उल्लेख है। षट्चक्र भेदन के बाद सहस्रार से झरित अमृतपान का उल्लेख उसके ऊपर अर्धचक्र बिन्दु रूप से स्थित चन्द्रमंडल, बिन्दु के ऊपर नाद, इसके अन्त में शक्ति युक्त अधोमुख वृषभध्वज महादेव का ध्यान करना होगा। वहाँ वायु भी लीन हो जाती है–वहीं मन लगाना होगा। कैलास नामक स्थान पर भव-भय-अंधकार ध्वंसक हंस (सूर्य) के समान वहाँ महेश रहते हैं। वहां से अमित फलदायिनी निरंतर अमृत की धारा झरती रहती है। कहते हैं उसमें चित्त लगाने पर योगी विभिन्न आधियों-व्याधियों से रहित मृत्युजित्, हो जाता है। वहाँ से बालसूर्य की आभा के समान क्षयवृद्धि रहित षोडशी कला से निरंतर पीयूषधारा झरती रहती है। उससे भी परे निर्वाण-कला है जिससे भी परे और परे निर्वाण-शक्ति है। इसी को कोई शैव, कोई वैष्णव, कोई ब्राह्म, कोई हंस, कोई निरंजन और कोई निरालंबन पद कहता है:–

एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तिः पदं
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम्।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः
केचिद् हंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम्॥

(त्रि. सा. स. 5/49 कौ. नि. 21)

नागभट्ट के समान ही कौ. नि. के लेखक ज्ञानानंद परमहंस भी शक्ति भैरव के संयोग से अमृतानंद प्राप्त करने के लिए चन्द्र-सूर्य (इड़ा-पिंगला) मार्ग से वायु पीने और छोड़ने—पूरक-रेचक करने तथा कुंभक (सुषुम्ना) की बातें करते हैं। यहाँ योनिमुद्रा के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया गया है और बताया गया है कि इस अभ्यास से बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है। पुण्याकांक्षा से नित्य अभ्यास का विधान है। इसीसे मंत्रसिद्धि, मोक्ष, संवित्, (ज्ञान), योग, वायुसाधन काल और मृत्यु विजय प्राप्त कर सकते हैं। जो इस रहस्य को समझता है, वही परम पद कों प्राप्त कर सकता है। क्रमशः बाहर निकलने वाले प्राण को नियंत्रित करने से सिद्ध हुआ जा सकता है। अधोवायु को कुंभित कर उसे कुंडलीमुखद्वार में डाल कर जीव और प्राण का कुंडलिनी में मेल करा कर उसका गमनागमन करा कर योगी सिद्ध हो जाता है। इसी को अभिनव गुप्त ने मध्यम मार्गस्थ और रामस्थ अथवा लोकधर्मवृतिता कहा है (विशेष द्रष्टव्य तंत्रालोक)।

ऐसा योगी जो कुछ खाता-पीत है, वह कुंडलिनी के मुख में जाता है। इसीलिए वह भिक्षावृत्ति करता है। अवधूत आश्रम में पहुँचा भैरवानंद योगी भीख माँगने के समय कहता है-'रे माँ, मुझे भीख दे, जिससे कुंडलिनी को तृप्त करूँ।'

'रे मातर्देहि मे भिक्षां कुण्डलीं तर्पयाम्यहम्।
अवधूताश्रमे स्थित्वा भैरवानन्दतत्परः॥' कौ. नि. 21

वह अपने से परे कुछ भी नहीं समझता। वह अपने को शिव मानता है। तंत्रमंत्र, अर्चन-पूजन सब कुछ उसी के लिए उसीमें है। यह योगी चाहे किसी भी वेश में जहाँ चाहे रहता है। वह सबकी समझ में नहीं आता। वह कुल योगीश्वर किसी भी आश्रम में लोगों के बीच उन्मत्त, मूक, जड़वत् विरला ही जीव दृष्टिगोचर होता है।

वह कभी शिष्ट, कभी भ्रष्ट, कभी भूत पिशाचवत् अवलोकित होता है। वह नाना वेशों में इस पृथ्वी पर विचरण करता है। वायु के समान वह सबका स्पर्श करता है और आकाश के समान उसकी सर्वत्र गति है। अग्नि के समान वह सर्वभक्षी फिर भी सदा पवित्र है। म्लेच्छ के घर का अन्न भी उसे ग्राह्य है। वह ज्ञानी योगी इन्द्रियों के साथ वैसे ही खेलता है, जैसे कोई सँपेरा मंत्रौषधि बल से साँपों से खेलता है। न पूजा न नाम-जप, न निष्ठा, न व्रत, कुछ भी उसके लिए आवश्यक नहीं। वह पूर्ण भैरवानन्द है, नित्य है,अव्यय है, निरंजन है, निर्विकार है। आनन्द मग्न वह सबका कल्याणकारी है। वह न योगी है, न भोगी है। न आत्मा है न कुछ आकांक्षी है, न वीर है, न धीर है, और न तो साधकेन्द्र है। वह इस पृथ्वी पर सर्वदा द्वितीय महेश है। उसके कानों में कुंडल, गले में रक्तरंजित मुंडमाला, हाथ में पान-पात्र और मुख में मद्य रहता है। सारे कर्म-धर्मों से रहित अवधूत द्वितीय महेश ही है। योगियों के लिए भी अगम्य परमगहन कौल धर्म की चर्चा करते हुए ज्ञानानंद परमहंस ने कौ. नि. में योगी का एकचित्र खींचा है—उसके वामभाग में रमण-निपुण नारी है, दाहिनी ओर पान-पात्र है, मध्यभाग में मरिच के साथ गर्म-गर्म सूअर का मांस है, उसके कंधे पर ललित सुंदर वीणा है और वह सद्गुरुओं के प्रपंचों से युक्त है:—

'न योगी न भोगी न वात्मा न कांक्षी न वीरो न धीरो न वा साधकेन्द्रः ।
सदानन्दपूर्णो धरण्यां विवेकी चिराज्जातधूतो द्वितीयो महेशः ॥
श्रुतौ कुण्डलेऽसृग्, गले मुण्डमाला करे पानपात्रं मुखे हन्त हाला ।
परित्यक्तकर्मा लयन्यस्तधर्मा विरक्तोऽवधूतो द्वितीयो महेशः ॥
वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं
मध्ये न्यस्तं मरिचसहितं शूकरस्योष्णमांसम् ।
स्कन्धे वीणा ललितसुभगा सद्गुरूणां प्रपञ्चः
कौलो धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ (कौ. नि. 21)

नागभट्ट ने त्रि. सा. स. में 4/15, 5/13 और 6/20 में 'अवधूताखिलमल', 'अवधूत जरामयः स मर्त्यः' तथा 'निर्धूताशेषपापा' कह कर अवधूत की शुद्धता पर ध्यान दिया है ।

कौ. नि. के इक्कीसवें उल्लास के अन्त में 'वामे रामा रमणकुशला' के माध्यम से जैसा अवधूत का चित्र खींचा गया है, वैसा ही पुराणों में दत्तात्रेय का चित्र दृष्टिगोचर होता है । **पद्मपुराण** भूखंड में दत्तात्रेय के पास कठिनाई से आयु पुत्र वरदान के लिए पहुचते हैं तो देखते हैं कि मद्यपीने से उनकी आँखें लाल हो गई हैं । उनकी जांघ पर एक नग्न नारी बैठी है । वे स्वयं नृत्य-गीत के आनन्द में मग्न हैं । यज्ञोपवीत रहित गला चन्दन लिप्त है माला युक्त है । दत्तात्रेय की आज्ञा से जब आयु ने अपने हाथों से मिट्टी के भिक्षापात्र में कच्चा मांस मद्य के साथ खिलाया तब पुत्र-प्राप्ति का वरदान उन्हें मिला । इस प्रकार नहुष की उत्पत्ति हुई ।

पहले उपनिषदों में वर्णित अवधूत का किंचित् अवलोकन किया गया है । आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि 'सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध-तांत्रिक लोगों में अवधूती वृत्ति नामक एक विशेष प्रकार की यौगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है (कबीर पृ. 24)। वहीं पर कहते हैं 'सहज मत की तीन वृत्तियाँ (या मार्ग) ये हैं:–(1) अवधूती (2) चांडाली (3) डोम्बी या बंगाली । अवधूती में द्वैत ज्ञान बना रहता है, चांडाली में द्वैत ज्ञान के बने रहने को कह भी सकते हैं, नहीं भी कह सकते पर डोम्बी या बंगाली में विशुद्ध अद्वैत ज्ञान ही विराजा करता है । एक का रास्ता इड़ा मार्ग से है, दूसरी का पिंगला मार्ग से और तीसरी का सुषुम्ना से' (कबीर पृ. 78)। इसके लिए भुसुकपाद का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है:–'आजि भूसु, बंगाली भइली णिअ धरणी चण्डाली ले ली ।' तथा चर्यापद 27-2,17-1 एवं पृ. 124 (बौद्धगान ओ दोहा) पर दृष्टिपात करने को कहा है ।

राहुलजी ने भी इस दोहे को उद्धृत किया है और बंगाली को म. म. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार खास तांत्रिक पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत स्वीकार किया है । शास्त्री के उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है–"सहजमते तीन टि पथ आछे, अवधूती चाण्डाली डोम्बी वा बंगाली । अवधूती ते द्वैत ज्ञान थाके, चांडाली ते द्वैतज्ञान आछे........बलिलेड हय, किन्तु डोम्बी ते केवल अद्वैत.....। एइ बार तुमि सत्य सत्यइ बंगाली हइले अर्थात् पूर्ण अद्वैत हइले" (पुरातत्त्व-निबंधावली, पृ. 177)।

यहाँ राहुलजी की टिप्पणी ध्यातव्य है। भुसुक आज बंगली हुए मानों पहले न थे। फिर 'मइली' बंगाल में कहाँ व्यवहृत होता है ? किंतु वह काशी से मगहर तक आज भी बहुत प्रचलित है। द्विवेदी जी कहते हैं–'ए भुसुक तू ने चांडालिनी घरनी को तो अपना लिया अब आज बंगालिन घरनी भी **बना ले**। राहुलजी को भइली का अर्थ बना ले पर संदेह है। अतः 'भइली' का अर्थ 'हो गई' किया है। अपने घर चांडाली आ गई बंगालिन नहीं थी। अब बंगालिन भी **हो गई**।

इस प्रकार धरणी से तीन वृत्तियों के संकेतित होने की बात की गई है। अवधूती और चांडाली धरणी द्वैतमूल वाली है–इड़ा पिंगला वाली है। पर बंगाली घरणी सुषुम्ना वाहिनी है। खसम भाव को पहचानने वाली है। यह अवधूती और चाण्डाली वृत्तियों को पहचानती है (कबीर वृ. 79)। परंतु नाडियों के प्रकरण में इसके विपरीत भी उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। बौ. गा. दो. पृ. 9 को उद्घृत करते हुए लिखा है–'इन्हीं तीन नाडियों–इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को सिद्धाचार्यों ने ललना-रसना अवधूती कहा है। अवधूती अर्थात् सुषुम्ना (कवीर पृ. 45) नाथपंथियों ने इन्हें गंगा-यमुना-सरस्वती भी कहा है। राहुल ने वैरोचन वज्र कथित महान् ब्राह्मण **सरह** के क-ख के 28 वें दोहे की चर्चा **सरह दोहा कोष** के पृ. 136-137 में किया है–'**ललना रस(ना) अवधूति** के भीतर से बिन्दु झरै सोई अति अचरज के लिए पी।' (हिं अनुवाद)। वहीं परिशिष्ट एक में **विनयश्री** की गीतियाँ हैं। विनयश्री भी 'अवधू' का उल्लेख करते हैं 46 देखिए–'**अवधू**-भणइ अइस मांडल चाका। ए जग सएल विसह जनि बिता। एक दूसरे चर्यापद में भुसुक राग कामोद में कहते हैं–'चालि अड ससहर भागे अवधूइ। रअण (पहाव) हु सहजे कहेइ।' राग पटमंजरी में **वीणा पाद** कहते हैं–

'सुज लाड ससि लागेलि तान्ती। अनहा दांडी एक किअत **अवधूती**।' सूर्य और चन्द्र का मेल हुआ तांती लगी। एक अवधूती ने मूलदंड के सहारे कुंडलिनी के माध्यम से सबको एक कर दिया। यह ललना और रसना से अवधूती की श्रेष्ठता है, जिसे बौद्ध सिद्धों ने स्वीकार किया है। वहाँ सुषुम्ना या अवधूती के माध्यम से सूर्य-चन्द्र या इड़ा-पिंगला या ललना-रसना के मेल से अमृतपान किया जाता है या सहज भाव प्राप्त किया जाता है।

गोरक्षसिद्धान्त में अवधूतः

यहाँ सिद्ध, नाथ और अवधूत को पर्याय माना गया है। नव नाथों और द्वादश सिद्धों को अवधूतमार्गी ही कहा गया है। कापालिक और शाक्त तांत्रिक शाखाएँ इसी अवधूत या नाथ सिद्ध मार्ग की है। नाथ सिद्ध संप्रदाय में गुरुवाक्यों, उनके आदेशों-उपदेशों और दीक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। ज्ञान, मुक्ति या सिद्धि के लिए गुरु के पास जाना होगा। उन्हीं की कृपा से इन सबों की उपलब्धि होगी। अतः गुरु सर्वोत्कृष्ट है, सर्वाश्रय है। ऐसा गुरु अवधूत को छोड़ अन्य नहीं हो सकता। वह अतिवर्णाश्रयी अनियत वृत्ति वाला त्याग भोग में अलिप्त या अवलिप्त रहते हुए भी त्याग-भोग-प्रद है। सभी नाथ-सिद्ध योगाभ्यास करते हुए अन्त में अवधूत हो जाते हैं। उनकी अंतिम स्थिति अवधूत की ही है। अवधूतों में प्रारब्ध कर्मों को भी निर्मूल करने की क्षमता मानी गई है। उनके मार्ग को दिव्य मार्ग कहा गया है। 'अस्मिन् मार्गे सर्वश्रेयो मूलभूतो गुरुरेव स च

अवधूत एव नान्यः ।' स कोऽवधूत इत्यपेक्षायामाह–जिसके एक-एक वाक्य में वेद हो, जिसका एक-एक पद तीर्थ हो, जिसकी दृष्टि में कैवल्य हो, वह अवधूत है । वह हमारा कल्याण करे । जिसके एक हाथ में त्याग और दूसरे में भोग हो किन्तु त्याग और भोग से जो अलिप्त हो वह अवधूत है–

'वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियोऽस्तु नः ।

एकहस्ते धृतत्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः ॥

सिद्धसिद्धान्तपद्धति को उद्धृत करते हुए वहाँ कहा गया है जो सभी प्रकृति विकारों का अवधूनन करता है, वह अवधूत है–'**यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोतीति अवधूतः** ।' अवधूत को सिद्ध योगिराट् भी कहा गया है । सिद्धसिद्धांतपद्धति में स्पन्दशास्त्र के समान कहा गया है कि विश्व में शिव-शक्ति से अन्य कुछ नहीं । यह शक्ति है, जिसका सर्वत्र प्रसार है, वही संकुचितावस्था में शिव है । जो शिव और शक्ति-संकोच और प्रसर का योग करता है वही योगिराट् है–

प्रसरं भासयेच्छक्तिः संकोचं भासयेच्छिवः ।

तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ 6।63

अवधूत ही सन्मार्ग दर्शक होता है । मोक्षाकांक्षी उन्हीं को गुरु बनाए (गो. सिं. पृ. 3) । पृ. 8 पर सिद्धसिद्धांतपद्धति का 'क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी' वाला श्लोक उद्धृत कर अवधूत की अनियत वृत्तिता का परिचय दिया गया है । यद्यपि वह वर्णाश्रमाचारानपेक्षी होता है पर उसे सन्मार्ग साधक कहकर धर्माचारी भी दिखाया गया है–

'सन्मार्गसाधका वर्णाश्रमाचारानपेक्षकाः ।

योगिनो ह्यवधूता.......................... ॥'

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में योगियों के चिह्नों या लक्षणों में (1) मुद्रा धारण (2) नाद (3) विभूति और (4) आदेश धारण आवश्यक बताया है । कान फाड़कर मुद्रा धारणा विना क्षुरा के नहीं, अतः क्षुरिका का अत्यधिक महत्व है । 'नाथ' में 'ना' का अर्थ ही नाद है । 'थ' का अर्थ स्थापक है । अतः नाथ मत में नादानुसंधान का अत्यधिक महत्त्व है । इसे अनाहत शृंगी भी कहा गया है । नादी भी कहते हैं । विभूति का महत्व भी इन्हीं के कारण है । योगी दशविध नादों का अनुसंधान करता है, जो उपनिषदों और तंत्रों में विवेचित है । इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । कालाग्निरुद्रोपनिषद् में विभूति का महत्त्व द्रष्टव्य है । उपदेश उस सद् वाणी को कहते हैं, जिससे किसी प्रकार का द्वन्द्व-संदेह या विकल्प नहीं रहता । आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा के विचार से प्रसंग में तीनों को अलग नहीं, एक होने की विचारणा को आदेश कहते हैं । गो. सि. सं. पृ. 8 में सि. सिं. पद्धति 6/95, उद्धृत है–

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे

त्रयाणामैक्यसम्भूतिरादेश इति कीर्तितः ।

आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम्

यो योगिने प्रतिवदेत्स वेत्त्यात्मानमीश्वरम्

षट्शाम्भव रहस्य उद्धृत करते हुए बताया गया है कि अवधूत योगियों की अंतिम स्थिति है। श्रेष्ठता के विषय में बताया गया है कि वैदिक से वैष्णव, उससे द्विविध गाणपत्य, फिर सौर, शैव, शाक्त, वाम, दक्षिण उससे भी वीर उत्तरोत्तर पर या श्रेष्ठ हैं। वीरमार्ग से भी बढ़ कर अवधूत मार्ग है उससे बढ़ कर दिव्यमार्ग है। दिव्यमार्ग से बढ़ कर अन्य कोई नहीं–(कहीं कहीं अवधूत मार्ग को ही दिव्य मार्ग भी कहते हैं)

'अथान्यत्सम्प्रवक्ष्यामि...........

अथ वीराच्चावधूतः कौलः पूर्वं प्रकीर्तितः।

अवधूताद् दिव्यमार्गो दिव्याच्छ्रेष्टो न विद्यते॥' 1/140-144

तांत्रिकों और अवधूतों की उपासना पद्धति में यह अन्तर है कि तांत्रिकों की पूर्वावस्था है। योगियों के यहाँ पूर्वावस्था और उत्तरावस्था दोनों का योग है। यहाँ पूर्वउत्तर या मुख्य-गौण का भेद नहीं। तांत्रिक अनुष्ठानों में पहले बहिरंग उपासना स्थूल शक्ति की उपासनी सीढ़ी के दंडे के समान आवश्यक है। इसके बाद अवधूत पद के लिए तांत्रिक, अन्तरंग पूजन-सूक्ष्मशक्ति कुंडलिनी शक्ति की उपासना करते हैं। योगियों या नाथ-सिद्धों में अन्तरंग उपासना ही प्रारंभ और बाद में भी होती है। इस प्रकार तांत्रिकों का भी तात्पर्य अवधूत पद में ही है। (द्र. गो. सि. सं. पृ. 16)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गोरखनाथ के नाम का एक छन्द (अवधू संबन्धी) अपने **हिं. सा. के इतिहास** में उद्धृत किया है–

'अवधू रहिया हाटे बाटे रूष विरष की छाया।

तजिया काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया।' (पृ. 19)

'नाथसिद्धों की बानियाँ' में अनेक सिद्धों-चरपटनाथ, **चौरंगीनाथ, चौणकनाथ, जलंध्रीपाद, दत्तजी, पारवतीजी, बालनाथ** या **बालगुदाई, भरथरी, महादेव** और **हणवंत** जी की बानियों, पदों एवं शब्दों में अवधू की अत्यधिक चर्चा है। इन लोगों ने अवधू या योगियों के महत्त्व को समझाया है। उस समय तथाकथित योगी या अवधूत अपने मार्ग से विचलित हो रहे थे। वेष-भूषा या बाह्याचार या दिखावटी रूप अधिक दृष्टिगोचर हो रहा था। इससे योगियों या अवधूतों का महत्त्व घट रहा था। ऐसे लोगों पर इनके कटु व्यंग्य है और योगपद्धति बचाने की प्रेरणा है। **चरपटनाथ** जी ने अवधू योगियों को सावधन करते हुए भोग से विरत होने की प्रेरणा दी है:–

अवधू राती कंथरैं पटरोल, पगे पावड़ी मुषि तम्बोल।

खाजै पीजै कीजै भोग, चरपट कहै विगोवै जोग॥

कामिनी संग की निन्दा करते हुए कहा–

चरपट कहै सुणौ रे अवधू कामिणि संग न कीजै।

जिन्द बिन्द नव नाडी सोखै दिन-दिन काया छीजै॥

अवधू के महत्त्व को समझाते हुए चरपटनाथ जी याद दिलाते हैं कि मूल द्वार पर बंद लगा कर अपान वायु को पलट कर ऊपर गगन (सहस्रार) में पहुँचने पर नाद और बिन्दु में स्थिरता आती

है । तब कभी न देखा गया-अदृष्ट पुरुष दृष्टिगोचर होता है–ब्रह्म साक्षात्कार होता है । ऐसे अवधूतों के लिए पवन की कंथा होती है । वे अनल में बास करते हैं । उनके पास कोई बाधा नहीं फटक पाती । उनका मन ही मत है । वे गूढ़ ज्ञान से युक्त रहते हैं:–

अवधू मूल दुवरै बंद लगाइ । पवन पलटै गगन समइ ॥
नादा बिन्द दोउ अस्थिर होइ । अदृष्ट पुरुष दृष्टि तब होइ ॥
पवनी कंथा अनलै बास । पिसण न कोइ आवै पास ॥
मन सूं मतै न ग्यांन सूं गूझ । चरपट कहै धनि **अवधूत** ॥

अवधूत की परिभाषा या उसके लक्षणों के विषय में चरपट कहते हैं:–

'करतलि भिष्षा विरषि तलि वास । दोइ जन अंग न मेलै पास ।
बनषंडि रहै मसणैं भूत । चरपट कहै ते **अवधूत** ॥'

अवधू योगी को संबोधित करते हुए वे कहते हैं कि ऐसा करो जिससे पुनः यहां न आना पड़े । जीवन-मरण से छुटकारा मिल जाए । कहते हैं कि जो मूलद्वार पर बंध लगाता है, वहीं चौसठ योगिनियों के साथ संधि करता है । वही चौसठ संधियों के साथ खेलता है । (वैसे तंत्रों में और बहुत संधियों का उल्लेख है, पर चौसठ संधियाँ : चौसठ योगिनियाँ प्रसिद्ध हैं ।):–

'ऐसी करणी करौ रे **अवधू** । ज्यों बहुरि न होइ मरणा ।
अवधू मूल दुवारे लावै बंध । वाई खलै-चौसठ संघ ॥'

चौरंगी नाथ जी भी इसीके समर्थन में कहते हैं–'मूल सींचौ रे **अवधू** मूल सींचौ **चौणकनाथ** या **चुणकर नाथ** जी कहते हैं–यह कौन सा कर्म कर रहे हो । अवधू ! वही असराल या भेदमार्ग पर चल रहे हो । तुम्हारे सूने देवघर में चोर पैठा है अब भी तो चेतो:–

'काकड़ी करंम करंता **अवधू**, वाई चलै असरालं ।
सूनै देवल चोर पईसै, चैतौ रे चेतनहारं ॥'

जंलध्रीपाद कहते हैं–संयत आहारी संयमी के पास काम-क्रोध नहीं फटकते । 'वायु-भक्षण (प्राणायाम) साधना से भूख-प्यास नहीं लगती-क्षुधा का कष्ट नहीं होता । यदि सिद्धासन लग गया तो माया उससे दूर ही रहती है–

'**अवधू** संयमि अहारं कन्द्रप नहि व्यापै ।
बाई आरंभ षुधा न सन्तापै, सिद्ध आसण नहिं लागै माया ॥'

उन्होंने तत्त्व विचार को सँभालने के लिए कहा--'साँभलि अवधू तत्तविचारं ।' वे कहते हैं कि मर्दन करने से केश, पवन से शरीर, समाधि या काल से जरा-मरण को अवधू स्तंभित कर देता है–सँभाल लेता है । वह विचार द्वारा माया को त्याग देता है–

'मरदने केस सथामि लै अवधू । पवनां थामि लै काया ।
अन्त से जुरा मरन थांभि लै । विचार त्यागि लै माया ॥'

सति सति भाषने वाले **दत्त अवधूत** जी कहते हैं यदि संयम है तो रोग नहीं आ सकते। संतोष आ गया तो भोग क्या करेगा ? आत्मा को जान लिया तो ज्ञान कथन बेकार है। परमात्माखोजी ध्यानी क्या करेगा ? किसका ध्यान करेगा ? कहते हैं–

'अवधू संजमि रहै तो क्या करै रोगं। संतोष आया तो क्या करेंगे भोगं।
आत्मा जाणंत तो क्या करै ग्यानं। प्रमात्मा षोजंत तो क्या धरै ध्यानं॥'

वे कहते हैं कि गुरु करने में लाभ ही लाभ है, अतः अरे अवधू, गुरु करो, गुरु। चेला मत करो क्योंकि चेला करने में हानि ही हानि है। उस समय कच्चे योगी भी गुरु बनने के फेरे में अधिक रहते थे। उन्हें कहा–

'गुरु कीया लाभै है **अवधू** चेला कीया हानि।'

पारबतीजी के नाम की सब्दी में अवधू के विषय में कहा है–उसकी दृष्टि काक के समान होती है-बहुत तेजी से देखने वाली होती है। बगुले के ध्यान के समान उसके ध्यान में एकाग्रता होती है। बालकों जैसी निश्छल सहजवृत्ति होती है। वह भुजंग के समान पवन भक्षी होता है। वही बैरागी अवधूत है, अन्य उसके वेश में भिखारी हैं:–

'कागद्रिष्टी बगोध्यानी, बाल अवस्था भुयंग अहारी।
सो **अवधूत** बैरागी पारबती, दूजी सब भेषारी॥'

बालनाथ या **बालगुदाई** कहते हैं–जैसे तुरुक को कुरान के सूरा से प्यार है, हिन्दुओं को गाय प्यारी है और बहन को भाई प्रिय है, वैसे ही योगी को सभी प्यारे हैं। तुरुक, हिंदू और बहन अपने प्यारों से प्यार कर निर्भय रहते हैं, वैसे ही योगी भी:–

"**अवधू** तुरुक कै सूर ज्यों हिंद कै गाई।
बहन कै भाई त्यूँ जोगी कै श्रब भाई।
सति सति भाषंत बालगुदाई। ये तीन्यू अभय रे भाई।"

गुदाई जी कहते हैं कि अवधू वह है जो अनभै-निर्भय रहे या स्वानुभव से जाने। वह बाण को उलट कर गगन पर तानता है, पवन को उलट कर सहस्रार तक पहुँचता है। अनहद नाद सुनता है। अपान वायु को ऊपर की ओर करके भौहों के बीच आज्ञाचक्र का बेधन करता है। आत्मवेधन कर वह जरा पर विजय प्राप्त कर लेता है:–

"**अवधू** सो जो अनभै जांनै। उलटा बांन गगन कै ताँणै।
पलटी बाई बेधीया भूंरा। आत्मा बेधी बसि कीया जूँरा॥"

भरथरी की सब्दी में बताया गया है कि अवधू एक ही बाण से पाँच मृगों-पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को मारता है। इसी तरह **हणिवंत** और **महादेव** की सब्दियों में भी अवधू संबोधित है।

मध्यकाल में भी **कबीर, जायसी** और **तुलसी** को अवधूत ने प्रभावित किया था। कबीर के अवधूत पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार 'कबीर' में द्रष्टव्य है। वहाँ नाथपंथी हठयोगियों

को अवधूत कह कर संबोधित करना प्रतिपादित है। पर उनके द्वारा मान्य अवधूत से कबीर-मान्य अवधूत में कुछ अन्तर भी स्पष्ट किया गया है।

पद्मावत के सिंहलगढ़ वर्णन में **जायसी** ने विभिन्न मतावलंबियों के साथ अवधूत का भी नाम लिया है–

'सेवरा, खेवरा, बानपरस्ती, सिध, साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब, जारि आतमा भूत ॥ 2/6

सेवरा श्वेत पट वाले हैं। खेतरा क्षपणक हैं। बानप्रस्थी, सिद्ध, साधक और अवधूत आत्मा और भूत को जला कर (तपस्या द्वारा शरीर को जला दिया है, कोई अभिलाषा भोग लालसा भी नहीं, अतः उनकी आत्मा भी विषय वासनाओं के संबंध में मरी हुई है)। आसन लगाए वहाँ के विभिन्न मठों में बैठे हुए हैं। इसके पहले जायसी ने रिखेस्वर, संन्यासी, रामजन, मसवासी, ब्रह्मचारी, दिगंबर, सुरसती, सिद्ध, जोगी, निरासपंथी बैरागी, महेसुर, जंगमजती, देवी सती के उपासकों का भी उल्लेख किया है। बसंत खंड में सिंहलगढ़ में रतन सेन के पहुँचने पर हम देखते हैं कि पद्मावती की एक सखि जोगी वेशधारी औधूत गुरु-चेला के कौतुक का वर्णन करती हुुई कहती है–लगता है कि ये नये जोगतंत्री हैं। सिद्ध होकर ये नये चेले निकले हैं। लगता है इनके गुरु को किसी गुरु ने गुर देकर पगला दिया है। इनका गुरु राजकुँवर जैसे बत्तीसों लक्षणों से युक्त है। वह दश धर्मलक्षणों में से एक ही की बात लगातार कह रहा है। वह गोपीचंद या भरथरी जैसा वियोगी लगता है। भरथरी पिंगला के वियोग में कजरी बन गया था, वैसे ही यह किसी के वियोग में सिंहल गढ़ पहुँचा है। ऐसी सुन्दर मूर्त्ति और ऐसी मुद्रावाला अवधूत मैंने नहीं देखा। यह जोगी नहीं किसी राजा का पूत लग रहा है:–

"वह मूरति यह मुंद्रा, हम न देखा **औधूत**।
जानहुं होंहि न जोगी, के तु राजा के पूत ॥" 20/11

सूर द्वारा प्रयुक्त 'अवघट' अवघड़-औघड़ को संकेतित करता है। 'अघोर' या 'अवघड़' भी 'अवधूत' का ही आर्थिक दृष्टि से संबंधी है, जो एक अलग निबंध विषय हो सकता है। सूर ने 'घाट बाट अवघट यमुना तट बातें कहत बनाये' के माध्यम से 'अवघट' या 'औघड़' को आभासित किया है। सगुण मार्गियों के यहाँ अवधूत का उतना महत्त्व नहीं, भले ही उनके स्रोतग्रंथों में ज्ञानमार्गी अवधूतों की चर्चा पर्याप्त मिलती है।

तुलसीदास ने 'धूत कहौ अवधूत कहौ। रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ' (कवितावली-उत्तरकांड 106 संरख्यक सवैया) में धूत (धूर्त या धूत पवित्र) के साथ अवधूत (तिरस्कृत अपवित्र जोगी) का नाम लिया है।

इससे पता चलता है कि तुलसी के समय अवधूतों के प्रति बहुतों की कोई अच्छी भावना नहीं थी, विशेषकर सगुण भक्तों की। यहाँ ध्यान देने की बात है कि वैष्णवावधूतों की प्रतिष्ठा पर वैष्णव

भक्तों का सर्वदा ध्यान रहा । अवधूत भी साम्प्रदायिकता में बंध गया था । इसीलिए सिद्ध साधक योगी भक्तों ने उनकी संकुचित भोगी करतूतों की निरंतर निन्दी की है ।

अवधूत का नया आयाम

भारतीय इतिहास के मध्य और आधुनिक युग के संधिकाल में पूर्वी भारत ही नहीं, उत्तरी भारत में प्रसिद्ध **बाबा कीनाराम** या **राम कीना बाबा** के अद्‌भुत व्यक्तित्व की कहानियाँ प्रचलित हैं । दुर्वासा के समान उनके अभिशाप और वरदानों की कहानियों से भोगासक्त और स्वार्थी लोगों के हृदय में भयमिश्रित श्रद्धा थी । दीन-दुखियों-आर्तजनों में उनकी अकारण-करुणा और आशीर्वादों से श्रद्धा विश्वास संवलित आकर्षण था । पता नहीं किस अव्यवस्था या अशिष्टता-अविनीतता का कौन सा दंड उन्हें भोगना पड़ेगा, इसकी चिन्ता लोगों में थी । अतः किसी भी रूप या वेश के तिरस्कार में अभिशाप या अनिष्ट की आशंका से उचित समझ की आवश्यकता हो रही थी । अपनी सिद्धियों, मंत्रों, औषधियों और तपस्याओं के बल से कोई सिद्ध कुछ भी कर सकता है, इसका संस्कार पहले से ही था । 'बिनु भय होइ न प्रीति' की नीति से बाबा कीनाराम का प्रचार पूर्वी भारत के अतिरिक्त पश्चिम और उत्तर में भी प्रचारित था । वे एक अवधूत माने जाते थे-अतिवर्णाश्रमी–भोग में योग और योग में भोग वाले सहज बालोन्मत्त पिशाचवत् अवधूत के अनियत लिंग वाले थे । अपनी विशेषताओं से उन्होंने सामान्य जनों से लेकर विशिष्ट जनों को प्रभावित किया था । संवत् 1812 में शिप्रातट पर उज्जैन में लिखित उनके 'विवेकसार' में गुरु की महत्ता, ज्ञान, विज्ञान, निरालंब, समाधि, अजपा, शून्य और रक्षा के अंगों में तांत्रिकों–शैवों, शाक्तों, अष्टांग योगियों और हठयोगियों के विचारों, अभ्यासों और क्रियाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए वेद-पुराण और स्मृतियों के गूढ़ अर्थों को समझाने का सफल प्रयास किया गया है । दया-विवेक-विचार और सत्संग पर विशेषबल दिया गया है । तंत्रों या पुराणों की संवादशैली, जो बाद में महाकाव्यों और आख्यानों काव्यों में गृहीत हुई थी, उसी गुरु-शिष्य संवादशैली में लिखित 'विवेकसार' के 'ज्ञानअंग' में गुरु शिष्य से कहते हैं कि एक समय ऐसा था, जब हम तुम, यह वह, स्त्री-पुरुष, नाम-रूप कुछ भी नहीं था, तब वह सत्यपुरुष अवधूत था:–

"नाम-रूप एकौ नहीं, नारि पुरुष नहिं चीन्ह ।
लेष अलेष सुवेष में, बास निरन्तर कीन्ह ॥ 51 ॥
कछुक दिवस ऐसो रह्यो, अविनासी **अवधूत** ।
तेहि ते इच्छा प्रगट तब, कीन्हों सब्द अभूत ॥ 52 ।

यह अकल से सकल, शिव-शक्ति, बिन्दु-बीज और अव्यक्त रव या स्फोट की सृष्टि कथा आगमों में मूल सूत्र हैं । उसे अवधूत कहा गया । वह सत् या सत्य पुरुष अपनी समवायिनी शक्ति के साथ समरस था । उसकी इच्छा हुई प्रसार की, रमण या क्रीडा करने की । तो बीज-अचित् और बिन्दु ईश्वर के संयोग से अव्यक्त रव या स्फोट हुआ । यह कलात्मक सृष्टि की आदि कथा है । यह वही अभूत शब्द या अव्यक्त शब्द है–स्फोट ब्रह्म है, जो पहले नहीं था । अतः अभूत हुआ । उस अवधूत

शिव की इच्छा से सारी कलात्मक सृष्टि हुई। वही अभूत शब्द परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी से हो कर संपूर्ण नाम-रूप या वाङ्मय में विद्यमान है।

'निरालंब-अंग' में शिष्य के प्रश्नों का उत्तर देते हुए 'राम कीना' का गुरु कहता है–

"शिव न जीव तोहि कहि **अवधूता**।
देव निरंजन सदा अरूता॥"

शिव जीव नहीं। 'तोहि कहि अवधूता'–तुझसे कहता हूं कि वह अवधूत है। आत्मीयता पूर्वोक्त उपदेश श्रोता अवधूत हो सकता है। अतः एक अवधूत अपने प्रकार के शिष्य को भी अवधूत कह सकता है। इस दृष्टि से अर्थ हो सकता है कि हे अवधूत (शिष्य) तुझसे कहता हूँ कि शिव जीव नहीं। जीव का स्वामी है। जीव बंधन युक्त है–आणव-मायीय और कर्म मलों से युक्त है और शिव इनसे युक्त है। वह देव है, निरंजन है और सर्वदा अरुत-शांत, है निष्कल है। ('तोहि' के स्थान पर 'ओहि' पाठ होने पर अर्थ और स्पष्ट हो जाता है)।

अवधूत भगवान् राम कहते हैं–रामकीना बाबा के क्री कुंड (वाराणसी) में इसी सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर सिद्धि प्रदर्शन से अलग जनसेवा में स्वयं और अपने शिष्यों को लगा कर अवधूत भगवान् राम ने लोक कल्याण का कार्य प्रारंभ किया है। सर्वेश्वरी समूह के विभिन्न प्रचार स्थानों से समाज और राष्ट्रोन्मुख उनके कार्य अघोर परंपरा की लीक से हटता हुआ नवीनता को आत्मसात् करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अवधूतों या औघड़ों को अपने विचारों में परिवर्त्तन लाने और स्वयं को संवेदनशील कह कर देश-काल सापेक्षता लाकर अवधूत की परंपरा को उन्होंने नई क्रांति दी है। अघोर-अवघट-अवघड़-अवधड़-अवर (और) घर-अभयघड़ आदि शब्दों के माध्यम से उन्होंने अवधूत या औघड़ को समझाने का प्रयास किया है। आज के कठिन स्वार्थ लोलुपता के युग में त्याग, सेवा और प्रेम का उपदेश उनके यहाँ से प्रचरित हो रहा है। उनका कुष्ठ-सेवाश्रम सामान्य जनके लिए अधिक आकर्षक है।

प्रभात रंजन सरकार उर्फ आनंद मूर्त्ति जी ने भी अपने आनंदमार्ग में अवधूत को स्थान दिया है। सन् 1960 में उन्होंने अवधूत संगठन किया। आनंदमार्ग में यह एक प्रतिष्ठित पद है। निर्जन अरण्य के शांत वातावरण एवं चाँदनी रात में तांत्रिक विधि से दीक्षित होकर ये अवधूत आनंदमार्ग की सेवा में निकलते हैं। सिर के बाल, दाढी, मूंछ साफ करा कर ये लोग आजीवन दीक्षित मार्ग पर चलने का संकल्प लेते हैं। अन्य सामान्य साधकों से ऊपर इनका स्थान होता है। देश-विदेशों में हाजरों-लाखों की संख्या में ये अवधूत काषाय या केशरिया वस्त्र एवं माला धारण किये आनंदमार्ग के प्रचार में जुटे थे। अनेक दुष्कांडों में अनेक अवधूतों की चर्चा अखबारों में निकलती रहती है। इससे सामान्य जनों में आनंदमार्ग के प्रति कुछ अरुचि दृष्टिगोचर होती है। जनाकर्षण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि के क्षेत्रों में इनके कार्य जनोन्मुख है। अतः अनेक राजनीतिक विचार-धाराओं के लोगों से इनकी प्रतिस्पर्धा या इनके प्रति ईर्ष्या या घृणा भी प्रचारित है। इनकी गुप्तता या रहस्यात्मकता से लोगों में कुछ सन्देह या शंका की भावना दृष्टिगोचर होती है। आनन्द नगर में

इनके कार्यकलाप से कुष्ठ-सेवा, मूकबधिर, विकलांग-अनाथ सेवा एवं कृषि फर्मों से बहुतों का आकर्षण हुआ है। इनका आत्मबल, दृढ़निष्ठा और परिश्रम आकर्षक और आत्मनिर्भरता के क्षेत्र में अनुकरणीय है। अभी और भी सुधार इसमें आवश्यक प्रतीत होता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्राचीन काल से आज तक इस अवधूत ने देश-काल और विभिन्न व्यक्तित्वों के सहारे अपने स्वरूप की निरंतर रक्षा की है। इसके साथ कल्याण भावना के साथ-साथ त्याग और उन्मुक्तता किसी नियम या विधान के साथ अप्रतिबद्धता और सहजता संलग्न है। यह किसी भी विशेष धर्म या सम्प्रदाय का अनुगामी नहीं पर गुरु के आदेश से सहज आत्मनुभूति गुह्य चमत्कारिक भाषा में व्यक्त करता है, जो सत्य और वास्तविकता के आंकने में अनुभवगम्य साक्षात् मार्ग है। इसका भोग में योग और योग में भोग बनावटीपन से दूर सर्वजन कल्याण की भावना से युक्त है। इसके स्वच्छ निर्मल बेलाग त्यागपूर्ण वचन मान-अपमान, लज्जा-संकोच, भय, घृणा रहित वचन, विषयासक्तों, लोलुपों, स्वार्थियों के भीतर प्रेम, दया, त्याग और दुर्गुण छोड़ने का भाव संचार करते प्रतीत होते हैं। पापी और दोषी अपने पाप या दोष को पहचानने में सहज भाव से इनसे शिक्षा लेता है। इस प्रकार आज के वैज्ञानिक युग में जब विभिन्न नाम रूपों की वस्तुओं, तत्संबंधी क्रियाओं या भावनाओं का नित नये-नये आविष्कार हो रहे हैं तब संत-उपदेश, संत आचरण और स्वयं अपने अनुभव और विवेक से बाहर नहीं भीतर की ओर झाँकने और अनेकता से एकता की ओर ले जाने का इनका निरंतर प्रयास समाज की विषमताओं को दूर करने में अत्यंत सहायक हो रहा है। अब अवधूत अपने नये आयाम में घृणा और भय नहीं, सिद्धियों के चमत्कार नहीं अपितु देश-काल सापेक्ष हो कर प्रेम-त्याग, सहनशीलता, संवेदनशीलता, दया, सेवा की भावना जगाने की ओर उन्मुख है। अब सिद्धियों के चमत्कारों या भयंकर रूपों की अपेक्षा अधिक जनाकर्षक होने के कारण अवधूत अगले काल और अन्य देशों को भी प्रभावित करने में सक्षम हो सकता है। अनेकता से एकता की ओर ले जाने में मानव के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण संबल है। यह अति वर्णाश्रमी भेदक संस्कृति विरोधी है।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥"

"अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः(श्च)
सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥"

शमिति।

●

अवधूत संप्रदाय

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

अवधू या अवधूत शब्द का सामान्य अर्थ वधूविहीन समझा जाता है। परन्तु वधू रहित तो वर्णाश्रमधर्मी ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी भी होते हैं और उनके लक्षण भी प्रायः परस्पर मिलते-जुलते हैं। फिर भी वे समानार्थी नहीं माने जाते हैं। लगता है कि तंत्र के प्रभाव से इसके प्रयोग नाथ तथा संत-साहित्य में होने लगे थे। फिर विशिष्ट अर्थ में इसका प्रयोग अन्यान्य मतों में भी किया जाने लगा था। तंत्रसाधना में नारी का कई रूपों में प्रयोग किया गया है। इसलिए उसका असामान्य स्थान एवं महत्व है।

आप्टे ने 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' में 'अवधूत' को पारिभाषित करते हुए लिखा है–

योविलंघ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान्।
अतिवर्णाश्रयी योगी अवधूतः स उच्यते॥
अक्षरत्वात् वरेण्यत्वात् धूतसंसारबंधनात्।
तत्वमस्यर्थसिद्धत्वादवधूतोऽभिधीयते॥ पृष्ठ–164

अर्थात् जो व्यक्ति वर्णाश्रम का उल्लंघन कर आत्मस्थित होता है–

ऐसा अतिवर्णाश्रयी अवधूत कहलाता है। यही नहीं, अक्षर, वरेण्य तथा सांसारिक बंधनों से मुक्त होने के कारण वह 'तत्वमसि' की अर्थ-सिद्धि करें अवधूत बन जाता है।

'निर्वाणतंत्र' के चतुर्दश पटल पर कुछ श्लोक उद्धत हैं जिनके अनुसार 'अवधूत' वह है जो पंचमकार का सेवन करते हुए भी अनासक्त होकर रहता है। संन्यासधर्मी नियमों का पालन करता है। दंडधारियों की भाँति अमावस्या को केश-मुण्डन न करा के जटा-जूट धारण किये रहता है। रुद्राक्ष एवं अस्थि-माला का धारण करता है। कोपीन पहन कर या दिगम्बर रह कर शरीर में भस्म या रक्त चंदन का लेपन करता है।

'अवधूत' की परिभाषा देते हुए 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' पृ. 1 पर लिखा गया है–

'सर्वान् प्रकृतिविकारमवधूनोतीत्यवधूतः।'

फिर उसके पृ. 10 पर उसकी व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया गया है–

क्वचिद् योगी, क्वचित् त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्व चाचारी, सोऽवधूतो विधीयते॥

अर्थात् जो कहीं योगी, कहीं त्यागी और कहीं पिशाचवत् नंगा, कहीं राजा और कहीं चक्कर काटता दिखाई देता है वही अवधूत कहलाता है। इस प्रकार अवधूत प्रकृत्यास्वच्छंद तथा स्वेच्छाचारी होता है। किन्ही यांत्रिकता के वशीभूत नहीं होता है अर्थात् शास्त्र विहित कर्मकांड का अनुयायी अथवा पालनकर्ता नहीं होता है। वह सिद्धावस्था प्राप्त होता है। ऐसे सिद्ध पुरुष विभिन्न संप्रदायों में पाये जाते हैं। श्रमण तथा ब्राह्मण सभी किसी-न किसी रूप में प्रभावित कहे जा सकते हैं। संभवतः इसी कारण कबीर ने 'अवधू जोगी जग मैं न्यारा' जैसी उक्ति प्रकट की है और उसे 'अवधूगगन मंडल पर कीजै' की विलक्षण स्थिति तक पहुंचा दिया है। यही नहीं, उन्होंने अन्यत्र पद 16 में यहां तक कह दिया है–

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद को करै निहोरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिम्याहीना भावै।
गावणहार के रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै।
पंखी का खोज मीन का मारग, कहे कबीर बिचारी।
अपरं पारवार परसोत्तम, वा मूरति की बलिहारी॥

इस पद की प्रथम पंक्ति की व्याख्या करते हुए महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव ने अवधू शब्द की 'वधू जाके न होइ, सो अवधू कहावै' जैसी टिप्पणी कर दी है जो कबीर के संदर्भ में संगत नहीं, प्रतीत होती है। परंतु यदि वधू की व्युत्पत्ति वध्नाति प्रेरणा इति वधू के बदले उह्यते भर्त्रादिभिः इति वधूः' को स्वीकार कर लिया जाय तो अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से उपादेय हो सकता है। इसी प्रकार 'धू' धातु से 'अव' उपसर्ग युक्त 'क्त' प्रत्यय होने पर 'अवधूत' शब्द निःसृत हुआ है।

वास्तव में 'अवधू' या 'अवधूत' शब्द योग-साधना सम्मत है। इसका संकेत संत सुन्दरदास की अधोलिखित बानी से भी हो जाता है–

हे कोई जोगी साधै पवना।
मनथिर होई बिद नहिं डोलै, जितेन्द्री सुमिरै नहि बौना
जम अरु नेम धरै दृढ़ आसन, प्राणायाम करै मन मौना।
प्रत्याहार धारणाध्यान लै समाधि लावेठिव ठौना।
इड़ा पिंगला समकरि राखै सुखमन करै गगन दिसि गौना।
अहनिसि ब्रह्म अगिन पर जारै, सांपनि द्वारा छाड़ि दे जौना॥
बहुदल षट् दल खोजै, द्वादस दल तहं अनहद मौना।
षोडस दल अमरित रस पीवै उभरि द्वै दल करै चितौना।
चढ़ि आकास अमर पद पावै, ताको काल करै नहि पाना।
सुंदरदास कहै सुनु अवधू, महा कठिन यह पंथ उलेना।

ब्रह्म यदि पुरुष का प्रतीक है तो ब्रह्माण्ड माया का विस्तार। ब्रह्माण्डजनित तृष्णा, इच्छा और वासनादि के ही कारण पुरुष दिग्भ्रमित होकर 'भूमा सुख' अर्थात् 'एकोऽहं बहुस्याम्' की अनुभूति से वंचित रह जाता है। अविद्यात्मिका बुद्धि उसे स्वनिर्मित जाल में अपने को उलझा देती है। कदाचित् इसी कारण कबीर ने आत्म-बोध होने पर माया को ठगिनी मान कर कहा है–

नारी तो हमहूं करी कीन्हीं नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरी नारी बड़ा विकर॥

नारी-बंधन अर्थात् माया-मुक्त होने की छटपटाहट ही शायद अवधूत को स्थिर न रहने देकर उसे परिब्राजक बनाये रहती है। संतों ने माया को ही नारी-सुलभ कई रूपों में स्मरण किया है। और उसे मानवी संबंधों द्वारा उदाहृत किया है। उसके प्रति अनासक्त भाव से आचरण करना ही पुरुष को जीवन्मुक्त की स्थिति तक पहुंचा देता है। सही अवधूत की यही परख और पहचान है।

अवधूत पंथ या संप्रदाय की चर्चा करते समय बहुधा अघोर पंथ अथवा सरभंग संप्रदाय का भी प्रसंग छिड़ जाता है और दाक्षिणात्य दत्त संप्रदाय का भी नामोल्लेख किया जाने लगता है। कभी-कभी गोरखनाथ से लेकर बाबा किना राम तक को उससे संबद्ध मान लिया जाता है। परंतु अभी तक निर्विवाद रूप से कुछ संभव नहीं हो सका है। उसके निष्कर्ष तथ्यपरक से अधिक अनुमानाश्रित ही ठहरते हैं। बाबा गुलाबचंद 'आनंद' 'अघोर पंथ' तथा 'अवधूत' संप्रदाय को पर्यायवाची मानते हैं। उन्होंने पोथी 'विवेकसार' पृ. 1 पर किंचित् विस्तार से इस विषय में लिखा है। जो हो 'अवधूत संप्रदाय' शास्त्रावलंबी से अधिक लोकधर्मी प्रतीत होता है। बाबा किनाराम की वर्तमान गद्दी पर अवधूत राम आसीन हैं।

●

अवधूत सम्प्रदाय : स्वरूप और साधना

डा. विष्णुदत्त राकेश

अवधूत शब्द का प्रयोग वाजसनेयी संहिता में हुआ है। 'अवधूतं रक्षः' (5/14) यहाँ अवधूत शब्द का अर्थ नष्ट हुआ या पराकृत है। मंत्र में कहा गया है कि दान, यज्ञ आदि धर्मों से रहित पुरुष नष्ट हो जाते हैं—'शर्मास्यवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः'। कर्मकाण्ड परक इस वेद में यज्ञ कर्म विरोधियों के लिए अवधुनन क्रिया का प्रयोग परवर्ती साहित्य में संज्ञार्थक बन गया और अवधूत उन चिन्तक मुनियों के लिए प्रयुक्त होने लगा जो आर्यों की वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। जिन्हें स्वच्छन्द विचारों के कारण समाज ने तिरस्कृत कर दिया था तथा जो अतिवर्णी होकर ज्ञान-योग मार्ग को प्रधानता देने के कारण विधि-निषेध की श्रुति-स्मृति द्वारा अनुमोदित व्यवस्था के उल्लंघन में नहीं हिचकते थे। अवधूतोपनिषद् में कहा भी गया है—

यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते॥ 2॥

वैदिक युग में ऐसी चर्या वाले व्यक्ति व्रात्य कहलाते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण में व्रात्यों के रहन-सहन तथा श्वेताश्वतर में उनकी दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। व्रात्यमुनि यज्ञ-यागादि की परम्परा में विश्वास न रखकर सहज, सदाचारपूर्ण तथा योगाभ्यासयुक्त जीवन जीते थे। हठयोग, कायादण्डन, श्रम-तप तथा निवृत्ति प्रधान दृष्टि का प्राधान्य इनके जीवन में प्रायः मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इन मुनियों की चर्चा है। केशीसूक्त (10/136) में आया है—'मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला'। अर्थात् ये मुनि प्राणायाम करते थे, वायुभक्षण करते थे, यह मैले वस्त्रधारण करते थे या धूलि धूसरित शरीर रखते थे[1]। मननशील थे, संवादगोष्ठियाँ आयोजित करते अटनशील रहते थे। सिद्धियाँ प्राप्त थे और पवन की डोरियों पर चढ़े कहीं भी पहुँच जाते थे अर्थात् आकाशगमन की विद्या में निपुण थे। श्रम और तप इनके जीवन के प्रमुख आधार थे। योग साधना द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेना ही इनके जीवन का लक्ष्य था—

येनातरन्भूतकृतोति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण। अथर्व. 4/35/2।

इनकी योग सिद्धियों और तर्कणा पूर्ण दार्शनिक मान्यताओं से कर्मकाण्डी ऋषि इतने अभिभूत हो जाते थे कि यदि निराग्नि मुनि उन्हें अग्निहोत्र करने की अनुमति प्रदान न करें तो वे अग्निहोत्र भी नहीं करते थे—

स चाति सृजेज्जुहुयान्न चाति सृजेन्न जुहुयात् (अथर्व. 15/12/3)

वैदिक साहित्य में इन्हें मुनि तथा वैदिकेतर साहित्य में अवधूत, यति, तापस अथवा आजीविक कहा गया है। ऋग्वेद (8/3/9) के 'येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कावमाविथ' तथा अथर्व. (2/5/3) के 'इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न' जैसे संदर्भों से ऋषि और यति परम्परा के विचारकों के पारस्परिक द्वन्द्व और संघर्ष की सूचना मिलती है। इन्द्र के संरक्षण में पोषित प्रस्कण्व के विरुद्ध मुनिचर्या के समर्थक भृगु की संघर्ष के क्षणों में रक्षा इन्हीं योगमार्गी यतियों ने की थी। कालान्तर में भृगु ने इन दोनों परम्पराओं का समन्वय किया और वैदिक ऋषियों ने इन मुनियों को भी सम्मान देना शुरु किया। मुण्डकोपनिषद् में 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' जैसी धारणाओं का समावेश इसी धारा के प्रभाव के कारण संभव हो सका। इसी कारण निर्ग्रन्थ, दिगम्बर, निरग्नि धूलि-धारित तथा स्वच्छन्द जीवनयापन करने वाले साधुओं को आर्यधर्म की परिधि में परिगणित कर लिया गया। इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि ताण्ड्य ब्राह्मण (8/1/4) में बृहद्गिरि नामक यति को इन्द्र द्वारा उसी तरह संरक्षण प्राप्त बताया गया है जैसा कि संरक्षण प्रस्कण्व को मिला था जो शुद्ध याज्ञिक श्रुति परम्परा का पोषक था। यहाँ से वैदिकेतर साधुओं के फलने-फूलने का सिलसिला शुरु हुआ। पुराणों में मुनि या अवधूत परम्परा को अधिक प्रोत्साहन मिला। वेद यदि ऋषि दृष्ट है तो पुराण मुनि दृष्ट। मार्कण्डेय पुराण में आया है कि प्रजापति ने ऋषियों को श्रुति और मुनियों को पुराणों का उपहार दिया। दोनों का पृथक् प्रस्थान है अतः मुनिपरम्परा को पुराणनद्ध समझना चाहिए।

वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जगृहुस्तस्य मानसाः।
पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः।।

मार्कण्डेय. 45/23

यही कारण है कि शिव पुराण की शतरुद्र संहिता के तीसवें अध्याय में शिव के अवधूतेश्वर रूप की कथा कही गई है, जहाँ अवधूत रूपधारी शिव इन्द्र का मान मर्दन करते हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण में ऋषि परम्परा प्राप्त संन्यासियों तथा मुनि परम्परा प्राप्त वातरशना श्रमण मुनियों को एक श्रेणी में स्थान मिला है–

वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमताः ॥11/6/47

भागवत में क्योंकि वैदिक तथा आगमिक परम्पराओं का समन्वय हो गया है अतः दत्तात्रेय के रूप में शैव-वैष्णव अवधूत परम्पराओं का समवेत चित्रण मिलता है। मेरा विचार है कि महाभारत के शांतिपर्व में शम्पाक, मंकि, बोध तथा आजगर वृत्ति के अवधूत का जो उपदेश अध्याय 176, 177, 178 तथा 179 में मिलता है, वह एक ही परम्परा के मुनिचर्या वाले विचारकों का परिचायक है। भागवत में इन चारों मुनियों के उपदेश का समन्वित रूप अवधूतोपाख्यान में मिलता है। मंकि और बोधगीता के उपदेशों की छाया भागवत के दत्तात्रेय संवाद पर स्पष्ट परिलक्षित होती

है। पिगंला, कुररी, वाणनिर्माता, सर्प कुमारी कन्या तथा आजगर वृत्ति के दृष्टान्त महाभारत और भागवत में समान हैं। प्रह्लाद और आज़गर मुनि का संवाद भी दोनों स्थानों पर समान है।

महाभारत के बाद बुद्ध और महावीर ने निर्ग्रन्थ मुनियों की परम्परा का पुनरुद्धार किया। ध्यान सम्प्रदाय तथा वज्रयानी सिद्धों की परम्परा अवधूतों की परम्परा है। पालि त्रिपिटक में यह शब्द परिशुद्ध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'विसुद्धि मग्गो' में आया है–धुतोति धुत किलेसो वा पुग्गलो किलेस़ धुननो वा धम्मो'। तात्पर्य यह कि धूत का अर्थ क्लेशों को नष्ट करने तथा आनन्द की प्राप्ति की साधना करने की चेष्टा है। इन साधकों की गुह्य साधना का विकास गुह्यक समाज तथा तांत्रिक बौद्धमत के रूप में हुआ। 10वीं शती के एक सिद्ध का नाम ही अवधूतीपा या अवधूतपाद मिलता है। इन अवधूतीपा के शिष्य चेलकूपा तथा चेलकूपा के शिष्य कालपा चौरासी सिद्धों की परम्परा के अन्तिम सिद्ध हैं। वीणापा ने हेरुकवीणा के रूपक में यदि सूर्य की तूंबी तथा चन्द्र की ताँत का उल्लेख है तो अनहद की डाँडी और अवधूती की चाकी का भी उल्लेख है। मध्यमा नाड़ी को भी इन्होंने अवधूती नाम दिया है।

सूज लाड ससि लागेलि तान्ती
अणहा दाण्डी चाकि किअत अवधूती।

वीरशैव, शाक्त तथा वैष्णव आगमिक साधनाओं में तुरीयातीत अवस्था के साधक को भी अवधूत कहा गया है। वीरशैवों के ग्रन्थ सिद्धान्त शिखामणि में वर्णाश्रम व्यवस्था विमुख योगी को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है–

वर्णाश्रमसदाचारमार्गनिष्ठा पराङ्मुखः।
सर्वोत्कृष्टं स्वात्मानं पश्यन्योगी तु मोदते ॥15/66

महानिर्वाण तंत्र में अवधूत को परमहंस कोटि का उच्च साधक बताया गया है जो आत्मानन्द स्थित होने के कारण समस्त विधेय तथा वर्जनात्मक स्थितियों से ऊपर हो गया है। कलयुग में अवधूताश्रम को ही संन्यास कहा जाएगा। यहाँ ब्राह्मावधूत और शैवाधूतों की प्रमुख चर्चा है।

अवधूताश्रमो देवि, कलौ संन्यास उच्यते।
विधिना येन कर्त्तव्यस्तत्सर्वं श्रृणु साम्प्रतम्। उल्लास 8/221
ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं भाति मायया,
विचार्यमाणे त्रितये आत्मैवैकोऽवशिष्यते
एतत्ते कथितं ज्ञानं साक्षान्निर्वाणकारणम्
चतुर्विधावधूतानामेतदेवं परं धनम्। 14/140

श्री विद्यारण्य कृत विद्यार्णव तंत्र के सत्रहवें श्वास में शाक्त अवधूत की वीर साधना का उल्लेख है। कौलावली निर्णय में वीर साधना की उत्कृष्टता का निरूपण हुआ है। विद्यार्णव तंत्र में अवधूत की वाम साधना का चित्रण इन शब्दों में हुआ है–

रात्रौ नग्नो मुक्तकेशो मैथुने चापि तत्त्वतः।
प्रजाप्तव्य प्रयत्नेन सर्वकामार्थसिद्धये॥
तावत्कालं जपेन्मंत्रं यावत्शुक्रं न मुंचति ॥

अथर्ववेदीय कुन्ताप सूक्तों में महानग्न पीवर तथा महानग्नी पीवरी का उल्लेख अवधूत और अवधूती मुद्रा की समवेत साधना का संकेत देता है। वैदिक काल से ही अवधूतों की एक परम्परा वाम साधना से जुड़ी प्रतीत होती है। यही कारण है कि भागवत और मार्कण्डेय पुराण की अवधूत परम्परा में कठोर ब्रह्मचर्य युक्त योग साधना और उन्मुक्त यौन विहार पूर्ण योग साधना के संकेत अवधूताचार्य दत्तात्रेय से जुड़े हुए मिलते हैं। शैव-शाक्त अवधूत परम्परा की मुद्रा सेवा साधना भी कभी दत्त सम्प्रदाय का अविभाज्य अंग थी जो बाद में वैष्णव प्रभाव के कारण भागवत में निराकृत होकर शुद्ध रूप में प्रकट हुई। मार्कण्डेय में दत्त को मुद्रायोषिता के साथ उसी तरह संलग्न दिखाया है जैसे बौद्ध तंत्र साधना में प्रज्ञाउपाय या सिद्ध साधना में अवधूत और डोम्बी विहार का चित्रण हुआ है। दत्त मुद्रा-विहार के बाद भी शुद्ध और निष्पाप माने गए हैं–

सत्यमेतत् सुराविद्या ममास्ति समदर्शिनः।
अस्यास्तु योषितः संगादहमुच्छिष्टतां गतः ॥
स्त्रीसंभोगो हि दोषाय सातत्येनोपसेवितः।
एवमुक्तास्ततो देवाः पुनर्वचनमब्रुवन् ॥18/30/31।
अनघेयं द्विजश्रेष्ठ जगन्माता न दुष्यति।
यशांशुमाला सूर्यस्य द्विजचाण्डालसंगिनी ॥18/32।

दत्तात्रेय का मुद्रा-योषिता के साथ रमण कापालिक सम्प्रदाय की चर्चा से सम्बन्धित होने का प्रमाण सूचक है। बौद्ध सहजयान तथा जालंधर कण्हपा या कानुफा का कापालिक सम्प्रदाय इस साधना को सर्वोत्कृष्ट मानता है। अवधूतशाखा की योगिन शाखा इन तीनों साधना धाराओं के मूल में विद्यमान हैं। रामानुज और यामुनाचार्य के साक्ष्य पर डा. वी. एस. पाठक ने 'शैव कल्टस् इन नादर्न इन्डिया' में कापालिकों की छह मुद्रा-साधनाओं का उल्लेख किया है। स्वयं को शिव तथा मुद्रा को शिवा मानते हुए भगासनस्थ रूप में ध्यानरत रहते थे। शक्त्यालिंगित शिव इनके उपास्य थे। हेवज्रतंत्र में 16 वर्ष की वय के हेवज्र को अष्ट योगिनियों से घिरी वज्रवाराही के आलिंगन पाश में निबद्ध चित्रित किया जाता रहा है। सिद्ध सरहपाद तथा कृष्णपाद इसीलिए विहाररत दिखाए गए हैं। हेरुक के साथ प्रयुक्त नाथ और वीर शब्द वामारग के परिचायक हैं। ये दोनों शब्द शैव-शाक्त साधना से लिए गए हैं। मेरा कहना इतना ही है कि मत्स्येन्द्र, जालंधर की मुद्रा साधना व्रजयान की देन न होकर दत्त सम्प्रदाय की योगिनी शाखा का प्रभाव है, जिसका संकेत मार्कण्डेय पुराण में मिलता है। स्वामी त्रिविक्रमतीर्थ द्वारा 9 वीं शती में रचित परानन्द सूत्र में वीर साधना का वर्णन है, जहाँ स्त्री-संसर्ग को अनिवार्य माना गया है–

'यदि योषिद् संसर्गःस्याच्चेदतः समुत्तीर्य येन केनाप्युपायेनोत्तारणकाले कालीबीजं जपेत् श्रावकं श्मशान-कालिक इति श्रावयेदेवं जप्त्वा श्रुत्वा सत्कविः सम्पद्यते'।

वामाचारी साधना का इस देश में प्रवेश मगों द्वारा हुआ। यद्यपि ये सूर्य उपासक थे पर कुल साधना में पारंगत भी थे। तभी तो कुलालिकाम्नायतंत्र में मगों को ब्राह्मणत्व प्रदान किया गया है। कौलाचार साधना मगों से कितनी प्रभावित है, यह अनुसन्धान का विषय है। अवधूत मार्ग से जुड़े चोलीपंथ, करारीपंथ, शीलापंथ, मातापंथ, कुंडापंथ, कुब्जिकापंथ, गुह्यपंथ, अघोरपंथ तथा सुरभंगपंथ जैसे अनेक छोटे-बड़े सम्प्रदाय मध्य युग में उत्पन्न हुए और समाप्त हो गए। 12वीं शती के उत्तरार्ध की रचना 'नित्याह्निक तिलमंत्र' में कुब्जिका पंथ की जानकारी मिलती है। सरभंग सम्प्रदाय की नरमेध जैसी उग्र क्रिया का उल्लेख आठवीं शती के कवि भवभूति की रचना मालतीमाधव में हुआ है। इस मार्ग के साधु नरकपाल में मद्य-मांस का सेवन करते थे, श्मशान में रहते थे तथा वीभत्स उपासना द्वारा अलौकिक सिद्धि पाने में विश्वास रखते थे। इन्हें अवधूत या औघड़ ही कहा जाता था। अघोरपंथ का अवशेष कीनाराम का सरभंग सम्प्रदाय आज भी है जिनके साधुओं को निर्वाणी अवधूत कहा जाता है। सरभंग मत का पुनरुद्धार 1658 वि. के आसपास बाबा किनाराम ने गिरिनार में दत्तात्रेय से प्रेरित होकर काशी के अघोरी बाबा कालूराम से दीक्षा ली। नाथपंथियों के अखड़ भी औघड़ या अवधूत ही कहलाते हैं।

अवधूत सम्प्रदाय के प्रति आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्तानन्द लहरी में 'धन्यः कोऽपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः' कहकर आदर प्रकट किया है। इसका एक विशेष कारण है, अद्वैत साधना के इतिहास में परमहंस अवधूत दत्तात्रेय के विशेष स्थान का होना। अहिर्बुध्न्यसंहिता तथा कृष्णयामल में उन्हें अवतारकोटि का महापुरुष बताया गया है। महाकवि माघ उन्हें 'अविनाशिविग्रह' तथा श्री हर्ष 'अद्वयमयेऽध्वनि सरन्तम्'–अर्थात् अद्वैत पथगामी कहकर अत्यादर देते हैं। महाभारत, उपनिषद्, हरिवंश, भागवत, मार्कण्डेय, विष्णुधर्मोत्तर, ब्रह्मपुराण तथा जाबालोपनिषद् उनकी महिमा से भरे पड़े हैं। सिद्धिप्राप्त होने से उन्हें 'आत्मतीर्थ' भी कहा जाता है। संवर्त, सांकृति, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा तथा रैवतक श्रुति परम्परा के अवधूत हैं। 'पराशर-माधव' के द्वितीय अध्याय के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि ये वास्तव में उन्मादी न होकर भी उन्मादियों की तरह आचरण करते थे– 'अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्ति'। परम्परा यह भी मानती है कि जमदग्नि की मरणान्त क्रिया दत्तात्रेय के आचार्यत्व में ही सम्पन्न हुई थी। अवधूतों का श्मशानवास इसका प्रधान कारण मालूम होता है। संवर्त भी श्मशान साधना से परिचित थे। संवर्त अंगिरा के पुत्र थे तथा 'घोर आंगिरस' होने के कारण तंत्र-क्रियाओं में निपुण थे। चक्रवर्ती राजा मरुत् का यज्ञ भी महायोगी संवर्त ने ही कराया था। नारद परिव्राजकोपनिषत् के शब्दों में ये सब 'तुरीयातीतअवधूत' हैं। आश्वमेधिक पर्व में नारद जी ने मरुत को संवर्त का परिचय देते हुए कहा था कि वह विश्वनाथ पुरी के प्रवेश द्वार पर मुर्दा देखकर यदि लौट पड़ें तो उनके शरणापन्न हो जाना, अवधूतों द्वारा शवसाधना का यह प्राचीन संकेत है। दत्तात्रेय को महाभारतकार ने आजगरमुनि कहा है। भागवत में भी इन्हें आजगरव्रती ही कहा

गया है। आजगर का अर्थ है, अजगर की तरह नियति और यदृच्छा पर निर्भर रहना इसका लक्ष्य है। शान्ति पर्व (179।27) में कहा गया है–

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं,
विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥

अर्थात् यह अजगर सम्बन्धी व्रत मेरे हृदय को सुख देनेवाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदि के मिलने की कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती। अनियत रूप से जो कुछ मिल जाए, उसी से निर्वाह करना होता है। इस व्रत में प्रारब्ध के परिणाम के अनुसार देश और काल का विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्र भाव से इसी व्रत का आचरण करता हूँ। भागवत में प्रह्लाद को उपदेश देते हुए आजगरमुनि अवधूत कहते हैं–

श्रद्धयोपाहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्,
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद् दिवानक्तं यदृच्छया।
क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा
वसेन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम्।

7।13-38,39

एकादश स्कंध में यदु को उपदेश करते हुए अवधूत दत्तात्रेय यदृच्छा का आदर्श अजगर को बताते हैं। यदृच्छा तथा दिष्टभुक् शब्दों का प्रयोग इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त को व्यक्त करता है–

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥
शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्॥11।8।2,3

संत मलूकदास ने 'अजगर करे न चाकरी' जैसी बात अवधूत सम्प्रदाय की धारणा को दृष्टि में रखकर ही की है। यह अजगरव्रत वैराग्य, संतोष और दुष्करतप का सूचक है।

दत्त सम्प्रदाय की इसी सात्विक साधना का प्रभाव नाथ सम्प्रदाय पर पड़ा। गोरख ने 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में अवधूत का वही रूप आदर्श माना है जो उपनिषद्, महाभारत तथा भागवत सम्मत है। मार्कण्डेय की धारा के अवधूत के दर्शन यहाँ नहीं होते।

'यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोतीत्यवधूतः। कम्पनं चालनं देहदैहिकप्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीनचेताः प्रपंचशून्यादिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः'।

–सि. सि. प. 6।1

दत्त जी की सबदियों में अवधूत उपदेश की पूरी झलक है। नाथ-सिद्धों की बानियों में दत्त के उपदेशों का सार सम्मिलित है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ लीजिए–

करम भरम हम ध्याई करते नह क्रम सतगुरु लषाया।
करम भरम का संसा त्यागा सबद अगोचर पाया।
आसा नाम महादुषं निरासा परमं सुखं
आसा निरासा दोऊं त्यागी तव सुषि सोवै पिंगला।

–नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ 58-60

इन पंक्तियों में शान्तिपर्व की बोध्यगीता का 'आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम्। आशा निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिंगला' (178।8) तथा भागवत की अवधूत गीता की 'यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला' (11।8।44) की पूर्ण छाया परिलक्षित होती है। 'करम भरम का संसा त्यागा' शान्तिपर्व के आजगरमुनि के उपदेश 'अपगतफलसंचयः प्रहृष्टो' (179।32) के अनुरूप ही है। कहना यह कि नाथ पंथ में मत्स्येन्द्र दत्त के मुद्रायोषित विहार तथा गोरख दत्त के नैष्कर्म्यवाद से भली-भाँति परिचित हैं। अर्थात् अवधूत सम्प्रदाय की दोनों शाखाओं का प्रभाव नाथ पंथी वाणियों पर स्पष्ट देखा जा सकता है। गोरख और मत्स्येन्द्र दोनों ने ही 'अवधूत' शब्द का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। 'गोरखबोध' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। कबीर आदि संत कवियों के सामने 'अवधूत' इसी परम्परा से आया। कहना यह कि दत्त सम्प्रदाय का प्रतीक पुरुष 'अवधूत' ही नाथ-योगियों के माध्यम से संत साहित्य में आया।

दत्त और गोरष दोनों ने ही लोकोपकार के लिए योग-सिद्धियों का प्रदर्शन किया। ब्राह्मण होते हुए भी दत्त अतिवर्णी थे। गोरख ने भी अतिवर्ण धर्म को अंगीकार किया। दत्त और गोरख दोनों ही त्रिकालदर्शी कवि थे। रसेश्वर सम्प्रदाय की रस साधना से भी दोनों का परिचय ज्ञात होता है। दोनों को निर्भय तरुण की संज्ञा दी गई है।

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥

भा. 11।7।25

बैसतं पूरा रमंति सूरा एकरसि राषंत काया
अंतरि एक रसि देषिवा विचरंति गोरष राया।

गो. वा. सब्दी 183

दत्त मठ या आश्रम बनाकर रहने के विरोध में रहे। क्योंकि वह मुनियों की 'शून्यागारनिकेत' परम्परा के प्रतीक थे।

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥

भाग. 11।9।15

मछींद्रगोरखबोध से भी गाँव के मार्ग अथवा वृक्ष के नीचे योगी के रहने का संकेत मिलता है–

अवधू रहिवा हाटे बाटे रूष विरिष की छाया।
तजिवा कांम क्रोध तृष्णां संसार की माया॥
आपसौं गोष्ठी अनंत विचार,
षंडित निद्रा सुछिम अहार॥

दत्त का कथन है कि मुक्ति के लिए अद्वैत निष्ठा आवश्यक है। जितने भी घट मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में आकाश एक और अखण्ड है, वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूप से सर्वत्र स्थित होने के कारण ब्रह्म सभी में है। साधक को चाहिए कि सूत के मनियों में व्याप्त सूत के समान आत्मा को अखंड तथा असंग समझे।

अन्तर्हितश्च स्थिरजंगमेषु ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसंगमात्मनो मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्।

भा. 11।7।42

गोरख कहते हैं–

अवधू निहचल सो जो न पड़े काया।
त्रिगुन रहत सो गगन समाया।
सहज पद परम निरवांन, सँभलि गोरख ए परवान।
येके सूत्रै प्रोया हार, सँभलि हो गोरष कहूँ विचार।

गो. बो. ज्ञानदीप

सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति में भी आया है–

'एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपः परमेश्वरपरमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे-घटे चित्स्वरूपो तिष्ठति। एवं पिण्ड-संवित्तिर्भवति'। (3।13)

अवधूत को निन्दा-स्तुति से हटकर परम उदासीन होना चाहिए। दत्त और गोरख की मान्यता इस सम्बन्ध में एक है–

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि॥

भा. 7।13।42

कोई न्यदै कोई ब्यंदै कोई करै हमारी आसा
गोरष कहै सुणौं रैं अवधू यह पंथ षरा उदासा।

गोरख सबदी, 126

सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में इसीलिए अवधूत का लक्षण करते हुए कहा गया है–

क्लेशपाशतरंगाणां कृन्तनेन विमुण्डनम्।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥
लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्तकलनोज्झितः।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥
अचिन्त्ये निजदिग्देशे स्वान्तरं वस्तु गच्छति।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥
(6|3,5,12)

अर्थात् जिसने अविद्यादि पाँच क्लेश रूप जाल के वेग का उच्छेद कर त्याग दिया है और बाल-यौवन-वार्धक्य, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति–सभी अवस्थाओं के प्रपंच से मुक्त है, वही अवधूत है। जो इस (क्षणभंगुर) संसार में अपनी आत्म स्थिति में सुदृढ़ है, जो राग-द्वेषादि से मुक्त है, जिसके वस्त्र के लिए कौपीन और हाथ में खर्परमात्र है, वही अवधूत है। जो देश-काल से अतीत परमात्मा से आत्मवस्तु से सम्पन्न है, लोक-दृष्टि में इस तरह जो एक देशस्थ-स्वात्मस्थ है, वही अवधूत है।

अवधूत मत में अद्वितीय पूर्ण पुरुष ने आत्मज्ञान द्वारा अविद्या को पृथक् कर विश्व को स्फुरित किया।

'मुख्यत्वेन प्रजापतिना आत्म स्फुरणेन विश्व कल्पना कृता' अर्थात् प्रधानतः प्रजापति के आत्म-स्वरूप विषयक अज्ञान से ही विश्व की यह कल्पना उत्पन्न है। आत्मा का यह अज्ञान ही अविद्या है, उसी से जीवभाव का आविर्भाव होता है। अवधूत मत जीव को ईश्वर का कल्पित प्रतिबिम्ब मानता है। परमात्मा के सत्य संकल्प होने से उसका कल्पित बिम्ब भी उसी की तरह सत्य है। जीव की सत्यता उसी के समान है। इस समान सत्यता के कारण ईश्वर और जीव दोनों में परस्पर व्यवहार हो सकता है। जैसे ब्रह्म साक्षात्कार सत्य है, वैसे ही बन्ध-मोक्ष भी सत्य है। माया के तिरोभाव के साथ-साथ ईश्वरत्व तिरोहित हो जाता है और अविद्या के तिरोभाव के साथ-साथ जीवत्व की निवृत्ति हो जाती है। ईश्वर की सत्यता माया मात्र है। अतः उसके संकल्प की सत्यता, जीव की सत्यता और अविद्या की सत्यता भी ऐसी ही माया मात्र है। परम सत्य केवल एक ब्रह्म ही उस समय अवशिष्ट रहता है[2]। इस मत के साधक का लक्ष्य ब्रह्म और आत्मा की एकता का सम्पादन करना है। अतः फलगत कोई भेद नहीं है। हाँ, योगमार्गी मनोनिग्रह से तथा सांख्यवादी तत्त्वविवेक से यह फल प्राप्त करता है। सांख्यवादी सत-असत् का विवेक करता है। अवधूत भी एक ओर नित्यानित्य वस्तु का विचार करता है तो दूसरी ओर मन को अन्तर्वृत्तिमय कर बाह्य प्रपंच से पृथक् करता है। इससे सभी दृश्य वस्तुओं का अभाव हो जाता है क्योंकि प्रपंच तो मन का कार्य है पर जब उसे आत्मा का ज्ञान होता है तब वह असंग और सर्वप्रकाशक हो जाता है। आत्मविस्तार ही अवधूत मत का परम लक्ष्य है। शैवाधूतों के लिए कोई काम्य कर्म नहीं रह जाता[3]। प्रह्लाद जी को उपदेश करते हुए स्वयं अवधूत दत्त जी ने जो कुछ कहा, वह अवधूतमत

का दार्शनिक प्रदेय है । उनके मत का सारांश है, जगत् की उत्पत्ति, ह्रास, वृद्धि तथा नाश का कारण प्रकृति है; अतः मैं उनके कारण न हर्षित होता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ । जितने संयोग हैं, उन्हें तुम वियोग में समाप्त होने वाले समझो और जितने संचय हैं, उनका पर्यवसान विनाश में ही जानो । यह सब देखकर मैं तो कहीं अपने मन को नहीं लगाता । असुरराज, पृथ्वी पर जितने स्थावर-जंगम प्राणी हैं, मुझे तो उनकी मृत्यु साफ दिखाई पड़ती है । आकाश में जो छोटे-छोटे तारे विचर रहे हैं, वे भी समय आने पर गिरते देखे जाते हैं । इस प्रकार सब प्राणियों को मृत्यु के अधीन देखकर सब में समान भाव रखते हुए मैं आनन्द से सोता हूँ । यदि अनायास ही मिल जाए तो कभी-कभी खूब भोजन कर लेता हूँ, नहीं तो बहुत दिनों तक बिना खाये हुए ही रह जाता हूँ । मैं कभी तो सन, रेशम और चर्म के वस्त्र पहन कर रह जाता हूँ और कभी बड़े मूल्यवान् वस्त्र धारण करता हूँ । यदि दैववश कोई धर्मानुकूल पदार्थ मुझे प्राप्त होता है तो मैं उसका त्याग नहीं करता और यों किसी दुर्लभ योग की कभी इच्छा नहीं करता । मैं सर्वदा इस अजगरवृत्ति से ही रहता हूँ । कृपण लोग अर्थसंग्रह के लिए निरन्तर भले-बुरे आदमियों की सेवा करते रहते हैं यह देखकर तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रीति-अप्रीति और जीवन-मरण विधाता के हाथ में है, ऐसा जानकर मैंने भय, राग, मोह और अभिमान को त्याग दिया है, धैर्य और बुद्धि को अपनाया है तथा अब मैं पूर्णतया शान्त हो गया हूँ । मेरे सोने-बैठने का कोई नियत स्थान नहीं है, मैं स्वभाव से ही दम, नियम, व्रत और पवित्रता का पालन करता हूँ और किसी प्रकार के फल की आकांक्षा मुझे नहीं है । मूर्ख लोग इस अति दुष्कर तप को ठीक-ठीक नहीं समझते; परन्तु मैं तो इसे सर्वथा निर्दोष और अविनाशी समझता हूँ तथा सब प्रकार के दोष और तृष्णाओं को नष्ट करके मनुष्यों में विचरता रहता हूँ[4] ।

आधुनिक युग में अवधूत सम्प्रदाय दत्त की दोनों परम्पराओं के समन्वय को लेकर चला है, साधना में वह पंचमकारसेवी तथा तत्त्वचिन्तन में अद्वैतवादी है । सरभंग सम्प्रदाय अवधूत मार्ग का पुराना नाम है जो उत्तर विहार में पल्लवित-पुष्पित हुआ । चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर, नेपाल, पटना, शाहाबाद, बलिया, दुमका, असम, बंगाल, गोरखपुर, काशी, मिर्जापुर तथा गाजीपुर में इनके अनेक मठ उपलब्ध हैं । योगेश्वराचार्य की शिष्य परम्परा के राधारमण ने सरभंगी अवधूत के बारे में लिखा है–

सरभंगी साधुनित भजन करत फिरै
भेदाभेद नाहीं मानै नाहीं घिरनात है ।
देह गेह सुधि भूलै बानी की न गम्य रहै,
आत्मा के फुरन को देख हरषात है ।
जात वो बरन कछू चिह्नन धरत वह ।
छने-छने अतुल ही बात को करात है ।

गूँगा के समान वह कहीं तो लरवाई परै
कहीं उन्मत सम अटपट बकात है ॥
गुनातीत निरवसनिक, हो सब विधि सरबज्ञ ।
सो जाने कस भेद नहिं, काहे रहत सो अज्ञ ॥

योगी सम्प्रदाय के अवधूतों की अतिवर्णाश्रमी व्यवस्था ने स्वामी रामानन्द जी को भी प्रभावित किया । 'जात पात पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई' की घोषणा में यह प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । डॉ. राजबली पाण्डेय का कथन है कि वैष्णव सम्प्रदाय में भी अवधूत का महत्त्व है । जब स्वामी रामानन्द ने सामान्य जनों को वैष्णवों में दीक्षित करने के लिए अपने धार्मिक सम्प्रदाय से जातिभेद हटा दिया तब उन्होंने अपने शिष्यों को 'अवधूत' नाम दिया, जिसका अर्थ था कि उन्होंने अपने पुराने रूप को त्याग दिया है, उन्होंने धार्मिक जीवन स्वीकार कर अपनी व्यक्तिगत आदतों को त्याग दिया है और इस प्रकार समाज एवं प्रकृति के बन्धनों को तोड़ दिया है[5] ।

अन्त में कहा जा सकता है कि अवधूत सम्प्रदाय की श्रुति-आगमिक साधना धारा के सूत्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं । बौद्ध, शैव, शाक्त तथा कापालिक साधनाओं ने पृथक्-पृथक् चर्या पद्धति अपनाई पर तत्व-विमर्श की प्रणाली प्रायः सब की एक ही रही । नाथ सम्प्रदाय में नारी संसर्ग रहित साधना का उन्मेष गोरख ने महाभारत और भागवतकार की दृष्टि के अनुरूप किया किन्तु मत्स्येन्द्र तक योषिता संस्पृष्ट दत्त साधना ही प्रधान थी । कपिलायनी भिक्षुओं की सांख्य-योग धारा से महाभारत के अवधूत पूर्ण परिचित और प्रभावित हैं । शैव-नारायणी सम्प्रदाय के उपासकों ने जाबालोपनिषद् नारद परिव्राजकोपनिषद् तथा अवधूत उपनिषद् लिखकर इसी परम्परा को जीवित रखा । गोरखनाथ की अवधूत विषयक धारणा इसी परम्परा का फल है । यौन-यौगिक साधना के जो सूत्र तंत्रग्रन्थों में उपलब्ध हैं, उनका स्रोत मार्कण्डेय आदि ग्रन्थ हैं । इनका विकास मध्यकाल में हुआ पर गोरख और फिर कबीर आदि संतों के प्रबल व्यक्तित्व के कारण ये साधनाएँ तिरोहित ही हो गईं । सरभंग सम्प्रदाय के रूप में इन ह्रासोन्मुख साधनाओं का अवशेष ही विद्यमान हैं ।

●

1. भस्मस्नानभवधूतस्य-नारदपरिव्राजकोपनिषद्
2. भारतीय संस्कृति और साधना\ भाग 1–पं. गोपीनाथ कविराज–पृष्ठ 273
3. शैवावधूतसंस्कारविधूताखिल कर्म्मणः
   नापि दैवे न वा पित्र्येणार्षे कृत्येऽधिकारिता । म. नि. 14।166
4. संक्षिप्त महाभारत–भाग 2–गीता प्रेस गोरखपुर–पृष्ठ 1202
5. हिन्दू धर्मकोश–पृष्ठ 56

शैवागम

डॉ. राजनाथ त्रिपाठी

भारतीय संस्कृति एवं जीवन पद्धति निगम और आगम मूलक है। निगम शब्द वैदिक वाङ्मय का बोधक है तथा आगम-शब्द लोक-परलोक साधक, परमकल्याणकर, सर्वजनसुलभ वेदमार्ग के सदृश ज्ञान मार्ग का बोधक है! आगम अथवा शैवागम शब्द पर्यायवाची हैं इसी का प्रकारान्तर से दूसरा नाम तन्त्र भी है। प्राचीन तन्त्रागम ग्रन्थों में परस्पर दोनों में अभेद मानकर व्यवहार किया गया है। उदाहरणार्थ मृगेन्द्रतन्त्र तथा मृगेन्द्रागम यह दो नाम एक ही ग्रन्थ का मिलता है जो दोनों पाठ्यक्रमों में (तन्त्र-आगम) समान रूप से निर्धारित है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा हृदय, तन्त्रालोक योगिनीहृदय, कामकलाविलास, तन्त्रसार, राजतन्त्र आदि ग्रन्थ भी दोनों पाठ्यक्रमों में सामान्यरूप से प्रतिष्ठित हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि कतिपय व्यक्तियों का यह विचार कि तन्त्र और आगम भिन्न विषयक हैं, सर्वथा निराधार है। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में शैवागमशब्द से तन्त्रागमशास्त्र का सन्दर्भ रूपायित किया गया है। चेतनसत्ता अथवा शिवतासंपन्न होने से ही इसे शैवागम शब्द से अभिहित किया गया है। इस शास्त्र का स्पष्ट उद्देश्य है संकुचित को विकसित करना, अचेतन में भी चैतन्य का बोध, अशिव को भी 'सत्यं शिवं-सुन्दरं' से मण्डित करना और इसकी चरम परिणति में जीवमात्र में शिवत्व का सम्यग् अनुभव कराना। संक्षेप में जीवन में शिवत्व का भाव 'शिवोऽहं' इस भावना के द्वारा सम्पादित करना ही शैवागम का मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्य है। इसीलिए आगम प्रधान साधनायें जैसा कि शैव, गाणपत्य, शाक्त, वैष्णव, सौर, जैन, बौद्ध आदि विभिन्न भेदों अथवा सम्प्रदायों से मण्डित होकर समग्र रूप से आगम नाम से अभिहित होती हैं। इस शास्त्र के साक्षात् उपदेष्टा भगवान् शिव हैं और साक्षात् श्रोत्री भगवती पार्वती हैं। कहीं-कहीं उपद्रेष्ट्री देवी हैं और श्रोता शिव हैं। इस दर्शन के मुख्य विषय हैं व्यापकतत्त्व भगवान् वासुदेव। इस प्रकार लोक और परलोक दोनों के साधन का अनुपम मार्ग आगममार्ग ही है। विशेष कर वर्तमान युग में तन्त्रागम में सबका समान अधिकार होने से इसे युगशास्त्र अथवा युगदर्शन भी कहा जा सकता है।

आगमशब्दार्थ

सामान्य रूप से समस्त ज्ञानराशि के समुच्चय का नाम आगम है। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार सभी शास्त्र शब्दात्मक हैं। अतः अनन्त कोटिशास्त्र शब्दात्मक होकर ज्ञान के आविर्भावक हैं और ज्ञान ही आगम शब्द का मूल है।[1] एक व्याख्या के अनुसार आ उपसर्ग पूर्वक गम् धातु का गत्यर्थ यह है कि सभी तत्त्वों का शिव से अभेद स्थापित करना।[2] यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि

शैव-शाक्त दर्शनकारों ने सामान्यतः कुल छत्तीस तत्त्व स्वीकार किया है। इसमें शिव प्रमुख तत्त्व हैं। उन्हीं से क्रमशः शक्तितत्त्व के माध्यम से शेष तत्त्व प्रसृत होते हैं। इनकी अन्तिम स्थिति पृथ्वीतन्त्र में होती है। इन्हीं तत्त्वों का आरोह-अवरोह क्रम से तात्त्विकज्ञान संपन्न करना ही आगमदर्शन का उद्देश्य है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार आगमशब्द तीन अक्षरों के सन्निवेश का नाम है जिसमें आ='आगतं' ग='गतं' म='मतं' ऐसा तात्पर्य निर्धारित है। इस प्रकार शिव के मुखारविन्द से आया हुआ 'अथवा शक्ति के मुखारविन्द से निर्गत, गिरिजा (शक्ति) के हृदय में सन्निविष्ट अथवा (शिव के हृदय में सन्निविष्ट) और वासुदेव विष्णु द्वारा स्वीकृत मत ही आगम शब्द का बोधक है।[3] चराचर जगत् के समस्त विद्याओं एवं ज्ञान-विज्ञान के मूल अधिष्ठान भगवान् शिव को बताया गया है। सूक्ति भी प्रमाण है कि ज्ञान की इच्छा भगवान् शिव से करे, **'ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्'**। वर्ण समाम्नाय के आदि उपदेष्टा भगवान् शिव को ही स्वीकार किया गया है। रुद्राक्ष शब्द रुद्र की आँख का बोधक है। आँखें तो सबकी हैं किन्तु शिव का एक विलक्षण नेत्र है जो तृतीय नेत्र के रूप में प्रतिष्ठित है। रुद्र का यह नेत्र ललाट पर स्थित है और उससे भी वह देखते हैं। ललाट का नेत्र निश्चय ही मस्तिष्क का सूचक है। दूसरे शब्दों में 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त अक्षर समुदाय 'अक्ष' शब्द से उपदिष्ट है। यही सभी ज्ञान का मूल आधार है। अक्षर न तो क्षीण होता है और न क्षय ही।[4] एक अन्य व्याख्या के अनुसार **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस श्रुति का 'अहं'[5] 'अ' से लेकर हकारपर्यन्त है। इस अहं का आदि प्रवर्तक गुरु शिव हैं। अतः वह ज्ञान के आश्रय हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रकार रुद्राक्ष एक मुख से लेकर अनेक मुख तक पाया जाता है किन्तु उसमें बहुतायत या प्रधानता पञ्चमुख की होती है उसी प्रकार शिव के भी पाँच मुख हैं, चार चारों दिशाओं में तथा एक ऊपर की ओर। इन्हें क्रमशः ईशान-तत्पुरुष-अघोर-वामदेव और सद्योजात नाम से कहा गया है। इन मुखों के विभिन्न दिशाओं से जो उपदेश होते हैं उन्हें आम्नाय नाम से कहा जाता है। इन्हीं आम्नाय भेदों से अनन्त शास्त्रों के प्रतिपादकशास्त्रों का प्राकट्य होता है। अतः आगम को ज्ञानमूलक होना इन्हीं तात्पर्यों से शैवागम के आचार्य कहते आये हैं। आचार्य की परिभाषा भी इसी अर्थ में स्वच्छन्द-तन्त्र में बतायी गई है।[6] व्याकरणागम के प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य भर्तृहरि ने भी आगम की परिभाषा ज्ञानात्मकशास्त्र ही किया है।[7] परममाहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने इ ईश्वर(प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी तथा ईश्वर प्रत्यभिज्ञावृत्तिविमर्शिनी नामक ग्रन्थों में समस्त शैवतत्त्वों का परस्पर शिवमूलकविमर्श ही आगम कहा है। ऐसे ही समस्त दार्शनिकों ने अपने अनुसार प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता बतायी है। उसमें समस्त आस्तिक-दर्शन 'आगम' (शब्द) प्रमाण एक स्वर से स्वीकार करते हैं। जहाँ प्रत्यक्ष-अनुमान उपमान आदि प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि सम्भव नहीं है वहाँ आगम प्रमाण ही इष्ट साधक होता है। और तो और प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु भी आगम प्रमाण के विना प्रतीयमान नहीं होती। उदाहरण के लिए विष या औषधि के प्रत्यक्षदृष्ट होने पर भी चिकित्सक के प्रमाण अथवा प्रत्यय के बिना वह ग्राह्य नहीं होती। ऐसे ही किसी व्यक्ति का नाम किसी व्यक्ति ने जान रक्खा है किन्तु उसे देखा नहीं है।

आवश्यकतानुसार किसी परिचित व्यक्ति के द्वारा शब्द से प्रतिबोधित होने पर ही वह व्यक्ति को पहचान सकता है। इस प्रकार आगम शब्द स्वयं प्रमाण के रूप में भी ग्रहीत होता है।

आगमशब्द ज्ञान का पर्याय है

यह ज्ञान क्या है ? यह क्यों किया जाता है ? इसकी आवश्यकता क्या है ? इसके उत्तर में रौरव और स्वायंम्भुव आगमों के अनुसार अज्ञात को ज्ञात करने के लिए कर्म के बन्धन से मुक्त होने के लिए तथा अनादिमाया मूलक कर्म-मायीय-आणव मलों के अपनोद हेतु अव्यक्त (अदृश्य) शिव ज्ञान का प्रवर्तक होता है।[8] शिव (आत्मा ईश्वर) अव्यक्त है किन्तु वह अष्टमूर्तियों के रूप में अथवा शब्दार्थ रूप से दृश्य हो जाता है। अतः अदृश्य शिव दृश्य (अनुभव योग्य) ज्ञान का प्रवर्तन करता रहता है। यही भाव 'शिवाज्ज्ञानं प्रवर्तते' इस वचन से व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार पौष्करसंहिता में बताया गया है कि—समस्त कारणों का कारण और अदृष्टवैभव परमशान्त शिव से ही नाद के रूप में दुर्लभशास्त्र प्रकट हुये हैं।[9]

आगमदर्शन बैन्दवी सृष्टि मानता है। बिन्दु में विक्षोभ या विस्तार ही नाद शब्द से कहा गया है। विस्तार का पर्यवसान ही बीज है। इस प्रकार शिवशक्ति के सामरस्य से परमबिन्दु की उत्पत्ति होती है और वही बिन्दु (चिदंश) जब स्वाभाविक विस्तार के रूप में क्रियाशील हो जाता है तब वह नाद (चित्-अचित् मिश्रित-अंश) के रूप में प्रयत्न (ज्ञान) परक होकर नाद कहलाता है। नादांश पुनः आगे सृष्टि के क्रम में विवर्धित होता है तब वही विस्तार बीज (अचिदंश) बनकर सृष्टि का कारण बनता है। शैवागम के छत्तीस तत्त्वों के विवेक-क्रम में नाद शब्द 'सदाशिव' का बोधक होता है।[10] यही नाद-तत्त्व वैयाकरणों के यहाँ शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है।[11]

मातृकायें बीज रूप में नादतत्त्व से प्रकट हुई हैं। परमभट्टारकशिव ही इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक जगत् के परम कारण हैं। वह शान्त और अविकार्य हैं किन्तु शैवागम दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार शिव अपनी समवायिनी विमर्शशक्ति से सदा वैसे ही सम्पृक्त हैं जैसे अग्नि से दाहकता और चन्द्र से चन्द्रिका सम्पृक्त है। यही समवायिनी विमर्श शक्ति स्वभावतः इच्छा-शक्ति के नाम से भी अभिहित है। इच्छा-ज्ञान और क्रिया-शक्ति का लीलाविलास ही यह विचित्र सृष्टि है। इसी इच्छा-शक्ति से ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ दूर्वादल के पर्व की भाँति उत्तरोत्तर अग्रसारित हैं। इन्हीं से समस्त चराचर जीव, सभी भुवन और सभी वाङ्मय (शब्दार्थमूलक ज्ञान) निःसृत हैं और अन्त में बीज रूप में वही शक्तिपुञ्ज 'मातृका' के नाम से विख्यात है।[12]

ब्रह्मसूत्रों के श्रीकण्ठभाष्य में समस्त चराचरजगत् के सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रह-अनुग्रह पञ्चकृत्य कारणकोटि में शिव को ही सिद्ध किया गया है और कहा गया है कि अमूर्त और शान्त परमकारणरूप शिवद्वारा ज्ञानरूप समग्र जगत् प्रादुर्भूत हुआ है।[13] स्वतन्त्रशक्तियुक्त शिव ही समस्त ज्ञानलोक का जनक है यह स्वच्छन्दतन्त्र सम्यक् रूप से प्रतिपादित करता है। परम अव्यक्त, अगोचर और शान्त शिव अनुग्रह स्वभाव युक्त होकर नाद तत्त्व (ध्वनि) का रूप धारण करता है। यह क्रिया

ऐसी है जैसे अमूर्त गगन से गम्भीर मेघ-ध्वनि हो जाती है उसी प्रकार शान्त और संवित् स्वरूप शिव से भी शब्दात्मक समस्त ज्ञानराशि प्रादुर्भूत हो जाती है।[14]

शैव-शाक्त दर्शन में मन्त्रों का सर्वाधिक महत्त्व है। मन्त्र मननकर्ता के त्राता तथा अभीष्टदायक हैं। गुरु मन्त्र द्वारा ही शिष्यत्व सम्पादित करता है। ज्ञान का प्रकाशक होने से परम्परया परम-चैतन्यस्वरूप शिव ही परमगुरु है। मन्त्रों के विधान में मातृकाशक्ति प्रथम और चरम संयुक्तशक्ति है क्योंकि मातृका शक्ति-रूपिणी है और शक्ति मन्त्ररूपिणी। मन्त्र वर्णात्मक तथा पदात्मक एवं वाक्यात्मक होते हैं। इस प्रकार मातृका (वर्ण) परम्परया शक्ति एवं शिव स्वरूप होकर समस्त ज्ञान का उपजीव्य होती है और मन्त्रशक्ति का प्रादुर्भाव भी इसी से होता है। इस तथ्य को तन्त्र सद्भाव नामक ग्रन्थ में सविशेष स्पष्ट किया गया है।[15]

शब्दार्थ (ज्ञान) शिवशक्तिमूलक है

जिस प्रकार मन्त्र-देवता और गुरु की त्रिपुटी एक होने पर साधना संपन्न होती है उसी प्रकार ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय के तादात्म्य रूप शब्दार्थ (शिवशक्ति) के ज्ञान से शाब्दबोध होता है। हम यह पहले कह आये हैं कि ज्ञान का पर्याय ही आगम है और आगम के प्रतिपाद्य विषय हैं शिव। यहां एक बात अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। प्रथम यह कि शिव का स्वरूप समस्त मलों के क्षय होने पर स्वयं प्रकाशित होता है। इसमें आवरण भङ्ग होने पर आद्यन्तहीन स्वयंप्रकाश सर्वानुग्राहक परमशिव का ज्ञान स्वरूपबोध रूप होता है और दूसरा शैवागम के शिव-शक्ति शब्दार्थरूप हैं, हम इसी बात को आगे के विवरण में प्रस्तुत करना चाहते हैं। कविकुलगुरु कालिदास रघुवंशमहाकाव्य के प्रारम्भ में अपनी वाणी और अर्थ (काव्य) की सिद्धि हेतु शब्द और अर्थस्वरूप माता पार्वती और पिता परमेश्वर (शिव) की स्तुति करते हैं।[16] ऋग्वेद के वागृम्भिणी ऋषि द्वारा प्राप्त 'वाक्-सूक्त' तो अपने आप में उपर्युक्त तथ्य का एक अनुपम उदाहरण है।[17] इस सूक्त के नव ऋचाओं में जिस वाक् तत्त्व का साक्षात्कार देखा जाता है वह वस्तुतः शैवागम दर्शन का मूलाधार है। ऋषि वाक् को राष्ट्री और वसुओं की संगमनी कहकर समस्त शुभाधायक गुणगणों की धाम उन्हें सिद्ध करते हैं, साथ किसी सफलता या सिद्धि अथवा प्राप्ति तक वाक् को ही स्वीकार करते हैं। ऋषि के इसी आर्षभाव की पुष्टि मार्कण्डेय ऋषि के देवी स्तुति में स्वाहा-स्वधा-वषट्कार-स्वरात्मिका- सुधा-अक्षरा-नित्या-त्रिधा-मात्रात्मिका-स्थिता आदि के रूप में प्रकट हुई है।[18] यह शब्दार्थ- युगलात्मिका पराम्बा वस्तुतः सर्वत्र चैतन्य प्रकाशित करने वाली है। तभी तो वह सभी जीवों में 'चेतनेत्यभिधीयते[19]' अर्थात् चेतना इस नाम से कही जाती है। यह जगत् इसी महा प्रकाश चैतन्यसत्ता से अनुप्राणित है। कोटि-कोटि सूर्यों में उसी का प्रकाश स्फुट हो रहा है। अतः वह वस्तुतः शब्दार्थ-युगलात्मक है, प्रकाश और विमर्श रूप है और है वह जगत् की जनक-जननी पार्वतीपरमेश्वर।

मन्त्रयोग अथवा मन्त्रसाधना में मन्त्र और मन्त्रार्थ (देवता) में तादात्म्य संपन्न कर ही साधना पूर्ण होती है। आन्तर अजपा जप की अधिष्ठात्री पराम्बा चित्स्वरूपा वाक् इच्छाशक्ति से संवलित

होकर ही अर्थतत्त्व के रूप में बाहर प्रकाशित होती रहती है ।[20] तन्त्रागमदर्शन में शब्दार्थ का निर्धारण प्रायः दो रूपों में देखा जाता है । प्रथम क्रम है शब्द-(वाक्) तत्त्व शक्ति रूप है और अर्थ-तत्त्व शिवरूप है । दूसरा क्रम यह है कि स्वर वर्ण शक्ति रूप हैं तथा व्यञ्जनवर्ण शिवरूप हैं । इसीलिए पाणिनीय आदि शिक्षाग्रन्थों में व्यञ्जनवर्णों के स्थान प्रयत्नों के निर्धारण में स्वरवर्ण भी मिले रहते हैं ।[21] साथ ही व्यञ्जन अपने आप में अर्धमात्रिक होने से उच्चरित (सहज से) नहीं होते । अतः शिव को शक्ति का साहचर्य अनिवार्य है । शब्द शक्तिरूप हैं और अर्थ शिव रूप, इसमें अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं । वायवीय संहिता में शब्दमात्र की अधिष्ठात्री शक्ति और आवरणशक्ति युक्त अर्थमात्र के अधिष्ठाता शिव को कहा गया है ।[22] महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इसी क्रम को स्वीकार करते हुए शक्ति का स्वरूप शब्दात्मक माना है ।[23] मार्कण्डेय मुनि ने भी शक्ति को शब्दात्मिका ही कहा है ।[24] तन्त्रागमदर्शन का महान् प्रासाद षट्दलकमल एवं उसके भेदन, कुण्डलिनी शक्ति के जागरण आदि महान् स्तम्भों पर स्थित है । परा-पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियाँ ही क्रमशः वाक् तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं । इसमें परा सबका मूल एवं परम कारण है और उसे शक्ति के नाम से मण्डित किया गया है । अतः शक्ति शब्दरूप में सभी को स्वीकार्य है । अर्थ शब्दगर्भित समस्त चराचर का प्रवृत्ति-निमित्त कारण है तथा अर्थबोध के विना शब्द-प्रयोग निरर्थक है । अतः शब्द प्रयोग के साथ ही अर्थ-प्रत्यय एवं तदनुसार उसकी व्यवहार योग्यता नितान्त आवश्यक है । शैव दर्शन इसी प्रयोग एवं व्यवहार की बात शिव-शक्ति के सामरस्य द्वारा करता है । सामरस्य संपन्न शिव ही अनन्त संख्या युक्त सभी आगमों का प्रवर्तक है ।[25] चित् नाथ (शिव) ही समस्त ज्ञानराशि के अधिष्ठान हैं । उनमें समस्त विश्व की वृत्तियाँ उसी प्रकार प्रतिविम्बित होती हैं जिस प्रकार निर्मल दर्पण में भूमि और जल आदि प्रतिविम्बित होते हैं ।[26] एक ही शब्दार्थ युगल शिव नानार्थक होकर सर्वत्र वैसे ही प्रतिभासित होता है जैसे एक ही सूर्य पृथिवी-जल-पर्वत आदि सभी स्थानों पर एकात्मभाव से प्रकाशित होता रहता है ।[27]

इस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में सर्वत्र चैतन्यसत्ता विद्यमान है और उसकी अभिव्यक्ति शब्दार्थ रूप में निरन्तर हो रही है । शैवागम दर्शन इसी सत्य को निरूपित करता है । इसी परिप्रेक्ष्य में शिव एवं शक्ति की महती दार्शनिकी एवं लौकिकी व्याख्या भी सम्पन्न हो जाती है ।

आगमों का प्रामाण्य

हम यह पहले ही कह आये हैं कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन निगम और आगम मय है । निगम और आगम दोनों शब्द एक ही धातु (गत्यर्थक ज्ञानार्थक गम्) से 'नि' एवं 'आ' उपसर्ग लगाकर बना है किन्तु रूढ़िप्रधान होने से निगम शब्द वेदों का और आगम शब्द समस्त शास्त्रों (ज्ञानराशि) तथा दर्शनों का बोधक होता है । इसीलिए तत्तद्दर्शनों का नाम ही कहीं दर्शन और कहीं आगम इस नाम से मिलता है । उदाहरण के लिए शैवागम, शाक्तागम, वैष्णवागम (समस्त वैष्णव दर्शन) (नारदपाञ्चरात्र) जैनागम, बौद्धागम, सौरागम, व्याकरणागम आदि नाम लिए जा सकते हैं । सभी आगमों के मूल में उनके प्रधान पुरुष (ऋषि) के सूत्र हैं जिन्हें सूत्र-साहित्य नाम से भी कहा जा

सकता है । ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्र तथा भक्तिसूत्र वैष्णवागम के शिवसूत्र शैवागम के तथा
अष्टाध्यायी व्याकरणागम के प्रयोजक हैं । शिवसूत्र का प्रथम सूत्र ही आत्मतत्त्व को चैतन्य[2४]
कहकर शिव को प्रकाशस्वरूप अथवा ज्ञानरूप होने का डिंडिमघोष करता है । वैसे आगम (शैवागम)
स्वतः प्रमाण है । क्योंकि भारतीय मनीषा निगम और आगम को साक्षात्प्रमाण मानती है । प्रमेय की
सिद्धि हेतु प्रमाणों की प्रसूति में आगम (शब्द प्रमाण) स्वयं सर्वमान्य प्रमाण है । यहाँ तक प्रत्यक्ष
दृष्टवस्तु का साक्षात् बोध न होने की स्थिति में शब्द ही प्रमाण है । जैसे किसी ने देवदत्त का नाम
सुना है । निश्चित स्थान पर वह उससे मिलने भी गया है, देवदत्त सम्मुख विद्यमान है किन्तु जिज्ञासु
पूछता है कि यहाँ कौन देवदत्त है । किसी व्यक्ति से शाब्द (आगम) प्रत्यक्ष होने पर ही वह अभीष्ट
व्यक्ति से मिल पाता है । इस प्रकार आगम निगम की भाँति ही स्वयं प्रमाण हैं । जब वैदिकमार्ग
नास्तिकों से आक्रान्त हो गया और आत्मा-ईश्वर के खण्डन में वह नितान्त निमग्न हो गये उसी
समय शैवागम के मूलाधार भगवान् शिव ने रहस्यगुम्फित तथा साधना संपन्न शैवमार्ग का उपदेश
शिवसूत्रों के रूप में हिमालय के शिखर पर लिखकर स्वाप्नी दीक्षा द्वारा महामहेश्वराचार्य वसुगुप्त
(कश्मीरीय) को दिया था । इस प्रकार शैवागम में शिवसूत्र स्वयं प्रमाण हैं ।

शैवागम प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों को कहीं वैशेषिकों की भाँति और कहीं-कहीं मीमांसकों
की भाँति मानता है । यहाँ अनुमान प्रमाण में हेत्वाभासों का वैशिष्ट्य न्याय-दर्शन से भी अधिक
प्रस्तुत हुआ है । इसके लिए 'शैव परिभाषा' आदि ग्रन्थ प्रमाण हैं ।

भारतीय समग्र ज्ञानराशि अथवा वाङ्मय वेदमूलक है । इस तथ्य को हम ऐसे समझ सकते हैं
कि आर्षज्ञान के मूल भारतीय चिन्तनधारा के आदि प्रवर्तक ऋषिगण हैं । इस आर्षज्ञान का मूलाधार
मन्त्रब्राह्मणभाग दोनों मिलाकर वेद कहा गया है । वेद कोई एक वस्तु या ग्रन्थ नहीं है अपितु
विभिन्न कालों, स्थितियों और समाधियों में देखा गया वह प्रकाश-पुञ्ज वेद है जो अनधिगत-
अबाधित-त्रिकालसत्य परम आप्त वचन है । इस प्रकार किसी के मत से वेदों के कर्ता स्वयं ईश्वर
हैं, कोई ईश्वर के निःस्वास को ही वेद मानते हैं, दूसरे लोग ऋषियों के समाधि द्वारा प्राप्त चैतन्य
(ज्ञान) राशि को ही वेद कहते हैं । किसी के विचारों से देश-काल स्थिति आदि के अनुसार अनादि
परम्परा से स्वयं ही वेद प्रकट होते तथा तिरोहित होते रहते हैं । अतः वेद (शब्दराशि) स्वयं
परमेश्वर है आदि-आदि । इस प्रकार वेद ज्ञान का मूल स्रोत है । यह वेद कोई एक ग्रन्थ या रचना
न होकर ऋषियों द्वारा संगृहीत हैं । अतः इन्हें प्रायः संहिता नाम से जाना जाता है । एक अनुश्रुति
के अनुसार द्वापर युग में भगवान् वेदव्यास ने वेद (संहिता) को चार भागों में विभक्त कर उसका
ऋक्-यजुः-साम-अथर्व नाम रक्खा है । इस प्रकार मुख्यतः वेद संहितायें चार मानी गई हैं । भगवान्
पतञ्जलि के महाभाष्य के अनुसार उनके समय तक 1131 शाखायें[29] थी जबकि उन्होंने वेदों की
रक्षा के लिए ही सिद्धान्ततः व्याकरणाध्ययन की उपयोगिता बतायी है ।[30] इस प्रकार एक सहस्र
सामवेद की, इक्कीस ऋग्वेद, एक सौ एक यजुर्वेद तथा नव अथर्ववेद की संहितायें कही गईं है । इन
संहिताओं में संघटित मन्त्र या स्तवन राशि का नाम ही वेद है । इन वेदों के प्रायः एक-एक उपवेद

हैं। इनकी संख्या भी क्रमशः चार हैं और उसका क्रमशः नाम है आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद। इस प्रकार मन्त्रभाग को संहिता कहा गया है। संहिताओं के अर्थभाग का नाम है ब्राह्मणभाग अथवा ब्राह्मणग्रन्थ। इनकी भी उतनी ही संख्या थी जितनी वेदसंहिताओं की। वेद के अन्य भाग का नाम है आरण्यक और उपनिषद्। इनके मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों के आरण्यक और उपनिषद् होते हैं। इस प्रकार अनुमानतः इनकी भी संख्या कम से कम तत्तद् शाखाओं से कम नहीं होगी। अर्थात् कम से कम 1131 आरण्यक और उतनी ही उपनिषदें मानी जायेंगी। अतः वेद-ब्राह्मण आरण्यक-उपनिषद्-उपवेदों के अनन्तर इस धारा में क्रम माना गया है वेदाङ्ग का। यह वेदाङ्ग शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्यौतिष भेद से छः प्रकार का होता है। इसीलिए ब्राह्मण के कर्तव्य निर्धारण में कहा गया है कि ब्राह्मण को अपना कर्तव्य समझकर अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए।[31] वैदिक वाङ्मय के सन्दर्भ में वेदाङ्गों के अनन्तर ही वेदों के उपाङ्ग हैं जिनकी कुल संख्या चार है, जो क्रमशः पुराण न्याय-मीमांसा और धर्मशास्त्र नाम से विख्यात हैं। यहाँ पुराणशब्द से ही उपपुराण-औपपुराण-तन्त्रागम ग्रन्थ, रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ गृहीत हैं। न्याय से न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य योगदर्शन गृहीत हैं। मीमांसा-शब्द से पूर्वमीमांसा में मीमांसा दर्शन, कर्ममीमांसा, दैवतमीमांसा, तथा उत्तर मीमांसा से वेदान्तदर्शन अर्थात् न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त यह षड्दर्शन संगृहीत होते हैं। चतुर्थ वेद के उपाङ्ग में धर्मशास्त्र माना गया है। इसी से धर्मसूत्रग्रन्थ तथा सभी स्मृतिग्रन्थ संकलित किये गये हैं।

इस प्रकार समस्त वैदिक वाङ्मय के स्वरूप को सामने रखने पर तन्त्रागम की स्थिति वेदों के उपाङ्गों में सिद्ध होती है और साथ ही वेदमूलकतत्त्व भी इन शास्त्रों का सिद्ध हो जाता है। अतः आगम वैसे प्रमाण हैं जैसे वेद अथवा वेदाङ्ग। वैदिक परम्परा से तन्त्रागमदर्शन का स्वरूप विवेचित कर हम उसके दूसरे पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। वेदों में शिव को रुद्रशब्द से प्रायः उपस्थापित किया गया है। ऋग्वेद में रुद्र का तीन ही सूक्त समग्र एवं परिपूर्णरूप से प्राप्त होते हैं। पहला प्रथम[32]मण्डल में दूसरा द्वितीय[33]मण्डल में तथा तीसरा सप्तम[34]मण्डल में इसके अतिरिक्त कहीं रुद्र और सोम की एक साथ तो कहीं अन्य मरुत-पूषा-अग्नि आदि के साथ स्तुतियाँ मिलती हैं। ऋक्संहिता के पञ्चम मण्डल में रुद्र के विविध स्वरूप का परिचय मिलता है। इसमें उसे कहीं संहारक रूप में तो कहीं रक्षक रूप में प्रदर्शित किया गया है।[35]

यजुर्वेद में विपुल मात्रा में रुद्रस्तवन हुआ है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तीरीय संहिता में रुद्र की अनेक स्तुतियाँ विद्यमान हैं। यहां पर कहीं रुद्र की अग्नि के साथ, कहीं सूर्य, कहीं त्र्यम्बक होम द्वारा, कहीं शतरुद्रीयरूप से, कहीं शिव, पशुपति आदि रूप में स्तुतियाँ की गई हैं।[36]

त्र्यम्बकहोमविषयक स्तवन तैत्तिरीय संहिता के प्रथमकाण्ड में रुद्र को पशुपति पिनाकपाणि और कृत्तिवास कहकर हुआ है। जैसे—'**पशूनां शर्मासि शर्म मे यच्छक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ। अवतद्धन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः**' इत्यादि। एक स्तुति में रुद्र की सर्वविधित्राण-धान्य-संतति आदि के लिए रुद्र

की स्तुति देखी जाती है ।[37] इसी प्रकार रुद्र के व्यापक एवं विविध रूपों का यजुर्वेद संहिताओं मं विशिष्ट रूप से वर्णन हुआ है ।

अथर्ववेद में भी रुद्र के विविध रूपों का सम्यक् वर्णन देखा जाता है । एक मन्त्र में रुद्र की प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे रुद्र ! तुम्हारे पास औषधियाँ हैं, आपकी शिखायें नीलवर्ण हैं, आप ही समस्त कर्मों को सम्पादित करते हैं । हे रुद्र ! तुम प्रतिपाश होकर प्राशों का नाश करो । हे औषध स्वरूप देव ! उन समस्त विषों को नष्ट करो ।[38] अथर्ववेद में रुद्र का पुरुष स्वरूप ऋग्वेदीय 'पुरुषसूक्त' से अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में मिलता है । ऐसे एक मन्त्र में समस्त भूत-प्रेत-पिशाचादिकों से रक्षा हेतु रुद्र की स्तुति की गई है । भूतादि गण रुद्र के ही सहयोगी एवं सहचर हैं । अतः इसी रूप में रुद्र की स्तुति सम्पन्न हुई है ।[39]

इस प्रकार इन वैदिक रुद्र सूक्तों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वैदिक रुद्र एक ऐसा देवता है जिसको समस्त संसार एकमत से प्रमाण मानता है और अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलापों में उसकी आवश्यकता प्रतीत करता है । इन्हीं तथ्यों के कारण सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रह-अनुग्रह के कारण परवर्तिकाल में महादेव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है और समस्त आगमों का साक्षात् उपदेष्टा है ।

वैदिक रुद्र ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, रामायण, महाभारत, पुराण, काव्यादि परम्परा से होता हुआ आगम दर्शन का शिव बनता है । जैमिनीय ब्राह्मण के एक प्रसङ्ग में समस्त देवताओं से रुद्र का अधिक महत्त्व बताया गया है । इसका कारण यह बताया है कि अन्य देवगण यज्ञीय नियमों के अधीन होते हैं किन्तु रुद्र उसके अधीन नहीं होता । इसीलिए रुद्र ब्रह्मदण्ड देने में सर्वथा समर्थ है।[40]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में रुद्र की महती स्तुतियाँ हैं । यहाँ पर यह तृतीय अध्याय के द्वितीय मन्त्र से प्रारम्भ कर ग्यारहवें मन्त्र तक चमत्कृत रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[41] बौधायन धर्मसूत्र में भी भव, शिव, ईशान, पशुपति आदि आदरणीय नामों से शिव का तर्पण प्रस्तुत हुआ है ।[42] इस प्रकार अविच्छिन्न परम्परा से वेदों से लेकर काव्यों तक शिव समस्त विश्व अधिष्ठान और सर्व कुछ कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ माना गया । गोस्वामी तुलसीदास ने तो अपनी अमर रचना रामचरित मानस में शिव को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए **'भावी मेटि सकहिं त्रिपुरारी'** ऐसा कहा है ।

शैवागम का साधना-पथ सर्वसाधारण को अपनी क्षमता के अनुसार स्वल्पकाल में अपने निःश्रेयस् की प्राप्ति कराता है । यह स्पष्ट है कि तन्त्रागममार्ग परलोकसाधन के साथ ही इहलोक साधन का भी मार्गदर्शन करता है ।[43]यही इसका परम वैशिष्ट्य है । तन्त्रागम में लोक-परलोक, सृष्टि-प्रलय तथा सगुण एवं निर्गुण से सम्बद्ध शुद्ध दार्शनिक तत्त्व निबद्ध किये गये हैं । निगम (वेद) और आगम (दर्शन) के स्रष्टा एक मात्र परमेश्वर ही हैं । अतः निगम जिस प्रकार स्वतः प्रमाण हैं आगम भी उसी प्रकार ईश्वर प्रोक्त होने से स्वतः प्रमाण है । वेदों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'** अर्थात् मन्त्रों के द्रष्टा ऋषिगण हैं । अर्थात् मन्त्र अनादि हैं, कालक्रम

से ऋषिगण समाधि द्वारा उनका साक्षात्कार करते हैं। आगमों के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त है कि आगम वचन अनादिकालिक हैं। कालक्रम से शिव या ऋषि उन्हें स्मरणमात्र करा देते हैं। **'शिवादि-ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः'** ।

मीमांसकों ने वेद प्रामाण्य के लिए इयत्ता निर्धारित करते हुए कहा है कि **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** अर्थात् संहिता और ब्राह्मणभागदोनों वेद हैं। मीमांसकों की भाँति ही तन्त्रप्रवक्ता भी ऐसी ही बात कहते हैं कि **'अविगीता प्रसिद्धिरागमः'** अर्थात् गुप्त अथवा प्रकट रूप से जिस बात की प्रसिद्धि है वही आगम है।[44] इस प्रकार की प्रसिद्धि ही आगम है और वह स्वयं प्रमाण है।

त्रिपुरारहस्य में आगम को स्वयं प्रमाण मानकर वेद को भी आगम शब्द से कहा है तथा शब्दराशि को भी आगम कहा है।[45] आचार्य अभिनव गुप्त ने आगमों को सर्वथा प्रमाण मानकर भगवान् शिव का उसे प्रकाश स्वीकार किया है।[46] उन्होंने कहीं-कहीं समस्त विद्याओं की जन्मभूमि ही आगमों को माना है। श्रुतियों का निर्धारण दो प्रकार से किया गया है। पहली श्रुति है वैदिक संहितायें तथा ब्राह्मण-उपनिषद् आदि, यह स्वयं प्रमाण हैं। दूसरी श्रुति प्रामाण्य के तान्त्रिक अथवा आगमिक हैं। इस तथ्य को मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने स्वयं स्वीकार किया है।[47] इस प्रकार आगम ही सभी विद्याओं के मूल स्रोत हैं। भारतीय धारणा कि ज्ञान की प्राप्ति भगवान् शिव की कृपा से ही संभव है,[48] इसी भाव की पोषक है। महर्षि हारीत आगम को पंचम वेद और कौलसम्प्रदाय को पञ्चमाश्रय का डिंडिमघोष करते[49] हैं। इस प्रकार सम्प्रदाय के साक्षात् सुरक्षित रहने पर अनवच्छिन्न परम्परा के कारण आगम भी निगम (वेद) की भाँति ही परमप्रमाण है। इसी पक्ष को आचार्य महामहेश्वर अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया है।[50]

भगवान् महेश्वर का आवृत (अव्यक्त) स्वरूप बोध द्वारा ही अनावृत होता है। वह बोध है व्यक्त अष्टमूर्तियों का तात्त्विक ज्ञान। शब्दार्थतत्त्व का रहस्य ज्ञान ही बोध रूप है। इस तत्त्व को जानते ही शिवतत्त्व अथवा आगमतत्त्व का ज्ञान तथा प्रमाण दोनों सिद्ध हो जाते हैं कहा भी है–

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥[51]

तन्त्रागमदर्शन में यह स्पष्ट कहा गया है कि यह शास्त्र रहस्यगर्भित, गुह्य और सार है। इसके परम तत्त्व शिवशक्ति अथवा शिवशक्ति का सामरस्य है। अतः प्रमेय की सिद्धि हेतु प्रमाण भी जिससे प्रमाणित होता है, अचेतन भी जिससे चेतन हो जाता है और भोगी भी योगी, रंक भी राजा, मरने वाला भी अमर और अज्ञानी भी ज्ञानी हो जाता है, वह सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् स्वयं प्रकाश शिव अपने आपमें प्रमाण है। यहाँ तक कि प्रमाण भी उसी से प्रमाणित होते हैं। अतः अव्यय, अनुपमेय, सूक्ष्म, कारण के कारण, व्याप्त, सर्वमत, अव्यय शिव के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वयं प्रमाण है।[52]

इस प्रकार ऐसी ही स्थिति में हमें कविकुलगुरु कालिदास की यह बात स्मरण रखने योग्य है कि–हे परमेश्वर ! तुम्हें पाने के लिए ही अनेकों सिद्धि के मार्ग (आगम आदि) कहे गये हैं। यह

वैसा ही है जैसे समस्त नदियों का जल गंगा में होता हुआ समुद्र में मिल जाता है।[53] अतः तुम्हारा स्वयं प्रामाण्य है। इसी प्रकार की उक्ति शिवमहिम्न स्तोत्र[54] में तथा वीरमित्रोदय[55]काव्य में भी की गई है। **'प्रसिद्धिमागमः प्राप्तो लोक इत्यभिधीयते'** (मृगेन्द्र-तं. विद्यापाद-1/14) इस उक्ति द्वारा मृगेन्द्रतन्त्र में भी वैदिकसिद्धान्त ही कालक्रम से लोक में आगमशब्द से प्रसिद्ध होना स्वीकार किया गया है। यह बात पृथक् है कि भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर द्वारा जब वैदिक कर्मकाण्डमार्ग की अवहेलना की गई उस समय तन्त्रागमसिद्धान्त ही एक ऐसा वेदमूलक भारतीय मार्ग था जो बौद्ध एवं जैनधर्म से न केवल लोहा ही अपितु उन धर्मों पर अपना पूर्ण प्रभाव भी स्थापित किया है। इसका सहज उदाहरण शाक्तागम का विद्यापाद, चर्यापाद, योगपाद एवं क्रियापाद है। इन्हीं पादों अथवा चरणों के माध्यम से तन्त्रागमदर्शन के सिद्धान्त निरूपित हैं। यह क्रम बौद्धागम तथा जैनागम में भी इसी नाम से अपनाया गया है। आगम के रहस्यविद् इस तथ्य से पूर्णतः विज्ञ हैं। इसी तथ्य की पुष्टि पुराणों एवं महाभारत से भी होती है। वैदिक कर्मकाण्ड के स्थान पर अजपाजप के माध्यम से विलक्षणभक्तिमार्ग का जो सोपान आगमदर्शन ने बनाया ठीक वैसा ही बौद्ध तथा जैनागम के आचार्यों ने भी नामभेद से स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् डॉ. ईलियट महोदय (यह कलकत्ता में रहकर तन्त्रागमदर्शन के उद्धार का कार्य किये हैं तथा इनका इस शास्त्र के प्रति विशेष आकर्षण रहा है) यद्यपि अपने ग्रन्थ[56] में तन्त्रागमसाहित्य को रामायण-महाभारत और पुराणों के पश्चात् कालक्रम निर्धारित कर स्थान निर्धारित करते हैं किन्तु रामायण-महाभारत तथा पुराणों में प्राचीनागमसिद्धान्त ही बहुधा निबद्ध हैं जिससे इसका इनसे परवर्ति होना कभी भी नहीं सिद्ध हो सकता। अतः इन समस्त तथ्यों को सम्मुख रखकर यह दृढ़ता से कहा जा सकता है कि आगमदर्शन स्वयं प्रमाण होते हुए भी प्रायः वैदिक सर्वात्मवाद को ही स्वीकार करता है। इस आधार पर समन्वयात्मिका दृष्टि का समुचित पालक होने के कारण ही तन्त्रागम युगशास्त्र है और इस मार्ग की सबसे अधिक आवश्यकता कलियुग के लिये बताई गई है।[57] मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति का भी यही सन्देश है।

शैवागम का विषय

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आगमशब्द सम्प्रति योगरूढ़ अथवा रूढ़ हो गया है। अतः जब हम शैवागमशब्द का उच्चारण करते हैं तब यह सहज ही भान हो जाता है कि शिव शैव आगम ज्ञान। अर्थात् शिवतत्त्व का ज्ञान। शिवतत्त्व के ज्ञान कराने में जो शास्त्र उपयोगी है उसका नाम है शैवागम। शिव-शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध होने से शक्तितत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र ही शाक्तागम कहलाया। इस प्रकार शिवशक्ति के प्रकाशक तत्त्व ग्रन्थ और सिद्धान्त के द्वारा आगमशास्त्र में प्रतिपादित हैं।

शैवागम तथा शाक्तागम में मूलतः तत्त्वों का ज्ञान कराया गया है। यह तत्त्व संख्या में छत्तीस हैं। कहीं-कहीं यह तत्त्व सैंतीस की संख्या में भी उपदिष्ट हैं। इनका नाम क्रमश है–शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, विद्या (अविद्या), राग, काल, नियति, कला, पुरुष, प्रकृति,

अहंतत्त्व (अहंकार), बुद्धितत्त्व, मन (संकल्प-विकल्प) दश-इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-त्वक्), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ), शब्द-रस-रूप-स्पर्श और गन्ध यह पञ्च-तन्मात्रायें तथा आकाश, जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी यह पञ्चमहाभूत सभी संकलित होकर कुल छत्तीस (36) तत्त्व शैवागम अथवा तन्त्रागम दर्शन में स्वीकृत हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन के कुछ आचार्यों ने परमशिव अथवा शिवभट्टारक नाम से एक स्वतन्त्र परमतत्त्व मानकर कुल सैंतीस (37) तत्त्व स्वीकार किया है। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य रहस्य यह है कि सांख्य दर्शन भी पच्चीस तत्त्व मानकर अपने दर्शन का प्रासाद बनाया है किन्तु उन पच्चीस तत्त्वों के निर्धारण में शैवागमदर्शन की अपनी विशेषता है। सांख्य दर्शन ने प्रकृति की प्रथम विकृति महत्तत्व (बुद्धि) को स्वीकार किया है किन्तु शैवदर्शन प्रकृति के पश्चात् अहंतत्त्व (अहंकार) को पहले स्वीकार करता है। इसका कारण है कि जीव तो मूल रूप में अत्यन्त विस्तृत है किन्तु प्रस्थान भेद से अवरोह क्रम में वह संकुचित होते हुए अहंकार में प्रवृत्त होकर किञ्चित् ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व का भाजन हो जाता है। व्यापक व्याप्य होकर रह जाता है। शरीर भेद एवं क्रियाभेद इसके अनन्तर होते रहते हैं। इस प्रकार तत्त्वदर्शन की मौलिकता पर आधारित होने के कारण शैव-शाक्त दर्शन को तत्त्वदर्शन भी कह सकते हैं।

शैवदर्शन के अनेकों भेद हैं। आम्नाय भेदों की चर्चा ऊपर की गई है। अतः कहीं अद्वैत, कहीं द्वैत, कहीं द्वैताद्वैत आदि भेद माने गये हैं। शिवशक्ति-यामल यह तीन आधार पृथक् अथवा समन्वित रूप से स्वीकार किये गये हैं। त्रिक्, सिद्धान्त-शैव, नकुलीश-पाशुपत (लिङ्गायत-वीरशैव) प्रत्यभिज्ञा, स्पन्दशैव आदि भेदों से युक्त होकर शैवदर्शन कुल-क्रम और समयाचार की त्रिवेणी में निबद्ध है। सप्तप्रमाता और त्रिविधमल इसके आवश्यक कर्तव्य हैं। उपायों के साधन से साध्य तक पहुँचने का प्रशस्तमार्ग शैवदर्शन की अपनी विशेषता है। प्रकाश और विमर्श तथा इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियाँ इसके लक्ष्य के दृढ़ सोपान हैं। विद्या-चर्या-क्रिया-योग इन चारपादों से शैव-शाक्तागम निरन्तर गतिमान है। इस प्रकार तत्त्वदृष्टि रखकर यह दर्शन सतत रूप से लोक और परलोक का एक ही साथ सम्यक् साधक है।

साधनाप्रधान शैव-शाक्तागम भक्तिमार्ग का भी चरम उत्कर्ष है। यहाँ बाह्य पूजा के साथ ही आभ्यन्तरोपासन सम्यक् रूप से निरूपित है। मानस जप अथवा अजपा जप का यहाँ महान् आदर है। यहाँ प्रत्येक मातृका अथवा मातृका समूह से अनन्त कोटि विश्व वैभव समुल्लसित हो रहा है। इसी क्रम में श्रीमहाविद्याक्रम के अनुसार छत्तीस तत्त्व विभिन्न मातृकाओं से उत्पन्न हैं। जैसे—अं से शिव, कं से शक्ति, खं से सदाशिव, गं से ईश्वर, घं से शुद्धविद्या, ङं. से माया, चं से कला, छं से अविद्या, जं से राग, झं से काल, ञं से नियति, टं से पुरुष, ठं से प्रकृति, डं से अहंकार, ढं से बुद्धि, णं से मन, तं से श्रोत्र, थं से त्वक्, दं से चक्षु, धं से जिह्वा, नं से घ्राण, पं. वाक्, फं से पाणि, बं से पाद, भं से पायु, मं से उपस्थ, यं से शब्द, रं से स्पर्श, लं से रूप, वं से रस, शं. गन्ध, षं से आकाश, सं से वायु, हं से अग्नि, ळं से सलिल और क्षं से भूमि-तत्त्व उत्पन्न हुये हैं। इस प्रकार सूक्ष्म शैवाङ्गों

(अक्षरों) से यह सृष्टि वितान सुसमृद्ध है। इसी क्रम से वर्ष, अयन, मास, पक्ष, तिथि, दिन, योग, करण आदि भी उत्पन्न हुये हैं। साधना की भूमि में प्रतिष्ठित साधक को इसका सहज बोध होने लगता है। मृगेन्द्रागम का शब्दमात्रात्मक (मूलक) देववाद **'शब्दमात्रं हि देवताः'** इसी परिणाम का उद्घोष है।

परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा से इदन्ता और अहन्ता मूलकतत्त्वों का विस्तार एवं संकोच, अवरोह-आरोह, प्रसार-आकुञ्चन आदि होता रहता है। सृष्टिक्रम में सूक्ष्म (अव्यक्त) तत्त्वों का प्रसार स्थूल तत्त्वों तक इदन्ता भाव से और लय क्रम में स्थूल तत्त्वों का उपसंहार सूक्ष्मतत्त्वों में अहन्ता क्रम से निरन्तर हो रहा है। इन तत्त्वों का यह क्रमज्ञान ही बोधावस्था अथवा चौतन्यप्राप्ति है, चिति की चरम स्थिति है। विवेकारूढ़ होकर साधनसंपन्न जीव परमतुष्टि पाकर **'शिवोऽहं, भैरवोऽहं'** में पुष्ट हो जाता है। शैवदर्शन का यही विमर्श समस्त दार्शनिकों, ज्ञानियों, योगियों और अवधूतों के लिए परम पाथेय है।

यह महान् कार्य गुरु की कृपा के विना असम्भव है। अतः शैव-शाक्त दर्शन के महान् प्रासाद के तुङ्गशिखर पर आरोहण तभी सम्भव है जब उपर्युक्त गुरु की कृपा हो। गुरु अज्ञान का नाशक और तत्त्व का प्रकाशक[58] है। गुरु का स्नेहभाजन हुये विना समस्त सिद्धियाँ अथवा उनकी प्राप्ति दिवास्वप्न है। परमकृपालु गुरु अज्ञानध्वान्त का संहार कर ज्ञान-स्वरूप आगम का बोध अथवा शक्तिपात के द्वारा अनुकम्प्य शिष्य के लिए सुलभ कर उसे कृतकृत्य कर देता है। आज इस महिमा की अवहेलना से विश्वगुरु भारतवर्ष का उत्कर्ष अवरुद्ध है। ज्ञानदीप का प्रकाशक प्रकाशस्वरूप गुरु और गुरुत्व की अवधारणा का क्षेत्र विमर्श (शक्तितत्व) की ज्ञान-मीमांसा के साथ हम अपने भावों को यहीं विराम देते हैं। 'इति शिवम्' ॥

●

---

1. आगमो ज्ञानमित्युक्तं ह्यनन्ताः शास्त्रकोटयः।
   शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं........... ॥ (स्व. तं. ४/३४)।
2. 'आ समन्ताद् गमयति अभेदेन शिवादिधरण्यन्तं पारमेशं
   स्वरूपं विमृशति' इत्यागमः। (स्वच्छन्दतन्त्र)।
3. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजानने।
   मतं हि वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥ (रुद्रयामल का वचन)
4. न क्षीयते न क्षरतीत्यक्षरम्। (महाभाष्य-पस्पशाह्निक भगवान् पतञ्जलि)
5. माहेश्वर सूत्रों में कुल 14 सूत्र हैं जिन्हें डमरू के ध्वनि से निःसृत माना जाता है। इसमें अइउण् के अकार से लेकर हल् सूत्र के हकार तक सभी अक्षर कहे गये हैं। इन्हें ही प्रत्याहार की संज्ञा में 'अहं' नाम से कहा गया है।
6. एवं आचरते यस्तु आचारन्तु शिवात्मकम्।
   शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन उच्यते ॥ (स्वच्छन्दतन्त्र चतुर्थ पटल)

7. चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन विद्यते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥ (वाक्यपदीय-1/41)
8. अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये ।
अव्यक्ते च शिवत्वस्य शिवाज्ज्ञानं प्रवर्तते ॥
9. अदृष्टविभवाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
नादरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥ (पौष्कर-संहिता)
10. सदाशिवोऽपि भगवान् नादरूपतयाऽऽगतम् ।
षट्पदार्थमयं ज्ञानं .... ॥ इत्यादिः । (आगमवचनम्)
11. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ (वाक्यपदीयम् 1/1)
12. अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात् ।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया ॥
तयोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश ।
वाङ्मयं चैव यत्किञ्चित् तत्सर्वं मातृकोद्भवम् ॥ इति । (कूलमूलावतार का वचन)
13. अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् !
ज्ञानरूपं विनिष्क्रान्तमनवच्छदनं महत् ॥ (श्रीकण्ठभाष्य)
14. अदृष्टविभवाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम् ।
अमूर्ताद् गगनाद्यद्वन्निर्घातो जायते महान् ।
शान्तात् संविन्मयत्वाच्च तद्वच्छब्दाख्यं शास्त्रम् ॥ (स्वच्छन्दतन्त्र)
15. सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये ।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥ (तन्त्रसद्भाव)
(द्रष्टव्य–नित्याषोडशिकार्णव की भूमिका पृ. 62, आचार्य पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी)।
16. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ (रघुवंश महाकाव्य 1/1)
17. अहं रुद्रेभिः वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभाविभर्म्यहमिन्द्राग्नीमहमश्विनोभा ॥ (ऋग्वेद–वाक्सूक्त)
18. त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता ॥ (दुर्गासप्तशती, 1-73)
19. दुर्गासप्तशती–(5-78)
20. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादनमर्थजातं प्रकाशते ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में उद्धृत वचन, 1/5/7)
21. जैसे–अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः ॥ (सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञाप्रकरण ।
22. शब्दजातमशेषं तु धत्ते शङ्करवल्लभा ।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥ (वायवीय संहिता का वचन)
शक्त्यादि च पृथिव्यन्ते शिवतत्त्वसमुद्भवम् ।
तेनैकेन तु तद्व्याप्तं मृदा कुम्भादिकं यथा ॥
परास्य विविधाः शक्तिः प्रबोधानन्दरूपिणी ।
एकानेकस्वरूपेण भाति भानोरिव प्रभा ॥ (वायुसंहितावचनम्)

23. तव च का किल न स्तुतिरम्बिके, सकलशब्दमयी किल ते तनुः ॥
(अभिनवगुप्त)
24. शब्दात्मिका सुविमलर्ग्युषान्निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ॥ (दुर्गासप्तशती, 4/10)
25. दशबाहुश्चतुर्बाहुर्द्विबाहुश्चैकबाहुकः ।
लोकागमादि वक्ताऽसौ देवदेवः सदाशिवः ।
परापरविभागेन प्रोवाचासंख्यमागमम् ॥ (स्वच्छन्दतन्त्र)
26. निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥ (अभिनवगुप्त तन्त्रालोक 3-4)
27. यद्वद्दिनकर एको विभाति सलिलाशयेषु सर्वेषु ।
तद्वत्सकलोपाधिष्ववस्थितो भाति परमात्मा ॥
(वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, बौ. नि. में परमार्थसारतन्त्र का उद्धृत वचन पृ. 284)
यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥
(स्पन्दप्रदीपिका–2)
28. चैतन्यमाला–(शिवसूत्र-१) । यह विषय वरदराज के शिव सूत्र व्याख्यान में द्रष्टव्य है ।
29. सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिर्ब्राह्वृच्यम् , एकशतमध्वयुः, नवधा अथर्वणः इति । (महाभाष्य-पस्पशाह्निक)
30. रक्षोहागमलघ्वसंदेहा व्याकरणम् । (वही) ।
31. ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥ (उपनिषद्वाक्य)
32. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहेमतीः ।
यथाशमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥
(ऋ. सं. 1/114/11)
33. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः ।
अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥ इत्यादि ।
(तत्रैव–2/33/1)
34. इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाम्ने ।
अषालहाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता श्रृणोतु नः ॥
(तत्रैव–7/47/1)
35. तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य ।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ॥
(तत्रैव–5/42/11)
36. मा वः स्तेन ईशत् माऽघशंसो रुद्रस्य हेतिः परिणो वृणक्तु ।
ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात् बह्वीर्यज़मानस्य पशून् पाहि ॥
(कृ. यजु. तैत्तिरीय सं.)
37. शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः । निवर्तयाम्य आयुषे अन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय–(वाजसनेयिसंहिता–३/६३)
38. रुद्र जलाष-भेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत ।
प्राशं प्रतिप्राशो जहि अरसान् कृणु ओषधे ॥ (अथ. सं. 2/27/6)

39. रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचा पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः ।
वीरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत् ॥ इत्यादि
(अ. सं. 6/32/2)

40. जै. ब्रा.-(3/269 तः 63 पर्यन्त) ।

41. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य-
इमाँल्लोकान् ईशत ईशनीभिः ।
प्रत्यञ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृत्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ (श्वे. उ. 3/2/3) ।

42. ॐ भवं देवं तर्पयामि, शिवं देवं तर्पयामि, ॐ ईशानं
देवं तर्पयामि, ॐ पशुपतिं देवं तर्पयामि (बौ. ध. सू.-2/5/6)

43. यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।
श्रीशिवाम्भोज (श्रीसुन्दरी) युगार्चकानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥
(शाक्ता. तर.-3/57)

44. प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः ।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः ॥
प्रसिद्धिरविगीता हि सत्या वागीश्वरी मता ।
तथा यत्र यथासिद्धं तद् ग्राह्यमविशङ्कितैः ॥
(श्रीतन्त्रालोकटीका-जयरथ-1/18)

45. वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिरथागमः ॥ (त्रिपुरारहस्य वचन)

46. आगमस्तु अनवच्छिन्नमाहेश्वरप्रकाशपरमार्थः-अभिनव गुप्त ।

47. वैदिकी तान्त्रिकी चेति द्विविधा श्रुतिरुच्यते । (मनुस्मृति टीका-कुल्लूकभट्ट)

48. ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्-स्मृतिवचन ।

49. आगमः पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः । (महर्षिहारीत)

50. इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः ।
प्रसिद्धिमनुसंधाय सैव चागम उच्यते ॥ (आचार्य अभिनवगुप्त-तन्त्रा. 35/1) ।

51. स्पन्दप्रदीपिका-2 ।

52. शिवं परात्परं सूक्ष्मं नित्यं सर्वगताव्ययम् ।
अनिद्धतमनौपम्यमप्रमाणमनामयम् ॥
शुद्धत्वाच्छिवमुद्दिष्टं परादूर्ध्वं परात्परम् ।
व्योमातीतं च सूक्ष्मं हि नित्यं कारणकारणम् ॥
व्याप्तं सर्वगतं प्रोक्तमक्षीणादव्ययं भवेत् ।
अमलानिद्धतं ज्ञेयमसादृश्यादनौपमम् ॥
प्रमाणाद्यतिरिक्तत्वादप्रमेयमिति स्मृतम् ॥ इति ।
(वातुलशुद्धाख्यतन्त्र-(1)19-20-21, 1/2 श्लोक)

53. बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ रघुवंश म. का. (10/26) निर्णयसागर,बम्बई संस्करण-सन् 1932।

54. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने....
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ (शिवमहिम्नस्तोत्र-7)

55. ननु सांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न ॥ वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रकरण, पृ. 20-वाराणसी संस्करण, सन् 1906

56. द्रष्टव्य–हिन्दुज्म, भाग-2, पृ. 186-191 । डॉ. इलियट महोदय ।

57. विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ॥ (निर्वाणतन्त्र)

58. गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ॥ (शाक्तानन्दतरङ्गिणी–2/20)

पाञ्चरात्रागमों में पाञ्चरात्र-निर्वचन की परम्परा

डॉ. रामप्यारे मिश्र

वैष्णव धर्म की पुरातन संज्ञा पाञ्चरात्र-मत है । भारतीय धार्मिक इतिहास में इस मत के कतिपय सिद्धान्तों की महत्ता दीर्घकाल तक विद्यमान रही है और हिन्दू धर्म के मूल्यांकन में इस मत के विपुल वाङ्मय का अध्ययन अपरिहार्य है । वैष्णव आगम दो शाखाओं में विभक्त है–पाञ्चरात्र एवं वैखानस । जिनके वाङ्मय प्रमुखतः दक्षिण भारतीय मन्दिरों से सम्बद्ध रहे हैं । इसमें पाञ्चरात्रागम की परम्परा अति समृद्ध है क्यों कि परम्परानुसार इसकी संहिताओं की संख्या 108 है । यही नहीं इस आगम की विशिष्टता व महत्ता के बहुविध साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं । सनत्कुमार संहिता का एक श्लोक (10.53) इस संदर्भ में ध्यातव्य है–

योगतन्त्रेषु सर्वेषु विष्णुतन्त्रमनुत्तमम् ।
विष्णुतन्त्रेषु सर्वेषु पञ्चरात्रं विशिष्यते ॥

पाञ्चरात्र वाङ्मय में 'पञ्च' के प्रयोग प्रायः प्रतीकात्मक अर्थ में हुए हैं[1] । ऐसा इसलिए है क्योंकि इस आगम के नाम में भी 'पञ्च' युक्त है । इस सम्प्रदाय के अनुयायी को पाञ्चरात्रिक संज्ञा मिली है । अहिर्बुध्न्य संहिता, पौष्करसंहिता, सात्त्वत संहिता, विष्णु संहिता आदि में 'पञ्च' सामान्यतया संख्यावाची है[2] यथा–अहिर्बुध्न्य संहिता में पांच रात्रेतर पाँच मतों का एक साथ उल्लेख है–सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेदान्त और पाशुपत[3] इसी तरह पौष्कर संहिता[4] में "पञ्चाङ्ग-पूजा का उल्लेख ब्रह्म की उपासना के प्रसंग में पञ्च-पदों के रूप में है । विष्णु संहिता[5] में अवश्य ही पञ्च के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है । सात्वत संहिता[6] भी यहां ध्यान देने योग्य है ।

पञ्च शब्द पाञ्चरात्र के अतिरिक्त अन्य अनेक पदों से भी जुड़ा है यथा, पञ्चकाल[7], पञ्चाङ्ग[8], पञ्चगव्य, पञ्च संस्कार और पञ्चायुध आदि । पञ्चगव्य कर्मकाण्ड का एक प्रसिद्ध शब्द है इसमें गाय के पांच तत्व–गोमय, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोधृत, एवं गोदधि आते हैं । नारदीय संहिता (27.41-44), पराशर संहिता (3.81), पाद्म, (चर्यापाद 8.117-135) पारमेश्वर, (22.1-38, 39-119), मार्कण्डेय (30.14-37), विश्वामित्र (19.101-113), विष्णु (10.15-17), शेष (32.1-50), श्रीप्रश्न (21.51-63) आदि में "पञ्चगव्य" के वर्णन मिलते हैं ।

श्री वैष्णवों के लिए जिन पञ्च संस्कारों का विधान था उनमें ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र एवं याग–ये पांच बातें ज्ञात होती हैं । पञ्चसंस्कार के पर्याय रूप में "समाश्रयण" शब्द भी प्रचलित रहा है

(द्र. श्रीवैष्णव ब्राह्मणाज़, पृ. 34-37)। पाञ्चरात्र संहिताओं में ईश्वर, जयाख्य, पराशर, बृहद्ब्रह्म, भारद्वाज, मार्कण्डेय, विष्णुतिलक और श्रीप्रश्न में पञ्चसंस्कारों का न्यूनाधिक वर्णन आता है[9]।

पाञ्चरात्रागमों में भगवान् विष्णु के पांच आयुधों का वर्णन मिलता है, वे हैं–चक्र, गदा, शंख, सार्ङ्ग, नंदक। अहिर्बुध्न्य संहिता (30.1=41) में राजाओं व उनके दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी आयुधों का वर्णन है तो जयाख्य (30.1-11), पाद्म, क्रिया पाद (32.85-104), पौष्कर (17), वृहद्ब्रह्म (1.11.34-67, 111-119), विष्णु (6.69-73), विष्वक्सेन (11.15-16, 17-18) और सात्वत (13.9-25) में प्रतिष्ठा, शंखलक्षण, चक्र एवं शंख तथा दैनिक उपासना से सम्बद्ध विविध आयुधों का वर्णन उनके महत्व के साथ प्रतिपादित है।

"पञ्च" की तरह "रात्र" भी पाञ्चरात्रागमों में भिन्नार्थक दिखाई देता है। आचार्यों ने रात्र शब्द के विभिन्न अर्थ-निर्वचन किया है। शाण्डिल्य संहिता के अनुसार दानार्थक "रा" धातु के साथ त्राणार्थक "त्र" के संयोग से "रात्र" शब्द विद्या या ज्ञान अर्थ में निष्पन्न माना गया है[10]। इसी तरह ज्ञानामृतसार संहिता के प्रथम रात्र (परिच्छेद) में रात्र का अभिप्राय ज्ञान-वचन-"**रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्**" (1.1.44)। विश्वामित्र संहिता में पकड़ने या ग्रहण करने के अर्थ में प्रयुक्त है और यहां पञ्च विषयेन्द्रिय भूतों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है, यह शास्त्र पञ्च विषयेन्द्रियों का शमन करता है[11]। पाद्म संहिता में भी "रात्र" ज्ञानार्थक है[12]। और त्रिरत्न में से एक पौष्कर संहिता भी इसी अर्थ को व्यक्त करती है[13]। हयशीर्ष संहिता के अनुसार "रात्र" का तात्पर्य है–आत्म-तत्त्व। इस प्रकार इन संहिताओं तथा अन्य संहिता में "रात्र" के जो अभिप्राय स्पष्ट किये गये हैं–उसमें विद्या, ज्ञान-वचन, आत्मतत्व, शिक्षा अथवा प्रवचन जैसे अर्थ निहित हैं।

पाञ्चरात्र आगम की सहस्राब्दियों की परम्परा में इस नाम के अर्थ का विकास भी परिलक्षित है। सामान्यतः इस समस्त पद के पूर्वार्द्ध "पञ्च" अथवा "पाञ्च" को संख्यावाची ही माना गया है लेकिन रात्र के अनेक विध अर्थ दिखाई देते हैं, भिन्न-भिन्न संहिताओं में रात्र के भिन्न-भिन्न अर्थ मिलते हैं। इस प्रकार कुछ संहिताओं में "पाञ्चरात्र" शब्द से पांच रात्रियों तक चलने वाले सत्र का संकेत मिलता है तो कहीं पञ्च ऋषियों द्वारा प्रोक्त वचन अथवा शास्त्र की अभिव्यक्ति है, कहीं पांच प्रकार के शास्त्रों का निर्देश करते हुए इस आगम को उनसे श्रेष्ठतर प्रमाणित किया गया है तो कहीं पाञ्चरात्र पांच शास्त्रों में से एक है। अन्यत्र पञ्च तत्वों अथवा पञ्चविषयेन्द्रियों के प्रसंग में इस शास्त्र की महिमा उद्घोषित की गयी है। इस प्रकार पाञ्चरात्रागमों में पाञ्चरात्र-निर्वचन की एक विशिष्ट परम्परा मिलती है जो प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः अपने आगम के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाली है। ऐसे सन्दर्भ-स्रोत पाञ्चरात्र-आगम में भरे पड़े हैं जिनका परिचय विवेच्य प्रसंग में अपेक्षित है।

रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्

अनेक संहिताओं में पाञ्चरात्र शब्द पांच रातों के सत्र विशेष का उद्घाटन है। इनमें अहिर्बुध्न्य, अनिरुद्ध, मार्कण्डेय, भारद्वाज, परम, विष्णु, पाद्म के अतिरिक्त पौष्कर का भी नाम लिया जा सकता है।

मार्कण्डेय[14] संहिता के अनुसार भगवान् विष्णु द्वारा पांच रातों में सार्धकोटि प्रमाण (श्लोकों) के द्वारा पाञ्चरात्र शास्त्र अभिव्यक्त किया गया–

सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना ।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥

यही श्लोक पुरुषोत्तम संहिता (1.6-7) में भी संकलित है । ध्यातव्य है कि मार्कण्डेय संहिता में 'पञ्चरात्रमतः' पद का प्रयोग है जब कि पुरुषोत्तम संहिता में 'पञ्चरात्रागमम्' उल्लिखित है । विहगेन्द्र संहिता[15] में पाँच विभिन्न रात्रियों में पृथक्-पृथक् शास्त्रों और उनके उपदेशकों का निर्देश है । इसके अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण संहिताओं में पञ्चविध शास्त्रों अथवा पञ्च शास्ताओं अथवा पञ्च विषयेन्द्रियों, पञ्च तत्त्वों के सन्दर्भ में पाञ्चरात्र शास्त्र का निर्वचन किया है जिनका विवेचन हम अलग से करना चाहेंगे ।

पञ्चविध शास्त्रों के प्रसंग में पाञ्चरात्र-निर्वचन

पाञ्चरात्रागमों में पञ्चविध शास्त्रों की बहुशः अभिव्यक्ति हुई है । लेकिन मनोरंजक बात यह है कि भिन्न-भिन्न आगमों में भिन्न-भिन्न शास्त्रों का निर्देश है । शाण्डिल्य संहिता में पाञ्चरात्र की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार मिलती है–

सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदाख्ये च पञ्चकम् ।
प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ॥
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र समवाप्यते ।
परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः ॥

–**शाण्डिल्य-संहिता**, 1.4.75-76

इस संहिता के अनुसार सांख्य, योग, शैव, वेद एवं आण्यक–इन पञ्चविध शास्त्रों (रात्रयः) में जो आनन्द प्राप्त होता है पाञ्चरात्र अकेले ही उस परमानन्द को व्यक्त करता है । वास्तव में परमानन्द इस शास्त्र के अभिज्ञान का सारतत्व है ।

विष्णु-संहिता में इस तंत्र (प्रमाण) के प्रमाण को आप्त प्रोक्त बताते हुए इसे वेद प्रामाण्य से युक्त बताया गया है और शैव, वैष्णव, ब्राह्म, सौर एवं कौमार भेद के द्वारा पञ्चधा विभक्त करके मनीषियों द्वारा पाञ्चरात्र की व्याख्या की गयी है और कहा गया है कि जिस प्रकार वेद-वृक्ष की अनेक शाखाओं के भेद हैं उसी प्रकार मनीषियों के द्वारा (सूरिभिः) पञ्चरात्र समाख्यात है, यथा–

आप्तप्रोक्ततया तन्त्रं प्रमाणमिति ये विदुः ।
वेदप्रामाण्यमप्याहुराप्तमूलतयैव ते ॥
तच्छैववैष्णवब्राह्मसौरकौमारभेदतः ।
पञ्चधा भिद्यते तन्त्रं वक्तृणां च विशेषतः ॥
विष्णोर्धर्मप्रवक्तृत्वात् तत्प्रोक्तं मनुवाक्यवत् ।
ब्रह्माविष्णू हि धर्माणां प्रवक्तारौ बुधैः स्मृतौ ॥

यथा तु वेदवृक्षस्य शाखाभेदा ह्यनेकशः ।
तथा भेदाः समाख्याताः पञ्चरात्रस्य सूरिभिः ॥

—विष्णुसंहिता, 2, 19-22 गदा,

वामन संहिता में बौद्ध, पाशुपत, कापाल, शैव और गाणपत्य पञ्चविध शास्त्रों की चर्चा की गयी है और उन्हें तामस संज्ञा प्रदान की है, और इन्हें पाञ्चरात्र निर्वचन के प्रसंग में पञ्चेतर कहा गया है[16] ।

इन सन्दर्भ में सर्वप्राचीन संहिताओं में से एक पौष्कर के वचन का उल्लेख करना समीचीन होगा । जहां पुराण, वेद, वेदान्त, सांख्य एवं योग इन पञ्च शास्त्रों से पाञ्चरात्र को श्रेष्ठतर बताया गया है–

पुराणं वेदवेदान्तं तथान्यत्सांख्ययोगजम् ।
पञ्चप्रकारं विज्ञेयं यत्र रात्र्यायतेऽब्जज ।
फलोत्कर्षवशेनैव पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥

—पौष्करसंहिता, 38.307-308

इसी प्रकार पाद्म संहिता ने भी "पञ्चेतराणि शास्त्राणि" कहकर एक प्रकार से पौष्कर का अनुसरण किया है और यह उद्घोषित किया है कि जिस प्रकार दिवालोक में चन्द्रतारा गण शोभा नहीं पाते तथैव पाञ्चरात्र की सन्निधि में इतर शास्त्र शोभा नहीं पाते, यथा–

पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि ।
तत्सन्निधौ समाख्याऽसौ तेन लोके प्रवर्तते ॥
चन्द्रतारागणं यद्वत् शोभते नैव वासरे ।
तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ ॥
पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे ।
ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वत् इतराणि तदन्तिके ॥

—पाद्म-संहिता, 1.1.72-74

ध्यातव्य है कि उक्त दोनों (पौष्कर एवं पाद्म) संहिताओं में एक विशिष्ट क्रियापद "रात्रायते" अथवा रात्रीयन्ते का प्रयोग है । इन दोनों ही पदों में पौष्करोक्त रात्रायते प्राचीन पद है । अस्तु विचारणीय है । आप्टे[17] ने इसे रात्र्यर्थक मानते हुए अंधकार अथवा मलिनता के भाव में इस पद को व्याख्यात किया है जो कि भ्रामक है । उनका कहना है कि पञ्चरात्र इसलिए कहलाता है क्योंकि वह कथित इतर पञ्च शास्त्रों को अपनी आभा से मलिन कर देता है । यह बात तर्कसंगत इसलिए लगती है क्योंकि अन्य अनेक संहिताओं से स्पष्टतः इसी प्रकार का निर्वचन प्राप्त भी है किन्तु ऐसा नहीं लगता कि मूल दृष्टि यही थी । "रात्र" मूलतः उपासना और अंततः ज्ञान, प्रवचन, शिक्षा अतः प्रकाश को ध्वनित करने वाला पद है । यह दृष्टिकोण अनेक संहिताओं में शास्त्रसम्मत है भी । यहां तक कि कतिपय संहिताओं का विभाजन रात्रों में हुआ है । दूसरे शब्दों में अनेक अध्याय अथवा

अनुच्छेद "रात्र" कहलाते हैं जो निश्चय ही शास्त्र संज्ञक हैं। इस पृष्ठभूमि में "रात्रायते", ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रकाशित करने के अर्थ में प्रयुक्त है। अनिरुद्ध संहिता में भी पाद्म संहिता का ही अनुसरण है, बल्कि दोनों संहिताओं के सन्दर्भ समान हैं[18]।

ज्ञान अथवा ज्ञान-वचन को अभिव्यक्त करने वाले "रात्र" के सन्दर्भ में नारद पाञ्चरात्र और ज्ञानामृतसार संहिता में पञ्चविध ज्ञान का संकेत है–,

रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।

प्रसंगवश "उत्सव-संग्रह" में भी पञ्चशास्त्रों का निर्देश है। यद्यपि यह निर्देश एकमत नहीं है तदनुसार एक तरफ पुराण, न्याय, मीमांसा, सांख्य और योग को पञ्च प्रकार बताया है दूसरी तरफ आगम, भारत (महाभारत), शिल्प वैद्यक और ज्योतिष को संयोग से पञ्च शास्त्रों में परिगणित करते हुए उसे पञ्चरात्र संज्ञा दी गयी है[19]–

पुराणं न्यायमीमांसा तथान्यत्सांख्ययोगतः।
पञ्चप्रकारविज्ञेयः पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥
आगमं भारतं शिल्पं वैद्यं ज्योतिषमेव च।
पञ्च शास्त्राणि संयोगात् पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।

पाञ्चरात्र-निर्वचन के प्रसंग में पुराण साहित्य भी प्रकाश डालते हैं। इस सन्दर्भ में अग्नि पुराण (39.1) ध्यातव्य है जहां इस शास्त्र की चर्चा है। इसके अतिरिक्त "शक्तिसंगमतंत्र" में पञ्चरात्र विषयक चर्चा भी ध्यान देने योग्य है जहां इसे पञ्चरात्रि व्रत संज्ञा दी गयी, साथ ही यह निर्देश दिया गया है कि दिन पञ्चक पर्यन्त अर्थात् पञ्चकालोपासना तक शैव (शिवोपासकों) पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए अर्थात् इन्हें नहीं देखना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त आगम-विवरण से पांचरात्र-निर्वचन के प्रसंग में पाञ्चरात्र की एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा दिखाई देती है। विभिन्न संहिताओं में जिन भिन्न-भिन्न पञ्चेतर शास्त्रों की चर्चा की गयी है, वे निश्चय ही रूढ़ नहीं रहे। अर्थात् एक ही प्रकार के पञ्चशास्त्रों की चर्चा सभी संहिताओं में नहीं हुई है। पाञ्चरात्र आगम जिन शास्त्रों की चर्चा करता है और उनसे पांचरात्र को श्रेष्ठ बताता है, प्रकारान्तर से उन इतर शास्त्रों के अस्तित्व का हमें बोध भी हो जाता है। ये इस प्रकार हैं–ब्राह्म, शैव, कापाल, सांख्य, योग, कौमार, सौर, गाणपत्य एवं वैष्णव। अन्यत्र वेद, भारत, वैद्यक, शिल्प और ज्योतिष जैसे शास्त्रों का नाम-निर्देश है।

ध्यातव्य है कि पाञ्चरात्र वाङ्मय दीर्घकालावधि तक रचा जाता रहा। अस्तु विभिन्न कालों की संहिताओं में तत्कालीन प्रचलित अथवा प्रतिष्ठित शास्त्रों की चर्चा स्वाभाविक प्रतीत होती है। पाञ्चरात्रमतानुयायियों का सर्वाधिक विरोध शैवों से परिलक्षित होता है क्योंकि अधिकांश संहिताओं के इतर शास्त्रों में शैव शब्द सामान्यतः प्रयुक्त है।

पाञ्चरात्र–"पञ्च तत्त्वगोचराः पञ्च"

परम-संहिता की दृष्टि में पञ्च महाभूतों के रूप में पञ्चरात्र की व्याख्या की गयी है–

महाभूतगणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृतः ॥
तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥
भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
रात्रयः पुरुषश्चोक्तं पञ्चरात्रमिदं ततः ॥

–परमसंहिता, 1.39-41

इसके अनुसार पञ्च महाभूतों अथवा उनकी तन्मात्राओं (उनके समूह) को "रात्रयः" संज्ञा दी गयी है और संकेत किया गया है कि देहधारियों के लिए उनके योग से जो विनिवृत्ति होती है वह "पञ्चरात्र" है। ध्यातव्य है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (7.4) में भी उपलब्ध है जहां प्रकृति के इन प्रत्ययों का स्मरण किया गया है[20]।

विष्णु संहिता में "रात्रयः" की व्याख्या "गोचराः" के रूप में करते हुए शब्द, रूप, स्पर्श एवं गन्ध–इन पञ्च महाभूतों के रूप में पाञ्चरात्र का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है और कहा गया है कि यहां एतद्‌विषयक ज्ञान की प्राप्ति से जो परम तेज (परम ज्ञान) प्राप्त किया जाता है वही पञ्चरात्र है और वह सभी प्रकार के अज्ञान का विनाशक है–

रात्रयो गोचराः पञ्च शब्दादिविषयात्मिकाः ।
महाभूतात्मका वाऽत्र पञ्चरात्रमिदं ततः ॥
अवाप्य तु परं तेजो यत्रैताः पञ्च रात्रयः ।
नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत्सर्वाज्ञानविनाशनम् ॥

–विष्णुसंहिता, 1.49-51

पूर्व विवेचित शतपथ ब्राह्मण (13.6.1.7-9) वचन (तत्रोक्त पञ्च रात्र-सत्र-विमर्श) तैत्तिरीय संहिता में भी उपलब्ध है। तदनुसार[21] "पञ्चरात्र होता है, ऋतुएं भी पांच होती हैं। ऋतुओं में ही संवत्सर होता है। पङ्क्ति शब्द में पांच अक्षर होते हैं। यज्ञ भी पांच अंगों वाला होता है। यज्ञ को ही अपने वश में करता है"। यह कथन अंततः, पञ्चतत्त्वात्मक प्रतीत होता है भले ही उसके सकल रूप को हम ब्रह्म स्वीकार करें।

विष्णु तंत्र में भी निर्वचन की यही परम्परा दिखाई देती है। यहां वायु, वह्नि, आपः, धरा और आकाश (पञ्च तत्त्वों) के कारण जो अविद्या (अज्ञान) है, उसके भोग से निवृत्ति दिलाने वाले शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र है[22]।

कपिंजल संहिता ने भी इशी परम्परा का निर्वाह किया है। यहां पृथ्वी आदि पंचभूतों को आत्मा का बन्धन कहा गया है। इसमें भुक्ति जन्य ज्ञान पाञ्चरात्र बताया गया है–

पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्च महामते ।
रात्रयो जन्तवः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः ।
तद्‌भोगाद् विनिवृत्तिस्तु पाञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥

–कपिंजलसंहिता, 1.31-32

हयशीर्ष संहिता (आदि काण्ड) के अनुसार आकाश, वायु, तेज, जल एवं वसुधा को पञ्चरात्रों के रूप में उल्लिखित करते हुए पञ्चरात्र शास्त्र द्वारा मुक्त होने की चर्चा की गयी है[23]।

ध्यातव्य है कि जहां-जहां "रात्रयः" की चर्चा है वह रात्रि शब्द का बहुवचन है। कहीं-कहीं पर रात्रि शब्द को स्पष्टतः "अज्ञान" अर्थ वाला पद बताया गया है और इनसे मुक्ति दिलाने वाले शास्त्र को "रात्र" अस्तु पञ्चविध रात्रियों से मुक्ति दिलाने के कारण "पाञ्चरात्र" पद का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। इस सन्दर्भ में श्रीप्रश्नसंहिता के एक वचन का उल्लेख किया जा सकता है–

रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चैतेऽज्ञाननाशकाः।
तच्छास्त्रं पञ्चरात्रं स्यादन्वर्थस्यानुरोधतः॥

–श्रीश्रीप्रश्नसंहिता, 2.40

उल्लेखनीय है कि पञ्चतत्वों अथवा पञ्चगोचरों के समान ही विभिन्न संहिताओं में जहां पञ्चविध शास्त्रों की चर्चा की गयी है वहां भी पञ्चरात्र का अभिधार्थ उक्त तत्वों अथवा शास्त्रों को प्रकाशित करने के अर्थ में अभिप्रेत है। अनिरुद्ध संहिता[24] का निम्न वचन ध्यातव्य है–

प्रणवं पञ्चसंभूतं पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।

पञ्च ऋषिप्रोक्त शास्त्र

ईश्वर संहिता में पाञ्चरात्र के निर्वचन का जो निर्देश है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ शाण्डिल्य आदि पाँच ऋषियों की परम्परा का संकेत है। ध्यातव्य है कि आधुनिक विद्वानों ने सामान्यतः यह स्वीकार किया है कि पाञ्चरात्र मत के मूल उद्‌गाता ऋषि थे शाण्डिल्य[25]। ये पाँच ऋषि हैं–शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक एवं भारद्वाज[26]।

ब्रह्म के पञ्चविध रूपों में अभिव्यक्त शास्त्र : पांचरात्र

अहिर्बुध्न्य-संहिता में पर, व्यूह, विभव आदि रूपों में व्यक्त मोक्ष के प्रमुख फल-लक्षण-शास्त्र पञ्चरात्र तंत्र का उल्लेख है[27]। यहां पाञ्चरात्र संहिता के बजाय तंत्र कहा गया है जो उसके विस्तार का सूचक है। अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर पाञ्चरात्र मत की भूमिका प्रस्तुत करने वाले विद्वान् श्रॉडर अहिर्बुध्न्य संहिता द्वारा प्रतिपादित पाञ्चरात्र निर्वचन को उपयुक्त मानते हैं। उनके विचार से शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित नारायण के "पाञ्चरात्र सत्र" (श. प. ब्रा. 13.6.1) की दार्शनिक व्याख्या यहाँ प्रस्तुत है तदनुसार ब्रह्म अपने को पञ्चविध रूपों में रूपान्तरित करता है। वे इस प्रकार हैं–पर-व्यूह विभव अर्न्तयामी एवं अर्चा[28]।



1. डैनियल स्मिथ, ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लियोग्राफी ऑफ दि प्रिंटेड टेक्स्ट ऑफ दि पाञ्चरात्रागम
2. द्रष्ट्व्य अहिर्बुध्न्य संहिता–54.4-5 (यहाँ सांख्य, योग, पांचरात्र, वेदान्त और पाशुपत इन पञ्च सम्प्रदायों का निर्देश है) पौष्कर संहिता, 26.1-70 यहाँ ब्रह्म की उपासना के "पञ्चाङ्ग पूजा" का संकेत है।

3. सांख्यानां परमं ज्ञानमिदमेव महामुने ।
इयं सोपानभूमिः सा योगिनां नियतात्मनाम् ॥
तदेतदयनं ह्येकं सात्वतानां महात्मनाम् ।
एतत् त्रय्यन्तेसर्वस्वमेतत् पाशुपतं मतम् ॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता, 54.4-5

4. श्रीपौष्करसंहिता, 26.1-60 (यहाँ ब्रह्म की उपासना की 'पञ्चाङ्गपूजा' का संकेत है) ।

5. वैखानसाः सात्वताश्च शिख्येकान्तिकमूलकाः ॥
गोचरास्तु समाख्याता वासुदेवाद्यजाश्रयाः ।
भिद्यन्ते पञ्चधैते तु गोचराः पारमार्थिकाः ॥
अर्चनं सर्वकालं तु देवदेवस्य नित्यशः ।
अयाचितोपपन्नेन कुटुम्बस्य च पोषणम् ॥
वृत्तिभेदः क्रिया चेति यत्र वैखानसं कुलम् ।
एककालं द्विकालं वा विष्णोराराधनं स्फुटम् ॥
क्षत्रवृत्योपपन्नेन कुटुम्बस्य च पोषणम् ।
नावर्तनं च सङ्ग्रामे सर्वशास्त्रेषु कौशलम् ॥
एतैस्तु लक्षणैर्युक्ताः सात्वतास्ते प्रकीर्तिताः ।
कृषिवाणिज्यगोरक्षा द्विकालं विष्णुपूजनम् ॥
एतच्च दृश्यते यत्र शिखिनस्ते प्रकीर्तिताः ।
शुश्रूषणं द्विजातीनां भैक्षवृत्या च वर्तनम् ॥
सकृच्चाराधनं येषां ते तथैकान्तिकाः स्मृताः ।
एककालं द्विकालं वां त्रिकालमथवा पुनः ॥
अर्चनं देवेदेवस्य मनोवाक्कायकर्मभिः ।
अयाचितोपपन्नेन वर्तनं येषु दृश्यते ॥
स्वशिष्याद् वर्तनं वापि ते ज्ञेया मूलसंज्ञकाः ।
प्रत्येकं पञ्चभिर्भेदैस्तान्यासन् पञ्चविंशतिः ॥
—विष्णु-संहिता, 2.26-35.

6. कृपया गुरुणा देयं समयाना तु पञ्चकम् ।
भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणी ॥
नियतं पञ्चकस्यास्य यथावत् परिपालनात् ।
अनुष्ठानात् तु नान्येषां स्वातन्त्र्येण यथेच्छया ॥
—सात्वत-संहिता, 21.62-63

7. डॉ. रामप्यारे, पाञ्चरात्र संहिताओं की स्रोत-सामग्री के कतिपय पक्षों का अध्ययन, अप्रकाशित शोध-प्रबंध, 1990; अध्याय-5

8. तत्रैव ।

9. संदर्भ-स्रोत के लिए द्रष्टव्य डैनियल स्मिथ, ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लियोग्रैफी......., भाग 2, पृ. 52-53.

10. साख्यं योगश्च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे ।
पञ्चार्थदानतः त्राणात् विद्या सा पाञ्चरात्रिकी ॥
—शाण्डिल्य-संहिता, 1.4.78

11. 'रा' इत्ययमपि प्रोक्तो .तुरादाय वाचकः।
विषयेन्द्रियभूतानामदातारश्च पञ्च राः॥
—**विश्वामित्र-संहिता**, 23.4
12. **पाद्म संहिता**, भाग-1, ज्ञान पाद, अ. 1.72-74
13. **श्रीपौष्कर संहिता**, 38.307-308
14. **मार्कण्डेय संहिता**, 1.19
15. **विहगेन्द्र संहिता**, 1.34-37
16. **वामन संहिता**, 57.58
17. द्र. आप्टे, **पाञ्चरात्र : नेम एण्ड ओरिजिन**, सी. ए. एस. स्टडीज़, नं. 2.
18. सांख्ययोगादिशास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि।
तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते॥
चन्द्रतारागणं यद्वच्छोभते नैव वासरे।
तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ॥
पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे।
ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वदितराणि तदन्तिके॥
—**अनिरुद्ध-संहिता**, 1.35-38
19. **उत्सव संग्रह**, आड्यार लाइब्रेरी मैन्युस्क्रिप्ट, वाल्यूम 3, पृ. 15.
20. भूमिदापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
—**श्रीमद्भगवद्गीता**, 7.4
21. 'पंचरात्रो भवति पंच व ऋतवः, सम्वत्सर ऋतुष्वेव सम्वत्सरे।
प्रतितिष्ठत्यथो पंचाक्षरा पंक्तिः, पांक्तो यज्ञो यज्ञमेवारुंधे' ॥
—**तैत्तिरीय-संहिता**, 7.1.10.3-4
22. वियद् वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा॥
रात्रयो देहिनां प्रोक्ता अविद्यासंभवाः स्मृताः।
तद्भोगाद्विनिवृत्तं तु कारयेयुर्यतस्ततः॥
पाञ्चरात्रमिदं प्रोक्तं एतच्छास्त्रं मया तथा॥
—**विष्णु-तन्त्र**, 1.74-76
23. आकाशवायुतेजांसि पानीयं वसुधा तथा।
एता वै रात्रयः ख्याताः या चैतान्यस्तमोत्कराः॥
रात्रीणामप्यथैतासां व्यतिरिक्तं निरंजनम्।
स यदा बुध्यते तत्वं तदा मुक्तोऽनुकीर्त्यते॥
—**हयशीर्ष-संहिता** (आदि काण्ड) 4.2-3
24. **अनिरुद्ध-संहिता**, 1.39
25. द्र., सुधाकर चट्टोपाध्याय : **इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स**, पृ. 66, विस्तार के लिए द्रष्टव्य, तत्रैव, पृ. 65-66 एवं आगे।

26. पञ्चायुधाशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः ।
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः ॥
पञ्चापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः ।
अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुंगवाः ॥
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते ।

–ईश्वर-संहिता, 519, 532, 533

27. तत् रव्यूहविभवस्वभावादिनिरूपणम् ।
पञ्चरात्राह्वयं तन्त्रं मोक्षैकफललक्षणम् ॥

–अहिर्बुध्न्यसंहिता, 11.63-64.

28. "It appears, then, that the sect took its name from its central dogma which was the pancaratra-sattra of Narayana interpreted philosophically as the five fold self-manifestation of God by means of His para, Vyuha, Vibhava, antary anin and arca forms."

—Schrader, *Introduction to the Pancaratra and the Ahirbudhnya Saṃhita.* 1.29.

पुरुषार्थ चतुष्टय का आधार

डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

प्रस्तुत निबन्ध में पुरुषार्थ चतुष्टय पर महाभारतीय स्रोत के आलोक में इस दृष्टि से एक विमर्श प्रस्तुत करने का प्रयास है कि उसका साधार व्यवस्थित स्वरूप क्या हो सकता है।

महाभारत[1] के शान्तिपर्व में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को लेकर एक अध्याय में कुछ विस्तार से चर्चा हुई है। इस विवेचन की एक विशिष्टता यह है कि इसमें इन चारों में से प्रत्येक पुरुषार्थ को लेकर एकाधिकार से उल्लेख हुआ है। युधिष्ठिर प्रश्न उठाते हैं, "प्राय लोगों की धर्म, अर्थ तथा न्याय की ओर प्रवृत्ति होती है, इनमें कौन सर्वश्रेष्ठ, कौन मध्यम तथा कौन लघु है ?" (167.2) विदुर धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं, अर्जुन अर्थ को, भीम काम को और युधिष्ठिर मोक्ष को।

विदुर का मत है कि धर्म में ही लोक, देवों तथा अर्थ की स्थिति है (167.7)। धर्म ही परम साध्य है (167.9)। धर्म, अर्थ तथा काम श्रेष्ठ, मध्यम तथा लघु हैं (167.8)। इसके विपरीत अर्जुन का मत है कि मनुष्य एक कर्मभूमि में जीवन व्यतीत करता है, उसकी जीविका अनेक प्रकार के कर्मव्यापार द्वारा चलती है जो सभी अर्थप्राप्ति का साधन है (167.11)। अर्थ के विना धर्म तथा काम की सिद्धि नहीं हो सकती (167.12)। यही नहीं, धर्म तथा काम अर्थ के ही अवयव हैं (167.14), चाहे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी हो, विद्वान् पुरुष हो, किसी भी दिशा में धर्मरत व्यक्ति हो, आस्तिक हो या नास्तिक, सभी अर्थार्थी होते हैं (167.16-19)। इन दोनों के विरुद्ध भीम का मत है कि विना काम के कोई इच्छा नहीं होती, न धर्म की दिशा में और न ही अर्थ की दिशा में। इसलिए काम ही श्रेष्ठ है (167.29)। संयमी ऋषि, वेदों का स्वाध्याय करने वाले, वणिक्, कृषक, गोप, कारीगर, शिल्पी, देवकर्म का सम्पादन करने वाले, ये सभी किसी न किसी काम या कामना के अधीन होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं (167.30-32)। कामरहित प्राणी नहीं होते, इसलिए काम ही सार है (167.34)। काम धर्म तथा अर्थ का कारण है, इसलिए उनसे श्रेष्ठ है (167.36)। जहाँ एक ओर भीम काम को सार तथा सर्वश्रेष्ठ बताते हैं, वहाँ आगे वह धर्म, अर्थ, काम के एक साथ सेवन को भी महत्त्व देते हैं। वह उसी व्यक्ति को श्रेष्ठ कहते हैं जो तीनों का एक साथ सेवन करता है। जो दो का सेवन करता है वह मध्यम तथा जो एक का सेवन करता है वह अधम है (167.40)। यद्यपि यह मत उनके पूर्वोक्त मत से संगत नहीं है तथापि वह उस मत से अनुकूलता रखता लगता है जो नकुल तथा सहदेव ने प्रस्तुत किया है। नकुल, सहदेव का कहना है

कि मनुष्य को पहले धर्म का आचरण करना चाहिए, फिर धर्मयुक्त धन का संग्रह तथा इन दोनों की अनुकूलता से काम का सेवन करना चाहिए (167.27)।

अन्त में, युधिष्ठिर यह स्वीकार करते हुए कि उनके भाइयों के मत शास्त्रानुकूल तथा प्रमाण-ज्ञान पर आधारित हैं (167.43), त्रिवर्ग से भिन्न मोक्ष को श्रेष्ठ बताते हैं। उनकी दृष्टि से जो व्यक्ति न अर्थ में लगा है, न धर्म में तथा न काम में, जो मिट्टी और सोने में भेद नहीं करता वह दुःख-सुख से मुक्त हो जाता है (167.44)। आसक्ति के रहते मुक्ति नहीं होती। जो मोक्ष चाहता है उसे उस कर्म को अनासक्ति भाव से करते रहना चाहिए जिसमें विधि ने उसे नियुक्त किया है (167.46-48)। इसके पूर्व राजधर्म के सन्दर्भ में भीष्म ने युधिष्ठिर को यह बताया था कि मोक्ष उसके प्रयोजन तथा गुण तीन वर्गों से पृथक् हैं (59.30 तथा 123.5 भी देखें)। यही नहीं मोक्ष के उल्लेख के साथ उसके अलग त्रिवर्ग बताये गये हैं जिनके अन्तर्गत सत्त्व, रज तथा तम की गणना की गई है (59.31)। इसी अध्याय में काम को एक ऐसे दोष के रूप में गिनाया गया है जिससे राग उत्पन्न होता है तथा राग से कार्याकार्य का विवेक लुप्त हो जाता है, फलस्वरूप धर्म का विप्लव या नाश हो जाता है (59.19-21)। इस सन्दर्भ में विदुर के इस कथन पर भी ध्यान देना चाहिए कि धर्म का मूल आत्मिक सम्पदा है जिसके अन्तर्गत बहुश्रुतता, तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य तथा संयम का उल्लेख हुआ है (167.5)।

एक रोचक तथ्य यह है कि इस सन्दर्भ में महाभारत में 'त्रिवर्ग' अथवा 'चतुर्थ वर्ग' का प्रयोग तो प्राप्त होता है परन्तु 'पुरुषार्थ' का नहीं। इस प्रश्न को हम नहीं उठायेंगे कि कब धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के लिए 'पुरुषार्थ' का प्रयोग होने लगा। हम इस पर परम्परा को मानकर चलेंगे कि 'पुरुषार्थ' के अन्तर्गत इनका समावेश होता है।

स्पष्ट है कि जिस रूप में हमें पुरुषार्थों के विषय में उपर्युक्त विचार उपलब्ध हैं, उन्हें वैचारिक दृष्टि से तन्त्रयुक्त अथवा बहुत व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। फिर भी उनके अन्तर्गत प्रमुख महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का समावेश हो गया है। इन बिन्दुओं के आधार पर परम्परागत पुरुषार्थ सम्बन्धी दृष्टि को विशद दार्शनिक विवेचन का विषय बनाया जा सकता है। पुनरावृत्ति के बावजूद आगे विश्लेषण के लिए इन बिन्दुओं का क्रमबद्ध उल्लेख आवश्यक है–

(1) कर्म की चेष्टा के समस्त लक्ष्यों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।
(2) प्रत्येक वर्ग किसी दृष्टि विशेष से अन्य वर्गों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है।
(3) धर्म, अर्थ तथा काम क्रम से श्रेणीबद्ध किये जा सकते हैं।
(4) मोक्ष त्रिवर्ग से भिन्न दिशा रखता है।
(5) मोक्ष सर्वश्रेष्ठ साध्य है।
(6) चरित्र की कुछ विशेषताएँ धर्म तथा मोक्ष के सन्दर्भ में समान रूप से वांछनीय हैं (यथा त्याग, सत्य, संयम, भावशुद्धि)।

कथन (2) तथा (3) से प्रत्येक वर्ग को, मोक्ष को छोड़कर, साध्य तथा साधन दोनों कहा जा सकता है। धर्म की रक्षा के अथवा उसके अनुसरण के विना अर्थ उपयुक्त साधन नहीं हो सकता। दूसरी ओर विना अर्थ के धर्म का निर्वाह संभव नहीं है। विना काम के धर्म तथा अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, परन्तु धर्म तथा अर्थ की पूर्ति के विना किसी कामना की तुष्टि सम्भव एवं उचित नहीं कही जा सकती। मोक्ष की दृष्टि से धर्म, अर्थ तथा काम अधिक से अधिक साधनभूत हो सकते हैं। त्रिवर्ग के अन्तर्गत तथा त्रिवर्ग एवं मोक्ष के बीच साध्य-साधन के सम्बन्ध का यह निरूपण एक सरलीकरण है। एक का दूसरे के लिए साधनभूत होना, अथवा आवश्यक होना अनेक रूपों में हो सकता है। धर्म तथा अर्थ के लिए काम या कामना का आवश्यक होना धर्म के लिए अर्थ के आवश्यक होने से भिन्न है। एक प्रकार से अर्थ धर्म के लिए और काम धर्म तथा अर्थ के लिए पूर्वापेक्षित है। परन्तु केवल कामना से कुछ सिद्ध नहीं होता यदि उसके लिए उद्यम न किया जाय। अर्थ से अर्थात् धन रहने से अनेक धार्मिक अनुष्ठान, सामाजिक रूप से आवश्यक दायित्वों का वहन सम्भव हो पाता है।

कथन (4) के बावजूद त्रिवर्ग से मोक्ष का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं है। यह सम्बन्ध तब अधिक विषम और समस्यामूलक हो जाता है, जब धर्म तथा मोक्ष के परस्पर रिश्ते को लिया जाय। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि धर्म की व्याख्या अनेक रूपों में की गई है। कहीं उसे मानवीय दायित्वों तथा कर्तव्यों से जोड़ा गया है, कहीं उसके अन्तर्गत चारित्रिक गुणों को लिया गया है, कहीं उसे कर्मकाण्ड अथवा किन्हीं अनुष्ठानों के रूप में देखा गया है, कहीं उसे ऐसे सिद्धान्त या तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है जिस पर समाज की, संसार की व्यवस्था आश्रित है। साथ ही धर्म का प्रयोग गुण के रूप में भी होता है। चारित्रिक गुण अथवा आत्मिक सम्पदा के रूप में धर्म मोक्ष में सहायक हो सकता है और उस अवस्था में कथन (4) अंशतः असत्य होगा। यही नहीं यदि उसे अस्तित्व के तत्त्व के रूप में ग्रहण करेंगे तब वह मोक्ष रूप ही हो जायेगा। उस अवस्था में धर्म में विपरीत मोक्ष की बात और असंगत हो जायगी।

यदि अपनी नियत स्थिति में रहते हुए अपने कर्तव्य का निर्वाह, मोक्ष की दिशा निर्धारित करता है, तब तो किसी सीमा तक अर्थसाधन तथा काम भी मोक्षसाधन में संगति रख सकते हैं। ये विचार हमें उस दिशा में ले जाते हैं जहाँ प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में समन्वय के लिए स्थान बनता है तथा पुरुषार्थ चतुष्टय को पूर्ण आदर्श के रूप में देखने की सम्भावना बनती है। अर्जुन के व्यामोह के निराकरण तथा युधिष्ठिर को युद्ध के बाद संन्यास लेने से रोकने के प्रयास उस पृष्ठभूमि को तैयार करते हैं, जिसमें पुरुषार्थ चतुष्टय का समन्वित रूप उभरता है।

पुरुषार्थ चतुष्टय में काम की स्थिति सर्वाधिक अस्पष्ट है। इसका एक प्रमुख कारण 'काम' शब्द का प्रयोग 'धर्म' शब्द की भाँति भिन्न-भिन्न रूपों में होना है। भीम के वक्तव्य से काम, कामना तथा इच्छा पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। इस रूप में 'काम' शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक हो जाता है। शायद इसी अर्थ में कृष्ण स्वयं को धर्मविरुद्ध काम बताते हैं (**गीता**–7/11)। पर इसी श्लोक में

'काम' को उस रूप में भी प्रयुक्त किया गया है जिसमें वह वर्जित की कोटि में आ जाता है। भीम के वक्तव्य में ही काम का वह संकुचित अर्थ भी है जिसमें वह भोग-विलास का पर्याय है (167.38) इस प्रकार काम का एक तो काम्य रूप है जिसमें वह एक पुरुषार्थ के रूप में गिना गया है। इस अर्थ में वह योग के समकक्ष है तथा कामिनीसुख से लेकर किसी भी योग को अपने में अन्तर्भूत करता है। परन्तु कामना अथवा इच्छा के अर्थ में वह काम्य कैसे हो सकता है ? क्या कामना कामना के लिए काम्य हो सकती है ? इस प्रयोग में कामना तथा काम्य का भेद मिट जायगा जो स्पष्टतया अधिक भ्रान्तिजनक होगा। यदि 'कामना' का प्रयोग काम्य विषय के लिये किया जाय तब वह किसी भी प्रकार के भोग अथवा भोग्य विषय का पर्याय होगा। इसलिए पुरुषार्थ की दृष्टि से 'काम' का प्रयोग भोग अथवा भोग्य विषय के रूप में करना अधिक समीचीन होगा। परन्तु इस अर्थ में सब कामनाओं से रहित होना एक ऐसी अवस्था होगी जिसकी कामना तत्त्वतः अन्य कामनाओं से भिन्न होगी। तथा उसकी अनुकूलता में ऐसी कामना का काम्य (कामनारहित अवस्था की प्राप्ति) भी अन्य काम्यों की तुलना में बहुत भिन्न होगा। वस्तुतः इस सन्दर्भ में कामना, काम्य, काम अथवा सामान्य अर्थ छोड़ देते हैं। इनके इस पक्ष को ध्यान में नहीं लायें तभी 'काम' एवं मोक्ष को दो भिन्न पुरुषार्थ माना जा सकता है, अन्यथा 'काम' तथा 'मोक्ष' का भेद करना असम्भव हो जायगा।

अर्थ शब्द की अर्थविपुलता भी विचार के लिए समस्या उत्पन्न करती है। 'पुरुषार्थ' में जिस 'अर्थ' का समावेश है उस अर्थ में तो धर्म, काम तथा मोक्ष भी अर्थ है। परन्तु स्पष्ट है यहाँ विशिष्ट पुरुषार्थ के रूप में अर्थ से यह प्रयोग अभिप्रेत नहीं है। 'अर्थ' का संकेत, विशिष्ट पुरुषार्थ के रूप में धन तथा उन सब साधनभूत विषयवस्तुओं से है जो किसी भी काम्य की उपलब्धि को संभव बनायें। अर्जुन के वक्तव्य से इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति होती है।

विभिन्न विशिष्ट पुरुषार्थों के विषय में स्पष्टीकरण पुरुषार्थ की अवधारणा को समस्यामुक्त नहीं करते। एक अन्य प्रश्न इस सन्दर्भ में यह उपस्थित होता है कि क्या इन चार वर्गों में उन सभी विषयों का समावेश हो जाता है जो मानवीय चेष्टा तथा व्यवहार को सार्थक बनाते हैं ? प्रो. दयाकृष्ण का कहना है कि यह स्पष्ट नहीं है कि 'ज्ञान' अथवा 'बौद्धिक व्यापार' को किस पुरुषार्थ के अन्तर्गत रखा जाय। इस प्रकार खेलकूद-क्रीड़ा या फिर जिसे भरत ने 'क्रीडन' (नाट्य) कहा है, उसको किस वर्ग में स्थान दिया जायगा ? क्या यह उपयुक्त नहीं होगा कि पुरुषार्थ चतुष्टय की कल्पना अतिसंकुचित है ? कब कह सकेंगे कि पुरुषार्थी की गणना अब उपयुक्त या समीचीन है ? केवल अनेक विषयों की ओर ध्यान दिलाना पर्याप्त नहीं होगा। कारण कि विना किसी सिद्धान्त के यह कभी भी विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकेगा कि अब पुरुषार्थों की गणना पूरी हो गई और कोई सार्थक या काम्य विषय शेष नहीं रहा।

यहाँ इस सम्बन्ध में एक सुझाव प्रस्तावित है। 'पुरुषार्थ' शब्द में 'पुरुष' की भूमिका कदाचित् वह सूत्र दे, जिससे उपर्युक्त समस्या का समाधान प्राप्त हो सके। जैसा स्पष्ट है 'पुरुषार्थ' की अवधारणा,

पुरुष की समग्र चेष्टाओं तथा व्यवहार को एक दिशा देती है। ये चेष्टाएँ तथा व्यवहार वांछनीय तथा अवांछनीय दोनों प्रकार के हो सकते हैं। एक ओर वांछनीय तथा अवांछनीय तथा दूसरी ओर कर्तव्य-अकर्तव्य के भेद के आधार की समझ से, पुरुष अथवा मनुष्य की चेष्टाओं तथा व्यवहार अथवा कर्म का दिशा-निर्धारण हो सकता है। जैसा सर्वविदित है—कर्तव्य-अकर्तव्य तथा वांछनीय-अवांछनीय के भेद के आधार का प्रश्न कोई सरल प्रश्न नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों में इस प्रश्न के उत्तर देने के प्रयासों की सुदीर्घ परम्पराएँ उपलब्ध हैं तथा उनमें बड़े मतभेद मिलते हैं। इन मतभेदों के पीछे मनुष्य के स्वरूप तथा मनुष्य के कर्म से भिन्न-भिन्न प्रकार की अपेक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें परस्पर समन्वय बिठाने में कठिनाइयाँ आती हैं। इन अपेक्षाओं के अन्तर्गत एक ओर तो मनुष्य तथा मनुष्य के बीच एक उपयुक्त सम्बन्ध की कल्पना होती है, तो दूसरी ओर एक सर्वांगपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व की कल्पना। एक ओर ऐसी साधनभूत प्रक्रियाओं की कल्पना होती है जिन्हें जीवन को बनाये रखने के लिए आवश्यक मानना पड़ता है, तो दूसरी ओर नियम और सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए जीवन बिताने की कल्पना। इनमें से प्रत्येक अपेक्षा ने सिद्धान्त तथा व्यवहार में विविध रूप ग्रहण किये हैं फलतः विविध विचारतन्त्रों ने जन्म लिया है, जिनके बीच निरन्तर बहस रही है।

व्यवस्था की दृष्टि से इन सभी अपेक्षाओं को मानवीय स्थिति के तीन आयामों से जोड़ा जा सकता है। प्रथम तो वह जो मनुष्य के सत् पक्ष से सम्बन्धित है, जिसे उसके स्वरूप से जोड़ा जा सकता है। इस सम्बन्ध में एक बहस रही है कि मनुष्य का कोई सुनिश्चित स्वरूप है अथवा वह केवल उसके कृत्यों के फलस्वरूप उभरता है, वह उसके विकासक्रम में पहले से किसी सुनिश्चित रूप में विद्यमान है अथवा वह कोई आदर्श रूप है जो सुदीर्घ साधना का परिणाम है। दूसरा आयाम किसी मनुष्य को क्या **प्राप्त** है, इस बात से सम्बन्धित है। इस पक्ष में भौतिक सत्ताओं के अतिरिक्त शारीरिक तथा मानसिक योग्यताओं एवं क्षमताओं की गणना भी की जा सकती है, जो केवल साधनभूत रूप से ग्रहण की जानी चाहिए। यहाँ हम इन क्षमताओं तथा योग्यताओं के उस पक्ष को नहीं ले रहे हैं जो साध्य रूप ग्रहण करती हों। तीसरा आयाम मनुष्य जीवन का **गत्यात्मक** पक्ष है जो उसकी जन्म से मृत्युपर्यन्त यात्रा को चित्रित करता है। इन तीन आयामों में मानवीय स्थिति के सभी पक्षों का समावेश हो जाता है। स्पष्ट है कि सर्वांगपूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना को, सत् से जीवन की साधनभूत आवश्यकताओं को, प्राप्य और प्राप्ति अथवा स्वत्व से, तथा नियम, सिद्धान्तों एवं कर्म की गत्यात्मकता को सम्भवन से जोड़ा जा सकता है। परस्पर वांछनीय मानवीय सम्बन्धों की कल्पना की रक्षा एक ओर सत् पक्ष के अन्तर्गत होती है, तो दूसरी ओर गत्यात्मक सम्भवन पक्ष के अन्तर्गत। यह इस बात पर निर्भर है कि हम एक मनुष्य के सत् में दूसरे के सम्बन्ध का समावेश करते हैं या नहीं। जहाँ तक इन सम्बन्धों को एक वांछित स्थिति में बनाने तथा बनाये रखने का प्रश्न है वहाँ नियम तथा सिद्धान्तों के पक्ष के अन्तर्गत इनको समाविष्ट किया जा सकता है।

विचार के इस ढाँचे में पुरुषार्थों की गणना के प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जा सकता है। इस प्रयास के पूर्व एक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। जीवन में अनेक कर्म ऐसे होते हैं जो किसी एक संन्दर्भ में साध्यरूपी होते हैं तो किसी दूसरे सन्दर्भ में साधनभूत। कुछ उदाहरण लें। ज्ञान की प्राप्ति स्वयं अपने में साध्य हो सकती है। परन्तु जब उस ज्ञान का प्रसार या सम्प्रेषण अर्थलाभ के लिए किया जाता है, तो वह साधनभूत हो जाता है। कला की साधना स्वयं कला के लिए हो सकती है तथा वह जीवनयापन का साधन भी बन सकती है। इसी प्रकार किसी साधन अथवा यन्त्र का निर्माण या आविष्कार स्वयं अपने में साध्य बन सकता है। इन द्विविध स्थितियों के कारण अनेक मानवीय क्रियाकलापों के वर्गीकरण के पहले उनके सन्दर्भ का ध्यान रखना आवश्यक होगा। हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रकार की द्विविधा त्रिवर्ग के सम्बन्ध में भी उपस्थित होती है। परन्तु उपर्युक्त तीन आयामी मानवीय स्थिति की कल्पना में, इन द्विविध सन्दर्भों का ध्यान रखते हुए, पुरुषार्थ चतुष्टय का आकलन किया जा सकता है। साधनभूत अर्थ की तो विशेष समस्या नहीं है, वह तो प्राप्य अथवा प्राप्ति (स्वत्व) के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

मोक्ष को लेकर भी विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि मोक्ष का अर्थ यदि स्वरूप की प्राप्ति माना जाय तब वह सत् पक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। समस्या 'काम' तथा 'धर्म' के सम्बन्ध में उपस्थित होती है—इन्हें सत्, स्वत्व अथवा संभवन में से किस में लिया जा सकता है ? यदि हम इन तीन आयामों को मानवीय स्थिति के निःशेष आयाम मान लें तब 'काम' एवं 'धर्म' का समावेश इनमें से किसके अन्तर्गत होना चाहिए ?

जैसा हम देख चुके हैं, काम को इच्छा एवं भोग दोनों रूप में ग्रहण किया गया है—दोनों ही अवस्थाओं में उसकी दो दिशाएँ—दैहिक तथा अदैहिक हो सकती हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कर्म के आरम्भ तथा इति दोनों पर काम छाया हुआ है—कर्म के आरम्भ के रूप में कामना या इच्छा तथा उसके समापन के रूप में भोग। कभी-कभी कर्म का प्रक्रियात्मक रूप ही भोग पक्ष में प्रकट होता है तथा कभी बहुधा किसी वस्तुविषय की प्राप्ति अथवा उसके आत्मसात् में। इस वर्णन को ध्यान में रखते हुए काम की स्थिति स्वत्व के अन्तर्गत आयेगी तथा जहाँ कर्म का सक्रिय पक्ष है, वह संभवन के अन्तर्गत है। यह ध्यान रखना होगा कि इस सन्दर्भ में 'काम' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक फलक पर किया जा रहा है, वह केवल यौनसुख तथा सीमित नहीं है।

कर्म की प्रक्रिया केवल इच्छा से प्राप्ति तक ही सम्पन्न नहीं हो जाती। या यह कहें कि कर्म की प्रक्रिया का वर्णन केवल इच्छा से प्राप्ति की यात्रा में निःशेष नहीं होता। मनुष्य में तथा अन्य प्राणियों में प्रमुख भेद यह है कि मनुष्य के सन्दर्भ में इच्छा से प्राप्ति तक प्रक्रिया किंचित् अन्य अपेक्षाओं से भी निर्धारित होती है—इन अपेक्षाओं में से कुछ का सम्बन्ध इस बात से है कि क्या प्राप्त करने के लिए क्या करना होगा। अन्य शब्दों में 'वस्तुधर्म' तथा 'घटनाविधान' के ज्ञान के विना सफल कर्म हो सकना एक आकस्मिक बात होगी तथा उसमें अनर्थक चेष्टाओं का बाहुल्य होगा। दूसरी अपेक्षाएँ वांछनीय मानवीय स्वरूप, परस्पर वांछनीय मानवीय सम्बन्धों के आलोक में निश्चित

होती हैं। इन दूसरी अपेक्षाओं को ही धर्म की अथवा 'धर्म की माँग' की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टि से 'धर्म' का समावेश 'संभवन' तथा 'सत्' दोनों ही आयामों के अन्तर्गत करना पड़ेगा। जहाँ तक अपेक्षाओं के निर्धारण के औचित्य तथा आधार का प्रश्न है, यह धर्म के उस रूप से सम्बन्धित होगा जो मनुन्य के वांछनीय अथवा वास्तविक स्वरूप (सत्) को तथा परस्पर वांछनीय मानवीय सम्बन्धों (समाज का सत् रूप) को अभिव्यक्ति देता है और जब धर्म कर्तव्य का विशिष्ट रूप ग्रहण करता है, अर्थात् व्यक्ति को क्या करना चाहिए, तब वह संभवन आयाम के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योंकि यही किसी भी मानवीय कर्म का सम्पूर्ण गत्यात्मक रूप निर्धारित करता है।

भारतीय संस्कृति के कुछ सन्दर्भों में पाप-पुण्य की अवधारणाएँ स्वीकार की जाती हैं—यही नहीं, उन्हें आगे के जीवन के लिए प्रभावकारी, फलनिर्णायक अर्जित स्वत्व के रूप में भी ग्रहण किया जाता है। इस सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए यदि पुण्यार्जन को धर्मार्जन के रूप में समझा जाय, तब स्पष्टतया धर्म के इस पक्ष को स्वत्व के आयाम के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

ऊपर यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि क्योंकि पुरुषार्थ चतुष्टय में उन सभी काम्य विषयों/लक्ष्यों की गणना नहीं होती जो वस्तुतः मानवीय चेष्टा को दिशा देते हैं या उसका निर्धारण करते हैं तब यह समस्या उत्पन्न होती है कि इन अतिरिक्त लक्ष्यों को इन वर्गों में किस प्रकार समाविष्ट किया जाय ? प्रस्तुत विवेचन में इस प्रश्न का समाधान तलाश करने के लिए यह देखना होगा कि कर्म का लक्ष्य/विषय मानवीय स्वरूप के किस घटक की ओर संकेत करता है, अथवा उसे प्राप्त करने के किस साधन अथवा विषय-सामग्री का निर्देश करता है। इस अन्वीक्षण के आधार पर समस्त काम्य चेष्टाओं की दिशाओं का आकलन मानवीय स्थिति के पूर्वोक्त तीन आयामों में किया जा सकता है। हमने यह भी पाया कि पुरुषार्थ चतुष्टय को किस प्रकार इन आयामों से एक आधार मिलता है।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाना अनुपयुक्त नहीं होगा। जिन आयामों की इस निबन्ध में चर्चा हुई है, वे हमें मानवीय स्थिति से परे जाने के लिए बाध्य नहीं करते। कदाचित् यह आपत्ति उठाई जाय कि वांछनीय मानवीय स्वरूप तथा वांछनीय मानवीय सम्बन्धों के आधार के रूप में धर्म के उस रूप की ओर जाना भी आवश्यक होगा जिसे समस्त अस्तित्व का धारक माना गया है। मुझे लगता है कि यह बात विवाद की हो सकती है, तथा इस पर स्वतन्त्र रूप में विमर्श की अपेक्षा है।

●

1. प्रस्तुत निबन्ध में गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित '**महाभारत** के खण्डों का आश्रय लिया गया है।

दिक् की अवधारणा : वाक्यपदीय के संदर्भ में

श्री डी. एन. तिवारी

दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य समस्याओं की छानबीन द्वारा उनमें निहित मूलभूत सत्ता का अनावरण करना है। यह छानबीन दृश्य से अदृश्य की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर विचार के समस्त पक्षों से गुजरने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से गुजरने पर वह समस्या हर दार्शनिक कें समक्ष अमूर्त रूप में उपस्थित होती है। उसका वैचारिक या प्रत्ययात्मक रूप ही चिंतन का मुख्य विषय बन जाता है। अमूर्त के स्वरूप के संबंध में अनेक प्रकार से संकल्पनाएँ की जाती हैं। जब कोई संकल्पना की जाती है तो वह मानसिक संरचना जैसी कोई चीज होती है। परंतु जब एक बार कोई संकल्पना ठीक से बना ली जाती है तो उसके संबंध में सभी प्रश्न तथ्यात्मक हो जाते हैं और उस अमूर्त का व्यवहार भी मूर्तवत् होने लगता है। उदाहरण के लिए विषुवत् रेखा एक काल्पनिक रेखा है। किन्तु जब एक बार विषुवत् रेखा मान ली गयी और उस रूप में व्यवहृत होने लगी, तो विषुवत् रेखा के पूर्व में कौन देश है ? पश्चिम में कौन देश है ? अथवा जिस नाव से हम विषुवत् रेखा पार करने जा रहे हैं वह उस रेखा को पार कर ली है अथवा नहीं ?–ये सारे प्रश्न काल्पनिक नहीं रह जाते, बल्कि यथार्थ हो जाते हैं और इन प्रश्नों का उत्तर भी तथ्यात्मक हो जाता है।

देशकालावच्छिन्न जगत् के रहस्योद्घाटन में विचारकों ने देश-काल को भी एक प्रमुख घटक माना है। देश एवं काल की समस्या को मूलतः एक घटक की समस्या के रूप में स्वीकार किया गया है; किन्तु विचारकों ने पृथक्-पृथक् करके इनकी व्याख्या की है।

भारतीय दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से देश की संकल्पना की है। यहाँ आकाश, दिक् (दिशा) और देश शब्दों का अर्थ एक ही नहीं माना गया है। उपनिषदों में आकाश का दिक् के अर्थ में प्रयोग मिलता है, न कि दिक् को व्याप्त करने वाले अन्य तत्त्व के अर्थ में[1]। वैशेषिकों के अनुसार आकाश और दिक् द्रव्य हैं। शब्द गुण का अधिष्ठान द्रव्य आकाश है और यह आकाश शब्द प्रसार का सर्वव्यापी माध्यम है। इसे इथर भी कहते हैं। आकाश समस्त दिक् को व्याप्त करता है और इसीलिए इसे दिक् से पृथक् पदार्थ माना गया है। अन्य द्रव्यों की तरह दिक् भी गुणों का आश्रय है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये दिक् के गुण हैं[2]।

दिक् विभु द्रव्य है। प्रत्येक सीमित वस्तु से दिक् का संयोग रहता है। चूँकि दिक् सर्वत्र व्याप्त रहता है, इसीलिए विभिन्न वस्तुओं में परत्व-अपरत्व पाया जाता है। जब यह अनन्त दिक् सीमित

वस्तुओं से संबंधित होता है तो सान्त लगता है; किन्तु वैशेषिकों के अनुसार यह सान्तता उपाधि-जन्य होने के कारण अयथार्थ होती है।

शंकर मिश्र के अनुसार दिक् निरवयव नित्य द्रव्य है। चूँकि इसके अवयव नहीं होते इसीलिए न तो इसकी उत्पत्ति होती है और न ही विनाश[3]।

भाषापरिच्छेदकार के अनुसार[4] एक होते हुए भी दिक् पूरब, पश्चिम आदि उपाधियों का कारण है। ये पूर्वादि दश दिशाएँ दिक् में स्थित पिण्डों के गुण के रूप में समझी जाती हैं। पूरब, पश्चिम आदि में यदि दिक् को विभक्त माना जाय तो उसे सम्बद्ध करने के लिए कोई सामान्य सूत्र मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। व्यवहार में पूरब को पश्चिम से पृथक् करके ही समझा जाता है।

वैशेषिकों की यह भी मान्यता है कि दिक् मूर्त नहीं है, अतः इसमें गति नहीं पायी जाती है। पिण्डों की गति से ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि दिक् ही इन गतियों का उपादानकारण है।

दिक् की सत्ता के संबंध में वैशेषिकों की मान्यता है कि हमारे अनुभव करने अथवा न करने पर दिक् की सत्ता निर्भर नहीं है। यह प्रत्यक्ष अगोचर है क्योंकि जो भी प्रत्यक्षगोचर होता है वह मूर्त, रूपवान् एवं आकारवान् होता है और दिक् अमूर्त है। अतः पूर्व-पश्चिम, परत्व, अपरत्वरूपी लिंगों के आधार पर दिक् का अनुमान होता है[5]।

उदयाचल से अस्ताचल की दूरी के आधार पर भी दिक् का अनुमान किया जाता है। दिक् वह माध्यम है जिसके द्वारा सूर्य की गति तथा वस्तुओं का संयोग रहता है–ऐसा अनुभवसिद्ध है[6]।

वैशेषिकों से भिन्न नैयायिकों के अनुसार[7] आकाशभूत-द्रव्य है जबकि दिक् नहीं। आकाश "शब्द" का उपादानकारण है; किन्तु दिक् में ऐसा गुण नहीं है। काल की तरह दिक् सभी कार्यों का कारण होता है जबकि आकाश एक ही कार्य (शब्द) का कारण होता है। नैयायिकों की मान्यता है कि दो वस्तुएँ एक ही स्थान को आच्छादित नहीं करती हैं। अतः उन वस्तुओं को निश्चित तथा निर्धारित करने के लिए 'दिक्' नामक द्रव्य को स्वीकार करना पड़ता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार[8] पूर्व-पश्चिम आदि के हेतु को दिक् कहते हैं। कुछ इसी तरह की परिभाषा सर्वदर्शन-संग्रहकार ने दी है। उसके अनुसार दिक् काल से भिन्न है फिर भी उसका समव्यापी है तथा उसका कोई विशिष्ट गुण नहीं होता। यह दूर, निकट आदि व्यवहारों का कारण है[9]। शिवादित्य के अनुसार दिक् परत्व तथा अपरत्व का असमवायिकारण है; किन्तु सूर्य की गति से उसका संयोग नहीं रहता है[10]।

इस प्रकार न्यायवैशेषिक दर्शन में दिक् की वस्तुगत सत्ता स्वीकार की गयी है और इसे आकाश से भिन्न द्रव्य माना गया है। यह ऐसा देश नहीं है जिसे विस्तार या अवकाशयुक्त माना जाता है। इन दर्शनों में वस्तुतः आकाश ही यथार्थ दिक् है, जो वस्तुओं को स्थान या अवकाश प्रदान करती है।

कुमारिल के अनुसार[11] दिक् एक तथा नित्य सर्वव्यापी है। इसका विस्तार आकाशपर्यन्त है। जब यह कर्णगोलक द्वारा सीमित होता है तो श्रवणेन्द्रिय कहा जाता है। बाह्य उपाधियों से पूर्व, पर आदि द्वारा यह दिक् सीमित तथा विभाजित होता है।

वैशेषिकों से भिन्न मीमांसकों की मान्यता है कि दिक् की अनुमान से नहीं अपितु प्रत्यक्ष बोध के रूप में जानते हैं[12]। नारायण मिश्र के अनुसार दिक् और काल अन्य द्रव्यों के विशेष के रूप में प्रत्यक्षवेद्य हैं[13]। मीमांसक आकाश को दिक् से भिन्न नित्य तथा सर्वव्यापी द्रव्य मानते हैं। यद्यपि आकाश एक है फिर भी अनेक उपाधियों से घटाकाश, महाकाश के रूप में विभागों का व्यवहार उसमें किया जाता है। मीमांसकों में भी प्रभाकर आकाश को प्रत्यक्षवेद्य नहीं मानते हैं। कुमारिल भट्ट इसे प्रत्यक्षवेद्य मानते हैं। उनका तर्क है कि यदि दिक् को प्रत्यक्षवेद्य न मानें तो यह अज्ञात ही रह जाएगा।

न्यायवैशेषिक एवं मीमांसा के विचारों से भिन्न अद्वैतवेदान्तियों की मान्यता है कि दिक् और आकाश भिन्न नहीं हैं। दिक् (आकाश) नित्य नहीं है क्योंकि इसमें ऐसे गुण पाए जाते हैं जिनका परिवर्तन तथा विनाश होता है। आकाशादि आश्रित तथा ससीम हैं। सूक्ष्म आकाश का ज्ञान इसमें पाए जाने वाले भौतिक वस्तुओं के ज्ञान द्वारा होता है। यदि भौतिक वस्तुएँ न हों तो आकाश का ज्ञान संभव नहीं होगा। दिक् सभी वस्तुओं का धारक है। चूँकि दिक् सभी वस्तुओं के अस्तित्व को सम्भव बनाता है इसीलिए इसे सृष्टि का कारण भी कहा जाता है। अद्वैत के अनुसार[14] आकाश अपरिभेद, सर्वव्यापी तथा सूक्ष्म है। आचार्य शंकर ने आकाश को नित्य नहीं किन्तु भाव पदार्थ माना है। दिक् काल सापेक्ष प्रत्यय है और स्वतंत्र नहीं है[15]।

सांख्य दर्शन में भी दिक्-काल की सत्ता को ज्ञाता से निरपेक्ष नहीं माना गया है। देश, काल बुद्धि के आकार हैं।

पाणिनि के सूत्रों एवं महाभाष्य में दिए गए दिक् सम्बंधी विचारों के आधार पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तीसरे भाग के "दिक्समुद्देश" में दिक् की विशद व्याख्या की है। इस लेख में इन्हीं तीनों मनीषियों के दिक् संबंधी विचारों को आधार बनाया गया है। उपनिषदों की तरह वाक्यपदीय में भी आकाश एवं दिक् को भिन्न-भिन्न नहीं माना गया है।

आकाश एक है और इसमें कोई अवयव-अवयवी भाव नहीं है। यह निरवयव है और इसी रूप में यह **दिक्** अर्थ वाला है। यह संसार की समस्त वस्तुओं से संबंधित है। सभी वस्तुओं को आश्रय प्रदान करता है। सभी वस्तुएँ दिक् में स्थित हैं। हेलाराज के अनुसार[16] इसे **आकाश** इसीलिए कहते हैं क्योंकि यह समस्त वस्तुओं को अवकाश या स्थान देता है। यद्यपि यह एक है फिर भी इसे विभक्त के रूप में जाना जाता है। जगत् में जितनी भी वस्तुएँ हैं, जो स्थान घेरती हैं, उन अनेक वस्तुओं के संदर्भ में इसे अनेक रूप में भी देखा जाता है। जो वस्तु जितना स्थान घेरती है, वह स्थान उस एक दिक् का एक विभाग कहा जाता है। ये प्रत्येक विभाग दिक् के अन्तर्गत निहित **देश** हैं।

वाक्यपदीय के अनुसार सिद्धद्रव्य को बताने वाली वस्तु दिक् है[17]। सिद्धद्रव्य क्या है ? उदाहरण के लिए "घट" एक शब्द है, जो एक अर्थ को बताता है। इस अर्थ से भिन्न "घट" कोई अलग द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार दिक् शब्द भी एक सिद्धद्रव्य (जो दिक् का अर्थ है) को बताता है। वाक्यपदीयकार के मत में दिक्, साधन, क्रिया और काल इन शब्दों का जो अर्थ है उससे भिन्न कोई अन्य पदार्थ ये नहीं होते। ये अमूर्त पदार्थ हैं और अवधि के द्वारा इनकी व्याख्या की जाती है। ये शक्तिरूप हैं और शक्तिमान पदार्थों के द्वारा इन्हें समझने का प्रयास किया जाता है। शक्ति अमूर्त होती है इसका कोई रूप नहीं होता। इसीलिए अवयव-अवयवी भाव में इसे अवयवी मानने का सिद्धान्त व्यवस्थित नहीं है। भर्तृहरि की पंक्ति है–"**भक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिता:**"[18], अर्थात् अमूर्त पदार्थों को विभाग या अवयव के रूप में कहना अनवस्थित है। विभाग तो रूपवान् का ही होता है क्योंकि उसमें अवयव-अवयवी भाव संभव होता है। किन्तु जो शक्ति रूप पदार्थ है, निरवयव है, अमूर्त है, उन पदार्थों की भक्तिरूप (विभक्त या अवयवी भाव) में व्याख्या नहीं की जा सकती। कहीं-कहीं "भक्तिरूपे" के स्थान पर "शक्तिरूपे" पाठ भी मिलता है; किन्तु "भक्तिरूपे" पाठ ही संगत बैठता है। कारण यह कि –यदि हम अखण्ड या खण्ड वाक्यार्थों का लघुतर इकाइयों में विश्लेषण करने की बात करें तो कुछ ऐसे भी वाक्य मिलेंगे जिनके अर्थ विश्लेषण से प्राप्त सभी खण्डों के द्वारा भी व्यक्त नहीं होते। उदाहरण के लिए दिक्, काल, क्रिया और साधन–ये शब्दों के द्वारा व्यक्त होने वाले विचार मात्र नहीं हैं। तत्त्व-चिंतन में इनकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन विचारों को भर्तृहरि ने "शक्ति" संज्ञा से अभिहित किया है। सामान्य एवं तत्त्व की धारणा भी इन्हीं धारणाओं के अन्तर्गत आती है, जो वाक्य के विश्लेषण से प्राप्त सभी शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं मानी जाती। अतः दिक् शब्द का प्रकृति-प्रत्यय विश्लेषण से जो अर्थ होता है उसके द्वारा दिक् का अर्थ व्यक्त नहीं होता, साथ ही विभिन्न देशों के रूप में दिक् को समझने पर अनवस्था होती है।

भर्तृहरि[19] ने शक्ति को व्यापक अर्थ में लिया है। शक्ति वह है जो कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम (कारण) है। वैशेषिकसम्मत सप्त पदार्थों को भर्तृहरि ने परमतत्त्व की शक्तियाँ मानी• हैं। निरेपक्ष तत्त्व नहीं माना है। कोई पदार्थ जिसमें व्यक्त होने की क्षमता है, वह शक्ति है। प्रत्येक कारण जिसमें कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता है उसे भर्तृहरि ने "शक्ति" कहा है। उस शक्ति का अस्तित्व उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों एवं प्रभावों के द्वारा अनुमित होता है।

काल[20] की तरह दिक् भी ब्रह्म की शक्ति है और इस शक्ति का अस्तित्व इसके द्वारा उत्पन्न कार्यों के आधार पर सिद्ध होता है। कार्यों एवं प्रभावों के आधार पर दिक्-शक्ति के अस्तित्व के अनुमान में भर्तृहरि ने निम्न युक्तियाँ दी हैं–

1. यदि मूर्त (देश) से अमूर्त (दिक्) की कल्पना होती है–ऐसा मानें तो प्रश्न उठता है कि इस कल्पना का वास्तविक स्वरूप क्या है ? व्याकरण दर्शन में कल्पना निराधार नहीं होती। उसका एक आधार होता है। और वह आधार है–कार्य को देखकर या व्यवहार से परमार्थ, मूर्त से अमूर्त की कल्पना। मूर्त कार्य है और उनके कारण के रूप में अमूर्त दिक् की संकल्पना होती है। पर्वत, पहाड़

आदि को हम देखते हैं किन्तु अमूर्त दिक् को नहीं। फिर भी, उसके कार्यों, सूर्यादि की गति से उसको समझने का प्रयास होता है।

जिस प्रकार चेतन-क्रियाओं–सोचने, विचारने, बोलने आदि से अमूर्त निरवयव चेतना का अनुमान होता है, उसी तरह दिक् के कार्यों को देखकर उनसे इस बात का अनुमान किया जाता है कि दिक् भी कोई चीज है।

2. जो वस्तु किसी एक वस्तु से पूरब है वही दूसरी वस्तु से पश्चिम है। इसलिए सीधे रूप से देश को नहीं कहा जा सकता है। किसी अवधि को मान लेने पर प्रतिपाद्य (जिसे बताना है या जिसका प्रतिपादन करना है) की व्याख्या की जाती है। इस अवधि से इधर पूरब है और उधर पश्चिम। इस प्रकार अवधि और प्रतिपाद्य भिन्न गोचर हैं। उदाहरण के लिए किसी पहाड़ को यदि अवधि मान लें तो उससे किधर पूरब, किधर पश्चिम कहेंगे–यह प्रतिपाद्य है और पहाड़ को आधार बनाकर ही हम पूरब, पश्चिम का प्रतिपादन करते हैं। अवधि न मानने पर पूरब-पश्चिमादि व्यवस्था व्यवस्थित नहीं होगी, अर्थात् इस स्थिति में पश्चिम भी पूरब हो सकता है और पूरब भी पश्चिम हो सकता है। अतः भिन्न गोचर अवधि-प्रतिपाद्य के निमित्तान्तर (दिक्) को मानना पड़ता है[21]।

पाणिनि का सूत्र है "पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् असंज्ञायाम्"[22] अर्थात् अवधि से प्रतिपाद्य का भेद है। उनके बीच भेद का कारण दिक् है। अवधि और प्रतिपाद्य का भेद अनुमित है और दिक् के कारण हम भेद का अनुमान करते हैं। पुनः "ऋजुवक्रादिबुद्धिनियामकत्वं दिक्" के अनुसार "यह इससे सीधा है, यह इससे टेढ़ा है" ऐसे ज्ञान में अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। इसमें दिक् ही निमित्त होता है। "यह ऊपर सीधा है, नीचे सीधा है", यह ज्ञान हमें पृथ्वी की दिशा से नहीं होता है। पृथ्वी आदि के विना "इदम् अस्मात्पूर्वम्" का जो ज्ञान होता है, उसमें ऐसी बुद्धि जिससे होती है वह दिक् है। कोई वस्तु ऊपर सीधी है, नीचे सीधी है, इसे दिक् के आधार पर ही समझते हैं[23]। भर्तृहरि अवधि, अवधिमत संबंध के नियामक को दिक् कहते हैं। अवधि, अवधिमत को समझने के लिए हम धन एवं धनवान् शब्दों को ले सकते हैं। धन अवधि है और जो भी धनवान् हैं वे अवधिमत हैं। इस प्रकार मान लें, कोई रेखा "क" भूमिका अवधि है और उस "क" से पूर्वपरादि दोनों के संबंध बताने पर उनके बीच संबंध का जो नियामक होता है वह दिक् है। नियामक का तात्पर्य उससे है जो नियम करने वाला हो। और यह नियम दिक् से होता है। अतः अवधि (देश) एवं प्रतिपाद्य (पूर्वादि) से भिन्न उसमें नियम देने वाले दिक् की सत्ता है।

3. कर्म में जो जाति-भेद–उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन हैं, उनमें कर्मत्व सबमें व्याप्त है। उत्क्षेपणादि की अभिव्यक्ति जिसके कारण होती है वह दिक् है। अपनी उपाधियों (भेदक शक्तियों) से भिन्न शक्ति दिक् है। पाणिनि के अनुसार "इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिंगम्"[24] अर्थात् "इस अवधि से (यहाँ से) यह है" यह जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे दिक् कहते हैं।

हेलाराज का कहना है कि पृथ्वी आदि की स्वतंत्र उपलब्धि होती है, अतः वे स्वतंत्र द्रव्य रूप हैं। दिक् की स्वतंत्र उपलब्धि नहीं होती है उसका अनुमान होता है। अतः यह अलग स्वतंत्र द्रव्य नहीं है परंतु शक्ति है। एक ही तरह के कार्य से सबका अनुमान करते हैं अतः दिक् एक ही है किन्तु उपाधि से कल्पित प्राची-प्रतीची आदि दिशाएँ जानी जाती हैं। इसके लिए सूत्र है "आदित्यसम्प्रयोगादभूतपूर्वादभविष्यतोऽभूताच्च प्राची"[25], अर्थात् सूर्य का सबसे पहले जिसमें संयोग होता है और यह संयोग पहले भी हुआ, आज है और आगे भी होगा, यह प्राची (पूरब) है। प्रांचति–पहले जहाँ प्राप्त होते हैं, ऐसा विग्रह करने पर सूर्य जहाँ पहले प्राप्त हो वह पूर्व है। गति अर्थ में अच् धातु करके "प्रतिकूलम् अंचति" ऐसा विग्रह करने पर प्रतीची (पश्चिम) अर्थात् जहाँ पूर्व में सूर्य का संबंध हुआ था उससे प्रतिकूल चला गया उसे पश्चिम, "प्रतीचम् अंचति यस्मात्" प्रतीची और "उदं मुखम् अंचति" इस विग्रहार्थ में उत्तर शब्द से उत्तर दिक् कहा जाता है। "अवाङ् मुखम् अंचति" विग्रह से अवाची (दक्षिण) जो इस (उत्तर) के पीछे चला गया, वह दक्षिण है। इसी तरह से ईशान आदि दशों दिशाओं की व्याख्या वैशेषिकों ने की है। इन दिशाओं द्वारा ही लौकिक व्यवहार में दिक् आता है, अतः इसके आधार पर दिक् को भी अनेक कहा जाता है।

4. देशभेद से परत्व, अपरत्व का ज्ञान होता है; किन्तु देशभेद का ज्ञान किस आधार पर होता है ? इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि देशभेद का कारण दिक् है। काल में देश का भेद नहीं होता। बल्कि भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान के क्रम का कारण काल है। देश में भेद दिक् के कारण मालूम पड़ता है[26]। जिस प्रकार काल में क्रम की अपेक्षा से कौन पर है, कौन अपर है ? इसे समझा जाता है। पूर्वपरादि रूप से एक ही दिक् के अनेक भेद किए जाते हैं[27]।

5. संसार में दो तरह की चीजें हैं–(1)-विभु–जो व्यापक होता है, अधिक देश में होता है जैसे आकाश (2) मूर्त-जो व्यापक नहीं है एवं जो कम देश में होता है। मूर्त पदार्थों में देशभेद प्रत्यक्ष-गोचर है और अमूर्त आकाशादि में जो देशभेद की कल्पना की जाती है उसका आधार दिक् होता है। वही कल्पना मानसिक होती है तो भी इसका आधार व्यवहार होता है। देशभेद के व्यवहार से उसके आधार पर अमूर्त दिक् की कल्पना अनुमानजन्य ज्ञान है। देश में जिस प्रकार भेद करते हैं उसी प्रकार भेद अमूर्त आकाश में भी लागू करके उसे समझते हैं। आकाश के कुछ भाग को "इधर", कुछ को "उधर" कहते हैं। पूर्व-पश्चिम आदि (जिसका पर्वतादि देश से संबंध है) के संयोगी देश-भेद के कारण आकाश में भी पूर्वाकाश, पश्चिमाकाश की जो कल्पना होती है उसका कारण दिक् है। मूर्त से अमूर्त में, रूपवान् से रूपहीन की इस प्रकार कल्पना हो जाती है[28]।

मूर्त पदार्थों में परत्व, अपरत्व देशभेद के कारण होता है। देशभेद दिक् के कारण होता है। दिक् के कारण ही देश में परत्वादि की कल्पना होती है। आकाश में इधर ध्रुवतारा है, इधर मंगल है, आदि की कल्पना संयोग-विभागपूर्वक होती है और उसका आधार दिक् होता है[29]। पूर्व-पश्चिम विभाग अवधिसापेक्ष है और विभाग व्यवस्था अर्थ होने पर होती है। व्यवस्था के संबंध में

कहा गया है "स्वाभिधेयापेक्षा अवधिनियमो व्यवस्था"[30] अर्थात् जो प्रतिपाद्य है (पूर्वपरादि) उसकी अवधि (पर्वतादि) का जो नियम किया जाता है, उसे व्यवस्था कहते हैं।

भर्तृहरि ने यह प्रश्न उठाया है कि देश की (भाग की) व्यवस्था दिक् से होती है; किन्तु दिक् की व्यवस्था कैसे होती है ? यही भर्तृहरि ने व्यवस्था और रूढ़ि का भेद किया है। उनके अनुसार देश में अवधि के द्वारा व्यवस्था की व्याख्या हो जाती है; किन्तु दिक् में पर, अपर जो है उसमें व्यवस्था हेतु किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ये दिशा (दिक्) के लिए रूढ़ शब्द है। दिक् में पर-अपर सिद्ध (सत्) हैं, अतः उपाधि आदि से उनकी व्यवस्था नहीं होती है। उदाहरण के लिए दिक् है तभी "इधर पाटलिपुत्र है", "उधर लखनऊ है" आदि देश की व्यवस्था होती है। किसी द्रव्य की शक्तियाँ उपकार (जो उसे भिन्न करती हैं) के कारण सिद्ध होती हैं अथवा उपकार के कारण उनकी कल्पना होती है[31]। दिक् नामक जो पदार्थ है उसकी शक्ति (पूर्वपरादि रूप) पहले से निश्चित है, अतः उसके भेदक की आवश्यकता नहीं होती। पूर्वत्व, परत्व भेद दिक् के लिए प्रसिद्ध है अतः अन्य भेदक की आवश्यकता नहीं होती। यदि परत्व, अपरत्व दिक् से भिन्न हों तो तीसरे भेदक की आवश्यकता होती हैं; किन्तु ऐसा न होने के कारण दिक् से अतिरिक्त तीसरे भेदक की आवश्यकता नहीं; परंतु हम जानते हैं कि दिक् में अवधि-प्रतिपाद्य का भेद नहीं होता, अभेद होता है, अतः दिक् में व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता है। देश की उपाधि से दिक् को भी विशेषित कह देते हैं जैसे पूर्वादिक आदि। ऐसा कहने का कारण–जिसमें पहले बुद्धि है वह पूरब और इसके विपरीत वाले में दूसरी बुद्धि होने पर प्रतीची कहा जाता है। पूर्वादि पहले से सिद्ध है, अतः उसमें किसी तीसरे द्वारा व्यवस्था देने या सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। पूर्व के संबंध में यह समझना आवश्यक है कि उसी में मिली हुई पहले बुद्धि हुई, इसलिए वह पूरब हुआ यदि ऐसा होगा तभी यह शब्द अर्थयुक्त होगा अन्यथा अन्वर्थक होगा[32]।

देश में व्यवस्था दिक् से मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने मुखादि अंगों से ही देश की व्यवस्था या देश का निर्देश हो जाता है फिर दिक् को मानने की आवश्यकता क्या है ? अर्थात् देश में व्यवस्था के लिए हेतु के रूप में दिक् की क्या आवश्यकता है ? भर्तृहरि का उत्तर है कि लोक में अंग से दिक् की व्यवस्था दी जाती है उदाहरण के लिए सूर्योदय के समय सूर्य के सामने मुख करने पर मुखभाग की तरफ पूरब, पृष्ठ भाग पश्चिम, दाहिने हाथ दक्षिण और बाएँ हाथ उत्तर दिशा का निर्देश होता है; किन्तु चूँकि मुख किसी भी दिशा में हो सकता है। मुख के विपरीत की ओर मुख को करके दिशानिर्देश करने पर जो व्यवस्था दी जाएगी वह व्यवस्था नियत नहीं होती; किन्तु दिक् को मान लेने पर व्यवस्था नियत हो जाती है[33]।

पुनः यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि देश से भी व्यवस्था हो सकती है अतः दिक् की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है जैसे उत्तरापथ, दक्षिणापथ, पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि रूप में, तो इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि यह नियम दिक् में व्यवस्थित नहीं हो सकता है। देश का

कुछ नाम है जैसे मान लें "अपर देश" तो भी इस व्यवस्था में उसे "पर" मानना पड़ेगा। उदाहरण के लिए उत्तर कौरव शब्द का उत्तर देश से कोई संबंध नहीं है जो उत्तर–कौरव के भी उत्तर में रहते हैं वे भी इसे उत्तर कौरव ही कहते हैं; परंतु यदि देश के हिसाब से कहा जाता तो दक्षिण कौरव कहते। अतः दक्षिणापथ आदि रूढ़ि है उसमें देश का संदर्भ नहीं होता। कभी-कभी हम उनके लिए भी "पूर्व" शब्द का प्रयोग करते हैं जो दिशा की दृष्टि से "पश्चिम" में होते हैं। अतः एक तरह से ये रूढ़ नाम हैं, व्यवस्था नहीं। दिक् से अवधि की बात आती है और उस अवधि से इधर पूर्व और उधर पश्चिम की व्यवस्था नियत होती है। अतः पूर्वापर की जो प्रसिद्ध व्यवस्था है वह पूर्वापर को रूढ़ मानने पर ही ठीक रह सकती है। देशव्यवस्था का नियम दिक् को व्यवस्थित करने के लिए ठीक नहीं है, जैसे अपरत्व से रूढ़ होने पर भी पूर्व कहा जाता है। अर्थात् सामने, पीछे, पूर्व, पश्चात् आदि शब्दों का व्यवहार देश पर आधारित नहीं है। अतः विभाग के संबंध में देश पर आधारित व्यवस्था की बात यदि पूर्व, पश्चात् आदि जो दिक् पर पूर्णतः आधारित हैं, में भी स्वीकार की जाय तो दिक् की व्याख्या में स्थिरता नहीं होगी और यह बात रूढ़ि और सिद्धांत दोनों दृष्टियों से स्थिर नहीं मानी जा सकती[34]।

महाभाष्यकार ने "दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः"[35] प्रयोग किया है। इसका अर्थ है दिशावाची के रूप में जो देखे गए हों यदि वैसा ही दिक्, देश और कालवाची में हो तो उसमें प्रत्यय का विधान मिलता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए पाणिनि ने "दिक्शब्देभ्यो दिग्देशकालेषु"[36] कहा है। इसके अनुसार पहले से (पूर्वपरादि) अवधि रहने पर ही दिक्शब्दवाची पूर्व-पर का प्रयोग होता है। अर्थात् अवधि पहले से ही लेकर यहाँ से पूर्व, यहाँ से पश्चिम प्रयोग होता है। देश-काल के लिए भी पूर्वपरादि का प्रयोग होता है और वहाँ भी अवधि की आवश्यकता होती है। किन्तु देश, काल में अपेक्षा होने पर अवधि की बात आती है जबकि दिक् में वह स्वाभाविक होती है। उदाहरण के लिए. पूर्व घट इसमें "पूर्व" अवधि के रूप में है; किन्तु किसकी अपेक्षा से पूर्व है, यह आकांक्षा होने पर अवधि की बात होती है, तब यह निमित्त होता है। पहले घट में पूरब दिशा कही जाती है यद्यपि वह पश्चिम में होता है। देश में अवधि (पूर्वादि) बदलते रहते हैं। जैसे पूर्व से भी पश्चिम और उत्तर से भी पश्चिम कहा जा सकता है। यहाँ अवधि पहले से दिया हुआ नहीं होता। दिक् में प्रयुक्त पूर्वपरादि की तरह रूढ़ या स्वाभाविक भी नहीं होता। इसी तरह काल के लिए भी पूर्वपरादि का रूप अवधि आपेक्षिक एवं निमित्त होती है और अवधि का विचार भी पहले से दिया नहीं होता, बाद में अवधि का विचार उपस्थित होता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय "पूर्वकाल" तो स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि "किसके पूर्व"। अतः काल में भीं पूर्वपरादि किसी निमित्तक या अपेक्षा से प्रयोग होते हैं। इस उदाहरण में जब प्रश्न किया जाता है कि "किससे पूर्व" तो वह "किससे पूर्व" निर्धारित नहीं होता, किसी भी काल से पूर्व कहा जा सकता है, अतः यहाँ भी पूर्वपरादि का विचार बाद में आता है और बदलता रहता है।

इस प्रकार दिक् को देश से भिन्न माना जाता है। पूर्वपरादि शब्द पूरब दिक् आदि में रूढ़ हो गया है और किसी भी अवधि से निश्चय करने पर भी रूढ़ का अर्थ किया जाता है। अवधि के उपाधि से वर्मा आदि से पश्चिम इंग्लैण्ड और इंग्लैण्ड से पूरब वर्मा कहा जाता है।

दिक् को शक्ति रूप मान लेने पर अपरादि शब्द नियत रूप से दिशा के अर्थ में दिखायी देते हैं, अन्यथा देश में तो कहीं से भी पूर्व-पश्चिम कहा जा सकता है। इसी बात को बताने के लिए भर्तृहरि ने एक दृष्टान्त दिया है[37]। षष्टि शब्द संख्या अर्थ में रूढ़ है यह आयु का परिमाणबोधक शब्द है (संख्यावाचक होने पर भी) वर्ष शब्द प्रयुक्त नहीं होने पर भी षष्टि शब्द का अर्थ 60 वर्ष लिया जाता है। उसी प्रकार 60 वर्ष व्यतीत हो गया इसके लिए भी षष्टि शब्द का प्रयोग होता है। वर्ष न होने पर भी 60 वर्ष का बोध होता है। इसीलिए "षष्टिं यतः वर्षाणि धृतः" इस विग्रह में "तमधीष्टो भृतो भूतो भावी"[38] सूत्र से षाष्टिकः प्रयोग की सिद्धि बतायी गयी है। पूर्वपरादि शब्द भी दिक् अर्थ में रूढ़ हैं देश अर्थ में नहीं। शब्दतः देश-काल एवं दिक् तीनों के वाचक होने में पूर्वादि की समता देखी जा सकती है। फिर भी दिक् अर्थ में ये शब्द रूढ़ हैं[39]।

भाष्यकार के अनुसार (दिशा) दिक् और देश दोनों के वाचक पूर्वपरादि में पुंवद्भाव नहीं हो सकता[40]। पुंवद्भाव वहाँ होता है जहाँ दो शब्दों में समास होने पर स्त्री-लिंग विशेषण शब्द की पुंल्लिंग को बताने की भी प्रवृत्ति हो। उदाहरण के लिए "महती चासौ नौमी=महानौमी" इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने पर महानौमी यह पुंल्लिंग शब्द बनता है। इसमें महती विशेषण स्त्रीलिंग है और समान अर्थ के लिए पुंल्लिंग में भी इसकी प्रवृत्ति है। अतः स्त्रीलिंग "महती" शब्द भाषित-पुंस भी है, अतः यहाँ पुंवद्भाव होता है। परंतु देश और दिक् में देशपरक पूर्वपर एवं दिक्परक पूर्वपर दोनों एक ही कारण से नहीं अपितु भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त से कहे जाते हैं, ऐसी स्थिति में पुंवद्भाव नहीं हो सकता। यदि किसी शब्द की पुंल्लिंग में दूसरे कारण से प्रवृत्ति होती है और स्त्री में दूसरे कारण से तो इस स्थिति में पुंवत् नहीं होता। पूर्व-पर पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग दोनों का वाचक है। किन्तु दिक्वाचक पूर्वादि सदैव स्त्रीलिंग एवं देशवासी पूर्वादि सदैव पुंल्लिंग निमित्तक होने से देश एवं दिक्परक पूर्वादि में पुंवद्भाव नहीं हो सकता। अतः देश से भिन्न उसके कारण दिक् की सत्ता सिद्ध होती है।

6. उपरोक्त कार्यों से अमूर्त दिक् के अनुमान के अतिरिक्त भर्तृहरि ने कुछ और कार्यों या प्रभावों का भी उल्लेख किया है जिसके आधार रूप से अमूर्त दिक् का अनुमान किया जाता है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत पर प्रकाश है और किसी अन्य पर्वत पर प्रकाश नहीं है–इस आधार पर दोनों में भेद किया जाता है। यह भेद भी दिक् के कारण होता है। दिक् के धर्म में समभाव वालों से ही उसका विभाजन होगा, अतद्धर्म वालों से विभाजन नहीं हो सकता है। इस प्रकार अमूर्त देश में भेद (विभाग) की कल्पना केवल प्रतीति है क्योंकि अमूर्त में वास्तविक विभाग संभव नहीं है[41]।

7. भाग (भेद) की कल्पना में दिक् का प्रथम स्थान है क्योंकि सृष्टि के आदि से ही वह चलता है। वैशेषिकों के अनुसार सृष्टि के आरंभ में पहले परमाणु होते हैं और अभाग परमाणु में भी उससे ऊपर, नीचे, दाएँ, बाएँ की कल्पना होती है यह दिक् के कारण ही संभव है। अर्थात् जब से परमाणु है तब से भागभेदक दिक् है[42]।

8. जो अदेश में अभाग है, निष्क्रम है, निरूपाश्रय है–जिसका कोई उपाधि विद्यमान नहीं है और जिसमें ध्वनिभेद से स्फोटभेद की कल्पना की तरह भी नहीं कहा जा सकता है–क्योंकि शुरू में भेद नहीं होता। संसर्ग होने पर भेद की बात आती है। शक्तिभेद की कल्पना संसर्ग होने पर ही होती है। जब संसर्ग नहीं है तो भी किसी के संयोग, किसी के समवाय होने पर उसमें भेद की कल्पना करते हैं। परमाणु भी निर्भाग है और निर्भाग से मिलकर बने होने से घट भी निर्भाग है, अतः भाग दूसरी शक्ति से होता है और वह शक्ति दिक् है[43]।

9. अगर यह मानें कि अवयव के कारण अवयवी में भेद की कल्पना होती है और अवयव के भी भेद होते हैं तो इस प्रकार भागभेद की कल्पना दिक् के विभाग की भी कल्पना होगी। दिक् के भेद की कल्पना सूर्य के संबंध से होती है और सूर्य की भी मेरु प्रदेश के संयोग से होती है। इस प्रकार भेद करते रहने से दिक् तक पहुँचते हैं और अगर दिक् को भी सभी भेदों का अंतिम आधार न मानें तो अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। ऐसे भेद की समाप्ति कहीं नहीं होती इसलिए इन सभी भेदों का भेदक दिक् को मानना पड़ता है[44]।

10. दिक् के कार्य सर्वत्र देखे जाते हैं अतः दिक् विभु है और सभी देशों में उसके कार्य प्रत्यक्ष-गोचर है, अतः प्रत्यक्षगोचर कार्यों के आधारभूत तत्त्व के रूप में प्रत्यक्ष अगोचर अमूर्त दिक् को मानना पड़ता है[45]।

11. दिक् काल की परिकल्पना चैतन्य की परिकल्पना की तरह है। जैसे चिंतन, मनन, गमनादि कार्यों को देखकर अमूर्त चैतन्य को मानना पड़ता है। उसी तरह कार्यों को देखकर दिक् को मानना पड़ता है। चैतन्य प्राणियों की प्रकृति है, अतः स्वाभाविक एवं स्वतःसिद्ध है, उसी प्रकार दिक् प्रकृति है, स्वाभाविक है, अतः उसे अन्यथासिद्ध नहीं कर सकते हैं[46]।

12. पूर्वादि के द्वारा जो दिक् में व्यवहार होता है वह रूढ़ हो गया है। स्वाभाविक बन गया है। अर्थात् व्यवहार में आ गया है और जो व्यवहार में आ जाता है उसमें परिवर्तन करने पर व्यवहार में सांकर्य (सङ्कर) आ जाता है[47]। सङ्कर का तात्पर्य एक ही जगह मिश्रित सा हो जाना है। हेलाराज ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्यवहार से जो कर्म करते हैं उसके दो फल हैं–दृष्ट एवं अदृष्ट। उदाहरण के लिए "आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते" पूर्वमुख बैठकर खाना खाने से आयु बढ़ती है, "न प्रतीचीशिरा शयीत" (पश्चिम दिशा में सिर रखकर न सोवें) ये स्मृति वाक्य हैं और व्यवहार में आ गए हैं, पूर्व, पश्चिम निर्धारित हो गया है। पूर्वाभिमुख होकर अन्न खाया, तो इसका "तृप्त हुआ"–यह दृष्ट फल है और आयु में वृद्धि रूप अदृष्ट फल भी है। इसी प्रकार श्राद्धकर्म दृष्ट कर्म है और पूर्वाह्ण में करने का अदृष्ट फल भी स्मृतियाँ मानती हैं। अतः इस

नियम का विलोप मानने पर जो विधि की व्यवस्था है उसमें संकर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम स्वाभाविक हो गए हैं, उसी के आधार पर व्यवहार चलते हैं, अतः पूर्व-पश्चिम को व्यवहार से भिन्न करने पर व्यवहार से सङ्कर उत्पन्न होगा और उन भावों को छोड़ देने के बाद भी प्रसिद्ध भावों का अवलम्बन करना पड़ता है[48] । अतः व्यवहार में व्यवहृत पूर्वादि भावों को न मानने पर वेदादि में जो दिशानिर्देश हुआ है उसमें सङ्कर (विभ्रम) उत्पन्न होगा ।

भर्तृहरि ने व्याकरण के आधार पर भी अवधि रूप पूर्व-पर आदि विभागों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । चूँकि दिक् द्वारा अभिव्यंजन शब्द जब देश और काल के विभाजन हेतु प्रयुक्त होते हैं तो उनमें अवधि-अवधिमद्भाव होता है, इसीलिए उन्हें व्यक्त करने के लिए उनमें पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है । जैसे "विद्यालयात् पूर्वस्य" इसमें विद्यालय अवधि है अतः इसमें पंचमी विभक्ति होती है । इस संबंध में पाणिनि का सूत्र है–"अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाच्वतुरपदाजाहि युक्ते"[49] इसके अनुसार "ग्रामात् अन्यः, विद्यालयात् आरात्" आदि में अवधि के कारण (जो अवधि के रूप में अपेक्षित है इसके पूर्व योग होने के कारण) दिशा के अर्थ में पंचमी होती है । परंतु दूसरे धर्म का आश्रयण करने पर पंचमी नहीं होती है । उदाहरण के लिए अवधि के रूप में पंचमी होने पर भी यदि संबंध है तो षष्ठी का प्रयोग होता है, जैसे "पूर्वकायस्य" (काया का पूर्व भाग) में । शरीर के किसी भाग को यदि अवधि मान लिया जाय तो उसमें पंचमी होती है जैसे–"पूर्वं नाभेः कायस्य" में नाभि को अवधि मानने पर शरीर में नाभि से पूर्व अर्थ में पंचमी होगी किन्तु "गृहस्य पूर्वम्" में घर संबंध बताता है, अतः षष्ठी प्रयुक्त होती है[50] । जिस प्रकार भाष्य में "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" नई कल्पना नहीं है (व्यवहार में पहले से रहा है) उसी प्रकार अवधि की बात व्यवहार में पहले से है । दिशा में अवधि से ही पूर्वपरादि व्यवहार होता है । अवधि में सङ्कर (उसके विपरीत भ्रम) नहीं देखा जाता है । हाँ, यदि कहीं अवधि नहीं लिया जाता है तो पूर्वादि व्यवहार देश से होता है । उदाहरण के लिए दक्षिण में घड़ों की पंक्ति करने पर पूर्वघटः कहा जाय तो पूर्वघटः से दक्षिण के ही पहले घट का बोध होता है[51] ।

यहाँ तक भर्तृहरि कार्यों अथवा परिणामों के आधार पर दिक् को अनुमिति दिखाते हैं । इसमें कार्य परिणामादि बाह्य वस्तु हैं और उनके आधार पर दिक् की सिद्धि भर्तृहरि ने की है । वे आन्तरिक "अन्तःकरण" के आधार पर भी दिक् के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किए हैं । भर्तृहरि कहते हैं कि अन्तःकरण-तत्त्व चैतन्य है और इसी के द्वारा समस्त ज्ञान होता है । उसी तरह बाह्य ज्ञान रूप से वर्तमान भी उसका रूप रहता है । जो अन्तःकरण में है उसी का एक बाह्य रूप दिक् है । मनादि आन्तरिक हैं । चन्द्र आदि उसी के बाह्य रूप हैं । उसी से सबका सृजन होता है । वेद का मंत्र "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्ष्णोः सूर्योऽजायत"[52] में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि जो अन्तःकरण में है (दिक् सूर्य, चन्द्रमा) वही बाहर फैला हुआ है । यदि आँख में तेज है तभी सूर्यादि सभी प्रकाशित होते हैं, इसलिए यह कहा गया है कि तेज जो अन्तःस्थ है वही बाहर भी बाह्यरूप से (सूर्यादिरूप से) प्रकाशित होता है । अन्तःस्थ सूक्ष्म गंध का ही रूप समूची पृथ्वी है । इसी आधार पर

'पद्भ्यां भूमिर्दिशः सर्वा'....का तात्पर्य लिया जाता है। चलने आदि का आधार पद है और विराट् पुरुष के पद से ही संपूर्ण पृथ्वी एवं दिक् की अभिव्यक्ति मानने का तात्पर्य चैतन्य को आधार रूप मानना है। देश आदि शक्तियों का अन्तःकरण (चैतन्य) से संबंध बताने के लिए ही भर्तृहरि ने इस बात का उल्लेख 23 वीं कारिका में किया है[53]। यह कारिका क्यों लिखी गयी ? इसे स्पष्ट करने के लिए हेलाराज ने लिखा है 'एवं तावद् बाह्यार्थनयेन दिक् समर्थिता इदानीं अन्तर्ज्ञेयनयेन आह' का समर्थन किया गया है। इस समय अन्तर्ज्ञेय (भीतर का ज्ञेय जिसे समझा जाता है) उस नीति से दिक् की व्याख्या करते हैं। इस प्रक्रिया का अवलम्बन करके विचार करने पर बाहर, भीतर की बात नहीं रह जाती है। वस्तुतः चेतन से अलग करके दिक्-शक्ति को नहीं कहा जा सकता। यह चैतन्य ही सब रूपों में प्रकाशित रहता है। गंध, बाहर हो या भीतर (कहीं भी हो), का बोध घ्राणेन्द्रिय से ही होता है। अन्दर जो गंध है उसी से बाहर के गंध का बोध होता है। इसी प्रकार शरीर में अन्तःकरण एवं उसकी ज्ञानेन्द्रियों के विषय बहिः अन्तः हैं। साधन समुद्देश में भर्तृहरि कहते हैं, 'द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः। अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिताः'[54]। अर्थात् द्यौः आदि अन्तःकरण के ही रूप हैं। बाहर जो कुछ भी है वह चेतन का ही आभास है। चैतन्य की अभिव्यक्ति है। समस्त दिक्-विभाग (पूर्वादि) अन्तःबहिः सब समग्र हैं, अतः दिक् को अमान्य नहीं किया जा सकता है।

भर्तृहरि के तत्त्वदर्शन में शब्द-ब्रह्म ही परम सत् है। और वही अयं, इदं, तत्, सभी रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करता है। जब शब्द-ब्रह्म से इतर कुछ भी नहीं है तो बाह्य और आभ्यन्तर का कोई भेद भी तर्कतः नहीं हो सकता। बाह्य और आभ्यन्तर शब्द सापेक्ष हैं। कोई चीज आभ्यन्तर तब होती है जब उसके समक्ष कोई बाह्य चीज हो, जिसके संबंध से उसे आभ्यन्तर कहा जाता है। शब्द-ब्रह्म न बाह्य है, न आभ्यन्तर, बल्कि वही सब कुछ है। संपूर्ण विश्व उसी में अभिव्यक्त है। अतः उसकी शक्तियाँ एक हैं अथवा अनेक, यह मानना ठीक नहीं है। फिर भी किसी भी वस्तु के बारे में विभिन्न प्रकार के विचार मिलते हैं। और व्यावहारिक जीवन में रूढ़ि पर आधारित व्यवहार ही अनुकरणीय होते हैं। यहाँ तक कि दार्शनिक भी रूढ़ि पर आधारित व्यवहार का आचरण करते हैं। अतः व्यवहार में दिक् की दस दिशाएँ माननी पड़ती हैं। सृष्टि की स्थिति में नानात्व होता है और नानात्व होने पर एकत्व की बात नहीं रह जाती। अतः व्यवहार में कहा जाता है कि परमसत् तत्त्व के रूप में एक है और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों की दृष्टि से वह अनेक है। वस्तुतः एक और नानात्व का विचार अन्तःबहिशून्य शब्दब्रह्म में ठीक से नहीं किया जा सकता[55]। भर्तृहरि कहते हैं कि अभेद रूप जो विकल्पातीत भाव हैं उनमें किसी संकेत के कारण वस्तुओं के संबंध में जो व्यवहार होता है उसमें सत्, असत् की बात महत्त्वपूर्ण नहीं होती। फिर भी लोक में उसी के अनुसार व्यवहार करते चले आ रहे हैं[56]। भेद, अभेद के रहस्य के संबंध में अधिकाधिक रूप से भर्तृहरि कहते हैं कि जब तत्त्व नाना नहीं है तो एक कैसे होगा ? परमार्थतः जब एक है तो नाना नहीं और जागतिक रूप से जब नाना है तो एक नहीं है (दिक्-समुद्देश, 28)।

जब शक्ति की अभिव्यक्ति शक्तिमानों के रूप में होती है तब भेद या नानात्व होता है। वस्तुतः शक्ति एक है। मनुष्य मात्र में चैतन्यशक्ति एक है किन्तु मनुष्य, मनुष्य की भिन्नता से शक्ति का भेद भी देखा जाता है। इसी प्रकार दिगादि शक्तियों की आत्मा एक है साथ ही उसमें लौकिक एकत्व भी नहीं है पूर्वपरादि—दस हैं। किन्तु मूल रूप में इसे अभिन्न होने के कारण 'एक' शब्द से कहते हैं। निष्कर्षतः भर्तृहरि कहते हैं कि यदि नानात्व न हो तो एकत्व की कल्पना नहीं हो सकती और एकत्व न हो तो नानात्व संभव नहीं होगा[57]। अवयव भाववादी इसी बात को "पटस्य चित्रं रूपं एकम्" द्वारा अवयवी के रूप में दिक् को 'एक' और अवयव रूप में 'अनेक' मानते हैं।

भर्तृहरि ने अपनें अद्वैतवाद को आगमों के शक्तिवादी सिद्धांत के आधार पर प्रतिपादित किया है। उन्होंने शब्दतत्त्व और शक्तितत्त्व में अभेद स्वीकार किया है। साधन-समुद्देश में एकत्व, नानात्व की अभेदवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है—"परमार्थे तु नैकत्वं पृथक्त्वात् भिन्नलक्षणम्। पृथक्त्वैकत्वरूपेण तत्त्वमेव प्रकाशते"[58] ॥ अर्थात् परमार्थतः नानात्व का एकत्व से भेद नहीं है। शब्दतत्त्व और शक्तितत्त्व में अभेद है। शब्दतत्त्व ही एकत्व, नानात्व सभी रूपों में प्रकाशित होता है। एक होते हुए भी शक्ति नाना रूपों में अभिव्यक्त हो जाती है। नानात्व उसी का आभास है। शब्दतत्त्व का विमर्श है, प्रकाशरूप तत्त्व की प्रकाशवान् रूपों में अभिव्यक्ति है। शब्दतत्त्व अन्तर्बाह्य शून्य नित्य तेज रूप है और परमार्थतः एकत्व, नानात्वादि व्यवहाररहित शब्दतत्त्व में ही एकत्व, नानात्व का व्यवहार लोक में होता है। शब्दतत्त्व की 'शक्ति' को ही उसके कार्यों एवं प्रभावों से दिक्शक्ति, कालशक्ति आदि संज्ञाओं से कहा जाता है। अतः दिक्शक्ति शब्दतत्त्व से पृथक् नहीं है। इस शक्ति को ही व्यवहार की सुविधा से पूर्वादि दस रूपों में विभक्त करके समझा जाता है। वस्तुतः दिक्शक्ति एक है या नाना[59] ? इस प्रश्न का कोई समाधान खोजना एकांगी होगा। अतः शक्ति के समग्र होने पर भी व्यवहार में प्रचलित दिक् के पूर्वपरादि भेद की व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ता है[60]।

●

---

1. छा. उप. 1/9/1 एवं 7/12/1
2. तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। प्रशस्तपादभाष्य, व्याख्याकार दुण्ढिराज, पृ. 46.
3. दिशो द्रव्यत्वं नित्यत्वञ्च। वै. सू. उपस्कर, 11/2/11
4. उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदिश्याम्। भाषापरिच्छेद, पृ. 94.
5. परत्वापरत्वलिङ्गत्वं दिशः। किरणावली, पृ. 122.
6. वही, पृ. 122.
7. तर्कभाषा-दिक्लक्षण प्रकरण।
8. दूरान्तिकादिधीहेत्वेकानित्या दिगुच्यते। भाषापरिच्छेद, पृ. 62.
9. देखें स. द. संग्रह के औलुक्य दर्शन नामक अध्याय का गुणप्रकरण।
10. आदित्यसंयोगानुत्पाद्य परत्वापरत्वासमवायिकारणाधारः परत्वापरत्वानधिकरणं दिक्। सप्तपदार्थी, पृ. 66.

11. श्लोकवार्तिक, पृ. 806.
12. मानमेयोदय, नारायणमिश्र, पृ. 191.
13. व्योमकालदिशामादौ प्रत्यक्षसत्वं समर्थ्यते। वही, पृ. 187.
14. ब्र. सू. 1.1.22.
15. ब्र. सू.. शा. भा. 1.1.22.
16. आकाशो हि सर्वेषां मूर्तानामधिकरणम्। अवकाशदानाद्धि तदाकाशम्।
17. दिगादिशब्दाः सिद्धस्वभावद्रव्य..... । दि. स. 1 पर प्रकाश व्याख्या।
18. दिक्-समुद्देश।
19. दि. स. 7 पर अम्बाकर्त्री टीका से उद्धृत पाठ एवं के एस. अय्यर कृत भर्तृहरि, पृ. 505 पर उद्धृत पाठ। अम्बाकर्मकार ने दि. स. 1 में 'भक्तिरूपे' पाठ किया है, जो संगत प्रतीत होता है।
20. देखें, कालशक्ति पर विशेष के लिए डॉ. डी. एन. तिवारी का 'कन्सेप्सन ऑफ टाइम इन दी फिलासफी ऑफ भर्तृहरि' नामक लेख–'दर्शन इण्टरनेशनल' अंक 109, भाग 28, नं. I, जनवरी 1988. पृष्ट 25-37.
21. तदेव निमित्तान्तरं दिगित्युच्यते। दि. स. अम्बाकर्त्री, पृ. 47.
22. पाणिनि, 1/1/14.
23. दि. स. 2 पर अम्बाकर्त्री।
24. पाणिनि, 5/3/27.
25. वै. सू. 2/2/14.
26. परापरत्वे मूर्तानां देशभेदनिबन्धने। तत एवं प्रकल्पेते क्रमरूपे तु कालतः॥ दि. स. 4.
27. देशस्यापि पूर्वपरत्वं दिङ्निमित्तमिति। तत एव दिशः परत्वापरत्वे देशनिमित्ततात्पर्यतः। दि स. 4 पर प्रकाश व्याख्या।
28. दि. स. 5 पर प्रकाश व्याख्या।
29. सा संयोगविभागानामुपाधित्वाय कल्पते। वही, 5.
30. पाणिनि, 1/1/34.
31. देशो व्यवस्था देशानां दिग्व्यवस्था न विद्यते।
    शक्तयः खलु भावानामुपकारप्रभाविता॥ दि. स. 6.
32. यतो यस्याः सकाशात् पूर्वबुद्धिः पूर्वोऽयमर्थ इति ज्ञानम्। दि. स. 7 पर प्रकाश व्याख्या।
33. स्वाङ्गाद् व्यवस्था या लोके न तस्यां नियता दिशः।
    प्रत्यङ्मुखस्य यत् पश्चात् तत् पुरस्ताद् विपर्यये। दि. स. 8.
34. दि. स. 9 पर प्रकाश व्याख्या, पृ. 56-57.
35. महाभाष्य, 2/2/28.
36. पाणिनि, 5/3/27.
37. दिक्शक्तेरभिधाने तु नियतं दिशि दर्शनम्।
    पूर्वादीनां यथा षष्टेर्जीवितस्यावधारणे। दि. स. 11.
38. पाणिनि, 5/1/80.
39. दि. स. 11 पर प्रकाश व्याख्या।
40. सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे। पाणिनि, 2/1/51 पर महाभाष्य।
41. छायाभाभ्यां नगादीनां भागभेदः प्रकल्पते।
    अतद्धर्मस्वभावेषु भागभेदो न कल्पते॥ दि. स. 12.

42. परमाणोरभागस्य दिशाभागो विधीयते ।
भागप्रकल्पनाशक्तिं प्रथनां तां प्रचक्षते ॥ दि. स. 13.
43. दि. स. 14 एवं उस पर प्रकाश व्याख्या ।
44. तमनवस्थादोषादतिशयेनानुपपन्नं मन्यते । 'दिक्‌समुद्देश' 16 पर प्रकाश व्याख्या ।
45. सर्वत्र तस्य कार्यस्य दर्शनाद् विभुरिष्यते ।
विभुत्वमेतदेवाहुरन्यः कार्यवतां विधिः ॥ दि. स. 17.
46. चैतन्यवत् स्थिता लोके दिक्‌कालपरिकल्पना ।
प्रकृतिं प्राणिनां तां हि कोऽन्यथा स्थापयिष्यति ॥ दि. स. 18.
47. सङ्करो व्यवहाराणां प्रकृतेः स्याद् विपर्यये । दि. स. 19.
48. तस्मात् त्यजन्निमान् भावान् पुनरेवावलम्वते ॥ दि. स. 19.
49. पाणिनि, 2/3/29.
50. अवधित्वेन चापेक्षायोगे दिग्लक्षणो विधिः ।
पूर्वमस्येति षष्ठ्येव दृष्टा धर्मान्तराश्रये ॥ दि. स. 21.
51. दि. स. 21. पर प्रकाश व्याख्या ।
52. अन्तःकरणधर्मो वा बहिरेवं प्रकाशते ।
अस्यां त्वन्तर्बहिर्भावः प्रक्रियायां न विद्यते ॥ दि. स. 23.
53. ऋग्वेद-दशममण्डल, पुरुषसूक्त ।
54. दिक्‌समुद्देश 23 पर प्रकाश व्याख्या, पृ. 81.
55. साधनसमुद्देश 41.
56. दि. स. 24.
57. दि. स. 25.
58. नैकत्वमस्त्यनानात्वं विनैकत्वेन नेतरत् ।
परमार्थे तयोरेष भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ॥ दि. स. 26.
59. साधनसमुद्देश, 39.
60. न शक्तीनां तथा भेदो यथा शक्तिमतां स्थितिः ।
न च लौकिकमेकत्वं तासामात्मसु विद्यते ॥ दि. स. 27.

महाभारत में सत्य निरूपण (योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. श्रीमती राजकुमारी त्रिखा

"सत्य" शब्द व्यावहारिक जीवन में सच्चाई के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। दर्शनशास्त्र में सत्य शब्द का प्रयोग शाश्वत सत्ता के अर्थ में किया जाता है। शब्दकोष के अनुसार सत्य शब्द का अर्थ है–सच्चाई, ठीक, ईमानदार, सच्चा, पुण्यात्मा, यथार्थ, पारमार्थिक सत्ता, पुण्य, शपथ, वादा, कृतयुग, जल, सत्यलोक, अश्वत्थ वृक्ष, श्रीराम, विष्णु, नान्दीमुख श्राद्ध का अधिष्ठातृ देवता। प्रस्तुत निबन्ध में महाभारत में सत्यासत्य निरूपण को योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में परखने का प्रयास किया गया है।

पातञ्जल योगसूत्रों में सत्य का स्वरूप

भगवान् पतञ्जलि ने अष्टांगयोग के एक अंग 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को परिगणित किया है।[1] इसी सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने सत्य का निरूपण करते हुए कहा है–"सत्य का अर्थ है वाणी तथा मन की यथार्थता। अर्थात् जैसा देखा हो, अनुमान किया हो, सुना हो, जैसे मन में विचार हों, वाणी से भी वही कहा जाये, तो वह वाणी सत्य कही जाती है।" इसी को मन तथा वाणी की एकरूपता कहते हैं। अपने मन की बात, दूसरों को समझाने के लिए जो वाणी बोली जाए, वह दूसरों को धोखा देने वाली न हो, विपरीत ज्ञान देने वाली न हो तथा अभीष्ट अभिप्राय अभिव्यक्त करने में समर्थ हो, तो वह सत्य कहलाती है।[2]

यह बात एक दृष्टान्त द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाएगी। महाभारत युद्ध में द्रोणाचार्य को मारने के प्रसंग में एक षड्यन्त्र रचा गया जिसके अनुसार युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से कहा–"अश्वत्थामा मारा गया।" युधिष्ठिर के मन में तो भाव था कि अश्वत्थामा नामक हाथी मारा गया, परन्तु उन्होंने ऐसी भ्रामक वाणी का प्रयोग किया कि द्रोणाचार्य के मन में उनके पुत्र अश्वत्थामा के मरने का ज्ञान उत्पन्न हुआ, अश्वत्थामा नामक हाथी के मरने का नहीं। अतः अपने अभिप्राय का वास्तविक बोध कराने में असमर्थ युधिष्ठिर के वचन असत्य थे। हमारी संस्कृति में मन, वचन तथा कर्म की एकरूपता को सज्जनता का प्रतीक माना गया है। कहा भी है–

वचस्येकं मनस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

मन वचन तथा कर्म की एकता के अतिरिक्त वाणी में और विशेषता भी होनी चाहिए। व्यासभाष्य के अनुसार वाणी सत्य होने के साथ-साथ सभी प्राणियों का उपकार करने वाली भी होनी

चाहिए । यदि सत्य वचनों से किसी भी प्राणी का अनिष्ट होता हो तो वह वाणी सत्य नहीं है, तथा उसके बोलने से पाप ही होगा ।[3] अहिंसा धर्म का पालन करते हुए ही सत्यभाषण करना चाहिए । यदि सत्यभाषण से किसी दूसरे व्यक्ति को मानसिक, शारीरिक, आर्थिक अथवा अन्य किसी भी प्रकार का कष्ट होता हो, तो वह सत्यवचन अहिंसाधर्म के पालन में बाधक होने के कारण सही अर्थों में सत्य नहीं है । ऐसी विषम परिस्थिति में वक्ता को यद्यपि सत्यभाषण के पुण्य का आभास ही क्यों न हो, परन्तु वास्तव में उसे प्राणी को कष्ट देने के कारण पाप ही लगेगा । अतः सत्यभाषण भूतहितकारी होना चाहिए ।

महाभारत में सत्य का स्वरूप

महाभारत में भी प्रायः सत्य शब्द का अर्थ सत्यभाषण से ही लिया गया है । कहीं कहीं सृष्टि के शाश्वत तत्वों को भी सत्य कहा है । एक स्थान पर ब्रह्म, तप, प्रजापति, भूतों का उत्पत्तिस्थान तथा भूतमय जगत् को सत्य कहा गया है ।[4] सत्य से ही पृथ्वी व आकाश स्थिर है तथा मनुष्यलोक में अग्नि प्रज्ज्वलित होती है ।[5] सूर्य को भी सत्य में प्रतिष्ठित माना गया है ।[6] एक स्थान पर अस्ताचल में सूर्य की स्थिति सत्य से ही बताई गई है ।[7] सत्य ही सबका आधार है ।[8] सत्य ही ब्रह्म व तप है । इसी से सृष्टि होती है । इस लोक तथा स्वर्ग लोक का निर्वाह सत्य से ही होता है ।[9] महाभारत में सत्य को विष्णुभगवान् के अनेक नामों में से एक नाम के रूप में भी गिनाया गया है ।[10]

परन्तु अधिकांश स्थलों पर सत्य से तात्पर्य यथार्थ कथन से ही लिया गया है । सत्य का लक्षण देते हुए भीष्म पितामह कहते हैं–सदा एकरस अविकारी तथा अविनाशी होना ही सत्य का लक्षण है ।[11] व्यासभाष्य के अनुसार ही महाभारत में भी मन, वचन तथा कर्म की एकरूपता पर बहुत बल दिया गया है । जैसा सुना हो, देखा हो, किया हो, उसी प्रकार से उसको शब्दों से अभिव्यक्त करना सत्य है ।[12] सत्य को ही धर्म का प्रधान लक्षण माना गया है, क्योंकि सत्य द्वारा मनुष्य अनेक पापों से बच जाता है ।[13] परन्तु यदि सत्य भाषण मन वचन कर्म की एकरूपता की अभिव्यक्ति नहीं करता, बल्कि छल प्रपंच से शब्दों को तोड़-मरोड़ कर बोला गया है, तो वह सत्य छलपूर्ण होने के कारण सत्य नहीं है ।[14] यदि सभा में किसी विशेष निर्णय पर पहुँचने के लिए प्रश्न पूछा जाए तो उस सभा में उत्तर न देकर चुप रहने वाले सभासद् भी असत्य भाषण के आधे फल को प्राप्त करते हैं ।[15] अतः सत्य भाषण का तात्पर्य अपने मत का सही ढंग से स्पष्टीकरण है ।

महाभारत में सत्य को धर्म का प्रधान अंग माना गया है । सत्य की अभिवृद्धि करने वाले और सत्य पालन में सहायता करने वाले 13 धर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है–सत्य, समता, इन्द्रियसंयम, अमात्सर्य, क्षमा, ह्री, तितीक्षा, अनसूयता, त्याग, ध्यान, आर्यत्व, धृति व अहिंसा, ये सभी सत्य को ही लक्षित कराने वाले हैं । ये सत्य का ही आश्रय लेते हैं तथा उसी की वृद्धि व पुष्टि करते हैं ।[16]

सत्यभाषण के अपवाद

यद्यपि महाभारत में सामान्य परिस्थितियों में सत्यभाषण का ही विधान किया गया है परन्तु प्राणी मात्र के कल्याण की भावना से, कुछ परिस्थितियों में असत्यभाषण का अथवा सत्य न बोलकर मौनावलम्बन का भी अनुमोदन किया गया है। क्योंकि ऐसे अवसरों पर सत्य कथन, भूतोपघात-कारक होने के कारण असत्य के समान पापजनक है, जबकि असत्यभाषण से भूतोपकार होने के कारण वह विशिष्ट समयावच्छिन्न असत्यभाषण सत्य के समान पुण्यदायक है। इस प्रकार कुछ परिस्थितियों में यथार्थ कथन असत्य, तथा असत्य कथन, सत्य के समान हो जाता है।[17]

महाभारत में ऐसी परिस्थितियों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, जिनमें असत्य भाषण, सत्य कथन के समान होता है। भीष्म पितामह कहते हैं, "जैसे कभी किसी धनी व्यक्ति के पीछे लुटेरे पड़े हों तथा उसका पता पूछते हों तो उन्हें उस धनी का पता कदापि मत बताओ। पूछने पर भी चुप रहो। यदि न बोलने के कारण चोरों के मन में शंका हो जाए तो झूठ बोलना ही अधिक श्रेयस्कर है।"[18]

महाभारत में जीवन में कुछ अन्य अवसरों पर भी मिथ्याभाषण पापरहित माना गया है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं, "प्राण संकट आने पर, विवाह निश्चित करने के समय धर्म रक्षा हेतु अथवा पराये धन की रक्षा के उद्देश्य से असत्य भाषण किया जा सकता है।[19] वनपर्व में प्राणरक्षा करने व विवाह के समय असत्यवादन की अनुमति दी गई है, परन्तु मुख्य उद्देश्य प्राणी मात्र का अत्यधिक कल्याण करना ही होना चाहिए। ऐसा भूतोपकारक असत्य प्राणियों का कल्याणकारक होने के कारण सत्यवचन के समान है। इसके विपरीत वचन असत्य है।[20] जैसे विवाह के समय वर अथवा वधू का कोई सामान्य सा अवगुण छिपाकर विवाह करा देना। कर्ण पर्व में भी विवाह-काल, रति-भोग के समय (प्रेयसी अथवा पत्नी से असत्य वादन), प्राण संकट, सर्वधन का अपहरण अथवा ब्राह्मण की रक्षा हेतु झूठ बोलने की अनुमति दी गई है।[21] एक अन्य प्रसंग में निर्दोष प्राणी की रक्षा हेतु गवाही देते समय मिथ्याभाषी को पतित नहीं माना गया है। परन्तु जहां अपने तथा पराये, दोनों के प्राण बचाने का अवसर उपस्थित हो, तो केवल अपने प्राण बचाने के निमित्त किया गया असत्यवादन उसका नाश कर देता है।[22]

इस सम्पूर्ण विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि भूतोपकारक असत्यभाषण भी सत्यभाषण के समान है। प्राणियों का अत्यन्त कल्याण ही ऐसे स्थलों पर असत्य वादन का मुख्य उद्देश्य है। एक अन्य प्रसंग में यहां तक कहा गया है कि गुरु की रक्षा हेतु तथा परिहास में हानि रहित होने के कारण असत्यवादन पातक नहीं है।[23] इस प्रकार महाभारत में अहिंसा धर्म के पालनपूर्वक तथा **भूतकल्याण की भावना से मिथ्या कथन का अनुमोदन भी किया गया है जबकि व्यासभाष्य में केवल भूतोपकारक सत्य का विधान तथा भूतोपघातकारी सत्य का निषेध किया गया है।** पतञ्जलि ने यम-विवेचन के पश्चात् अग्रिम सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा कि पांच यमों का पालन जाति, देश, काल तथा समय के अवच्छेद से रहित होना चाहिए। प्रत्येक समय में, प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक व्यक्ति के प्रति यदि

यमों का सार्वभौमिक रूप से पालन किया जाए तो ये महाव्रत नाम से जाने जाते हैं।[24] इस प्रकार भगवान् पतञ्जलि के विचार से प्रत्येक परिस्थिति में यथार्थ कथन ही अभिप्रेत था। व्यासभाष्य के अनुसार जैसा कि पीछें स्पष्ट किया जा चुका है, भूतोपकारक सत्य ही अभीष्ट है भूतघाती सत्य नहीं। पंचयमों के पालन के नियमों तथा अपवादों पर व्यासभाष्य के रचनाकाल में विचार किया जाने लगा था।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में लिखा है कि अपने जीवन की बाजी लगाकर भी सत्य बोलना पड़े तो बोलना चाहिए, परन्तु दूसरों को दुःख देने वाला सत्यभाषण नहीं करना चाहिए।[25] यह कथन भी व्यासभाष्य से अनुप्रेरित है। इस प्रकार योगियों को सार्वभौम रूप से भूतोपकारी सत्य का पालन करना चाहिए, भूतहितकारी असत्यभाषण नहीं। सत्य एवं प्रिय भाषण का विधान तथा प्रिय असत्य का निषेध करते समय मनु ने भी यही विचार प्रकट किया है।[26]

महाभारत में भी यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में सत्यभाषण का ही विधान किया गया है, परन्तु साधारण सामाजिक व्यक्ति जीवन में विषम परिस्थितियों से घिर कर अपवादरूप से असत्य भाषण भी कर सकते हैं। सत्य के स्वरूप विवेचन के संदर्भ में महाभारत का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महाभारत में ही इस अपवाद का कारण भी दिया गया है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वेदों में सभी धर्मों का प्रतिपादन नहीं किया गया है।[27] वेदों में, आपद्धर्म के अनुसार सत्यभाषण के अपवाद भूत परिस्थितियों में असत्य कथन का विधान नहीं है, जबकि महाभारत में कहा गया है कि परिस्थिति के अनुसार सत्य भाषण तथा असत्यभाषण के औचित्य का निर्णय लेना अत्यन्त कठिन है।[28] तथा जो उचित निर्णय ले ले, वही धर्मज्ञ है।[29] इसका कारण यही है कि किन्हीं परिस्थितियों में सत्यभाषण असत्य के समान ही पापदायक व हानिकारक बन जाता है तथा कहीं असत्य कथन भी सत्य के समान बन जाता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में सत्य विवेचन का यह विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यदि उन स्थलों का सूक्ष्मेक्षिकया अध्ययन किया जाए, जहां पर असत्यभाषण का अपवाद रूप में विधान है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत, कौरव तथा पाण्डव वीरों की युद्धगाथा होने के कारण यथार्थ के धरातल को अधिक स्पर्श करता है। ऐसे प्रसंगों में युधिष्ठिर को युद्ध के लिये अथवा राजधर्म के पालन हेतु प्रेरित करना ही प्रमुख उद्देश्य है। परन्तु अन्यथा सत्य का पालन ही महाभारतकार को अभीष्ट है। एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणों पर संकट आने पर भी सत्य भाषण ही करते हैं, वे सब प्राणियों के लिये आदर्श के समान हैं, तथा वे कठिन दुःखों को भी पार कर लेते हैं।[30]

सत्य प्रशंसा

महाभारत में विधि तथा अर्थवाद द्वारा सत्य की अनेक प्रकार से प्रशंसा की गई है। सत्य ही समस्त धर्मों का सार है। अखिल ब्रह्माण्ड सत्य पर ही टिका हुआ है। कहीं कहीं सत्यभाषण को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है,[31] तो कहीं उसे वेदाध्ययन से भी अधिक महान्[32] व उसका सार कहा है।[33]

सत्य ही अहिंसा का आधार व अहिंसा धर्म के पालन में सहायक है ।[34] सत्य के समान तप नहीं है ।[35] सत्य से पावन इस जगत् में कुछ नहीं है । वही स्वर्ग में जाने की सीढ़ी है ।[36] सत्य भाषण से बढ़कर पुण्य नहीं है तथा झूठ बोलने से बढ़कर पाप नहीं है । सत्य पर ही सब धर्म टिके हुए हैं ।[37] सत्य से बढ़कर न ही दान है न ही तप है ।[38] सत्य के माहात्म्य का वर्णन करते हुए भीष्म पितामह युधिष्ठिर को कहते हैं[39], सम्पूर्ण वेदों को धारण करना और समस्त तीर्थों में स्नान करना, इन सत्कर्मों का पुण्य सदा सत्य बोलने वाले पुरुष के बराबर है या नहीं है, इसमें सन्देह है । अर्थात् इनसे सत्य ही श्रेष्ठ है । यदि तराजू के एक पलड़े पर एक हजार अश्वमेध यज्ञों का पुण्य और दूसरे पलड़े पर केवल सत्य रखा जाए तो सत्य का ही पलड़ा भारी रहेगा । इसलिए सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है । सत्यवक्ता मनुष्य स्वर्ग लोक में आनन्द भोगते हैं किन्तु इन्द्रियसंयम उस सत्य के फल की प्राप्ति में कारण है ।

मंत्रजपपरायण कौशिक ब्राह्मण ने एक राजा को सत्य का महत्व इस प्रकार बतलाया, "मैंने सुना है कि किसी समय धर्म व सत्य को तराजू पर तौला गया । उस समय सत्य का ही पलड़ा भारी हुआ ।"[40]

इसप्रकार महाभारत में अनेक प्रकार से सत्य की प्रशंसा की गई है ।[41] राजाओं के जीवन में सत्य का महत्व विशेष रूप से है क्योंकि सत्यपालन द्वारा ही वे प्रजा का विश्वास प्राप्त कर सकते हैं । [42]

सत्यभाषण के लाभ

अनेक प्रकार से सत्य की प्रशंसा करने के बाद, सत्यभाषण के लाभ तथा असत्यभाषण से होने वाली हानियों का वर्णन भी महाभारत में किया गया है । सत्यभाषण से अनेक लौकिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक लाभ होते हैं । सत्यभाषी के वक्तव्य का सभी व्यक्ति सम्मान व विश्वास करते हैं । वह सदा छल-कपट तथा चिन्ताओं से मुक्त स्वयं निर्भय रहता है । अतः सत्यभाषण के फलस्वरूप उसकी आयुवृद्धि होती है ।[43] केवल आयुवृद्धि ही नहीं, सत्यभाषी को सन्तान प्राप्ति तथा लोकों पर जय भी प्राप्त होती है ।[44] सत्यभाषण से वाणी की पटुता तथा परलोक में प्रतिष्ठा होती है ।[45] यही स्वर्ग का सोपान है ।[46] इससे ही धर्मरक्षा होती है ।[47] सत्य से ही मृत्यु निवारण सम्भव है । सत्य ही अमृत है, सामने आती हुई मृत्यु सेना से भी सत्यभाषी को कष्ट नहीं होता ।[48] सत्य से ही लोकों पर जय प्राप्त होती है ।[49]

सत्यवादी को अनेक आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त होते हैं । सत्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन सत्य द्वारा ही सम्भव है[50] । यही कारण है कि सत्य धर्मपालक महात्मा युधिष्ठिर आदि पांडव ही भगवान् श्रीकृष्ण की दैवी शक्ति को अधिक पहचानते थे । असत्यवादी दुर्योधन आदि कौरव नहीं ।

सिद्धियाँ—सत्यभाषण से योगसिद्धि भी स्वतः ही प्राप्त होती है । योगदर्शन में सत्यभाषण का फल वाक्सिद्धि कहा गया है[51] । वाक्सिद्धि का अर्थ है कि सत्यभाषी की वाणी अमोघ होती है । उसके दिए गए वरदान व शाप यथार्थ में घटित होते हैं । महाभारत में भी वाक्सिद्ध अनेक तपस्वियों व

महात्माओं की कथाएं हैं जिनके दिए गए वरदान व शाप लाख रोकने पर भी पूरी तरह घटित हुए। उदाहरणार्थ ऋषि शमीक की कथा द्रष्टव्य है। उनके छोटे से पुत्र ने परीक्षित् के दुर्व्यवहार पर रुष्ट होकर उन्हें सातवें दिन तक्षक द्वारा काटे जाने का शाप दिया, जो अनेक बचाव के उपायों को करने पर भी पूरा हुआ[52]। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को आश्वासन देते हुए अनेक बार उनकी विपत्ति दूर करने को कहा व की भी। अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्र छोड़े जाने पर जब उत्तरा के गर्भ का जीवन खतरे में पड़ गया तो श्रीकृष्ण ने अपनी यौगिक शक्ति का परिचय देते हुए उसे जिलाने की प्रतिज्ञा की[53] तथा प्रसव के पश्चात् उसे इस प्रकार कहते हुए जिलाया भी–

'बेटी उत्तरा, मैं कभी झूठ नहीं बोलता। मैंने जो प्रतिज्ञा की है वह सत्य होकर रहेगी .... मैंने खेलकूद में भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है और युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाई है। इस शक्ति के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो जाए........यदि मुझ में सत्य तथा धर्म की निरन्तर स्थिति बनी रहती हो, तो अभिमन्यु का यह मृत बालक जी उठे.......भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर उस बालक में चेतना आ गई। वह धीरे-धीरे अंग संचालन करने लगा[54]।

असत्य भाषण की हानियाँ

जिस प्रकार सत्य भाषण द्वारा लौकिक व पारलौकिक लाभ प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार असत्य भाषण द्वारा अनेक प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष हानियां होती है। असत्यवादी को न जीवन मिलता है, न सन्तान। न प्रभुत्व मिलता है, न ही शुभगति। पहले सहायता करने का आश्वासन देकर भी जो सहायता नहीं करता, उस झूठे व्यक्ति का इष्टापूर्व नष्ट हो जाता है[55]। असत्यभाषण प्राणनाशक तथा पाप है[56]। वेदमन्त्रों का व्यर्थ उपयोग (अशुद्ध उच्चारण) करने का जो पाप लगता है, दक्षिणादान न देने के कारण सोमयाग को व्यर्थ करने का जो पाप लगता है तथा विधि व मन्त्र के बिना अग्नि में निरर्थक आहुति देने का जो पाप है, वह सारा पाप मिथ्याभाषण करने से प्राप्त होता है[57]। अतः सदा सत्य भाषण करना चाहिए।

असत्य द्वारा आध्यात्मिक हानि भी होती है। साधनामार्ग में अवरोध आता है, तथा साधक का आध्यात्मिक पतन भी होता है। एक उल्लेखनीय बहुचर्चित प्रसंग है महाभारत युद्ध का। गुरु द्रोणाचार्य अत्यन्त तेजी से पाण्डव सेना का विनाश कर रहे थे। पाण्डव अत्यन्त आतंकित हो उठे। उन्हें युद्ध विमुख करने का एकमात्र उपाय यही था कि उन्हें उनके पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनाया जाये, ताकि वे हथियार फेंक दें तथा मारे जाये। श्रीकृष्ण ने एक चाल चली। एक हाथी का नाम अश्वत्थामा रखा गया। भीम ने उसे मार डाला तथा सब ओर अफवाह फैला दी गई कि अश्वत्थामा मर गया। परन्तु द्रोणाचार्य ने इस समाचार पर विश्वास नहीं किया व शंका निवृत्ति हेतु युधिष्ठिर से पूछने आये कि क्या यह समाचार सत्य है। दूसरी ओर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को असत्य भाषण करने तथा यह कहने के लिए प्रेरित किया कि अश्वत्थामा मर गया। श्रीकृष्ण ने उस समय युधिष्ठिर को समझाया कि प्राण रक्षा के लिए झूठ बोलने पर असत्यवादन का फल प्राप्त नहीं होता[58]।

सबके द्वारा बार बार दबाव डाले जाने पर अन्त में युधिष्ठिर ने गुरु द्रोणाचार्य से झूठ बोला कि हाँ अश्वत्थामा मर गया। इतना सुनकर द्रोणाचार्य ने हथियार फेंक दिए व धृष्टद्युम्न ने उन्हें मार दिया। इस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रेरणानुसार आपत्तिकाल में सभी पाण्डव-पक्षीय सैनिकों को द्रोण से बचाने के लिए जब युधिष्ठिर ने झूठ बोला तभी द्रोण रूपी संकट की काली घटा हट पाई।

इस प्रकार यहां यद्यपि आपद्धर्मानुसार प्राणरक्षा हेतु ही असत्यवादन किया गया था, तथापि इससे युधिष्ठिर का आध्यात्मिक पतन हुआ। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि जैसे ही युधिष्ठिर ने द्रोण से झूठ-मूठ अश्वत्थामा के मरने के समाचार की पुष्टि की, उसी समय उनका रथ, जो पहले सत्यपालन के प्रभाव से पृथ्वी से चार अंगुल ऊंचा रहता था, धरती का स्पर्श करने लगा[59]। यह उनके आध्यात्मिक अपकर्ष का सूचक चिह्न था। अन्त में स्वर्गारोहण पर्व से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर को इस असत्यभाषण के पाप के फलस्वरूप नरक के दर्शन भी करने पड़े थे। जिस प्रकार युधिष्ठिर ने छल द्वारा द्रोणाचार्य को उनके पुत्र की मृत्यु का विश्वास दिलाया था, उसी प्रकार उन्हें भी छल से नरक का दर्शन कराया गया। यह बात स्वयं इन्द्र ने युधिष्ठिर को कही थी[60]।

निष्कर्ष

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि श्रेय के इच्छुक व्यक्तियों को कदापि असत्यभाषण नहीं करना चाहिए। योगसाधकों को सार्वभौम रूप से प्रत्येक अवस्था में सत्यपालन करना ही चाहिए। महाभारत में परिस्थितिवश आपत्तिकाल में घिरे व्यक्ति द्वारा असत्य भाषण का यद्यपि अनुमोदन किया है तथापि यह भी संकेत दिया गया है कि उस असत्य द्वारा उस व्यक्ति की कुछ न कुछ हानि अवश्य होती है।

अतः सत्यधर्म के पालन करने के लिए साधक को सदा जागरूक रहना चाहिए। अनेक बार जीवन में विषम परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। कभी-कभी अपनी इन्द्रियों तथा मन की प्रवृत्ति को रोकना पड़ता है। इस सत्यधर्म का पालन अत्यन्त कठिन है परन्तु सतत सावधानीपूर्वक कर्त्तव्यपालन रूपी योग द्वारा ही मानव इस दिशा में पूर्णतया सफल हो सकता है[61]।



---

1. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

—पातञ्जल-योगसूत्र 2.30

2. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा-श्रुतं तथा वाङ्मनश्च। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वंञ्चिता, भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति।

—पा. यो. सू. 2.30 पर व्यासभाष्य

3. एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्य-प्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। —वही

4. आश्वमेधिक पर्व 35. 33-34
5. आदिपर्व 93.25-26
6. वनपर्व 313.43
7. वही 163.10
8. उद्योग पर्व 43.37
9. शांति पर्व 190. 1-3
10. वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मासम्मितः समः ।

–अनुशासन पर्व 149.25

11. सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।

–शांतिपर्व 162, 10

12. यथा श्रुतं यथा दृष्टमात्मना यद् यथा कृतम् ।
तथा तस्याविकारेण वचनं सत्यलक्षणम् ॥

–अनुशासन पर्व, पृ. 5988, 4-5

13. वनपर्व 150.34
14. (क) न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धाः न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मः यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥ –सभापर्व 67 पृ. 899
(ख) उद्योगपर्व 35.58
15. यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥

–सभापर्व 68.63

16. सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितीक्षानसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकाशस्त्रयोदश ॥
एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह, बृंहयन्ते च भारत ॥

–शांतिपर्व 162. 8-10

17. भवेत्सत्यं न वक्तव्यं, वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥

–वही 109.5

18. ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित् ।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥
अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथंचन ।
अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात् ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम् ।

–शांतिपर्व 109.14-16

19. प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ॥ –वही 109-19-20

20. प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत् ॥
यत्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा ।
विपर्ययकृतो धर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ –वनपर्व 209. 3-4

21. विवाहकाले रतिसम्प्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे ।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत् पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥
–कर्ण पर्व 69.33

22. पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा, वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ॥
–आदिपर्व 82. 17

23. न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले ।
न गुर्वर्थं नात्मनो जीवितार्थे पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥
–शांतिपर्व 165. 30

24. ते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम् ।
–पा. यो. सू. 2.31

25. न सत्यमपि भाषेत् परपीडाकरं वचः ।
–हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र 2.61

26. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ॥
–मनुस्मृति

27. श्रुति धर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः ।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ –शांतिपर्व 109.13

28. तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् । –कर्णपर्व 69.3

29. सत्यासत्ये विनिश्चित्य ततो भंवति धर्मवित् ।
–वही 35

30. ये वदन्ति हि सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
–शांतिपर्व 110.11

31. आदिपर्व 74.102-106
32. वनपर्व 64.17
33. शांतिपर्व 251.11 तथा 299.13
34. वनपर्व 207. 74-75
35. शांतिपर्व 75.35 तथा 329.6
36. शांतिपर्व 299.31
37. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ।
–वही 109.24

38. नास्ति सत्यात् परं दानम् नास्ति सत्यात्परं तपः ।
—अनुशासन पर्व, पृ. 59.88, 2-3
39. वही 75.28-33
40. शांतिपर्व 199.61-70
41. वही 194.6
42. न सत्यादृते किंचिद् राज्ञां वे सिद्धिकारकम् ।
सत्येन हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥
ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम् ॥ —वही 56.17-18
43. आदिपर्व 103.4
44. दीर्घायुश्च भवेत् सत्यात् कुलसन्तानपालकः ।
लोकसंस्थितिपालश्च भवेत् सत्येन मानवः ॥ —अनुशासनपर्व 59.88 'ब' 5
45. शांतिपर्व 360.10
46. सत्यं स्वर्गस्य सोपानम् । —उद्योगपर्व 33.47
47. उद्योगपर्व 34.29
48. न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ।
तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥ —शांतिपर्व 35.28-29
49. वनपर्व 25.12
50. वही
51. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । —पा यो. सू. 2.36
52. आदिपर्व
53. (क) स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घमायुरवाप्स्यति ।
—सौप्तिक पर्व 16.8

(ख) अहं तु जीवयिष्यामि दग्धं शस्त्राग्नितेजसा ।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम ॥
—वही 16. 16

54. न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥
नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतौः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥

....

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥

....

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ॥

—आश्वमेधिक पर्व 69.18-24

55. प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्त्तव्यं तदकुर्वतः ।
मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टपूर्तं प्रणश्यति ॥

—उद्योगपर्व 108.8-९

56. कर्णपर्व 42.48-49

57. यन्मन्त्रे वृथोपयुज्यमाने यत्सोमे भवति वृथाभिषूयमाणे ।
यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने तत्सर्वं भवति वृथाभिधायमाने ॥

—अनुशासन पर्व 7.28

58. स भवांस्त्रातुं नो द्रोणात् सत्याज्ज्यायोऽनृतं वचः ।
अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यतेऽनृतैः ॥

—द्रोण पर्व 190.47

59. तस्य पूर्वं रथः पृथ्व्याश्चतुरंगुलमुच्छ्रितः ।
बभूवैव च तेनोक्ते तस्य वाहाः स्पृशन्महीम् ॥

—वही 190.56

60. तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ।
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ॥

—स्वर्गारोहण पर्व 3.15

61. सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥

—शांतिपर्व 162.10

भक्तिकालीन चिन्तन की राष्ट्रीय अवधारणा

डॉ. कैलाशनाथ तिवारी

हिन्दी साहित्य का भक्तिकालीन चिन्तन (संवत् 1375 से 1700 तक) मानवीय दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण है, कहीं उससे ज्यादा प्रभावशाली है–सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से जबकि स्वार्थपूर्ण राजनीतिक गतिविधियाँ, सत्ता-प्राप्ति के लिए पारस्परिक युद्ध एवं सामाजिक भेदभाव इस युग में ज्यादा दिखायी देता है। हलाँकि दो जातियों की सांस्कृतिक और धार्मिक मत-भिन्नता के बावजूद, भक्ति युग में 'मानवीय रक्षा' के प्रति थोड़ी सजगता अवश्य दिखायी देती है। ध्यान देने की जरूरत यहाँ यह है कि जनता का कल्याण किस तरह से हो, इस पर न सोचकर शासक वर्ग जनता का ही दोहन करता है और जीवन के सभी विकासमान आर्थिक रास्तों का दरवाजा बन्द रखता है। गो कि पूर्व के संस्कारों के कारण सामान्य जन में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता और भाईचारा का भाव विद्यमान है। इसलिए यहाँ साम्प्रदायिक तनाव भी नहीं दिखायी देता। पर इस युग में अन्ध-विश्वास, कठमुल्लापन और कछुआधर्म अपनी चरम सीमा पर व्याप्त था। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि मध्ययुगीन समाज में सदाचरण, सहजप्रेम, सहृदयता, निश्छलता और अपनत्व की भावना विद्यमान थी जिसका मूल आधार भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ थीं।

कुछ विशिष्टताओं और अनेकों सामाजिक विषमताओं के बावजूद जब हम 'राष्ट्रीय चेतना के परिप्रेक्ष्य' में भक्तिकालीन चिन्तन का मूल्यांकन करते हैं तो पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या भक्ति साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का भाव विद्यमान है ? और यदि नहीं तो आज क्या इस युग की चिन्तनधारा से हम अपने को अलग नहीं कर पाते ? अपने को अलग न कर पाना, क्या इस युग की राष्ट्रीय उपादेयता नहीं है ? तो आइए सर्वप्रथम इस बात पर विचार करें कि मध्ययुग की राष्ट्रीय वैचारिक विरासत क्या थी ? उसमें राष्ट्रीय चेतना का भाव किस स्तर का है ? और उसका स्वरूप क्या है ?

भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए प्रख्यात मार्क्सवादी–समाजशास्त्री प्रोफेसर ए. आर. देसाई लिखते हैं–

> 'प्राक् ब्रिटिश काल में अपनी स्वपर्याप्तता और स्थैर्य के बावजूद गाँव जटिल आन्तरिक सामाजिक क्रियाकलाप के रंगभूमि रहे। उनके अपने सामाजिक त्यौहार, रामलीला के रूप में अपना अनगढ़ सा रंगमंच, कथाओं के रूप में धार्मिक सभाएँ और ऐसे अन्य सामुदायिक आयोजन थे। हिन्दू धर्म में ही नई प्रवृत्तियों का जन्म होता रहा और फिर

बौद्ध धर्म जैसे नये धर्मों का भी उदय हुआ। धार्मिक उथल-पुथल के ऐसे दिनों में लोगों को नये धर्म या सम्प्रदाय में दीक्षित करने के लिए धर्म के उपदेशक गाँवों में गये थे। या फिर शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य, रामानुज आदि लोगों ने सनातन धर्म की ही नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, और गाँवों में अपने सम्प्रदाय और दल की शाखाएँ स्थापित कीं। इस तरह के धार्मिक प्रचारात्मक कार्य के कारण कभी-कभी सारा का सारा गाँव हिन्दू से बौद्ध हो गया या वैष्वण से शैव हो गया। लेकिन धार्मिक दृष्टिकोण में ऐसे परिवर्तनों के बावजूद गांव के लोगों की चेतना का कोई विस्तार न हो सका और न उनमें राष्ट्रीय चेतना का ही उद्‌भव हुआ। उनका दृष्टिकोण पहले जैसा ही संकीर्ण बना रहा। हिन्दू के बदले वे अब अपने को बौद्ध मानने लगे, या वैष्णव के बदले शैव। लेकिन भारतीय होने की राष्ट्रीय चेतना उनके दिमाग में नहीं आयी थी। भारत की एकता की बात सूझी भी तो धार्मिक अर्थ में। भारत उनके लिए धर्म क़े सूत्र में बँधें हुए हिन्दुओं का देश था। उनके दिमाग में यह बात न थी कि भारत, भारतीयों का देश है, उन सब लोगों का देश है जो भारतीय भूमि पर रहते हैं और आर्थिक राजनीतिक इकाई के अंग हैं। उनकी चेतना, धार्मिक वैचारिक एकता की चेतना थी न कि राजनीतिक आर्थिक एकता की।"[1]

हम यहाँ देखते हैं कि देसाई जी अपने तर्कों से सिद्ध करना चाहते हैं कि भारत का मध्ययुगीन स्वरूप कभी भी राष्ट्रवादी नहीं था। उन्होंने खासतौर से भक्तिपूर्ण मानचित्र का खॉका खींचा है, पर कमोवेश यही स्थिति भक्तियुग की भी थी। पर भक्तियुग में यह ध्यान रखना चाहिए कि देश में राजनीतिक और आर्थिक एकता के विकसित न होने देने में केवल हिन्दू जाति ही दोषी नहीं है। दोषी तो वे सभी हैं जो यहाँ का अन्न-जल ग्रहण करने के बाद भी यहाँ का बनकर नहीं रहना चाहते थे। उनके लिए भी भारत अपना देश नहीं था। इसलिए भक्तियुगीन साहित्य, समाज और शासक वर्ग में राष्ट्रीय चेतना विद्यमान नहीं थी, कहना ठीक ही जान पड़ता है।

राष्ट्रीय चेतना के सभी सोपानों पर विचार करने से यह अनुमान बनता है कि भक्तिकालीन भारत राष्ट्रीयता की दृष्टि से नहीं एक मुकम्मल राष्ट्र था और नहीं उस युग की कोई ऐसी खास राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक गतिविधियाँ दिखायी देती है जिसके आधार पर समग्र राष्ट्रीयता की भावना परिलक्षित की जा सके। परिलक्षित किया जा सकता है तो मात्र इतना ही कि हिन्दू और मुसलमान जातियां एक दूसरे के काफी सन्निकट आ रही थीं। क्योंकि दोनों एक जैसी परिस्थितियों की शिकार थीं। साधारण मुसलमान, जो हिन्दुओं से उपेक्षित होने के कारण धर्मान्तरण कर लिया था, वह अभी भी संस्कारतः हिन्दू ही था। बाहर से आने वाला मुसलमान भी धीरे-धीरे भारतीय बनने का प्रयास कर रहा था। देश को एक कोने तक जोड़ने वाली समदर्शी भारतीय संस्कृति का निर्माण भक्तों के माध्यम से हो रहा था। यह सारा प्रयास धीरे-धीरे ही सही समूचे भारत में चल रहा था जो राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है। फिर भी राजनीतिक और सामाजिक क्षितिज पर जिन आर्थिक, प्रशासनिक और भौगोलिक राष्ट्रीकृत

अवधारणाओं की जरूरत होती है, जिनसे यह प्रकट होता है कि जनता एक निर्माणकारी राष्ट्रीय समझ की ओर अग्रसित हो रही है, इसका स्पष्ट अभाव था। संक्षेप में मध्ययुग की राष्ट्रीय विरासत यही है।

अब आइए सन्तों की चिन्तन-दृष्टि पर विचार किया जाय। भक्ति काल के महान् सन्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, नानक, रामानन्द, वैष्णवाचार्य, माधवाचार्य, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, रैदास, दादू, रसखान आदि का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी भक्त-कवि साहित्य की आदिकालीन (यशगान करने वाली) परम्परा से मुक्त होकर सामन्ती विचारों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते हैं। इन्होंने तद्युगीन परम्पराओं और अभिजातीय परम्पराओं से मुक्त होकर ऐसे चिन्तन का प्रतिपादन करने की शुरूआत की जहाँ मानवीय हितों को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। जहां नहीं कोई पंथ है और नहीं कोई दाद-विवाद। जहाँ मेरा-तेरा का भेदभाव नहीं है और न ही द्वैत का समावेश–

भाई रे। ऐसा पंथ हमारा।

× × ×

वाद-विवाद काहूँ सौं नाहीं, मैं हूँ जग में न्यारा॥
समदृष्टि सू भाई सहज में, आपहि आप विचारा॥
मैं तैं मेरी यह मति नहीं, निरबैरी निरकारा॥

–दादू

समूचे भक्ति साहित्य में हम देखते हैं कि संतों ने ऐसे कथानायकों का जीवन-चरित्र जनता के समक्ष रखा जो वीरता, आदर्श, प्रेम और त्याग के प्रतिमूर्ति थे। बुद्ध के बाद, दुबारा इन्होंने सामाजिक विकृतियों और उदात्त धार्मिक प्रवृत्तियों (जिनमें थोड़े समय के लिए गतिरोध उत्पन्न हो गया था) की ओर जनसामान्य का ध्यान आकृष्ट किया। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि भक्तिकालीन निर्गुणी सन्तों की भक्ति-भावना पर ऋग्वैदिक और उपनिषदिक चिन्तन का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक ऋग्वैदिक परम्परा (जहाँ जाति अभी रूढ़ियों में परिवर्तित नहीं हुई थी) और उपनिषदिक चिन्तन जो कर्मकाण्ड का तीव्र विरोधी था-का ही प्रभाव भक्तों की मानवीयचेतना में दिखायी देती है–

"सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ था। जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी खुदा की ओर। यह "निर्गुण पंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जाने वाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई, वह ऊँच-नीच और जात-पांत के भेदभाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्यमात्र को समान अधिकार स्वीकार था।"[2]

आचार्य शुक्ल जी का भी इशारा एकेश्वरवाद की ओर है, जो वैदिक और उपनिषदिक चिन्तन की प्रभावोत्पादकता की पुष्टि करता है। यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि भक्तिकालीन आध्यात्मिक दृष्टि, जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने "भक्ति" नाम दिया है, अपने समूचे वेग

के साथ पूरे भारत में फैल रही थी। इसलिए इसे हम 'राष्ट्रीय आध्यात्मिक चेतना' का युग कह सकते हैं। पर जिन सिद्धान्तों और मूल्यों को लेकर जनता के अन्दर समान आर्थिक सोच और समान-अधिकार-प्राप्ति की समन्वित भावना प्रकट होती है, वह इस युग के साहित्य और राजाओं की शासन-पद्धति में बिल्कुल नहीं दिखायी देती–

> "प्राक् ब्रिटिश भारतीय साहित्य को, चाहे वह हिन्दू साहित्य हो या मुस्लिम, राष्ट्रवाद पर कोई पुस्तक नहीं थी। इसका ऐतिहासिक कारण यह है कि आर्थिक पिछड़ेपन की वजह से भारतीय जन सामाजिक और राजनीतिक तौर पर एक राष्ट्र के अभिन्न अंग नहीं हो सके थे[3]।"

भक्तिकालीन साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का अभाव होते हुए भी सुविधा की दृष्टि से इस युग की समग्र साहित्यिक चिन्तनों को दो भागों में बाँटकर यह दिखाया जा सकता है कि इस युग की चिन्तन धारा, मानवीय दृष्टि से कितनी समर्थ और प्रगतिशील रही है–

1–राष्ट्रपरक आध्यात्म-चिन्तन के प्रयास से मानव-हितों की रक्षा का प्रायस।

2–सामाजिक बुराइयों को दूर कर मानव-हितों की रक्षा का प्रयास।

भक्तियुगीन सन्तों की क्रान्ति का मूल प्रतिपाद्य विषय था–ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूपों का जन-जन में प्रचार करना। जिसके रास्ते अवतारवाद, रहस्यवाद, सूफी साधना और योग आदि की सोपानों से होकर गुजरे हैं। कबीर हो या तुलसी, ज्ञानदेव हो या नानक, नामदेव हो या दादू, रसखान हो या मीरा, सभी का विश्वास उस पर परम सत्ता मे ही है जो सभी चेतन प्राणियों में विद्यमान है। अन्तर बस इतना ही है कि निर्गुणियों का ब्रह्म अवतारी नहीं है और सगुणियों का अवतारी है। इसलिए किसी को किसी विशेष सम्प्रदाय का अनुयायी कहना अप्रासंगिक होगा–

> "निर्गुण पंथ के संतों के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयास व्यर्थ है। उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा–यह दिखाया जा चुका है कि निर्गुण पंथ में जो थोड़ा बहुत ज्ञानपक्ष है, वह वेदान्त से लिया हुआ है। जो प्रेमतत्त्व है, वह सुफियों का है न कि वैष्णवों का[4]।"

भक्तों की दार्शनिक त्व अवधारणा के बारे में शुक्ल जी की मान्यता बिल्कुल ठीक है, क्योंकि सगुण और निर्गुण भक्ति की साधना पद्धतियाँ अलग हो सकती हैं पर मूल दार्शनिक विचारधारा नहीं। आखिरसः सूर और तुलसी भी निर्गुण के बारे में उतने ही सजग और विश्वस्त हैं जितना स्वयं निर्गुणी सन्त। नीचे कुछेक पदों को उद्धृत किया जा रहा है जिससे यह प्रकट होता है कि अवतारवाद को छोड़ निर्गुण और सगुण में कोई बुनियादी अन्तर नहीं है–

1- मन-वानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख गुन जाति जुगति बिनु, निरालम्ब मन धावै॥
सबविधि अगम विचारा तातें, सूर सगुन लीला पद गावै॥

–सूरदास

2- निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोइ।
सुगम अगम नान चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥
—तुलसीदास

3- अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा-उभय हरहिं भव संभव खेदा।
—तुलसीदास

4- सर्गुण की सेवा करो, निर्गुण का करि ज्ञान।
निर्गुण सगुण कै परै, तहैं हमारा ध्यान॥
—कबीरदास।

सगुण मतावलम्बियों में सूर और तुलसी ने इसे बताया है कि कृष्ण और राम की भक्ति के माध्यम से समाज में व्याप्त कष्टों और दुःखों को दूर किया जा सकता है। संसार में व्याप्त दुःखों का शमन, भक्ति के माध्यम से किस तरह हो सकता है, यह तो सूर और तुलसी ही जानें। पर इस प्रश्न पर विचार करने के पहले यह समझना जरूरी है कि ये भक्त कवि "दुःख" को किस तरह से परिभाषित करते हैं। यदि संसार में जन्म ही लेना दुःख है और संसार को छोड़ देना ही सुख है तो सृष्टि के विकास और विनाश का क्या होगा। इसका उत्तर इन सन्तों के पास नहीं है। यद्यपि इन लोगों का दावा, इतिहास का अन्तिम और पहला दावा भी नहीं है। अपितु इसके पूर्व भी इसी तरह के दावे किए गये थे। दरअसल सच्चाई यह है कि भारत की सम्पूर्ण आध्यात्मिक धारा ही इसी तरह के दावे से भरी पड़ी है। इस दावे का ही परिणाम है कि भारतीय समाज कभी भी द्रुतगति से विकास नहीं कर सका और अनेक दकियानुसी विचारों से ग्रस्त रहा। फिर भी कम से कम भक्त कवियों के विषय में यह सच्चाई है कि उपर्युक्त दावे के कारण देश में थोड़ा परिवर्तन का आभास परिलक्षित हुआ था। "दुःख", को वे जीवन के पिछड़ेपन, गरीबी, तंगहाली और रोग-व्याधि के ही परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। दरिद्रता को वे सबसे बड़ा "दुःख" समझते हैं। तुलसी ने "दुःख" की अभिव्यक्ति पर "भक्ति" का आरोपण करके दरिद्रता को रावण की संज्ञा दी है और पेट की अग्नि को शान्त करने वाले को राम कहा है–

दारिद्र–दशानन दबाई दुनी दीनबंधु, दुरित-दहन देखि तुलसी हहाकरी
—तुलसीदास

प्रख्यात् मार्क्सवादी समीक्षक डॉ. रामविलास जी लिखते हैं कि "जिस भक्ति में पेट की आग को बड़वाग्नि से भी बड़ा बताया गया हो, और दरिद्रता को दशानन कहा गया हो, उससे आत्मसन्तोष की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती। तुलसी लोकधर्म के समर्थक हैं, उससे विरक्त नहीं हैं। उनसे मतभेद तभी होगा जब उनकी भक्ति लोकधर्म के विमुख हो जायेगी[5]।"

यानी भक्तों ने काफी प्रगतिशील कदम उठाया जो अभी किसी ने नहीं उठाया था। उन्होंने वस्तुगत परिस्थितियों पर उतना ही गम्भीरतापूर्वक विचार किया जितना भावजगत् पर। पर उनकी सुनने वाला कौन था ? राजा, तलवार के बल पर शासन करने में और शासक वर्ग प्रजा को लूटने

में ही व्यस्त था । असहाय, कमजोर, अकाल, पीड़ित, क्षुभित-जनता विवश होकर इन लुटेरों से लुट रही थी । इन सब बातों से जाहिर होता है कि जनसामान्य लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । उधर भक्ति आन्दोलन जो पूरे वेग के साथ समूचे भारत को आच्छादित कर लिया था, परवर्ती काल में उसकी धारा क्रमशः शिथिल होती गई । हलांकि इस चिन्तन का अनुभावन कर तदनुरूप आचरण करने से किसी भी प्रकार के भेदभाव में शिथिलता लाने की पूरी गुंजाइश होती है । अतः भक्ति आन्दोलन का मूल्यांकन, जनान्दोलन के रूप में न करके प्रयासरत जनता का सांस्कृतिक चेतना के उत्थान के रूप में करना चाहिए । जिसे तमाम ऐतिहासिक, सामाजिक प्रतिरोधों के बावजूद सन्तों ने देशज भाषा में खड़ा किया था ।

हमें भक्तिकालीन सन्तों का ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने उदात्त भारतीय सांस्कृतिक विरासत से समूचे देश को परिचित कराया । यह उन्हीं महात्माओं की देन है कि जनता अब समझने लगी है कि कर्मकाण्डीय विचारधारा और पोंगेपण्डित उन्हें धोखा नहीं दे सकते । फिर भी यह प्रश्न विचारणीय ही रह जाता है कि क्या सांस्कृतिक चेतना के उत्थान से राष्ट्रवाद का स्वरूप निर्मित हो सकता है ।

ऊपर हमने जो संकेत किया था, उसका अधिकांश हिस्सा भक्ति युगीन चिन्तन के धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों से सम्बन्धित था । यह जरूरी नहीं है कि देश की जनता में आध्यात्मिक भाव जाग्रत होने से उसका पिछड़ापन दूर हो जायेगा । यह भी जरूरी नहीं है कि जनसामान्य लोग दार्शनिक तथ्यों को जीवन के अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करेंगे, **मेली** ने ठीक ही कहा है–

"जिनका अपनी एक सम्मिलित भाषा नहीं, जो सामाजिक और राजनीतिक तौर पर खण्डों में विभाजित था, लेकिन जिसकी सहानुभूति समधर्म पर आधारित थी, उनमें परस्पर एकता लाने का काम हिन्दू धर्म ने ही किया[6] ।"

पर देखा तो यह जाता है कि भारत में मानव-इतिहास के शुरुआती दौर से ही धार्मिक चेतना के आधार पर मानव-जीवन का सामाजिक स्तर तय किया जाता रहा है । फिर प्रश्न उठता है कि कया धर्म सदैव सामान्य जनजीवन के साथ समानार्थक भाव के रूप में आचारित रहा है ? मुख्य बात तो यह है कि मनुष्य का आचार-विचार, निर्भर करता है–उसके जीवन की शुचिता और सम्पन्नता पर । मानव-जीवन सम्पन्न होगा तो ईश्वर में विश्वास भी बना रहेगा और सभी के प्रति सभी के मन में राष्ट्रीय स्तर का मेल-मिलाप दिखायी देगा । यही कारण है कि प्राचीन ऋषियों ने अध्यात्म और भौतिक, दोनों पक्षों पर बराबर का जोर दिया था–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवत्यविनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

मध्ययुगीन चिन्तन के बारे में ध्यान देने की जरूरत यह है कि सन्तों की विचारधारा से जो कि वह राष्ट्रीय दर्जे की है, गांवों की गरीबी, तंगहाली और उनका आर्थिक पिछड़ापन दूर नहीं किया जा सकता । हालांकि इन सन्तों ने इन प्रश्नों पर थोड़ी चिन्ता व्यक्त की थी–

द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन–कोउ नहि मान निगम अनुशासन ।

वेद का अनुशीलन क्या था ? जिसको मध्यकाल में न तो ब्राह्मण मानता था और न ही राजा। वह अनुशासन था–

कीरति भणिति भूतिबल सोई-सुरसरि सम सबकर हित होई ॥

सन्तों ने छुआछूत, जन्म से ही श्रेष्ठता का भाव, ऊँच-नीच, मठ और मन्दिर के सम्बन्ध में जो क्रान्तिकारी विचार प्रकट किया था परवर्ती युग में उसमें किसी प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ, अपितु ह्रास ही हुआ। परिवर्तन हो भी नहीं सकता था। यह तथ्य इसलिए उभरकर सामने आता है क्योंकि तुलसीदास ने जिस दुर्भिक्ष और महामारी का चित्रण किया था–"कलि बारहिं बार अकाल पड़ै–बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरैं", उसके बारे में तत्कालीन इतिहासकारों का जो बयान है, वह इस बात का द्योतक है कि शासन की ओर से ऐसी भयानक बिमारी और दुर्भिक्ष के समय में भी जनता को कोई राहत सामग्री नहीं दी जाती थी–

सन् 1556-57 के आगरा के अकाल पीड़ित प्राणियों के बारे में बदायुँनी लिखता है कि मनुष्य, मनुष्य को खाते थे। क्षुधा से पीड़ित दुखियों के चेहरे इतने बीभत्स और डरावने लगते थे कि उनकी ओर देखना भी कठिन था। समस्त देश मरुभूमि समान थी और जमीन जोतने के लिए कोई किसान जीवित नहीं बचा था।"

इसी तरह सन् 1594-95 के गुजरात के अकालग्रस्त प्राणियों का, मनुष्य मांस खाता था। सड़कें तथा गलियाँ लाशों से अवरुद्ध थीं तथा उन्हें हटाने के लिए शासन की ओर से कोई मदद नहीं दी जा सकी। एक तद्‌युगीन डच व्यापारी, जिसने इस भयानक दृश्य को देखा था, लिखता है कि–ऐसे लोगों को जो गली में पड़े थे, किन्तु अभी तक मरे नहीं थे, दूसरे लोग उन्हें काटकर जिन्दा ही खा जाते थे[7]।"

जरा सोचें कि जिस देश की जनता दुर्भिक्ष और महामारी जैसी परिस्थिति में एक दूसरे का मांस खाने के लिए विवश हो, उससे यह आशा करना कि उसके मन में देश के प्रति, शासन के प्रति सकारात्मक धारणा होगी, निरीमूर्खता है। दरअसल भक्ति काल में देश की सामाजिक जीवन्तता और रजनीतिक चेतना, सामन्ती विचारों से इतनी पददलित हो चुकी थी कि दस सन्त तो क्या हजारों सन्त-महात्मा, मध्य युगीन समाज में राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकते थे। हमें ऐसा इसलिए कहना पड़ रहा है कि कदाचित यदि जनमानस पर भक्तियुगीन पुनर्प्रयास का प्रभाव पड़ा होता तो उन समस्याओं (जो मध्यकाल में थी) के परिशमन के लिए आज कानून क्यों बनाना पड़ता ? दूसरी बात यह कि ऐसी कौन सी विवशता आ गई थी परवर्ती भक्तों के समक्ष जिसे राम और कृष्ण के आदर्शमय चरित्रों का वर्णन श्रृंगारिकता में करना पड़ा। आगे के दिनों में इन भक्तों ने "सखी सम्प्रदाय" का निर्माण करके ऐसे अनेक अश्लील पदों की रचना की जिससे पढ़कर मन क्षुब्ध हो उठता है–

1- नीबी करसत बरजत प्यारी
रस लंपुट, संपुट कर जोरत, पद परसत पुनि ले बलिहारी

2- पिय हंसि रस-रस कंचुकि खोलै।

चमकि निवारति पानि लाड़ली, मुरक मुरक मुख बोले। कृपानिवास पदावली।

आचार्य शुक्ल जी इस तरह की कविताओं से इतने खिन्न थे कि शोधार्थियों को ऐसी कविताओं से सावधान रहने की चेतावनी दी–

"रामभक्ति साखा के साहित्य का अनुसन्धान करने वालों को सावधान करने के लिए ही इस "रसिक साखा" का विवरण दिया गया। गुह्य, रहस्य, माधुर्यभाव आदि के समावेश से किसी भक्ति मार्ग की यही दशा होती है। गोस्वामी जी ने शुद्ध, सात्विक और खुले रूप में जिस रामभक्ति का प्रकाश फैलाया था, वह इसी प्रकार विकृत की जा रही है[४]।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस तरह की उपासना पद्धति से सामान्य जन में अपने नायकों के प्रति, भ्रम पैदा होने की पूरी गुंजाइश बनती है। वह इस रूप में कि जैसे किसी दुःशील व्यक्ति से यदि आप आदर्श-चरित्र की व्याख्या करें तो वह मूर्ख कृष्ण का उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि वह तो भगवान् होते हुए भी अनेकों गोपियों से अनैतिक सम्बन्ध बनाये हुए थे। ऐसे मूर्ख यह भूल जाते हैं कि कृष्ण का चरित्र कितना उदात्त और अनुकरणीय है। पर यहां मुख्य सवाल यह है कि इस तरह के उदात्त चरित्रों का शृंगारिक वर्णन करने की जरूरत ही क्या थी ? क्या भक्ति-भावना तभी प्रदर्शित होगी जब कृष्ण, गोपियों का वस्त्र चुराते हुए दिखायी देंगे ? यह कोई जरूरी नहीं है कि अपने इष्टदेव के प्रति भक्ति-प्रदर्शन के लिए इस तरह की घोर शृंगारिकता का सहारा लिया जाय।

अब हम पुनः अपनी मूल स्थापना की ओर लौटते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्ति-धारा का स्वरूप राष्ट्रीय नहीं था। महाराष्ट्र से ज्ञानदेव, गुजरात से नामदेव, पंजाब से नानक, बंगाल से चैतन्य महाप्रभु और दक्षिण से दसियों आलवार भक्तों के सम्मिलित प्रयास से हिन्दू धर्म एक बार पुनर्जीवन प्राप्त करने की दशा में आ चुका था। लेकिन इस धर्म की बुनियादी कूपमण्डूकता, सामाजिक भेदभाव और शूद्रों के प्रति घृणा बनी रही। सच्ची बात तो यह है कि पहले से मन में बैठी ईश्वर भक्ति (जो कुछ वर्ष से शिथिल हो चुकी थी) सन्तों की साधना से घर-घर में गूँजने लगी थी। लेकिन हिन्दुओं और मुसलमानों के बुंनियादी भेद-भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ा। अन्तर आ भी नहीं सकता था। क्योंकि "समन्वित राष्ट्रीय सोच की जागृति" के लिए राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तरों पर समेकित जनान्दोलनों की जरूरत होती है। यह जरूरत पूरी होती है–प्रचार से, उद्योग-धन्धों से, आवागमन की सुविधा से, शिक्षा से और राजनीतिक प्रयासों से। जिसका स्पष्ट अभाव इस युग में दिखायी देता है–

"भला ऐसे लोगों का समन्वित राष्ट्र कैसे बनता जो विभिन्न केन्द्रों में अलग-अलग विभक्त जीवन जी रहे थे। जिनके बीच भौतिक सम्पर्क और आर्थिक एवं सामाजिक जीवन शून्यमय था। छोटे समूहों में स्वतन्त्र और पृथक् जीवनयापन करने वाले लोगों की जनचेतना राष्ट्रीय स्तर की भला कैसे होगी ? वायुरुद्ध मुहरबन्ध गांवों के जीवन में दर्शन

और जीवन–पद्धति से कोई भी आगे नहीं बढ़ पाता था, और इसका अपवाद भी कोई बिरले ही होगा[9] ।"

ब्रिटिश–भारत में राष्ट्रीय चेतना का विकास सम्भवतः इसलिए हो सका था कि उस समय भारतीय जनता की संघर्ष के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं । जबकि भक्तियुगीन भारत की परिस्थितियाँ बिल्कुल विपरीत थीं । नहीं कोई उद्योग और नहीं कोई फैक्टरी । नहीं कोई समाचार-पत्र और नहीं कोई ऐसी सार्वजनिक जगह जहाँ बैठकर आदमी एक दूसरे से अपनी परेशानियाँ बता सकता था । यहाँ तो "सौ दिन चलै अढ़ाई कोस" की उक्ति चरितार्थ थी । लिहाजा समग्र राष्ट्रीय सोच की जागृति बहुत कठिन प्रक्रिया थी । राजाओं का सम्बन्ध तो गाँव की जनता से रह ही नहीं गया था । उनका रिश्ता सिर्फ लगान तक ही सीमित था । यानी कुल मिलाकर राष्ट्रीय चेतना की जागृति की परिस्थितियाँ विपरीत थीं ।

इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि यहाँ जितने भी सन्त हुए, उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति की बजाय "आध्यात्मिक क्रान्ति" पर ज्यादा जोर दिया । यहाँ तक कि बुद्ध "जिनकी ख्याति चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी, और जिनका नाम भारतभर में अग्रगण्य था, जिसके बारे में यह दैनिक दृश्य देखने को मिलता था कि वह जिसके समक्ष खड़ा होता था, यहाँ तक कि राजाओं का सिर भी झुक जाता था । वह हाथ में भिक्षापात्र लेकर, तबतक खड़ा प्रतीक्षा करता था जबतक कि लोग उसके पात्र में कुछ भोजन न डाल दें[10] ।" वह भी भारतीय संस्कृति की विगलित और पक्षपातपूर्ण बर्बरता को "प्रेम और करुणा" के बल से नहीं जीत सका । इसलिए कि उन्होंने भी "सम्पूर्ण क्रान्ति" की बजाय आध्यात्मिक क्रान्ति और आदर्शमय उपदेश पर ज्यादा जोर दिया । यह धारा हम बहुत प्राचीन काल से ही देखते आ रहे हैं । यहाँ तक कि ऋग्वैदिक कवि भी जितनी चिन्ता श्रेष्ठतम निधि, प्रतिभाशाली मस्तिष्क, पर्याप्त सम्पत्ति, स्वस्थ शरीर, मधुर वाणी और सुदीर्घ जीवन के लिए करता है–

"इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मै ।
पोषं रथीणामरिष्टिं तनूनां स्वाध्यानां वाचः सुदिनत्वमह्याम् ॥"

–ऋग्वेद, 2.21.6

कहीं उससे ज्यादा चिन्तित है, 'ईश्वर के अस्तित्व' के बारे में जानने के लिए–

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्तत्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥

–ऋग्वेद, 10.129.

इसी तरह मध्ययुगीन संत जितना चिन्तित है ब्रह्म से मिलने के लिए, उसकी बहुरिया बनने के लिए–मैं पिव, राम की बहुरिया ।"

उतना व्याकुल वह दास और दासियों की मुक्ति के लिए नहीं है । वह इस बात पर ध्यान ही नहीं ले जाता कि भक्तिकाल का सर्वाधिक सुलझा हुआ व्यक्ति होने के नाते, समाज के प्रति उसका

भी कुछ विशेष दायित्व है। उनकी एक बुनियादी मजबूरी थी-ईश्वर भक्ति और ईश्वर से मिलने की उत्कट आकांक्षा–

बहुत दिनन की जोहति, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कूँ, मन नाहीं बिसराम॥

–कबीरदास

कभी-कभी तो हम यहाँ तक देखते हैं कि कदाचित् यदि उसे राजदरबार में कभी बुलाया भी जाता है तो वह वहाँ जाकर, जनता का निःशंक दुःख-दर्द सुनाने के बजाय, यह सोचता है कि उनका राजदरबारों से क्या काम–

आवत जात पनिहियां टूटो, बिसरि गयो हरि नाम।
सन्तन को कहां, सीकरी सो काम॥

–तुलसीदास

इन सब तथ्यों से यही जाहिर होता है कि भक्तिकालीन चिन्तन का स्वरूप-अध्यात्मपरक राष्ट्रीय स्वरूप था, जो राष्ट्रीयता की क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलनों से विरत था। आज जिन सन्तों की कविताएँ सुनकर हम अनुप्राणित होते हैं, वह लम्बे अर्से के प्रयास का नतीजा है। मेरा विश्वास है कि कबीर को जितना प्रासंगिक हम आज समझते हैं, उतना प्रासंगिक वे भक्तिकाल में रहे होंगे, इसमें सन्देह है। इसकी पुष्टि गांवों में गाए जाने वाले 'जोगीरों' से होती है, द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है–

"पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार में होली के अवसर पर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाए जाते हैं, उन्हें जोगीणा कहते हैं। साधारणतः इस गान के गाने वाले किसी लड़के को स्त्रीरूप में सजाकर नाच भी कराते हैं और बीच-बीच में "जोगी जी धीरे-धीरे" की आवाज देते रहते है। "जोगीणा" गा लेने के बाद "कबीर" गाते हैं जो अश्लीलता में जोगीणों के भी कान काटने वाले होते हैं[11]।" वह गान है–

छर्र्र कबीर.................।

इसी तरह इन भक्तों की दूसरी सबसे बड़ी कमजोरी थी-जीवन के भौतिक पदार्थों को तुच्छ और हेय समझना। स्त्री तो इनके लिए "माया" की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थी–

माया महाठगिनि हंम जानी। –कबीर

इतना ही नहीं भारत भूमि इनके लिए वीरान थी, रहने लायक नहीं थी। रहेगी ही क्यों ? जब संसार ही इन्हें कागज का टुकड़ा नजर आ रहा था–

रहना नहिं देश विराना है।
यह संसार कागज की पुड़िया, बूँद पड़े धुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥

–कबीरदास

यह बडी विचित्र बात है कि वह संसार को मात्र इसलिए छोड़ देना चाहता है, क्योंकि वह उसके मोक्ष प्राप्ति के रास्ते में सबसे बड़ा बाधक है। वह ऐसे संसार में जाना चाहता है, जहाँ सन्तों का समाज हो, और उस समाज का मालिक (ब्रह्म) पुरुष ही हो–

अमरप्रद ले चलु हो सजना।
संत समाज सभा जँह बैठी, वहीं पुरुष अपना।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भवसागर है तरना॥

–कबीरदास

यदि उसको कोई चिन्ता है तो अपने गुरु का (ब्रह्म) प्रसाद पाने के लिए, दुःख यदि है तो इसलिए कि वह पूजा-अर्चन करने की विधि नहीं जानता। डर यदि है तो यह है कि पूर्ण समर्पण के अभाव में उसकी मोक्ष भी मारी न जाय–

माई ! गोबिन्द पूँजा कँहा लै चढ़ावऊँ, अवरू त फूल अनूप न पावऊँ।
तन-मन अरपन, पूजि चढ़ावऊँ-गुरु परसादि निरंजन पावऊँ॥
पूजा-अर्चन आहि न तोरी, कह रविदास कवन गति मोरी।

–रैदास

आप चाहें तो मेरे ऊपर आरोप लगा सकते हैं कि सन्तों की चिन्तना का मूल्यांकन उपरोक्त नजरिये से करना उसके साथ सरासर अन्याय है। ऐसे आस्थावानों से मेरा नम्र निवेदन है कि सन्तों की भक्तिधारा-सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी राष्ट्रीयता की दृष्टि से नहीं। यह स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं है कि सन्त-विचारधारा समूची मानव-जाति के उत्थान परक भावनाओं को आत्मसात किए हुए हैं। अब तक की समूची सांस्कृतिक विरासत में भारत के उदात्त प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना में जितना योगदान इन भक्तों का है उतना शायद ही किसी का हो। पर यह सच्चाई है कि राष्ट्र का विकास आध्यात्मिक विचारधारा के बल पर नहीं हो सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'चारुचन्द्रलेख' में इसी मूल प्रश्न को उठाया था। उपन्यास की नायिका रानी 'चन्द्र-लेख' देश पर आए संकट की सामना के लिए बारह सम्प्रदायों के साधुओं की एक सेना गठित की है। द्विवेदी जी ने इन साधुओं की सैनिक-शक्ति पर करारा व्यंग्य करते हुए लिखा कि–

"सुना है कि बारह सम्प्रदायों के योगी संगठित हुए हैं।..........सुना है कि त्रिशूल उठाकर सबने शपथ ली है।............ पर क्या इन मूर्ख गाजाखोरों की सेना अपने प्रण को निभा सकेगी[12]।"

दरअसल आध्यात्मिक चेतना अन्ततः हमें गार्हस्थ्य जीवन से विरत रहने की प्रेरणा देती है। यह तो ठीक है कि इस चिन्तन-शक्ति के अनुभावन से अपना और पराया का भेदभाव समाप्त होने में मदद मिलती है–

सील-सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि मे पूरा ।
ताके दरस-परम भय भागै, होइ कलेष सब दूरा ॥
—कबीर

परन्तु जीवन के विकास के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है । मानव-जीवन के विकास के लिए जरूरी है, सभी मुद्दों पर समेकित राष्ट्रीय विचारधारा जाग्रत करने की । यह तभी सम्भव है जब आध्यात्मिक विकास के बजाय सामाजिक विकास पर बल दिया जाय । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति चिन्तन का राष्ट्रीय स्वरूप–"आध्यात्मिक आदर्शवाद पर अवलम्बित था" जो सांस्कृतिक पुनर्प्रयास का जाग्रत युग है ।



---

1. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रो. ए. आर. देसाई, पृ. 16.
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 47.
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रो. ए. आर. देसाई, पृ. 130.
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 65.
5. भाषा युगबोध और कविता, डॉ. रामविलास शर्मा. पृ. 39.
6. ओ. मेली, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर, पृ. 135.
7. भारत का वृहद् इतिहास, भाग दो, आर. सी. मजूमदार, पृं. 283.
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 106.
9. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए. आर. देसाई, पृ. 39.
10. प्रसिद्ध विद्वान् ओल्डनवर्गरी उक्ति, प्राचीन भारत, राधाकुमुद मुखर्जी के आधार पर,पृ. 46.
11. कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी । पृ. सं. 47.
12. चारुचन्द्रलेख (उपन्यास) हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 318-319.

वाराणसी में पंचतीर्थ की अवधारणा

डॉ. अवध बिहारी खरे*

गंगा के बाएं तट पर वरुणा और अस्सी के मध्य बसी हुई अतिप्राचीन नगरी काशी भारतीय संस्कृति का दर्पण है। वैष्णव, शैव, तांत्रिक, बौद्ध, जैन आदि समस्त सम्प्रदायों के लोग काशी को तीर्थ स्थल मानते हैं।[1] काशी का सर्वप्रथम तीर्थ स्थल के रूप में उल्लेख महाभारत में अज्ञातवास के समय पाण्डवों का काशी कपिलाह्य में जाने के संदर्भ में मिलता है।[2] इस ग्रन्थ में काशी तीर्थ के विशिष्ट प्रचलनों की सूचना मिलती है। इसमें वर्णित है कि यहाँ प्राणोत्सर्ग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3] वाराणसी की महत्ता को स्पष्ट करते हुए मत्स्य पुराण मे इसे प्रयाग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया है।[4] इस प्रसंग में विवेचित है कि नमिष, कुरुक्षेत्र, गंगाद्वार तथा पुष्कर तीर्थों के सेवन तथा स्नान से मोक्ष नहीं मिलता पर इस तीर्थ की विशेषता यह है कि यहाँ मोक्ष सुलभ है।[5] इसकी महत्ता वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी व्यक्त की गई है। इनमें विवेचित है कि वाराणसी में योगेश्वर शंकर का निवास नित्य रहता है। यहाँ श्राद्ध करने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है।[6] आगे चलकर बारहवीं सदी में काशी भारत का प्रमुख तीर्थ माना जाने लगा। लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु में तीर्थों का विवेचन करते समय काशी को प्रमुख तीर्थ माना है।[7]

वाराणसी तीर्थ के पांच उपतीर्थों की गणना सर्वप्रथम मत्स्य पुराण में हुई। इस पुराण के अनुसार विश्वेश्वर विश्वनाथ के आनन्दकानन (वाराणसी) में पांच प्रमुख तीर्थ दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, विन्दुमाधव और मणिकर्णिका है। इसी प्रसंग में विवेचित है कि इन्हीं पांच श्रेष्ठ तीर्थों के साथ अविमुक्त का वर्णन किया जाता है।[8] यद्यपि अन्य पुराणों में इसका सविस्तार वर्णन नहीं मिलता लेकिन उत्तर कालीन पुराणों में इसका सविस्तार उल्लेख हुआ है। आधुनिक काल में प्रमुख पंचतीर्थ अस्सी और गंगा का संगम, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पंचगंगा घाट और वरुणा तथा गंगा की संगम स्थल है। लोलार्क तीर्थ चारों ओर से गंगा के संगम पर अवस्थित माना जाता है।

वाराणसी में इन पंचतीर्थों की यात्रा पांच भौतिक शरीर शुद्ध करने के उद्देश्य से की जाती है। इस यात्रा का वर्णन काशीखण्ड में उल्लिखित है। इस ग्रन्थ के अनुसार पंचतीर्थों में परमश्रेष्ठ अस्सी संगम प्रथम तीर्थ है। सम्पूर्ण तीर्थों से सेवित दशाश्वमेध दूसरा तीर्थ है। उसके बाद आदिकेशव

---

* पोस्ट डाक्टर फेलो, प्रा. भा. ई. सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, का. हि. वि. वि.

सन्निकट में पादोदक नामक तीसरा तीर्थ वरुणा और स्नान मात्र से पापों के समूह का हरण करने वाला चौथा तीर्थ पंचनद (पंचगंगा) और पाँचवा तीर्थ मणिकर्णिका है जहाँ स्नान करने से पंचभूतात्मक शरीर प्राप्त नहीं होता और मनुष्य पाँच मुख प्राप्त करके अन्त समय शिवस्वरूप हो जाता है।[9] यह यात्रा वाराणसी में बहुत प्रचलित है प्रायः पर्वों पर लोग नौका पर चढ़कर या पैदल यात्रा करते हैं।[10]

वाराणसी की दक्षिणी सीमा पर स्थित होने के कारण अस्सी गंगा संगम तीर्थ (अस्सी घाट) को प्रधान तीर्थ माना गया है। पुराणों में इस तीर्थ को असिसंभेद तीर्थ कहा गया है। काशी खण्ड में उल्लिखित है कि संसार के सभी तीर्थ असिसंभेद के षोडशांश के बराबर नहीं होते। यहाँ स्नान करने से सभी तीर्थों के स्नान का फल मिल जाता है।[11] अस्सी का वर्णन वाराणसी नाम के संदर्भ में जातकों और महाभारत में मिलता है।[12] कुछ पुराणों[13] में अस्सी नदी को सुकंडी नाम से सम्बोधित किया गया है। वामन पुराण में वरुणा और अस्सी को विष्णु के दाएं एवं बाएं पैरों से सम्बोधित किया गया है।[14] ऐसा उल्लेख है कि वरुणा और अस्सी वाराणसी की सीमा ही नहीं वरन् पौराणिक अवधारणाओं के अनुसार ये दोनों किनारों पर क्षेत्रपाल के रूप में हैं।[15]

पंचतीर्थ यात्री सर्वप्रथम अस्सी गंगा संगम में स्नान करते हैं। तत्पश्चात् इस क्षेत्र में स्थित संङ्गमेश्वर, लोलार्क और अर्कविनायक का दर्शन करते हैं।[16] इनका उल्लेख काशी की पंचक्रोशी यात्रा के संदर्भ में प्राप्त होता है। इस क्षेत्र में स्थित पंचमंदिर स्थापत्य कला की दृष्टि से अनेकांडक प्रकार का है।

इस तीर्थस्थल पर प्रत्येक वर्ष नाग नथैया का मेला महाराज काशी नरेश की अध्यक्षता में सम्पन्न किया जाता है। इस मेले का शुभारम्भ उन्नीसवीं सदी में काशी के राजा ने सर्वप्रथम किया था। परम्परागत परिवेश में यह कृष्णलीला आज भी लाखों दर्शकों के ध्यान को आकर्षित करती है।[17]

पंचतीर्थ स्थलों में दशाश्वमेध घाट का दूसरा स्थान है। इस तीर्थ की महिमा का वर्णन काशीखण्ड और त्रिस्थली सेतु में मिलता है।[18] काशीखण्ड में उल्लेख है कि दशाश्वमेध सभी तीर्थों की संस्थिति है।[19] इस ग्रन्थ में विवेचित है कि इस तीर्थ में जो भी कर्म किया जाता है वह अक्षय होता है।[20] पुराणों में उल्लिखित है कि पहले इस तीर्थ का नाम रुद्रसर था। बाद में ब्रह्माजी के द्वारा यहाँ दस अश्वमेध यज्ञ करने से इसका नाम दशाश्वमेध तीर्थ हुआ।[21] प्रवरसेन द्वितीय के सिवानी वाले ताम्रपत्र से यह विदित होता है कि इस तीर्थ का महात्म्य काशीखण्ड के बहुत पहले भी था। इस ताम्रपत्र से पता चलता है कि हजारों वर्ष पूर्व मारशिव सम्राटों ने भी इस तीर्थ पर दश अश्वमेध यज्ञ किया था।[22] इसका प्रतीक स्वरूप एक पत्थर का घोड़ा दशाश्वमेध घाट के उत्तर में प्राचीन काल में स्थापित था और इसी कारण इसका नाम घोड़ा घाट भी था। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने यह बतलाया कि भारशिव नाग राजाओं के द्वारा किए गए दश अश्वमेध यज्ञ के कारण इसका नाम दशाश्वमेध पड़ा।[23]

इस घाट की सीमा का उल्लेख पुराणों में हुआ है। पुराणों में कहा गया है कि घाट के उत्तरी छोर पर शूलटंकेश्वर तथा दक्षिणी छोर पर दशाश्वमेधेश्वर महादेव स्थित हैं।[24] ये शिवलिंग वर्तमान समय में शीतला घाट और प्रयाग घाट पर स्थित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दशाश्वमेध का क्षेत्र पहले शीतला घाट से प्रयाग घाट तक था। लेकिन वर्तमान में दशाश्वमेध घाट का क्षेत्र शीतला घाट और प्रयाग घाट के मध्य का क्षेत्र है।

इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई द्वारा अठारहवीं शताब्दी के अन्त में दशाश्वमेध घाट को पक्का घाट का रूप दिया गया।[25] इस घाट के क्षेत्र का परिमाप 120 फीट 6 इन्च गुणे 60 फीट है।[26] इस घाट पर स्थित दशाश्वमेधेश्वर और शूलटंकेश्वर महादेव मन्दिर का उल्लेख पुराणों में मिलता है। इस घाट के ऊपर स्थित महादेव मंदिर स्थापत्य कला की दृष्टि से मिश्रघाट प्रकार का है।

पंचतीर्थ यात्री अस्सी-गंगा संगम में स्नान करने के बाद दूसरी बार दशाश्वमेध तीर्थ स्थल पर स्नान करते हैं तथा इस घाट पर स्थित मुख्य रूप से दशाश्वमेधेश्वर, शूलटंकेश्वर और ब्रह्मेश्वर महादेव मंदिरों में दर्शन करते हैं।[27] इस स्थल पर तीर्थ यात्रियों द्वारा गोदान दिया जाता है। इस कार्य में घाटिया और तीर्थ पुरोहितों की सक्रिय भूमिका रहती है। ये लोग थोड़ी धनराशि में गोदान सम्पन्न करा देते है। इस प्रक्रिया में तीर्थयात्री गाय की पूँछ पकड़ता है और पुरोहित गाय के कान में मंत्र पढ़ता है। तत्पश्चात् तीर्थयात्री द्वारा गाय तीर्थ पुरोहित को दे दिया जाता है। यह कार्य उन्हीं लोगों द्वारा सम्पन्न किया जाता है जो कष्ट से पीड़ित तथा भविष्य में सुखमय जीवन व्यतीत करने की कामना करते हैं।[28] इस रीति के साथ मरणोपरान्त वैतरणी पार करने की कल्पना यात्रियों के साथ जुड़ी हुई है।

पंचतीर्थों में तीसरा तीर्थ स्थल आदिकेशव घाट है। इसे वरुणा-गंगा संगम स्थल भी कहते हैं। इस स्थल पर विष्णु पादोदक तीर्थ भी है। इस तीर्थ के नामकरण को लेकर एक पौराणिक कथा का उल्लेख ग्रंथों में हुआ है। भगवान् शिव के आग्रह करने पर भगवान् विष्णु जब काशी आए तो उन्होंने सर्व प्रथम गंगा-वरुणा संगम पर स्नान किया। वह स्थल पादोदक तीर्थ हुआ और भगवान् विष्णु ने जहाँ अपने पैर धोये वह स्थल आदिकेशव या प्रथम केशव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[29] इसी के नाम पर इस घाट का नाम आदिकेशव घाट पड़ा। इस घाट पर स्थित विष्णुपादोदक तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य सप्तजन्मार्जित पापों से मुक्त हो जाता है।[30] वरुणा-गंगा संगम स्थल के विषय में लिंग पुराण में उल्लेख है कि इस तीर्थ में अन्नदान करने से मनुष्य पुर्नजन्म का भागी नहीं होता।[31]

गाहडवाल शासकों के समय यह क्षेत्र विकसित था। ये वैष्णव थे। इन शासकों के लेखों को पता चलता है कि आदिकेशव घाट पर स्थित आदिकेशव मन्दिर की बड़ी ख्याति थी।[32] इस घाट का उल्लेख गाहडवाल शासक चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र और जयचन्द के लेखों में आया है।[33] इस वंश के प्रथम शासक चन्द्रदेव ने पुराने केशव मन्दिर के स्थान पर आदिकेशव मन्दिर की

स्थापना की जो कि वेदेश्वर के उत्तर में स्थित था ।[34] इस क्षेत्र में मन्दिरों के निर्माण प्रक्रिया में कलचुरी शासकों का भी विशेष योगदान रहा है ।

मुस्लिम आक्रमणों के कारण इस क्षेत्र में स्थित मन्दिरों को भारी क्षति पहुँची । सन् 1194 ईस्वी में मुस्लिम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक ने बनारस के किले के साथ-साथ इस क्षेत्र में स्थित आदि केशव मन्दिर को भी ध्वस्त कर दिया ।[35] इस भूखण्ड में जो देवमन्दिर ध्वस्त हुए उनका पुनः निर्माण असम्भव समझा गया और इनमें से कुछ की स्थापना अन्यत्र की गई । बहुत से तीर्थ तथा देव-स्थान लुप्त हो गए ।[36] पंचतीर्थ यात्रा का आवश्यक अंग होने के कारण इस तीर्थ का लोप नहीं हुआ और 'कलौ स्थानानि पूजयेत्' इस स्मृति के सूत्र के आधार पर वहाँ पूजन चलता रहा । कालान्तर में यथासमय अन्य तीर्थों के साथ वहाँ पर भी दूसरी मूर्ति स्थापित हुयी ।[37] इस घाट पर स्थित आदिकेशव, वेदेश्वर, संगमेश्वर तथा प्रयाग लिंग सन् 1768 ई. में सिन्धिया महाराज के दीवान के द्वारा बनवाया गया ।[38] वरणा संगम स्थल पर आए तीर्थयात्री संगम में स्नान करके आदिकेशव एवं संङ्गमेश्वर महादेव का दर्शन करते हैं । यहां तीर्थयात्री पंचतीर्थ यात्रा क्रम में तीसरी बार स्नान करते हैं । लिंग पुराण के अनुसार सङ्गमेश्वर लिंग की स्थापना ब्रह्मा के द्वारा इस स्थल पर हुआ था । ऐसा उल्लेख है कि जो मनुष्य संगम में स्नान करके संङ्गमेश्वर महादेव का दर्शन करता है वह पुनर्जन्म का भागी नहीं होता ।[39]

पंचतीर्थों में चौथा तीर्थस्थल पंचगंगा घाट है । स्कन्द पुराण में इसके पंचनद नाम का उल्लेख हुआ है । इसमें उल्लिखित है कि पंचनद तीर्थ में मनुष्य जितनी तिलों की संख्या से पितरों का तर्पण करता है उतने वर्ष तक उसके पितृगण तृप्त रहते हैं ।[40] पौराणिक महात्म्य के अतिरिक्त इस घाट की प्रसिद्धि का कारण यहां पांच नदियों या धाराओं की मिलने के कल्पना है ।[41] काशीखण्ड में उल्लिखित है कि यह घाट पांच नदियों गंगा, जमुना, सरस्वती, किरण और धर्मनद का संगम स्थल है ।[42] सम्भवतः इसी कारण इस घाट का नाम पंचगंगा घाट पड़ा ।

इस तीर्थ को बिन्दुतीर्थ भी कहते हैं । पुराणों में उल्लेख है कि अग्निविन्दु ऋषि को वर देकर भगवान् विष्णु बिन्दुमाधव रूप से इस तीर्थ के निकट प्रादुर्भूत हुए और इस तीर्थ का नाम बिन्दु तीर्थ पड़ा ।[43] ऐसी अवधारणा है कि इस तीर्थ में एक दिन स्नान करने से जो फल प्राप्त होता है वह प्रयागराज में माघ के महीने भर स्नान करने से मिलता है ।[44]

बिन्दुतीर्थ होने के कारण इस घाट पर स्थित विन्दुमाधव मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है । यह मन्दिर बारहवीं से सोलहवीं सदी के मध्य कई बार तोड़ा गया । अन्तिम बार इस मन्दिर का निर्माण राजस्थान के महाराज मानसिंह अम्बर द्वारा सोलहवीं सदी के अन्त में हुआ ।[45] पुनः औरंगजेब ने अपने शासन काल में इस मन्दिर को तुड़वाकर इसे मस्जिद का रूप दिया ।[46] कुछ समय तक इस मन्दिर की मूर्तियाँ अव्यवस्थित रूप में रही लेकिन बाद में उन्नीसवीं सदी में इन्हें पास के एक मकान में प्रतिष्ठित कर दिया गया । पंचतीर्थ यात्रा करने वाले तीर्थयात्री चौथी बार इस तीर्थ में स्नान करके विन्दुमाधव का दर्शन करते हैं । आध्यात्मिक और धार्मिक स्थल होने के कारण यह घाट

तीर्थयात्रियों के लिए विशेष महत्वपूर्ण है । पंचतीर्थ यात्रा पर निकले तीर्थयात्रियों के द्वारा यहाँ दीपदान दिया जाता है । इस घाट पर कार्तिक महीने में पूर्णिमा के दिन परम्परागत परिवेश में दीपमालिका उत्सव मनाया जाता है । मोतीचन्द्र के अनुसार इस उत्सव का शुभारम्भ महाजनपद युग में हुआ था ।[47]

पंचतीर्थ स्थलों में पांचवाँ तीर्थ स्थल मणिकर्णिका घाट है । गुप्तकाल में यह स्थल वाराणसी का सर्वश्रेष्ठ स्थल था । पुराणों के अनुसार इस तीर्थ स्थल का प्रथम नाम चक्रपुष्करणी था, बाद में शंकर के कर्णमणि गिरने से इसका नाम मणिकर्णिका पड़ा[48] । वर्तमान समय में यह तीर्थ गंगा के भीतर हो जाने से जनसाधारण को उसका प्रत्यक्ष दर्शन कठिन हो गया । इस स्थिति के निवारण हेतु गंगा तट पर एक छोटे से कुण्ड का निर्माण हुआ जिसमें मणिकर्णिका तीर्थ का जलस्रोत निरन्तर गिरता रहता है । इस स्थल पर मणिकर्णिका देवी की मूर्ति है जिसका उल्लेख काशीखण्ड में हुआ है ।[49] इस स्थल का महात्म्य मुख्य रूप से इसी कुण्ड पर आधारित है । मणिकर्णिका क्षेत्र को अविमुक्त भी कहा जाता है ।

नारद पुराण में मणिकर्णिका को सर्वोत्तम तीर्थ के रूप में निरूपित किया गया है ।[50] काशी खण्ड में इस क्षेत्र के विस्तार की सूचना मिलती है । इसके अनुसार उत्तर में हरिश्चन्द्र मण्डप (जो केशव घाट के ऊपर है) और पूर्व में स्वर्गद्वार से गंगा के मध्य तक इसका विस्तार है ।[51] इस ग्रन्थ में उल्लिखित है कि मर्णिकर्णिका मोक्ष द्वार से पूर्व ईशानकोण तीन सौ हाथ (150 गज) और आग्नेय कोण में दो सौ हाथ (100 गज) तथा गंगा की धारा में उत्तर और दक्षिण पांच सौ हाथ विस्तृत है ।[52] मणिकर्णिका घाट का निर्माण सन् 1630 में बाजीराव पेशवा ने करवाया था । इस घाट पर स्थित तारकेश्वर महादेव, महादेव मन्दिर, मणिकर्णिकेश्वर महादेव, माहेश्वरी देवी, मनोकामेश्वर एवं सिद्धविनायक के मन्दिर क्रमशः अहिल्याबाई (इन्दौर, 1785-1795), राजा श्री लालमाधव सिंह (अमेठी, 1857 ई.) राजाश्री मंगल सिंह (अलवर स्टेट, 1895 ई.) और राजराजेश्वर सप्तम (1900 ई.) के द्वारा निर्मित है ।[53] स्थापत्य कला की दृष्टि से ये मन्दिर अनेकांडक और मिश्रघाट प्रकार के हैं । पंचतीर्थ यात्री अपनी यात्रा के दौरान अन्तिम बार इस स्थल पर स्नान करके इन मन्दिरों में दर्शन करते हैं । इस घाट पर तीर्थयात्रियों द्वारा पिंडदान एवं तर्पण भी सम्पन्न किया जाता है । इसके उपरान्त तीर्थयात्री दण्डपाणि का पूजन करके अपने निवास स्थल को लौट जाते हैं ।[54]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाराणसी के पंचतीर्थ स्थलों पर सामाजिक एवं धार्मिक कृत्य परम्परागत परिवेश में आज भी सम्पन्न किए जाते हैं । इन तीर्थस्थलों के नामकरण के साथ ऐतिहासिक घटनाओं एवं पौराणिक कथाओं का विशेष सम्बन्ध है । इनमें दस अश्वमेध यज्ञ, पंचनद, विष्णुपादोदक एवं मणिकर्णिका विशेष उल्लेखनीय है । इन तीर्थस्थलों की यात्रा पंचतीर्थ यात्रा के नाम से जानी जाती है । इनका अपना अलग ही अस्तित्व है । इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति या पुनर्जन्म का न लेना है । साथ ही साथ असाध्य रोगों के निवारण एवं सुखी जीवन व्यतीत

करने की कल्पना के लिये इस यात्रा का आरम्भ हुआ जो आज भी परम्परागत परिवेश में तीर्थ यात्रियों द्वारा सम्पन्न की जाती है। इन तीर्थस्थलों पर स्थित देवमन्दिर उत्तर मध्यकालीन है। इन देव मन्दिरों के निर्माण में मुख्य रूप से बाजीराव पेशवा, महारानी अहिल्याबाई (इन्दौर), गाहडवाल शासक चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र और जयचन्द्र, महाराज सिन्धियां के दीवान, महाराज, मानसिंह राजा श्री लालमाधव सिंह (अमेठी), राजा श्री मंगल सिंह (अलवर स्टेट) और राजराजेश्वर सप्तम का विशेष योगदान रहा है। स्थापत्य कला की दृष्टि से ये मन्दिर मुख्यतया अनेकांडक और मिश्रघाट प्रकार के हैं।

इस प्रकार वाराणसी के पंचतीर्थ स्थल ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, धार्मिक एवं स्थापत्य कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

●

---

1. दूबे, जगदीश नारायण, श्रीकाशीरहस्यम्, वाराणसी, 1984, पृ. 20।
2. अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरुद्वह। दर्शनाद्देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥
   ततो वाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम्। कपिलाह्रदमुपस्पृश्य राजसूयफलं लभेत्॥ महा. सभा. पर्व 8, 23।
3. प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः। वनपर्व 84, 80।
4. प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादिदमेव महत्स्मृतम्। म. पु. 180, 57।
5. नैमिषेज्य कुरुक्षेत्रे गंगाद्वारे च पुष्करे।
   स्नानात्ससेविताद्वाऽपि न मोक्षः प्राप्यते यतः।
   इह संप्राप्यते येन तत एतद्विशिष्यते। म. पु. 180, 55।
6. वाराणस्यां नगर्यां तु देये श्राद्धं तु यत्नतः। तस्यां योगेश्वरो नित्यतस्यां दत्तमक्षयम्॥ वायु. पु. 77, 93, ब्रह्माण्ड पु. 3, 13, 103।
7. पाण्डेय उमा, वाराणसी, नई दिल्ली, 1980, पृ. 60।
8. तीर्थानां पंचकं सारं विश्वेशानन्दकानने। दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो विन्दुमाधवः।
   पंचमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका। एभिस्तु तीर्थवर्णैश्च वर्ण्यते ह्यविमुक्तकम्॥ म. पु. 185, 65-66।
9. प्रथमं चासिसम्भेदं तीर्थानां प्रवरं परम्। ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम्।
   ततः पादोदकं तीर्थमादिकेशव सन्निधौ। ततः पञ्चनदं मणिकर्णिकायं मनोवचनशुद्धिदम्। पंचतीर्था नरः स्नात्वा न देहं पाञ्चभौतिकम्। गृह्यति जातुं चित्काश्यां पञ्चोस्योवाय जायते॥ का. ख. अ. 84, 108, 109, 110
10. झा काशीनाथ, काशीमहिमाप्रकाश, वाराणसी 1964, पृ. 169
11. तीर्थान्तराणि सर्वाणि भूमीवलयगान्यपि। असिसंभेदतीर्थस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ सर्वेषामेव तीर्थानां स्नानाद्यल्लभते फलम्। तत्फलं सम्यगाप्येत नरैगङ्गासिसंङ्गमें॥ का. ख. ति से. पृ. 161।
12. वाराणसी, आल इण्डिया, काशीराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी 1981, पृ. 4
13. नारद पु. 48, 19, म. पु. 182, 62, 183, 40।
14. वामन् पु. 3, 26-30
15. स्कन्द पु. 4, 30, 69।
16. का. ख. 7, 66: म. पु. 185, 69, वामन पु. 340-3
17. मिश्रा, एस. एन. एवं वेदी राजेश, बनारस, नई दिल्ली, 1981, पृ. 92।

18. स्क. पु. (का. खण्ड) 52, 83
19. ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम् । स्कन्द पु. काशी खण्ड 106, 110
20. त्रि. से. पृ. 159
21. इयाज दशभिः काश्यामश्वमेधैर्महामखैः । पुरा रुद्रसरोनाम तत्तीर्थं कलशोद्भव । दशाश्वमेधिकं पश्चाज्जातं विधिपरिग्रहात् । स्वर्धुन्यथ ततः प्राप्ता भागीरथसमागमात् । अतीव पुण्यवज्जातम् तन्नत्तीर्थमुत्तमम् ॥ का. ख. त्रि. से. पृ. 159
22. पराक्रमाधिगतं भागीरथ्यामलजलमूर्धाभिषिक्तानां
दशाश्वमेधावमृधस्नातानां मारशिवानाम् इत्यादि ।
—कापस इन्सक्रिप्सन इण्डीकोरम् भाग-3, पृ. 241 ।
23. जायसवाल के. पी., हिस्ट्री आव इण्डियां (150 ए डी-350 ए. डी.), बनारस, 1933, पृ. 56 ।
24. शर्मा नारायणपति, काशीयात्रा, बम्बई 1965, पृ. 12
25. गर्ग रामसेवक, महिष्मती घाट का स्थापत्य, अहिल्या स्मारिका, खासगी देवी अहिल्याबाई होल्कर चेरिटीज ट्रस्ट, इन्दौर, 1979, पृ. 33 ।
26. ट्रस्ट डीड आव खासगी देवी अहिल्याबाई होल्कर चेरिटीज़ ट्रस्ट, इन्दौर, 1962 पृ. 11 ।
27. डायना, एल. एफ, बनारस सिटी आव लाइट, न्यूयार्क, 1982, पृ. 226 ।
28. विद्यार्थी, एल. पी., द सेक्रेड कामप्लेक्स आव काशी, दिल्ली, 1979, पृ. 57
29. डायना, एल. एफ. बनारस सिटी आव लाइट, न्यूयार्क, 1982, पृ. 154
30. तत्रपादोदके तीर्थे ये स्नास्यन्तीह मानवाः । तेषां विनश्यति क्षिप्रं पापं सप्तभवार्जितम् ॥
तत्र श्राद्धं नरः कृत्वा दत्वा चैव तिलोदकम् । सप्त सप्त तया सप्त स्ववंश्यांस्तारयिष्यति ॥
का. ख. ति. से. पृ. 173
31. वाराणसी जाह्नवीभ्यां सङ्गमे लोकविश्रुते । दत्वान्नं च विधनेन न स भूयोऽभिजायते ॥
लि. पु. ती. चि. पृ. 351 ।
32. मोतीचन्द, काशी का इतिहास, बम्बई, 1992, पृ. 146
33. जे. आर. ए. एस. 1896, पृ. 787 ।
34. नियोगी रमा, द हिस्ट्री आव गाहडवाल डायनस्टी, कलकत्ता, 1959, पृ. 216
35. शुक्ल, कुबेरनाथ, वाराणसी वैभव, पटना, सं. 2000, पृ. 82
36. पूर्वोक्त पृ. 283
37. पूर्वोक्त पृ. 82
38. सेरिंग, एम. ए. सेक्रेड सिटी आव द हिन्दू एन एकाउन्ट आव बनारस एनशिएन्ट एण्ड मार्डन टाइम्स लंदन 1868, पृ. 185
39. लिंग पुराण 92, 87-9 ।
40. यावत्संख्यास्तिला दत्ताः पितृभ्योजलतर्पणे । पूज्ये पंचनदे तीर्थे तृप्तिः स्यात्तावदाब्दिकी ॥ का. ख. 59, 121 ।
41. किरणा, धूतपापा च, पूण्यतोया सरस्वती । गंगा च यमुना चैव पंचनद्योऽत्र कीर्तिताः ॥ का. ख. 59, 15
42. का. ख. अ. 59
43. विन्दुतीर्थमिदं नाम तव नाम्ना भविष्यति । का. ख. 60, 62
44. प्रयागे माघमासे तु सम्यक् स्नातस्य यत्फलम् ।
तत्फलं स्याद्दिनैकेन काश्यां पञ्चनदे ध्रुवम् ॥ का. ख. 59, 119
45. मोतीचन्द, काशी का इतिहास, पृ. 226

46. डायना, एल. एफ. बनारस, सिटी आव लाइट, न्यूयार्क 1982, पृ. 235
47. मोतीचन्द्र काशी का इतिहास, पृ. 45
48. का. ख. 26, 64-65
49. का. ख. 61, 86
50. तत्रापि सर्वतीर्थानामुत्तमा मणिकर्णिका । नारदीय पु. (उत्तर) 48, 66
51. आगङ्गा केशवाच्चैव आहरिश्चन्द्रमण्डपात् । आमध्यादेवसरितः स्वर्गद्वारान्मणिकर्णिका ॥ का. ख. 61,73
52. स्थानादमुष्मात्समराजसौधात्प्राच्यां मनागीश समाश्रितायां ।
सव्येऽपसव्ये च कराः क्रमेण शतत्रयी चापि शतद्वयी च ॥
हस्ताः शतं पच्च सुरापगायामुदीच्यवाच्योर्मणिकर्णिकेयम् ॥ का. ख. 99, 53-54
53. खरे, अवधबिहारी, मणिकर्णिका घाट के मन्दिरों की वास्तुकला, युगो युगो में काशी, भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका, 1986, पृ. 144 ।
54. झा काशीनाथ, काशीमहिमाप्रकाश, वाराणसी । 1964, पृ. 162 ।

पूर्वमध्यकाल में सरयूपार क्षेत्र के धार्मिक विश्वास

डॉ. राम मनोहर मिश्र

प्रस्तुत शोधपत्र पण्डित दामोदर विरचित "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" नामक पुस्तक को आधार बनाकर लिखा गया है । उक्त पुस्तक गाहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्र के शासनकाल (लगभग 1114-1155 ई.) में तत्कालीन राजकुमारों को संस्कृत की शिक्षा देने हेतु लिखी गयी है । इस पुस्तक में पूर्वी उत्तर-प्रदेश में उस समय के लोकभाषा में प्रचलित कहावतों को संस्कृत भाषा में रूपान्तरित किया गया है । अतः बारहवीं शती ई. में सरयूपार की लोक-संस्कृति का अध्ययन करने के लिए यह एक अन्यतम स्रोत के रूप में उपयोगी है ।

सरयू नदी जिसे घाघरा के भी नाम से जानते हैं, के उत्तर का क्षेत्र जिसमें साधारणतः देवरिया, गोरखपुर, बस्ती, गोण्डा, बहराइच और विहार का आंशिक पश्चिमांचल जिसमें छपरा (मैरवा) सम्मिलित था, सरयूपार के क्षेत्र से अभिहित किया जाता है । इस क्षेत्र में मिले अभिलेखों में भी स्पष्टतः सरयूपार तथा सरवार नाम से इस क्षेत्र को सम्बोधित किया गया है । उदाहरणार्थ कलचुरि शासक सोढ़देव के कहला (गोरखपुर) अभिलेख में सरयूपार शब्द का उल्लेख आया है[1] ।

सरयूपार क्षेत्र में दोन-बुजुर्ग (मैरवा), लार (देवरिया), पाली, गगहा (गोरखपुर) और सहेत-महेत (गोण्डा-बहराइच का सीमावर्ती) स्थलों से गोविन्दचन्द्र गाहडवाल के अभिलेखों की प्राप्ति से प्रमाणित होता है कि सरयूपार (सरवार) भूभाग पर उसका अधिकार था । सरयूपार से वाराणसी तक का क्षेत्र न केवल एक राजनीतिक सत्ता के अधीन था, अपितु इस क्षेत्र की भाषा भी एक ही थी । अतः "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" की सामग्री के आधार पर सरयूपार के सांस्कृतिक जीवन का रेखाचित्र प्रस्तुत करना सम्भव है ।

"उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" के लेखक पण्डित दामोदर गोविन्द चन्द्र के समकालीन थे । प्रस्तुत पुस्तक से लेखक के विषय में कोई अन्य सूचना नहीं मिलती, किन्तु गोविन्दचन्द्र के शासनकाल के तीन अभिलेखों में दामोदर शर्मा नामक एक व्यक्ति का उल्लेख अवश्य मिलता है[2] । उन्हें गोविन्द चन्द्र द्वारा उच्च सम्मान प्राप्त हुआ था । "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" में भी यह उल्लेख आया है कि गोविन्द चन्द्र ने ब्राह्मणों को भूमिदान कर उन्हें स्थापित करने हेतु उद्घोषणायें की थीं । उल्लेख है–

"केइ ए ईहा ब्राह्मण थापे"–क इहैतान् ब्राह्मणान् स्थापयामास–गोविन्दचन्द्रदेवः ।।

अतः सम्भाव्य है कि प्रस्तुत कृति का लेखक पण्डित दामोदर और अभिलेखों में वर्णित पण्डित दामोदर शर्मा एक ही व्यक्ति हों।

प्रस्तुत निबन्ध में "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" के आधार पर सरयूपार क्षेत्र की धर्म सम्बन्धी तत्कालीन लोकमान्यताओं का विवेचन किया गया है।

1-धर्म का स्वरूप–

पूर्व मध्यकाल में धर्म के प्रति जनमानस में असीम श्रद्धा थी। धर्म को सुख-समृद्धि का स्रोत समझा जाता था। जनास्था के अनुसार धर्म द्वारा पापों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके अनेक दृष्टान्त "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" में हैं। यथा–

(1) **"धर्मे वाढ़त पाप ओहट"–धर्मे वर्द्धमाने पापमवघटते।**

(2) **"जस जस धर्म वाढ़, तस तस पापु घाट"–यादृग्-यादृग् धर्मो वर्द्धते, तादृग्-तादृग् पापं घट्टति।**

(3) **"जैसे जैसे धर्मु जाम, तैसे तैसे पापु खाम"–यथा-यथा धर्मो जायते तथा-तथा पापं क्षीयते।**

(4) **"जेइं जेइं धर्मु पसर, तेई-तेई पापु ओसर"–येन-येन धर्मः प्रसरति, तेन-तेन पापमपसरति।**

(5) **"जाहां-जाहां धर्मुनादं, ताहां-ताहां पापु मान्द"–यत्र-यत्र धर्मो नन्दति, तत्र-तत्र पापं मन्दते।**

(6) **"जा किंह धर्मु कीज, ता किंह पाप खीज"–यस्मै धर्म्मः क्रियते तस्मै पापं क्षीयते।**

(7) **"जातौ धर्म पाविअ, तातौ पापु सामिअ"–यतो धर्मः प्राप्यते, ततः पापं शाम्यति।**

(8) **"याकर धर्म उसस, ताकर पापु ओरूस"–यस्य धर्म उच्छ्वसिति, तस्य पापमवहसति।।**

इन उक्तियों में यह जनास्था व्यक्त की गई है कि धर्म की वृद्धि होने पर पाप का ह्रास होता है। भारतीय परम्परा में यह मान्यता प्रचलित थी कि धर्म और अधर्म अथवा पाप में पारस्परिक सम्बन्ध है। धर्म के ह्रास के साथ अधर्म में वृद्धि और इसी प्रकार धर्म के अभ्युत्थान के साथ अधर्म का नाश होता है। यह मान्यता बारहवीं शती तक लोक-आस्था में अपनी पैठ जमा चुकी थी। यह विश्वास भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त प्राचीन काल से स्थापित हो चुका था। जैसे– श्रीमद्भागवत महापुराण[3], श्रीमद्भगवद्गीता[4] तथा परवर्ती कालीन ग्रन्थ रामचरित मानस[5] में वर्णन है कि जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है तभी भगवान् अवतार धारण करते हैं।

"उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" से यह ध्वनित होता है कि धर्म सभी प्रकार के विधि-विधानों के स्रोत के रूप में बारहवीं शती की लोकास्था में मान्यता प्राप्त कर चुका था। यथा–

"धर्म्मे सब व्यवहार, पअट"-धर्मेण सर्वो व्यवहारः प्रवर्तितः।"

व्यवहार शब्द का उल्लेख कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में भी हुआ है[6]। वहाँ व्यवहार शंब्द का प्रयोग मुकदमेबाजी के अर्थ में प्रयुक्त है।

धर्म को न्याय-प्रक्रिया के स्रोत के रूप में मान्यता भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से चली आ रही है। प्राचीन भारतीय साहित्य में विधि के लिए धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। मीमांसकों ने यह

कहा कि जो वेदों में कहा गया है, वही धर्म है[7] । धर्मशास्त्रों में स्पष्टतः धर्म शब्द का प्रयोग समाज को व्यवस्थित करने वाले नियमों और कानूनों के लिए हुआ है । महाभारत में भी कहा गया है कि राज्य के अस्तित्व के पूर्व जबकि न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दाण्डिक था, तब धर्म के माध्यम से ही सम्पूर्ण प्रजा परस्पर एक दूसरे की रक्षा करती थी[8] । गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि वेद धर्म का मूल है तथा विधि का स्रोत है । मनुस्मृति में मनु ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने अन्तःकरण के संकेत को धर्म का स्रोत माना[9] । याज्ञवल्क्य ने विधि के स्पष्टतः चार मूल स्रोत बताये जो कालान्तर में भी मान्य रहे[10] ।

उपरोक्त भारतीय वाङ्मय में उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि धर्म विधि के स्रोत के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से ही मान्य रहा और वही मान्यता 12वीं शती तक जनास्था में व्याप्त रही, जैसा कि "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" से स्पष्ट होता है ।

2-नैतिक विश्वास–

"उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" से पूर्वमध्यकाल के सरयूपार क्षेत्र म व्याप्त नैतिक विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है । लोगों में जीवों पर दया करने की भावना व्याप्त थी । जीवहिंसा को पाप समझा जाता था । यथा–

"सवहिं भूतं दया करू"–सर्वेषु भूतेषु दयां कुरु ।"

जीवों पर दया करने की भावना हमें प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में भी यत्र-यत्र देखने को मिलती है । जैसे–

भागवत पुराण में कहा गया है कि "सच है, जो-जो जगत् के जीवों से द्रोह करता है, उनका अहित करता है, ऐसा कौन पुरुष शान्ति पा सकता[11] ।"

भागवत पुराण में आगे के श्लोक में कहा गया है कि "वे भगवान् श्रीकृष्ण जगत् के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय के आधार हैं । यही रक्षक भी हैं । जो इनका बुरा चाहता है, इनका तिरस्कार करता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता ।"[12]

अशोक के अभिलेखों में भी जीवों के हितार्थ किये गये शासकीय कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय के नैतिक उपदेश बारहवीं शती में भी जनसाधारण में अपना स्थान बना चुके थे ।

"उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" के अध्ययन के आधार पर हम देखते हैं कि पूर्वमध्यकाल में लोग पर-वस्तु की तृष्णा को अनैतिक मानते थे । यथा–

"पराई वथं डीव छाड़"–परकीये वस्तुनि तृष्णां छिन्धि ।"

12 वीं शती में क्रोध करना अच्छी बात नहीं मानी जाती थी । क्रोध को त्यागकर क्षमाशील होने के लिए जनजागृति पैदा की जा रही थी । लोग यह जानते थे कि क्रोध के वशीभूत होकर

मनुष्य विध्वंसात्मक कार्य ही करेगा, जो मानव समाज के लिए अहितकर होगा। इसीलिए "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" में निम्न नैतिक उपदेश प्राप्त होता है।

"कोवु छाड़ि क्षमा भजु"–कोपं त्यक्त्वा क्षमां भज।

पूर्वमध्यकाल में लोगों में दार्शनिकचिन्तन भी होता था। लगता है कि संसार की क्षणभंगुरता का संज्ञान आम जनमानस में भी व्याप्त था। यह बात तत्कालीन निम्न कहावत से स्पष्ट है।

"संसार अनित्य देखउ"–संसारमनित्यं पश्येत्।

परोपकार की भावना को लोग अपनी नैतिक जिम्मेदारी मानते थे। निम्न वाक्यसे इस भावना की पुष्टि होती है।

"सबहि उपकारिआ होउ"–सर्वेषामुपकारी भूयात् भवतु वा।

उपर्युक्त विवेचन से तत्कालीन नैतिक आदर्शों पर एक हल्का प्रकाश पड़ता है। वे धर्म सम्बन्धी नैतिक आदर्श वाक्य इस बात का द्योतन करते हैं कि उस समय के लोग अनैतिक कार्यों को करने से कतराते थे। लोगों में यह धारणा अति मान्य थी कि धर्म के नैतिक पक्षों का अमल करके धार्मिक कुकृत्यों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

3-समाज में ब्राह्मणों की स्थिति–

पूर्वमध्यकाल में हिन्दू धारणा में ब्राह्मणों की स्थिति अतिविशिष्ट थी। इन्हें बड़ा आदर मिलता था। शासक और शासित दोनों वर्गों द्वारा इन्हें सम्मान मिलता था। एक उद्धरण में कहा गया है कि स्वयं गोविन्दचन्द्र ने ब्राह्मणों को अच्छी तरह से स्थापित करने हेतु उद्घोषणाओं को किया था। उल्लेख है–

"केई ए ईहां ब्राह्मण थापे"–क इहैतान ब्राह्मणान् स्थापयामास।

धार्मिक-त्यौहारों के अवसर पर स्नान एवं ध्यान के बाद लोग ब्राह्मणों को दान देते थे तथा इन्हें भोजन कराते थे। "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" का निम्न उद्धरण इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है–**"हनाई देउ पूजि, वम्हणह्न दान देई, जेंव।" स्नात्वा, देवं पूजयित्वा, ब्राह्मणेभ्यो दानं दत्वा जिम्बति, भुङ्क्ते वा।"**

ब्राह्मणों को भूमिदान देकर जगह-जगह स्थापित करना तो गर्व की बात थी ही, इसके अतिरिक्त लोग ब्राह्मणों को उपहार के रूप में गोदान करना अपना पुनीत दायित्व समझते थे। यथा–

"ब्राह्मण गावि दै"–ब्राह्मणाय गां ददाति।

गो-दान के माहात्म्य का वर्णन ऋग्वेद में तीन स्थानों पर (10/107/2.6) आया है–"जो गायों का दान करता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान पर जाता है[13]।

ब्राह्मणों को भूमिदान देने तथा उन्हें स्थापित करने सम्बन्धी "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" के विवरण की पुष्टि गाहड़वालों के अभिलेखों से भी होती है। गोविन्दचन्द्र का एक अभिलेख देवरिया जिले के सलेमपुर तहसीलान्तर्गत लार नामक कस्बे से वि. सं. 1202=1146 ई. का मिला है, जिसमें कहा गया है कि मुदगगिरि (मुंगेर) में निवास करते हुए उसने सरूवार स्थित गोविसालक के पन्दल-पत्तला में स्थित पोटाचवाड नामक गांव ठक्कुर श्रीधर नामक ब्राह्मण को दान दिया था[14]। सरयूपार

क्षेत्र से पूर्वमध्यकाल के कलचुरि शासक सोढ़देव का कहला अभिलेख जो गोरखपुर, के वांसगांव तहसील के अन्तर्गत कहला नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, में शासक द्वारा ब्राह्मणों को ग्रामदान देने का उल्लेख हुआ है[15]।

उपर्युक्त अभिलेखिक एवं "उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" के सम्मिलित साक्ष्यों द्वारा यह बात प्रबल रूप से पुष्ट होती है कि बारहवीं शती में ब्राह्मणों को दान देने में शासक वर्ग गर्व का अनुभव करता था।

"उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" में उल्लेख है कि ब्राह्मणों को बृहद् भोज देना एक पुनीत कर्म समझा जाता था। धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों द्वारा किये गये इस प्रकार के भोजों में यह विशेष ध्यान दिया जाता था कि भूखा ब्राह्मण पूर्णतया संतुष्ट हो जाय। ऐसा करने से पुण्य की प्राप्ति होती है, यह लोक-विश्वास था। उल्लेख है-

"पुनवन्ते करे भोजं भूखे ब्राह्मण अघाति।"–पुण्यवते बुभुक्षिता ब्राह्मणः आघवन्ते।"

यह भी ध्यातव्य है कि ब्राह्मण सामान्य भोजन मात्र से ही संतुष्ट नहीं होते थे, अपितु भोजन के साथ में लड्डू (मिष्ठान्न) प्राप्त होने पर अति प्रसन्न होते थे। यथा–**"ब्राह्मणाहि लाडु प्रीति जण"–ब्राह्मणाय रोचते मोदकः।**

लाडु शब्द लड्डू के लिए प्रयुक्त है। लड्डूक शब्द देशी है। संस्कृत में लड्डू के लिए मोदक शब्द का प्रयोग हुआ है। विक्रमोर्वशीयम्[16], अभिज्ञानशाकुन्तलम्[17], रत्नावली[18] और मृच्छकटिक[19] के उद्धरणों में मोदक शब्द का ही प्रयोग है। सोमदेवकृत ललितविग्रहराज नाटक[20] में विदूषक के कथन में लड्डू का प्रयोग हुआ है।

लगता है कि लड्डू न केवल एक मिष्ठान्न के रूप में 12 वीं शती में लोकप्रिय था, अपितु भोजन के आवश्यक अंग के रूप में था। 16वीं शती के ग्रन्थ "वर्णकसमुच्चय" के "भोजन विच्छित्ति" अध्याय के अन्तर्गत लड्डुओं के दस प्रकार दिये गये हैं, इससे उक्त कथ्य की पुष्टि होती है[21]। लड्डू बनाने वाले को "लड्डू-यार" कहा गया है[22], जो लड्डू की लोकप्रियता को सिद्ध करता है।

"उक्ति-व्यक्तिप्रकरण" से यह विदित होता है कि ब्राह्मण यदि किसी के घर जाता था, तो वह गृहस्वामी उस ब्राह्मण को उचित सम्मान देता था उसे काष्ठासन देकर तुरंत बैठाता था। वर्णन है–

"ब्राम्हणहिं पीढ़ां बइसार"–ब्राह्मणं पीठे आसयति, उपवेशयति वा।

सुस्वादु भोजनोपरान्त तथा कुछ नकद धनराशि दक्षिणा मिल जाने के उपरान्त ब्राह्मण पूर्णतया सन्तुष्ट होकर आतिथेय या यजमान के दीर्घायु होने तथा धन-धान्य, यश-पुत्र आदि की वृद्धि हेतु आशीर्वचन देता था। यथा–

"बहु देवस जीवउ देवदत्त"–बहून् दिवसान् जीयेद् देवदत्तः।

"धन पुत्र सपुन होउ"–धनैः पुत्रैश्च सम्पूर्णो भवतु।

4-गंगा की पवित्रता–

पूर्वमध्यकाल के लोग आज की ही भाँति गंगानदी को पवित्र मानते थे। अपार श्रद्धा से लोग गंगा में देवत्व की व्याप्ति मानते थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि गंगा में स्नानोपरान्त पापों से मुक्ति मिलती है। यथा–

"गांगन्हाए धमु दो, पापजा"–गङ्गायां स्नाते धर्मो भवति पापं याति।

तत्कालीन अभिलेखों में भी हम देखते हैं कि दान-दाता गंगा में स्नानोपरान्त असीम श्रद्धा से ब्राह्मणों को भूमिदान देकर पुण्यार्जन करते थे। किसी भी धार्मिक कार्य करने के पूर्व गंगा में स्नान करना पुण्य समझा जाता था।

5-पितरों के प्रति कर्त्तव्य–

पूर्वमध्यकाल के लोग अपने पितरों के प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। आम जनसाधारण की धारणा में इस बात का गहरा विश्वास था कि संततियों द्वारा पितरों के प्रति किये गये धार्मिक कृत्यों के फलस्वरूप उनके पितरों को मोक्ष की प्राप्ति होती थी। प्रत्युत्तर में वे पितर स्वर्ग से ही अपने वंशजों को आशीर्वाद देते थे। ऐसी लोक-मान्यता थी। "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" का निम्न उद्धरण उल्लेख्य है–

सुपुत्रः पृच्छति–"अहो पितरहो को तुम्ह तारिह"–अहो पितरः को युष्मांस्तारयिष्यति। उत्तरम्-"तुहि"-त्वमेव। पुनः पृच्छति-"मोहिं तर्हि के वढाविहंति।" मम तर्हि के संवर्द्धयितारः,/उत्तरम्-"अम्हेई"-वयमेव।

लोकमानस में यह भी धारणा व्याप्त थी कि मृत पितर केवल मानसिक श्रद्धा व्यक्त कर देने मात्र से संतुष्ट नहीं होते थे अपितु वे साकार उदाहरण अपने आदर हेतु चाहते थे। जैसे–हिन्दू धर्म के निर्दिष्ट श्राद्धकर्म जो नियत समय पर किया जाता था, पूर्वजों को अपेक्षित था। पितरों को अतिप्रसन्न करने हेतु श्राद्धकर्म के अवसर पर ब्रह्मणों का पाद प्रक्षालन कर ब्रह्मभोज भी कराया जाता था।

जैसे ही परिवार का कोई (पुत्र) सदस्य ब्राह्मणों का पाद प्रक्षालन करना प्रारम्भ करता था, उसके पितर स्वर्ग को प्राप्त करते थे, ऐसी लोकमान्यता थी। यथा–

"जब पूत पाउ परवाल, तब पितरन्ह सर्ग देखाल"–यदा पुत्रः पादं क्षालयति, तदा पितॄन् स्वर्गं दर्शयति।

नैवेद्य (आहुति) तथा जल द्वारा तर्पण करने से भी पितर प्रसन्न होते है। यथा–

"पितर तर्प्प"–पितॄंस्तर्प्पयति।

"तेइ-देउ पितरू तर्प्प"–तया देवान् पितॄंस्तर्पयति।

हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार निर्दिष्ट श्राद्ध जो गया में दिया जाता था, से पितरों की आत्माओं को मुक्ति मिलती है। ऐसा विश्वास पूर्वमध्यकाल में भी था। इस अवसर पर हिन्दू गंगा में पिण्डदान करते थे। उल्लेख है–

"गयायां पित्रे पिण्डं सत्पुत्रः प्रदास्यते।"

प्राचीन भारतीय साहित्य में भी गंगा जाने और यहाँ श्राद्ध करने का वर्णन मिलता है । वायुपुराण में वर्णन है कि पितर लोग पुत्रों की अभिलाषा रखते हैं, क्योंकि वह पुत्र जो गया जाता है, वह पितरों को नरक जाने से बचाता है[23] । वायुपुराण में ही वर्णन है कि गया में श्राद्ध करने से सभी महापातक नष्ट हो जाते हैं । गया में पुत्र या किसी अन्य द्वारा नाम गोत्र के साथ पिण्ड पाने से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है[24] ।

"उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" से यह विदित होता है कि गया में उपस्थित पुरोहित उस शहर में जाने वाले तीर्थयात्रियों की देखभाल एवं पूर्णतया निगरानी रखते थे । यथा–**"गअवाल तिथि आतिन्ह जुड"–गयापालस्तीर्थयात्रिकान् जुडति** ।

गयावाल[25] से तात्पर्य गया के पण्डों से है, जैसे आज भी प्रयाग में रहने वाले पण्डों को प्रयाग-वाल कहा जाता है ।

6-प्रायश्चित्त का विधान–

12वीं. शती के लोग पापकर्म हो जाने के बाद प्रायश्चित्त भी करते थे । प्रायश्चित्त हेतु पंचगव्य पीने का विधान था । पंचगव्य में पांचों पदार्थ गो-माता के शरीर से ही निःसृत होते हैं, जैसे–गाय का दूध, दही, घी, गो-मूत्र, गोबर । इन पांचों का मेल पंचगव्य कहलाता है । लोकमानस में यह धारणा व्याप्त थी कि प्रायश्चित्त में पंचगव्य का पान कर लेने से पापों से मुक्ति मिलती है । प्राचीन भारतीय साहित्य में पंचगव्य पीने का विधान गोघातक को है । अर्थात् जिसने गाय की हत्या की हो[26] ।

7-भूत-प्रेतों पर विश्वास–

अशिक्षित एवं सामान्य लोगों में भूत-प्रेत और जादुई प्रभाव पर भी विश्वास किया जाता था । "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" में एक स्थल पर भूतों द्वारा जलते हुए भूमि पर गमनागमन करते वर्णित किया गया है । किसी को वश में करने हेतु मन्त्र (जादू) द्वारा प्रभावित किया जाता था । यह विश्वास था कि जादू द्वारा किसी को मोहावस्था में लाया जा सकता है । यथा–

"मन्त्रे खील-मन्त्रेण कीलति । कील बन्धे ।"

जादुई शक्ति द्वारा मृत व्यक्ति में प्राणप्रतिष्ठा करने का भी उल्लेख मिलता है । यथा–**"मुअ जीव"–मृतो जीवति** ।

8-अन्य धर्मों का विवरण–

"उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" में जैन और बौद्ध धर्मों पर अत्यन्त ही सीमित जानकारी प्राप्त होती है । पण्डित दामोदर ने संक्षेप में ही इन धर्मों की चर्चा प्रसंगात् किया है । एक स्थल पर स्तूप निर्माण शैली के बारे में संक्षिप्त उल्लेख मिलता है । यथा–**"टोप उचाअ"–स्तूपकमुच्चायते** ।

एक स्थल पर नग्न जैन साधुओ को जिन्हें दिगम्बर कहा जाता था, का उल्लेख हुआ है। यथा–

"नगायरि सूरेहि उतेज"–नग्नाचार्यः शूरमुत्तेजयति। तिज निशामने।

इस प्रकार 12वीं शती की रचना "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" के आधार पर पूर्वमध्यकाल में सरयूपार क्षेत्र में व्याप्त धार्मिक-विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है।

●

---

1. (अ) "श्रीमत्सोढदेवोयं सरयूपारजीवितं (तम्)।"
   –सोढ़देव का कहला अभिलेख। मिराशी, कार्पस्, जिल्द 4, भाग-2
   (ब) "श्रीमद्गोविन्दचन्द्रदेव विजयी। सरूपारे दुधाली सम्बद्धं............ ।
   –एइ., जिल्द 7, पृ. 99
2. गुनापाल-प्रपौत्राय लोकपाल पौत्राय पण्डित त्रि (श्री)
   मदनपाल-पुत्राय पण्डित श्री दामोदर शर्मन सौरब्राह्मणाय
   ज्योतिषशास्त्र सिद्धान्त पंचक.....................
   –एइ, जिल्द 8, पृष्ट 156 एवं 158-59
3. यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
   तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥ 56 श्लोक सं.
   –महर्षि वेदव्यास प्रणीत श्रीमद्भागवत-महापुराण, नवमस्कन्ध
4. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ गीता, अ. 4, श्लोक 7
5. "जब जब होई धरम के हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमांनी।
   तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
   –रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 120 के बाद, चौपाई 3,4
6. "धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
   विवादार्थः चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥"
   –कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में।
7. "वेद विहितो धर्मः।"
8. "न राज्यं न राजासीत्, न दण्डो न च दाण्डिकः।
   धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥" महाभारत
9. "वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
   आचारश्चैव साधूनामात्मानम् सन्तुष्टिरेव च॥" मनुस्मृति
10. "श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।"
11. अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्वणम्।
    तेनेमां भो दशां नीतो भूतधुक् को लभेत शम्॥ 47
    –भागवत पुराण-दशमस्कन्ध।

12. सर्वोषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते ॥ 48
–भागवत पुराण, दशमस्कन्ध ।

13. धर्मशास्त्र का इतिहास-पी. वी. काणे, भाग-1, अध्याय 25 पृ. 447

14. एइ. जिल्द 7, पृ. 98-100

15. कार्पस्, जिल्द 4, भाग-2

16. ही, ही, भो एसो क्खु खण्डमोदअ सरिस्तरीओ उदिदो राआ दुआदीणाम्
–विक्रमोर्वशीयम्, अंक तृतीय ।

17. किं मोदअ-खंडिआए, तेण हि अ अं सुगहीदी खणो ।
–अभिज्ञानशाकुन्तल अंक द्वितीय ।

18. "किं एदिणा खंडेन मोदआ करीयन्ति"–रत्नावली, अंक प्रथम ।

19. "उग्गार-सुरहि-गन्धेहि मोदएहिं ज्जेव आसिदो"–मृच्छकटिक, अंक प्रथम ।

20. "ही, ही, जाणे–तो अम्हाणा चिरवड्ढिदा दाणि ।
फलं तु खण्ड लड्डूआई मणोरहद्दुगा । (फ्लक 2, पंक्ति 8)
–ल. वि. रा. नाटक-मंजूभारती, पृष्ठ 66

21. मोतीआ लाडू, दलीआ लाडू, सेवईआ लाडू, कीटीना लाडू, तंदूलना लाडु, तिलना लाडू, त्रिगड्ना लाडू, गगरीआ लाडू, ढगरीआलाडू, माठा लाडू, सिंह केसरिया लाडू ।
–"वर्णक समुच्चय" पृष्ठ 184-85

22. कुमारपाल प्रतिबोध, पृष्ट 201

23. एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।.........उत्सृजेत् । द्रष्टव्य है-धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृष्ट 1356
–(वायु. 105/10)

24. आत्मजो वान्यजो वापि गयाभूमौ यदा यदा ।
यन्नाम्ना पातयेत्पिण्डं तन्नयेद् ब्रह्म शाश्वतम् ॥
नामगोत्रे समुच्चार्य पिण्डायतनमिष्यते ॥ (वायु. 105/14-15)

25. ओ मैली के मत से गयावाल वैष्णव हैं, जो मध्वाचार्य द्वारा स्थापित सम्प्रदाय के समर्थक हैं और हरिनरसिंहपुर के महन्त को अपना गुरु मानते हैं । (जे. ए एस. बी. 1903) 1901 की जनगणना में शुद्ध गयावालों की संख्या 168 और स्त्रियों की 153 थी । परन्तु पी. वी. काणे के अनुसार गयावाल लोग आलसी, भोगासक्त एवं अज्ञानी हैं और उनकी जाति अब मरणोन्मुख है ।
–पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ. 1356

26. शंख ने 25 दिन एवं रातों का उपवास गोघातक को बताया है और कहा है कि इन दिनों में उसे पंचगव्य पर ही रहना चाहिए । गोघ्नः पंचगव्याहारः पंचविंशतिरात्रमुपसेत्....... । धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ. 1068

THE FLESH AND BLOOD OF TIME

Sri Lokesh Chandra

Time dwells in the depths of the full mind. Deep inside us it interweaves the real and the unreal. Sacred time is the pure becoming, where the time of physics is no longer determinant. It is the flowing onward of the essence of life, a value-centre in many principles of being, as we seek to create newer and ever individualised eyes. The mind renews itself in the intuition of time. It is the laughter of the gods out of which emerge our newest sensibilities of expanding consciousness. It brings a polytheistic instinct in a monotheistic thinking. Time is the big and beautiful of human knowledge that comprises the immeasurable infinite, away from the absolute silence of science concerning the meaning of life. It engulfs man eternally, in a now that has no end. The eternal (*sanātana*) of the infinite Being is Time that upholds (*dhar*-ma) the cosmic and human order, the *sanātana dharma* of India.

Sanskrit has several words for time. The lexicon Amarakosa lists four: *kāla, dṛṣta, anehā,* and *samaya.* The word *kāla* is derived from the root *kal* 'to calculate, enumerate'. In the Atharvaveda and Satapatha-brahmana it is a fixed or 'right point of time, a space of time, time'. It also signifies "time as leading to events (the causes of which are imperceptible to man), destiny, fate": from a sanctified time to the notion of destiny. The word *diṣṭa* for time is the appointed or assigned moment, fate, death. But diṣṭi is "auspicious juncture, good fortune, happiness" in the phrase *diṣṭyā vardhase* "you are fortunate, I congratulate you on your luck". The third word *anehā* 'time' basically means "incomparable, unattainable, unmenaced, unobstructed". It is the enduring and the permanent in change. The fourth word *samaya* 'time' is explained as *samyag eti* "appointed or proper time, right moment for doing anything, time".

The English word *time* is *tima* in Old English in the sense of 'fit or proper time, good time, prosperity'. In Swedish *timme* means 'an hour'. This word is derived from Old Teutonic **ti-mon* which is formed from the verbal base **tī*"to stretch, extend" + the abstract suffix-*mon*,-man a suffix that occurs in Sanskrit words like *kar-ma* (from the root *kar* 'to do') and *dhar-ma* (*dhar* 'to hold'). The word *tide* is from the same root **tī*. The German *Zeit* 'time' is cognate to *tide*. The root *ti*

occurs in the Sanskrit *titha* 'time, autumn' in the Uṇādi, and in *tithi'* 'a lunar day'. The roots of words for time in Indo-European languages mostly signify 'to stretch, measure' in a temporal application. The Latin *tempus* 'stretch of time' can be from the root *ten* in Latin *ten-dere,* Sanskrit *toń* Greek *teino* 'stretch'. Russian *vremja*, Slavic **vermen* is from **vert-men*, Sanskrit *vart-man* 'course'. It is a semantic development from the notion of time as a turning cycle of seasons, etc. The Greek *khronos* is originally 'the comprehensive' from the root seen in the Sanskrit *hṛ* 'to bring together'. The Avesta yard, Gothic *jer*, English *year* are probably extensions of *yā* 'to go', like the Sanskrit *sam-aya* (*i/aya* 'to go'). The words enshrine man's responses to the rhythm of time, its constant recurrence, its never-ending rhymes without reason.

The Indo-European languages are the richest in verbal morphology. Sanskrit conjugation is vibrantly alive to tenses and moods, termed *lakāra* by Pāṇini, wherein the initial *la* is from *kāla*. The richness of verbal conjugation in Indo-European accented the memories of the bygone, a keen awareness of the seen, and passion for that to be. The experienced change in terms of duration gives pastness, presentness and futureness. The flow of time has been grasped in India not only intellectually but also in intuitive terms. In the intuited stream of consciousness past, present and future flow into one another. Such a Being is *tri-samaya-vyūha muni*, the sage who envisions the trinity of time.

The temporal has to become the timeless eternity. As we cannot step out of the timely, we cannot step outside the timeless. The experience of time leads us to the perception that time is not an abstraction of our temporal being, but our temporal being is an expression of Time. In Zoroastrianism, time is absolute reality : Zurwan/Time is the ultimate resolution of Ahura mazda (light, goodness) and Angra Mainyu (darkness, evil). In the Śatapatha-Brāhmaṇa 11.1.6 finite time and being are deified in the single symbol of Prajāpati : Prajāpati is the year. For Indian thought, the realisation of enlightenment is release from cycles of temporality, as historical time is delusion.

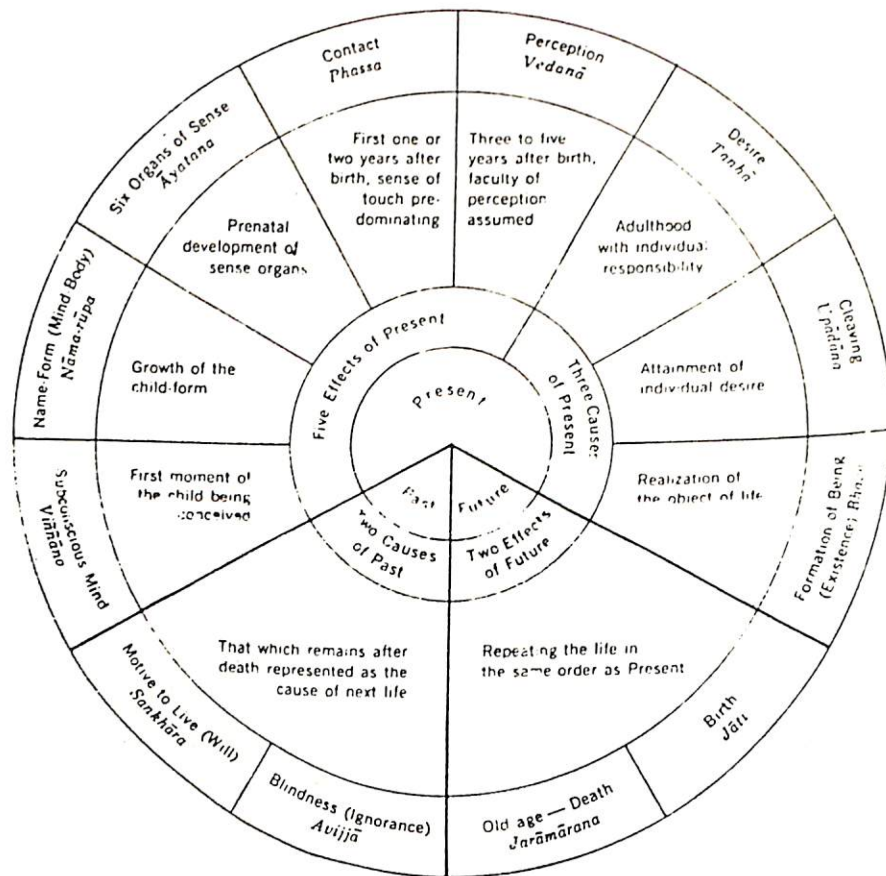
The Śvetāśvatara Upaniṣad 1.3 speaks of the Divine as : "He is the one who rules over all these causes from time to the soul". In 4.15 : "He indeed is the protector of the world in time". The Maitrī-Upaniṣad says : *atha ya eṣo 'ntare hṛt-puṣkara evāśrito nnam atti sa eṣo gnir divi śritaḥ sauraḥ kālākhyo dṛṣyaḥ sarvabhūtāny annam attīti* : "Now, he who has entered the lotus of the heart and eats food is the same as that fire of the Sun which enters the sky, called Time the Invisible, who eats all beings as his food". Time eats all beings (*prāṇināṁ kalanāt kālākhyaḥ sarva-bhūtāni saṁharati*). Likewise in the Bhagavad-Gītā

11.32 : kālo *'smi loka-kṣaya-kṛt'* I am Kāla the destroyer of worlds'. Its momentariness stands in contrastive nexus to the eternal, unchanging context of our being.

The Sāṅkhya system does not admit any real time. They regard the unit of *kāla* as the time taken by an atom to traverse its own unit of space. Its existence is linked to the atom and its movement. According to it, *kāla* as a separate entity is a creation of our perceptions. The Nyāya-Vaiśeṣikas regard it as existing by itself, and as an all-pervading partless substance. The Vaiśeṣika-sūtras regard time as the cause of things that suffer change, but not of those that are eternal. Further, it is a substance and is eternal.

According to the Jains, time is that which renders the mutation *(vartanā)* of things possible. Naturally, time is incorporeal, and it has no space-points. In which form did it exist. It is explained that it stood leaning *(pratītya)* on the variable masses of existence. Views differ on whether time is material. That which depends on variable things is not time in general, but only the moment *(samaya)*, the present. It is transitory and vanishes the same moment. It is the duration which an atom requires to cross a space point.

Buddhism regards time as relative and a circle without beginning or end. A living being forms an endless continuum in relation to time. Life in relation to space and time is represented in the following diagram:



The Buddhists of the Madhyamaka school reject the independent and ultimate reality of time. According to them, it exists as a notion relative to phenomena, which do not exist in the ultimate. Hence it is unreal. It is divided into three components : past, present and future, which exist only in relation to each other. It is devoid of ultimate reality. It does not exist apart from things. Empty time is untenable. It is apprehended from changing entities : *bhāvaṁ pratītya kālaś cet kālo bhāvād ṛte kutaḥ* (Madhyamaka-kārikā 19.6). Like momentary things or existential structures (bhāva), time too is unreal (*na ca kaścana bhāvo 'sti, kutaḥ kālo bhaviṣyati*). Nāgārjuna expounds that the three phases of time (*kālatraya*) are interdependent, have no self-existence, and so are unreal. Candrakīrti, commenting on Madhyamaka-kārikā 15.5, says that there is no such thing as invariable, unchanging time which could be understood in terms of moments and minutes. It has no essence of its own. Nāgārjuna says : "But an enduring time, although manipulatable, does not exist. How could non-manipulatable time be grasped". The Prajñāpāramitā accepts that *kāla* has a mundane (*laukika*) and conventional (*sāṅketika*) meaning, but it is not a real dharma. To avoid the metaphoric expression (*prajñapti*) of *kāla*, the Buddhists use the word *samaya*. The Prajñāpāramitā clearly says that Buddhist texts often employ the word *samaya*, and rarely the word *kāla*. Buddhaghosa illustrates the employment of *samaya* by numerous citations from the Nikāyas in his commentaries on them. Eliade says: "Time makes possible the appearance and existence of things. It has no final influence upon their existence, since it is itself constantly regenerated".

In the words of the Nobel Laureate Weizsäcker (1952:163): "Like the limits of space, the modern era has also cracked open the limits of time which the Middle Ages recognized. When geology found fossils of living things 'before the flood', and when it learned to estimate the age of past geological epochs by counting the strata in sedimentary rocks, the calculation of time according to a literal interpretation of the biblical story of creation had to be abandoned". The question of eternity has to be viewed afresh in the plenitude of the real, instead of the poverty of the precisely conceived. Judeo-Christian and Islamic systems are historical religions in relation to other faiths. The manifestation of the cosmic process in the passage of time is circumscribed in them by historic time.

The Judeo-Christian view of a finite cosmos and a time limited to six thousand years has conditioned modern thought. While the infinity of the world has become the symbolical element in natural sciences, eternal time continues to pose problems from the days of Plotinus and Augustine. According to the Christian interpretation, time is the medium through which the divine purpose finds expression. The eternal

now is not a frozen instant, a durationless simplicity but life, divine life, "a god manifesting himself as he is" in the words of plotinus. Experience of inner composure, vividness of hours passing by unregistered, are a threshold for the contemplation of eternity. It is vertically related to the horizontal flowing of time.

The modern view of physics is presented by Russell: "A truer image of the world... is obtained by picturing things as entering into the stream of time from an eternal world outside, rather than from a view which regards time as the devouring tyrant of all that is". The everlasting, what always was, is, and will be, has to be distinguished from eternity. Eternity touches all time. It transcends time without being separate from it. It is timelessness, in contrast to the sempiternal or everlasting. It is the unity of the multiplicity of relations of precedence and posteriority. Latin metaphysics speaks of eternity as *nunc stans* 'a standing now', and of time as *nunc fluens* 'a flowing now'.

The flow of time as something which continually slips past us, is a notion with respect to a hypertime. In the phrase of D. C. Williams it is "the myth of passage". Events happen to continuants, i. e. to things that change or remain the same. While there are memories of the past, there are no footprints of the future. The asymmetry of the temporal directionality of the universe is a fundamental question. Sanskrit uses *samaya* for flowing time, in the conventional worldly sense for protensive events, and *kāla* is the term of the Vaiśeṣikas who regard time as eternal.

Sacred time is crucial to all cultures, from the tribal to the classical. Its context is the unchanging eternal and its expression is the ever-changing momentary. Ambivalent in its focus, it is timeless in the absolute and timely in relative terms. In the spiritual world it reveals itself as timeless. The realities of life have to merge seamlessly into sanctification by the eternal. The planets and constellations as symbols of the eternal are correlates of human life for the epigenesis of the ultimate. In India, sacred rituals are consecrated by the worship of the the nine planets (nava-graha) and homage to the twentyeight constellations (nakṣatra-iṣṭi). It is a living element that influences actions. So strong was the role of the planets and constellations in the life of India that fire rites to them found a special role in Japanese Buddhism. A manuscript of the ninth century at the Toji monastery entitled Goma-ro-dan-yo illustrates the planets of the week as well as the constellations, along with the fire altars used in their rites (Tz 237:7.815-). The Japanese Daikoku, translation of Mahākāla, has acquired the character of the patron of fortune (fukujin), and he is a guarantee of success and good luck. He is venerated as the god of agriculture as well as the specific deity of rice-culture.

From Mahākāla of death he has become the Great Time (*mahā* great, *kāla* time). The social elaboration of the temporal symbols constitutes an integral bond with the Eternal.

In Indic religions, Time is personified in the highest form of Deity. Herein time is the bridge from the perceptible to the non-perceptible. Kala or Time is personified as a cosmogonic force in the Atharva-veda 19.53-56. In the perennial philosophy of India it is Eternity, the sanātana dharma wherein events and symbols, time-intervals and eternal continuities, are homogeneous and interpenetrative. The Sanskrit root of kāla is *kal*, a correlate of *kar* 'to create', for the symbols of time are the innovative structures of creativity. India's time is trans-historic, transcendental. The historic Buddha Śākyamuni himself had to be transformed from Master into Lord. From an individual in time he became the Eternal beyond time. Time flows without a shore and seeks substance in creativity. The stream of eternal time, with its indivisible links in an unbroken whole, is the holoverse of life.

The apotheosis of the Cycle of Time in the complex deity of Kālacakra reflects its creativity in human perceptions. Kālacakra has lived on in Tibet as the apogee of Tantric revelation. It is the withdrawal of all appearances that melt

Into light and dissolve into myself.
I also melt into light, and then from within
The emptiness of unapprehendability
Again transforms into the aspect of Kālacakra.

As Buddhist monasteries were being destroyed in Central Asia in the eighth century, mind's geometry translated the image of time into kālacakra. Like a wheel (cakra), Time (kāla) was to be the timeless movement for trampled dreams to become incredible vitality. In Kālacakra life and time, hope and history, resolve and resurrection intertwine. We think in time and time lives in us. Man conceives and constructs another time to stand over and contrast with the time in which he has his corporeal existence. This dualism is indispensable to the temporal process of history. The Time To Be, the Other Time transforms the Is into the Ought, to renew humanity in the dreaming unknown.

●

THE CONCEPT OF DUHKHA IN BUDDHISM-A COMPARATIVE STUDY

(The references are the pages of the Varanasi Edition of the Abhidharma-kośabhāṣya with the Sphūṭārthā)

Dr. Nathmal, Tatia

1. The discussion of *duḥkha* (suffering,) is a common feature of all spiritual disciplines. Getting rid of it is the common end. The problem before us is whether *sukha* , the opposite of *duḥkha,* exists or not.

2. There are passages in the Sūtra, that mention *duḥkha* alone as the predominant note of all kinds of feelings. Here we quote some such passages.

(i) *yat kiñcid veditam idam atra duḥkhasyeti.*

(ii) *sukhā vedanā duḥkhato draṣṭavyeti.* (p. 880)

(iii) *duḥkhe sukham iti saṃjñāviparyāsa iti.* (p. 880)

duḥkha is the predominant note of the four *ārya satyas:*

(iv) *iha bhikṣavas tathāgato'rhan samyak-sambuddha idaṃ duḥkham āryasatyam iti yathābhūtaṃ prajānāti, ayaṃ duḥkhasamudayaḥ, ayaṃ duḥkhanirodhaḥ, iyaṃ duḥkhanirodhagāminī pratipadā āryasatyam iti yathābhūtaṃ prajānāti.* (p. 874)

Bhadanta Kumāralāta, in his *Duḥkhasantati,* has explained why the wise consider the *sukha* as *duḥkha* in the following verse (p. 878):

(v) *duḥkhasya ca hetutvād duḥkhaiś cānalpakaiḥ samuditatvāt.*
duḥkhe ca sati tadiṣṭer duḥkham iti sukhaṃ vyavasyanti.

Vasubandhu quotes the following gāthā, which is found in the Pāli *Suttanipāta* and the *Saṃyutta Nikāya,* which says that what is considered as *sukha* by the ignorant is regarded as *duḥkha* by the wise (p. 875):

(vi) *yad āryāḥ sukhataḥ prāhus*
tat pare duḥkhato viduḥ/
yat pare sukhataḥ prāhus
tadāryā duḥkhato viduḥ//

The three varieties of *duḥkhatā* – namely, *duḥkha-duḥkhatā*, *vipariṇāma-duḥkhatā* and *saṃskāra-duḥkhatā* are explained respectively in the following three Sūtras (p. 876):

(vii) *duḥkhā vedanā utpādaduḥkhā sthitiduḥkhā.*

(viii) *sukhā vedanā utpādasukhā sthitisukhā vipariṇāma-duḥkhā.*

(ix) *pratyayābhisaṃskaraṇād yad anityaṃ tad duḥkham.*

3. On the testimony of such scriptural texts as have been quoted above and the logical arguments that we shall cite below, Bhadanta śrilāta and others have sought to prove that all feelings are absolutely of the nature of *duḥkha* : *nāsty eva sukhā vedanety ekīyā duḥkhaiva tu sarvā*. The arguments advanced by them in support of their thesis are (p. 880):

(i) *sukhahetvavyavasthānāt*. What appears to be the cause of happiness at the moment turns out a condition of suffering in the end, and so it is not possible to determine any thing as the invariable cause of happiness. What turns out suffering at the end must had had suffering at the beginning. In other words, there is no universal concomitance between happiness and its cause.

(ii) *evam īryāpathavikalpe'pi*. The change of one posture to another appears to cause happiness, but as the new posture also becomes the cause of suffering after some time, it follows that it was a condition of suffering since it's very inception.

(iii) *duḥkhapratikāre ca sukhabuddher duḥkhavikalpe ca*. Sometimes the remedy for the suffering is mistaken as identical with happiness. Again sometimes an alternate feeling of suffering is identified with a variety of happiness.

(iv) *duḥkhavikalpe ca bālāḥ sukhabuddhim utpādayanti, yathā aṃśād aṃśaṃ bhāraṃ sañcārayantaḥ*. The ignorant people consider an alternate variety of *duḥkha* as *sukha*, for instance, when they transfer a load from one shoulder to other, they identify the relief on the previous shoulder as *sukha*.

4. The followers of the Abhidharma school (*ābhidharmikāḥ*) reject the above-mentioned thesis. They make an analysis of the concept of *duḥkha* in order to show that it is necessarily accompanied with the counter-concept of *sukha*. This is followed by an examination of the implications and the intended senses of the texts that appear to suggest *duḥkhatā* as the element common to all varieties of feelings. Lastly, the logical arguments advanced by the proponent of the thesis of *duḥkhatā* are refuted.

5. *Duḥkha* is considered as a kind of hindrance (*bādhanā*). But if the hindrance was identified with 'what is ungratifying' (*upaghātaka*), then 'what is gratifying' (*anugrāhaka*) would be the feeling of *sukha* (as opposed to *duḥkha*).

If again the hindrance was identified with 'what is undesirable' (*anabhipreta*), then 'what is desirable' (*abhipreta*) would be the feeling of *sukha* (as opposed to *duḥkha*). However, if it was argued that for the wise who cultivate non-attachment (detachment), 'the desirable' itself radically turns out to be 'the undesirable' and therefore the existence of 'the desirable' remains unproved. But this is a fallacious argument, because here the intrinsically desirable character of the feeling is not denied, but the feeling is considered 'undesirable' in a different context. The wise consider such feeling as the cause of remissness (*pramādapada*), as achievable only through Herculean effort, as changing, and as transient, and hence 'undesirable'. The intrinsic 'joyful' nature of such feeling is not denied, because had it not been so by nature, nobody would have attachment to it, nor would there be any reason for finding it blameworthy–for the sake of cultivating detachment. (p. 881)

6. (i) As regards the Lord's utterance *yat kiñcid veditam idam atra duḥkhasya iti,* that had a purposeful meaning (*neyārtha*) and was made with an intention (*sandhāya bhāṣitam*), as the Lord himself had said: *saṃskārānityatām ānanda mayā sandhāya bhāṣitaṃ saṃskārā-vipariṇāmatāṃ ca, yat kiñcid veditam idam atra duḥkhasya iti* (with the intention to stress the impermanence of conditioned existence and its constant transmutation, did I say, O Ānanda, that whatever feeling there was, it was of suffering.) The utterance therefore was not made with the intention to refer to the *duḥkha-duḥkhatā* (the feeling of suffering as such). Had all varieties of feeling been of the nature of *duḥkha,* why did Ānanda ask the Lord : *tisra ime vedanā 'uktā bhagavatā sukhā duḥkhā'-duḥkhāsukhā ca, uktaṃ cedaṃ bhagavatā - yat kiñcid veditam idam atra duḥkhasya iti, kiṃ nu sandhāya bhagavatā ·bhāṣitam-yat kiñcid veditam idam atra duḥkhasya iti.* (p. 881) It follows from this that the statement that 'whatever feeling there is of suffering' is conditional (*ābhiprāyika*) and not unconditionalandabsolute.

(ii) As regards the statement: *sukhā vedanā duḥkheti draṣṭavyā*, it should be understood that here *sukha* is not denied but it is only asserted that the *sukha* is intrinsically of the nature of *sukha*, but from another standpoint, that is, on account of its being subject to transmutation and impermanent, it is considered *duḥkha (ubhayaṃ tasyāṃ(=sukhāyāyaṃ vedanāyāṃ) asti, sukhatvaṃ ca svabhāvato manāpatvāt, duḥkhatvaṃ ca paryāyato vipariṇāmānitya-dharmitvāt)*. The feeling of sukha, when looked at as *sukha*, leads to wordly bondage, but looked at as duḥkha is conducive to emancipation. The Buddhas advise us to look at the feeling of sukha as one informed with *duḥkha* in order to lead us to emancipation. (p. 884).

(iii) As regards the standpoint: *duḥkhe sukham iti saṃjñā-viparyāsa iti*, this was made with a special motive (*ābhiprāyika eṣa nirdeśaḥ*). People find pleasure in worldly objects of enjoyment and come to regard them as absolute sources of pleasure. This is responsible for the growth of *viparyāsa* (perverse outlook) in them. The statement was made in order to save people from the perverse outlook, and not to deny the existence of the feeling of sukha. (pp. 882-3).

(iv-ix) Vasubandhu quotes the following sūtra in order to prove the reality of five categories of feeling, a proper understanding of which through insight is capable of eliminating the three fetters, viz. *satkāyadṛṣṭi, śīlavrataparāmarśa* and *vicikitsā: yac ca sukhendriyaṃ yac ca saumanasyendriyaṃ sukhaiṣā vedanā draṣṭavyā, yac ca duḥkhendriyaṃ yac ca daurmanasyendriyaṃ duḥkhaiṣā vedanā, yad upekṣendriyam aduḥkhāsukhāiṣā vedanā iti vistareṇoktvā, yenemāni pañcendriyāṇy evaṃ yathābhūtaṃ samyak prajñayā dṛṣtāni, trīṇi cāsya saṃyojanāni prahīṇāni bhavanti*. (p. 883, Bhāsya and Sphuṭārthā).

The proponent of the thesis of *duḥkhatā* now interprets the feelings of *sukha, duḥkha and upekṣā* as merely the varieties of miled, strong and medium duḥkha respectively. The ignorant people mistake the mild *duḥkha* for *sukha*, the strong *duḥkha* for *duḥkha* proper, and the mild *duḥkha* for *upekṣā*. The opponent of the *duḥkha* doctrine, however, poses a counter-argument by identifying the feelings of *sukha, duḥkha* and *upekṣā* with strong, mild and medium *sukha*. Accordingly what people call mild *duḥkha* is in reality strong *sukha*, what they call medium *duḥkha* is medium *sukha*, and what they call strong *duḥkha* is mild *sukha* .

It is a matter of common experience that we have an unalloyed feeling of *sukha* produced by special kinds of smell, taste and touch, without the least feeling of suffering called mild *duḥkha*. Had there been the least touch of the mild *duḥkha* there, there would be a feeling of greater *sukha* before or after the production of the mild *duḥkha* because there does not obtain any cause of even mild *duḥkha* in the states that are prior or posterior to the state of mild *duḥkha*.

Moreover the proponent's thesis of *duḥkhatā* would entail the identification of the *sukha*, in the first three stages of meditation, with the feeling of mild *duḥkha*, and the *upekṣā*, in the fourth stage, with medium *duḥkha* . an outcome which goes against the established tradition in repsect of the constituent factors of meditation.

The AKBh quotes the following sūtra that rejects the association of absolute *duḥkhatā* with the material bodies: *rūpaṃ cen mahānāman ekātantaduḥkham*.

abhaviṣyan na sukhaṃ na sukhānugataṃ na saumanasyaṃ na saumanasyānugataṃ, na sukhavedita hetur api prajñāyate rūpe saṃrāgāya, yasmāt tarhi asti rūpam sukhaṃ sukhagataṃ pūrvavad ato rūpe hetuḥ prajñāyate yad uta saṃrāgāya. (p.885).

The absolute denial of the feeling of *sukha* therefore is not capable of being established on the testimony of the scriputre.

7. (i) The proponent of the thesis of duḥkhatā has contended that there was no universal concomitance between the *sukha* and its cause. But his contention is based on an erroneous estimate of causality. An object becomes the cause of *sukha* or *duḥkha*, depending on specific conditions, and not depending exclusively on the particular object. It does never fail to produce the effect if all those conditions are perfectly fulfilled. For instance the fire that produces tasty food depending on the particular condition of the material that is cooked, produces food of bad taste when the condition of the material that is cooked is different. But it does never happen that the same fire under the same condition of the material that is cooked would not produce the same kind of tasty food. Besides, there is no reason why the cause that produces the feeling of *sukha* in the stages of meditation should not be regarded as an invariable and universal condition of *sukha*. (p.885). The contention that what turns out suffering at the end must have been suffering at the beginning is fallacious. It is common experience that what is sweet in one condition of the body becomes bitter in another condition of the same body (*kāyapariṇāmavi śeṣān maḍyādīnām ante mādhuryaśuktatāvat, p. 886*).

(ii) The change of one posture to another is the cause of positive happiness, as it gives relief from the fatigue (*evaṃ śrāntasyeryāpathavikalpeṣu veditavyam,* p. 886).

(iii) The proponent's contention that the remedy for the suffering is mistaken as identical with happiness is also invalid. What kind of remedy for suffering is experienced when a person gets the feeling of *sukha* produced by special kind of smell and the like ? This question has already been discussed in 6 (iii).

(iv) The example of transfer of load from one shoulder to the other is also misunderstood by the proponent. There arises positive *sukha* on the transfer of the load, which is due to the production of different kind of condition of the shoulder. The feeling of *sukha* lasts until the end of the new condition of the shoulder. Had it not been so, there would be a deeper feeling of *sukha* afterwards (*anyathā hi paścād bhūyasī sukha-buddhiḥ syāt,* p. 886.).

8. We have now given a lief account of the views of the supporters of absolute *duḥkhatā* and their opponents who defended the reality of the feeling of *sukha*

beside the feeling of *duḥkha*. The supporters of absolute *duḥkhatā* did not distinguish between the literal and the intended meanings of the scriptural texts, between the *neyārtha* and the *nītārtha,* between the explicit meaning and the implicit sense. Their opponents however took a comprehensive view which received the approval of Vasubandhu (cf. *eṣa eva ca nyāyaḥ*. The Sphuṭārthā supplies *iti ācāryaḥ*, p. 888). In fact, it is only the wise who appreciate the *duḥkhatā* of all elements,which is beyond the understanding of the ignorant. The following verse quoted by Vasubandhu in this condition (p.877) clinches the issue:

ūrṇāpakṣma yathaiva hi karatalasaṃsthaṃ na vedyate pumbhiḥ/
akṣigataṃ tu tathaiva hi janayaty aratiṃ ca pīḍāṃ ca//
karatalasadṛśo bālo na vetti saṃskāraduḥkhatāpakṣma/
akṣisadṛśas tu vidvāṃs tenaivod-vejyate gāḍham//

The controversy moreover appears to derive from the transcendental and empirical standpoints of the proponents and opponents of the doctrine of absolute *duḥkhatā*. These standpoints are very much similar respectively to the *niścaya-naya* and *vyavahāra naya* of the Jaina philosophers.

9. The doctrine of suffering has found place in almost all the major schools of Indian philosophy. Thus in the Vedic philosophy we find the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* (III.4.2) observation: *ato'nyad ārtam* (Everything other than the Avsolute is sorrow and suffering). In the *Śvetāśvatara Upaniṣad* (III. 10), we read: Those who thus know (the Absolute) become immortal, but (all) others must only endure suffering. In the *Mārkaṇḍeya Purāṇa* (XXXIX.9), Dattātreya declares 'Knowledge comes about through suffering'.(Cf. Buddhist dictum: *duḥkhopaniṣac chraddhā*, p. 132). The Sāṃkhya philosopher Iśvarakṛṣṇa asserts (Sāṃkhyakārikā, 1):*duḥkhatrayābhighātāj jijñāsā tadabhighātake hetau* (Through the attacks of the triple suffering, one gets the curiosity about the way to termination of that suffering). In the *Yogadarśana* of Patañjali, the yogin's aim is defined as simply to avoid all future sorrow and suffering *(heyaṃ duḥkam anāgatam*, YD, III 16). The *Yogabhāṣya* (II.15) emphatically says, like the AKBh quoted above, that the stream of suffering is felt keenly only by the wise yogin who is like an eyeball sensitive to the slightest touch of pain:

evem idam anādi duḥkhasroto viprasṛtaṃ yoginam eva pratikūlātmakatvād udvejayati, kasmāt, akṣipātrakalpo hi vidvān iti, yathorṇātantur akṣipātre nyastaḥ sparśena duḥkhayati nānyeṣu gātrāvayaveṣv- evam etāni duḥkhāny akṣipātrakalpaṃ yoginam eva kliśnanti netaraṃ pratipattāram.

A similar philosophical appreciation of the problem of *duḥkha* is found in the following extract of the *Nyāyabhāṣya* (Calcutta edition, pp. 182-3):

> *duḥkham iti nedam anukūlavedanīyasya sukhasya pratīteḥ pratyākhyānam, kiṃ tarhi janmana evedaṃ sasukhasādhanasya duḥkhānuṣaṅgād duḥkheṇa 'viprayogād vivīdhabādhanāyogād duḥkham iti samādhibhāvanam upadiśyate, samāhito bhāvayati, bhāvayan nirvidyate, nirvinnasya vairāgyam, viraktasyā' pavarga iti, janmamaraṇaprabandhocchedaḥ sarvaduḥkhaprahāṇam apavarga iti.*

Neither Sāṃkhya nor Yoga, nor Nyāya school denies existence of *sukha*, but the importance of the feeling of *duḥkha* is stressed for the purpose of *samādhibhāvanā, nirveda* and *vairāgya* that lead to *apavarga*.The Jaina philosopher is also in agreement with these schools in respect of the independent reality of the feeling of *sukha*.

10. *Duḥkha* is of course regarded as an element worthy of being taken note of for spiritual advancement. But it would be wrong to think that the Indian philosophers had an attitude of life-negation and pessimism. The *yogin* endeavours to overcome *duḥkha,* but his attitude is not hostile to life. His point of view is in fact the same as that of Meister Eckehart, who expresses his conviction that the experience of suffering is not destructive but definitely positive in the following way: 'Note well all pensive minds, the most fleet steed carrying you to perfection is suffering'. (Quoted in the Meaning of Suffering in Yoga, chap.4, of *Yoga and Beyond* by Feuerstein and Jeanine Miller, Schocken Books-New York, 1972).

Along with their appreciation of the supreme spiritual value of suffering, the Indian philosophers unanimously recognized the necessity of cultivating the spirit of service as superior to all mundane or supramundane ends. Vasubandhu, in his AKBh, quotes an ancient verse that explains the nature of the feeling of compassion in the heart of the best among humans:

> *hīnaḥ prārthayate svasantatigataṃ yais taih prakāraih sukhaṃ madhyo duḥkhanivṛttim eva na sukhaṃ duḥkhāspadaṃ tad yataḥ/ śreṣṭhaḥ prārthayate svasantatigatair duḥkhaiḥ pareṣāṃ sukhaṃ duḥkhātyantanivṛttim eva ca yatas tadduḥkhaduḥkhy eva saḥ//*

The low class people desire for their own pleasure by whatever means possible; the middle class people desire only for the cessation of suffering, and not for pleasure because the latter is the cause of suffering in the end; the best among humans desire for the pleasure of others at the cost of their own suffering, and also the absolute cessation of the suffering of others, because they are afflicted by the suffering of all people.

The Brāhmanical thinkers also expressed the same spirit of compassion and sympathy for the afflicted creatures:

na tv ahaṃ kāmaye rājyaṃ
na svargaṃ nāpunarbhavam/
kāmaye duḥkhataptānām
prāṇinām ārtināśanam//

I do not desire for kingdom, nor for heaven nor for cessation of future birth. I only desire for the destruction of the misery of the people tortured by suffering.

na kāmaye'haṃ gatim īśvarāṇām
aṣṭardhiyuktām apunarbhavaṃ vā/
ārtiṃ prapadye' khiladehabhājāṃ
hṛdi sthito yena bhavanty aduḥkhāḥ//

I do not desire for the status of lords endowed with eightfold superiornal powers, nor do I hanker for the cessation of future birth.

I want to take upon myself the misery of all people in the world, seated in their hearts, so that they may be free from suffering.

A comparative study of the ethical speculations of Indian philosophers is bound to bring home to the discerning reader this realistic estimate of worldly life and inculcation of the spirit of compassion for worldly suffering even at the cost of one's own life.

●

WAS BUDDHISM A NEW RELIGION AND CULTURE ?

Dr. S. R. Goyal*

In recent years some Buddhist scholars have tried to propound the thesis that there was something like Buddhist culture which was 'distinct and different from Hindu culture.[1] "A well-defined *weltanschauung*", L.M. Joshi, a Buddhist scholar, asserts, "originally peculiar to the Śramaṇic tradition, moral and ascetic ideas, religious practices and institutions, art and literature, education and learning, inspired by the teachings of Śākyamuni Buddha, constitute what has been called the Buddhist culture"[2]. According to him this Buddhist culture may be viewed as constituting "the dominant strand" of Indian culture.[3] It obviously implies that the Hindu culture is a comparatively less important element of the complex fabric of Indian culture. But the attempt to prove the existence of Buddhist culture in ancient India as something different from Hindu culture and make the former as comparatively more important than the latter can hardly be substantiated. It is obviously a projection into the past of the desire of modern Buddhist scholars to establish a separate cultural identity of their own. The attempt begings with the rejection[4] of the well-established view that the Buddha himself was merely a reformer of "the Hidnu religion as practised in his time"[5]. Against this L. M. Joshi has urged that "the use of the term 'Hindu' and 'Hinduism' in the context of the age of Buddha is entirely wrong, both historically and doctrinally. There were neither Hindus nor Hinduism in the 7th and 6th centuries before Christ"[6]. But such a view conveniently denies or overlooks that by the same token Buddhism did not exist as a separate religion in the age of the Buddha. The Buddha did not renounce Brāhmaṇical religion, referred to the Brāhmaṇical sages and took over several beliefs current among the Hindus of his day. He did not feel or claim that he was forming a new religion. A substantial portion of his teachings, such as the doctrine of karman, rebirth and cosmological theories, was common with and formed part of the tenets of the Upanishads.[7] According to R. C. Dutt it would be historically

---

Dr. S. R. Goyal, Professor and Head, Dept. of History, Jodhpur University, Jodhpur.

wrong to suppose that Gautama Buddha consciously set himself up as a founder of a new religion. On the contrary he believed to the last that he was proclaiming only the ancient and pure form of religion.[8] It is of course true that he did not accept the authority of the Vedas but, as we have seen, the Upanishads themselves were hesitant to accept the authority of the earlier Vedic texts and many later religio-philosophical sects included within the Hindu or Brāhmaṇical fold, did not at all accept the Vedas as authoritative. Similarly, the opposition to the cult of sacrifice and Brāhmaṇical claim of superiority on the basis of birth is found within Hindu society itself. The Buddha himself called his teachings the ancient way (*puraṇam maggam*) trod by ancient enlightened men (*pubbakehi sammāsam-buddhehi*). As Coomaraswamy has contended, the more profound is one's study of Buddhism and Brahmanism, the more difficult it becomes for him to distinguish between the two [9]. P. V. Kane asserts that the Buddha himself was merely a reformer of "the Hindu religion as practised in his time."[10] According to Rhys Davids "Gotama was born, brought up and lived and died a Hindu" and "Buddhism grew and flourished within the fold of orthodox belief."[11] R. G. Basak goes to the extent of maintaining that "It may be declared that Buddhism is another phase of Hinduism and not a heterodox system of Indian philosophy" [12]. K. N. Upadhyaya maintains that Buddhism "was a departure from the orthodoxy of the tradition, though not from the tradition as a whole".[13] Mrs. Rhys Davids has also opined that the Tripitakas do not show any rupture with Brāhmaṇas and what the Buddha preached was in agreement with the central tenets of Brāhmaṇism.[14] According to R. C. Mitra also the Buddha was the child of that noble culture which is generally known as Brāhmṇism.[15] Similarly Radhakrishnan has opined that "the Buddha did not feel that he was announcing a new religion. He was born, grew up, and died a Hindu. He was restating with a new emphasis the ancient ideals of the Indo-Aryan civilization". Further, "Buddhism did not start as a new and independent religion. It was an offshoot of the more ancient faith of the HIndus, perhaps a schism or a heresy. The Buddha came to fulfil, not to destroy."[16] Against this almost unanimous opinion of modern scholars, the claim that Buddhism existed as a separate religion in the age of the Buddha appears to be as inaccurate as the assertion that Makkhali Gosāla founded a new religion. If Buddhism became a separate religion at all, it was a later development in its history.

But Buddhism probably never became a fully separate religion, at least in ancient India, though it did acquire a distinct character of its own in other countries, where it could develop outside the pale of Hinduism. Despite the

attempts of some modern Buddhists, who emphasize the differences between Buddhism and Brāhmaṇical sects, our ancients believed that they belonged to a common cultural heritage. That is why in the same family different individuals could worship different deities. As is well-known, most of the Buddhist philosophers came from the Brāhmaṇa families. Further, kings in ancient India apparently regarded Buddhism as a part of the Hindu cultural world. Aśoka, though personally a Buddhist, gave help and support to the Brāhmaṇas and Śramaṇas both. Similarly, the rulers of the Imperial Gupta dynasty, who were generally Paramabhāgavatas, patronized Buddhism also. Narasiṁhagupta II was officially a Paramabhāgavata, though according to Yuan Chwang he personally followed the path of the Buddha. Similarly, Harsha of Kanauj and Bhāskaravarman of Kāmarūpa were the worshippers of Śiva but showed every respect to the Buddha. In the family of Harsha his ancestors worshipped Sūrya, his elder brother worshipped the Buddha and he himself was a devotee of Śiva. The Maitraka rulers were also generally Śaivas, but gave lavish grants to the Buddhists. The Bhaumakara kings of Orissa and the Karkotas of Kashmir also followed Brāhmaṇical religion, but patronised Buddhism also. The common man in ancient India worshipped Brāhmaṇical and Buddhist gods simultaneously (unless one happened to be an *ekāntika* in his religious beliefs). Thus, despite the attempts of some modern Buddhists to the contrary, it would seem that our ancients looked upon Buddhism as a part of general Hindu world. The same point emerges from the fact that the historical development of Buddhism has been parallel to Hinduism: under the impact of devotional Paurāṇika religion it developed devotional Mahāyānism and under the impact of Tāntrikism it developed its own Tāntrika sects. The complete assimilation of Buddhism by Paurāṇika Hinduism, which is a fact of history and which scholars like L. M. Joshi are constrained to accept, could have taken place only if the two belonged to the same culture-complex and had a common basis. That is why for the ancient Hindus the change over to the worship of the Buddha was no more different than the change from the worship of Vishṇu to the worship of Śiva. There were no doubt fierce disputations between the Brāhmaṇical and Buddhist philosophers but such disputations took place also among the various Buddhist philosophical sects, as well as among orthodox schools. Therefore one can hardly subscribe to the view that Buddhism in ancient India was not a part of the larger Hindu tradition and that there was something like a separate Buddhist culture. Buddhism was an off-shoot of the Śramaṇa tradition which was certainly non-Vedic, but it was one of the two main strands of our

religious tradition the various facts of which collectively produced the complex fabric of Hindu civilization.

However, one can easily concede that Buddhism has contributed a lot to the formation and evolution of the various aspects of Indian culture. But now-a-days there is a tendency among Buddhist scholars to exaggerate its contribution which we wish to controvert here. For example, as noted above, Joshi has asserted that Buddhism constituted "the dominant stand" of Indian culture. He also maintains that "the Hindus worship the Buddha because their religion is largely based on the teachings of the Buddha"[17] and that as a result of "assimilation of Buddhism the Vedic Brāhmaṇism reshaped itself into Paurāṇic Hinduism."[18] But to regard Buddhisṃ (the history of which began in the sixth century and which disappeared from the country altogether in the twelfth century) as constituting the dominant strand in the fabric of culture as compared to Brāhmaṇical tradition (the known history of which began about two thousand years earlier than the birth of the Buddha, which is still the most popular and dominant strand of our culture and in which Buddhism itself was merged) is, to say the least, illogical and historically inaccurate. It can scarcely be doubted that the essential features of the main current of post-Buddha Hinduism–the doctrines of Bhakti, *avatāravāda, pūjā* ritual, image worship, etc.-could not evolve from the main teachings of the Buddha-sorrowism (dukkhavāda), Four Noble Truths, Eight-fold Path, etc. The Hindu thinkers deduced the main features of their religion from the various Vedic and Upanishadic texts, Smṛtis, Epics and Purāṇas. The later Brāhmaṇa texts (which refer to several avatāras), the Ashṭādhyāyī of Pāṇini (which refers to Bhakti), the *Mahābhāshya* of Patañjali and the *Gītā* (which provides the classical exposition of these doctrines and also sanction for the *pūjā* ritual) prove the antiquity of Paurāṇika religion. The *Indica* of Megasthenes and the Ghosundi, Besnagar and Nanaghat inscriptions also prove that some sects of Paurāṇika Hinduism had already emerged in the pre-Christian centuries. Therefore, the emergence of devotionalism in Mahāyāna Buddhism (which cannot be placed much earlier than first century A. D.) must have been the result of the impact of Paurāṇika Hinduism on it, and not the *vice-versa.*

It, however, does not mean that Buddhism did not play any role in the religious evolution of the country. The point which we want to emphasize is only that the impact of Buddhism and Brāhmaṇism has been mutual and that borrowing by Buddhism from Brāhmaṇism has been far more than the *vice-versa*. Firstly, it may be noted that even in the hey-day of its popularity Buddhism did not enjoy absolute supremacy as a religion. Further, as pointed out by Satkari Mookerjee the

intellectual power of the Buddhist saṅgha "was maintained only by the continual accession of learned Brāhmaṇas into the Buddhist fold. From the very beginning, the pillars of the Church were constituted by its Brāhmaṇa adherents. Sāriputra, Maudgalyāyāna, and Mahākāsyapa were Brāhmaṇas. In the later career of the Buddhist Order, the intellectual stalwarts in philosophy, logic, ethics, poetry, and drama were almost entirely recruited from the priestly class." Buddhism maintained its importance, and commanded the admiration and reverence of the intelligentsia and aristocracy, so long as it possessed men of surpassing spiritual power and intellectual acumen. "The Buddhist patriarchs, such as Aśvaghoṣa, Nāgārjuna, Āryadeva, Asaṅga, Vasubandhu, Dinnāga, Dharmakīrti, Dharmottara and their like, were born in Brāhmaṇa families, educated in Vedic lore, and reared in orthodox tradition. They were intellectual giants and produced works of subtle dialectic and overpowering logical cogency in support of Buddhist tenets".[19] Secondly, several tenets of the Upanishadic teachings were adopted by Buddhism. For example, the Buddha agreed with the earlier Upanishadic thinkers in criticizing the Vedic animal sacrifices, priestcraft and worship of nature deities. Like the Upanishadic thinkers he emphasized the superiority of inner awakening[20] over external ceremonies, and stressed the operation of laws of karman, moral retribution and rebirth. Here Buddhism was more influenced by the earlier Śramaṇic ideology which had already influenced the Upanishads themselves. In its turn Buddhism might have influenced the philosophy of the *Gītā*. For example, its concept of nirvāṇa, which was itself modified version of the Upanishadic concept of the Absolute, might have influenced the notion of Brahma-Nirvāṇa of the *Gītā*.[21] It is also remotely possible that the concept of the *sthitaprajña* of the *Gītā* was influenced by Buddhism.[22] On its part the *Gītā* appears to have influenced several verses of the *Dhammapada*.[23] Some scholars believe that the Buddhist approach "found a deeply sympathetic response in the Rāmāyaṇa",[24] while Fausboll and Max Müller have found parallels between certain passages belonging to *Dhammapada* on the one hand and the *Manu Smṛti* and the *Mahābhārata* on the other.[25] However the vexed question of literary chronology makes it impossible to determine as to which was the borrower side. Similarly, it is difficult to assess as to how far the emphasis in Bhāgavatism on the principle of *ahiṁsā* as found in the *Mahābhārata* and the *Gītā*, which was the direct result of Upanishadic teachings, was strengthened by Buddhism (and Jainism). With *ahiṁsā*, the popularity of vegetarianism also increased in all the Indian religions, though here it must be remembered that in Buddhism *ahiṁsā* meant nonkilling,

not non-meat-eating; for the Buddha himself remained a meat-eater throughout his life.

In the historical period, with the advent of the Paurāṇika religion, the worship of images and symbols was introduced in India. Buddhism also became a positive force in the early centuries of the Christian era. Inspired by the Paurāṇika religion the Mahāyāna theology propounded the doctrine of the eternal Buddha, which was not distinguishable from the absolute Brahman of the Upanishads. The cult of bodhisattvas, who make it the mission of their life to bring solace to suffering mankind and to elevate their moral and spiritual equipment, exercised a powerful influence upon the popular mind.[26] It represented a positive reaction against the extreme pessimism and other worldliness of the early exponents of Buddhism.[27] The emergence of Mahāyāna "led to the creation of poetry, drama, philosophy, and an exalted code of selfless ethics. Instead of seeking private and personal salvation, people came to value the service of fellow-beings to be the surer and better path to higher life. In the Gāndhāra school of sculpture and architecture, and in its national orientation, which found its consummation in the Gupta period, and in the cave-paintings of Ajanta, we find a resurgence of positive devotion and love".[28]

Buddhism also borrowed the pantheon of Brāhmaṇism. Not only the demi-gods such as the Yakshas, Gandharvas, Kinnaras and Nāgas are common to both, the old Vedic gods Indra and Brahmā were also worshipped by the Buddhists. In Buddhism Avalokiteśvara is called Maheśvara (an epithet of Śiva), and Mañjuśri is often called Kumārabhūta (Kumāra Kārttikeya). The Tāntrika pantheon of both the religions is almost identical. Tārā, Kāli, Chāmuṇḍā, Sarasvatī, Vārāhī, Hārīti, Mahākāla, Gaṇeśa, etc. were worshipped by both.[29]

The practice of visiting *tīrthas* is as old as the Vedic age, though in that period it signified a place where animal sacrifice was performed. In the Paurāṇika religion *tīrthayātrā* concept was transformed probably under the impact of Buddhism.[30]

The problem whether or not the Advaita Vedānta philosophy as expounded by Gauḍapāda, Śaṇkara and Śrī Harsha was influenced by the Mādhyamika philosophy with which it shows unmistakable points of contact and similarities, is highly controversial. Some ancient scholars believed that Śaṅkara borrowed much from the Buddhists, so much so that they accused him of being a Buddhist in disguise (*Prachchhanna Bauddha*). But Śrī Harsha vigorously controverted this accusation. Several modern scholars also agree with Śrī Harsha. For example, T. R. V. Murti excludes the possibility of doctrinal borrowing by the vedāntins

altogether because "each had a totally different background of tradition and conception of reality." He concedes the possibility of the borrowing of technique only.[31] According to S. Mookerjee "it is almost a truism that the reorientation of idealistic thought by Aśvaghoṣa, Asaṅga, and Vasubandhu brought it perilously near to the absolutism of the Upaniṣads.......It would be a mistake to suppose that Śaṅkarāchārya was indebted to Vasubandhu or Aśvaghoṣa for his monistic philosophy. The Buddhist philosophers owed their inspiration to the Upaniṣads, when they gave a monistic interpretation to the doctrines of the Buddha. Śaṅkarāchārya derived his monistic inspiration direct from the Upaniṣads, and only worked out the negative logic in order to vindicate his position. In this negative enterprise, he was assuredly influenced by the Mādhyamika polemics, and he utilized them for reinforcing his logical standpoint. This was previously done also by Gauḍapāda in his *Māṇḍūkya-kārikā* and Śaṇkara only followed in the footsteps of this mastermind, who is by tradition accredited to have been the teacher of Śaṅkara's own teacher Govindapāda".[32] G. C. Pande also subscribes to this theory.[33] However, it may still be conceded that "though victorious, Śaṅkarāchārya adopted many things of value from the Buddhists. The differentiation of reality into three grades, viz., absolute (*pāramārthika*), empirical (*vyāvahārika*) and apparent (*Prātibhāsika*), is obviously influenced by the similar procedure adopted by the Mādhyamikas. We do not find any allusion to such a distinction in the original Upanishads".[34]

●

1. Joshi, *Studies in the Buddhist Culture of India, Delhi, 2nd ed.,*
2. *Ibid.*, p. 328.
3. *Ibid.*, p. 329.
4. *Ibid.*, p. 327.
5. Kane, *History of Dharmaśāstra*, Vol. V,
6. Joshi, *Studies*, p. 327.
7. Kane, *op. cit.*,
8. Dutt, R. C., *Buddhism and Buddhist Civilization in India*, 1983, pp. 3, 5.
9. Coomaraswamy, *Hinduism and Buddhism*, p. 452.
10. Kane, *op. cit.*, p. 1004.
11. *Buddhism*, pp. 83, 85.
12. Basak, R. G., 'The Contribution of Buddhism to Indian Thought'. *Bulletin of Ramakrishna Mission Institute of Culture*, Calcutta, XIV, No. 9, 1963, pp. 333-4.
13. Upadhyaya, K. N., *Early Buddhism and the Bhagavadgita*, p. 105.
14. *IHQ*, X, pp. 276-84.
15. Mitra, R. C., *Visvabharati Annals*, VI, pp. 150-5.

16. Radhakrishnan, Foreword (p. ix, xiii) of *2500 years of Buddhism*, ed. by Bapat.
17. Joshi, L. M., *Studies*, p. 330.
18. *Ibid.*, p. 329.
19. *Cultural Heritage of India*, I, p. 578.
20. *Ibid.*, p. 598.
21. *Gita*, II. 72: V. 24-26.
22. Joshi, *op. cit.*, p. 333.
23. Cf. *Gītā*, VI. 5-6 with *Dhammapada*, 160, 165.
24. Gokhale, V.V., 'Krshna and Buddhist Literature', *Cultural Forum*, 1968, Vol. 36, p. 73.
25. Joshi, *op. cit.*, p. 334 f.
26. Mookerjee, S., *CHI*, I, p. 590.
27. *Ibid.*
28. *Ibid.* p. 590 f.
29. Joshi, *op. cit.*, p. 337.
30. *Ibid.*
31. *Central Philosophy of Buddhism*, pp. 116-7.
32. *CHI*, I, p. 593 f.
33. Pande, G. C. *Studies in the Origins of Buddhism*, Allahabad, 1957, p. 555 f.
34. *CHI*, I, p. 594: cf. Swami Ganeshwarananda, 'Buddhism and Vedānta', *Vedānta and the West*, 180, July 1966, pp. 7-16.

